विश्वेश्वरानन्द-वैदिकशोध-संस्थान-प्रकाशनम्—६४४

विश्वेश्वरानन्द-भारतभारती-ग्रन्थमाला—७२

VISHVESHVARANAND INDOLOGICAL SERIES—72

Vishveshvaranand Vedic Research Institute Publication—644

⁂

संस्थापक-सम्पादकः—विश्वबन्धुः

***Founder Editor*—VISHVA BANDHU**

⁂ ⁂

प्रधान-सम्पादकः—एस. भास्करन् नायर

***Gen. Editor*—S. BHASKARAN NAIR**

वेदाङ्ग

(वैदिक वाङ्मय का विवेचनात्मक बृहद् इतिहास : षष्ठ खण्ड)

कुन्दनलाल शर्मा
भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
सनातन धर्म कॉलेज, मुजफ़्फ़र नगर

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान
होश्यारपुर (पञ्जाब)
1983

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक
विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान
साधु आश्रम, होश्यारपुर (पञ्जाब, भारत)
प्रथम संस्करण—चैत्र, २०३९ वि०

शिक्षामंत्रालय, भारत सरकार की आर्थिक सहायता से प्रकाशित

मूल्य : ६० रु.

5767

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी
पुस्तकालय
ग्रन्थ आ० सं० 5767
संस्कृत भवनम् लखनऊ

All Rights Reserved

Publishers :
VISHVESHVARANAND VEDIC RESEARCH INSTITUTE
Sadhu Ashram, Hoshiarpur (Punjab, India)

FIRST EDITION—March, 1983

Published with the financial assistance received from
the Ministry of Education, Government of India

देवदत्त शास्त्री द्वारा विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान प्रेस,
होश्यारपुर (पंजाब, भारत) में मुद्रित एवं प्रकाशित
Printed and Published by DEV DATTA SHASTRI
at the V. V. R. I. Press, Hoshiarpur (Punjab, India)

VEDĀṄGA

(A Critical and Comprehensive History
of Vedic Literature, Vol. VI)

By

Prof. K. L. SHARMA

M. A. (Cal.), Shastri (Ben.)

Former Reader & Head of Sanskrit Department,
S. D. College, Muzaffar Nagar (U. P.)

Vishveshvaranand Vedic Research Institute
HOSHIARPUR (Pb.)
1983

३२१.८
शर्मा हिस्ट्री
७

समर्पणम्

निर्मलालोकसन्दोहममन्दानन्दसागरम् ।
स्मारं स्मारं पितुः स्नेहं निबद्धा नूतना मया ॥
वेदाङ्गाख्या कृतिर्भव्या नव्यार्थानां प्रकाशिका ।
अर्पिता पितृपादेषु पुष्पाञ्जलिरियं भवेत् ॥

विनीत :
कुन्दनलाल शर्मा

विषयसूची

विषय **पृष्ठ**

प्राक्कथन १५-१९
संक्षेप-सूची २१-३२

वेदाङ्ग

प्रथम अध्याय

शिक्षा के प्रतिपाद्य … ३-१५
स्वराघात का स्वरूप … १५-१८

द्वितीय अध्याय

ऋग्वेदीय शिक्षाएं … १९-२३
शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाएं … २४-३३

तृतीय अध्याय

कृष्ण यजुर्वेद की शिक्षाएं … ३४-४४
सामवेद की शिक्षाएं … ४४-४६
अथर्ववेदीय शिक्षाएं … ४६-४७
सामान्य शिक्षाएं … ४८-५६

चतुर्थ अध्याय

प्रातिशाख्य … ५७-७८
ऋग्वेद प्रातिशाख्य … ६५-६९
चान्द्रवर्णसूत्र … ६९-७०
ऋक्प्रातिशाख्य का विषय विवेचन … ७०-७४
ऋक्प्रातिशाख्य का मूल पाठ … ७४-७७
भाष्यकार … ७७
आश्वलायन प्रातिशाख्य … ७८
बाष्कल प्रातिशाख्य … ७८
शांखायन प्रातिशाख्य … ७८

पञ्चम अध्याय

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य … ७९-८७
चारायणीय प्रातिशाख्य … ८८
मैत्रायणीय प्रातिशाख्य … ८८
वाजसनेय प्रातिशाख्य … ८९-१००

षष्ठ अध्याय

अथर्ववेद प्रातिशाख्य ... १०१-११७
चतुरध्यायिका ... १०१-११०
अथर्व प्रातिशाख्य ... ११०-११७

सप्तम अध्याय

साम प्रातिशाख्य ... ११८-१३३
ऋक्तन्त्र ... ११८-१२७
सामतन्त्र ... १२७-१३०
अक्षरतन्त्र ... १३०-१३१
पुष्पसूत्र ... १३१-१३३
सात्यमुग्रि-राणायनीय प्रातिशाख्य ... १३३
गौतमिप्रातिशाख्य ... १३३

अष्टम अध्याय

वेदाङ्ग ज्योतिष (ऋग्० तथा यजु०) ... १३७-१४८
आथर्वणज्योतिष ... १४८-१५०

नवम अध्याय

निरुक्त ... १५३-१७१
निघण्टु का रचयिता ... १५७-१६४
यास्क से पूर्ववर्ती नैरुक्तसम्प्रदाय ... १६४-१७१

दशम अध्याय

निरुक्तकार यास्क ... १७२-१८७

एकादश अध्याय

निरुक्त का देवतावाद ... १८८-२०८

द्वादश अध्याय

निर्वचन के सिद्धान्त तथा प्रक्रिया ... २०९-२१७
यास्क तथा पदकार शाकल्य ... २१७-२१८

त्रयोदश अध्याय

निरुक्त तथा पश्चात्कालिक साहित्य ... २१९-२२६
निरुक्त का महत्त्व ... २२६-२३१

चतुर्दश अध्याय

निरुक्त के व्याख्याकार ... २३२-२३८

पञ्चदश अध्याय

वाररुच निरुक्त समुच्चय ... २३९-२४०

षोडश अध्याय

व्याकरणशास्त्र की पृष्ठभूमि ... २४३-२५९

सप्तदश अध्याय

पाणिनि द्वारा उल्लिखित वैयाकरण … २६०-२७०

अष्टादश अध्याय

अष्टाध्यायी … २७१-२८५

एकोनविंश अध्याय

अष्टाध्यायी के परिशिष्ट या खिलपाठ … २८६-३१४
(धातुपाठ, गणपाठ, परिभाषापाठ, लिंगानुशासन)

विंश अध्याय

उणादि तथा फिट्सूत्र … ३१५-३२९
पाणिनि के व्याकरण की समस्याएं … ३२९-३३१

एकविंश अध्याय

पाणिनि का काल … ३३२-३४४

द्वाविंश अध्याय

अष्टाध्यायी के वार्तिककार … ३४५-३५३
✓कात्यायन के वार्तिकों की समस्या … ३५३-३५५

त्रयोविंश अध्याय

महाभाष्यकार पतञ्जलि … ३५६-३६३
पतञ्जलि और यास्क … ३६३-३७१
पतञ्जलि के महाभाष्य की समस्याएं … ३७२-३७६

चतुर्विंश अध्याय

भर्तृहरि … ३७७-३९२

पञ्चविंश अध्याय

महाभाष्य की व्याख्याएं … ३९३-४००
कैयट … ३९३-३९७
नागेश प्रभृति … ३९७-४००

षड्विंश अध्याय

अष्टाध्यायी के वृत्तिकार … ४०१-४२२
काशिका … ४०३-४१७
दुर्घटवृत्ति … ४१७-४१८
भागवृत्ति … ४१८-४१९
भाषावृत्ति … ४१९-४२०
सूत्रप्रकाश … ४२१
व्याकरणसुधानिधि … ४२१
मिताक्षरा … ४२२
दीपिका … ४२२

सप्तविंश अध्याय

पाणिनि व्याकरण के प्रक्रियाग्रन्थ … ४२३-४३९
रूपावतार … ४२३
प्रक्रियाकौमुदी … ४२४
सिद्धान्तकौमुदी … ४२४-४३६
अष्टाध्यायीक्रम तथा प्रक्रियाक्रम की तुलना … ४३६-४३८
प्रक्रियासर्वस्व … ४३८-४३९

अष्टाविंश अध्याय

व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थकार (भर्तृहरि) … ४४०-४४५
कौण्डभट्ट … ४४३-४४५

ऊनत्रिंश अध्याय

पाणिनीयेतर व्याकरण … ४४६-४६४
कौत्सव्याकरण … ४४६-४४७
कातन्त्रव्याकरण … ४४७-४५०
चान्द्रव्याकरण … ४५०-४५३
जैनेन्द्रव्याकरण … ४५३-४५६
जैनशाकटायन … ४५६-४५७
सरस्वतीकण्ठाभरण … ४५७-४५८
सिद्धहैमशब्दानुशासन … ४५८-४६०
सारस्वतव्याकरण … ४६०-४६२
मुग्धबोध … ४६२-४६३
क्रमदीश्वर या जौमरव्याकरण … ४६३
सुपद्मव्याकरण … ४६४

त्रिंश अध्याय

छन्दःशास्त्र … ४६७-४७३

एकत्रिंश अध्याय

ऋक्प्रातिशाख्य … ४७४-४८६
ऋक्सर्वानुक्रमणी … ४८६-४८८

द्वात्रिंश अध्याय

निदानसूत्र … ४८९-४९१
पिंगलछन्दःसूत्र … ४९१-४९८
उपनिदानसूत्र … ४९८-५००
जयदेवछन्दः … ५००-५०१
वेंकटमाधवकृत छन्दोऽनुक्रमणी … ५०१-५०३

त्रयस्त्रिंश अध्याय

वैदिक छन्दों के विषय में आधुनिक विचार … ५०४-५१२

चतुस्त्रिंश अध्याय

ऋग्वेद के मन्त्रों का वर्गीकरण ... ५१५-५२०
बृहद्देवता ... ५२०-५२५

पञ्चत्रिंश अध्याय

कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी ... ५२६-५३१
शौनकीय चरणव्यूह ... ५३१-५३४
वेंकटमाधवकृत ऋग्वेदानुक्रमणी ... ५३४-५४४
परिशिष्ट साहित्य ... ५४४-५५२
ऋग्वेद के खिलसूक्त ... ५४५-५४८
आश्वलायनमन्त्रसंहिता ... ५४८-५४९
आश्वलायन गृह्यपरिशिष्ट ... ५४९-५५२

षट्त्रिंश अध्याय

ऋग्वेदमन्त्रसंहिता ... ५५३
ऋग्विधान ... ५५३-५५९
पादविधानम् ... ५५९-५६०
पदगाढ़ ... ५६०-५६१
गलितप्रदीप ... ५६१-५६५
उपलेखसूत्र ... ५६५-५६७

सप्तत्रिंश अध्याय

कृष्णयजुर्वेदीय अनुक्रमणियां तथा परिशिष्ट—१ ... ५६८-५७६
तैत्तिरीय सर्वानुक्रमणी ... ५६८-५६९
आत्रेयीशाखीय सर्वानुक्रमणी ... ५६९-५७०
काण्डानुक्रम ... ५७०-५७४
मैत्रायणीय छन्दोनुक्रमणी ... ५७४-५७५

मैत्रायणीय परिशिष्ट

गोनामिक ... ५७५-५७६
मानवश्रौतसूत्र के परिशिष्ट ... ५७६-५८३
मानवगृह्यपरिशिष्ट ... ५७७
यमलशान्तिपरिशिष्टप्रभृति ... ५७७-५८०
अनुग्राहिकम् ... ५८०-५८३

अष्टात्रिंश अध्याय

कृष्णयजुर्वेदीय परिशिष्ट—२ ... ५८४-५९५
बौधायनगृह्यशेषसूत्र ... ५८४-५९०
आपस्तम्बमन्त्रपाठ ... ५९०-५९२
आपस्तम्बहौत्रसूत्र ... ५९२-५९३
बौधायनहौत्रसूत्र ... ५९३

भारद्वाजपरिशेषसूत्र ... ५९३-५९४
वाराहपरिशिष्ट ... ५९४
चतुर्होत्रकपरिशिष्ट ... ५९४-५९५

ऊनचत्वारिंश अध्याय

माध्यन्दिनीय सर्वानुक्रमसूत्र ... ५९६-६००
कात्यायनीय परिशिष्ट (अठारह) ... ६००-६२३

चत्वारिंश अध्याय

सामवेदीय ग्रन्थ ... ६२४-६५१
सामसर्वानुक्रमणी ... ६२४-६२५
नैगेयशाखानुक्रमणी ... ६२५-६२९
गायत्रविधानसूत्र ... ६२९-६३२
सामवेदार्षेयदीप ... ६३२-६३४
गोभिल परिशिष्ट ... ६३४-६३६
गृह्यासंग्रह ... ६३६-६३८
कात्यायनस्मृति (कर्मप्रदीप) ... ६३८-६४०
गौतमधर्मसूत्रपरिशिष्ट ... ६४०-६४२
अनुपदसूत्र ... ६४२-६४३
कल्पानुपदसूत्र ... ६४३-६४४
मात्रालक्षण ... ६४४-६४५
पञ्चविधसूत्रप्रभृति ... ६४५-६५१

एकचत्वारिंश अध्याय

अन्य साम रचनाएं ... ६५२-६५४

द्वाचत्वारिंश अध्याय

अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणिका ... ६५५-६८६
अथर्वपरिशिष्ट ... ६५७-६७४
नक्षत्रकल्प ... ६७४-६७५
आंगिरसकल्प ... ६७५-६७६
शान्तिकल्प ... ६७६-६७८
अथर्वपरिशिष्टों के जादू-टोने ... ६७८-६७९
पञ्चपटलिका ... ६७९-६८३
दन्त्योष्ठचविधि ... ६८३
अथर्वप्रायश्चित्तसूत्र ... ६८३-६८६
उद्धरणसूची ... ६८९-७२३
विशिष्टपदसूची ... ७२४-७६९
पुस्तकसूची ... ७७०-७८२
शुद्धिपत्र ... ७८३-७९२

प्राक्कथन

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि वैदिक-वाङ्मय का प्रामाणिक इतिहास, जो हमारे विश्वविद्यालयों में अध्ययनाध्यापनार्थ निर्धारित एवं प्रचलित है, अत्यन्त संक्षिप्त एवं एकांगी होने के अतिरिक्त इतना पुराना पड़ गया है कि इस के अध्ययन से विद्यार्थी को वैदिक-वाङ्मय एवं सांस्कृतिक परम्परा से परिचयमात्र ही हो पाता है, इस की गहराइयों तक पैठने तथा इस के तकनीकी, दार्शनिक एवं धार्मिक पक्षों की विविध उलझनों तथा समस्याओं से साक्षात्कार नहीं हो पाता। न ही इन समस्याओं के समाधान का कोई समन्वित आकार-प्रकार ही उभर कर सामने आ पाता है, जिसके सहारे विद्यार्थी उनसे दो-चार होने का साहस ही बटोर सके। परिणामस्वरूप एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् भी संस्कृत का सामान्य विद्यार्थी वेद के स्वरूप को समझने एवं आत्मसात् करने में सर्वथा असमर्थ रहता है। वैदिक साहित्य के विस्तार को तो वह आंक ही नहीं सकता।

विविध वैदिक विषयों के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने क्षेत्र में अपने-अपने विचार अत्यन्त योग्यतापूर्वक व्यक्त किये हैं, किन्तु वे न केवल एकांगी हैं अपितु प्रचुरमात्रा में परस्पर विरोधी भी हैं। फलतः वैदिक वाङ्मय का जिज्ञासु किसी निश्चयात्मक परिणाम पर पहुँचे बिना ही वेद को एक उलझन समझ कर हताश होकर रह जाता है।

इतना ही नहीं। अनेकों नवीन ग्रन्थों के प्रकाश में आ जाने के कारण विण्टरनित्स और कीथ एवं मैकडॉनल के समय में लिखित वैदिक-वाङ्मय के इतिहास अब पुराने पड़ गये हैं। पिछली अर्द्धशताब्दी में इस के अनेकानेक पक्षों पर प्रकाश डालने वाली नवीन सामग्री ने निश्चय ही वैदिक विचारसरणि के सम्बन्ध में हमारे दृष्टिकोण को प्रभावित ही नहीं किया, अपितु अनेक विषयों में पूर्वनिर्धारित विचार-प्रवाह को नवीन दिशा भी प्रदान की है।

इसी कारण वैदिक-वाङ्मय की एक विस्तृत, समन्वित समालोचनात्मक सामग्री से सुसज्जित ऐतिहासिक विवेचना सर्वथा सार्थक तथा आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य भी है।

इसी कारण मैंने समस्त वैदिक-साहित्य को सात खण्डों में विभक्त करके इस की विस्तृत विवेचना की बृहद्-योजना के अन्तर्गत समाहित करने के भागीरथ प्रयत्न

की प्रतिज्ञा आज से तीस इकत्तीस वर्ष पूर्व की थी, जिसके प्रकाशन का श्रीगणेश इस विशाल साहित्य के इतिहास के सप्तम खण्ड 'कल्प-सूत्र' से गत वर्ष किया गया था। अब पांच वेदांगों के साहित्य का ऐतिहासिक मूल्यांकन वर्तमान षष्ठ खण्ड में किया जा रहा है। वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों के इतिहास का विवेचन तत्तद्-विषयक विचार-विमर्श करते समय किया जायेगा।

यद्यपि इन वेदांगों पर भी अधिकारी विद्वानों द्वारा पर्याप्त अनुसन्धान किया जा चुका है, तथा विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इनका मूल्यांकन करते हुए विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं, तो भी इन बिखरे हुए विविध विचारों तथा नवीन अनुसन्धानों को समीक्षात्मक समन्वित रूप प्रदान करके इनके अन्तर्द्वन्द्वों तथा पारस्परिक विभेदों के अपोहनार्थ नवीनतम प्रयत्न की आवश्यकता को अनुभव करते हुए इस नवीनतम कृति में इन मतभेदों का विवेचन कर के तर्कसंगत परिणामों को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

इस प्रसंग में इन प्राचीन ग्रन्थों के काल-निर्धारण की जटिल समस्या के विषय में वैमत्य अधिक उभर कर सामने आये हैं। जहां पाश्चात्य विद्वानों का प्रयत्न इस कालक्रम को नीचे गिराने का रहा है, वहां परम्परा तथा कुछेक आधुनिक भारतीय मनीषियों का प्रयत्न इस काल को अत्यधिक पीछे ले जाने का रहा है, मुझे ऐसा आभास होता है कि यद्यपि इन ग्रन्थों में प्रतिपादित विचारों के मूल बहुत गहरे तथा प्राचीन हैं, तो भी वर्तमान रचनाओं को उतनी दूर तक नहीं ले जा सकते। इनमें व्यक्त की गयी पूर्वगत आचार्यों की सम्मतियां ही इस तथ्य की ओर सङ्केत करती हैं कि अपने धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध में आर्य-विचारधारा अत्यन्त प्राचीन काल से अनवरत प्रवाहित होती रही है, नवीन मार्गों का निर्माण करती रही है, किसी भी समय में रुक कर कुण्ठित नहीं हो पायी, सदा नवनूतन परिस्थितियों के अनुरूप नवीन विचार-प्रवाहों के अविच्छिन्न स्रोत सदा प्रवाहित रहे और प्रत्येक विचारक ने अपनी भावनाओं एवं सम्मतियों को बेधड़क होकर दृढ़तापूर्वक समाज के कर्णधारों के समक्ष प्रस्तुत किया। इस विचार-विनिमय के फलस्वरूप सामाजिक संस्थाओं के कार्यकलाप तथा दार्शनिक विचारधारा के स्वरूप में सतत परिवर्तन एवं संशोधन होते रहे। समय के पंखों पर उड़ते हुए आर्यमनीषी नित्य नवीन विचाराकाश में विचरते हुए अग्रेसर होते रहे, आज भी हो रहे हैं। ये वर्तमान कृतियां उन के विचारों के अन्तिम संग्रहों के रूप में हम तक पहुँची हैं।

अकेले पाणिनि से ही पूर्ववर्ती ८५ वैयाकरणों की सत्ता प्रमाणित होती है। न जाने और कितने काल के विकराल गाल में सदा के लिए विलीन हो कर अपने चरण-चिह्नों को भी समय की आंधियों से न बचा सके।

कल्पसूत्र के कर्मकाण्ड-प्रधान होने तथा कर्मकाण्ड के तर्क एवं विचार से कहीं अधिक श्रद्धा और विश्वास पर आधृत होने के कारण इन सूत्रों के प्रतिपाद्य का

अधिकांश भाग गुरुशिष्य परम्परा के सहारे उस प्राचीन काल में अपना मार्ग टटोलता हुआ धीरे-धीरे अग्रेसर होता रहा, तो भी हम देखते हैं कि वैदिक कर्मकाण्ड में भी अनवरत विकास होता रहा तथा अग्निहोत्र सदृश सरल कर्म से ऊपर उठकर सहस्रसंवत्सर पर्यन्त चलने वाले दीर्घसत्त्रों की कल्पना की गयी। यद्यपि ऐसे यागों के सम्पादन को असम्भव समझ कर पश्चाद्वर्ती व्याख्याकारों ने संवत्सर का अर्थ दिनपरक लगा कर 'सहस्र संवत्सर' शब्द को बोधगम्य बना दिया।

किन्तु अन्य पांचों अंग—शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष तथा छन्द—विचार के विषय हैं। इन विषयों की वर्तमान रचनाओं में तत्तद्विषय-सम्बन्धी विचारसरणि की दीर्घकालीन विचार-परम्परा के स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं। क्योंकि प्रत्येक विषय के मौलिक ग्रन्थों में अपने-अपने विषय के पूर्वाचार्यों के मतमतान्तरों का निर्देश नामोल्लेखपूर्वक अथवा 'एके', 'अन्ये', 'अपरे', 'केचिद्' अथवा 'आचार्याः' प्रभृति शब्दों के प्रयोग द्वारा कर दिया गया है। यदि पाणिनि ने स्वयं पूर्ववर्ती दस वैयाकरणों का नामोल्लेखपूर्वक निर्देश किया है, तो अन्य स्रोतों से कम से कम ८५ ऐसे वैयाकरणों की सत्ता प्रमाणित होती है, जिन्होंने व्याकरण-सदृश गहन विषय के अनेक पक्षों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया। इससे प्रमाणित होता है कि पाणिनि से शताब्दियों पूर्व इस विषय पर इतनी गम्भीरता से विचारविमर्श होता आ रहा था कि व्याकरणाचार्यों में परस्पर अनेक मतभेद उत्पन्न हो गये थे, जिनका समन्वित समाधान प्रस्तुत करने का भागीरथ प्रयास पाणिनि ने किया और संसार के सम्मुख संस्कृत भाषा का ऐसा आदर्श-व्याकरण पेश किया कि जिससे प्रेरणा प्राप्त करके शताब्दियों के पश्चात् यूरोप में अनेक भाषाओं के व्याकरणों की नींव रखी गयी। यद्यपि कात्यायन ने पाणिनीय व्याकरण में यथेष्ट संशोधन करके दस सहस्र नवीन शब्दों की व्युत्पत्ति का मार्ग प्रशस्त किया है, तो भी इस व्याकरण का मूल ढांचा तो पाणिनि द्वारा ही तय्यार किया गया है। अतः इसे पाणिनीय व्याकरण ही कहते हैं। इसी प्रकार यास्क से पूर्व चौहद-पन्द्रह नैरुक्तों का नामोल्लेखपूर्वक निर्देश स्वयं यास्क ने किया है और न जाने कितने अन्य 'नैरुक्त' इससे पूर्व इस भूमण्डल को अपनी सत्ता से मण्डित कर चुके थे तथा अपनी प्रतिभा के प्रभापुञ्ज से निर्वचन की निराली दुनिया को आलोकित करके स्वयं काल के विशाल अन्धकार में बिलीन हो गये थे। इस निर्वचन शास्त्र ने भी वर्तमान भाषाशास्त्र का यथेष्ट मार्गदर्शन किया है। इसी प्रकार शिक्षाशास्त्र की वैज्ञानिक उपलब्धियों ने वर्तमान ध्वनिशास्त्रियों को चकित कर दिया है।

विज्ञान की चहुंमुखी उन्नति के कारण इन शास्त्रों के प्रतिपाद्यों में मीनमेष निकालना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है किन्तु इन कतिपय स्वाभाविक त्रुटियों के कारण इनकी उपलब्धियों को नकारना सर्वथा अनुचित ही नहीं, गर्हित भी है। अतः

इन प्राचीन रचनाओं के उद्गम और विकास के इतिहास पर प्रकाश डाल कर भारतीय संस्कृति और सभ्यता को आलोकित करना हमारा कर्तव्य है।

इस सम्बन्ध में सबसे जटिल समस्या इन रचनाओं के काल-निर्धारण की है। जैसा कि ऊपर कह चुके हैं इस विषय हैं दो सर्वथा विरोधी विचारधाराएं प्रवाहित हो रही हैं, जो चरमसीमाओं को स्पर्श करती हैं। मैंने मध्यम मार्ग अपनाने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में पाणिनि का कालनिर्णय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस विषय में सभी प्रचलित तर्कों पर विचार करके हम उसे सप्तम शती ई० पू० से अर्वाचीन कदापि नहीं मान सकते, इसी काल को मानक काल मान कर अन्य रचनाओं का कालनिर्धारण किया गया है। इस कालनिर्धारण के सम्बन्ध में यूरोपीय विद्वानों की यह प्रवृत्ति विचित्र प्रतीत होती है कि हिन्दू पुराणों में वर्णित राजाओं के राज्यकाल को तो बिना किसी तर्क के सन्देहास्पद मान कर अविश्वसनीय घोषित कर दिया जाता है, किन्तु बौद्ध जातकों एवं दन्तकथाओं को बिना किसी युक्ति के विश्वासास्पद मान लिया जाता है। यह प्रवृत्ति सर्वथा अवैज्ञानिक है, अतः तज्जन्य परिणाम सर्वथा अमान्य हैं। इस कृति में अनेक स्थलों पर पूर्वप्रतिपादित एवं प्रतिष्ठापित विचारों के युक्तिसंगत परिहार का प्रयास किया गया है, जो विद्वज्जनों की गुण-ग्राहकता का पात्र बनेगा, ऐसी मेरी आशंसा है।

इस इतिहास की सप्तखण्डात्मक बृहद्योजना के इस षष्ठ खण्ड के साथ वैदिक षडङ्गों के इतिहास की समाप्ति होती है।

इन षडंगों की मूलरचनाओं के अतिरिक्त इनके पूरक के रूप में अनेक अनुक्रमणियां तथा परिशिष्ट भी रचे गये हैं, जिनमें कुछ-एक के अतिरिक्त शेष पर्याप्त प्राचीन हैं। इनमें से कुछ-एक रचनाओं का सीधा सम्बन्ध कल्पसूत्रों से है। किन्तु 'कल्पसूत्र' खण्ड का आकार बहुत बढ़ जाने के कारण उन्हें भी इसी खण्ड में सम्मिलित कर लिया गया है। अन्ततोगत्वा वे भी तो 'वेदाङ्ग' ही हैं।

ईश्वर की असीम कृपा तथा गुरुजनों के आशीर्वाद से वेदाङ्गों का इतिहास सम्पन्न हुआ। शेष खण्ड भी शीघ्र ही विद्वज्जनों की सेवा में प्रस्तुत किये जायेंगे।

इस समस्त परिश्रम तथा दीर्घकालीन साधना के पीछे यदि किसी एक व्यक्ति का अनन्य सहयोग, अद्वितीय त्याग एवं अनवरत तपस्या सन्निहित है, तो वह मेरी धर्म-परायणा, कर्तव्यनिष्ठ एवं स्नेहमयी धर्मपत्नी श्रीमती पुष्पावती शर्मा है, जिसकी निरन्तर सहायता तथा अनवरत प्रोत्साहन के बिना यह भागीरथ प्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकता था। मैं अपने अनुज डा० जितेन्द्रकुमार शर्मा तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती मीनाक्षी शर्मा का भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मेरे दिल्ली प्रवास के समय सदा मेरे स्वास्थ्य एवं सुख-सुविधा का दत्तचित्त हो कर ध्यान ही नहीं रखा, अपितु अन्य हर प्रकार की अपेक्षित सहायता भी प्रदान की है।

इस पुस्तक के प्रकाशनार्थ भारत सरकार के शिक्षा-विभाग ने ६० प्रतिशत अनुदान प्रदान करने की महती कृपा की है, जिसके लिए मैं शिक्षा-विभाग के अधिकारी-वर्ग का अत्यन्त आभारी हूँ।

इस सम्पूर्ण सप्तखण्डात्मक पुस्तक के प्रकाशन का पूर्ण दायित्व विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधु-आश्रम, होशियारपुर, ने अपने ऊपर लेकर अपार कृपा की है, जिसके लिए मैं वहां के अधिकारी वर्ग का कृतज्ञ हूँ, जिसने वर्षों से वैदिक धर्म एवं संस्कृति के प्रचार और प्रसार का भार अपने कन्धों पर उठा रखा है। इस सम्बन्ध में संस्थान के आदरी सञ्चालक श्री एस० भास्करन् नायर, एम० ए० तथा सहसञ्चालक प्रो० वेदप्रकाश एम० ए०, विद्यावाचस्पति, का विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर विविध प्रकार की सहायता तथा सम्मति प्रदान करके मुझे सतत प्रोत्साहित किया है। इसके अतिरिक्त मैं वी० वी० आर० आई० प्रेस के प्रबन्धकों तथा कर्तव्यपरायण कर्मचारियों का भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अत्यन्त परिश्रम तथा दायित्वपूर्वक इसके प्रकाशन में सहायता प्रदान की है। भगवान् से प्रार्थना है कि स्वर्गीय आचार्य डॉ० विश्वबन्धु शास्त्री जी के स्वप्न को साकार करने में इस संस्था को सामर्थ्य प्रदान करे।

निवेदक
कुन्दनलाल शर्मा
७२ बी, नई मण्डी,
मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

१० मार्च
सन् १९८३

संक्षेप-सूची

(क) ग्रन्थ

अ० परि०	अथर्वपरिशिष्ट
अ० पु०	अग्निपुराण
अ० प्रा०	अथर्व प्रातिशाख्य
अ० वे० सं०, अ० वे०	अथर्ववेद संहिता
अनुपद०	अनुपदसूत्र
अनुवाकानु०	अनुवाकानुक्रमणी
अभिनव०	अभिनवभारती
अमोघ० शि०	अमोघानन्दिनी शिक्षा
अर्थ० शा०	अर्थशास्त्र (कौटिल्य)
अल्बेरूनी०	अल्बेरूनी का भारत
आख्यातानु०	आख्यातानुक्रमणी
आग्नि० गृ० सू०	आग्निवेश्य गृह्यसूत्र
आथ० ज्यो०	आथर्वण ज्योतिष
आद्या०	आद्याप्रसाद विरचित प्रक्रियाकौमुदीविमर्शः
आप० गृ० सू०	आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आप० ध० सू०	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आप० मन्त्र०	आपस्तम्ब मन्त्रपाठ
आप० श्रौ० सू०	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
आपि० शि०	आपिशलि शिक्षा
आर० शि०	आरण्यशिक्षा
आर्दीप०	आर्षेयदीप
आर्षानु०	आर्षानुक्रमणी
आर्षे० ब्रा०	आर्षेय ब्राह्मण
आश्व० गृ० परि०	आश्वलायन गृह्यपरिशिष्ट
आश्व० गृ० सू०	आश्वलायन गृह्यसूत्र
आश्व० मं० सं०	आश्वलायन मन्त्रसंहिता
आश्व० श्रौ० सू०	आश्वलायन श्रौतसूत्र
उणा० सू०	उणादिसूत्र
उ० नि० सू०	उपनिदानसूत्र

उपलेख०	उपलेखसूत्र
ऋकतन्त्र०	ऋक्तन्त्र व्याकरण
ऋक्प्रा०	ऋक्प्रातिशाख्य
ऋक्प्रा० भा०	ऋक्प्रातिशाख्य भाष्य (उवट)
ऋक्सर्वा०	ऋक्सर्वानुक्रमणी
ऋग्०	ऋग्वेद संहिता
ऋग्० भा० भूमिका	ऋग्वेदभाष्य भूमिका
ऋग्वि०	ऋग्विधान
ऋग्वेदानु०	ऋग्वेदानुक्रमणी (वेङ्कटमाधव)
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
ऐ० आर०	ऐतरेय आरण्यक
कर्मँमो० वा०	कर्मँमोरेशन वाल्यूम
कर्मप्र०	कर्मप्रदीप
कल्पानु०	कल्पानुपदसूत्र
कविक०	कविकल्पद्रुम
काठ (कठ) सं०	काठक संहिता
काण्डानु०	काण्डानुक्रम
कात्या० च० व्यूह	कात्यायनीय चरणव्यूह
कात्यायनसर्वानु०	कात्यायनसर्वानुक्रमणी
काध्ययन०	काशिका का समालोचनात्मक अध्ययन (रघुबीर, वेदालङ्कार)
(का०) का० पा०	काशिकावृत्ति (पाणिनीय अष्टाध्यायी)
का० प्रा०	कात्यायन प्रातिशाख्य
काश० धा० पा०	काशकृत्स्न धातुपाठ (युधिष्ठिर मीमांसक, सम्पा०)
काश० धा० सू०	काशकृत्स्न धातुसूत्र
काश० व्या०	काशकृत्स्न व्याकरण
का० श्रौ० सू०	कात्यायन श्रौतसूत्र
का० सं० सी०	काशी संस्कृत सीरीज़
काश्मीर सं० सी०	काश्मीर संस्कृत सीरीज़
का० सि० तुल०	काशिकासिद्धान्तकौमुद्योः तुलनात्मकम् अध्ययनम् (महेशचन्द्र शर्मा)
किरात०	किरातार्जुनीयम्
की० सं०	कीलहार्न संस्करण (वैयाकरणमहाभाष्य)
के० शि०	केशवी शिक्षा
कौ० ब्रा०	कौषीतकि ब्राह्मण
कौ० शि०	कौहलीय शिक्षा

कौ॰ सं॰	कौथुमीय संहिता (साम॰)
कौ॰ सू॰	कौशिकसूत्र
क्षीर॰	क्षीरतरङ्गिणी
खादिर गृ॰ सू॰	खादिर गृह्यसूत्र
गणरत्न॰	गणरत्नमहोदधि (वर्धमान)
गा॰ वि॰ सू॰	गायत्र विधानसूत्र (शुङ्ग)
गृह्या॰	गृह्यासंग्रह (गोभिलीय)
गो॰ गृ॰ सू॰	गोभिल गृह्यसूत्र
गो॰ ब्रा॰	गोपथ ब्राह्मण
गौ॰ गृ॰ सू॰	गौतम गृह्यसूत्र
गौ॰ ध॰ परि॰	गौतमधर्म परिशिष्ट
गौ॰ ध॰ सू॰	गौतमधर्मसूत्र
गौ॰ पितृ॰ सू॰	गौतम पितृमेधसूत्र
गौ॰ शि॰	गौतमी शिक्षा
च॰ अ॰	चतुरध्यायिका
च॰ अ॰ भा॰	चतुरध्यायिकाभाष्य
चा॰ धा॰ पा॰	चान्द्र धातुपाठ
(चा॰) चार॰ शि॰	चारायणीय शिक्षा
छां॰ उप॰	छान्दोग्य उपनिषद्
जी॰ ओ॰ एस॰	गायकवाड़ ओरियेण्टल सीरीज़ (बड़ौदा)
जै॰ उप॰ ब्रा॰	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
जै॰ गृ॰ सू॰	जैमिनीय गृह्यसूत्र
जै॰ न्यायमाला॰	जैमिनीयन्यायमालाविस्तर
जै॰ मी॰ सू॰	जैमिनीय मीमांसासूत्र
जै॰ सं॰	जैमिनीय संहिता
तां॰ ब्रा॰	ताण्ड्य महाब्राह्मण (पञ्चविंशब्राह्मण)
तै॰ आर॰	तैत्तिरीय आरण्यक
तै॰ उप॰	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै॰ प्रा॰	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
तै॰ ब्रा॰	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै॰ सं॰	तैत्तिरीय संहिता
त्रिभाष्य॰	त्रिभाष्यरत्न
देव॰ ब्रा॰	देवताध्याय ब्राह्मण
द्रा॰ श्रौ॰ सू॰	द्राह्यायण श्रौतसूत्र
धा॰ पा॰	धातुपाठ
धा॰ प्र॰	धातुप्रदीप

धा० वृ०	धातुवृत्ति
(ना०), नार० शि०	नारदीय शिक्षा
नामानु०	नामानुक्रमणिका
नार० म० पु०	नारदीयमहापुराण
नि० (निघ०)	निघण्टु
नि० सा०	निर्णयसागर प्रेस
निदानसू०	निदानसूत्र
निरु०	निरुक्त
निरु० भा०	निरुक्त भाष्य
निरु० मी०	निरुक्त मीमांसा (शिवनारायण शास्त्री)
निरु० समु० (नि० सं०)	निरुक्त समुच्चय
नीति०	नीतिशतक
नैगेयानु०	नैगेयानुक्रमणी
न्यास०	(काशिकावृत्ति)
पञ्च० ब्रा०	पञ्चविंश ब्राह्मण (ताण्ड्य महाब्राह्मण)
पपा०	पदपाठ
परि० पाठ	परिभाषा पाठ
परि० वृ०	परिभाषावृत्ति (सीरदेव, पुरुषोत्तमदेव)
परि० भा०	परिभाषा भास्कर (हरिभास्कर अग्निहोत्री)
परिभा० शे०	परिभाषेन्दुशेखर (के० वी० अभ्यङ्कर, सम्पा०)
परि० संग्रह	परिभाषासंग्रह
पा०	पाणिनि (पाणिनीय अष्टाध्यायी)
पा० ग० पा०	पाणिनीय गणपाठ
पा० ग्रा०	पाणिनीय ग्रामर
पा० धा० पाठ (पा०)	पाणिनीय धातुपाठ
पा० धा० सू०	पाणिनीय धातुसूत्र
पारा० शि०	पाराशरी शिक्षा
पारिशि०	पारिशिक्षा
पा० शि०	पाणिनीय शिक्षा
पा० स्मृ०	पाराशरस्मृति
पिसू०	पिंगलछन्दःसूत्र
प्रति० परि० (प्रतिज्ञा०)	प्रतिज्ञापरिशिष्ट
प्रति० सू०	प्रतिहारसूत्र
प्र० प० सू०	प्रतिज्ञापरिशिष्टसूत्र
प्र० भा०, द्वि० सं०	प्रथमभाग, द्वितीय संस्करण
प्रा० प्र० शि०	प्रातिशाख्य प्रदीपशिक्षा

प्रा० भा० ध्व० वि०	प्राचीन भारतीयों के ध्वन्यात्मक विचारों का विवेचनात्मक अध्ययन (सिद्धेश्वर वर्मा)
प्रावरिका०	प्रावरिकासूत्रम्
फिट्०	फिट्सूत्र
बाल०	बालमनोरमा (सि० कौ० की व्याख्या) (वासुदेवदीक्षित)
बृ० अनु०	बृहत् सर्वानुक्रमणी (अ० वे०)
बृ० आर० उप०	बृहदारण्यक उपनिषद्
बृ० दे०	बृहद्देवता
बृ० सं०	बृहत्संहिता
बौ० गृ० सू०	बौधायनगृह्यसूत्र
बौ० ध० सू०	बौधायनधर्मसूत्र
बौ० शि०	बौधायनशिक्षा
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
ब्रह्माण्ड०	ब्रह्माण्डपुराण
भट्टि०	भट्टिकाव्य
भरत ना० शा० (भरत०)	भरतनाट्यशास्त्र
भा० परि० सू०	भाषिक परिशिष्टसूत्र
भार० शि०	भारद्वाज शिक्षा
भार० श्रौ० सू०	भारद्वाज श्रौतसूत्र
भा० वि०	भारतीय विद्या
भा० सा० इ०	भारतीय साहित्य का इतिहास
म० भा०	महाभाष्य (पतञ्जलि)
म० भा० प्र०	महाभाष्य-प्रदीप
म० भा० प्र० उ०	महाभाष्य-प्रदीपोद्योत
म० भा० प्रत्या०	महाभाष्य प्रत्याहारप्रकरण
म० भार०	महाभारत
म० भारत शां० (शान्ति०)	महाभारतशान्तिपर्व
मनु० (स्मृ०)	मनुस्मृति
महाना० उप०	महानारायणोपनिषद्
मा० शि०	माण्डूकी शिक्षा
मा० धा० वृ०	माधवीय धातुवृत्ति
मा० परि०	माध्यन्दिन परिशिष्ट
मार्कं० पु०	मार्कण्डेयपुराण
मा० शि०	माध्यन्दिनी शिक्षा
मा० श्रौ० सू० (मानव०)	मानवश्रौतसूत्र

मुं० उप०	मुण्डकोपनिषद्
मै० प्रा०	मैत्रायणीय प्रातिशाख्य
मै० सं०	मैत्रायणीय संहिता
य० भू० शि०	यजुषभूषण शिक्षा
यज्ञप्रा० सू०	यज्ञप्रायश्चित्तसूत्र
या० निरु०	यास्कीयनिरुक्त
या० शि०	याज्ञवल्क्य शिक्षा
रघु०	रघुवंश
लघु अमोघ० शि०	लघु अमोघान्दिनी शिक्षा
लघुमाध्य० शि०	लघुमाध्यन्दिनी शिक्षा
लघुश० (ल० श० शे०)	लघुशब्देन्दुशेखर (नागेश)
ला० श्रौ० सू०	लाटचायन श्रौतसूत्र
लो० शि०	लोमशी शिक्षा
लौ० गृ० सू०	लौगाक्षि गृह्यसूत्र
वंशब्रा०	वंशब्राह्मण
वर्ण० शि०	वर्णरत्नप्रदीप शिक्षा
वा०	वार्तिक (कात्यायन)
वा० गृ० सू०	वाराहगृह्यसूत्र
वा० ध० सू०	वासिष्ठ धर्मसूत्र
वा० प० (वाक्य०)	वाक्यपदीय (भर्तृहरि)
वा० प्रा०	वाजसनेयि प्रातिशाख्य
वायु०	वायुपुराण
वा० शि०	वासिष्ठी शिक्षा
वा० सं०	वाजसनेयिसंहिता
वार० निरु०	वाररुच निरुक्तसमुच्चय
वाल्० शि०	वाल्मीकि शिक्षा
वि० ध० सू०	विष्णु धर्मसूत्र
विष्णु० (वि० पु०)	विष्णुपुराण
वृत्त०	वृत्तरत्नाकर
वे० ज्यो०	वेदाङ्ग ज्योतिष (शामशास्त्रीकृत व्याख्यासहित)
वेदार्थ०	वेदार्थदीपिका (षड्गुरुशिष्य)
वे० मा० छ०	वेङ्कट माधवकृत छन्दोऽनुक्रमणी
वै० आ०, आभ०	वैदिक आभरण
वै० छ० मी०	वैदिकछन्दोमीमांसा
वै० भू०	वैयाकरण भूषण (कौण्डभट्ट)

वै० भू० का०	वैयाकरण भूषणकारिका (भट्टोजिदीक्षित)
वै० भू० सार०	वैयाकरण भूषणसार (कौण्डभट्ट)
वै० वाङ्० इति०	वैदिक वाङ्मय का इतिहास (भगवद्दत्त)
वै० श्रौ० सू०	वैखानस श्रौतसूत्र
वै० सू०	वैतानसूत्र
व्या० शा० इ०	व्याकरणशास्त्र का इतिहास (युधिष्ठिर मीमांसक)
व्या० शि०	व्यासशिक्षा
श० कौ०	शब्दकौस्तुभ (भट्टोजिदीक्षित)
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शब्दावृत्त्यनु०	शब्दावृत्त्यनुक्रमणी
शां० आर०	शांखायन आरण्यक
शां० ब्रा०	शांखायनब्राह्मण
शां० श्रौ० सू०	शांखायन श्रौतसूत्र
शिशु०	शिशुपालवध
शि० सं०	शिक्षासंग्रह (युगलकिशोर पाठक)
शि० सू०	शिक्षासूत्राणि
शु० य० प्रा०	शुक्ल यजु:प्रातिशाख्य
शु० य० वे०, सं०	शुक्लयजुर्वेद, संहिता
शु० स० सू०	शुक्लयजुर्वेदीय सर्वानुक्रमसूत्र
शौ० च० व्यूह	शौनकीयचरणव्यूह
शौ० शि०	शौनकीय शिक्षा
षड्ब्रा०	षड्विंशब्राह्मण
सं०	संस्करण (संवत्)
सं० वाङ्० वि० इ०	संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास
सं० व्या०	संस्कृत व्याकरण
सं० व्या० उद्भव०	संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास(सत्यकाम वर्मा)
सं० व्या० गण०	संस्कृत व्याकरण के गणपाठ (कपिलदेव शास्त्री)
सं० व्या० शा०	संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (युधिष्ठिर मीमांसक)
सं० शा० इ०	संस्कृत शास्त्रों का इतिहास (बलदेव उपाध्याय)
सं० सा० इ०	संस्कृत साहित्य का इतिहास
संगीत०	संगीतरत्नाकर
सं० धा० पा०	संस्कृत धातुपाठ (पल्सुले)
स० कण्ठा०	सरस्वती कण्ठाभरण
सर्व० शि०	सर्वसम्मत शिक्षा
सर्वानु०	ऋक्सर्वानुक्रमणी (कात्यायन)
सा०	सायणाचार्य

सा० भा०	सायणभाष्य
सा० वि० ब्रा०	सामविधान ब्राह्मण
सा० वे० (सा० सं०)	सामवेदसंहिता
सा० सर्वा०	सामसर्वानुक्रमणी
सि० कौ०	सिद्धान्तकौमुदी (भट्टोजिदीक्षित)
सि० वर्मा०	सिद्धेश्वर वर्मा
सि० शि०	सिद्धान्तशिक्षा
स्वरभ० शि०	स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्ट शिक्षा
स्वरा० शि०	स्वराङ्कुश शिक्षा
स्वरानु०	स्वरानुक्रमणी
हठ० दी०	हठयोगदीपिका
हि० ध० शा०	हिन्दूधर्मशास्त्र (काणे)
हि० गृ० सू०	हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र
हैमाभि०	हैमाभिधान
A. Phil. S.	American Philosophical Society
A. Geogra.	Ancient Geography of India (Cunningham)
A. I.	Ancient India
A. S. Gra.	Aindre School of Sanskrit Grammarians (A. C. Burnell)
A. I. O. C.	All India Oriental Conference
A. O. S.	American Oriental Society
Alt. Gr.	Allīndische Grammatik (Wakernagel)
Av. & G. Br.	Atharva Veda and Gopatha Brāhmaṇa (Maurice Bloomfield)
B. H. U.	Banaras Hindu University
B. C. S. Gr.	Bengal's Contribution to Sanskrit Grammar (Kalicharan Shastri)
B. I.	Bibliotheca Indica
C. S. P. O.	Critical Studies in Phonetic Observations of Indian Grammarians (Siddheshwar Varma)
C. S. Y. P.	Critical Studies in Śukla Yajurveda Prātiśākhya (Venkaṭa Rama Śarmā)
D. S. Gr.	Dictionary of Sanskrit Grammar (K. V. Abhyankar)

E. R. E.	Encyclopaedia of Religion and Ethics (Hastings)
Et. Y.	Etymologies of Yāska (Siddheshwar Varma)
Phil. S. Gr.	The Philosophy of Sanskrit Grammar (Prabhat C. Chakravarty)
Phiṭsūtrās.	Phiṭsūtras of Śāntanavācārya (G. V. Devasthali)
Pho. A. I.	Phonetics in Ancient India (W. S. Allen)
Gr. Lit.	Grammatical Literature (Harmut Scharfe)
H. A. S. L.	History of Ancient Sanskrit Literature (F. Maxmuller)
H. C. S.	History of Classical Sanskrit Literature (M. Krishnamacharya)
H. I. Phil.	History of Indian Philosophy (S. N. Dasgupta)
H. I. L.	History of Indian Literature
H. O. S.	Harvard Oriental Series
H. S. L.	History of Sanskrit Literature (Macdonell)
H. S. P.	History of Sanskrit Poetics (P. V. Kane)
Hymn.	Hymns of the Ṛgveda (P. Peterson)
I. L.	Indian Linguistics
I. L. G.	Indische Literatur Geschichte (Winternitz)
Indi. Pā.	India as Known to Pāṇini (V. S. Agrawal)
Indi. Paleo.	Indian Paleography
Indices	Indicess Appendices to Nirukta (Laksman Sarup)
I. O. C.	International Oriental Congress
I. T. P.	India in the Times of Patanjali (B. N. Puri)
L. I. S.	Linguistic Introduction to Sanskrit (Bata Krishna Ghosh)
N. G. G. W.	Nachrichten Vor der Kgl. Gasselleschaft der Wissenschaften
Nir.	Nirukta
P. A. I. O. C.	Proceedings of all India Oriental Conference
P. A. O. S.	Proceedings of American Oriental Society

Pā. Survey	Pāṇini—A Survey of Research (George Cardona)
Pā. V.	Pāṇini and the Veda (Paul Thieme)
Phil. up (G.)	The Philosophy of the Upaniṣads (A. E. Gough)
Rituellit.	Ritualliteratur (Hillebrandt)
R. L. G. V.	Roth-Literature und Geschichte des Veda
S. B. E.	Sacred Books of the East
S. Gr.	Sanskrit Grammar
Skt. Mss.	Sanskrit Manuscripts
S. Lit.	Sanskrit Literature
Sanstex (O. S. T.)	The Original Sanskrit Texts (J. Muir)
Śrau. Lā. Drā.	Śrauta Sūtras of Lāṭyāyana and Drāhyāyana (Asko Parpola)
Struc.	Structure of Aṣṭādhyāyī (I. S. Pawate)
Survey	Survey of the Śrauta Sūtras (C. G. Kashikar)
Systems	Systems of Sanskrit Grammar (S. K. Belvelkar)
Techniq.	Technique and Technical Terms of Sanskrit Grammar (K. C. Chatterjee)
Up. Symb.	Upaniṣadic Symbolism (S. P. Singh)
V. B. Y.	Veda of the Black Yajus (A. B. Keith)
V. M.	Vedic Mythology (A. A. Macdonell)

(ग) पत्रिकाएं

	गुरुकुल पत्रिका
ना० प्र० प०	नागरी प्रचारणी पत्रिका (वाराणसी)
AO	Acta Orientalia.
ABORI	Annals of Bhandarkar Orientel Research Institute, Poona.
AKM	Abandlungen für die Kunde des Morgenlandes.
ALB	Adyar Library Bulletin.
AJPh	American Journal of Philology.
AI	Ancient India
BV	Bhāratīya Vidyā
	Bombīay Gazetteer.
BSOAS	Bulletin of the School Oriental and African Studies.
GGA	Gottingen Gelherte Auzeigen.
	Hindustan Review.
IA	Indian Antiquary.
IC	Indian Culture.
IHQ	Indian Historical Quarterly.
IS	Indische Studien.
JAOS	Journal of American Oriental Society.
JASB	Journal of Asiatic Society of Bengal.
JBBRAS	Journal of Bombay Branch of Royal Asiatic Society.
JBORI	Journal of Bihar and Orissa Research Institute.
JGJRI	Journal of Ganganath Jha Research Institute.
JOIB	Journal of Oriental Institute, Baroda.
JOR	Journal of Orientel Research, Madras.
JRAS	Journal of Royal Asiatic Society of Great Britain & Ireland (London).
JUB	Journal of University of Bombay.
JUP	Journal of University of Poona.
JVS	Journal of Vedic Studies (Lahore).

NIA	New Indian Antiquary
NUJ	Nagpur University Journal.
	Oriental College Magazine (Lahore).
OH	Our Heritage
PO	Poona Orientalist.
SBAW	Sitzunberichte des Berliner Akademie des Wissenchaft
SVUOJ	Sri Venkteswara University Oriental Journal.
Tr. A Phil. S	Transactions of American Philosophicel Society.
WZKM	Wiener Zeitschrift für die Kunde des Morgenlandes.
ZDMG	Zeitschrift des Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft.

वेदाङ्ग

शिक्षा

प्रथम अध्याय

'शिक्षा' के प्रतिपाद्य

वेद के छः अङ्गों में से शिक्षा को प्राथमिकता दी गयी है[1], क्योंकि वेद की समस्त परम्परा शुद्ध उच्चारण पर निर्भर करती आई है और शिक्षा का मुख्य उद्देश्य वैदिक मन्त्रों के उच्चारण की शुद्धता को अक्षुण्ण रखना है[2], क्योंकि मंत्रों के उच्चारण में दोष अनिष्टकर ही नहीं माना जाता था, अपितु वास्तविक अर्थ को व्यक्त करने में बाधक भी होता था[3]। अतः ध्वनिशास्त्र का विकास भारत में बहुत प्राचीन काल से आरम्भ हो गया था। ध्वनिशास्त्र के अर्थ में 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम तै० उप० में किया गया है[4], जहां वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि शिक्षा-शास्त्र का अध्ययन इस उपनिषद् से बहुत पहले से चला आ रहा था[5]। उपनिषत्काल में इस विद्या का पर्याप्त विकास हो चुका था।

उपर्युक्त पारिभाषिक शब्दावलि को समझ लेना आवश्यक है।

(१) **वर्ण** से अभिप्राय अकारादि वर्णमाला से है। पा० शि० के अनुसार संस्कृत वर्णमाला में ६३ या ६४ वर्णों की संख्या निर्धारित की गयी है।

(२) **स्वर**—वेद में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर प्रयुक्त होते हैं। स्वरज्ञान अर्थज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उदात्त का उच्चारण तालु आदि स्थानों के ऊर्ध्वभाग से निष्पन्न वर्णों के रूप में होता है। अनुदात्त वर्ण का उच्चारण इन्हीं स्थानों के निचले भाग से निष्पन्न होता है और स्वरित का उच्चारण उदात्त और

---

१. शिक्षाकल्पो व्याकरणम्…… ।

२. "वाच उच्चारणे विधिम्" । पा० शि० २, 'स्वरवर्णोच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा' (सायण, ऋग्० भा० भूमिका; मैक्स० सं०, भाग १, पृ० १८)।

३. 'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह । सवाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' (पा० शि० ५२)।

४. 'शीक्षां व्याख्यास्यामः' (तै० उप० १, २; तै० आर० ३,२,१; शांखा० आर० ८, ८; गो० ब्रा० १, २४; २७; छां० उप० २, २२, ३-५)।

५. वा० सं० (२५, १) में आस्यध्वनियन्त्र से सम्बद्ध अनेक विश्लेषणात्मक सूचनाएं दी गयी हैं यथा—दन्तमूल, बत्स्र्य, अग्रजिह्व, तालु, हनु, आस्य।

अनुदात्त का मिश्रित रूप है। यहां उच्चता तथा नीचता से नादगत उच्चता या नीचता कदापि अभिप्रेत नहीं। इसी कारण इन उदात्त आदि स्वरों को निषाद, ऋषभ आदि संगीत के स्वरों से सम्बद्ध किया गया है। निषाद और गान्धार उदात्त के अन्तर्भूत हैं। ऋषभ और धैवत अनुदात्त स्वर माने जाते हैं, शेष षड्ज, मध्यम और पञ्चम स्वर स्वरित गिने जाते हैं (या० शि० १, ७ ना० शि० १, ८, ८)।

(३) **मात्रा**—वर्णों के उच्चारण में लगने वाले काल को **मात्रा** कहते हैं। यह तीन प्रकार की होती है—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। ह्रस्व स्वर के उच्चारण में एक मात्रा काल लगता है। दीर्घ के उच्चारण में दो मात्रा तथा प्लुत के उच्चारण में तीन मात्रा। व्यञ्जनों के उच्चारण में अर्ध-मात्रा काल लगता है।

(४) **बल** से तात्पर्य है स्थान तथा प्रयत्न। मुख में वर्णों के उच्चारण-स्थान को '**स्थान**' तथा उनके उच्चारण में किये जाने वाले प्रयास को **प्रयत्न** कहते हैं। पाणिनीय व्याकरण में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है।

(५) **साम**—से अभिप्राय अतिद्रुत, अतिविलम्बित आदि दोष रहित तथा माधुर्य आदि गुणों से युक्त उच्चारण है। शिक्षाग्रन्थों में उच्चारण-विषयक गुणदोषों का बड़ा विस्तृत तथा वैज्ञानिक वर्णन किया गया है (पा० शि० ३२-३५ या० शि० १, २८-२९; २, ८२-८३; ना० शि० १, ३, ११-१२)।

(६) **सन्तान**—का अर्थ है संहिता। शब्दों में क्रमशः उच्चारण के समय प्राप्त सन्धियों के सहित पाठ। यथा— '**वायो आ याहि=वायवायाहि**' '**इन्द्राग्नी आगतम्**' यहां '**प्रकृतिभाव**' इन **सन्धियों** का भी बड़ा सूक्ष्म तथा वैज्ञानिक वर्णन शिक्षा के ही अंगभूत प्रातिशाख्यों में किया गया है।

शिक्षा के यह छहों अंग वर्तमान शिक्षा ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। आरम्भ में वर्णों के उच्चारण, उनकी मात्रा, स्वर तथा वैदिक मन्त्रों के पाठ की प्रक्रिया पर अधिक बल दिया जाता था[1]।

धीरे-धीरे न केवल ध्वनिशास्त्र के सामान्य सिद्धान्त ही स्थिर कर लिये गये, अपितु उनका वैदिक मन्त्रों पर प्रयोग भी किया जाने लगा[2]। फिर तो इस

---

[1] विष्णुमित्र, ऋक् प्रा०, बनारस सं०, पृ० ५; मधुसूदन सरस्वती, प्रस्थान-भेद, वेबर सं०, पृ० १६।

[2] वा० प्रा० १, २९।

विद्या का इतना प्रसार हुआ कि प्रत्येक वैदिक-शाखा से सम्बद्ध अनेकों शिक्षाओं के अतिरिक्त स्वतन्त्र शिक्षाओं की रचना भी होने लगी। आजकल हमें ६५ शिक्षाओं का पता है। इतना होते हुए भी शिक्षाशास्त्र के विकास का इतिहास अन्धकार में लीन है। उपलब्ध शिक्षाओं का पाठ प्रायः अत्यन्त भ्रष्ट है। अनेक पाठ बहुत सी शिक्षाओं में परस्पर समान हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि इन रचनाओं में मौलिकता का अभाव है। इधर-उधर से संगृहीत होने के कारण इनमें व्यर्थ की पुनरावृत्तियों की भरमार है। इनमें कोई वैज्ञानिक रचना-पद्धति भी परिलक्षित नहीं होती। अतः मूल शिक्षा के पाठ का निश्चय करना कठिन हो गया है।

इनमें से बहुत सी शिक्षाओं में तो केवल संहिताओं में पायी जाने वाली ध्वनियों का ब्योरेवार वर्णन किया गया है। यथा, माण्डवीशिक्षा के हस्तलेख में यजुर्वेद के वकारयुक्त शब्दों की तालिका दी गयी है। 'विलङ्घ्यम्' शिक्षा (हस्त०) में यजुर्वेद के उन शब्दों की तालिका हैं जिनके अन्त में ए, ऐ, ओ, औ पाये जाते हैं। भार० शिक्षा में समान ध्वनि वाले शब्द गिनाये गये हैं[1]। प्रातिशाख्यों में भी इस प्रकार की तालिकाएं उपलब्ध होती हैं[2]। यह प्रवृत्ति निश्चय ही पीछे उत्पन्न हुई है। इस प्रकार की तालिकाओं का उद्देश्य वैदिक शब्दों के उच्चारण की शुद्धता का संरक्षण है।

इतना होते हुए भी शिक्षाग्रन्थों में ऐसी बहुत सी बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध होती है, जो प्रातिशाख्यों में नहीं पायी जाती। कुछेक तैत्तिरीय शिक्षा-रचनाओं का रचनाक्रम अवश्य ही अधिक वैज्ञानिक है। वैदिक संहिताओं से घनिष्ठ संबन्ध रखते हुए भी मूलतः शिक्षा-रचनाएं पद-पाठ या क्रम-पाठ से सम्बन्ध नहीं रखती थीं। सम्भवतः इसीलिए पाणिनि ने ऋचादिगण में शिक्षा शब्द को पद तथा क्रम से पृथक् पढ़ा है[3], किन्तु यह कल्पना मात्र ही है।

ध्वनिशास्त्र को शिक्षाओं की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इतने प्राचीन काल में आधुनिक यन्त्रों की सहायता के बिना वर्णों के उच्चारण की प्रक्रिया का इतना सूक्ष्म विश्लेषण, वाणी की अभिव्यक्ति से पूर्व मानसिक विचार से लेकर श्वास के आस्यध्वनि-यन्त्र तक पहुंचने से पहले की अव्यक्त अवस्था का वर्णन[4],

---

[1] Siddheshwar Varma, *Critical Studies in Phonetic Observations of Indian Grammarians*, R. A. S. London, 1929, P. 29.

[2] ऋक् प्रा० (७-९ पटल) में संहिता में दीर्घीकृत स्वरों से युक्त शब्द गिनाये गये हैं।

[3] पा० ६, २, ६१; सिद्धेश्वर वर्मा, वही पृ० ५।

[4] पा० शि० ६-९; तु० Zono, in *Plutarch*, De Plac. Phil. IV 21, 903 C, quoted by W. S. Allen in *Phonetics in Ancient India*, Oxf. Univ. Press, 1953, P. 21.

स्थान, करण, नाद, अनुप्रदान आदि का विवेचन, स्वरों तथा व्यञ्जनों के पारस्परिक सम्बन्धों का सूक्ष्म निरूपण, स्वर-प्रक्रिया की विविध समस्याओं का समाधान, अनुस्वार तथा रङ्ग की उच्चारण सम्बन्धी जटिलताओं पर विचार, स्वरभक्ति का स्पष्टीकरण, विवृत्ति, अभिनिधान, यम तथा व्यञ्जन-सन्धियों पर की गयी टिप्पणियां, शिक्षाशास्त्र की आधुनिक ध्वनिशास्त्र को शाश्वत देन है। घोषवत् तथा अघोषवत् वर्णों में भेद करने का सर्वप्रथम श्रेय भी इन प्राचीन भारतीय ध्वनि-विशेषज्ञों को ही है[1]। नासिक्य तथा अन्तःस्थ से पूर्वस्थ हकार तथा विसर्ग को औरस्य ध्वनियां मानना हमारे आचार्यों की सूक्ष्म ईक्षिका का दिग्दर्शन है।[2]

आगे चलकर शिक्षा-शास्त्र का क्षेत्र प्रातिशाख्यों तक विस्तृत हो गया। यहां तक कि प्रातिशाख्यों को भी शिक्षा के अन्तर्गत गिना जाने लगा[3] और शिक्षा तथा प्रातिशाख्य में अन्तर करना कठिन हो गया[4]। प्रातिशाख्यों के शिक्षा-विषयक वचन सम्भवतः उस मूल शिक्षा से लिये गए हैं।[5] क्योंकि आधुनिक सभी शिक्षाएं प्रातिशाख्यों से परवर्ती है और उन पर अवलम्बित हैं; अतः परस्पर विरोध होने पर प्रातिशाख्य के वचन को प्रबल माना जाता है।[6] यद्यपि अपने वर्तमान रूप में ये शिक्षाएं प्राचीन नहीं हैं, तो भी इनमें प्रतिपादित मुख्य सिद्धान्त प्रातिशाख्यों के उपजीव्य हैं[7]। इनमें निरूपित विषय प्रातिशाख्यों के समानान्तर विषयों से अधिक स्पष्ट तथा सूक्ष्म हैं। विवृत्ति, स्वरभक्ति, स्वरित तथा चार प्रकार के उदात्त आदि स्वरों एवं षड्ज आदि सात संगीत के स्वरों के परस्पर सम्बन्धों का निरूपण शिक्षाओं में प्रातिशाख्यों से कहीं अधिक स्पष्ट रीति से किया गया है।[8] इसी प्रकार नानाविध उदात्त आदि स्वरों का हस्तचालन तथा अंगुलि-सङ्केतों से निर्देशन की प्रक्रिया शिक्षाओं की अपनी विशेषता है। शिक्षाओं में जहां वर्णों के उच्चारण की प्रक्रिया तथा उनके स्थान करण आदि का प्रतिपादन किया गया

---

१. 'In their recognition of the voicing process the Indian Phoneticians make one of their greatest single contributions'. Allen, *ibid*. P. 33.

२. पा० शि० १६; तु० सर्व सम्मत० ४२; द्र० ह्विटने, अथर्व प्रा० १, १९।

३. विष्णु मित्र, ऋक् प्रा० पृ० १३; स्वयं ऋक् प्रा० ने अपने को 'वर्णशिक्षा' का नाम दिया है (१४, ६८)।

४. सिद्धेश्वर वर्मा वही, पृ० १२।

५. भगवद्दत्त, माण्डवी शिक्षा, भूमिका, पृ० १२; W. S. Allen, *ibid*. P. 5.

६. सर्वसम्मत०, ४९।

७. F. Kielhorn, *Indian Antiquary*, V, P. 143,

८. वही।

है, वहां उच्चारण के गुणों[१] तथा दोषों[२] के साथ-साथ उच्चारणकर्ता के गुणों[३] तथा दोषों[४] का भी उल्लेख किया गया है।

वर्णों के उच्चारण-स्थान, विशेषत: ऋ तथा र के विषय में थोड़ा बहुत मतभेद पाया जाता है। पा० शि० के मत में यह दोनों **मूर्धन्य** वर्ण हैं[५], जबकि अन्य आचार्यों की सम्मति में 'र' '**दन्तमूलीय**'[६] या **वर्त्स्य**[७] है और 'ऋ' **जिह्वामूलीय**[८] या **वर्त्स्य**।[९] कुछ लोग ऌ को भी **जिह्वामूलीय** मानते हैं।[१०] व्यास शिक्षा में ऋ, ऌ को मिश्रित वर्ण माना गया है।[११] इसी कारण कुछ लोगों ने ऋ, ऌ को स्वरों में गिनना उचित नहीं समझा[१२]। ऋकार के चार भाग माने गये हैं। इनमें प्रथम तथा चतुर्थ तो स्वरात्मक हैं, जबकि मध्य के दो भाग व्यञ्जना(कारा-)त्मक हैं।[१३] उच्चारणगत यह भेद देशगत भेदों के द्योतक हैं, जो विविध शाखागत भेदों के मूल में अवस्थित हैं।

शिक्षाओं की उद्भावनाओं तथा ध्वनिविषयक विश्लेषणों के फलस्वरूप **स्वरभक्ति, अभिनिधान, रङ्ग, विवृत्ति** तथा **यम** कुछ ऐसे विषय उभर कर हमारे समाने आए हैं, जिनका ध्वनि-शास्त्र के क्षेत्र में आज भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

स्वरभक्ति—सामान्यत: स्वर तथा व्यञ्जन के मध्य में स्थित रकार के बाद $\frac{१}{८}$ से $\frac{१}{२}$ मात्रा तक के अन्तर्निविष्ट स्वरांश को '**स्वरभक्ति**' कहते हैं।

---

[१] पा० शि० ३१; याज्ञ० शि०, अमरनाथ शास्त्री सं०, वाराणसी, २, १३६।

[२] पा० शि० ३४, ३५; याज्ञ० शि० १, २८; २९।

[३] पा० शि० ३३; याज्ञ० २, ८३।

[४] पा० शि० ३२; याज्ञ० शि० २, ८२।

[५] पा० शि० १७।

[६] आप० शि० १, १४; द्र० वा० प्रा० १, ६८; तै० प्रा० २, ४१; अथर्व० प्रा० १. २८।

[७] ऋक् प्रा० १, ४६।

[८] वा० प्रा० १, ६५; अथर्व० प्रा० १, २६; ऋक् प्रा० १, १८।

[९] तै० प्रा० २, १८।

[१०] ऋक् प्रा० १, ४१ (केवल √क्लृप् में—Allen, *ibid.*, P. 55); द्र० ह्विटने, अथर्व० प्रा० १, २० पर।

[११] व्यास शि० ११; तु० अथर्व० प्रा० १, ३७; ३९।

[१२] तु० कैय्यट, महाभाष्य १, १, ४ (पा० १, १, ९)।

[१३] सर्व० शि० १९।

यह स्वरांश 'र्' तथा व्यञ्जन के मध्य में इसलिए डाला जाता है ताकि 'र्' के तुरन्त बाद व्यञ्जन का उच्चारण, जो कठिन होता है, सरल हो जाये ।[१] कई आचार्य **स्वरभक्ति** को 'र (ल)+स्वरोदय ऊष्म' तक ही सीमित रखते हैं[२] और अन्तर्निविष्ट स्वर क्रमशः 'ऋ' या 'लृ' हो सकता है[3], किन्तु उसका उच्चारण 'रे' या 'ले' के समान करने की परिपाटी है ।[४] अन्यत्र **स्वरभक्ति** अ, ई तथा उ के सदृश भी उच्चरित होती है[५], जिसे दूसरे सम्प्रदाय दोष मानते हैं[६] । ऋक् प्राति० के अनुसार **स्वरभक्ति** पूर्ण या उत्तरवर्ती स्वर के सदृश हो सकती है[७] । कई बार छन्द की दृष्टि से भी स्वर का अन्तर्निवेश करना पड़ता है । यथा—'दर्शत'=दरुशत (=४ अक्षर) । उत्तरवर्ती व्यञ्जन के भेद के अनुसार **स्वरभक्ति** के अनेक भेद किए जाते हैं[८] ।

रङ्ग :—मकार तथा नकार के स्थान पर होने वाले नासिक्य या अनुनासिक को वैदिक परिभाषा में **रङ्ग** कहते हैं । यथा 'सँस्कर्ता', '**लोकाँरँअकल्पयन्**' इत्यादि स्थलों में रङ्ग का उच्चारण इस प्रकार करने की परिपाटी थी, जैसे— सौराष्ट्र के देश की स्त्रियां 'तक्रँ' या 'अराँ' का उच्चारण करतीं थीं (या० शि० २, ७०; पा० शि० २६; नार० शि० २, ४, ९) । रङ्ग के उच्चारण में ङकार का उच्चारण न करके अनुनासिक मात्र के उच्चारण करने का विधान है (या० शि० ७०) । इसका काल २मात्रा माना गया है यह दो स्वरों के मध्य में अवस्थित रङ्ग का वर्णन है, किन्तु स्वर और व्यञ्जन के मध्य में स्थित रङ्ग एकमात्रिक कहा जाता है (या० शि० २, ७१; लो० शि० ६) । रङ्ग का नाद रहित (या० शि० २, ७४) तथा घोषवत् (पा० शि० २३) दोनों प्रकार से प्रतिपादन किया गया है । इसकी विशेषता यह है कि जिस स्वर को अनुनासिक हुआ हो उसका दीर्घ उच्चारण करके बाद के अर्द्धमात्रा के अनुनासिक का उच्चारण किया जाता हैं । पूर्व अक्षर का अनुनासिक उच्चारण वर्जित है (पा० शि० २७-२८; या० शि०

---

[१] ह्विटने, अथर्व० प्रा० १, १०१-१०२ ।

[२] याज्ञ० शि० २, १६ ।

[३] वा० सं० प्रा० ४, १७; ऋक् प्रा० ६, ४६ ।

[४] 'ऋकार=खलु सर्वत्र एकारसदृशो भवेत्'—लघु माध्य० शि० २८; प्रा०प०सू० २,३-५ तथा उन पर अनन्तदेव याज्ञिक; वर्णरत्नदी० शि० ।

[५] सिद्धेश्वर वर्मा, वही, पृ० १३५ से ।

[६] याज्ञ० शि० २, १७; नारदीय० २, ६, ७, ९ ।

[७] ऋक् प्रा० ६, ५३ ।

[८] याज्ञ० शि० २, १४-१६ ।

२, ३९; नार० शि० २, ४, ८)। विविध वर्णों के योग से रङ्ग के अनेक प्रकार कहे गए हैं (या० शि० २, ७२-७८; द्र० सर्व० शि० ४८)।

विवृत्ति :—दो स्वरों के मध्य में जहां सन्धि नहीं होती वहां विवृत्ति मानी जाती है। यथा 'यऽईशे' इस उदाहरण में 'य' तथा 'ईशे' का विच्छेद-पूर्वक उच्चारण करते समय मध्य में सन्धि के अभाव के कारण होने वाली अर्धमात्रिका (तु० ऋक् प्रा० २, ४— "सा वा स्वरभक्तिकालिका)" विरति को ही **'विवृत्ति'** कहते हैं। यह 'विरति' स्वर-मध्यस्थ पदान्त यकार वकार के लोप के कारण भी होती है। इस पदान्त 'य' तथा 'व' का पदादि तथा पदमध्य स्थित 'य-व' से सदा भेद किया जाता है (द्र० प्रतिज्ञा० १७; तु० **'व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य'**—पा० ८, ३, १८; तथा इस पर सि० कौ०, सूत्र सं० १६८)। इस 'व' को ऋक् प्रा० ने 'भुग्न' का नाम दिया है (ऋक् प्रा० २, ३१)। यह **'विवृत्ति'** चार प्रकार की कही गयी है (या० शि० २, १०; नार० शि० २,४,१-३)।

अभिनिधान : -रेफातिरिक्त-स्पर्शोदय 'स्पर्शों' तथा 'अन्तःस्थों' का सन्धिकार्य हो चुकने पर इनके 'सन्धारण' तथा वर्णश्रुति के 'संवरण' को **अभिनिधान** कहते हैं (ऋक् प्रा० ६, १७), यथा—'अर्वाग्देवाः', 'दग्धासि' 'उल्कामिव', 'दधिक्राव्णः' में पूर्ववर्ती 'ग्' 'ल्' तथा 'व्' का एकमात्रा काल के लिए पश्चाद्वर्ती 'द', 'ध', 'क', तथा 'ण' से पृथक् सन्धारण करके परवर्ती द, ध, क, तथा ण का उच्चारण करना चाहिये, यथा—'अर्वाग्-देवाः', 'दग्-धासि', उल्-कामिव', 'दधिक्राव्-णः'। इस प्रकार पूर्ववर्ती ग्, ल्, तथा व् की श्रुति का मुख में संवरण हो जाता है, स्फोटन नहीं होता। परिणामतः दो वर्णों का उच्चारण एक वर्णवत् होता है (शु० य० प्रा० ४, १४४; तु० **'पीड़ितः सन्नतरो हीनश्वासनादः'**— अ० प्रा० १, ४३)। यही स्थिति अवसान में भी रहती है (ऋक् प्रा० ६, १८; द्र० या० शि० २, ६२-६७)। भिन्न प्रकार के 'अभिनिधानों' की उच्चारण सम्बन्धी विशेषताओं की ओर शिक्षाकारों ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है और यह भो दर्शाया है कि विसर्ग परे रहने पर पूर्वाक्षर 'गुरु' हो जाता है (या० शि० २, ६२-६७)। 'अभिनिधान' के विषय में आचार्यों की सूक्ष्म विश्लेषण-शक्ति की प्रशंसा आधुनिक ध्वनिविद् भी मुक्त कण्ठ से करते हैं (द्र० ह्विटने, अ० प्रा०, अनुवाद, पृ० ३७; ऐलन, फो० ऐं० इ०, पृ० ७२)।

यम :—जहां वर्गों का अन्तिम नासिक्य वर्ण परे हो और अन्तिम से भिन्न कोई अन्य वर्ण अव्यवहित पूर्व हो तो दोनों के मध्य में पूर्व वर्ण के सदृश एक

और नासिक्य वर्ण का उच्चारण किया जाता है, जिसे 'यम' कहते हैं। यथा—'अग्ग्निः'; 'पलिक्क्निः'; 'उपघ्घ्नन्ति'; 'रुक्क्मः'; 'विद्द्म' (नार० शि० २, २, ८; या० शि० २, ९१), किन्तु जहाँ पञ्चम वर्ण परे रहते श ष स य र ल व में से कोई वर्ण अव्यवहित पूर्व हो, वहां 'यम' की उत्पत्ति नहीं होती (नार० शि० २,२, ९; या० शि० २, ९५). यथा—विष्णवे; बिल्-मिने; आस्-मिन्।

'यम' का उच्चारण नासिकामूल से होता है और इसके बाद सघोष या अघोष प्राण नासिका से निःसृत हो जाता है (अ० प्रा० १, ८२) और स्पर्श वर्ण का कुछ दीर्घ उच्चारण किया जाता है। पाश्चात्य विद्वानों में यम के विषय में काफी भ्रान्त धारणा रही है (ह्विटने, अ० प्रा० १, ९९; मैक्समूलर ऋक् प्रा० ६, २९)। उनके विचार में यम स्पर्श से पूर्व नासिक्य उच्चारण का नाम है (Regnier, Journal Asiatique Ve Ser IX P. 233 f.) जो असंगत है। प्राचीन परम्परा (पा० शि० ४); त्रिभाष्यरत्न (तै० प्रा० २१, १८; उवट (वा० प्रा० १, ८२) के अनुस्वार यमों की कुल वास्तविक संख्या चार है न कि बीस (द्र० उवट, ऋक् प्रा० १, ५०; ऐलन, फोनेटिक्स०, पृ० ७५-७८) इस प्रकार ध्वनि सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण तथा सूक्ष्म विचार शिक्षाओं में व्यक्त किये गये हैं।

अनुस्वार—अनुस्वार के विषय में तीन मत व्यक्त किये गये हैं—

१. अ० प्रा० (चतुर०) तथा सि० कौ० के अनुसार यहां म् तथा न् के लोप होने पर पूर्ववर्ती स्वर को अनुनासिक्य किया जाता है। यद्यपि अ० प्रा० में **अनुस्वार** शब्द का प्रयोग नहीं किया गया, तो भी इस का यह अर्थ लगाना[1] ठीक नहीं कि अ० प्रा० (चतुर०) इससे अपरिचित था। स्वतन्त्र सत्ता न रखते हुए यह एक निमित्तज नासिक्य ध्वनि है, जो कुछेक विशेष परिस्थितियों में उत्पन्न होती है। इसका छह **पराश्रय** ध्वनियों के अन्तर्गत परिगणन किया गया है[2]। अ० प्रा० (चतुर०) ने इसे ही **अनुनासिक** शब्द द्वारा व्यक्त किया है[3]। ऋक् प्रा० ने भी शुद्ध **नासिक्य** स्वर, **अनुनासिक** तथा **यम** सभी के लिए सामान्य **नासिक्य** शब्द का प्रयोग किया है[4]।

२. ऋक् प्रा० के अनुसार अनुस्वार या तो व्यञ्जन होता है या स्वर[5], जिसकी व्याख्या करते हुए उवट ने कहा है कि अनुस्वार न व्यञ्जन ही है, न ही स्वर, जो

---

[1] ह्विट्ने, अ० प्रा० (चतुर०) १, २६ पर।

[2] चारायणीय शिक्षा, अध्याय १, पन्ना १ अ तु० ऋक्० प्रा० १, २२।

[3] अ० प्रा० (चतुर०) १, ११; १, ८३।

[4] ऋक् प्रा० १, ४७; ४८।

[5] **अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वा**, ऋक् प्रा० १, ५।

ठीक नहीं है, इससे इसका कोई निश्चित स्वरूप प्रस्तुत नहीं होता। किन्तु नासिक्य से पूर्ववर्ती स्वर तथा अनुनासिकी-कृत आ तथा ऋ के बाद की विसर्ग के भी अनुनासिकीकरण की प्रवृतियों की ओर संकेत महत्त्वपूर्ण है।

३. तैत्तिरीय शाखा के कुछ ग्रन्थ, यथा—वैदिकाभरण तथा शिक्षाएं (सर्वसम्मत, यजुष भूषण प्रभृति) अनुस्वार को पूर्ण व्यञ्जन मानती हैं। इस का उच्चारण अर्ध 'ग' के समान होता है[१]। अतः संस्कृत में अनुस्वार का उच्चारण स्वर तथा व्यञ्जन दोनों प्रकार से होता था।

द्वित्व (क्रम)—ऋक् प्रा०[२] तथा पाणिनि[३] के अनुसार आचार्य शाकल्य के मत में तो द्वित्व कभी होता ही नहीं, जो सर्वथा ठीक प्रतीत नहीं होता[४]। द्वितीय दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व सभी प्रातिशाख्य तथा कुछेक शिक्षाएं करतो हैं[५]। इसके अनुसार स्वर के उपरान्त आने वाले प्रत्येक व्यञ्जन-समूह के प्रथम वर्ण को द्वित्व होता है। इस में कुछेक अपवाद भी हैं। यथा—अद्य = अद्द्य; मुक्त = मुक्क्त, जो भाषा के स्वरूप से ही सिद्ध है। तृतीय विचार पाणिनि ने प्रस्तुत किया[६] कि प्रातिशाख्यों द्वारा विहित स्थितियों में विकल्प से द्वित्व होता है।

स्वरान्तर्वर्ती द्वित्वयुक्त व्यञ्जनों के उच्चारण के सम्बन्ध में वा० प्रा०[७] में कहा गया है कि इनका उच्चारण एकवत् होना चाहिये, यथा—कुक्कुरः (कुक्कुरः); व्यात्तम् (व्यात्तम्)। यहां 'एकवत्' का अर्थ 'एक' (द्वित्वरहित) नहीं[८], अपितु 'एक प्रयत्नसाध्य' है[९]। वशिष्ठ शिक्षा में कहा गया है कि जहां स्वरों के मध्य में द्वित्व हो, उसकी वास्तविकता केवल उच्चारण-विशेष से ही आंकी जा सकती है, उसे किसी स्थिर नियम के अधीन बांधा नहीं जा सकता।[१०]

---

[१] वैदिकाभरण, तै० प्रा० २, ३० पर; सर्व० शि० ४३; पारि शि० १६१।

[२] ऋक् प्रा० ६, १४।

[३] पा० ८, ४, ५१।

[४] प्रा० भा० वै० ध्व०; पृ० ११६।

[५] ऋक् प्रा० ६,१; तै० प्रा० १४,१; अ० प्रा० (चतुर०) ३,२८; वा० प्रा० ४, १०१ :

व्यास शिक्षा— 'स्वरपूर्वमियाद् द्वित्वं व्यञ्जनं व्यञ्जनोत्तरे',

वर्णरत्नदीपिका शिक्षा, शि० सं० पृ० १३० (काशी)

[६] पा० ८, ४, ४५; ५०।

[७] वा० प्रा० ४, १४४।

[८] द्र० प्रा० भा० वै० ध्व० पृ० ११७—कुकुरः, दतः।

[९] द्र० अनन्तभट्ट—**'वर्णद्वयमप्येकप्रयत्ननिर्वर्त्यं स्यादिति भावः'**।

[१०] व्यास शिक्षा, पृ० १८ पर लूडर्स।

'सर्वसम्मत शिक्षा' में कहा गया है कि कभी-कभी 'परि' उपसर्ग के बाद भुज् में **ब्** का आगम देखा जाता है, यथा **परिब्भुज्**। इसी प्रकार कभी-कभी उपसर्ग के बाद **खिद्** में एक अतिरिक्त **क्** जोड़ा जाता है, यथा—**अवक्खिदते**, **परिक्खिदते**[1]। वैदिक संहिताओं में द्वित्वीकरण का कोई निर्णायक उदाहरण नहीं मिलता[2]।

ब्राह्मणों में यद्यपि द्वित्व के अनेक उदाहरण देखे जाते हैं, तो भी ब्राह्मणों, तथा निरुक्त तक में इस प्रकार के उदाहरण नहीं देखे जाते, किन्तु प्राकृत में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं— जमक्का (यमकौ) जित्त (जित); णाऊक्क (नायक)[3] प्रभृति।

अन्त्य व्यञ्जन—भारतीय वैयाकरणों ने अन्त्य व्यञ्जनों के द्वित्व का विधान नहीं किया। केवल अ०प्रा० (चतुर०) (३,२६) में शब्दों के अन्त्य व्यञ्जनों के द्वित्व का विधान किया गया है। किन्तु सभी वैयाकरण ह्रस्व स्वर के बाद तथा किसी भी स्वर से पूर्व आने वाले न् तथा ङ् को द्वित्व का विधान करते हैं। **सन्+अत्र=सन्नत्र, प्रत्यङ्+आत्मा=प्रत्यङ्ङात्मा**।

यहां भी **पारि शिक्षा** तथा **व्यास शिक्षा** में कहा गया है कि द्वित्वरूप में लिखित अन्त्य व्यञ्जन का उच्चारण 'सकृद्' (एक प्रयत्न-साध्य) किया जाता है[4]। 'वर्णरत्नदीपिका शिक्षा' के अनुसार इन नासिक्य व्यञ्जनों का सभी अन्त्य व्यञ्जनों के समान द्वित्व होता है[5]। यथा **आप्नुवन्न् पूर्वम्**; **सम्यक्क्स्रवन्ति**, **तत्त् करोति**।

इसका कारण यह है कि अन्य शब्दों में अन्त्य **न्** मूल भारोपीय **न्त्** का प्रतिनिधि होता है, जोकि अनुवर्ती **स्वर** से समीकृत होकर **न्न्** में परिवर्तित हो जाता है। संस्कृत **सन्=भारो° सान्त्स्**; संस्कृत का **ङ्=भारो° ङ्क्स्**, **प्रत्यङ्=प्रत्यङ्क्स्**[6]। 'चारायणीय शिक्षा' के अनुसार जब पदान्त के उपरान्त कोई आदि व्यञ्जन हो, तो पदान्त व्यञ्जन को नित्य ही द्वित्व हो जाता है, तथा, तत्त् **'प्राप्नोत'**[7]। किन्तु यह कथन ध्वन्यात्मक **रूप** में **सम्भव** नहीं माना जा सकता,

---

१. फ्रैंक सं०, ६, ८ तु० तै० प्रा० १४, ८।
२. द्र० प्रा० भा० वै० ध्व० पृ० ११८-११९।
३. वही, पृ० १२२।
४. पारि शिक्षा, पृ० १७० **'एकवारमुच्चरेत्'**; व्यास शिक्षा २०,१० **'(नान्यसंयोगमुच्चरेत्)**।
५. शि० सं०, पृ० १३०।
६. प्रा० भा० वै० ध्व०, पृ० १२३।
७. चा० शि० पत्र २बी, ३ ए° (वर्मा द्वारा उद्धृत)।

क्योंकि भाषा की सामान्य प्रवृत्ति तथा अक्षरीकरण का सामान्य सिद्धान्त कि सभी अन्त्य व्यञ्जन पूर्ववर्ती अक्षर के अंग होते हैं, इस प्रकार के द्वित्व को स्वीकार नहीं कर सकते थे[1]। भारतीय वैयाकरणों ने पदान्त व्यञ्जनों की केवल लिप्यात्मक सन्धि तथा ध्वन्यात्मक सन्धि में अन्तर को भी समझ लिया था। यथा, तै० प्रा० (५, १) पर भाष्य करते हुए वैदिकाभरण ने इन दो प्रकार की सन्धियों का स्पष्ट उल्लेख किया है[2] और कहा है कि दोनों का भेद लोक-व्यवहार से ही विदित होता है[3]।

अ०प्रा० (३, २६) ने इस से भी आगे बढ़कर अन्त्य के सभी व्यञ्जनों के द्वित्वीकरण का प्रतिपादन किया है। अतः यह सर्वथा सम्भव है कि सन्धि में अन्त्य व्यञ्जन, यथा **तत्त् करोति** में, संस्कृतभाषी भारत के कुछ शिक्षित समाजों में वस्तुतः द्वित्व बोले जाते थे[4]।

लोमशी शिक्षा के अनुसार[5] इक्कीस व्यञ्जनों को द्वित्व हो सकता है। वे हैं—पांच सघोष अल्पप्राण स्पर्श, पांच अघोष अल्पप्राण स्पर्श, पांच नासिक्य व्यञ्जन, तीन अन्तःस्थ—**य, ल, व** तथा तीन संघर्षी—**श, ष, स**।

गौतमी शिक्षा के अनुसार[6] १२ व्यञ्जन ऐसे हैं, जिन्हें द्वित्व नहीं हो सकता। यथा—पांच अघोष महाप्राण, पांच सघोष महाप्राण, **र्** तथा **ह्**।

वर्णरत्नदीपिका शिक्षा के अनुसार संघर्षी **स्** को संस्कृत में केवल 'शास्स्व' तथा 'रास्स्क' इन दो शब्दों में द्वित्व किया जाता है। व्याकरण के अनुसार भी एक शब्द के अन्तर्गत **स्** से पूर्व दूसरा **स्** नहीं रह सकता। इसका या तो लोप हो जाता है, या दन्त्य स्पर्श **त्** में परिवर्तन, यथा **वसि, वत्स्यामि**। मध्यवर्ती **स्** को द्वित्व नहीं किया जाता। जबकि **श्** तथा **ष्** को द्वित्व किया जाता है, यथा **विश्श्वतः, अमुष्ष्य**[7]। सामान्यतः यद्यपि संघर्षी **ह्** को द्वित्व नहीं किया जाता, तो भी ऋक्प्रा० (६, ९) के अनुसार संयुक्त **ह्** को भी विकल्प से द्वित्व होता है, जबकि इससे पूर्व कोई ध्वनि न हो, यथा **ह्ह्वयाम्यग्निम्**। इसी प्रकार **श्** तथा **स्** को भी द्वित्व का विधान विकल्प से किया गया है—**श्श्चोतन्ति कोशाः, स्स्यन्दन्तां कुल्याः**। **र्** से

---

[1] प्रा० भा० वै० ध्व०, पृ० १२४।

[2] **'इह द्विविधो विरामः, समाम्नायसिद्धः, अशक्त्यादिहेतुकश्च'**।

[3] 'संहितावसानयोर्लोके विदित्वात् सिद्धम्'।

[4] प्रा० भा० वै० ध्व०, पृ० १२७।

[5] शि० सं०, पृ० ४५७।

[6] शि० सं० पृ० ४५०।

[7] द्र० प्रा० भा० वै० ध्व० पृ० १३२।

पूर्व ह् के द्वित्व के विषय में विभिन्न दृष्टिकोण पाये जाते हैं। हारीत के अनुसार र् से पूर्व ह् को द्वित्व नहीं किया जाता, यथा **दुदुह्ले**[1]। किन्तु चारायणीय शिक्षा के अनुसार इसे द्वित्व किया जाता है ; यथा **अह्ह्लतम्, ह्ह्लियते, ह्ह्लादिनी**।

लोमशी शिक्षा के अनुसार र् या अनुस्वार के बाद र् से पूर्व ह् को द्वित्व होता है ; यथा **बर्ह्ह, सिंह्ह, ह्ह्लादिनी**। इसमें विचित्रता यह है कि पदादि में भी द्वित्व किया जाता है।

य् तथा व् का विशेष परिस्थितियों में उच्चारण तथा स्वराघात भी शिक्षाशास्त्र के विवेच्य विषय रहे हैं। पाद के आरम्भ में, शब्द के आरम्भ में, व्यञ्जन संयोग में तथा अवग्रह के उपरान्त य् का उच्चारण ज् करने का विधान है। व् के तीन उच्चारण कहे गये हैं, 'गुरु', 'लघु' तथा 'अतिलघु'। शब्दादि में व् 'गुरु' था, तथा शब्दान्त में 'अतिलघु'। यही स्थिति य् को भी है। य् तथा व् से पूर्व उसी शब्द में नासिक्य व्यञ्जन के आने पर इन्हें 'गुरु' कहा जाता था। इसी प्रकार ह् तथा र् से संयुक्त होने पर तथा ऋ से पूर्व य् गुरु होता था[2]। अमोघनन्दिनी शिक्षा के अनुसार इस स्थिति में माध्यन्दिन शाखा के वैदिक ग्रन्थों में य् का उच्चारण ज् होता था, यथा, **बाह्य→बाह्ज ; सूर्य→सूर्ज**।

इसी प्रकार ऋ से पूर्व भी य् का उच्चारण सदा ज् ही होता था, यथा **व्यृद्धि→व्जृद्धि**। किन्तु उपसर्ग के बाद य् का उच्चारण ज् नहीं होता था—**उपयज्ञात्** किन्तु **यज्ञात्→जज्ञात्**।

इस में भी केशवी शिक्षा के अनुसार[3] इस प्रसंग में एक अपवाद यह है कि **सम्** के बाद य् तथा व् दोनों का उच्चारण गुरु होता था, यथा, **संवपामि** का उच्चारण **संव्वपामि, संयौमि** का **संय्यौमि** किया जाता था।

'लघु अमोघनन्दिनी शिक्षा' के अनुसार वाजसनेयी शाखा के अतिरिक्त अन्यत्र सर्वत्र य् का उच्चारण य् ही होता था, किन्तु कुछ एक शब्दों में इस का उच्चारण 'गुरु' किया जाता था, यथा **यज्ञात्→य्यज्ञात्**, अर्थात् शब्द के आदि में यह 'गुरु' हो जाता था। किन्तु य् से आरम्भ न होने वाले शब्द में य् को ज् नहीं होता था, यथा, **अयजन्त**। इसी प्रकार संयोग में भी ज् का अभाव रहता था, यथा **अस्मिन्यज्ञे**। किन्तु शब्दान्त में ऐसी स्थिति में ज् हो जाता था, यथा, **नृपाय्य→नृपाज्ज, धाय्या→धाज्जा**[4]। शब्दान्त तथा शब्द-मध्य स्थित य्, व् का उच्चारण लघु प्रयत्न से होता था[5]।

---

[1] तै० प्रा० १६, ९।

[2] याज्ञ० शि०, श्लोक १५० आदि।

[3] शि० सं०, पृ० १३८।

[4] प्रा० प्र० शि०, शि० सं० पृ० २९७।

[5] पा० ८, ३, १८; तु० रामचन्द्र, प्राकृत व्याकरण, १, १८० अ० प्रा० (चतुर०) २,२४।

व् के उच्चारण के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विविध विचार व्यक्त किये गये हैं, अर्थात् शब्दादि में इसका उच्चारण गुरु, शब्दमध्य में लघु तथा शब्दान्त में लघुतर होता था । पाराशरी शिक्षा के अनुसार तो **औ** तथा **अ** की सन्धि से उत्पन्न **व्** का उच्चारण भी लघुतर था, यथा, **अग्नावग्निः**— वाक्यांश में[1] तथा मन्त्रों में दो ह्रस्व स्वरों के मध्य में स्थित य् तथा व् का उच्चारण बहुत हल्का, अपितु ह्रस्व भी होता है, **अभियुध्य** में स्वरान्तर्वर्ती सघोष य् लघु भी था। इस प्रसंग में ब्रुगमान (Brugmann) का यह विचार संशोधनीय है कि ऐतिहासिक काल में संस्कृत का **व्** दन्त्योष्ठ्य हो गया था[2], क्योंकि ब्रुगमान से कम से कम सहस्रवर्ष पूर्व ही भारतीय वैयाकरण इस परिणाम पर पहुँच चुके थे कि मध्य तथा अन्त में आने वाला व् दन्त्योष्ठ्य नहीं था । अमोघनन्दिनी शिक्षा ने इसी कारण एक शब्दसूची में ओष्ठ्य **ब्** वाले शब्दों का तथा द्वितीय सूची में दन्त्योष्ठ्य **व्** वाले शब्दों का संग्रह किया है, यथा ब्रह्मन्-, बाहु-, बृहद्-, प्रभृति ; तथा विष्णु-वायु-वह्नि प्रभृति ।

इस संग्रह में विकल्प से दन्त्योष्ठ्य **व** वाले शब्द भी परिगणित हैं, यथा **कुबल-, कुवल-; विवल** प्रभृति ।

इसी प्रसंग में याज्ञ० शि० का यह विचार भी ध्यातव्य है कि अनुदात्त सर्वनाम **वः**, तथा **वाम्** एवं अव्यय **वै** तथा **वा** का **व्** हल्का अर्थात् अर्धस्वरात्मक है, क्योंकि स्वररहित होने के कारण यह पर्याप्त अवरोध तथा काफी प्रयत्न के साथ उच्चारित नहीं किया जाता था ।

स्वराघात के विषय में भी इन शिक्षाग्रन्थों में बहुमूल्य तथा सूक्ष्म निरीक्षण-जन्य विचार व्यक्त किये गये हैं ।

स्वराघात का स्वरूप

वैदिक-भाषा की विशेषता इसके स्वराघात में सन्निहित है, जो श्रेण्य-संस्कृत तक आते-आते लुप्त हो गयी । यद्यपि पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों ने स्वराघात के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं और वैदिक-भाषा के उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित नामक तीन स्वरों का प्रतिपादन किया है, तो भी एतद्विषयक जितना स्पष्ट तथा विशद विवरण शिक्षा तथा प्रातिशाख्य साहित्य में दिया गया है, उतना व्याकरण-शास्त्र में कहीं उपलब्ध नहीं होता ।

प्रातिशाख्यों के अनुसार संगीत के सरगम के सात स्वरों का इन तीन स्वराघातों से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है । कहा जाता है कि संगीत के षड्ज तथा

---

[1] पारा० शि० ६३; तथा अमोघ० शि०, २९ ।

[2] Grundris, II ed, Vol. I, P. 302

ऋषभ स्वरों की उत्पत्ति अनुदात्त स्वराघात से हुई है, गांधार तथा मध्यम की उदात्त स्वराघात से, पञ्चम, धैवत एवं निषाद की स्वरित से। साथ ही यह भी कहा गया हैं कि अन्तिम तीन स्वरों में से सप्तम स्वर (निषाद) की उत्पत्ति स्वतन्त्र, **अभिनिहित** तथा स्वरित के **क्षैप्र** भेद से हुई है। उदाहरणार्थ स्वतन्त्र यथा **कन्या॑** में, अभिनिहित, यथा, सोऽब्र॑वीत् तथा क्षैप्र, जैसे कृध्रीस्व॑स्मान् में निषाद की उत्पत्ति मानते हैं। **ऊर्जस्व॑ती** में स्वरित के **तैरोव्यञ्जन** भेद से तथा ता अ॑स्मान् में **पादवृत्त** भेद से धैवत की उत्पत्ति, तथा **सू॑द्गत** में प्रश्लिष्ट तथा **इषे त्वा** में **प्रातिहत** नामक भेदों से पञ्चम स्वर की उत्पत्ति मानी जाती है। प्रथम स्वर (षड्ज) की उत्पत्ति दीर्घ ध्वनि वाले अनुदात्त से मानी गयी है, तथा द्वितीय स्वर (ऋषभ) की उत्पत्ति ह्रस्व स्वर वाले अनुदात्त से[1]। यद्यपि नारद शिक्षा ने स्वराघात से संगीत-स्वरों की उत्पत्ति मानी है, तो भी उपर्युक्त विवरण से भिन्न सम्मति व्यक्त करती है। इसके मत में सप्तम (निषाद) तथा तृतीय (गांधार) की उत्पत्ति उदात्त स्वर से होती है। द्वितीय (ऋषभ) तथा षष्ठ (धैवत) की अनुदात्त से, जबकि प्रथम (षड्ज) चतुर्थ (मध्यम) तथा पञ्चम की स्वरित से होती है[2]।

स्वराघात से संगीत स्वरों की उत्पत्ति का क्या अभिप्राय है, इस विषय पर ऊहापोह के पश्चात् डा० सिद्धेश्वर वर्मा इस परिणाम पर पहुंचे हैं[3] कि प्राचीन काल से ही स्वराघात तथा संगीत में एक जीवन्त सम्बन्ध माना जाता रहा है, जिसकी पुष्टि 'संहितोपनिषद् ब्राह्मण' से होती है[4]। इसके अनुसार सा० सं० के अनेक मन्त्रों में अनुदात्त स्वर उदात्त हो जाता है, यथा, सा० सं० में '**वी**' अक्षर पर के अनुदात्त स्वर को **पर्क** गान में अत्युच्च स्वर से गाया जाता है, जब कि संगीतधारा में, जिसमें कि तृतीय सुर के बाद द्वितीय और द्वितीय के बाद प्रथम सुर आता है (३ : २ : १) तो उदात्त को उदात्ततम हो जाता है, जिसे उद्बूह की संज्ञा दी जाती है[5]। किन्तु भिन्न-भिन्न वैदिक शाखाओं में इस विषय में वैमत्य की चर्चा भी वहीं की गयी है। जो अक्षर लाङ्गलशाखा में उच्चसुर से उच्चरित होता है, वही दूसरी शाखा में निम्न सुर से उच्चरित होता है, तथा उस में जो अनुदात्त होता है वही अन्यत्र उदात्त हो जाता है[6]। किन्तु आज हमारे पास इस प्रकार के विभिन्न विवरणों तथा मत-मतान्तरों की यथार्थता की जांच-पड़ताल के साधनों का सर्वथा अभाव है।

---

[1] पारि० शिक्षा ८३ ८६।

[2] शि० सं०, पृ० ४२४।

[3] प्रा० भा० वै० व्व०, पृ० १८०-१८७।

[4] बर्नेल का संस्करण पृ० २०।

[5] वही, पृ० २७-२८।

[6] वही, पृ० २९।

प्राचीन भारतीय वैयाकरणों की दृष्टि में सामान्यतः स्वराघात प्राधान्येन संगीतात्मक ही था। पारिशिक्षा द्वारा स्वरित आघात का संगीत के स्वरग्राम की उच्चतम तान के साथ सम्बन्ध का उल्लेख किया गया है, जो ऋक् प्रा० के उस विचार के साथ मेल खाता प्रतीत होता है कि स्वरित की आधी मात्रा अथवा सम्पूर्ण स्वरित का आधा भाग उदात्त से उच्चतर उच्चरित होता हैं[1]। किन्तु यह विचित्र लगता है कि पूर्ववर्ती उदात्त स्वराघात की अपेक्षा परवर्ती अनुदात्त का आरम्भ उच्चतर हो, क्योंकि सामान्यतः स्वरित का उद्भव अनुदात्त से होता है।

विभिन्न स्वराघातों के उच्चारण में श्वास तथा वागवयवों की गति का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। ऋक् प्रा० (३, १) की व्याख्या में उवट ने स्पष्ट कहा है कि उदात्त वह है जिसमें श्वास के कारण उच्चारणावयवों की ऊर्ध्वगति होती है। अनुदात्त में इस वायुवेग के कारण वागवयवों की निम्नगति होती है[2], किन्तु पा० १, २, २९-३० पर भाष्य करते हुए पतञ्जलि लिखते हैं कि यहां **उच्च** तथा **निम्न** शब्दों से किसी स्थिर तत्त्व का निर्देश नहीं होता, अर्थात् ये सापेक्ष हैं। एक ही ध्वनि एक व्यक्ति के लिए उच्च तथा दूसरे के लिए निम्न हो सकती है। पारिशिक्षा[3] तथा प्रतिज्ञासूत्र[4] की व्याख्याओं के अनुसार स्वराघात-विशेष का प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण हस्त-सञ्चालन से किया जाता है। उदात्त के उच्चारण में दाहिने हाथ को सिर के समीप तक उठाया जाता है, अनुदात्त के उच्चारण में हृदय तक तथा स्वरित के उच्चारण में कान के समीप तक ले जाया जाता है। इसी प्रकार उच्चारणावयवों को गति का निर्देश भी किया गया है।

अवयवों में तनाव, ध्वनि की दृढ़ता, कण्ठ विवर की संकीर्णता उच्च स्वराघात के हेतु हैं तथा अवयवों में शिथिलता, ध्वनि की दुर्बलता (मृदुता) कण्ठ-विवर की विस्तृतता निम्न आघात के हेतु हैं[5]।

पतञ्जलि द्वारा पा० १, २, २९-३० पर प्रतिपादित सिद्धान्त तै० प्रा० (XXII. ९) में पहले ही प्रतिपादित कर दिया गया था। इससे यही परिणाम निकलता है कि यहां स्वराघात संगीतात्मक आघात का द्योतक है, अन्यथा यदि

---

[1] ऋक् प्रा० ३, ४—**तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा**।

[2] द्र०, ऋक् प्रा० ३, १ पर उवटभाष्य।

[3] पारि शि० ८१।

[4] प्रतिज्ञा० १, ४-६ (वनारस सं०)।

[5] पारि शि० ८१-८२।

यह केवल श्वासात्मक हो तो उदात्त स्वर में श्वास के प्रभूत निस्सरण की आवश्यकता के कारण कण्ठ-विवर का विस्तार होना चाहिये, आकुञ्चन नहीं। आरण्यशिक्षा के अनुसार पदान्त अक्षर का स्वराघात अनुदात्त होता है, यदि उसके पूर्व का अक्षर दीर्घ हो, किन्तु उपान्त्य अक्षर के लघु होने पर यह उदात्त होता है। किन्तु इसे सामान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया गया, तो भी बहुत से शब्द ऐसे पाये जाते हैं जिनमें यह सिद्धान्त लागू होता है।

यह असम्भव नहीं कि यह सिद्धान्त संस्कृत के स्वराघाती सुर के विकास की उस अवस्था के सन्दर्भ में हो, जबकि स्वराघात बलाघात में परिवर्तित हो गया था। लगता है कि बलाघात के विकास में उपान्त्य अक्षर की मात्रा का भी योग था,[1] यद्यपि यह बात सभी प्राकृतों के लिए सामान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार्य नहीं हो सकती[2]।

इसके अतिरिक्त तै० प्रा० की व्याख्या वैदिकाभरण में किसी शिक्षा से एक अन्य सिद्धान्त को उद्धृत किया गया है, जिसके अनुसार 'स्वरितग्राही व्यञ्जनों' की मात्रा दीर्घ हो जाती है। इसके अनुसार स्वरित का आरम्भ उदात्त के समान होता है, किन्तु अन्त अनुदात्त के समान, किन्तु यह अनुदात्त (निघात) कभी स्वरों में नहीं होता, अपितु केवल उन व्यञ्जनों में होता है जो कि उन स्वरों के साथ जुड़े होते हैं। इन व्यञ्जनों को "स्वरितग्राही" की संज्ञा दी गयी है। अतः इन का उच्चारण दीर्घतर कालावधि के बिना नहीं हो सकता।

यह सर्वथा ग्राह्य, महत्त्वपूर्ण विचार था, क्योंकि लेखक के अनुसार स्वरित एक उच्चावरोही तान थी, जिसे आधुनिक ध्वनि विज्ञानियों ने भी देखा है। डेनियल जोन्स के अनुसार अंग्रेज़ी में उच्च तान के साथ कई बार अनुवर्ती व्यञ्जन में दीर्घता आ जाती है, जब उसका प्रयोग अवधारणार्थ किया जाता है, यथा स्प्लैन्डिड (Splendid), ट्रिमैन्डस् (Tremendous) में न् (n) में, तथा लिट्ल (little) में ट् (t) में[3]।

---

[1] प्रा० भा० वै० ध्व० पृ० १९२।

[2] टर्नर, "इण्डो जर्मानिक एक्सेंण्ट", जे० आर० ए० एस० १९१६, पृ० २१२।

[3] प्रा० भा० वै० ध्व०. पृ० १९३।

द्वितीय अध्याय

ऋग्वेदीय शिक्षाएं

ऋग्वेदीय शाखाओं से सम्बद्ध बहुत कम शिक्षाएं उपलब्ध हैं। दो ज्ञात शिक्षाओं में से भी एक अमुद्रित है।

१. **शैशिरीय शिक्षा**[1]—यह ऋग्वेद की शैशिरीय शाखा से सम्बद्ध है। ऋक् प्रा० भी इसी शाखा से सम्बद्ध होने का दावा करता है[2]। इसके सभी उद्धरण ऋग्वेद से दिये गये हैं। इसमें गणेश रूप दस बाहों वाले विष्णु को नमस्कार किया गया है[3]। विष्णु के ऐसे रूप की कल्पना ब्रह्मवैवर्तपुराण में पायी जाती है, क्योंकि यह शिक्षा याज्ञ० शि० का अत्यधिक अनुकरण करती है तथा ऋक्-प्रातिशाख्य पर आधृत है, अतः यह बहुत अर्वाचीन कृति है।

इसमें ३६० पद्य हैं, तथा स्थान, करण, प्रयत्न, यम, सन्धि, स्वरभक्ति, विसर्ग सन्धि, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय कम्प आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। स्वरों के वर्णों, जातियों तथा रंगों की भी चर्चा की गयी है। वेदाध्ययन के समय हस्त-चालन अत्यन्त आवश्यक है[4]।

याज्ञ० शिक्षा[5] के समान ही इसमें भी ऊष्म वर्णों की अष्टविध गति का प्रतिपादन किया गया है[6] तथा तीन प्रकार के यकार कहे गए हैं—गुरु, लघु, लघुतर[7]। इसी प्रकार यकार के जकार-उच्चारण के लिये स्थल बताये गये हैं[8]। पाठक के गुण-दोषों का भी विस्तार से वर्णन किया गया है[9]। अनुनासिक के अनेक

---

[1] सम्पा० डा० तारापद चौधरी, जे० वी० एस०, भाग १, लाहौर, १९३४।

[2] द्र० ऋक् प्रा०, सम्पा०, डा० मंगलदेव शास्त्री, वर्गद्वयवृत्ति, श्लोक ७।

[3] **'गणेशरूपाय विष्णवे दशबाहवे'** (१)।

[4] १५६; १५९; १७४।

[5] पृ० १०९-११० श्लोक ४६-५०।

[6] श्लोक १९९।

[7] श्लोक २०१; तु० या० शि० पृ० ११२।

[8] श्लोक २०५=या० शि० पृ० १११, श्लोक ५२।

[9] श्लोक २०९-२११।

भेद—रङ्ग, सर्वरङ्ग, आदि रङ्ग भी या० शि० से अर्वाचीनता ही सिद्ध करते हैं। स्वरित के भी सात भेद[1] तथा नाना प्रकार की सन्धियां ऋक् प्रा० के सर्वथा अनुकूल हैं।

शौनकीय शिक्षा

ऋग्वेदीय शिक्षाओं के अन्तर्गत शौनकीय शिक्षा[2] के नाम की एक शिक्षा प्रकाश में आयी है। इसमें कुल ६७ श्लोक हैं और पाणिनीय शिक्षा के ढांचे पर विरचित है तथा तत्सदृश ही उच्चारण सम्बन्धी प्रायः सभी विषयों का प्रतिपादन करती है। इसमें वर्णों, स्वरभक्ति, अनुस्वार आदि की मात्राओं, स्थानों, करणों, व्यञ्जनों एवं संयुक्त अक्षरों के उच्चारण की विधाओं, रङ्ग तथा उसके विविध स्वरूपों, यम, द्वित्व, विवृत्ति, उदात्तादि स्वराघातों, कम्पस्वर तथा उसकी विधाओं, तथा स्पृष्ट आदि प्रयत्नों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

स्वरभक्ति का काल अर्धमात्रा माना गया है। किन्तु संयोग परे रहते पादमात्रा हो जाता है[3]। ह्रस्व स्वर से परे अनुस्वार का उच्चारणकाल ३/४ मात्रा होता है तथा पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर का भी काल ३/४ मात्रा ही होता हैं; जबकि दीर्घस्वर से परे अनुस्वार १/४ मात्रिक होता है। किन्तु उपधाभूत दीर्घ स्वर का काल २ १/४ मात्रा होता है[4]।

विवृत्ति चार प्रकार की मानी गयी है, **पिपीलिका, पाकवती, वत्सानुसारिणी** तथा **वत्सानुकृति**। **पिपीलिका** उभयतो दीर्घस्वर युक्ता होती है और इसका काल १/४ मात्रा का होता है। पूर्वस्थ दीर्घस्वर का काल २ १/४ मात्रा का होता है, यथा— **पन्था आदित्यानाम्**। **पाकवती उभयतो ह्रस्वस्वरयुता** ३/४ मात्रिका होती है तथा पूर्वस्थ स्वर ३/४ मात्रिक माना जाता है, यथा, **य इन्द्रः**।

वत्सानुसारिणी विवृत्ति में पूर्व में ह्रस्व स्वर तथा उत्तर में दीर्घस्वर १/४ मात्रा का होता है, यथा, **य आत्मदा**। **वत्सानुसृति (-कृति)** में पूर्वस्थ दीर्घस्वर तथा उत्तरवर्ती ह्रस्व होने पर विवृत्ति अर्धमात्रिका होती है यथा, **ता अस्य**[5]।

वर्णस्थान के विषय में विचार करते समय प्राचीन शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों के विरुद्ध यहां ऋ, ट्, र, ष का स्थान मूर्धा माना गया है[6]। शेष सभी वर्णों के

---

१. श्लोक २३४।

२. काशिका (४, ३, १०६) में शौनकीया शिक्षा का उल्लेख किया गया हैं।

३. शौनकीय शिक्षा, श्लोक ११।

४. वही, १२।

५. वही, १३।

६. वही, १४।

स्थान भी पा०शि० के अनुरूप ही प्रतिपादित किये गये हैं। यहां कु, चु, टु, तु, पु संज्ञाओं के प्रयोग से प्रमाणित होता है कि यह शिक्षा पाणिनि का अनुसरण करती है। पाणिनि के समान ही इस में **करणों** पर विचार करते समय ह्रस्व 'अ' को **संवृत** माना गया हैं[१] ।

विविधवर्णों, विशेषतः उ, ऊ, ओ, औ, के उच्चारण के विषय में **करणों** (यहां ओष्ठों) के व्यापार की चर्चा की गयी है[२] । तथा स्पष्ट निर्देश किया गया है कि **विराम** में, **विवृत्ति** में, अथवा दो ऐसे स्वरों के मध्य में दो व्यञ्जनों के आ जाने पर ओष्ठों को दो बार व्यापार में लाना चाहिये[३], जबकि वकार के दो ऐसे स्वरों के मध्य में आ जाने पर केवल अधरोष्ठ को ही दो बार व्यापार में लाना चाहिये। यथा विवृत्ति में, **ताभिरूषु ऊतिभिः** ; विराम में यथा—**मयोभू उदीरय** ।

मध्ये व्यञ्जन, यथा—**भ्रातुः पुत्रान्**; **मध्ये वकार**, यथा—**मोषु वो** । किन्तु इन वर्णों का बहुत व्यञ्जनों से संयोग होने पर उच्चारण करते समय एक ही बार दोनों ओष्ठों को हरकत में लाना चाहिये, यथा **उषो नो अद्य** में उ के उचारणार्थ किये गये ओष्ठ-व्यापार से ही **षो नो** के दोनों ओकारों का भी उच्चारण करना चाहिये, पृथग् व्यापार की आवश्यकता नहीं है[३] ।

विविध परिस्थितियों में **रङ्ग** के रूपों पर भी विस्तार से विचार किया गया है[४] ।

म् को अनुस्वार[५], परसवर्ण[६] तथा अनुनासिक[७] होने की परिस्थितियों का ब्योरेबार वर्णन किया गया है। स्पर्शों के संयोग में पूर्वस्पर्श की श्रुति नहीं होती[८] । **यम**—स्पर्शों से परे पञ्चम स्पर्शों के रहते उनके मध्य में पूर्वस्पर्श को द्वित्व होता है। यही **यम** कहलाता है। इस के कई प्रकार बताये गये हैं—

(क) अयःपिण्डवत्— **पलिक्क्नी**, (ख) ऊर्णापिण्डवत्— **विष्ष्णुः**, **अश्श्नातुः**, **घृतस्स्नुः**, (ग) दारूपिण्डवत्—**शक्क्यम्**, **सख्ख्यम्**[९] ।

---

[१] शौ० शि०, १७ ।

[२] वही, १८ ।

[३] वही, १९ ।

[४] वही, २३-२७ ।

[५] वही, २९-३० ।

[६] वही, ३१-३२ ।

[७] वही, ३३ ।

[८] वही, ३४-३५ ।

[९] वही, ३६-४० ।

अनुस्वार से परे संयोगादि को द्वित्व होता है—**त्वं श्श्रद्धाभिः रथं स्स्वस्ति**। स्वरों से परे भी संयोगादि को द्वित्व होता है—**अग्ग्रम्, ईड्ड्यम्**।

ऊष्मों से परे स्पर्शों के प्रथम द्वितीय को द्वित्व होता है—**सहस्क्कृतम्, सुष्ट्टुतिः, आस्थ्थात्**। ह्रस्वपूर्व स्वरपरक न्, ङ् को द्वित्व होता है—**आगन्न्नृभुणाम् प्रत्यङ्ङात्**।

ल् से परे भी स्पर्शों को द्वित्व होता है—**कल्प्पयति**। न् तथा ट् से परे स् आने पर मध्य में त् का आगम होता है **सन्त्स्तयसे, विराट्त्सम्राट्**[1]।

न् से परे ल् तथा चवर्ग आने पर न् को परसवर्ण आदेश होता है **अस्मिल्ँ-लोके, नृञ्ज्ञातैः**[2]।

स्वराघातों पर विचार करते हुए स्वरित को **कर्णमूलीय** घोषित किया गया है[3]। **कम्पस्वर** की संक्षिप्त सी चर्चा की गयी है तथा उसका स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया गया है—

अनुदात्त+स्वरित+अनुदात्त[4]। तथा कहा गया है कि यदि कम्प का पूर्वभाग उदात्त हो, परभाग अनुदात्त, तो उसे **उदात्त कम्प** की संज्ञा दी जाती है[5]।

व्याख्या :—शौनकीय शिक्षा के सम्पादक के अनुसार शिक्षा के प्रथम ४० पद्यों पर एक अज्ञातकर्तृक व्याख्या उपलभ्य है, जो संस्करण में प्रकाशित की गयी हैं। शेष २७ कारिकाओं पर सम्पादक महोदय ने स्वयं व्याख्या लिखी है। तथा मलयालम भाषा में अनुवाद किया है।

संस्करण :—इस शिक्षा का एक ही संस्करण विद्वान् के० एन्० एम्० दिवाकर द्विजेन्द्र ने शिवपुर (केरल) से प्रकाशित किया है। सन् १९६२ ई०।

स्वरव्यञ्जन शिक्षा—यह ऋग्वेद से सम्बद्ध मानी जाती है। यह अद्ययावत् अमुद्रित है। इस में 'र्' के स्वरत्व और व्यञ्जनत्व पर विचार किया गया है। इसमें ऋक् प्रा० का अनुकरण किया गया है तथा उसके दो पूरे श्लोक (४, ८-९) उद्धृत करने के अतिरिक्त उसकी पारिभाषिक शब्दावली का भी प्रयोग किया

---

[1] शौ० शि०, ४९।
[2] वही।
[3] वही, ५५।
[4] वही, ५७।
[5] वही, ५८।

गया है, यथा **नियत**, **भुग्न**, **क्षैप्र** (ऋक् प्रा० २,८), **अनुलोमसन्धि** (ऋक् प्रा० २,३)। यह पाणिनि से भी पाश्चात्कालिक रचना है। क्योंकि इसमें पाणिनि के दो सूत्रों (७, ४, २८ तथा ६, १, १६८) को उद्धृत किया गया है। यह रचना ६ वर्गों में विभक्त है।

प्रथम वर्ग में उन परिस्थितयों का उल्लेख किया गया है, जिन में र् तथा ऋ व्यञ्जन होते हैं।

जहां विसर्ग या तो र् से उत्पन्न हुए हों या 'र्' में परिवर्तित हुए हों, वहां र् व्यञ्जन होता है[1]। यथा **प्रातरिन्द्रम्** में रि का र् व्यञ्जन है। जहाँ र् अथवा किसी संघर्षी ध्वनि से पूर्व आने वाले म् को अनुस्वार हो जाता है, वहां (**परिपन्न सन्धि**[2] में) भी 'र्' व्यञ्जन होता है। यथा '**होतारं रत्नधातमम्**' में अनुस्वार के बाद 'र्' व्यञ्जन है। ग्रन्थकार ने एक विचित्र बात कही है कि '**य्**' से पूर्व आने वाला 'र्' व्यञ्जन है, क्योंकि '**य्**' से पूर्ववर्ती '**ऋ**' सदा ही '**रि**' हो जाता है[3]।

द्वितीय वर्ग में उन शब्दों का उल्लेख किया गया है, जिन में '**ऋ**' स्पष्टतः स्वर है। अर्थात् आद्य संयोग के पश्चात् तथा संयोग से पूर्व जहां मूलप्रकृति की उपधा ध्वनि हो, यथा, **तृप्त** में '**ऋ**' स्वर है, किन्तु इस अवस्था में **तर्प्ता**[4] में तो रकार स्पष्ट ही व्यञ्जन है। क्या यहां भी र् को स्वर मानना होगा[5] ?

तृतीय वर्ग मे भी ऐसे शब्दों को गिनाया गया है, जहां र् व्यञ्जन है, यथा—**मर्त्य**, **रेषण**, **भ्रियन्त**। ग्रन्थ के उपसंहार में कर्ता ने र् तथा ऋ दोनों के ही पूर्व में यदि कोई व्यञ्जन न हो, किन्तु बाद में हो तो **समेकित (संचित)** रेफ होता है[6]। यथा—**रिशादस्** तथा **ऋजु** में। '**ऋ**' स्वर होते हुए भी '**ऋजुं ऋंजसे**' में यह स्वर और व्यञ्जन के बीच का वर्ण है[7] ?

शमान शिक्षा (अमुद्रित) में ऋग्वेद के उन शब्दों का संग्रह किया गया है, जिनमें विसर्गों का लोप हो जाता है[8]।

---

[1] ऋक् प्रा० ४, ९।

[2] ऋक् प्रा० ४, ५।

[3] पा० ७, ४, २८।

[4] द्र० पा० ६, १, ५९।

[5] सिद्धेश्वर वर्मा, प्रा० भा० वै० ध्व०, पृ० ७२।

[6] वही, ७३।

[7] वही।

[8] वही, ३६।

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाएं

चरणव्यूह[1] के अनुसार शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध पांच शिक्षाएं हैं, किन्तु पाराशरी शिक्षा में आठ शिक्षाओं का नामतः उल्लेख किया गया है, किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य शिक्षाएं भी उपलभ्य हैं।

(१) **याज्ञवल्क्य** शिक्षा बहुत प्रसिद्ध है। इसमें मात्राकाल के विषय में सोमशर्मा की सम्मति दी गई है[2]। यदि यह सोमशर्मा पञ्चतन्त्र तथा विष्णुपुराण में उल्लिखित व्यक्ति है, तो वह पञ्चम शती ईसवी से प्राचीन नहीं हो सकता[3]। इसके अतिरिक्त इस में हिन्दुओं के नवीन विचारों का उल्लेख पाया जाता है, यथा अकार आदि वर्णों के देवता, जाति, गोत्र छन्द, रंग तथा लिंग के विवरण[4] अर्वाचीन हैं। यद्यपि इसका नाम समस्त वाजसनेयी शाखा के प्रवर्तक याज्ञवल्क्य से जोड़ा जाता है और ग्रन्थ के मुख्य भाग में तीन बार उनके नाम का उल्लेख किया गया है तो भी यह मानना कठिन है कि याज्ञवल्क्य ही इस के साक्षात् लेखक थे[5]। उवट ने वा० प्रा० के भाष्य में इस शिक्षा को उद्धृत किया है[6]। ल्यूडर्स के अनुसार इस की रचना तेरहवीं शती ई० के आसपास हुई[7]। किन्तु हमारी सम्मति में यह इतनी अर्वाचीन नहीं हो सकती, अन्यथा ११वीं शती के उवट इसे प्रमाणरूपेण उद्धृत नहीं कर सकते थे। शिक्षा में वा० प्रा० का अनेक स्थलों पर अनुकरण किया गया है[8]।

अतः इसकी रचना वा० प्रा० के उतरवर्ती सिद्ध होती है। इस में वर्णों के भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न उच्चारणों पर रोचक प्रकाश डाला गया है। संघर्षी ध्वनियों से पूर्व स्पर्श-ध्वनियों की महाप्राणता का भी यहाँ प्रतिपादन किया गया है[9]। किन्तु साथ ही कह दिया गया है कि यह ध्वनि

---

[1] वेबर सम्पा०, २४, **'मन्त्रभ्रान्तिहरं चैव शिक्षाणां पञ्चकं तथा।**

[2] याज्ञ० शि० १, १०।

[3] सिद्धेश्वर वर्मा, प्रा० भा० वै० ध्व०, पृ० ३८।

[4] याज्ञ० शि०, वर्ण प्रकरण, पृ० ५०-५५ (ब्रह्ममुनि सं०) या० शि० १६; (शि० सं०, पृ० ३)— **'वर्णो जातिश्च मात्रा च गोत्रं छन्दश्च दैवतम्'**; तथा पृ० १७ व ३५— **'एतत् सर्वं समाख्यातं याज्ञवल्क्येन धीमता १६।**

[5] सिद्धेश्वर वर्मा, वही, पृ० ३८।

[6] वा० प्रा० ४, १६५ पर भाष्य में याज्ञ० शि० में निर्दिष्ट **'यमों'** के विषय में पद्य उद्धृत।

[7] व्यास शिक्षा, पृ० १०७ ८४=४, १४१।

[8] स्वर प्रकरण ७९=वा० प्रा० ४, ४३; ६१=४, १३६।

[9] वर्ण प्रकरण, श्लोक ३६-३९ (ब्रह्ममुनि सं०), शि० सं० पृ० २०।

परिवर्तन आपस्तम्ब-शाखा को सम्मत है, माध्यन्दिन-शाखा में नहीं पाया जाता[1]।

डा० वर्मा के मतानुसार यह ध्वनि-परिवर्तन का भेद सम्भवत: बोलीगत भेद था, जैसा कि आधुनिक बोलियों में देखा जा सकता है। यथा संस्कृत **वत्स** का शिना बोली में **वत्शो**, गूजरी में **वत्श उ** हो गया है, किन्तु पञ्जाबी में **वच्छा**, हिन्दी में **बाछा** अर्थात् **त्स** को **छ** हो गया है[2]।

इस शिक्षा में निम्नलिखित विषयों का प्रतिपादन किया गया है—

(स्वर प्रकरण)—उदात्तादि स्वरों के वर्ण, जाति, गोत्र, तथा छन्द; उदात्तादि स्वरों में सामगान के षड्ज आदि सात स्वरों का अन्तर्भाव; षड्जादि स्वरों का विविध पक्षियों तथा पशुओं की ध्वनियों से समीकरण; मात्रा-काल; विवृत्ति का विवरण; मन्त्र में वर्णोच्चारण की विधियां; वर्णोच्चारण के दोष; मन्त्रोच्चारण में हस्तचालन-विषयक निर्देश :— **यथा वाणी तथा पाणी**[3]; द्रुत, मध्यम तथा विलम्बित वृत्तियां (मन्त्रोच्चारण में) विसर्गोच्चारण; अष्टविध स्वरित का विवरण। (**वर्ण प्रकरण**) वर्णों के रंग, देवता, जाति, गोत्र; वर्णसन्धि; 'विवृत्ति' का स्वरूप तथा उच्चारण प्रकार; संयुक्त वर्णों में हस्तचालन व्यवस्था; 'स्वरभक्ति' के पांच प्रकार; संघर्षी ध्वनियों से पूर्व स्पर्शध्वनियों की महाप्राणता; विसर्ग की अष्टविध गतियां; आदिवकार को द्वित्व; 'य' का 'ज'-कार उच्चारण; 'रंग' का स्वरूप तथा उच्चारण प्रकार; अनुस्वार तथा इसके ह्रस्व एवं दीर्घ भेद। (**पदाधिकार**)—पाठकों के दोष तथा गुण, सप्तविध 'संयोग पिण्ड', विद्यार्थियों के गुण-दोष एवं विद्यार्जनार्थ निर्देश। इस विषय-तालिका के अनन्तर अब इस शिक्षा में वर्णित कतिपय महत्त्वपूर्ण विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणियां प्रस्तुत की जाती हैं—

विसर्ग—विसर्ग के सन्धि-जन्य विविध प्रकार के रूप-परिवर्तनों के वर्णन के पश्चात् विसर्ग के उच्चारण के विषय में निर्देश किया गया है कि इसका

---

[1] वही, श्लोक ४०—

नैतन्माध्यन्दिनीयानां सस्थानत्वात्तयोर्द्वयो: ।
सस्थानेऽपि द्वितीयं स्यादापस्तम्बस्य यन्मतम् ॥

यथा—भिषक्+सीसेन→भिषख्-सीसेन; सम्राट्+सम्भृत:→सम्राठ्-सम्भृत: ।
तत्सवितु:→तथ्सवितुः ।

[2] द्र० प्रा० भा० वै० ध्व०, पृ० ३९ ।

[3] या० शि० श्लोक ४६ (शि० सं०) ।

उच्चारण बालसर्प की हल्की सी फुँकार के समान करना चाहिये[१], हकार का उच्चारण प्रतीत नहीं होना चाहिये[२] । आजकल विसर्ग का उच्चारण प्रायेण हकार से मिलता जुलता किया जाता हैं ।

स्वरित—के आठ प्रकारों में से **तथाभाव्य** स्वरित का प्रयोग माध्यन्दिन-सम्प्रदाय में नहीं होता, तथा **तनूनप्त्रे** में 'न्' को **तथाभाव्य** स्वरित नहीं हुआ[३] । यहां यह **कम्प** हो जाता है[३] ।

विवृत्ति—शौनकीय-शिक्षा के समान ही या० शि० में भी **विवृत्तियां** चतुर्विध मानी गयी हैं—**पिपीलिका, पाकवती, वत्सानुसारिणी** तथा **वत्सानुसृजिता**[४] ।

यहां दीर्घ 'लृ' का अभाव माना गया है ।

यकार—के उच्चारण के सम्बन्ध में माध्यन्दिन-शाखा की विशेषता यह है कि अनेक अवस्थाओं में इस का 'जकार'वत् उच्चारण किया जाता है । या० शि०[५] के अनुसार पाद तथा पद के आदि में रेफ, हकार, मकार के संयोग में तथा अवग्रह में 'य' का उच्चारण 'ज' होता है । यथा—**यज्ञेन**[६] । पदादि में—**यज्ञेन यज्ञम्**[७]; संयोग में, यथा **सूर्य्ये**[८], **गेह्याय**[९], **धाय्या रूपम्**[१०], अवग्रह में यथा—**सामान्यृग्भिः**[११] सर्वत्र **य** को **ज** पढ़ना चाहिये ।

उपसर्ग से परे 'य' ईषत्स्पृष्ट 'य' होता है, किन्तु पदपाठ में यही 'य' जकारवत् उच्चारित होता है, यथा **वियत्**[१२] (य) तथा **वि-यत्** (ज) । पाद के आदि में तो **य=ज**, किन्तु पदादि में ईषत्स्पृष्ट (य), यथा—

---

[१] या० शि० १, ७४ (ब्रह्ममुनि सं०); (शि० सं० ७०) ।

[२] वा० सं० ५, ५; द्र० वा० प्रा० (४, १३६) '**निहितमुदात्तस्वरितपरम्** ।

[३] द्र० **तथाभाव्यो भवेत्कम्पस्तनूनप्त्रे निदर्शनम्**' (वर्ण० शि० ६९-७०) ; तथा वा० प्रा० ४, १३७; पा० १, २, ४०—'**उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः**' ।

[४] या० शि० १, १०-१२; शि० सं० ९५-९७ ।

[५] या० शि० २, ५२; (शि० सं० १४६) ।

[६] वा० सं० ३१, १६ ।

[७] वही ।

[८] वा० सं० ३, ९ ।

[९] वा० सं० १६, ४४ ।

[१०] वा० सं० १९, २४ ।

[११] वा० सं० २०, १२ ।

[१२] वा० सं० २. ३४ ।

स्तुतो यासि वंशमनु योजान्विन्द्र ते हरी॑[१] में **योजा** पादादि होने के कारण य=ज, किन्तु पाद के मध्य में पदादि य=य होता है।

आम्रेडित 'य' परे होने पर नित्य ही **'ईषत्स्पृष्ट'** 'य' रहेगा। यथा—**यत्र॑ यत्र**[२] में पूर्व **यत्र॑** का **य** ईषत्स्पृष्ट है[३]।

अथ शब्द से परे यकार का व्यवस्थित विकल्प से जकारवत् उच्चारण होता है[४]। किन्तु वा० सं० में **अथ** से परे 'य' पाया ही नहीं जाता। अतः ऐसा नियम क्यों बनाया गया, यह विचारणीय है।

वकार के उचारण के विषय में भी शिक्षा में विविध नियमों का निर्माण किया गया है। यथा—

पाद तथा पद के आदि में 'व' का सुस्पृष्ट उच्चारण किया जाता है और उसका रूप **'व्व'** हो जाता है,[५] जिस में अवग्रह-कालिक समय लगता है, यथा—**वसोः॑ प॒वित्र॑मसि→व्वसोः॑ प॒वित्र॑मसि**[६]। पदादि यथा— **दे॒वीरा॑पः शुद्धा वो॑ढ्वꣳसु**[७] में **वोढ्व→व्वोढ्व**।

वकार के तीन भेद किये गये हैं, गुरु, लघु और लघुतर[८]। पदादि में यह गुरु अर्थात् सुस्पृष्ट रूप में उच्चारित होता है। यथा **वा॒यव॑स्थ→व्वा॒यव॑स्थ**[९]। पदमध्य में लघु या सामान्यरूपेण रहता है, तथा पदान्त में लघुतर होता है। सन्धिजन्य (यण् अथवा अय, आय) का उच्चारण लघुतर होता है, यथा—**तव॑ वायवृतस्पते॒**[१०] **(वायो-ऋतस्पते)**।

'युष्मद्' के अन्वादेश वः, वाः, तथा निपातज वा, **वै**, तथा सन्धिज 'व' विकल्प से ईषत्स्पृष्ट माने गये हैं[११], यथा— **दे॒वो वः॑ सवि॒ता→दे॒वोव्वः॑**

---

१. वा० सं० ३, ५२।

२. वा० सं० २९, ४३।

३. द्र० या० शि० २, ५७-५९ शि० सं० १५१-१५३।

४. या० शि २, ६०; यह श्लोक शिक्षासंग्रह में नहीं पाया जाता।

५. या० शि० २, ५१।

६. वा० सं० १, ३।

७. वा० सं० ६, १३।

८. या० शि० २, ५३, शि० सं० १५५।

९. वा० सं० १, १।

१०. वा० सं० २७, ३४ द्र० पारा० शि० ६३ ; अमोघ० शि० २९।

११. या० शि० २, ६२; शि० सं० १५२।

सवि॒ता[1], **या वा॒ं कशा→या वा॒ं कशा॒**[2] यहां 'व' ईषत्स्पृष्ट है **वा॒तौ वा॒**[3] यहां भी ईषत्स्पृष्ट है।

वैसे सामान्यत: कह दिया गया है कि जो लक्षण यकार के हैं वही वकार के भी हैं,[4] कहीं-कहीं विशेषता पायी जाती है।

रङ्ग—नकार मकार के लोप हो जाने पर पूर्व के अच् को हुए अनुस्वार (=अनुनासिक) में पूर्वस्वर को दीर्घ करके अर्धानुस्वार का उच्चारण करना चाहिये[5]। यथा सौराष्ट्र की स्त्री 'आँ' शब्द का उच्चारण करती है, इसमें ङकार श्रुति का आभास नहीं होना चाहिये[6]। एकमात्रा अथवा दोमात्रा वाला 'रङ्ग' पञ्चम वर्ण सहित सम्पूर्ण नासिका से बोला जाता है, **लोकाꣳअकल्पयन्**[7] तथा **शत्रूꣳरप**[8]। एकमात्रा वाले रंग का उदाहरण यह है, **यामैरयꣳश्चन्द्रमसि**[9]। **मकार** के अनन्तर प्रयुज्यमान सर्वानुनासिक 'रङ्ग' **उपधानिक** कहा जाता है।

य, र, ल, व, श, ष, स, ह, ये आठ वर्ण **'उपधानी'**—उपधा को अनुनासिक करने वाले हैं, अर्थात् उपधा को अनुनासिक्य करने वाले हैं। श, ष, स, ह, र परे होने पर उपधा को अनुनासिक हो जाता है, यथा—

सꣳशिवेन[10], **यज्ञपतिꣳसुधातुं**[11], **शतꣳहिमा**[12], **हव्यꣳरक्ष**[13]।

य, ल, व परे होने पर सवर्ण अनुनासिक होता है; **तैꣳल्लोकम्**[14] **सँꣳव्वपामि**[15]।

---

[1] वा० सं० १, १।
[2] वा० सं० ७. ११।
[3] वा० सं० ९, ७।
[4] या० शि० २, ६१—

यदेव लक्षणं यस्य वकारस्यापि तद् भवेत्।
यत्र यत्र विशेष: स्यादिदानीं स स कथ्यते॥ (शि० सं० १५४)

[5] या० शि० २, ७५; शि० सं० १९०।
[6] वही, २, ७६; शि० सं० १९१।
[7] वा० सं० ३१, १३।
[8] वा० सं० ७, ३७।
[9] वा० सं० २, २८।
[10] वा० सं० २, २४।
[11] वा० सं० १, १२।
[12] वा० सं० ३, १८।
[13] वा० सं० १, ४।
[14] वा० सं० २, २५।
[15] वही १, २८।

इस शिक्षा में सोमशर्मा तथा याज्ञवल्क्य के अतिरिक्त 'शौनकादि' आचार्यों[1] तथा अन्य आचार्यो[2] के मत को उद्धृत किया गया है। शौनकादि आचार्य नकार के लोप हो जाने पर जिस स्वर का 'रङ्ग' नाम से व्यवहार करते हैं, उसका स्वरूप इस प्रकार है, यथा—**लोकान् अकल्पयन्=लोकाँ अकल्पयन्**[3]।

यहाँ शौनकादि तथा आचार्यों से क्या अभिप्राय है, तथा यहाँ उनकी किस विशेषता की ओर लेखक हमारा ध्यान आकृष्ट करना चाहता है, स्पष्ट नहीं है। शि० सं०[4] में इस का पाठान्तर होते हुए भी अर्थ अस्पष्ट ही है। इसका उदाहरण श्लोक सं० १९२ से ही स्पष्ट हो जाता है। व्याख्याकार ने यही उदाहरण दिया भी है।

संस्करण—इस शिक्षा के कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। किन्तु किसी में भी इसके पाठ को व्यवस्थित करने का प्रयास नहीं किया गया। अतः किसी को भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इनमें काशी से प्रकाशित पं० अमरनाथ-कृत संस्कृत व्याख्या सहित संस्करण ही सर्वोत्तम है। शिक्षासंग्रह में प्रकाशित संस्करण में पाठ के निश्चय करने का कोई वैज्ञानिक प्रयास नहीं किया गया। वेङ्कटेश्वर प्रेस से प्रकाशित संस्करण शि० सं० की प्रतिलिपिमात्र है। ब्रह्ममुनि का हिन्दी व्याख्या सहित संस्करण अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण अग्राह्य है।

(२) **वासिष्ठी शिक्षा**—इस शिक्षा में उच्चारण के विषय में कुछ नहीं कहा गया अपितु ऋग्वेद और यजुर्वेद में ऋचाओं, यजुर्मन्त्रों के परस्पर भेद का प्रतिपादन किया गया है। इस संग्रह का स्रोत सर्वानुक्रमणी प्रतीत होता है। अतः यह एक अर्वाचीन सङ्कलन है। (शि० सं० पृ० ३६-४५)

(३) **कात्यायनी शिक्षा**—यह १३ पद्यों की एक अपूर्ण रचना है। इसमें वाज० प्रा० के कुछ ऐसे सूत्रों[5] का पद्यात्मक रूपान्तर किया गया है, जिनका सम्बन्ध उदात्तादि स्वरों से है। स्वरित के विषय में विशेष विवरण दिया गया है। इस पर जयन्त स्वामी की टीका उपलब्ध है।
(शि० सं० पृ० ४५-५१)

(४) **पाराशरी शिक्षा**—इसमें यजुर्वेद की सभी शिक्षाओं का उल्लेख किया गया है। इसमें वैदिक मन्त्रों के भ्रष्ट उच्चारण का फल कुम्भीपाक नरक

---

[1] या० शि २, ८२; शि सं० २१८।

[2] या० शि०; शि० सं० १२०।

[3] वा० सं० ३१, १३।

[4] शि० सं २१८।

[5] वा० प्रा० ४,१३१-१४१।

कहा गया है, जो निश्चय ही परवर्ती काल का सूचक है। इसमें अर्द्ध-दीर्घ स्वर का भी प्रतिपादन किया गया है जिसे **'क्षिप्र'** नाम दिया गया है। सन्धिजन्य **'व'** को लघु कहा गया है। वा० प्रा०[1] के विरुद्ध समानपाद में दो स्वरों के मध्य स्थित दो समान संयुक्त वर्णों का उच्चारण पृथक्-पृथक् करने का निर्देश दिया गया है, यथा—**कुक्-कुरः, व्यात्—तम्**। यह शिक्षा बहुत कुछ पूर्ण है। तथा शु० य० वे० को अनेक बार उद्धृत करती है। तथा उसकी प्रत्येक कण्डिका के अक्षरों की संख्या देती है। इसमें कुल १६० पद्य हैं।

(शि० सं०, पृ० ५२-७१)

(५) **माण्डवी शिक्षा**—यह माण्डव्य ऋषि की रचना मानी जाती है, जिनका उल्लेख श० ब्रा०[2] में किया गया है। इसमें उन शब्दों का संग्रह किया गया है, जिनमें पवर्गीय **'ब'** पाया जाता है। ताकि अन्तःस्थ **'व'** तथा **'ब'** में भ्रम दूर किया जा सके। इससे प्रतीत होता है कि इसका सम्बन्ध मध्य तथा पूर्वी क्षेत्रों के साथ अधिक था। वैसे उत्तर की बोलियों में भी यह सांकर्य पाया जाता है! यथा—डोग्री, भद्रवाही, शिना बोलियां।

(शि० सं० पृ० ७२-९२)

(६) **अमोघानन्दिनी शिक्षा**— यद्यपि यह या० शि० तथा पारा० शि० के अनुकरण पर रची गयी है तो भी इसमें उपर्युक्त शिक्षा के समान ही **ब** तथा **व** में भेद करने के लिए शब्दों का संग्रह किया गया है। यद्यपि यह वा० प्रा० का अनुकरण करती है, तो भी इसमें नासिक्य वर्णों के लिये रङ्ग, महारङ्ग तथा अतिरङ्ग जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग नवीन है। व के गुरु लघु और लघुतर उच्चारण, नाद व नासिक्य वर्णों तथा सात प्रकार के प्लुतों का विवरण भी इसकी विशेषताएँ हैं। इसमें १३० पद्य हैं। **'लघ्वमोघानन्दिनी शिक्षा'** में कुल १७ श्लोक हैं।

(शि० सं० पृ० ९३-१०६, शि० सं० पृ० १०६-१०८)

(७) **माध्यन्दिनी शिक्षा**—इसके कर्ता माध्यन्दिन कहे गये हैं, किन्तु यह आधुनिक कृति है। इसमें खकार-युक्त शब्दों का संग्रह किया गया है, ताकि षकार-युक्त शब्दों से भेद किया जा सके। लघुमाध्यन्दिनी शिक्षा में कहा गया है कि मूर्धन्य स्पर्श से अव्यवहित पूर्व के अतिरिक्त सर्वत्र षकार का उच्चारण खकार करना चाहिये[3] इसमें कुल ४० पद्य हैं। **'लघुमाध्यन्दिनी शिक्षा'** में कुल २८ श्लोक हैं।

(शि० सं०, पृ० १०९-११३; ११४-११६)

---

[1] ४, १४४।

[2] श० ब्रा० १०, ६, ५, ९।

[3] तु० प्रतिज्ञा परि० २-७—

"अथो मूर्द्धन्योष्मणोऽसंयुक्तस्य टुघृते संयुक्तस्य च खकारोच्चारणम्।"

(८) **वर्णरत्नदीपिका**—या० शिक्षा के चरण-चिह्नों पर चलती हुई वा० प्रा० का अनुकरण करती है। इसके कर्ता का नाम अमरेश भारद्वाज दिया हुआ है। इसमें ऋकार को कण्ठ्य तथा रकार को दन्तमूलीय माना गया है। इसमें २२७ कारिकाएँ हैं। इसे वा० प्रा० का संक्षेप कहा जा सकता है, किन्तु वा० प्रा० के सभी विषयों पर विचार नहीं किया गया। इसमें **'स्वरभक्ति'** के विषय में पूर्वांग-परांग चिन्ता का प्रकरण भी है। सन्धियों की अयस्पिण्ड, ऊर्णापिण्ड, दारुपिण्ड आदि संज्ञाएँ या० शि० के अनुसार हैं (कारिका १७७-१७९)।

(शि० सं० पृ० ११६-१३७)

(९) **केशवी शिक्षा**—यह रचना संक्षिप्त किन्तु सुस्पष्ट है। इसमें **ष्** को **ख्**, **य्** को **ज्** तथा **व्** को **ब्** उच्चारण करने के स्थानों का निर्देश किया गया है। इस के कर्ता केशव एक ज्योतिषी थे। इन्होंने प्रतिज्ञासूत्र का अनुकरण किया है, जो यद्यपि कात्यायन की कृति माना जाता है, तो भी उसके उच्चारण-विषयक नियमों में आधुनिक भारतीय भाषाओं के उच्चारण की विशेषताएं पायी जाती हैं[1]। इसमें रेफ-परक-ऊष्म परक अनुस्वार का उच्चारण 'गुँ' करने का विधान है (कारिका १५), जो आधुनिक उद्भावना प्रतीत होती है। इन्हीं की रचना नौ सूत्रों की एक और केशवीशिक्षा भी है, जिसे **नवाङ्कसूत्र** भी कहते हैं। पद्यात्मिका शिक्षा में २१ पद्य हैं। (शि० सं० पृ० १३८-१४९; १५०-१५२)।

(१०) **ह्स्तस्वरप्रक्रिया**—यह भी किसी केशव या मल्ल शर्मा की कृति है। इसमें ६५ कारिकाएं हैं तथा मनुकृत किसी प्रातिशाख्य का वचन उद्धृत किया गया है, जिसकी पुष्टि अन्य किसी स्रोत से नहीं होती, न ही इसकी शाखा के विषय में कोई सूचना है। रावणकृत **स्वरांकुश-शिक्षा** का भी उल्लेख किया गया है, जिसमें स्वर-संस्कार विषयक नियम दिये गये हैं। हस्तचालन द्वारा स्वरसङ्केत के नियम भी इसमें हैं। रङ्ग के तीन भेदों—रङ्ग, महारङ्ग, अतिरङ्ग का विवरण तथा रङ्गादि के उच्चारण में कालप्रमाण का विचार भी इसमें है[2]। (शि० सं० पृ० १५३-१६०)।

(११) **स्वराङ्कुश-शिक्षा**—इसके कर्ता का नाम जयन्त स्वामी है। यह रावण के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसमें २५ कारिकाएं हैं। जात्य, अभिनिहित,

---

१. सिद्धेश्वर वर्मा, वही पृ० ३५; इस शिक्षा में 'कृ' का 'करे' तथा 'गुह्य' का 'गुह्ज' तथा इषे का इखे उच्चारण विहित है।

२. कारिका ४३-४६।

क्षैप्र तथा प्रश्लिष्ट इन चार स्वरितों तथा इनके विशेष परिस्थितियों— कम्प में परिवर्तनों—की चर्चा की गयी है। तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम तथा पादवृत्त स्वरितों का विवरण भी इसमें है। इसमें ही ग्रन्थ-परिमाण २१ श्लोकात्मक बताया गया है (कारिका २३)। चार श्लोक बाद में भूल में प्रविष्ट हो गये प्रतीत होते हैं। मुख्यरूप से यह शिक्षा-बह्वृचों की है, किन्तु शु० य० सं० में भी बहुत सी ऋचाओं के विद्यमान होने के कारण शु०य०सं० के पाठ में भी सहायक है। (शि०सं० पृ० १६१-१६३)

(१२) **षोडशश्लोकीशिक्षा**—इसके रचयिता रामकृष्ण हैं। इसमें उच्चारण के विषय में कुछ अत्यन्त स्पष्ट नियम दिये गये हैं। इसमें कुछ एक प्रत्याहारों का भी विवरण है। (शि० सं० पृ० १६४-१६५)

(१३) **अवसाननिर्णयशिक्षा**— इसके रचयिता अनन्तदेव हैं, जिनके विषय में निश्चयात्मक सूचना नहीं मिलती। यह अत्यन्त अर्वाचीन कृति है, जिसकी रचना १९४६ वि० में की गयी। इसमें मन्त्रों के अवसानों की संख्या गिनायी गयी है, जिनमें द्व्यवसान (१४९३) त्र्यवसान (१५०) चतुरवसान (३२) पञ्चावसान (२) मध्यावसान, षडवसान (२) नवावसान (२) अन्त्यावसान (२३२) निरवसान (५६) परिगणित हैं। (शि० सं० पृ० १६६-१७१)

(१४) **स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्टशिक्षा**— यह कृति कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु यह अर्वाचीन कृति है। इसमें पाणिनि के अनेकों प्रत्याहारों का प्रयोग किया गया है। इसके विषय स्वरित के भेद, कुछ सन्धियां, द्वित्व प्रकरण, लोप, आगम, विकार, आदि विवृत्ति तथा इसके भेद हैं और अन्तिम छः कारिकाओं में स्वरभक्ति के भेद वर्णित हैं। करिणी, कुर्विणी प्रभृति ये पांच भेद या० शि० के इन भेदों के समान ही हैं। इसमें ४२ कारिकाएं हैं। (शि० सं० पृ० १७२-१८०)

(१५) **क्रमसन्धानशिक्षा**—इसमें क्रमपाठ के अनुसार संहिता के प्रत्येक अध्याय में क्रमसन्धानों की संख्या गिनायी गई है।

(१६) **गलदृक्शिक्षा**—में शु० य० सं० से ऐसी ऋचाओं की गणना की गयी है, जिनमें कोई अंश परस्पर समान है और पदपाठ में उनकी आवृत्ति नहीं की जाती। वास्तव में यह माध्यान्दिन महर्षि-प्रणीत शिक्षा की दूसरी कण्डिका की पुनरावृत्ति मात्र है। (शि० सं० पृ० १८२-१८४)

(१७) **प्रातिशाख्यप्रदीप-शिक्षा**—के कर्ता का नाम बालकृष्ण गोडशे है। इसकी रचना १८०२ सं० में हुई है। इसमें या० शि०, वा० शि०, पाराशर,

शि०, लघु माध्य० शि०, अमोघ० शि०, हस्तस्वर-प्रक्रिया, प्रा० शि०, नवाङ्क-सूत्र, वा० प्रा० की टीका ज्योत्स्ना, प्राति० सूत्रभाष्य प्रभृति शिक्षाओं तथा श्रीभाष्य, वाराहपुराण, पाराशरस्मृति का भी उल्लेख किया गया है। वा० प्रा० के ३/४ सूत्रों की व्याख्या इसमें की गयी है और इनको अधिक व्यवस्थित ढंग से रखा गया है। हस्त-चालन द्वारा स्वर-सङ्केत तथा विविध स्वरों का विस्तृत विवरण दिया गया है। विशेषता यह है कि व्यञ्जनों के भी स्वरों का प्रतिपादन इसमें किया गया है। प्रचय या प्रचित स्वर, क्रमपाठ के नियम के प्रत्येक अध्याय के क्रमसन्धानों की संख्या आदि अनेक विषयों पर विस्तृत विचार किया गया है। अष्ट विकृतियों का भी इसमें स्पष्ट प्रतिपादन हैं। (शि० सं०, पृ० २१०-२२६)

(१८) **वेदपरिभाषासूत्र शिक्षा तथा वेदपरिभाषाकारिका शिक्षा**— दोनों सिद्धेश्वर के पुत्र रामचन्द्र की रचनाएं हैं। कारिकाग्रन्थ में १० कारिकाएं हैं। उन पर भाष्य, सूत्रग्रन्थ की भी व्याख्या तथा इसका पूरक है। सूत्रग्रन्थ में वा० सं० में प्रत्येक अध्याय की ऋचाओं, अनुवाकों तथा पादों की संख्या दी गयी है।

(१९) **यजुर्विधान शिक्षा**—के कर्ता का नाम अज्ञात है। इसमें छह अध्याय हैं इनमें वा० सं० के मन्त्रों का यज्ञयागादि में विनियोग बतलाया गया है। (शि० सं०, पृ० ३२७-३६१)

(२०) **स्वराष्टक शिक्षा**— के कर्ता का नाम अनन्त है। इसमें आठ स्वरों के उदात्तादि स्वरों तथा उनके संकेत-स्वरूप हस्त-सञ्चालन के नाना प्रकारों, व्यञ्जन-सन्धियों तथा विसर्गसन्धि के विषय में विचार किया गया है। (शि० सं०, पृ० ३६२-३६८)

(२१) **क्रमकारिका शिक्षा**—में वा०सं० में क्रमावसानों का विवरण दिया गया है। (शि० सं०, पृ० ३६९-३७७)

तृतीय अध्याय

कृष्णयजुर्वेद की शिक्षाएं

इस यजुर्वेद की शिक्षाएं मुख्यरूप से दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—(१) चारायणीय शाखा से सम्बद्ध (२) तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध।

(१) **चारायणीय शाखा** से सम्बद्ध **चारायणीय** शिक्षा नाम से एक ही प्रसिद्ध है। यह शिक्षा भी अभी तक अमुद्रित है। स्वयं को **महाशिक्षा** के नाम से प्रचारित करने वाली यह शिक्षा अपने आप को ब्रह्मा की कृति कहती है। विषयों के प्रतिपादन की दृष्टि से यह पूर्ण शिक्षा है। यह पा० शि० से अर्वाचीन प्रतीत होती है, क्योंकि इसमें पा० शि० के आठ उच्चारण स्थानों के अतिरिक्त **सृक्व** तथा **दन्तमूल** दो और स्थानों का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही इस में **स्वरभक्ति** का इ तथा उ के रूप में उच्चारण का निषेध किया गया है। अतः सम्भवतः यह ऐसे स्थान पर रची गयी प्रतीत होती है जहां अर्धमागधी तथा अपभ्रंश का प्रचलन नहीं था[1]। यह या० शि० से अधिक पूर्ण है, क्योंकि—

इसमें सन्धियों के नियमों तथा अभिनिधान (भुक्त या भक्ष्य) का एक-एक पूर्ण प्रकरण दिया गया है[2]। यहां ऋ तथा र मूर्धन्य वर्ण हैं। इसमें वा० प्रा० को दो बार (वा० प्रा० १, १४१; ४, ९९) उद्धृत किया गया है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें इन्द्रवज्रा, प्रहर्ष प्रभृति लौकिक छन्दों का वर्णन किया गया है जो अन्य शिक्षाओं में नहीं पाया जाता, न ही ध्वनिशास्त्र के अन्तर्गत छन्दः-शास्त्र का कोई स्थान ही है। इस शिक्षा में नासिक्य हकार का निषेध किया गया है[3]। चारायणीय चरकों की १२ उपशाखाओं में से एक है[4]। सम्भवतः पतञ्जलि को चारायणीय शाखा का पता था, क्योंकि उसने कम्बलप्रिय चारायणीय शिष्य का उल्लेख किया है[5]।

---

१. सिद्धेश्वर, वही, पृ० ३७।

२. वही, पृ० ४५ तथा १५८।

३. वही, पृ० ८० ; तु० तै० प्राति० २१, १४ और उस पर त्रिभाष्यरत्न।

४. चरणव्यूह, बनारस, सं० १०-११।

५. पा० १, १, ७३ पर म० भा०, 'कम्बलचारायणीयः'।

तैत्तिरीय शाखा की शिक्षाएं—ध्वनिशास्त्र के अतिविकसित रूप को प्रस्तुत करती हैं[1] ? वेद लक्षणानुक्रमणिका (हस्तलेख) में नौ मुख्य शिक्षाओं तथा तीन गौण शिक्षाओं का उल्लेख किया गया है। मुख्य शिक्षाएं ये हैं :—

भारद्वाज०, व्यास०, शम्भु०, पाणिनि०, कौहलीय०, वासिष्ठी०, बौधायन०, वाल्मीकि० तथा हारीत०।

गौण शिक्षाएं ये हैं—सर्वसम्मत०, आरण्य०, तथा सिद्धान्त०।

(१) **व्यास शिक्षा** :—ल्यूडर्स ने व्यास शिक्षा का काल तेरहवीं शती का मध्य माना है[2], किन्तु इस मान्यता में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। इस शिक्षा में निम्नलिखित उच्चारण-स्थान कहे गए हैं।

कण्ठो वक्त्रादिमध्यान्तं दन्तमूलान्तनासिकम् ।
ताल्वोष्ठमुरःस्थानानि वर्णानां करणान्यधः ॥ (२४, ६)

इसके विपरीत पा० शि० में ये आठ स्थान गिनाये गये हैं—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥

इस शिक्षा में र को दन्तमूलीय (वर्त्स्य) कहा गया है।

उच्चारण के विषय में इसमें एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही गयी है कि न केवल अनुस्वार के बाद के संयुक्त व्यञ्जनों के आदि-वर्ण को द्वित्व हो जाता है, अपितु ऐसे संयुक्त व्यञ्जनों से पूर्ववर्ती किन्तु ह्रस्व स्वर के पश्चाद्वर्ती अनुस्वार को भी द्वित्व हो जाता है[3]। तैत्तिरीय शाखा के अनुसार अनुस्वार व्यञ्जन माना जाता था, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पा० शि० को व्यास० शि० वेदांग नहीं मानती थी[4]। क्योंकि पा० शि० को तैत्तिरीयशाखा की एक शिक्षा पहले ही मान लिया गया था। एक ही शाखा के वेदांग दूसरे वेदांगों का निषेध नहीं किया करते।

व्यास शिक्षा सभी शिक्षाग्रन्थों में सर्वाधिक सुव्यवस्थित कृति मानी जाती हैं। यही एक शिक्षा तै० प्रा० का पूर्ण अनुसरण करती है[5]।

---

१. सिद्धेश्वर०, वही, पृ० ३८।
२. *Vyāsaśikṣa* Ed. p. 107.
३. सिद्धेश्वर० वही, पृ० ३९।
४. सिद्धेश्वर० वही०।
५. ल्यूडर्स, रेनूकृत 'वैदिक इण्डिया' में उद्धृत, पृ० ४७ ; इस शिक्षा का सम्पादन करके एच० ल्यूडर्स ने सन् १८९५ में कील से प्रकाशित किया था (*Die Vyāsaśikṣa*)।

तैत्तिरीयशाखा की यह ५२४ श्लोकात्मिका शिक्षा व्यास द्वारा रचित मानी जाती है। इसके अन्तर्गत २८ प्रकरणों में शिक्षा-विषयक विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है—

(१) संज्ञा-प्रकरण में संज्ञाएं व्याकरण-शास्त्रीय संज्ञाओं के समान ही हैं, किन्तु कहीं-कहीं विभिन्न प्रकार की तथा विलक्षण भी हैं ; यथा—'युङ् असि' में ङकार की नाद संज्ञा है। यहां ञ् के अतिरिक्त सभी वर्गान्त्य वर्णों को 'नाद' कहा गया है।

(२) प्रग्रह प्रकरण में प्रगृह्य पदों का विवेचन किया गया है।

(३) पारिभाषिक प्रकरण में द्वित्व, आगम, लोप आदि के लिये अनेक परिभाषाएं की गयी हैं।

(४-१८) प्रकरणों में क्रमशः दीर्घ, आगम, लोप, विकार, षत्व, णत्व, रेफ, विसर्ग, यत्व, सन्धि आदि अनेक विषयों पर विचार किया गया है।

१६वें प्रकरण में स्वर-सन्धान पर विचार किया गया है, जहां स्वरित के आठ भेदों का विवेचन भी पाया जाता है।

१७वें प्रकरण में स्वरसन्धि का विवरण दिया गया है।

१८वें में ह्रस्वस्वरों का महत्त्व, १९वें में द्वित्व का, २०वें में पूर्वागम का, २१वें में द्वित्वनिषेध का वर्णन किया गया है।

२२वें प्रकरण में स्वरांगभूत व्यञ्जनों को भी प्राप्त उदात्तादि स्वरों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। २३वें प्रकरण में रेफ और लकार के निमित्त से होने वाली स्वरभक्ति का विवेचन किया गया है। रेफगर्भ ऋकार के परे रहते दो स्वरभक्तियां भी होती हैं। यहां स्वरभक्ति में हरिणी, हंसपदा, हस्तिनी, करेणु प्रभृति अनेक भेद किये गये हैं, जो या० शि० तथा शौ० शि० से मेल खाते हैं।

२४ वें प्रकरण में स्थान, करण प्रभृति विचार तथा २५ वें में प्लुत तथा छब्बीसवें में ओष्ठ्य, सत्ताईसवें में काल एवं अट्ठाईसवें में उच्चारण की फलश्रुति का विवरण दिया गया है।

व्यासशिक्षा का महत्त्व इसी से स्पष्ट हो जाता है कि इसके व्याख्याता राजा घनपाठी ने नौ प्रमुख शिक्षाओं में इसे सर्वप्रथम स्थान पर गिनाया है। वे नौ शिक्षाएं ये हैं :—

(१) व्यासशिक्षा, (२) लक्ष्मीशिक्षा, (३) भारद्वाजी०, (४) आरण्य०,
(५) शम्भु०, (६) आपिशली०, (७) पाणिनीया०,
(८) कौहलीय० (९) वासिष्ठी०।

तैत्तिरीयशाखा की 'वेदलक्षणानुक्रमणिका' द्वारा परिगणित नौ शिक्षाओं तथा इनमें कुछ भेद है, तो भी व्या० शि० का महत्त्व उभयत्र माना गया है।

व्याख्याएं :— इस पर एक व्याख्या पं० सूर्यनारायण सूरावधानी-कृत 'वेद तैजस' के नाम से प्रसिद्ध है, यह व्याख्याकार 'श्री वेलिमिकन्यापुर-निवासी थे। द्वितीय व्याख्या 'सर्वलक्षणमञ्जरी संग्रह' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके कर्ता दक्षिण के मध्यार्जुनक्षेत्रीय शेरपट्टिग्रामवासी रामशेष शास्त्री के दौहित्र श्री राजा घनपाठी हैं।

संस्करण :—(१) एच०, ल्यूडर्स ने सन् १८९५ में इसका एक संस्करण कील से प्रकाशित किया था।

(२) इन दोनों व्याख्याओं सहित व्यास शिक्षा का एक संस्करण दक्षिण से १९०८ ई० में प्रकाशित हुआ था।

(३) द्वितीय संस्करण श्री पी० एन० पट्टाभिराम शास्त्री ने वाराणसी से सन् १९७६ में प्रकाशित कराया।

(२) **शम्भु शिक्षा** :—डा० कीलहार्न ने इसे पा० शि० का ही रूपान्तर माना था[1]। किन्तु यह सर्वथा भिन्न कृति है। इसमें स्वर तथा मात्रा के विषय में अत्यन्त विकसित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। तथा तै० प्रा० पर त्रिभाष्यरत्न तथा वैदिकाभरण नामक टीकाओं[2] में कभी-कभी उद्धृत की गयी है। यह अपेक्षाकृत प्राचीन रचना है। यह **व्यासशिक्षा** की समकालिक प्रतीत होती है। इसके कर्ता ने कालिका, सरस्वती तथा लक्ष्मी को नमस्कार किया है। यद्यपि यह कृति संक्षिप्त है, किन्तु प्राय: पूर्ण शिक्षा है तथा स्वर, मात्रा, अवग्रह, द्वित्व, स्वरभक्ति प्रभृति सभी विषयों का प्रतिपादन करती है।

(३) **पाणिनीय शिक्षा** :—इसे तै० सं० के अनुयायियों ने सम्भवत: अपनी शाखा की शिक्षा मान लिया है, किन्तु जैसे कहा जा चुका है यह किसी शाखा-विशेष से सम्बद्ध नहीं है। इस कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है कि यह शिक्षा पा० शि० का तै० संस्करण हो सकता है[3] (द्र० अग्रे)।

(४) **कौहलीय शिक्षा**[4] :—इसमें ७९ पद्य हैं, जिनमें से ४१ स्वर सम्बन्धी हैं। इसके कर्ता के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। यह भी कहना कठिन है कि यह वही ध्वनि-शास्त्रज्ञ कोहलि-पुत्र है, जिसका उल्लेख तै० प्रा०[5] में हुआ है, या कोई दूसरा है। कोहलिपुत्र के मत में

---

[1] आइ० ए०, भाग ५, पृ० १९९।

[2] तै० प्रा० १, १; १, ४०।

[3] सिद्धेश्वर०, वही, पृ० ४०।

[4] सम्पा० साधुराम, जे० वी० एस०, भाग १, लाहौर, १९३४।

[5] १७, २।

अनुस्वार तथा नासिक्य व्यञ्जनों में नासिक्यत्व मध्यम परिमाण का है। किन्तु इस शिक्षा में ऐसी कोई बात नहीं कही गयी है। तै० प्रा०[1] पर वैदिकाभरण ने इस शिक्षा का एक पद्य उद्धृत किया है, जिसमें कहा गया है कि "जप पाठ वही कर सकता है जो प्रातिशाख्यों तथा समस्त शिक्षाओं का जानकार है।" इस उद्धरण से तथा इस शिक्षा से अन्य शिक्षाओं की अपेक्षा किसी प्रकार की नवीनता के अभाव से सिद्ध होता है कि यह अपेक्षाकृत अर्वाचीन कृति है। इसमें स्वर-सन्धान के विषय में दक्षिणहस्त के चालन का निर्देश है, वामहस्त का नहीं[2]। इसका पद्य (४५) आत्रेयी-शाखा के काण्डानुक्रम के एक पद्य (२७) के समान है।

(५) **बौधायन शिक्षा** :—इसका उल्लेख तो किया गया है किन्तु अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है।

(६) **वासिष्ठी शिक्षा** :—यह व्यासशिक्षा से प्राचीन प्रतीत होती है[3]। वैदिकाभरण में इसके उद्धरण में २६ स्वरों का उल्लेख किया गया हैं, किन्तु दीर्घ ऌ को नहीं गिनाया गया[4]।

(७) **वाल्मीकि शिक्षा** :—तै० प्रा०[5] में वाल्मीकि की सम्मति उद्धृत की गयी है, जिसमें 'ओम्' का स्वर उदात्त कहा गया है। एक और उद्धरण[6] के अनुसार वाल्मीकि विसर्ग का जिह्वामूलीय या उपध्मानीय में परिवर्तन उचित नहीं समझते थे। किन्तु अभी तक इस शिक्षा का कहीं पता नहीं चल सका है। यह अवश्य ही अत्यन्त प्राचीन रचना रही होगी।

(८) **हारीत शिक्षा** :—यह भी अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी। पारि० शि०[7] की टीका में इस शिक्षा का एक पद्य उद्धृत किया गया है। हारीत की सम्मति तै० प्रा० में भी उद्धृत है[8]।

---

[1] ५, १४।

[2] ३५।

[3] ल्यूडर्स, व्यास०, पृ० १०६।

[4] तै० प्रा०, पृ० ८।

[5] १८, ६।

[6] तै० प्रा०, ११, ४।

[7] पद्य, २७।

[8] १४, ८।

(९) **भारद्वाज शिक्षा** :—सिद्धान्तशिक्षा ने इसे सर्वप्रथम स्थान में गिनाया है। अत: यह पर्याप्त प्राचीन प्रतीत होती है। सम्भवत: व्यास शिक्षा के समसामयिक कही जा सकती है[1]।

यह अन्य शिक्षाओं से भिन्न प्रकार की है। उनकी सामान्य विशेषताएं यहां नहीं पायी जातीं। जहां व्यासशिक्षा को **जटाशिक्षा** कहा जाता है, वहां इसको **सांहितिक शिक्षा** के नाम से अभिहित किया गया है। तैत्तिरीयों से सम्बद्ध एवं उनकी ओर सङ्केत करने वाली नौ प्रमुख शिक्षाओं में से एक यह भी है। यद्यपि यह तैत्तिरीयशाखा की सभी रचनाओं से सम्बद्ध नहीं है, तो भी तै० संहिता, तै० ब्राह्मण, काठ० ब्राह्मण, तै० आरण्यक तथा एकाग्निकाण्ड (आपस्तम्बीय) की ओर सङ्केत करती है।

तैत्तिरीय वेद के सभी प्रकार के शब्दों का विवरण प्रस्तुत करने के स्थान पर यह शिक्षा समान स्थान, मिलते-जुलते उच्चारण तथा आकृति वाले शब्दों के उच्चारणार्थ भेदक नियमों का विधान करती है, यथा—

वृजन—वृजिन ; अरुष—अर्ष ; स्तुतम्—स्तुतिम् ; परशु—पर्शु ; कार्षम्—कारिषम् ; द्रु—ध्रु ; दृ—धृ ; अह्रुत—अह्रुत ; जुषेतम्—जुषेथाम् ; कृष्ट—क्रुष्ट ; स्पृणुते—स्तृणुते ; माषाः—मासा: ; ग्रह—गृह ; अनात्यै—अनात्यैं ; आरभते—आलभते प्रभृति। इसके अनुसार पद के आदि में 'ल' कभी भी स्वर नहीं होता, किन्तु दो वर्णों के मध्य में यह स्वर का काम करता है, यथा 'क्लृप्त' में।

व्याख्या :—नागेश्वर कृत व्याख्या उपलब्ध है, किन्तु व्याख्याकार के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है[2]।

संस्करण :—(१) Emil Sieg द्वारा सम्पा०, बर्लिन, १९२२।

(२) वी० आर० रामचन्द्र दीक्षित तथा पी० एस० सुन्दर आर्य द्वारा नागेश्वर कृत व्याख्या सहित सम्पादित, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना, से प्रकाशित, सन् १९३८।

अन्य शिक्षाएँ

(१) **सर्वसम्मत शिक्षा** :—इस नाम की दो शिक्षाएं प्रचलित हैं। एक ऑटो फ्रैङ्के द्वारा १८८६ में मुद्रित की गयी थी। उसमें कुल ४९ पद्य हैं और उसमें

---

[1] ल्यूडर्स (H. Lüders) ने व्यासशिक्षा का रचनाकाल त्रयोदशी शती माना है, जो सर्वथा काल्पनिक है, अतः अमान्य है।

[2] अड्यार ला० बु० ५, पृष्ट १८९ के अनुसार तथा व्यासशिक्षा की टीका 'वेदतैजस' में एक व्याख्याकार जटावल्लभशास्त्री भी हैं। किन्तु कुन्हनराज के मत में इन्होंने ९० में से ६९ पद्यों पर टीका लिखी हैं, शेष पर नागेश्वर ने (अडयार ला० बु० ६, पृ ६६-६९)।

स्वर तथा मात्रा जैसी जटिल समस्याओं का बहुत संक्षिप्त विवरण दिया गया है। दूसरी अभी अमुद्रित है । इसमें १७० पद्य तथा ४ अध्याय हैं, जो एक विशाल टीका से व्याख्यात हैं। इसके कर्ता का नाम केशवार्य है तथा विवरण नामक टीका के कर्ता का मञ्चिभट्ट। यह रचना पर्याप्त प्राचीन प्रतीत होती है, क्योंकि इसके उद्धरण त्रिभाष्य-रत्न तथा वैदिकाभरण में दिये गये हैं[१]। इसमें तैत्तिरीयों की सभी शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों में वर्णित विषयों के प्रतिपादन का दावा किया गया है[२]। यह दावा बहुत कुछ सत्य है, क्योंकि केवल स्वर-प्रकरण को ३३ पद्यों में विस्तार से समझाया गया है। ल्यूडर्स का यह मत[३] इस शिक्षा पर लागू नहीं होता कि इसके कुछ भाग केवल व्यासशिक्षा के समानान्तर भागों का विस्तार मात्र हैं, क्योंकि इसमें ऐसी बहुत सी सामग्री है, जो किसी भी अन्य ज्ञात शिक्षा में दुर्लभ्य है।[४] इसमें कहा गया है—

ओष्ठयोः स्वरयोर्मध्ये संयोगादिर्यदि स्थितः।
विसर्गात् क्षपरादूर्ध्वमुभयत्रार्धमात्रिकः॥ (४, ८०)

ओष्ठ्य स्वरों के मध्य में अवस्थित संयोग के आदि वर्ण तथा द्वितीय वर्ण के मध्य में, तथा क्षपरक विसर्ग से ऊर्ध्व अर्धमात्रा का विराम करना चाहिये।

इसी प्रकार स्वर-रहित (अपृक्त) व्यञ्जन के लिए १/४ मात्रा काल का विधान किया गया है[५]।

आॅटो फ्रैङ्के द्वारा सम्पादित तथा १८८६ में गोटिंगन में मुद्रित सर्व० शि० में ४९ पद्य हैं। इसके कर्ता तथा टीकाकार दोनों अज्ञात हैं। आरम्भ में गजानन को नमस्कार किया गया है। इसमें द्वित्व, अनुस्वार, यमों, द्वित्व निषेध, स्वरभक्ति, मात्रिकाकालनिर्णय, स्वरस्वरूप, वेदपाठ में होने वाले दोषों, ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतों के स्वरूप, तथा रङ्गस्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। "रङ्ग के विषय में प्रसिद्ध पद्य यथा—सौराष्ट्रिकी नारी" का प्रयोग यहां भी किया गया है।

(२) **आरण्य शिक्षा** :—यह भी अमुद्रित है। यह नौ शिक्षाओं के समुद्र में से निकला हुआ अमृत होने का दावा करती है। इसी से सिद्ध होता है कि यह

---

[१] तै० प्रा०, २१, ५।

[२] सिद्धेश्वर०, वही, पृ० ४२।

[३] व्यास शिक्षा, पृ० १०६।

[४] सिद्धेश्वर, वही, पृ० ४८।

[५] ४, ९५।

एक अर्वाचीन कृति है[1]। इसमें तै॰ आरण्यक के स्वर के सम्बन्ध में विचार किया गया है और भिन्न-भिन्न स्थितियों में शब्दों के स्वरों का विवरण दिया गया है। यथा—आद्युदात्त शब्द, दो अन्तोदात्त वाले शब्द तथा इसी प्रकार के अन्य शब्द गिनाए गए हैं। एक स्थान पर[2] टीकाकार ने स्वर तथा मात्रा के पारस्परिक सम्बन्ध पर रोचक विचार प्रकट किये हैं।

(३) **सिद्धान्त शिक्षा** :—यह भी अभी अमुद्रित है। इसमें ९ शिक्षाओं के अतिरिक्त तै॰ प्रा॰ की व्याख्याओं, त्रिभाष्यरत्न तथा वैदिकाभरण, और भट्टभास्कर मिश्र (९००-१००० ई॰)[3] तथा गंगेश (११५०-१२०० ई॰) का उल्लेख किया गया है। तथा तै॰ सं॰ के भाष्यकार भट्टभास्कर की प्रशंसा की गयी है। इससे प्रकट होता है कि उस समय तक सायण का भाष्य प्रसिद्ध नहीं हुआ होगा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि त्रिभाष्यरत्न तथा वैदिकाभरण दोनों व्याख्याएं पन्द्रहवीं शताब्दी से पूर्व लिखी गयी थीं[4]। व्यासशिक्षा-सहित सभी प्रधान शिक्षाओं को भी इसमें उद्धृत किया गया है। अतः इसका महत्त्व कुछ अधिक है। भारद्वाजशिक्षा के समान ही इसमें ककारादि क्रम से भिन्न-भिन्न ध्वनियों वाले शब्दों की परिगणना की गयी है। इसके अनुसार 'त्वं' का उच्चारण वेद में विकल्प से 'त्वङ्' भी किया जाता है। इस का रचना काल १३ वीं शती हो सकता है।

(४) **आपिशलि-शिक्षा**[5]—यह शिक्षा किसी विशेष वेद या वैदिक ग्रन्थ से सम्बद्ध नहीं है और व्याकरण के सामान्य ध्वनि शास्त्रीय उपोद्घात के रूप में सर्वोत्तम रचना है[6]। यद्यपि वैय्याकरण आपिशलि पाणिनि से पूर्ववर्ती थे[7] तो भी यह शिक्षा वर्तमान रूप में उनकी रचना नहीं

---

[1] सिद्धेश्वर॰ वही।

[2] पद्य २७।

[3] Burnell, A.C., *Skt. Mss.*, Tanjore, p. 7.

[4] सिद्धेश्वर॰ वही, पृ॰ ४४।

[5] सम्पा॰ डा॰ रघुवीर, जे॰ वी॰ एस॰, भाग १, लाहौर, १९३४।

[6] रघुवीर, वही, उपोद्॰ पृ॰ ५।

[7] द्र॰ पा॰ ६, १, ९२ 'वा सुप्यापिशलेः'।

हो सकती, क्योंकि इसमें प्रातिशाख्यों के विरोध से बचते हुए शिक्षा तथा व्याकरण में कहे गये कार्यों की व्यवस्था करने का बीड़ा उठाया गया है—

तस्मात्तत्तत्समाम्नाये प्रातिशाख्याविरोधतः ।
कार्यं सर्वं व्यवस्थाप्यं शिक्षाव्याकरणोदितम् ॥

आपिशलि के व्याकरण में भी आठ अध्याय थे, यह बात अभिनव शाकटायन व्याकरण की अमोघा वृत्ति में दिये गये उदाहरण **'अष्टका आपिशलि-पाणिनीयाः'** से स्पष्ट हो जाती है।

इसके आरम्भ के १९ पद्य बहुत अर्वाचीन माने जाते हैं[१]। वैसे इसका आधारभूत ढाँचा पुराना है। पतञ्जलि[२] ने इसे कुछेक परिवर्तनों सहित उद्धृत किया है। भर्तृहरि[३] ने शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया के विषय में इसकी ओर सङ्केत किया है। काशिका[४], न्यास[५], विट्ठल प्रक्रियाकौमुदी की टीका में[६], भट्टोजिदीक्षित शब्दकौस्तुभ में[७], गोपाल मिश्र तै० प्रा० पर वैदिकाभरण में[८], आपि० शि० से उद्धरण देते हैं। कातन्त्रव्याणरण[९] में शर्ववर्मा ने भिन्न-भिन्न वर्णों के आपि० शि० के अनुकरण पर पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है[१०]। चन्द्रगोमी के अपने सूत्रों की रचना प्रायः पूर्णतया आपि० शि० पर आधृत है[११]। उसके अनेक सूत्र इस शिक्षा से मिलते हैं[१२]। राजशेखर (९३७-१०७७) ने इसका उल्लेख काव्यमीमांसा में

---

[१] रघुवीर, वही पृ० ३ टि० १।

[२] वै० म० भाष्य, कील० पृ० ६१।

[३] वाक्य० १, १, ९, **"ततः शब्दनिष्पत्तिरित्यादि शिक्षाकारमतभेदप्रबन्धोऽवगन्तव्यः"** तु० आपि० शिः (८, १) इस पर वृषभ का लेख है—**इत्यापिशलशिक्षादर्शनम्** ।

[४] १, १, ९ (=आपि० शि० ६, ४, ५, ७, ८, ११-१४)।

[५] पृ० २२, ५८ (=आपि० शि० १, ७, १२, १३, १५, १८) (राजशाही संस्करण)।

[६] रघुवीर, वही, पृ० ८९।

[७] रघुवीर, वही, पृ० ९।

[८] तै० प्रा० २३, २ पर आपि० शि० का ५; तै० प्रा० २, ४, ५ पर आपि० शि० ८, १३, १४; तै० प्रा० २, ११ पर आपि० शिक्षा ८, १६, १७।

[९] सम्पा० बी० लीबिख, हाईडलवर्ग, १९१८ : १, १, ११-१९।

[१०] तु० आपि० शि० ४, २, ४; १, २४ : ४।

[११] रघुवीर, वही, पृ १३।

[१२] वही, पृ १४; १८=आपि० शि० २, ९; १९=आपि० शि० ३, १२; ३९=आपि० शि० ६, ४।

किया है[1]। सम्भवत: कैय्यट और इससे पूर्व जितेन्द्रबुद्धि (८वीं शती) ने ग्यारह प्रकार के बाह्य प्रयत्नों का विचार आपि० शि० से ही ग्रहण किया था, क्योंकि अन्य किसी शिक्षा ने बाह्य प्रयत्नों के इन रूपों की चर्चा नहीं की।

(५) **कालनिर्णय-शिक्षा**— में मात्राकाल पर प्रकाश डाला गया है। बर्नेल (ऐन्द्र० स्कूल, पृ० ४९) ने इसे सायण की कृति समझा था, क्योंकि व्या० शि० ने इससे सामग्री ग्रहण की है[2], अत: यह उससे प्राचीन है, तथा प्रातिशाख्यों से अर्वाचीन है, क्योंकि इसकी भूमिका में कहा गया है कि मैंने प्रातिशाख्यादि का मनन करके इसकी रचना की है। त्रिभाष्यरत्न तथा वैदिकाभरण में इस शिक्षा के अनेक उद्धरण पाये जाते हैं[3]।

तै० प्रा० (१८, १) पर त्रिभाष्यरत्न द्वारा इसके दो श्लोक (१६ ; १९) उद्धृत हैं। वै० आभ० (१, ३७) द्वारा ११वां श्लोक उद्धृत है। इस पर 'दीपिका' व्याख्या का कर्ता मुक्तीश्वराचार्य ऋक्तन्त्र तथा व्यासशिक्षा के इस मत से सहमत नहीं कि संयुक्त व्यञ्जनों के अतिरिक्त सर्वत्र १/४ मात्राकाल का व्यवधान करना चाहिये[4]।

(६) **पारि-शिक्षा**—एक विशद टीका से सुसज्जित पूर्ण शिक्षा है। व्याख्याकार के अनुसार 'पारि' नामक एक मुनि था, जिसकी यह रचना है तथा इस ग्रन्थ की रचना में भारद्वाज, व्यास, पारि, शम्भु, कोहल, हारीत, बोधायन, बाल्मीकि आदि के शिक्षा-ग्रन्थों का अनुसरण किया गया है। इन नौ नामों में से आठ नाम 'वेदलक्षणानुक्रमणिका' में परिगणित प्रधान शिक्षाविदों के नाम हैं। व्याख्याकार के मत में नवां नाम 'पारि' है जो 'अनुक्रमणिका' में उल्लिखित 'पाणिनि' का विकृत रूप है, किन्तु स्वयं रचयिता ने अपना नाम 'चक्र' लिखा है (श्लोक ३), जिस के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। तो भी क्योंकि 'सिद्धान्त शिक्षा', तै० प्रा० की व्याख्या 'त्रिभाष्यरत्न' तथा 'वैदिकाभरण' ने इस शिक्षा को उद्धृत किया है, या इसका उल्लेख किया है, अत: इसकी निम्न सीमा १५वीं शती है, जो 'सिद्धान्तशिक्षा' का रचनाकाल है। यह 'सिद्धान्त-शिक्षा' से प्राचीन है, क्योंकि त्रिभाष्यरत्न[5]

---

[1] ल्यूडर्स, व्या० शि०, पृ० ११०-१११।

[2] भगवद्दत्त, माण्डूकी शिक्षा, भूमिका, पृ० ६।

[3] एस० वर्मा, वही, पृ० ४५।

[4] वही, पृ० १८६।

[5] तै० प्रा० २१, १।

तथा वैदिकाभरण[1] दोनों ने ही उद्धृत किया है तथा इन दोनों का उल्लेख सिद्धान्तशिक्षा ने किया है। द्वित्व, मात्रा, तथा स्वर के विषय में इसके कुछ मौलिक विचार हैं। इसके मत में ह्रस्व स्वर से परे किन्तु किसी अन्य स्वर से पूर्व पदान्त न्, ङ् को द्वित्व तो होता है, किन्तु उसका उच्चारण एक के समान ही होता है[2]। तथा असमान दीर्घ स्वरों के मध्य में विवृत्ति-काल समान दीर्घस्वरों के विवृत्ति-काल से अधिक होता है, यथा— 'एता एव' में 'वा आरण्यम्' के विवृत्ति-काल से अधिक है।

(७) **वैदिकाभरण**—यद्यपि तै० प्रा० की गार्ग्य गोपाल यजवन् द्वारा लिखित व्याख्या है, जिसकी अन्य रचना 'स्वरसम्पद्' का उल्लेख स्वयं व्याख्याता ने किया है[3]। इसकी एक और कृति 'ज्ञानदीप' नाम से प्रसिद्ध है। यह 'वृत्तरत्नाकर' की एक टीका है, जिसमें इन्होंने 'श्रीनाथ' को उद्धृत किया है, जो रंगाचार्य के अनुसार ११वीं शती में हुआ है[4]। किन्तु क्योंकि यजवन् ने 'पारिशिक्षा' को उद्धृत किया है तथा 'सिद्धान्तशिक्षा' ने इसे उद्धृत किया है, अतः इसका रचनाकाल १४वीं-१५वीं शती हो सकता है।

वैदिकाभरण में शिक्षाओं पर सामान्य रूप से और तैत्तिरीय शिक्षाओं पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। इनमें कई शिक्षा-ग्रन्थ अभी तक अनुपलभ्य हैं।

सामवेद की शिक्षाएं

(१) **नारदीय शिक्षा**—यह शिक्षा सर्वप्राचीन तथा अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण है। इसमें सामवेदीय स्वरों का विवरण दिया गया है। इसके अतिरिक्त ध्वनिशास्त्र, द्वित्व, अक्षर-विचार, उदात्त आदि स्वर, अभिनिधान, स्वरभक्ति, कम्प, विवृत्ति, रङ्ग, यम, उद्गाता के लिए निर्देश आदि अनेक विषयों पर विचार किया गया है। त्रिभाष्यरत्न[5] ने इससे उद्धरण दिया है, जिसमें स्वर की सम्राट् से उपमा दी गई है[6]।

संगीतरत्नाकर में कहा गया है कि नारद गान्धार ग्राम के आविष्कर्ता थे। शेष दो ग्राम—षड्ज तथा मध्यम—पृथिवी पर प्रचलित हैं, जबकि गान्धार

---

[1] तै० प्रा० १, २।

[2] एस० वर्मा, वही, पृ० १०५।

[3] तै० प्रा० १४, २९ पर।

[4] तै०, प्रा०, भूमिका, पृ० १८-१९ (मैसूर०)।

[5] तै० प्रा० २१, १।

[6] नार० शि० २, ५, ४।

दिव्य ग्राम है[१]। नारदीय शिक्षा में तीनों ग्रामों का प्रतिपादन किया गया है[२] और गान्धार ग्राम को स्वर्गीय कहा गया है[३]। मूर्छना का वर्णन करते हुए संगीतरत्नाकर में कहा गया है कि नारद ने इनको उत्तरमन्द्रा, उद्‌गता, अश्वक्रान्ता, सौवेरी, दृश्यका, तथा उत्तरायता नाम दिये हैं[४]। नारदोक्त यही नाम भरतनाटचशास्त्र में भी उपलब्ध होते हैं। अत: इसके मूल रूप में इस शिक्षा के काल की निचली सीमा भरतनाटचशास्त्र तक तो मानी ही जा सकती है। भरतनाटचशास्त्र का काल विवादास्पद है, तो भी जब कालिदास[५] भरत को मुनि की उपाधि देते हैं, तो निश्चय ही भरत इन से बहुत पहले हो गए थे। अत: भरत को द्वितीय शताब्दी ई० पू० के पूर्व माना जा सकता है, किन्तु हम इसे प्रातिशाख्यों के काल से पूर्व नहीं मान सकते। इसमें सोमशर्मा[६] तथा प्राचीन औदव्रजि[७] तुम्बरु तथा विश्वावसु[८] का उल्लेख किया गया है। किन्तु इस आधार पर इनके रचना-काल को नीचे नहीं लाया जा सकता कि इनके नाम महाभारत में उल्लिखित हैं[९]। किन्तु यह वंश-ब्राह्मण तथा सामविधान ब्राह्मण से अर्वाचीन है, क्योंकि इस के कुछेक वचनों का मूल इन ब्राह्मणों में खोजा जा सकता है[१०]।

संस्करण :—(१) सत्यव्रत सामश्रमी ने सन् १८९० में कलकत्ता से प्रकाशित किया, जिसमें व्याख्या के शीघ्र प्रकाशन का वचन दिया गया था, वह पूर्ण हुआ या नहीं, मुझे ज्ञात नहीं।

(२) सन् १८९३ में शि० सं० में (पृ० ३९४-४४९) भट्ट शोभाकर की टीका सहित प्रकाशित। इसकी पुनरावृत्ति हिन्दी व्याख्या सहित की गयी है।

(२) **लोमशी-शिक्षा**— यह सामवेदीय शिक्षा होते हुए भी सामान्य नियमों की चर्चा करती है। इसमें द्वित्व के विषय में संक्षेप से विचार किया

---

१. संगीत० १, १४, Clements—*Introduction to the Indian music* p. 46.

२. नार० शि० १, २, ६-७।

३. नार० शि० १, २, ११-१२।

४. भरत ना० शा० २८, ३०-३१।

५. विक्रमोर्वशीय, १ अंक।

६. नार० शि० २, ३, ८।

७. वही २, ८, ५।

८. वही २, ७, ११।

९. सिद्धेश्वर०, वही, पृ० ४९।

१०. नारद०, **'वर्णाश्च कुरुते सम्यक् प्राचीनौदव्रजिर्यथा'** तु० वंशब्रा० ३, ४— **पुण्ययशा औदव्रजि:'** तथा नारद० **'कुष्टेन देवा जीवन्ति प्रथमेन तु मानुषा:'**। तु० सामवि० ब्रा० १, ८।

गया है। सामगान के समय प्राण तथा अपान को व्यवस्थित करने के नियमों का भी निर्देश किया गया है। इसमें स्वरभक्ति को "अ" के समान उच्चारण करने का आदेश दिया गया है, जिससे पता चलता है कि इसकी रचना अर्द्धमागधी तथा अपभ्रंश से प्रभावित क्षेत्र में हुई होगी[१]। किन्तु इसके कर्ता का पता नहीं है। इसमें कहा गया है कि इस शिक्षा की रचना गर्गाचार्य के मतानुसार की गयी है[२], जिसके विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह कौन था[३]। सामवेद के तेरह आचार्यों में एक गार्ग्य परिगणित है। उसका इस शिक्षा से सम्बन्ध अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया। डा० वर्मा ने अटकल लगायी है कि संभव है कि गर्ग की योजना के अनुरूप ही पश्चाद्वर्ती लोमश या रोमश ने इसको निष्पन्न किया हो। गर्ग सामवेद के पदपाठ का निर्माता था, किन्तु इस शिक्षा का काल निर्धारण करना कठिन है[४]।

(३) **गौतमी-शिक्षा**—कहा जाता है कि गौतम साम के प्रथम द्रष्टा थे[५]। राणायनीयों की नौ शाखाओं में एक गौतमी शाखा भी प्रसिद्ध है[६]। इस शिक्षा में कहा गया है कि गौतम के मतानुसार सात से अधिक संयुक्त व्यञ्जन कहीं नहीं पाये जाते। इसमें किसी प्रातिशाख्य का उल्लेख है, जिसमें एक शब्द 'युङ्ङ्क्ष्व' उदाहृत है, किन्तु वर्तमान प्रातिशाख्यों में ऐसा शब्द कहीं नहीं मिलता। इस शिक्षा के समय के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसे शु० य० वे० की शिक्षाओं में गिनाया गया है, जो भूल है।

(शि० सं० पृ० ४५०-४५५)

अथर्ववेदीय शिक्षा

(१) **माण्डूकी-शिक्षा**[७]—अथर्ववेद सम्बन्धी शिक्षा यही एक उपलब्ध है, जो अथर्ववेद से बहुत उद्धरण देती है, किन्तु स्वरसन्धान के विषय में भी सभी वेदों, विशेषतः सामवेद के लिए नियम निर्धारण करती है। ऐसा लगता है कि स्वर के सम्बन्ध में इस शिक्षा में नार० शिक्षा के नियमों

---

१. सिद्धेश्वर० वही, पृ० ६०।
२. १, १।
३. द्र० सिद्धेश्वर०, वही पृ० ६०।
४. वही, पृ० ६६-६७, हिन्दी सं०।
५. आर्षेय ब्रा०, आरम्भिक पंक्ति।
६. चरणव्यूह, बनारस सं०, पृ० ४५।
७. पं० भगवद्दत्त-सम्पा०, लाहौर।

तथा निर्देशों को और आगे विकसित किया गया है। सामगान में संगीतसम्बन्धी सातस्वरों का प्रतिपादन इसमें भी किया गया है[1]। ऋग्० यजु० तथा सामवेद के पाठ के समय हस्त-चालन का विधान भी किया गया है[2]। मण्डूकाचार्य के मतानुसार सरगम के आद्य दो तथा अन्तिम दो स्वर (षड्ज, ऋषभ, धैवत तथा निषाद) तो प्रथम सामगान में प्रयुक्त होते हैं, शेष का प्रयोग नहीं होता[3]। सात स्वरों की विशेषताओं का वर्णन नार० शि० के अनुसार ही किया गया है[4]। इस शिक्षा का एक श्लोक नार० शि० तथा या० शि० में सर्वथा समान रूप में पाया जाता है[5]। अतः इसका रचनाकाल या० शि० के बाद का है तथा मनुस्मृति से भी अर्वाचीन है। डा० वर्मा की सम्मति में इसका रचनाकाल याज्ञ० शि० के आस-पास या उससे कुछ अर्वाचीन अर्थात् दशमी शती के पश्चात् है।

शुक्ल यजुर्वेद की शिक्षाओं से इसकी विषय-सामग्री बहुत कुछ समान है यथा—य और व के विभिन्न स्थितियों में विभिन्न उच्चारण तथा रङ्गप्रकरण। रंग के विषय में उच्चारण-प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए सौराष्ट्री नारी के रंगोच्चारण (अराँ) का उदाहरण यहां भी दिया गया है[6]।

बास्तव में इस शिक्षा में मौलिक सामग्री स्वल्प ही है। इसकी अधिकांश सामग्री अन्य शिक्षाओं से संग्रहीत है[7]।

संस्करण :—(१) शि० सं० काशी (१८९३ ई०) में प्रकाशित (पृ० ४६३-४८०)।

(२) पं० भगवद्दत्त सम्पा०, लाहौर, १९२१।

---

१. मां० शि० १, ७।

२. वही, ३, ४।

३. वही, २, ३।

४. १, ९,१२, नार० शि० (१, ५, ३-६); तु० याज्ञ० शि० १, ८-९।

५. १६, ७; नार० शि० २, ८, २७; याज्ञ० शि० प्रकीर्ण २, ११०; मनुस्मृ० २. २१८ में यही श्लोक कुछ परिवर्तित रूप में उपलब्ध होता है।

६. १०, ९।

७. द्र० एल० डी० बार्नेट, जे० आर० ए० एस०, जुलाई १९२३; पृ० ४३३ पर समीक्षा।

सामान्य शिक्षाएं

पाणिनीय शिक्षा

यद्यपि वर्तमान शिक्षाओं में सर्वप्रसिद्ध पाणिनीय शिक्षा है, तो भी इसके कर्ता के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। अग्निपुराण में इस विषय में पाणिनि का उल्लेख नहीं किया गया, जबकि पा० शि० की टीका 'शिक्षा-प्रकाश' (सन् १२००) में इस का नाम पिंगल दिया गया है। मधुसूदन सरस्वती इसे पाणिनि की कृति मानते हैं, इनका काल १५०० ई० माना जाता है[१]। पाणिनि ने **स्वर, मात्रा** तथा **संहिता** पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। **साम** और **बल** उनके व्याकरण के विषय नहीं बन सकते थे तथा वर्णों की उत्पत्ति, स्वरूप तथा स्वभाव के विषयों को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने शिक्षा का निर्माण किया प्रतीत होता है[२]। इसके विषय में परम्परा इतनी प्रबल है कि मूलरूपेण पाणिनि को इसका कर्ता मानना ही पड़ता है। मीमांसक के मतानुसार इस शिक्षा का मूल सूत्रात्मिका पा० शि० ही है।

इसके निर्माण काल के विषय में भी अनिश्चय की भावना व्याप्त होने के कारण समस्या कठिन हो गयी है। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में वर्णोच्चारण के प्रसंग में दोषों का उल्लेख करते हुए किसी शिक्षा का उद्धरण दिया प्रतीत होता है,[३] किन्तु ये पा०शि० में उल्लिखित दोषों से मेल नहीं खाते[४]। अन्यत्र भी पतञ्जलि ने पा० शि० का पाणिनि की कृति के रूप में उल्लेख नहीं किया। इस कारण पाल थीमे का विचार है कि पतञ्जलि पा० शि० की सत्ता से अनभिज्ञ थे[५]। पाणिनि का काल सप्तम शती ईसवी पूर्व आंका गया है[६] और पा० शि० का कर्ता पाणिनि को ही मानना उचित है[७]। इस शिक्षा की कारिका "**अष्टौ स्थानानि**

---

१. मनोमोहन घोष सं०, पा० शि०, भूमिका, पृ० ५०।

२. वही।

३. म० भा० प्रथमाह्निक, पृ० ६६, चौखम्भा सं०।

४. पा० शि० ३२-३७।

५. *Pāṇini and Veda*, p. 86.

६. द्र० व्याकरण प्रकरण के अन्तर्गत।

७. मनोमोहन घोष, वही, पृ० ५०।

वर्णानाम्" का अनुवाद तमिल व्याकरण **तोल्काप्पियम्** (प्रथम शती ई०) में विद्यमान है। शबरस्वामीकृत पूर्वमीमांसा-भाष्य[१] में शब्दोत्पत्ति-विषयक सिद्धान्त पा० शि० के अनुकूल है। भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय[२] में नामोल्लेख के बिना ही पा० शि० का अनुकरण किया गया है। मधुसूदन सरस्वती (१५०० ई०) पाणिनि को ही पा० शि० का कर्ता मानते हैं, यद्यपि पा० शि० की व्याख्या 'शिक्षाप्रकाश' ने इसे पिङ्गल की कृति माना है। शुक्रनीतिकार भी इसे वेदांग के रूप में जानते थे। अतः स्पष्ट है कि पञ्चम शती ई० से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक इस कृति की ख्याति सार्वजनीन हो चुकी थी। भाषा की दृष्टि से इसके प्रयोग ब्राह्मण-कालीन भाषा से बहुत मिलते हैं।

प्रो० लीबिख़ (Liebich) ने सिद्ध किया है कि पाणिनि-व्याकरण के नियम ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाषा पर लागू होते हैं[3]। पा० शि० के कुछेक वैदिक प्रयोगों से प्रमाणित होता है कि यह रचना बहुत प्राचीन है। सम्भवतः अष्टाध्यायी के समान ही पा० शि० भी स्वरचिह्नों से युक्त थी[४]। अनुष्टुभ् छन्द के प्रयोग के आधार पर इसे अर्वाचीन रचना मानना[५] उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इसमें प्रयुक्त अनुष्टुभ् बड़ा अव्यवस्थित है, जिससे इसकी प्राचीनता ही सिद्ध होती है[६]। वेबर[७] तथा मैक्समूलर[८] इसे वेदांग मानने को तैय्यार नहीं।

सी० वी० वैद्य (हि० सं० लिट्०, भाग १, खण्ड ३, पृ० ८) इसे बहुत प्राचीन तो मानते हैं, किन्तु इसे वेदांग का दर्जा देने को तैय्यार नहीं। सिद्धेश्वर वर्मा (*Critical Studies, loc. cit.*) तथा डा० रघुवीर[९] भी इसे वेदांग नहीं मानते, किन्तु परम्परा इसे वेदांग के रूप में स्वीकार कर चुकी है।

---

[१] पूर्वमीमांसाभाष्य १, १, १२।

[२] वा० प० १, ४७।

[३] *Papers on Pāṇini*, p. 38.

[४] मनोमोहन घोष, वही, पृ० ४२।

[५] मैक्समूलर, हि० एं० सं० लिट्०, पृ० १४५।

[६] घोष, वही।

[७] *I. S. IV*, p. 435।

[८] *H. A. S. L.*, p. 145।

[९] *J. R. A. S.*, 1931, p. 653 ff.

मनोमोहन घोष की सम्मति में पा० शि० स्वयं पाणिनि की ही कृति है, क्योंकि इसमें पा० के अनुरूप ही स्वरों की अच् संज्ञा तथा स्पर्शों की 'कु, चु, टु, तु, पु' संज्ञाएं की गयी हैं। यहाँ अनुनासिक को भी वर्णमाला के अंग के रूप में गिनाया गया है, जबकि पा० ने इसकी विशेष संज्ञा की है (पा० १, १, ८)। पा० (८, ४, १) के अनुसार ऋ और ष् के बाद 'न्' को 'ण्' हो जाता है। अतः अनुमान किया जा सकता है कि 'ऋ' मूर्धन्य वर्ण है। पा० शि० (११) में भी 'ऋ' तथा 'ष्' को मूर्धन्य वर्ण माना गया है, जबकि प्रातिशाख्यों में 'ऋ' को दन्तमूलीय या वर्त्स्य कहा गया है। पा० के अनुरूप ही पा० शि० में भी ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत का प्रयोग किया गया है।

अतः इन सभी युक्तियों के आधार पर पा० शि० स्वयं पा० की रचना सिद्ध होती है।[1]

किन्तु ये युक्तियां विद्वज्जनों पर प्रभावी सिद्ध नहीं हो सकीं। पा० शि० का पाठ है :—

अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टाः शलः स्मृताः ॥ (१६)
शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानात् ॥ (१७)

यहाँ अचों को अस्पृष्ट, यणों को ईषत्स्पृष्ट, शलों (श्, ष्, स्, ह्) को नेमस्पृष्ट तथा अन्य हलों को स्पृष्ट कहा गया है।

किन्तु पा० ने 'अचों' तथा 'हलों' की पहचान उनके आभ्यन्तर प्रयत्नों के आधार पर कहीं नहीं की। अतः शिक्षा का पा० व्या० के साथ साम्य सिद्ध नहीं होता।

यद्यपि एम० डी० पण्डित (*Pāṇini : A Statistical Picture of Sanskrit Sounds*; Festschrift R. N. Dandekar, p. 129-138), जे० डी० सिंह, (*The Basis of Sanskrit Phonology, A C I L*, pp. 145-153) तथा कुछ अन्य लोग इसे पाणिनि की कृति मानते हैं, तो भी अधिकांश विद्वान् इसे पाणिनीय व्याकरणानुसारिणी पश्चात्कालिकी रचना स्वीकार करते हैं (मीमांसक, शिक्षा-सूत्राणि, भूमिका, पृ० ५-६), बेल्वल्कर (सिस्टम्स०, पृ० २७)।[2]

---

[1] पा० शि०, पृ० ८।

[2] See George Cardona, *Pāṇini : A Survey of Research*, pp. 179-180.

इस शिक्षा के पांच संस्करण उपलब्ध हैं :—

(१) **अग्निपुराण सं०**—इसमें २१½ कारिकाएं हैं, जिनमें से १-३ अ, १०, ४ब-६अ, ८-१३ अ, १५ अ, १६ ब, १७, १८ कारिकाएं अ० प्रा० १ ब-१०, १७-२१स से मेल खाती हैं। अ० प्रा० में एक पूरी कारिका (१४) तथा ४ अन्य (७ब, १३ब, १५ब-१६अ) कारिकाएं नहीं पायी जातीं। अग्निपुराण का समय ८०० ई० माना जाता है[1]।

(२) **पञ्जिका सं०**—इसमें व्याख्याकार ने पा० शि० के मूल को न देकर केवल कारिकाओं के आरम्भ के प्रतीक दिये हैं। इसमें २३ कारिकाएं ही प्रतीत होती हैं। इनमें से ४-१९ कारिकाएं पा० शि० की १-१८ कारिकाओं के समान हैं। केवल ८-१० कारिकाएं भिन्न प्रतीत होती हैं। 'शिक्षा-प्रकाश' संस्करण इसका परिवर्धित संस्करण प्रतीत होता है। इसका समय ८००-१२०० ई० के मध्य में आंका गया है[2]।

(३) **शिक्षा-प्रकाश** संस्करण में भी व्याख्याकार ने पूरे पाठ के स्थान पर केवल प्रतीक ही प्रस्तुत किये हैं। इस मूल पाठ के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता, यह केवल अनुमान पर आधृत है। न ही कारिकाओं के क्रम के विषय में कोई निर्णायक मत व्यक्त किया जा सकता है। इसकी ३२ कारिकाएं याजुष संस्करण की ३५ कारिकाओं के अत्यन्त समान हैं। इसका रचनाकाल पञ्जिका से पश्चाद्वर्ती है। इस परिणाम का मुख्य कारण इसका परिवर्धित रूप ही है, तो भी इसका रचना-काल दशमी शती से पूर्ववर्ती मानने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि इसमें ऋक्० प्रा० के व्याख्याकार विष्णुमित्र की व्याख्या से एक लम्बा सन्दर्भ उद्धृत किया गया है, जिसका काल उवट (११०० ई०) के काल से कुछ ही प्राचीन ठहरता है। अतः 'प्रकाश' का रचनाकाल १२०० ई० के आसपास माना गया है[3]। मधुसूदन सरस्वती (१५०० ई०) ने इसे 'पञ्चखण्डात्मिका' कहा है[4]।

(४) **याजुष** संस्करण में ३५ कारिकाएं हैं। यह 'लघु पाठ' कहलाता है।

---

[1] एम० घोष, पा० शि० भूमिका, पृ० १३।

[2] वही।

[3] वही, पृ० १५।

[4] वेबर-सम्पा०, इण्डिस्टु० ४, पृ० ३४५ से।

(५) ऋक् सं० में ६० कारिकाएं हैं तथा कोई भी उपलब्ध हस्तलेख सं० १८३३ से प्राचीन न होने के कारण इसका रचना-काल अठारहवीं शती से पूर्व नहीं माना गया[1]। इन पांच संस्करणों में १४ कारिकाएं सर्वसामान्य हैं और सम्भवत: केवल १८ श्लोक मूल रचना के हैं[2], तो भी यह रचना अपने समय में वैदिक ध्वनियों के उच्चारण के विषय में पूर्ण मार्गदर्शिका का काम करती थी[3]। इसका पाठ 'वृद्ध' कहलाता है। ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि मूल पा० शि० में लगातार वृद्धि होती आयी है।

5767

इस रचना की एक विशेषता यह है कि इसमें बताये गये ऋ, ए, ओ, र् तथा लृ के स्थान प्रातिशाख्यों में प्रतिपादित स्थानों से भिन्न हैं। ऋ तथा र् को मूर्धन्य कहा गया है,[4] जबकि दूसरों के मत में इनको दन्तमूलीय घोषित किया गया है,[5] तै० प्रा० (२, ४१) में र् का स्थान 'दन्तमूलीय' अथवा 'जिह्वाग्र' का मध्यभाग माना गया है। इसी प्रकार 'ऋ' तथा 'लृ' के विषय में भी मतैक्य नहीं पाया जाता। ऋक्० प्रा० (१, १८) तथा अ० प्रा० (१, २६) में 'ऋ' तथा 'लृ' दोनों का स्थान जिह्वामूल माना गया है। वा० प्रा० (१, ६५; ६९) में 'ऋ' को जिह्वामूलीय या 'वर्त्स्य' कहा गया है, तो ऋक्तन्त्र[1] में 'ऋ' को जिह्वामूलीय कहा गया है, किन्तु 'लृ' की चर्चा ही नहीं की गयी, जबकि पा० शि० इसे दन्त्य ध्वनि मानती है।

प्रतीत होता है कि पाणिनीय परम्परा के ही प्राचीन आचार्यों को ऋ-लृ का भेद अभीष्ट नहीं था, अन्यथा कात्यायन और पतञ्जलि दोनों ही इन्हें सवर्ण मान कर 'होतृ+लृकार:=होतृकार:' सदृश दीर्घसन्धि को मान्यता नहीं देते। ये दोनों ही इन दोनों वर्णों को जिह्वामूलीय ही मानते थे[6]।

'र्' तथा 'ऋ' के मूर्धन्य उच्चारण का सर्वप्रथम उपलभ्य उल्लेख चन्द्रगोमी के 'वर्णसूत्र' में पाया जाता है, जिसकी निम्न सीमा लीबिख़ (Liebich) के अनुसार

---

१. एम० घोष, वही, पृ० १६, इसका सम्पादन भी वेबर ने किया है।

२. वही, पृ० १६।

३. वही, पृ० ४०।

४. पा० शि० १७।

५. आपि० शि० १४; अ० प्रा० १, २८; तै० प्रा० २, ४१; वा० प्रा० १, ६८; ऋक्० प्रा० १, १८ (उवट); तु० : **'रेफो दन्तमूलीय एकेषाम्'** पा० शि० १, १० (सूत्र)।

६. सिद्धेश्वर वर्मा, प्रा० भा० वै० ध्व०, पृ० ८-९।

सप्तमी शती ई० के लगभग है। यह भी सम्भव है कि 'ऋ' और 'र्' के दोनों उच्चारण प्रचलित रहे हों[1]।

एकार तथा ओकार का सन्ध्यक्षरीय उच्चारण पा० शि० में स्पष्ट प्रतिपादित है,[2] जहां ½ मात्रा तो अकार की कही गयी है, और १½ मात्रा इकार तथा उकार की,[3] किन्तु ऋक्० प्रा०[4] में 'अ' तथा 'इ' एवं 'उ' के संसर्ग के कारण उनकी श्रुति पृथक् न होने से ये सन्ध्यक्षर के समान सुनाई नहीं पड़ते। अत: इनका उच्चारण 'समानाक्षर' के समान प्रतीत होता है[5]।

पा० शि० में ळ् तथा ळ्ह का प्रतिपादन नहीं किया गया, जबकि प्रातिशाख्यों में किया गया है। सम्भवत: ये ध्वनियां द्रविड़ों के प्रभाव के कारण उत्पन्न हुई होंगी[6]। पा० शि० में मुख्यतया निम्न विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

यम (कुं, खुं, गुं, घुं), 'अनुस्वार अनुनासिक, अनुप्रदान, रङ्ग, विवृत्ति, अयोगवाह, वर्णोच्चारण के दोष, नौ प्रकार के स्वरों का विवरण तथा उनका गात्रवीणा (अंगुष्ठादि) पर उच्चारणविधि, एवं स्वरादि के अशुद्ध उच्चारण का दोष प्रभृति विषयों का प्रतिपादन।

रङ्ग का स्वरूप तथा उच्चारण प्रकार ऋक्० तथा याजुष० में वर्णित हैं तथा थोड़े बहुत अन्तर के साथ सौराष्ट्र की नारी द्वारा 'तक्राँꣳ' के उच्चारण के उदाहरणस्वरूप कारिका को नार० शि० तथा माण्डू० शि० तथा या० शि० में भी दिया गया है। तो भी घोष महोदय इसे इस शिक्षा में मौलिक नहीं मानते। अनुस्वार के वैकल्पिक उच्चारण को प्रो० चैटर्जी ने 'reduced nasal' की संज्ञा प्रदान की है[7]।

'**अयोगवाह**' उन ध्वनियों को कहा गया है, जो भाषा में श्रुतिगोचर तो होती हैं किन्तु वर्णसमाम्नाय (शिव सूत्रों) में परिगणित नहीं की गयीं[8]। वा० प्रा०

---

[1] पा० शि० १९; घोष-सम्पा० प्रति संस्करण में १३।

[2] *Vide*, W. S. Allen, *Phonetics in Ancient India*, p. 63.

[3] ऋक्० प्रा० १३, ४०।

[4] वही, पृ० १०-११।

[5] W. S. Allen, *Ibid.*, p. 64.

[6] S. K. Chatterji, *Origin and Development of Bengali Language*, p. 38.

[7] *Ibid.*, p. 350.

[8] पतञ्जलि, म० भा० भाग १, पृ० २८ (कील० सं०)।

में उबट (८, ८) तथा प्रतिज्ञासूत्र (२, १) की व्याख्या में इनकी चर्चा की गयी है।

संस्करण :—(१) वेबर-सम्पादित, इण्डिस्टु०, भाग ४।

(२) शिक्षा-संग्रह में पं० युगल किशोर व्यास द्वारा सम्पादित, शिक्षा-प्रकाशाख्यव्याख्या-सहित, पृ० ३८५-३९३, बनारस, सन् १८९३।

(३) मनोमोहन घोष द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, सन् १९३८, विस्तृत भूमिका तथा समालोचना सामग्री सहित, अत्युत्तम संस्करण।

(४) शिक्षाप्रकाश सहित, वाराणसी से प्रकाशित।

सूत्रात्मिका पाणिनीय शिक्षा

पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध श्लोकात्मिका शिक्षा के अतिरिक्त एक सूत्रात्मिका शिक्षा भी प्रकाश में आई है। श्लोकात्मिका शिक्षा के समान ही सूत्रात्मिका शिक्षा के लघु तथा वृद्ध दो पाठ उपलब्ध होते हैं। जैसा कि पाणिनीय शिक्षा (श्लोकात्मिका) के प्रकरण में सङ्केत किया गया है, युधिष्ठिर मीमांसक के मतानुसार सूत्रात्मिका शिक्षा ही श्लोकात्मिका शिक्षा का मूल आधार है। श्लोकात्मिका शिक्षा के अधिक प्रचलित हो जाने के कारण सूत्रात्मिका शिक्षा का लोप हो गया था। सन् १८७९ (सं० १९३६) में स्वामी दयानन्द को एक हस्तलेख प्राप्त हुआ था, जो अधूरा और जीर्ण था, जिसे उन्होंने सन् १८७९ के अन्त में 'वर्णोच्चारण शिक्षा' के नाम से प्रकाशित किया। मीमांसक के मतानुसार श्लोकात्मिका पा० शि० के आरम्भ में ही कह दिया गया है—**'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा'**, जो इस तथ्य का द्योतक है कि यह पाणिनीय कृति न होकर तन्मतानुसारिणी रचना है। वैसे भी यह पिंगलाचार्य की कृति मानी जाती है।

बहुत समय पश्चात् डा० रघुवीर ने अड्यार पुस्तकालय से प्राप्त आपिशलि-शिक्षा सूत्रों के दो हस्तलेखों के साथ इन पाणिनीयशिक्षा-सूत्रों को प्रकाशित करके उनके पाणिनीयत्व को स्थापित किया। तदनन्तर सन् १९३८ में डा० मनोमोहन घोष ने स्वसम्पादित पा० शि० में इन सूत्रों को कल्पित सिद्ध करने का प्रयास किया, जिसका उत्तर मीमांसक महोदय ने १९५९ ई० में पटना की 'साहित्य' नाम्नी पत्रिका, अङ्क १, में देने का प्रयास किया।

पा० शि० के सूत्र आपिशलि-शिक्षा के सूत्रों के साथ बहुत साम्य रखते हैं। अनेकों सूत्रों का पाठ इतना मिलता है कि दोनों का कर्ता एक ही व्यक्ति

प्रतीत होने लगता है,[1] तो भी पाठभेद पाया जाता है। कुछ सूत्र पा० शि० में ऐसे हैं, जिनके समानान्तर आपि० शि० में कोई भी नहीं है, यथा—

कण्ठ्यात् आस्यमात्रान् इत्येके (१, ७)।
दन्तमूलस्तु तवर्गः (१, ११)।
विवृतकरणा वा (ऊष्माणः) (३, ८)।

पा० शि० सू० के सूत्रात्मक संस्करण में भी श्लोकात्मक संस्करण के समान ही दो पाठ हैं, किन्तु कई ऐसे स्थल भी हैं, जहां वृद्धपाठ में अनुपलभ्य सूत्र लघुपाठ में विद्यमान हैं तथा लघुपाठ के सूत्र वृद्धपाठ के सूत्रों से दीर्घाकार भी हो सकते हैं, यथा—

लघुपाठ	**वृद्धपाठ**
द्वे द्वे वर्णे सन्ध्यक्षराणामारम्भके भवतः, इति	द्विवर्णानि सन्ध्यक्षराणि

लघुपाठ के अनेक सूत्र वृद्धपाठ में नहीं पाये जाते, यथा—

तत्रैते कौशिकीया श्लोकाः—

सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद् विसर्गादिरिहाष्टकः।
अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते॥ इत्यादि।

तै० प्रा० के 'त्रिरत्नभाष्य' नामक भाष्य के रचयिता सोमयार्य ने लिखा है, **सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति इति पाणिनीयेऽपि**[2]। इससे इस सूत्रात्मिका शिक्षा की प्रामाणिकता सिद्ध होती है[3]। पा० व्याकरण के समान ही पा० शि० में भी लघु तथा वृद्ध दो पाठ उपलब्ध होते हैं, जहां वृद्धपाठ के अनेक सूत्र लघुपाठ में पाये जाते हैं, वहां लघुपाठ के अनेक सूत्र वृद्धपाठ में नहीं भी पाये जाते।

इसके अनुसार वर्णमाला में ६३ या ६४ वर्ण हैं। वर्णों के स्थान, करण तथा प्रयत्न का विवरण शिक्षा के प्रथम प्रकरण के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है।

---

१. अमूल्यचरण विद्याभूषण ने इसी भ्रान्ति के कारण पाणिनीयशिक्षा को ही आपिशलि० शिक्षा के नाम से छाप दिया था (१९३९)। द्र० मीमांसक, शिक्षासूत्राणि, सं० २०२४, पृ० ९-१०।

२. मैसूर सं० पृ० ४५०।

३. मीमांसक, शिक्षासूत्राणि, भूमिका पृ० ९।

जहां पा० व्या० में र् का स्थान मूर्धा कहा गया है, वहां पा० शि० में यह विकल्प से 'दन्तमूलीय' कहा गया है[१]। **अनुस्वार** तथा **यमों को नासिक्य** कहा गया है[२]। किन्तु अनुस्वार को **कण्ठ्य-नासिक्य** भी माना जाता था[३], तथा यमों को **नासिक्य-जिह्वामूलीय**[४]। ऋकार में अर्धमात्रा रेफ को मानने वालों के अनुसार ऋवर्ण को **सरेफ** माना जाता था[५]। अन्तःप्रयत्न तथा बाह्यप्रयत्न की चर्चा करते हुए पाणिनीय व्याकरण के अनुरूप ही **श्वासानुप्रदान** तथा नादानुप्रदान का भी उल्लेख किया गया है। 'लृ'-वर्ण का दीर्घ रूप नहीं माना गया[६]। सात्यमुग्रि तथा राणायनीय के अनुसार छन्दोगों में अर्ध **ए** तथा **ओ** के प्रचलन की बात भी कही गयी है,[७] स्पृष्टता, ईषत्स्पृष्टता प्रभृति पन्द्रह वर्णधर्मों की चर्चा के प्रसंग में आपिशलि का उल्लेख किया गया है[८]।

संस्करण :—(१) स्वामी दयानन्द द्वारा प्रकाशित, अधूरा हस्तलेख, १८७९।

(२) रघुवीर सम्पा० पाणिनीय शिक्षा सूत्र, लाहौर।

(३) युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पा० 'शिक्षासूत्राणि' के अन्तर्गत पृ० १०-१८ (वृद्धपाठ) पृ० १९-२३ (लघुपाठ), भारतीय प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर द्वारा प्रकाशित, सं० २०२४ (सन् १९६७)।

---

[१] पा० शि० (सू०) १, १०।

[२] वही, १, १६।

[३] वही, १, १७।

[४] वही, १, १८।

[५] वही, १, १३; द्र० म० भा० ८, ४, १ पर कैय्यट।

[६] वही, ६, ४।

[७] द्र० म० भा० प्रत्या० ३ तथा १, १, ४७ पर।

[८] पा० शि० ८, २६। द्र० आपि० शि० ८, २५-२६।

चतुर्थ अध्याय

प्रातिशाख्य

विषय प्रवेश :

शिक्षा के अन्तर्गत प्रातिशाख्यों की भी गणना की जाती है। शिक्षाग्रन्थों से प्रातिशाख्यों के सम्बन्ध के विषय में उवट का मत है कि शिक्षा में उपदिष्ट वर्ण-समाम्नाय में से जितने वर्णों का उपयोग किसी शाखा में होता है, उनको स्वीकार करके प्रातिशाख्यों में काम में लाया जाता है[1]।

एक शिक्षा में जो उच्चारण आदि से सम्बद्ध नियम सामान्यरूपेण प्रतिपादित किये जाते हैं, उन नियमों को वेद की विशेष शाखाओं में कैसे लागू किया जाए, इसका निर्णय प्रातिशाख्य करते हैं[2]। अतः सिद्ध है कि प्रातिशाख्य शिक्षा पर आधृत हैं।

प्रातिशाख्य शब्द की व्युत्पत्ति "प्रतिशाखं भवं प्रातिशाख्यम्" की जाती है[3], जिससे यह ध्वनि निकलती है कि प्रत्येक शाखा के लिये पृथक्-पृथक् प्रातिशाख्य का निर्माण किया गया होगा। किन्तु वास्तव में एक वेद की कई शाखाओं के लिये एक ही प्रातिशाख्य की रचना की गयी है। जैसे—वाजसनेयि प्रातिशाख्य शुक्लयजुर्वेद की समस्त पन्द्रह शाखाओं के लिए निर्मित माना जाता है[4]। इसी बात को न समझ सकने के कारण ह्विट्ने तथा कीथ अथर्वप्रातिशाख्य में उपलब्ध शौनकीय संहिता से विप्रतिपत्तियों की व्याख्या करने में असमर्थ रहे हैं[5]।

---

[1] ऋक् प्रा० भा० वाराणसी सं० पृ० २५; द्र० तै० प्रा० १, १ पर वै० आ०।

[2] ऋक् प्रा० वही, पृ० २१।

[3] सि० कौ० पा० ४, ३, ५९ पर; सिद्धेश्वर वर्मा, *C. S. P. O.*, p. 12।

[4] अनन्तभट्ट, वा० प्रा०, मद्रास सं० पृ० २-५; वै० आ०, तै० प्रा० ४, ११ पर

> **द्वि-त्रिशाखाविषयत्वेऽपि तदसाधारणतयोपपत्तेः यथा।**
> **बह्वृचानां शाकलबाष्कलकात्मकशाखाद्वयविषयं प्रातिशाख्यं प्रसिद्धम्॥**

[5] ह्विटने अ० प्रा०, आंग्लानुवाद, पृ० ५८३ ; कीथ, तै० सं० (आंग्लानु०) उपोद्घात पृ० XXXVIII ; मैक्समूलर ने भी ऋक् प्रा० तथा ऋग्वेद में मुख्य विषयों पर सामञ्जस्य पर सन्तोष कर लिया (इण्डि० हि० क्वा०, भाग ३ ; पृ० ६११-१२)।

प्रातिशाख्य न केवल शिक्षा पर आधृत हैं, अपितु व्याकरण और कभी-कभी छन्दःशास्त्र पर भी आश्रित देखे जाते हैं[१] । यद्यपि प्रातिशाख्यों में शब्दव्युत्पत्ति नहीं पायी जाती, तो भी शब्द की व्याकरण-संगत व्युत्पत्ति ही उनके ध्वनिशास्त्रीय प्रतिपादनों का मूल आधार है । वास्तव में प्रातिशाख्य अत्यन्त विकसित व्याकरण शास्त्र पर आश्रित है[२] । प्रातिशाख्यों की मूलभित्ति **पदपाठ** है, जिसका निर्माण व्याकरण के ज्ञान के बिना असंभव है । उवट ने वा० प्रा० को व्याकरण तथा ध्वनिशास्त्र का सर्वोत्तम सम्मिश्रण कहा है[३] । इस विषय में यह विचार[४] असंगत है कि प्रातिशाख्य व्याकरण से सर्वथा भिन्न हैं । अथर्वप्रातिशाख्य[५] में स्पष्ट कहा गया है कि संहितापाठ तथा पदपाठ में पाये जाने वाले नामों, आख्यातों, उपसर्गों तथा निपातों का वर्णन ही इस रचना का उद्देश्य है । अतः प्रातिशाख्य व्याकरण तथा शिक्षा दोनों पर आश्रित हैं,[६] किन्तु स्वतन्त्र रूप से इनमें अविहित विषयों का विधान करके प्रातिशाख्य इन दोनों के पूरक बन गये हैं[७] । किन्तु इस विषय में इस भ्रान्ति का निवारण आवश्यक है कि चाहे प्रातिशाख्य वास्तविक व्याकरण न हों, तो भी ये व्याकरण-विषयक रचनाएं हैं[८] । वस्तुतः प्रातिशाख्य शुद्ध शिक्षा (उच्चारण)—शास्त्र के ग्रन्थ हैं (Manomohan Ghosh, 'Pāṇinīya Śikṣā, Intro. p. XLIX), फिर चाहे इनमें व्याकरण विषयक सन्दर्भ हों, चाहे व्याकरण पर आधृत, चाहे छन्दःशास्त्र से सम्बद्ध हों, चाहे दैवतशास्त्र से, इनका मुख्य उद्देश्य सदा उच्चारण की शुद्धि रहा है, जिसका सीधा सम्बन्ध शिक्षाशास्त्र से है, जिसमें अनेकशः इस आशय को व्यक्त किया गया है—

"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।"
(पा० शि० ५२—घोष सं०)

प्रातिशाख्यों को पारिषद या पार्षद[९] भी कहा जाता है, क्योंकि इनका निर्माण वैदिक शाखाओं के अध्येताओं के संघों या चरणों द्वारा स्थापित विद्वत्-

---

[१] ऋक् प्रा०, पटल १६-१८ ।

[२] बैन्फे, गो० गेल० औज़०, १८५९, पृ० १०२, १०३, १०११, १०१२ ।

[३] वा० प्रा० १, १६९ ।

[४] गोल्डस्टुकर, पाणिनि, पृ० १९५-१९७ ।

[५] च० अ० १, १ ।

[६] द्र० तै० प्रा० १९, ५ ; २४, ४ पर वै० आ० ।

[७] उवट, ऋक् प्रा० भा० पृ० २३ ।

[८] '(Winternitz H. I. L. Vol. III, p. 381-82 ; L. Sarup, *The Nighaṇṭu and the Nirukta*, Eng. Tr. London, 1921, p. 220; S. Varma, *Critical Studies* ..., p. 14-15 ; Sūrya Kānta Shastri, *The Ṛktantra*, Intro. p. 1-2).

[९] निरुक्त, १, १७ ।

परिषदों में किया जाता था[1]। एक चरण के सदस्य एक वेद की विभिन्न शाखाओं[2] से भी सम्बद्ध हो सकते थे। अतः प्रातिशाख्य चरण के नाम से भी प्रसिद्ध हो जाते थे। यद्यपि प्रत्येक प्रातिशाख्य को पार्षद कह सकते हैं किन्तु प्रत्येक पार्षद को प्रातिशाख्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परिषदें प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों की रचना भी करती थीं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है एक प्रातिशाख्य एक वेद की कई शाखाओं से सम्बद्ध होता है, जबकि शिक्षा, कुछ एक अपवादों के अतिरिक्त, किसी विशेष वेद से स्वल्प सम्बन्ध ही रखती है। ये अनेक अंशों में प्रातिशाख्यों की पूरक हैं[3]। तो भी वर्तमान शिक्षाग्रन्थ अधिकांशतः वर्तमान प्रातिशाख्यों से अवरकालिक हैं, और यदि शिक्षा और प्रातिशाख्य में मतभेद पाया जाये, तो शिक्षा कम प्रामाणिक मानी जानी चाहिये[4]।

प्रातिशाख्यों के रचना-काल के विषय में मतभेद पाया जाता है। भारतीय परम्परा के अनुसार इन वैदिक रचनाओं को पाणिनि से पूर्वकालिक माना जाता है[5], किन्तु कई आधुनिक समीक्षक वर्तमान रूप में इन रचनाओं को पाणिनि से पूर्व मानने को तैयार नहीं हैं। उनके मत में अपने प्राचीनतम रूप में प्रातिशाख्य काफी पुराने हैं, किन्तु समय के साथ-साथ इनमें अनेक परिवर्तन, परिवर्धन हो जाने के कारण वर्तमान प्रातिशाख्यों का समय सामान्यतः ५०० ई० पू० तथा १५० ई० पू० के मध्य में मानना उचित है[6]। किन्तु इनकी इस मान्यता के पक्ष में कल्पना के अतिरिक्त कोई पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया है।

---

[1] तु० दुर्गाचार्य, निरुक्त १, १७ की व्याख्या।

[2] शाखाओं के विषय में द्र० इ० स्टु० १, १५२; २९६ ; ३, २७७-७८; १३, ४३४-३५; ओ० पो० ४,२-१३; इ० लिट्० गै० पृ० १७०; मैक्समूलर, ए० सं० लिट्० पृ० ३७१; आर० एल० मित्र, गो० ब्रा०, उपोद्घात पृ० ६; ब्लूमफील्ड, जे० ए० ओ० एस० ११, ३७७-७८; "प्रातिशाख्यं" की व्युत्पत्ति 'शाखां शाखां प्रति इति प्रतिशाखं, तत्र भवं प्रातिशाख्यम्' की जाती है। इसका अर्थ 'एक-एक' शाखा से सम्बद्ध के स्थान पर 'प्रत्येक शाखा से सम्बद्ध' करना अधिक संगत है।

[3] तु० कील हार्न, आ इ० ऐं० भाग ५, पृ० १४१-१४४ ; १९३-२००।

[4] सर्व० शि० ४९।

[5] कीथ के मत में तै० प्रा० यास्क से भी प्राचीन है और यास्क को इसका ज्ञान था, तै० सं० अनु०, उपोद्० पृ० ४१।

[6] सिद्धेश्वर वर्मा, क्रि० स्ट० उपोद्०; सूर्यकान्त, अ० प्रा०, उपोद्०, पृ० ६६।

रौथ[1], वेबर[2] मैक्समूलर[3] ने प्रातिशाख्यों को पाणिनि से प्राचीन सिद्ध करने का प्रयास किया है। गोल्डस्टुकर (पाणिनि, पृ० १८३ अग्रे) हॉग[4], बर्नेल[5] ने पाणिनि को प्राचीन सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क किये। वाकरनागल[6] तथा मैक्डानल[7] ने वेबर के पक्ष को प्रबल-पुष्टि प्रदान की। १९१९ में लीबिख[8] ने वेबर का पक्ष ग्रहण किया। किन्तु पॉल थीमे[9] ने इसका विरोध किया। ह्विट्ने दुविधा में पड़े रहे (चतुरध्यायिका, पृ० २४९) किन्तु कीथ ने वेबर का पक्ष पुष्ट किया (वेद ऑफ दि ब्लैक यजु०, उपोद्घात पृ० ४०)।

ऋक्प्रातिशाख्य अवश्य ही पाणिनि से पूर्व कालिक है[10]। तै० प्रा० यास्क से भी प्राचीन है और सम्भवतः सर्वप्राचीन प्रातिशाख्य है[11]। वा० प्रा० की शैली निश्चय ही पाणिनि और कात्यायन की शैली से पुरानी है। अथर्व-प्रातिशाख्य भी यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से पाणिनि के अधिक निकटस्थ है[12], तो भी इसके अनेक प्रयोग आर्षकोटि में आते हैं, अतः हमारा मत है कि इनमें से कोई भी रचना ५०० ई० पू० से अर्वाचीन नहीं कही जा सकती। सामवेदीय प्रातिशाख्यों के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है।

प्रातिशाख्यों का मुख्य विषय पदपाठ में पठित पदों के उच्चारण, स्वरसन्धान तथा ह्रस्व-दीर्घ-विधान है। दूसरा उन पदों के वाक्यरूप में संहृति के समय उनमें होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन है। संहृति अनेक प्रकार की होती है—पद,

---

१. *Zur Literatur und Geschichte des Veda*, p. 55 f.

२. I. S. 4, p. 102 f.

३. ऋक् प्रा० उपोद्० पृ० ४-१७; हि० एं० सं० लिट्०, पृ० १५०-१५१।

४. *Uber das Wesen des Wedischen Accent.*

५. ऋक् तन्त्र, उपोद्घात पृ० ५६।

६. Alt. Gr. I, p. Lxii.

७. संस्कृत लिट्० पृ० २६६।

८. *Zur Einfuhrung*, p. 30 f.

९. पा० वे० पृ० ८१-९८।

१०. द्र० मैक्समूलर, इ० हि० क्वा०, ३, पृ० ६२० से ७६३; लीविख, लुई रेनु द्वारा, वेदिक इण्डिया में उल्लिखित, पृ० ४७; वेबर, इ० स्टु० ५, पृ० १०२ और आगे; बेन्फे गो० गेल० औज १८५९, पृ० १६०३ अग्रे।

११. कीथ, वही।

१२. पॉल थीमे, पाणिनि एण्ड वेद, पृ० ९५-९८।

अक्षर, वर्ण तथा अंग—ये चार प्रकार की सन्धियां प्रसिद्ध हैं[१]। पदपाठ को संहिता के रूप में परिवर्तन करने से सम्बद्ध नियमों का विवेचन तथा उच्चारणजन्य विकारों की चर्चा इन प्रातिशाख्यों में की गई है। केवल अथर्व-प्रातिशाख्य संहिता-पाठ से पदपाठ बनाता है।

इन ग्रन्थों की रचना का उद्देश्य मन्त्रों के उच्चारण आदि से सम्बद्ध उन विकृतियों की रोकथाम करना था, जो समय के साथ-साथ वैदिक सम्प्रदायों में व्याप्त होने लगी थी। इस कार्य में इनको अद्भुत सफलता मिली, किन्तु इससे पूर्व जो विकृतियां आ चुकी थीं उनसे सर्वथा छुटकारा पाना असम्भव था और इन ग्रन्थों की रचना के बाद भी कुछ समय तक इस दिशा में विकार या विकास का क्रम सर्वथा अवरुद्ध नहीं हो सका, चलता ही रहा[२]। ध्वनिशास्त्र के क्षेत्र में इन प्रारम्भिक आचार्यों की दृष्टि अधिक पैनी और इस विषय का ज्ञान इतना प्रौढ़ था कि आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ ध्वनिशास्त्री **स्वीट** भी इनसे बहुत कुछ सीख सकते थे[३]।

प्रातिशाख्यों में यद्यपि वर्णमाला शिक्षा-रचनाओं से ली गई है, तो भी उनके उच्चारण से सम्बद्ध स्थान, करण, प्रयत्न, नाद आदि पारिभाषिक विषयों पर स्वतन्त्रता-पूर्वक सूक्ष्म विचार किया गया है। ऊष्म वर्णों के उच्चारण की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इनका उच्चारण स्थान·········स्पर्शों का उच्चारण स्थान ही है[४], किन्तु अन्तर यह है कि इस अवस्था में करण (जिह्वा) का मध्य भाग विवृत होता है[५]। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के इस वचन की ह्विट्ने ने व्यर्थ आलोचना की है[६]। इस विषय में अथर्वप्रातिशाख्य का यह शब्दचित्र बड़ा मार्मिक है कि 'षकार के उच्चारण में जिह्वा द्रोणी का रूप धारण कर लेती है[७]'। इसी प्रकार टवर्ग के उच्चारण के विषय में '**मूर्धन्याः प्रतिवेष्ट्याग्रम्**'[८] कह कर यह स्पष्ट कर दिया है कि मूर्धा को स्पर्श करने के अतिरिक्त जिह्वा के अग्रभाग को पीछे की ओर मोड़ने का एक और प्रयत्न करना होता है। यकार के उच्चारण

---

[१] तै० प्रा० २४, १-४ ; ह्विटने ने इन सूत्रों को समझे बिना इनको व्यर्थ कह दिया है।

[२] Vedic Variants, Pt. 2, *Phonetics*, Ch. I, Sections 20-43.

[३] ऐलन, वही, पृ० ७।

[४] **'स्पर्शस्थानस्थानेषूष्माण आनुपूर्व्येण'** (तै० प्रा० २, ४४)।

[५] **'करणमध्ये तु विवृतम्'**—वही, (२, ४५)।

[६] ऐलन, वही पृ० २६।

[७] **'षकारस्य तु द्रोणिका'**—अ० प्रा० १, २३।

[८] वा० प्रा० १, ७८ ; तै० प्रा० २, ३७ ; अ० प्रा० १, २२।

के विषय में तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का वचन सर्वथा वैज्ञानिक है कि इसमें जिह्वा के मध्य भाग के दोनों किनारे तालु का स्पर्श करते हैं[1]। ये उच्चारण-प्रक्रियाएं केवल कल्पना या व्यक्तिगत विचार के रूप में वर्णित नहीं हैं, अपितु वास्तविक उच्चारण पर आधृत हैं। अथर्व प्रातिशाख्य में स्वरों का प्रयत्न **विवृत** कहा गया है, किन्तु व्यासशिक्षा में उकार के उच्चारण में ओष्ठों के स्पर्श की चर्चा की गयी है[2]। अतः प्रातिशाख्य में मतान्तर के रूप में स्वरों को स्पृष्ट भी कहा गया है[3]।

वर्णोच्चारण की प्रक्रिया में '**नाद**' की पहचान भारतीय ध्वनिशास्त्रियों की ध्वनि-विज्ञान को सर्वश्रेष्ठ देन है[4]। कण्ठ के **संवृत** होने पर **नाद** होता है और **विवृत** होने पर **श्वास**[5]। इस विषय में ध्यान देने की बात यह है कि '**नाद**' और '**घोष**' में कोई अन्तर नहीं किया गया है। किन्तु बाद के वैयाकरणों ने '**नाद**' और '**घोष**' को पृथक्-पृथक् मानकर भूल की है[6]। यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि '**श्वास**' **अघोषवत्** व्यञ्जनों में '**अनुप्रदान**' होता है और '**नाद**' **घोषवत्** व्यञ्जनों तथा स्वरों में[7]। कण्ठ की विवृत तथा संवृत अवस्थाओं के मध्य की स्थिति में **श्वास** और **नाद** दोनों उत्पन्न होते हैं[8]। हकार के उच्चारण में अधिक **श्वास** तथा **अघोष**—सादृश्य को दोषपूर्ण बताया गया है[9]। मैक्समूलर और ह्विट्ने दोनों ने ही इस प्रकार के हकार के उच्चारण को असम्भव कहा है, जिसमें **श्वास** और **नाद** दोनों की प्रतीति होती है[10] कि नाद-युक्त हकार का उच्चारण न केवल सम्भव है[11], अपितु संस्कृत के लिये एक ऐतिहासिक तथ्य है[12]।

---

१. तै० प्रा० २, ४०; '**तालौ जिह्वामध्यान्ताभ्यां यकारे**'।

१. व्या० शि० २९४; ल्यूडर्स, पृ० ९४।

३. अ० प्रा० १, ३२-३३; '**स्वराणाञ्च**', '**एके स्पृष्टम्**'।

४. ऐलन, वही, पृ० ३३।

५. '**संवृते कण्ठे नाद: क्रियते ; विवृते श्वास:**'—तै० प्रा० २,४-५; ऋक् प्रा० १३,१-२।

६. सि० कौ० ११।

७. अ० प्रा० १, १२-१३।

८. ऋक् प्रा० १३, २।

९. ऋक् प्रा० १४, २८।

१०. मैक्समूलर ऋक् प्रा० १४, २८ पर; ह्विट्ने, अ० प्रा० १, १३ पर।

११. Western and Wald, '*Practical Phonetics for African languages*', Para 250; Allen, ibid II.

१२. Vide, Edgerten, *Sanskrit Historical Phonology*, Para 45 ff; नादयुक्त 'ह' तथा अघोषवत् 'ह' (:) के उच्चारण के विषय में द्र० ऋक् प्रा० १, ३९-४०; ऋक्तन्त्र २-३; पा० शि० १६; तु० सर्व० शि० ४२; विसर्ग के विषय में द्र० तै० प्रा० २, ४६-४८; अ० प्रा० १, १९; तु० ऋक् प्रा० १४, ३० जहाँ विसर्ग के उच्चारण में '**निरस्त**' दोष की चर्चा है।

अनुनासिक, अनुस्वार तथा **रङ्ग** की उत्पत्ति की प्रक्रिया, वर्णमाला में इनका स्थान, उच्चारण का प्रकार, सन्धिज विकार आदि ध्वनिविज्ञान से सम्बद्ध जटिल समस्याओं के विषय में अनेक मतमतान्तरों का निरूपण प्रातिशाख्यों में किया गया है[१]। **अनुस्वार** के विषय में इतनी जटिल समस्याएं हैं कि उनके विषय में मतभेद तथा अस्पष्टता का होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। डा० ऐलन लिखते हैं—

> In view of their high standard of competence, it seems fair to assume that the phonetic problem in question was a particular difficult one, complicated perhaps by multiple contextual, dialectal and personal fluctuations (ibid., p. 46)

अर्थात् उन लोगों की योग्यता के उच्च स्तर को देखते हुए यह कल्पना करना अधिक संगत प्रतीत होता है कि एतद्विषयक समस्या कुछ विशेष कठिन होगी, जो सम्भवत: विविध प्रकार की प्रकरणगत, बोलीगत, तथा वैयक्तिक अस्थिरताओं के कारण और भी उलझ गयी थी।

नासिक्य स्वर तो अधिक दृष्टिगत होते नहीं, केवल विशेष-विशेष सन्धिस्थलों में ही प्रकट होते हैं यथा **'लोकाँ२।।अकल्पयन्'**[२] अथवा **'शत्रूँ२।।रप'**[३]। इस विषय में अनुनासिकोपद्य **विवृत्तियां** भी ध्यान देने योग्य हैं[४] यथा **'सचाँ उद्यत्'**[५] अकार आदि आठ **अप्रगृह्य** स्वरों को अवसान में **अनुनासिक** करने का विधान है[६] यथा—'ईड्यो नूतनैरुतँ'[७]। किन्तु यह विधान वैकल्पिक प्रतीत होता है और वह भी केवल प्लुतस्वरों पर लागू होता है[८]। नासिक्य के सम्पर्क में आने पर भी वर्णों में अनुनासिकत्व उत्पन्न हो जाता है, जो दोष है और इसका परिहार आवश्यक है[९]।

---

१. तै० प्रा० २, ५२; ऋक् प्रा० १, ३६ ; आदि।

२. वा० सं० ३१, १३।

३. वा० सं० ७, २७।

४. ऋक् प्रा० २, ६७।

५. ऋग्वेद ७, ८१, २।

६. ऋक् प्रा० १, ६३।

७. ऋग्वेद १, १, २; तु० तै० प्रा० १५, ६-८; पा० ८, ४, ५७।

८. ऋक् प्रा० १, ६४; सर्व शिक्षा ४६—**'प्लुतोऽवर्ण: पदान्तस्थो नासिक्यो रङ्गसंज्ञक:'**।

९. ऋक् प्रा० १४, ५६; तु० वही, १४, ९।

अनुस्वार को व्यञ्जन माना जाये या स्वर, इस विषय पर भी मतभेद था[1]। व्याडि इसके नासिक्य या अनुनासिक होने के विषय में ही सन्देह करते थे[2]।

रकार भी एक विवादास्पद वर्ण है। कोई तो इसका उच्चारणस्थान **'दन्तमूल'** मानता था[3] तो कोई बर्स्व (वर्त्स)[4], अन्य इसका स्थान दन्त भी मानते थे[5]। किसी-किसी शाखा में रेफ **मूर्धन्य** भी माना जाता था[6]।

इस प्रकार अनेक विषयों पर प्रातिशाख्यों ने न केवल महत्त्वपूर्ण निर्णय दिये हैं, अपितु विवादास्पद विषयों पर मतभेदों को भी हमारे सम्मुख प्रस्तुत करके अपने समय की तत्तद्विषयक परिस्थितियों पर भी प्रकाश डाल कर ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया है।

ध्वनि संबन्धी अनेक समस्याओं पर प्रकाश डालने में प्रातिशाख्यों का महत्त्व इतना अधिक है कि आधुनिक ध्वनिवैज्ञानिक भी यह कहने को बाध्य हुए हैं कि—

'ध्वनिशास्त्र के क्षेत्र में प्रारम्भिक आचार्यों की दृष्टि इतनी अधिक पैनी और उनका इस विषय का ज्ञान इतना प्रौढ़ था कि आधुनिक काल के ध्वनिवैज्ञानिकों के मूर्धन्य **डा० स्वीट** भी उनसे बहुत कुछ सीख सकते थे'[7]। इस समय निम्नलिखित प्रातिशाख्यों से हम परिचित हैं। जिनमें से आठ प्रातिशाख्य तो उपलब्ध हैं और प्रकाशित हो चुके हैं। उपलब्ध तथा प्रकाशित प्रातिशाख्य ये हैं—

(१) ऋक् प्रातिशाख्य—यह शाकल शाखीय है, किन्तु तै०प्रा० (४,११) के वैदिकाभरण भाष्य में इसे वाष्कल शाखीय भी कहा गया है। दूसरी ओर शां० श्रौ० सू० (१२, १३, ५) के भाष्यकार वरदत्तपुत्र आनर्तीय के भाष्य में तथा शां० श्रौ० सू० (१, २, ५) में अन्य वाष्कल शाखीय प्रातिशाख्य का भी उल्लेख किया गया है।

(२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य— औखेय शाखीय।

(३) वाजसनेयि प्रातिशाख्य—वाजसनेयिशाखीय।

---

[1] ऋक् प्रा० १, ५ ; १३, १५।

[2] ऋक् प्रा० १३, ३७।

[3] अ० प्रा० १, २८ ; वा० १, ६८ ; ऋक्तन्त्र ८।

[4] ऋक् प्रा० १, ४६ ; **'वर्त्स (बर्स्व) शब्देन दन्तमूलादुपरिष्टादुच्छूनः प्रदेश उच्यते' (उवट)**।

[5] ऋक् प्रा० १, ४५ ; ऋक् तन्त्र ७।

[6] उवट ऋक् प्रा० १, १।

[7] ऐलन, वही, पृ० ७।

(४) चतुरध्यायिका—अथर्ववेद की शौनकीय शाखा से सम्बद्ध।

(५) अथर्व-प्रातिशाख्य।

(६) ऋक्तन्त्र—सामवेद की कौथुमी शाखा से सम्बद्ध।

(७) सामतन्त्र—सामवेदीय।

(८) पुष्पसूत्र—सामवेदीय।

इनके अतिरिक्त अधोलिखित प्रातिशाख्यों का उल्लेख मिलता है—

(१) सात्यमुग्रि—राणायनीय प्रातिशाख्य—भट्टोजिदीक्षितकृत शब्दकौस्तुभ—(I. १. २ : ५५) द्वारा उद्धृत।

(२) गौतमि प्रातिशाख्य—गौतमि शिक्षा में उल्लिखित।

(३) चारायणीय प्रातिशाख्य—लौगाक्षि गृ० सू० (५, १) पर देवपाल द्वारा उद्धृत।

(४) बाष्कल प्रातिशाख्य—शां० श्रौ० सू० (१२, १३, ५) के भाष्य में उद्धृत।

(५) राणायनीय ऋक्तन्त्र—गोभिल गृ० सू० (२, ८, १४) पर भट्टनारायण द्वारा उद्धृत।

(६) आश्वलायन प्रातिशाख्य का उल्लेख वाजसनेयि प्रातिशाख्य के व्याख्याकार अनन्तदेव ने किया है (१, १)।

(७) शांखायन प्रातिशाख्य नाम से भी एक रचना प्रसिद्ध है (अलवर राजकीय संग्रह ग्रन्थ० १७) इन सभी रचनाओं के विषय में यथासम्भव विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास अगले पृष्ठों में किया जायेगा।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य

शौनककृत ऋग्वेद-प्रातिशाख्य शाकल तथा बाष्कल दोनों शाखाओं से सम्बद्ध है। आश्वलायन, बाष्कल और शांखायन प्रातिशाख्यों का सूत्र केवल नामशेष रह गया है। इसका नामान्तर पर्षद या पार्षद भी प्रसिद्ध है[1]। यद्यपि उवट ने भाष्य करते समय इसको सूत्ररूप दे दिया है, तो भी मूलरूप में यह

---

[1] वर्गद्वयवृत्ति, श्लोक ५।

पद्यात्मक ग्रन्थ है। विद्वानों का विचार है कि इसका प्राचीनतम रूप गद्यात्मक रहा होगा[१]।

पाणिनि ने शौनक[२] तथा शौनकायन[३] नामक पूर्वाचार्यों के नामों की व्युत्पत्तियां दर्शायी हैं और शौनक ने यास्क को छन्दःशास्त्रज्ञ के रूप में उद्धृत किया है।[४] शौनक और यास्क दोनों ही पाणिनि से प्राचीन हैं। दूसरी ओर तैत्तिरीय सर्वानुक्रमणीकार यास्क ने शौनकीय प्रातिशाख्य में निर्दिष्ट छन्दःशास्त्र-विषयक मत का नामोल्लेख-पूर्वक निर्देश किया है—(द्र० निदान सूत्रस्थ छन्दोविचिति के भाष्यकार पेत्ताशास्त्री द्वारा उद्धृत)। यह मत ऋक् प्रा० १६, ७० में निर्दिष्ट है। प्रातिशाख्य शिक्षा के अन्तर्गत होने के कारण व्याकरण से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। अतः यदि शौनक को पाणिनि का पता होता, तो वह प्रसंगवश अनेक अवसरों पर उन्हें स्मरण कर सकते थे, किन्तु ऋक्-प्रातिशाख्य में कहीं भी पाणिनि का उल्लेख नहीं किया गया। न ही यह पाणिनि-सूत्र-पद्धति, पारिभाषिक शब्दावली अथवा रचनाशैली से परिचित प्रतीत होता है[५]। पाणिनि ने शिक्षा से सम्बद्ध अनेक प्रसंगों में ऋक्-प्रातिशाख्य के मूल प्रवर्तक[६] तथा पदकार शाकल्य को उद्धृत किया है। शाकल्य को यास्क भी पदकार के रूप में जानते हैं[७]। ऋक्प्रातिशाख्य का वर्तमान संस्करण शौनक-कृत है। शौनक ने शाकल्य को प्रमाण रूप में अनेक बार उद्धृत किया है। एक स्थान पर शौनक प्राच्य-पाञ्चाल-विवृति के सम्बन्ध में स्थविर शाकल्य से अपना मतभेद भी व्यक्त करते हैं[८]। क्रमहेतुपटल[९] में क्रमपाठ के सम्बन्ध में इस प्रातिशाख्य को 'शाकल' की संज्ञा से स्मरण किया गया है। शाकलों के विचारों को अनेक बार उद्धृत किया गया है[१०]। पाणिनि ने भी अनेक स्थलों पर ऋक्प्रातिशाख्य के पदपाठ-संबन्धी नियमों को पूर्णरूप से

---

१. पॉल थीमे, पा० वे०, भूमिका, पृ० १५ ; लुई रेनु, वेदिक इण्डिया, पृ० ४६।

२. पा० ४, ३, १०६।

३. पा० ४, १, १०२।

४. ऋक् प्रा० १७, ४२।

५. द्र० मंगलदेव, ऋक् प्रा०, भाग २, परिशिष्ट ३।

६. मैक्समूलर, ऋक् प्रा० की भूमिका का अनुवाद, बटकृष्णघोष कृत, इ० हि० क्वा०, भाग ३, पृ० ६०६।

७. निरु० ६, २८।

८. ऋक् प्रा० २, ८१।

९. ११, २१।

१०. यथा १, ७५; ६, १४; २०,२४; २७; ११, ६१।

स्वीकार किया है[1] पाणिनि के सूत्र 'लोपः शाकल्यस्य'[2] का अर्थ ऋक्प्रा०[3] में प्रमाणित होता है। प्रगृह्य स्वरों के विषय में पाणिनि[4] ने शाकल्य के मत को उद्धृत किया है। यद्यपि शाकल्य ने प्रगृह्यों की चर्चा की है[5], तो भी पाणिनि द्वारा उद्धृत मत ऋक्प्रातिशाख्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। पाणिनि के अनुसार शाकल्य के मत में 'अनचि च' प्रभृति सूत्रों से विहित द्वित्व का निषेध किया जाना चाहिये[6]। यह मत वर्तमान प्रातिशाख्य में पाया जाता है[7]। इतना ही नहीं अपितु पाणिनि का सूत्र प्रातिशाख्य के विधान को समझने के लिए टीका का काम करता है[8]।

इस प्रकार जहां कहीं भी पाणिनि ने प्रातिशाख्य को उद्धृत किया है, उसकी पुष्टि वर्तमान ग्रन्थ से होती है। इसके विपरीत प्रातिशाख्य पाणिनि के सम्बन्ध में संकेत तक नहीं किया गया। अतः प्रातिशाख्य पाणिनि से पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। भारतीय परम्परा के अनुसार भी प्रातिशाख्य पाणिनि से प्राचीन माने जाते हैं। गोल्ड-स्टुकर का पाणिनि को प्राचीन सिद्ध करने का प्रयास विफल और व्यर्थ है[9]।

जहां लीबिख़ ऋक् प्रा० को पाणिनि से पूर्वकालीन मानते हैं, वहां ल्यूडर्स इसे तै० प्रा० से अवरकालीन घोषित करते हैं[10]।

किन्तु सम्पूर्ण तै० प्रा० भी जब पूर्वपाणिनि नहीं है, इसके कुछ भाग प्राचीनतर हैं और शेष पाणिनि से भी अवरकालीन हैं, तो फिर ऋक्प्रा० से इस की प्राचीनता को कल्पना और भी दुरूह है[11]।

---

[1] पा० १, १, १६=ऋक् प्रा० १, ६८; पा० १, १, १४ = ऋक् प्रा० १, ६९ ; पा० १, १, १५=ऋक् प्रा० १, ७०; पा० १, १, ११ = ऋक् प्रा० १, ७१ ; पा० १, १, १९=ऋक् प्रा० १, ७२ आदि।

[2] पा० ८, ३, १९।

[3] ऋक् प्रा० २, २५, २८, ३१; तु० वा० प्रा० ४, १२७।

[4] पा० ६, १, १२७।

[5] ऋक् प्रा० २, ५१ से।

[6] पा० ८, ४, ५१।

[7] ६, १४; द्र० उवट भाष्य।

[8] मैक्समूलर, ऋक् प्रा० भूमिका, इ० हि० क्वा० ३, पृ० ६२३।

[9] मैक्समूलर, वही, पृ० ७६६-७६८।

[10] व्या० शि०, पृ० १।

[11] वर्मा, वही, पृ० १०-३२।

पॉल थीमे सम्पूर्ण प्रातिशाख्य साहित्य को पाणिनि से अर्वाचीन घोषित करते हैं[1], जो सर्वथा तथ्य-विपरीत कल्पना मात्र है[2]।

ऋक्-प्रातिशाख्य-विषयसूची

१. **पटल**—वर्णमातृका, समानाक्षर, स्वरव्यञ्जनादि, स्वरभक्ति, रक्तसंज्ञा, संयोगसंज्ञा, वर्णोच्चारणस्थान, सामवश सन्धि, अप्रगृह्य स्वरों का अवसान में अनुनासिकभाव, प्रगृह्यसंज्ञा, रेफि संज्ञा।

२. **पटल**—विवृति, विविध स्वर संधियां—प्रश्लिष्ट; क्षैप्र; उद्ग्राह; भुग्न; प्राच्य-पाञ्चाल-पदवृत्तियां; अभिनिहित सन्धि आदि, प्रकृतिभाव।

३. **पटल**—उदात्तादि स्वर विचार; स्वरित का स्वरूप तथा प्रकार; कम्प; स्वरोच्चारण-विषयक-दोष।

४. **पटल**—व्यञ्जन (वशंगम आस्थापित) सन्धियां, विसर्ग सन्धियां, नकार के विकार—लोप, रेफ, प्रकृतिभाव, विसर्गभाव, पूर्व स्वर का अनुनासिक-भाव—शौद्धाक्षर सन्धियां, पदान्त में दीर्घ आकार को ह्रस्वभाव।

५. **पटल**—नति सन्धि (स को ष) सम्बन्धी नियम।

६. **पटल**—क्रम सन्धि (द्वित्व), अभिनिधान, यम, स्वरभक्ति।

७. **पटल**—ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत विचार, पदान्त-पदादि ह्रस्व को दीर्घ।

८. **पटल**—विविध स्थितियों में ह्रस्व स्वरों का दीर्घीकरण, पादपूर्त्यर्थ दीर्घीकरण, 'व्यूह' के द्वारा सम्पत्करण।

९. **पटल**—समास के पूर्वपदों के अन्त में ह्रस्वों को दीर्घभाव, पदपाठ में अनवगृह्य (अनिङ्ग्य) पदों तथा समस्त पदों के मध्य में स्वरों का दीर्घीभाव।

१०. **पटल**—क्रमपाठ सम्बन्धो नियम।

११. **पटल**—क्रमपाठ सम्बन्धी नियम तथा हेतु।

१२. **पटल**—अपदान्तीय तथा अपदादि वर्णों तथा परस्पर संयोग के **अयोग** वर्णों का विवरण, नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात।

१३. **पटल**—वर्णों के स्थान, करण, प्रयत्नभेद से विविध प्रकार वर्ण-उत्पत्ति प्रकार, मन्द्रादि तीन स्थान, यम विचार, विलम्बित, द्रुतपाठ (वाग्वृत्तियां)।

---

[1] *Pāṇini and Veda*, p. 15.

[2] वर्मा, वही, पृष्ठ ३२।

१४. **पटल**—उच्चारण सम्बन्धी दोष।

१५. **पटल**—वेद पारायण के नियम।

१६. **पटल**—छन्दोनिरूपण, प्रकार (गायत्री उत्कृति तक)।

१७. **पटल**—छन्दों के देवता तथा वर्ण, ऊन पादों का सम्पत्करण, पादविभाग।

१८. **पटल**—प्रगाथ, व्यञ्जनादि का पूर्व-परांगत्व, ऋगवसान के नियम, त्रिष्टुभ्, जगती के ज्ञान की महिमा।

चान्द्रवर्णसूत्र

चन्द्रगोमी-कृत वर्णसूत्रों में वर्णों के स्थानों तथा करणों का मुख्यतया वर्णन किया गया है। चन्द्रगोमी बौद्ध वैयाकरण थे तथा इन्होंने काश्मीर के महाराज अभिमन्यु के समय में उनकी आज्ञा से विलुप्तप्राय महाभाष्य का पुनरुद्धार किया था, जिसकी चर्चा कल्हण ने राजतरंगिणी तथा भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में की है।

जिस प्रकार चन्द्रगोमी ने पाणिनीय व्याकरण के आधार पर अपने आठ अध्यायों वाले व्याकरण की रचना की थी (जिसके सम्प्रति छह अध्याय ही प्राप्य हैं, स्वर तथा वैदिक प्रकरण लुप्त हैं)। उसी प्रकार इन्होंने पाणिनीय शिक्षासूत्रों के आधार पर अपने वर्णसूत्रों की रचना की थी।

युधिष्ठिर मीमांसक के संस्करण में इस रचना के ५१ सूत्र मुद्रित हुए हैं। यहां पाणिनीय व्याकरण में वर्णित वर्णों के स्थानों तथा करणों के अनुरूप ही इनके स्थानों तथा करणों का वर्णन किया गया है, किन्तु जहां पाणिनि ने 'र' को विकल्प से मूर्धन्य तथा दन्तमूलीय कहा है,[1] वहां चन्द्रगोमी ने इसे केवल मूर्धन्य ही माना है। इसी प्रकार पा० शि० में वकार का स्थान विकल्प से दन्तौष्ठ तथा सृक्विणी-स्थान माना है,[2] वहां चन्द्रगोमी ने केवल दन्तौष्ठ ही स्वीकार किया है। पा० शि० में ऋवर्ण को 'सरेफ' संयुक्त-वर्ण माना है[3]। किन्तु चन्द्रगोमी ने इस विषय में कुछ नहीं कहा। इसी प्रकार पा० शि० में ऊष्मों का प्रयत्न विकल्प से 'ईषद्विवृत' तथा 'विवृत' माना है,[4] वहां चन्द्रगोमी ने इन्हें 'विवृत' ही स्वीकार किया है। चन्द्रगोमी ने ३१वां सूत्र स्पष्टतया पा० शि० (सू०) ४, २ के अनुरूप रचा है तथा

---

[1] पा० शि० (सू०) १, ९; १०।

[2] पा० शि० (सू०) १, १३; १४।

[3] पा० शि० (सू०) १, २३।

[4] पा० शि० (सू०) ३, ६; ७।

३६वां सूत्र पा० शि० (सू०) ४, ८ के अनुसार बनाया है तथा ३४वां सूत्र पा० शि० (सू०) ४, ४ तथा ६ के अनुरूप है। जहां पाणिनि ने वर्गों के तृतीय तथा पञ्चम वर्णों में अनुनासिक्य का अन्तर बता कर दोनों के भेद को स्पष्ट कर दिया है, वहां चन्द्रगोमी ने इनको एक ही कोटि में रख कर इस भेद को स्पष्ट नहीं किया। पाणिनि तथा चन्द्रगोमी दोनों ने 'लृ' वर्ण का दीर्घ नहीं माना। किन्तु पश्चात्कालिक भट्टोजिदीक्षित प्रभृति ने अपनी व्याख्या (पा० १, १, ९) में पा० शि० (सू०) से अधिक चन्द्रगोमी का अनुसरण किया प्रतीत होता है। चन्द्रगोमी के वर्णसूत्रों का एक संस्करण रोमन अक्षरों में जर्मनी से प्रकाशित चान्द्रव्याकरण के अन्त में छपा था। द्वितीय संस्करण मनोमोहन घोष ने स्वसम्पादित पाणिनीय शिक्षा के अन्त में प्रकाशित किया है, किन्तु इसमें कहीं-कहीं अपपाठ दृष्टिगोचर होता है[1] (१९३८)।

तृतीय संस्करण युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित 'शिक्षासूत्राणि' के अन्त में मुद्रित (संवत् २०२४) है।

ऋक्प्रातिशाख्य का विषय विवेचन

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, प्रातिशाख्य का मुख्य विषय ध्वनि-शास्त्र तथा पदपाठ के आधार पर संहितापाठ का अध्ययन है, अतः क्रमपाठ आदि को यहां विशेष महत्त्व नहीं दिया गया, क्योंकि न तो यह संहिता के समझने में सहायक है, न ही इस विषय में इसका कोई लाभ या हानि है और न ही यह श्रुतिसिद्ध है[2]। फिर भी दसवें पटल में इसकी विस्तार से चर्चा की गयी है। वर्णों के उच्चारण स्थानों पर विचार करते हुए इस प्रातिशाख्य ने ऋ, ॠ , लृ, लॄ तथा कवर्ग को जिह्वामूलीय माना है[3]। तवर्ग, स, र, ल दन्तमूलीय है[4]। र को वर्त्स्य या दन्तमूल के ऊपर उभरे हुए स्थान से निष्पन्न भी माना जाता था[5]। ऋ के मध्य में तथा ऋ के पूर्वार्ध में र विद्यमान है[6]। वेदमित्र के मत में ङकार के स्थान तालु तथा तथा जिह्वामूल हैं[7]। ह तथा विसर्ग के स्थान के विषय में भी मतभेद है।

---

[1] द्र० **'ओष्ठौ उपध्मानीयोः'** (सू० ११) तथा **'विवृतकण्ठा नादानुप्रदाना (श्वासानु०) अघोषाः'** (सूत्र ३१)।

[2] ऋक् प्रा० ११, ६६ तथा इस पर उवट।

[3] ऋक् प्रा० १, ४१।

[4] ऋक् प्रा० १, ४४-४५।

[5] ऋक् प्रा० १, ४६ ; ऋक्तन्त्र ७-८।

[6] ऋक् प्रा० १३, ३४।

[7] ऋक् प्रा० १, ५१।

शौनक के मत में यह कण्ठ्य वर्ण हैं। किन्तु अन्य आचार्यों के मत में उरस्य[1]। दीर्घ स्वर के अनन्तर विसर्ग का उच्चारण पूर्वस्वर के समस्थान से होना स्वाभाविक है[2], किन्तु यहां इस प्रकार के उच्चारण को दोष माना गया है[3]। अतः उवट ने इस वचन की अन्यथा व्याख्या करते हुए कहा है कि इस विसर्जनीय का अन्य स्थान से उच्चारण देवता भी नहीं कर सकते[4]। व्याडि के मत में अनुस्वार नासिक्य है या अनुनासिक[5]। क्योंकि इसमें स्वरों तथा व्यञ्जनों दोनों के धर्म पाए जाते हैं, अतः अनुस्वार को स्वर अथवा व्यञ्जन मानने के विषय में मतभेद है[6]। पदान्त अप्रगृह्य स्वरों के अनुनासिक उच्चारण की सूचना मिलती है[7]। रक्तसंज्ञक अनुनासिकों के सम्पर्क में आने पर स्वरों का भी रक्तोच्चारण होने लगा था, जिसे दूषित माना गया है[8]। कुछ लोग रङ्ग के पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर का दीर्घउच्चारण करते थे[9]। उसे यहां दूषित घोषित किया गया है[10]। रक्तवर्ण से परे हकार के सोष्म उच्चारण का विधान किया गया है[11]।

अभिनिधान—पदान्त में तथा स्पर्शों के परे रहते अव्यवहित पूर्ववर्ती स्पर्शों तथा रेफ-रहित अन्तःस्थानों के उच्चारण में वर्णसंधारण तथा श्रुति का संवरण किया जाता है, जिसे **अभिनिधान** की संज्ञा दी गयी है[12], यथा—'अवाग् देवाः' में ग् तथा 'उल्कामिव' में ल् के सन्धारण करने का विधान है। घोषवत् **अभिनिधान** से परे नाद की उत्पत्ति होती है, जिसे 'ध्रुव' की संज्ञा दी गयी है[13]। अघोषवत् के बाद ध्रुव की श्रुति नहीं होती[14]। अनुनासिक से परे यह ध्रुव नासिकास्थानीय होता है[15]।

---

१. ऋक्.प्रा० १, ३९-४०।
२. तै० प्रा० २, ४८।
३. ऋक् प्रा० १४, ३०।
४. वही।
५. ऋक् प्रा० १३, ३७।
६. ऋक् प्रा० १, ५।
७. ऋक् प्रा० १, ६३।
८. ऋक् प्रा० १४, ५६।
९. द्र० पा० शि० २७-२८; या० शि० २, ६९; नार० शि० २, ४, ८।
१०. ऋक् प्रा० १४, ५१।
११. ऋक् प्रा० १४, ५७।
१२. ऋक् प्रा० ६, १७-१८।
१३. ऋक् प्रा० ६, ३९।
१४. ऋक् प्रा० ६, ४०।
१५. ऋक् प्रा० ६, ४१।

अन्तःस्थों का ध्रुव पूर्ववर्ण स्वरूप ही होता है[1], यथा, ययँ् ययँ् युजम् (ऋक् २, २५, १) ; वयवँ् वयं ते (ऋग् १०, २२, १२)। व्याडि के मत में **अभिनिधान** का सर्वत्र लोप हो जाता है[2]।

स्वर तथा व्यञ्जन के मध्य में स्थित र् के बाद 'ऋकार वर्ण' **स्वरभक्ति** का उच्चारण होता है[3]। **स्वरभक्ति** का आगम ल् के बाद भी होता है[4]। स्पर्शपरक तथा ऊष्मपरक घोषवत् **अभिनिधान** से परे भी स्वरभक्ति का विधान है[5]। स्वरभक्ति का काल अर्धमात्रा या चौथाई मात्रा माना गया है[6]। यह पूर्वस्वर का अंग होती है[7], तथा इसका स्वरूप पूर्वस्वर अथवा उत्तर स्वर के समान होता है। **अर्थात्** यह केवल ऋकाररूपा ही नहीं होती[8]। कुछ आचार्य स्वरभक्ति का सर्वत्र अभाव मानते हैं, तो अन्य केवल रेफोपध को ही स्वीकार करते हैं[9]।

यम—अनुनासिक स्पर्शों के अनन्तर अनुनासिकों के आने पर दोनों के मध्य में पूर्ववर्ण सदृश आगम को **यम** कहते है[10]। यथा पलिक् क् निः; चख् ख् नथुः; गृ भ् भ् णाति। इसका काल अर्धमात्रा होता है[11]। ह्विट्ने[12] तथा मैक्समूलर[13] ने इस श्रुति को पूर्ववर्ती वर्ण से पूर्व नासिक्य उच्चारण समझ कर इसको मान्यता पर सन्देह किया है, किन्तु वास्तव में यह श्रुति पूर्वस्पर्श के अनन्तर होती है[14]। बाद के सिद्धान्त के अनुसार नासिकामूल से **यम** के उच्चारण में जिह्वामूलीय सदृशी श्रुति ही निकलती है। अतः यद्यपि **यमों** की संख्या बीस होनी चाहिये,

---

[1] ऋक् प्रा० ६, ४२।

[2] ऋक् प्रा० ६, ४३।

[3] ऋक् प्रा० ६, ४६।

[4] उवट, ऋक् प्रा० १, ३२।

[5] ऋक् प्रा० ६, ४७।

[6] ऋक् प्रा० १, ३३-३५ ; ६, ४८-४९।

[7] ऋक् प्रा० १, ३२।

[8] ऋक् प्रा० ६, ५३ ; उवट।

[9] ऋक् प्रा० ६, ५०-५१।

[10] ऋक् प्रा० ६, २९ ; ३२ ; १, ४८ ; तु० वा० प्रा० १, ८८।

[11] ऋक् प्रा० ६, ३३।

[12] अथर्वप्रा० १, ९९ पर।

[13] ऋक् प्रा० ४०५ पर।

[14] तै० प्रा० २१, १२-१३।

तो भी स्वरूपतः **यम** चार ही माने जाते हैं[१], यथा—कँ, खँ, गँ, घँ। कुछ लोग क्शा के स्थान पर ख्या का उच्चारण करते थे[२]। इससे प्रतीत होता है कि शौनक के मत में वर्तमान 'अख्यद्देवः' (ऋग्० ४, १४, १) का रूप उनकी संहिता में 'अक्शद् देवः' था। मैत्रायणी संहिता में 'क्श' दृष्टिगोचर होता है।

एक पूरे पटल (१४) में उच्चारण सम्बन्धी दोषों का व्योरेवार वर्णन किया गया है, जिससे पता चलता है कि यदि प्रातिशाख्यों का निर्माण न किया जाता, तो ऋग्वेद की परम्परा, जो श्रवण तथा उच्चारण पर आधृत है, बहुत दूषित हो जाती। प्राकृत का विकास इसी प्रकार के तथाकथित दोषों के कारण हुआ है। सन्धियों का इस प्रतिशाख्य में न केवल विस्तारपूर्वक वर्णन ही किया गया है[३], अपितु सन्धि की प्रत्येक प्रक्रिया को पारिभाषिक संज्ञा प्रदान की गयी है, जिनमें से बहुतों का दोबारा प्रयोग ग्रन्थ में नहीं किया गया। इस विषय में छांदस दीर्घीकरण का विचार बड़े विस्तार से किया गया है। इस दीर्घीकरण को **सामवश सन्धि** की संज्ञा दी गयी है[४]।

छन्दों की पादपूर्ति के लिए भी नियमों का निर्देश किया गया है कि पाद में कौन-कौन से अक्षरों को दीर्घ करना चाहिये[५]। उन पादों में सन्धिज अन्तःस्थ तथा एकीभूत वर्णों के व्यूहन (सन्धि विच्छेद) के द्वारा अक्षर बढ़ाये जा सकते हैं, जिसे **सम्पत्करण** की संज्ञा दी गयी है[६]।

उदात्तादि स्वरों के स्वरूप तथा परस्पर प्रभाव पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है तथा स्वरित के विविध रूपों की व्याख्या की गयी है।

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, छन्दों के विषय में इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रातिशाख्य में चर्चा नहीं पायी जाती। इसमें छन्दों के प्राजापत्य, दैव, आसुर तथा आर्ष ये चार भेद किये गये हैं तथा प्रत्येक की विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है[७],

---

[१] ऋक् प्रा० ६,२९ तथा ३३ पर उवट; या० शि० पृ० १५५ पर पं० अमरनाथ दीक्षित की टिप्पणियां ; Allen p. 76.

[२] ऋक् प्रा० ६, ५५; द्र० ब्लूमफील्ड, वेदिक वेरियन्ट्स, भाग २, पृ० ९९ ; निरुक्त, २, २ ; ४, ३।

[३] ऋक् प्रा० ७, ८, ९ पटल।

[४] ऋक् प्रा० ७, १।

[५] ऋक् प्रा० ८, ३६-४७।

[६] ऋक् प्रा० ८, ४०।

[७] ऋक् प्रा० १६, १-१३।

किन्तु मुख्यरूप से आर्ष छन्दों का ही विवेचन किया गया है। छन्दों के देवताओं तथा रंगों की चर्चा भी यहां की गयी हैं[१], किन्तु जाति का संकेत नहीं किया गया।

छन्दों के प्रकरण में **गाथा** छन्दों का सविस्तर विवेचन किया गया है और इनके सर्वाधिक भेद-प्रभेदों की व्याख्या यहीं उपलब्ध होती है। इन मिले-जुले छन्दों के नामकरण की प्रक्रिया सर्वथा निर्दोष नहीं कही जा सकती। कहीं तो नाम प्रथम छन्द के अनुसार रखे गये हैं—यथा बृहती+सतो बृहती=**बर्हित**[२], कहीं अन्तिम छन्द के अनुसार, यथा बृहती+विपरीता=विपरीतान्त[३] और कहीं उभय छन्दों के आधार पर, यथा-गायत्री+ककुभ=गायत्रकाकुभ[४]। किन्तु **बर्हित** नाम के कई छन्द हैं, यथा—बृहती+जगती[५], बृहती+अतिजगती,[६] बृहती+यवमध्या[७]। अतः उनमें भेद करना असम्भव है।

ऋक् प्रातिशाख्य का मूलपाठ

ऋक् प्रातिशाख्य के कुल तीन अध्याय हैं, जो अठारह पटलों में विभक्त हैं। ये पटल प्रायः ५-५ पद्यों के वर्गों में अनुभक्त हैं, किन्तु पटलान्त वर्गों में तीन से छह तक पद्य भी पाये जाते हैं। वर्गों के आयाम के इस सिद्धान्त का निर्वाह ११ से १३, १६ तथा १८ पटलों में नहीं किया गया। इस प्रातिशाख्य का इस प्रकार पटलों में विभाजन सर्वथा मौलिक है और स्वयं मूल में उल्लिखित होने के कारण अन्तःसाक्ष्य से प्रमाणित है[८]। इसका वर्गात्मक विभाजन विषयानुसार ही किया गया है।

इस रचना के वर्तमान स्वरूप की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह किया जाता है। विद्वानों के विचार में वर्तमान पद्यात्मक रचना को किसी प्राचीन गद्यात्मक रचना का प्रतिरूप माना जा सकता है[९]। जिन दस आरम्भिक कारिकाओं पर विष्णुमित्र कृत व्याख्या 'वर्गद्वयवृत्ति' उपलब्ध होती है, वे प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि उवट ने अपने भाष्य में इन कारिकाओं को प्रातिशाख्य का अंग न मान कर ही

---

१. ऋक् प्रा० १७, १३-१८।

२. ऋक् प्रा० १८, १।

३. ऋक् प्रा० १८, १५।

४. ऋक् प्रा० १८, ६।

५. ऋक् प्रा० १८, ११।

६. ऋक् प्रा० १८, १२।

७. ऋक् प्रा० १८, १३।

८. ऋक् प्रा० ४, २०; ६, १६; **'पटलेऽस्मिन् विद्यमानम्'**।

९. पॉल थीमे—पा० वे० भूमिका, पृ० १५, लुई रेनु, वेदिक इण्डिया, पृ० ४६।

इनकी व्याख्या नहीं की[1]। किन्तु इसमें उपदिष्ट अक्षरसमाम्नाय के अभाव में **'अष्टौ समानाक्षराण्यादितः'** (ऋक्० प्रा० १,१) तथा **'ततश्चत्वारि सन्ध्यक्षराण्युत्तराणि'** (२, २) तथा **'परेष्वैकारमोजयोः'** (२, १८), **'औकारं युग्मयोः'** (२, १९) की उपपत्ति लगाने के लिए उवट को क्लिष्ट कल्पनाओं द्वारा अक्षरसमाम्नाय का अनुमान ही करना पड़ा है—**'आचार्यप्रवृत्त्या क्रमोऽन्यथाऽनुमीयते'** (पृ० २५), **"सोऽयमाचार्यप्रवृत्त्या पाठक्रमोऽनुमीयमानो लौकिकवर्णसमाम्नायस्य द्विधापाठं गमयति"** (पृ० २६)। वर्गवृत्ति के अनुसार ये दोनों वर्ग प्रातिशाख्य के अंग हैं। **इति वर्णराशिक्रमश्च** (१, १०) की व्याख्या में विष्णुमित्र ने वर्णसमाम्नाय का प्रयोजन बताते हुए उपर्युक्त सूत्रों की ओर निर्देश किया है—वर्णक्रमश्चायमेव वेदितव्य उक्तक्रमेग। वक्ष्यति **ऋकारादयो दश नामिनः स्वराः** (१, ६५) तथा **'परेष्वैकारमोजयोः'** प्रभृति। उवट ने शास्त्र का आरम्भ **'शिक्षाछन्दोव्याकरणम्'** प्रभृति से माता है। तदनन्तर **'अष्टौ समानाक्षराण्यादितः'** का पाठ भी स्वीकार किया है। किन्तु यही कारिकाएं विष्णुमित्र के नाम से प्रसिद्ध 'पार्षद वृत्ति' के कुछ हस्तलेखों में भी उपलब्ध होती हैं, शेष में नहीं। प्रथम प्रकार की पार्षदवृत्ति पर उवट का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इसका 'पटल विभाजन' भी उवट के अनुसार ही है, जबकि द्वितीय प्रकार की वृत्ति में विष्णुमित्र का नाम नहीं है, और उसमें 'पटल विभाजन' भी स्वतंत्र रूप से किया गया है। इस विष्णुमित्र का काल १५-१६ वीं शताब्दी कल्पित किया है[2]। यह देवमित्र का पुत्र तथा चम्पावासी वत्सवंश में उत्पन्न हुआ था (पद्य ५-७)।

मूलप्रातिशाख्य की कुछ-एक कारिकाओं पर उवट ने भाष्य नहीं किया। इनमें से कई-एक को तो लिपिकारों ने ही 'क्षेपक' की संज्ञा दे दी है[3]। या तो इनको 'प्रचलित पद्य' कह सकते हैं, या फिर यह भी सम्भव है कि इनमें से कुछ-एक उवट के उद्धरणों में से मूल में प्रविष्ट हो गए हैं[4]।

समस्त प्रातिशाख्य को तीन स्पष्ट भागों में विभक्त किया जा सकता है (क) १-१२ पटल, (ख) १३-१५ पटल, (ग) १६-१८ पटल।

प्रथम पटल में दिये गये सामान्य नियम केवल प्रथम भाग से ही सम्बद्ध हैं। अतः प्रतीत होता है कि दूसरे दो भागों की परिकल्पना बाद में की गयी थी। ११वां पटल १०वें पटल की व्याख्या के रूप में है तथा उसमें दिये गए कई नियमों

---

[1] द्र० मंगलदेव, ऋक्० प्रा० भाग १, पृ० ४४-५३, वाराणसी, १९५९।

[2] वही, पृ० ५४-५५।

[3] यथा १६वें पटल की ८वीं कारिका में—**'एकोत्तरो यजुर्वर्गः'** इत्यादि; १६, ५१ कारिका का उत्तरार्ध—**'संपाते त्वेति पादान्ते…'**; १२, ८, ९ कारिका; १२, ८ कारिका वा० प्रा० ८, ५४-५५ में सन्निविष्ट है, जहां उवट ने इस पर भाष्य किया है ; कारिका १३, १९-२०। Vide Dr. Mangal Deva, *Introduction to Ṛk. Prā.* p. 26-29, 1922.

[4] मंगलदेव, ऋक् प्रा० भाग १।

के कारण बताने का प्रयास करता है। कई नियम १०वें पटल के नियमों की पुनरावृत्तिमात्र हैं[1]।

क्रमपाठ के विषय में ११वें पटल में ऐसे मत भी स्वीकार किये गये हैं, जिनकी क्रमपाठ सम्बन्धी मुख्य दशम पटल में कोई चर्चा नहीं की गयी[2]। शब्द-विन्यास, रचनाशैली तथा छन्दोयोजना के आधार पर भी ११वां पटल अर्वाचीन प्रतीत होता है[3]। प्रथम दस पटलों की मौलिकता में कोई सन्देह नहीं[4]। १२वें पटल को 'सीमापटल' कहा जाता है। किन्तु इस आधार पर इसे मूल प्रातिशाख्य का अन्तिम पटल मानना[5] युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि यह भी सम्भव है कि पदपाठ के आधार पर संहिता में होने वाले परिवर्तनों से सम्बद्ध पटलों में अन्तिम होने के कारण ही इसे ऐसा नाम दिया गया हो।

द्वितीय भाग (१३-१५) **शिक्षापटल** कहलाता है। यह प्रथम भाग का पूरक है। १५वां पटल मुख्य रूप से ऋग्वेद के स्वाध्याय से सम्बद्ध नियमों का प्रतिपादक होने के कारण **'स्वाध्यायपटल'** या **'ब्रह्मचारिपटल'** कहलाता है। प्रथम भाग का पूरक होते हुए भी कुछ बातें इसके विषय में भी सन्देह उत्पन्न करती हैं।

४, ८२ के अनुसार 'मांश्चत्वे' में नासिक्य को 'अनुनासिक' कहा गया है, जबकि १३, २७ में इसे अनुस्वार माना गया है। उवट ने इस विरोध का परिहार करने के लिए इसे शाखान्तरीय माना है। १, १० में अनुस्वार को ऊष्म वर्णों के अन्तर्गत गिनाया गया है, किन्तु १३, ११ में इसे ऊष्मान्तर्गत नहीं माना गया। १२, २० में परिगणित उपसर्गों का १५, १७ में पुनः परिगणन सर्वथा अनावश्यक है।

तृतीय भाग प्रथम दो भागों से सर्वथा स्वतंत्र है। इसमें छन्दों के विषय में विचार किया गया हैं, जिनकी चर्चा अन्य किसी प्रातिशाख्य में नहीं की गयी। पौर्वापर्य विरोध के कारण सम्भवतः इस भाग को भी बाद का माना जा सकता है। ८, ४० तथा १७, २२-२३ में स्पष्ट विरोध है। पहले में ऊनपाद को पूरा करने के लिए संहिताक्षरों तथा अन्तःस्थाक्षरों—दोनों में **'व्यूह'** या सन्धि के विच्छेद का प्रतिपादन किया गया है, जबकि दूसरे में **व्यूह** केवल संहित-पदों के लिये समादिष्ट है। अन्तःस्थों में सदृश स्वरों के आगम का आदेश दिया गया है। १८, ३२-४० के विषय का १, १९-२६ तथा ३७ में पहले भी प्रतिपादन कर दिया

---

[1] तु० ऋक् प्रा० १०, १२-१४ तथा १०, २८-३०।

[2] ऋक् प्रा० ११, ३३-४५।

[3] मंगलदेव, वही, पृ० ७६-७७।

[4] ह्विट्ने (अथर्व० प्रा० पृ० ७७) का सन्देह निर्मूल है।

[5] मंगलदेव, पृ० ७५।

गया है। १८, ३०-३१ के पद्य १५, १४-१५ की शाब्दिक पुनरावृत्ति से अधिक कुछ नहीं, जो अपने स्थान पर सर्वथा संगत तथा स्वाभाविक हैं। अतः मूल-प्रातिशाख्य में कुछ न कुछ परिवर्तन-परिवर्धन किये गये प्रतीत होते हैं।

भाष्यकार

(१) विष्णुमित्र की पार्षद वृत्ति के आरम्भ में ही आत्रेयकृत वृत्ति का उल्लेख किया गया है। यह आत्रेय कौन है, इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। एक आत्रेय तै० प्रा० (५,३० ; १७,८) तथा मै० प्रा० (५, ३३ ; २, ५ ; ६, ८) में स्मृत है। एक आत्रेय ने तै० सं० का पदपाठ लिखा था। मीमांसक का विचार है कि ये दोनों आत्रेय एक ही हैं। किन्तु ऋक्० प्रा० वृत्तिकार कौन था? यह नहीं कहा जा सकता (व्या० शा० इ०, भाग २, पृ० ३४२)।

(२) विष्णुमित्र ने ऋक्० प्रा० पर वृत्ति लिखी है, जिसे **पार्षदवृत्ति** भी कहते हैं, किन्तु जिसका नाम **'ऋज्वर्था'** है। इस वृति के कई हस्तलेख सुरक्षित हैं। यह केवल दो वर्गों पर अभी तक मुद्रित हुई है। शेष भी प्रकाशित होनी चाहिये। (द्र० डा० मंगलदेव सं० ऋक् प्रा० भाग १ पृ० ७५)।

(३) उवट (सं० ११०० के समीप) का भाष्य बहुत्र प्रकाशित हो चुका है। ये भोज के समकालीन थे[1]।

(४) सत्ययशाः नामक किसी विद्वान् द्वारा लिखित व्याख्या का हस्तलेख वि० वै० शोध संस्थान, होशियारपुर, में सुरक्षित है; द्र० संख्या ४१३१, सूचीपत्र पृ० ५० ; इसके २०४ पत्ते हैं और यह पूर्ण है।

(५) वाक्यदीपिका नाम से एक व्याख्या मद्रास राज० हस्त० संग्रह के सूचीपत्र भाग ५, खण्ड १B, के पृष्ठ ६३२७ पर सं० ४३०१, निर्दिष्ट है।

(६) उदाहरणमण्डिका, (-मण्डिता), कर्ता अज्ञात, मद्रास राज० हस्त० संग्रह सूचीपत्र भाग ६, खण्ड १, पृ० ७३८१, सं० ५३४९ ; तथा त्रिवेन्द्रम संग्रह, सूचीपत्र भाग ५, सं० ७, ८, ९ (तीन हस्तलेख) में निर्दिष्ट।

(७) पशुपति नाथ शास्त्री ने चिन्ताहरण शर्मा के साहाय्य से उवटानुसार व्याख्या लिखी है, जो संस्कृत साहित्य परिषद्, कलकत्ता से प्रकाशित हुई। सन् १९२९।

---

[1] 'मन्त्राणां कृतवान् भाष्यं महीं भोजे प्रशासति' (वा० सं० भाष्य के अन्त में)।

आश्वलायन प्रातिशाख्य

अनन्तदेव विरचित वा० सं० प्राति० की टीका में आश्वलायन प्रातिशाख्य का उल्लेख किया गया है। 'नाप्याश्वलायनाचार्यादिकृत प्रातिशाख्यसिद्धत्वम्' (१, १) यह प्रातिशाख्य इस समय न तो प्राप्य है, न ही इसका कहीं अन्यत्र उल्लेख ही हुआ है।

बाष्कल प्रातिशाख्य

यद्यपि इसका प्रत्यक्ष निर्देश कहीं नहीं हुआ, तो भी शांखायन श्रौतसूत्र १२, १३, ५ के वरदत्तपुत्र आनर्तीय के भाष्य के एक वचन से इसकी सम्भावना का सङ्केत मिलता है। वह वचन यह है—

'उपद्रुतो नाम सन्धिर्बाष्कलादीनां प्रसिद्धः। तस्योदाहरणम्।'

इसमें बाष्कलों में प्रसिद्ध उपद्रुत नामक सन्धि का उल्लेख है, जिसका विधान उनके प्रातिशाख्य में रहा होगा। इसी प्रकार शां० श्रौ० सू० १, २, ५ में भी कहा गया है—

'किन्तु बाष्कलानामप्रगृह्यः। तदर्थं वचनम्।'

इसके अतिरिक्त बाष्कल प्रातिशाख्य के विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है। किन्तु क्योंकि 'उपद्रुत' नाम की सन्धि वर्तमान ऋक् प्रा० में नहीं देखी जाती, अतः बाष्कल प्राति० की सत्ता की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर तै० प्रा० की व्याख्या वैदिकाभरण में दोनों शाखाओं का एक ही प्रातिशाख्य माना गया है (४, ११)।

शांखायन प्रातिशाख्य

अलवर के राजकीय संग्रह में एक शांखायन प्रातिशाख्य के नाम से हस्तलेख सुरक्षित है (द्र० सूचीग्रन्थाङ्क १७) उसके अन्त में यह पाठ है— **'सांखायनशाखायां प्रातिशाख्यं समाप्तम्'**। इसके आद्यन्त पाठ से तो यह शाकल प्राति० ही प्रतीत होता है, तो भी इसकी जांच करने की आवश्यकता है (द्र० युधिष्ठिर मीमांसक, व्या० शा० इ० भाग २, पृ० २९८-३००)।

पञ्चम अध्याय

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य

कार्तिकेयकृत तैत्तिरीय प्रातिशाख्य यद्यपि मुख्यत: कृष्ण-यजुर्वेद की शाखा से सम्बद्ध है, तो भी इसमें ऐसे उदाहरण दिये गये हैं, जो वर्तमान तैत्तिरीय संहिता में उपलब्ध नहीं होते। इसी कारण भाष्यकारों ने इन उदाहरणों को शाखान्तरीय मान कर उनकी संगति लगायी है[1]। इसी तथ्य को न समझ सकने के कारण ह्विट्ने[2] तथा कीथ[3] ने इन उदाहरणों को प्रमाद या प्रक्षेप मान कर इनकी आलोचना की है। वस्तुत: यह सम्पूर्ण तैत्तिरीय चरण से सम्बद्ध है। अत: तदन्तर्गत अन्य शाखाओं से इसका सम्बन्ध सर्वथा स्वाभाविक है।

यह प्रातिशाख्य वाजसनेयि प्रातिशाख्य की कृत्रिम दुर्बोधता एवं श्रमसाध्य अवसाद तथा अथर्वप्रातिशाख्य की अत्यधिक व्याकरण-प्रवणता से सर्वथा शून्य है[4] तथा अपने विषय की सर्वोत्तम कृति है[5]। पाणिनीय व्याकरण तथा प्रातिशाख्यों के पौर्वापर्य के विषय में विद्वानों में तीव्र मतभेद पाया जाता है। वेबर[6], रॉथ[7], बैनफे[8] के मत में प्रातिशाख्य पाणिनि से प्राचीन है, जबकि गोल्डस्टुकर[9],

---

[1] **"द्वित्रिशाखाविषयत्वेऽपितद (तैत्तिरीया—) साधारणतयोपपत्ते: तथा बाह्वृचानां शाकलबाष्कलात्मकशाखाद्वयविषयं प्रातिशाख्यं प्रसिद्धम्"** (तै० प्रा० पर त्रिभाष्यरत्न, पृ० १२८)।

[2] Taitt. Prat, Tr. p. 425.

[3] T. S., Tr. Intro. p. XXXII.

[4] ह्विट्ने, वही, पृ० ४३३।

[5] कीथ, वही, पृ० XXXIX.

[6] इण्डि० स्टु० भाग ५, पृ० १०२ से।

[7] शौ० लि० गे० वेद, पृ० ५६ से; निरुक्त, पृ० XLII-XLIX.

[8] G. G. A. 1856, p. 1603, seq. लीबिख़ के अनुसार केवल ऋक् प्रा० तथा वा० प्रा० ही पूर्व-पाणिनि है, जो सर्वथा मान्य नहीं हो सकता। तै० प्रा० को वह पाणिनि से अवर मानते हैं, क्योंकि वह पाणिनि की व्याकरणिक शब्दावली से परिचित है (द्र० वर्मा, वही, हिन्दी, पृ० २७), किन्तु यह तर्क अप्रमाण तथा एकांगी है (वही, पृ० २७-२९)।

[9] पाणिनि, पृ० १८३ से।

मार्टिन हॉग[1], वॉकरनागल[2] तथा मैक्डानल[3] और पॉल थीमे (पाणिनि एण्ड वेद, पृ० १५, भूमिका) या तो पाणिनि को प्रातिशाख्यों से प्राचीन मानते हैं। या यह कि पाणिनि ने प्रातिशाख्यों के किसी प्राचीन रूप को देखा होगा। पॉल थीमे सामान्यत: प्रातिशाख्यों के पुनः संस्कार को नहीं मानते, (वही)। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में पाणिनीय व्याकरण के प्रभाव का लेशमात्र भी दृष्टिगोचर नहीं होता[4] और यह प्रमाणित किया जा सकता है कि यास्क तैत्तिरीय प्रातिशाख्य से परिचित थे[5] और कि यास्क निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन थे। अतः यह प्रातिशाख्य ८०० ई० पू० से अर्वाचीन नहीं हो सकता, क्योंकि यह सर्वप्राचीन प्रातिशाख्य है[6]।

सामान्यत: प्रातिशाख्यों का विषय-क्षेत्र पद-पाठ और संहिता-पाठ ही होता है, किन्तु इस प्रातिशाख्य के विषय क्षेत्र के सम्बन्ध में भाष्यकारों में ही मतभेद पाया जाता है। त्रिभाष्यरत्नकार संहिता-पद-क्रम-जटा इन सभी को इसका विषय-क्षेत्र मानते हैं। यद्यपि ह्विट्ने इस विषय में अन्तिम निर्णय नहीं कर सके, तो भी वे जटा-पाठ को भी इसके विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत मानते प्रतीत होते हैं[7]। तो भी वे यह मानते हैं तथा सिद्ध करते हैं कि प्रातिशाख्य पद-पाठ की मनमानी को बहुत कुछ स्वीकार करके चलता है। यथा— नीचाद्=नीचा; एकैकम्=एकमेकम्। किन्तु कहीं-कहीं प्रातिशाख्य तथा पदपाठ में स्पष्ट भेद पाया जाता है[8]। इसी कारण उन्होंने इस विषय में सन्देह व्यक्त किया था कि प्रातिशाख्य के सामने वर्तमान पदपाठ ही विद्यमान था[9]। किन्तु इस विषय में प्रमाणाभाव के कारण उनका कथन कल्पना-प्रसूत है[10]। वैदिकाभरणकार जटापाठ को इसके विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं मानते[11] तथा इसके उदाहरणों को केवल संहिता तक ही सीमित समझते है[12]। दूसरी ओर त्रिभाष्य-

---

१. वे० वे० ए० पृ० ६५ से।

२. आ० ग्रा० भाग १, पृ० LXVII।

३. सं० लि०।

४. कीथ वही, पृ० XL।

५. वही, पृ० XLI।

६. कीथ, वही, द्र० ल्यूडर्स, व्या० शि० पृ० १।

७. तै० प्रा० अनु० पृ० ४२८; तथा ३, १ पर टिप्पणी; कीथ, तै० सं० अनु० पृ० XXXIX।

८. तै० प्रा० २०, ३ पर टिप्पणी।

९. वही।

१०. द्र० कीथ, तै० सं० अनु० पृ० XXXII।

११. तै० प्रा० ८, ८ पृ० २३१; ८, १२ पृ० २३६।

१२. 'संहिताग्रन्थमात्रविषयत्वावस्य शास्त्रस्य इत्याह' तै० प्रा० ५, १४ पर भाष्य।

रत्नकार की सम्मति में संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक तीनों इसकी परिधि में आते हैं, यद्यपि एक भी उदाहरण आरण्यक में से नहीं दिया गया[1]।

कहीं-कहीं तो मुद्रित एवं अमुद्रित संहिता तथा प्रातिशाख्य में भी परस्पर भेद पाया जाता है। कण्डिकाओं में संहिता का वर्गीकरण प्रातिशाख्य के बाद का है। इस प्रकार के वर्गीकरण एवं तज्जन्य परिणामों से व्यासशिक्षा परिचित है[2]। दूसरी ओर अनुवाकात्मक वर्गीकरण से प्रातिशाख्य परिचित है और इसमें अनुवाकों का उल्लेख नामनिर्देशपूर्वक किया गया है। यथा—**वाजपेय** (तै० सं० १, ७, ७-२२); **उक्थ्य** (१, १, १-१०); **विकर्ष** (४, ६, १-५) **विहव्य** (४, ७, १२-१४); **हिरण्यवर्णीय** (५, ६, १); **याज्या** (१, १, १४) तथा **महापृष्ठच** (४, ४, १२); (४, ६, ६-९) आदि। सम्पूर्ण चतुर्थ काण्ड की संज्ञा 'अग्नि' है। इस प्रकार की संज्ञाएं अन्यत्र कहीं नहीं मिलतीं। विकर्ण, विहव्य तथा हिरण्यवर्णीय का नामोल्लेख काण्डानुक्रमणी में मिलता है। अनुवाकों को बौधायन, आपस्तम्ब तथा मानवश्रौतसूत्रों में मान्यता प्रदान की गयी है। अतः प्रतीत होता है कि वैदिककाल में संहिता का वर्गीकरण प्रातिशाख्य के अनुरूप ही विषयानुसार किया जाता था[3]।

इस प्रातिशाख्य के भाष्य में चार उदाहरण संहिता से दिये गये हैं, जो वर्तमान तैत्तिरीयसंहिता में उपलब्ध नहीं होते, न ही किसी अन्य वैदिक ग्रन्थ में पाये जाते हैं। **स्तनुतः** (प्रा० ८, ८); **चर्षन्** (१३, १३); **जिगीवाँ** (१६, १३); **जिघासि** (१६, १८)। भाष्यकार के अनुसार ये उदाहरण अन्य शाखा या शाखाओं से सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार '**विशाखे**' पद की '**प्रगृह्य**' संज्ञा की गयी है[4]। संहिता में '**विशाखे**' पद नहीं पाया जाता। अतः भाष्यकार का मत है कि ग्रन्थकार का अभिप्राय अन्य शाखीय '**सहस्रशाखे**' से है, जो युक्तिसंगत नहीं। ह्विटने[5] तथा कीथ[6] ने इन उदाहरणों को प्रमाद या प्रक्षेप माना है, जो सर्वथा असंगत है[7], क्योंकि अन्यत्र भी अन्य शाखाओं से उदाहरण दिये ही जाते हैं।

---

[1] ह्विटने का तै० आर० विषयक सङ्केत—पृ० ४२६ तथा ३५४—सम्भवतः किसी हस्तलेख के पाठ पर आश्रित प्रतीत होता है।

[2] द्र० व्या० शि० १९६।

[3] द्र० कीथ, तै० सं० अनु० पृ० XXXVI।

[4] तै० प्रा० ४, ११।

[5] वही, पृ० ४२६।

[6] तै० सं० अनु० पृ० XXXIII।

[7] डा० कस्तूरी रंगाचार्य, तै० प्रा० भूमिका, पृ० २७—"**तदेतत् शाखान्तरस्य स्वानवलोकनमात्रेणैव चेत् पाश्चात्यः परिसंचक्षीत, परिसंचक्षतां, का हानिरस्माकम्। न खलु**

सम्पूर्ण रूप में यह प्रातिशाख्य तथ्यनिष्ठ, सुव्यवस्थित, सुसंगत तथा सर्वग्राही रचना है, जो अपने विषय पर पूर्ण अधिकार ही नहीं रखती, अपितु स्पष्ट भाषा में सुविचारित नियमों को अपनी शाखा के अतिरिक्त कहीं-कहीं कृष्णयजुर्वेद की अन्य शाखाओं के व्यापक परिप्रेक्ष्य में हमारे सम्मुख प्रस्तुत करने में समर्थ है। कृत्रिम दुर्गमता तथा श्रमसाध्य अवसाद से शून्य होने के कारण यह रचना अनायास ही जिज्ञासुओं को जटिल विषयों का बोध कराने में सफल रही है। सूत्रशैली की स्वाभाविक जटिलता तथा कहीं-कहीं अनुवृत्तिजन्य दुरूहता के अतिरिक्त यह प्रातिशाख्य सामान्यतः सरल, सुबोध तथा विस्तृत रचना है, जिसमें सामान्य व्याकरण से संबद्ध विषयों का समावेश नहीं किया गया। इसमें तथ्यों की यथार्थता तथा उनके विश्लेषण सम्बन्धी पैनी दृष्टि अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। इसका कलेवर सर्वाधिक तकनीकी तथा सर्वतः शुद्ध है[1]। इस सर्वप्राचीन[2] प्रातिशाख्य में भी इतने अधिक प्राचीनतर आचार्यों के नामों का उल्लेख किया गया है, जिससे कि इसमें प्रतिपादित विषयों पर दीर्घकालीन विचार-विमर्श तथा ऊहापोह की छाप स्पष्ट उभर कर सामने आ जाती है। अग्निवेश्य (९, ४); आत्रेय (५, ३१ ; १७, ८) ; उख्य (८, २२ ; १०, २२) ; कौण्डिन्य (५, ३८); गौतम (५, ३८); पौष्करसादि (५, ३७); भरद्वाज (५, ४०); वात्सप्र (१०, २३), वाल्मीकि (५, ३६) शांखायन (१५, ७), शैत्यायन (५, ४०); साङ्कृत्य (८, २१); हारीत (१४, ८); तथा प्लाक्षायण (९, ६) प्रभृति नाम इस विषय में महत्त्वपूर्ण हैं।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के विषय

१ प्रश्न—

अध्याय—१—वर्ण, वर्ण समुदाय, स्वर, उपसर्ग, अवग्रह आदि।
संज्ञाएं तथा परिभाषाएं।
,, २—वर्णों के स्थान तथा प्रयत्न।
,, ३—संहिता में दीर्घवर्णों का पदकाल में ह्रस्व विधान।
,, ४—प्रगृह्य-संज्ञक वर्णों की गणना।
,, ५—संहिता में होने वाले वर्णागमों की विधि।

पाश्चात्यदृष्ट्यगोचरीभूतानि तत्त्वानि शाखान्तराणि वा शशशृङ्गकल्पानि इति शक्यं वक्तुम्। जनुषान्धेन रूपं परिसंख्यातमिति तदसदेव भवेत्।"

[1] लुई रेनु, वेदिक इण्डिया, पृ० ४६।

[2] ह्विट्ने के अनुसार यह रचना वा० प्रा० तथा अथर्व० प्रा० दोनों से अर्वाचीन है (अथर्व० प्रा०, पूरक टिप्पणियां, पृ० २४९)।

अध्याय ६—षत्व, सत्व विधान।
,, ७—णत्व विधि (मूर्धन्यीकरण)।
,, ८—ककारादि को ङकारादि विधान (अनुनासिकविधि)।
,, ९—विसर्गसन्धि-लोप-ऊष्म-विधान, ए-ओ-ऐ-औ-ञ्-ङ्-न् से सम्बद्ध नियम।
,, १०—सवर्ण दीर्घ, य-व-लोप, प्लुत—प्रगृह्य आदि में सन्धि-निषेध।
,, ११—अकार का लोपालोप विधान।
,, १२—लुप्ताकार से पूर्व को स्वरित विधि।

२ **प्रश्न**—

,, १३—मकारलोप, समानपदीय, नकार का णत्व, ङत्व।
,, १४—द्वित्व, वर्ग के दूसरे, चौथे वर्ण को पूर्ववर्णागम; उदात्तपरक अनुदात्त का स्वरितभाव।
,, १५—अनुनासिक – अनुस्वार विधान।
,, १६—पद के मध्य में अनुस्वार का आगम।
,, १७—विशेष वर्णों के उच्चारण में तीव्र आदि का विधान।
,, १८—प्रणव के स्वर विशेष की विधि।
,, १९—अनुदात्त विशेष की विक्रम संज्ञा, कम्प का स्वरूप।
,, २०—क्षैप्र आदि स्वरितविशेष तथा इनके प्रयत्नविशेष।
,, २१—व्यञ्जन के पूर्वस्वर अथवा परस्वर का अङ्ग होने पर स्वर का भेद, प्रचय, नासिक्य का आगम, स्वरभक्ति।
,, २२—स्वरविशेष के उच्चारण में, प्रयत्नविशेष; ऋग्विराम आदि का मात्राकाल, गुरु-लघु विधि।
,, २३—अनुप्रदान-उपांशुप्रयोग के स्थान, क्रुष्ट आदि स्वर-विशेष।
,, २४—पद, अक्षर, वर्ण, तथा अंग सन्धियों का निरूपण।

व्याख्याकार—इस प्रातिशाख्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण इसकी व्याख्या अनेक आचार्यों ने की है, तीन भाष्य तो प्रकाशित हो चुके हैं—

(१) माहिषेय कृत 'पदक्रम सदन' सर्वप्राचीन भाष्य है। त्रिभाष्यरत्नकार ने इस भाष्य का सहारा लिया है और इसमें दिये गए सभी उदाहरण यहां उपलब्ध होते हैं। यह संक्षिप्त किन्तु उपादेय व्याख्या प्रस्तुत करता है।

(२) सोमयार्य कृत **'त्रिभाष्यरत्न'** इससे अर्वाचीन है तथा विशद एवं विस्तृत व्याख्यान के रूप में है। इसमें माहिषेय भाष्य के अतिरिक्त आत्रेय तथा वररुचि की प्राचीन व्याख्याओं का भी आश्रय लिया गया है। **'वैदिकाभरण'** में इसके द्वारा स्वीकृत अनेक पाठों का खण्डन किया गया है। इन्होंने **'कालनिर्णय'** शिक्षा को भी उद्धृत किया है, जो मुक्तीश्वराचार्य-विरचित है। किन्तु इनके समय के विषय में कुछ ज्ञात नहीं।

(३) गार्ग्य गोपाल यज्वाकृत **'वैदिकाभरण'** और भी अर्वाचीन रचना है। यह विस्तृत तथा विशद व्याख्या है।

अनेक विषयों पर सोमयार्य से मतभेद होने पर यह अपने पक्ष का सुस्पष्ट प्रतिपादन करते हैं। इन दोनों व्याख्याओं के साथ प्रातिशाख्य मैसूर संस्कृत ग्रन्थमाला की संख्या ३३ में प्रकाशित हो चुका है।

'वैदिकाभरण' के सम्पादक कस्तूरीरङ्गाचार्य के अनुसार यज्वा ने वृत्तरत्नाकर पर 'ज्ञानदीप' नामक व्याख्या लिखी है, जो मद्रास से आन्ध्र अक्षरों में मुद्रित हो चुकी है। यज्वा ने वृत्तरत्नाकर के टीकाकार श्रीनाथ के मत का भी 'अन्ये तु ब्रुवते' कह कर खण्डन किया है। क्योंकि वृत्त० के सर्वप्राचीन टीकाकार त्रिविक्रम का समय ११वीं शती का उत्तरार्ध है तथा क्योंकि हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई० के मध्य में विद्यमान) ने केदारभट्ट की आलोचना की है। अतः वृत्त० का रचनाकाल १००० ई० से भी प्राचीन होना चाहिए। अतः गार्ग्य गोपाल यज्वा १००० ई० से प्राचीन नहीं हो सकते। श्रीनाथ का काल अनिर्णीत होने के कारण यज्वा के काल की अवर सीमा का निर्धारण सम्भव नहीं।

इन्होंने भारद्वाजीय पितृमेधसूत्र तथा आप० पितृ० सूत्र की व्याख्याएं भी लिखी हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'स्वरसम्पत्' नाम की अपनी रचना की स्वयं चर्चा की है (वै० आभरण १४, २९ में)।

(४) आत्रेय के भाष्य का उल्लेख सोमयार्य ने दो बार किया है (भाष्यारम्भ; ५, १) किन्तु इस आत्रेय के व्यक्तित्व के विषय में और कुछ ज्ञात नहीं। एक आत्रेय ऋकपार्षद का व्याख्याकार भी है।

(५) वररुचि के भाष्य का उल्लेख सोमयार्य ने बहुत बार किया है (१, २८; २, १४; १९; ८, ४०; १८, ७ आदि), किन्तु इनके विषय में और कोई सूचना नहीं।

(६) वीरराघवकविकृत 'शब्दब्रह्मविलास' नामक व्याख्या मद्रास के राज० संग्रह सूचीपत्र भाग ३, खण्ड 1A, पृ० ३३९९, सं० २४५०, में उपलब्ध है।

(७) भैरवाचार्य की 'वर्णक्रमदर्पण' नाम की व्याख्या भी मद्रास सूचीपत्र भाग २९, पृ० १०५६८, सं० १६२०८ पर उल्लिखित है।

(८) पद्मनाभकृत 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य विवरण' का हस्तलेख उपलभ्य है [(द्र० अड्यार हस्तलेख संग्रह, सूची० १ (मीमांसक, सं० व्या० शा० इ० भाग २, द्वि० सं०, पृ० ३६४-६५)] ।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का विषय विवेचन

ध्वनिशास्त्र-सम्बन्धी सर्वप्राचीन रचना होने के बावजूद भी इस प्रातिशाख्य में वर्णों के स्थानों तथा प्रयत्नों आदि का विवेचन करने के साथ[१] वर्णों के पांच भेदक-तत्त्वों का उल्लेख इस शास्त्र की प्राचीनता पर प्रकाश डालता है। **अनुप्रदान**, **संसर्ग**, **स्थान**, **करण** तथा **परिणाम** ये पांच तत्त्व वर्णों में भेद करने में सहायक होते हैं[२]। इनकी व्याख्या उवट ने ऋक् प्रातिशाख्य के भाष्य में की हैं, जहां तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के इस वचन को उद्धृत किया गया है[३]। इसी प्रसंग में पांच **प्रातिश्रुत्कों** का भी उल्लेख किया गया है—उरस् कण्ठ, शिरस्, मुख तथा नासिका[४]। इनसे टकरा कर वर्ण प्रतिध्वनित होते हैं। वर्णों के प्रयत्नों की चर्चा करते हुए इस प्रातिशाख्य में स्पर्शों तथा उनके सवर्ण ऊष्मों का स्थान एक होते हुए भी ऊष्मों के करणमध्य को **विवृत** माना गया है[५]। ह्विट्ने ने इस विचार की आलोचना की है, जो असंगत तथा अज्ञान पर आधृत है[६]। यकार का स्थान तालु तथा करण जिह्वा के मध्य तथा अन्त के भाग हैं[७]। इस कथन की प्रामाणिकता आज यन्त्रों की सहायता से सिद्ध हो चुकी है[८]। ए को ठीक ही **ईषत्स्पृष्ट** कहा गया है, किन्तु इ के विषय में ऐसा कुछ नहीं कहा गया, जिसके उच्चारण में जिह्वाग्रमध्य तालु के अतिनिकट जा पहुंचता है[९]। इस प्रातिशाख्य में करणों की मध्यस्थ स्थिति का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है, जिसमें जिह्वा शान्त या 'तूष्णीम्'

---

१. तै० प्रा० २, ३१-३४ ।

२. तै० प्रा० २३, २ ।

३. ऋक् प्रा० १३, १३ जहाँ **'करणविन्ययात्'** के स्थान पर **'करणविभ्रमात्'** पाठ है ।

४. तै० प्रा० २, ३ ।

५. तै० प्रा० २, ४४-४५ ।

६. द्र० ऐलन, पृ० २६ ।

७. तै० प्रा० २, ४० ।

८. प्रसाद, भोजपुरी, पैलेटोग्राम नं० ८९ ।

९. तै० प्रा० २, २२; २, २३ पर त्रिभाष्य० ।

अवस्था में तथा ओष्ठ अकार के उच्चारण की स्थिति में बने रहते[१] हैं। करणों की इसी अवस्था में वर्गों के उच्चारणार्थ विविध स्थानों से जिह्वा के स्पर्श का आरम्भ होता है। किन्तु टवर्ग के उच्चारण में प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र से मूर्धा का स्पर्श करना होता है[२]। हकार के उच्चारण में कण्ठ मध्यावस्था में रहता है तथा श्वास और नाद दोनों पाए जाते हैं[३]। इसमें अधिक श्वास तथा अघोष सादृश्य दोनों को ही ऋक् प्रातिशाख्य में दोष माना गया है[४]। मैक्समूलर[५] तथा ह्विट्ने[६] दोनों ने हकार में नाद-तत्त्व को अस्वीकार करते हुए इस प्रकार के उच्चारण को असम्भव कहा है। किन्तु अब यह प्रमाणित हो चुका है कि घोषवत् महाप्राणों की महाप्राणता सघोष ही होती है और कि संस्कृत ह् को घोषवत् मानने के लिए सबल ऐतिहासिक तथा वर्ण-विचारविषयक (Phonological) कारण है[७]।

हकार तथा विसर्ग के स्थान के विषय में मतभेद था। कुछ लोग इसका स्थान कण्ठ न मानकर परस्वर जैसा मानते थे और विसर्ग का पूर्वस्वर जैसा[८]। यह वचन विसर्ग के ध्वनिमूल्य पर अनूठा प्रकाश डालता है, जो अन्य किसी प्रातिशाख्य में नहीं पाया जाता। अघोषवत् व्यञ्जनों से पूर्ववर्ती विसर्ग को व्यञ्जन के सस्थान ऊष्मों का आदेश किया जाता है[९], जिनमें से जिह्वामूलीय और उपध्मानीय महत्त्वपूर्ण हैं। ह्विट्ने ने अकारण ही इनको केवल वैयाकरण की कल्पना कहकर इनका निषेध करने की व्यर्थ चेष्टा की है[१०]। कवर्ग का स्थान हनूमूल कहा गया है, इसके उच्चारण में जिह्वामूल करण है[११]। चवर्ग के उच्चारण में जिह्वामध्य तालु को स्पर्श करता है[१२]। इससे प्रतीत होता है कि उन दिनों चवर्ग वास्तव में स्पर्श रूप में उच्चरित होता था न कि वर्तमान स्पर्श-घर्ष के रूप में। रेफ का उच्चारण दन्तमूलों के पीछे के भाग पर जिह्वामध्य से किया जाता था[१३]।

---

१. तै० प्रा० २, २०-२१ त्रिभाष्यरत्न।
२. तै० प्रा० २, ३७।
३. तै० प्रा० २, ६; ८-१०; १, १२-१४।
४. ऋक् प्रा० १४, २८।
५. ऋक् प्रा० ७१०।
६. अथर्व प्रा० १, १३।
७. ऐलन, पृ० ३५-३८।
८. तै० प्रा० २, ४६-४७।
९. तै० प्रा० ९, २।
१०. सं० ग्रा०, पैरा ६९।
११. तै० प्रा० २, ३५; तु० वा० प्रा० १, ८८
१२. तै० प्रा० २, ३६।
१३. तै० प्रा० २, ४१।

इसमें जिह्वा के प्रतिवेष्टन का उल्लेख नहीं किया गया[1]। किन्तु ऋृ, लृ के उच्चारण में जिह्वाग्र बर्त्स्व के समीप जा लगता है[2]। स्पर्शपरक मकार को स्पर्श का सवर्ण अनुनासिक होता है[3]। अनुस्वारपरक ह्रस्व स्वर का काल दो मात्रा माना गया है[4]। यहां **स्वरभक्ति** का भी विवरण दिया गया है, जो केवल र तथा ऊष्मों के मध्य में पायी जाती है[5]।

अनासिक्य स्पर्शों के बाद नासिक्य वर्ण रहने पर मध्य में सस्थान नासिक्यों के आगम को कुछ लोग **यम** कहते हैं[6], जो परवर्ती स्वर के अंग होते हैं (२१, ८ : तु० वा० प्रा० १,१०३)। यह परिभाषा ऋक् प्रातिशाख्य की परिभाषा से भिन्न है। वहां **यमागम** पूर्ववर्ण के सदृश कहा गया है न कि नासिक्य[7]। हकार तथा न्, ण्, म् के मध्य में भी नासिक्य के आगम का विधान किया गया है,[8] यथा, ब्राह्मण:=ब्राह्म्मण:, किन्तु त्रिभाष्यरत्न के अनुसार यहां हकार का नासिक्य उच्चारण करना चाहिये, जिसकी पुष्टि **सर्वसम्मत शिक्षा**[9] तथा **व्यासशिक्षा**[10] से होती है, किन्तु **चारायणीय शिक्षा**[11] में हकार के नासिक्य उच्चारण का निषेध किया गया है। प्लाक्षायण के मत में ऊष्म तथा नासिक्य के मध्य में नासिक्य के सवर्ण अघोषस्पर्श का आगम करना चाहिये[12], यथा—कृष्ण=कृ ष् ट् ण; ग्रीष्म=ग्री ष् प् म। आज के भाषा वैज्ञानिक इस प्रकार के उच्चारण की पुष्टि करते हैं[13]। स्पर्श से परे ऊष्म के रहते स्पर्श को महाप्राण आदेश किया जाता है[14]। यथा—मत्सर=मथ्सरा। वाड्भीकार के मत में यह नियम केवल असमानस्थान ऊष्म के परे रहते ही लगता है[15], यथा—सम्यक् स्रवन्ति=सम्यख् स्रवन्ति।

---

१. तु० कादरी, हिन्दुस्तानी फोनेटिक्स, पृ० ६४, जो आधुनिक र को लुण्ठित न मानकर उत्क्षिप्त मानते हैं।

२. तै० प्रा० २, १८।

३. तै० प्रा० ५, २७; पा० ८, ४, ५९।

४. तै० प्रा० २, ३०; २२, १४।

५. तै० प्रा० २१, १५; तु० ऋक् प्रा० ६, ४६।

६. तै० प्रा० २१, १२-१३ ; त्रिभाष्य० २१, १२ ; नार० शि० २, २, ८ ; तु० वा० प्रा० ४, १६३।

७. ऋक् प्रा० ६, २९, ३२।

८. तै० प्रा० २१, १४।

९. सर्व० शि० ४२।

१०. व्या० शि० २९८।

११. सिद्धेश्वर, क्रि० स्ट० पृ० ८०।

१२. तै० प्रा० १४, ११।

१३. जूल्स ब्लॉख, ल 'इण्डो' एरियन पृ० ८८, सिद्धेश्वर क्रि० स्ट०, पृ० १२३ से।

१४. तै० प्रा० १४, २२।

१५. तै० प्रा० १४, १३।

चारायणीय प्रातिशाख्य

कृष्णयजुर्वेद की चारायणीय शाखा से सम्बद्ध चारायणीय प्रातिशाख्य यद्यपि इस समय उपलब्ध नहीं है, तो भी लौगाक्षि गृह्यसूत्र के व्याख्याकार देवपाल ने[1] चारायणीय सूत्र को उद्धृत किया है, जिस पर प्रातिशाख्य वचन होने का सन्देह किया गया है[2]। चारायणीय प्रातिशाख्य का संकेत **'पाकयज्ञविवृत्ति'** में भी किया गया है[3]। चारायण गोत्र का मूल पुरुष 'चर' हो सकता है, जिसका निर्देश पाणिनि ने नडादिगण[4] में किया है। वैयाकरण चारायण का उल्लेख म० भाष्य में एक उदाहरण में किया गया है[5]। **चारायणीय शिक्षा** भी काश्मीर से उपलब्ध हुई है[6]। इसके विषय में और कुछ ज्ञात नहीं।

मैत्रायणीय प्रातिशाख्य

मैत्राणीयशाखा से सम्बद्ध प्रातिशाख्य यद्यपि प्रकाश में नहीं आया, तो भी पं० दामोदर सातवलेकर द्वारा सम्पादित मैत्रायणीसंहिता की भूमिका में पं० श्रीधरवारे द्वारा पृ० १६ पर इस प्रातिशाख्य में उल्लिखित ऋषियों की सूची तथा पं० युधिष्ठिर मीमांसक को लिखे एक पत्र से इसकी सत्ता प्रमाणित होती है[7]। इस प्रातिशाख्य के प्रवक्ता का नाम अज्ञात है। इसमें निम्नलिखित ऋषियों का उल्लेख है :—

> आत्रेय, वाल्मीकि, पौष्करसादि, प्लाक्षि, कौण्डिन्य, गौतम, साङ्कृत्य, उख्य, काण्डमायन, अग्निवेश्य, प्लाक्षायण, वात्सप्र, अग्निवेश्यायन, शाङ्खायन, शैत्यायन, कौहलीयपुत्र तथा भारद्वाज[8]।

इस प्रातिशाख्य के विषय में इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं।

---

[1] लौग० गृ० ५,१; **कृतस्य पापस्य छदनं वा कृच्छ्रम् इति निर्वचनम्। तथा च चारायणीय-सूत्रम्**··· ··· ···" **'पुरुकृतेच्छ्वच्छ्रयो:**··· ··· ·· '।

[2] पं० भगवद्दत्त, वै० वाङ्० इति० भाग १, पृ० २९५; द्वि० सं०, सं० २०१३; अमृतसर; युधिष्ठिर मीमांसक, सं० व्या० शा० इ०, भाग २, पृ० ३१८; सं० २०१९, अजमेर।

[3] लौ० गृ०, काश्मीर सं० की भूमिका, पृ० २।

[4] पा० ४, १, ९९।

[5] म० भा० १, १, ७३ **'कम्बलचारायणीयाः'**।

[6] कीलहार्न, इ० एण्टि०, जुलाई, १८७६।

[7] सं० व्या० शा० इ०, भाग २, द्वि० सं०, पृ० ३६५-६६।

[8] मै० सं०, भूमिका पृ० १६२।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य

वाजसनेयि अथवा शुक्ल यजुर्वेद-प्रातिशाख्य का कर्ता कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध है। यह प्रातिशाख्य के अन्त में लिखे इन शब्दों से प्रकट होता है— **'इत्याह स्वरसंस्कारप्रतिष्ठापयिता कात्यायनः'**। शौनककृत चरणव्यूह परिशिष्ट में कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध १८ परिशिष्टों के अन्तर्गत इस प्रातिशाख्य का भी उल्लेख है[1]। यद्यपि कात्यायन के नाम से अन्य बहुत सी रचनायें प्रसिद्ध हैं, तो भी यह स्पष्ट है कि वे सभी एक ही व्यक्ति की कृतियां नहीं हो सकतीं।

डा० मैक्समूलर के अनुसार पाणिनीय अष्टाध्यायी सभी प्रातिशाख्यों से अर्वाचीन है। उनके मतानुसार कात्यायन पाणिनि के समसामयिक थे, किन्तु उन्होंने अष्टाध्यायी पर वार्तिक लिखने से पूर्व प्रातिशाख्य की रचना कर ली थी। षड्गुरुशिष्य (११८७ ई०) की सूचना-अनुसार शौनक और कात्यायन एक ही शाखा से सम्बद्ध थे। उनकी शिष्य परम्परा इस प्रकार थी—

(१) शौनक (२) आश्वलायन (३) कात्यायन (४) पतञ्जलि (५) व्यास। कात्यायन का दूसरा नाम वररुचि भी प्रसिद्ध है। कथासरित्सागर में सोमदेव द्वारा षड्गुरुशिष्य की इस सूचना की पुष्टि की गयी है। सोमदेव के अनुसार कात्यायन मगध के राजा नन्द की सभा के पण्डित थे और क्योंकि वा० प्रा० के बहुत से सूत्र पाणिनि के सूत्रों से अत्यधिक मिलते हैं, अतः सम्भावना यह है कि कात्यायन ने स्वरचित वा० प्रा० के अनेक सूत्रों को महावार्तिक में ज्यों का त्यों दोहरा दिया था और बाद में ये वार्तिक पाणिनि के सूत्रों में घुलमिल गये[2]। अतः कात्यायन का काल चतुर्थी शती ई० पू० का द्वितीयार्ध सिद्ध होता है[3]। किन्तु ये सब तर्क तभी सार्थक हैं, जब हम यह मान लें कि वा० प्रा० के कर्ता तथा महावार्तिक के कर्ता एक ही कात्यायन थे। डा० वेबर के मतानुसार यद्यपि वा० प्रा० तथा अष्टाध्यायी में बहुत से सूत्र अत्यन्त सदृश हैं और दोनों में अत्यन्त संक्षिप्त पारिभाषिक संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है, तो भी कई अंशों में इनमें परस्पर अत्यधिक भिन्नता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। विषय की बहुत कुछ समानता के कारण सूत्रों की समानता से आश्चर्य नहीं होना चाहिये। किन्तु रचनाशैली की दृष्टि से समान सूत्रों में भी कात्यायन की निर्माण-शक्ति पाणिनि

---

[1] अनन्तदेव याज्ञिक ने प्रतिज्ञा परिशिष्ट के भाष्य में भी यही कहा है (१, १)।

[2] हि० ए० सं० लि० पृ० ७१।

[3] वही, पृ० १२०-१२५।

के रचना-सौष्ठव से कदापि स्पर्धा नहीं कर सकती। व्याकरणविषयक शब्दावलि में भी वा० प्रा० में अष्टाध्यायी की सी क्रमागत पूर्णता तथा प्रौढ़ता दृष्टिगोचर नहीं होती। किन्तु कात्यायन का क्षेत्र सीमित होने के कारण वे अपने विषय को अधिक सुनिश्चित तथा यथार्थरूप से प्रस्तुत कर सके हैं।

कात्यायन के समय में सूत्रशैली अपनी परिपक्व अवस्था को प्राप्त नहीं कर पायी थी। इसमें न केवल व्यर्थ तथा विषय में अनुपयुक्त सूत्र ही हैं,[1] अपितु इसमें कई विषयों की पुनरावृत्ति भी की गयी है[2]। कई कठिन तथा अस्पष्टार्थ सूत्र तो अत्यन्त संक्षिप्त हैं, जबकि कई सरलार्थ सूत्रों को अधिक विस्तार से कहा गया है। सूत्रपाठ में कई असंगतियां ऐसी हैं, जो पाणिनि के वार्तिककार से सर्वथा असम्भाव्य हैं—यथा वर्णों का उपदेश किये बिना 'उपदिष्टा वर्णाः'[3] पढ़कर अष्टम अध्याय में वर्णों का उपदेश किया गया है। ऐसे ही वा० प्रा० में गुण का लक्षण अनेक सूत्रों में किया गया है,[4] जबकि पाणिनि ने इसके लिए एक ही सूत्र की रचना की है[5]। पाणिनि ने समान व्युत्पत्ति वाले शब्दों का समावेश गणों में करके अपने व्याकरण को संक्षिप्त करने का सफल प्रयास किया है, जबकि वा० प्रा० में समान शब्दों को एक-एक करके गिनाया गया है[6]। इसी प्रकार के तर्कों के आधार पर डा० बर्नेल का विचार है कि यदि कात्यायन पाणिनि के व्याकरण से परिचित होते, तो अपने ग्रन्थ को कम से कम एक तिहाई कम आकार का बना सकते थे[7]। इनके मतानुसार तो वा० प्रा० की रचना ऐन्द्र-व्याकरण के आधार पर हुई थी। डा० लीबिख़ के अनुसार वा० प्रा० का अपरिपक्व आडम्बर इसे निश्चय ही पूर्व-पाणिनि-काल का सिद्ध करता है[8]। पॉल थीमे के मतानुसार वा० प्रा० के सूत्र पाणिनि के सूत्रों से निश्चय ही अधिक परिष्कृत तथा स्पष्ट हैं (पाणिनि एण्ड वेद पृ० ९३)। वे वा० प्रा० तथा वार्तिकों के रचयिता कात्यायन को एक ही मानते हैं (वही, पृ० ९६)। उनके अनुसार वार्तिक की प्रभावशाली रचनाशैली तथा परिपक्व निर्माण-विधि प्रौढ़ अध्ययन तथा अनवरत

---

[1] वा० प्रा० १, १५७; ३, ५७; ५९; ४, १२९।

[2] वा० प्रा० १, २०-२१ का विषय ८, १७-१८ में।

[3] वा० प्रा० १, ३४।

[4] वा० प्रा० ४, ५३-५५।

[5] वा० प्रा० ६, १, ८७।

[6] यथा वा० प्रा० ३, ८२, ८३, ९८; ४, ६४, ७४, ७५।

[7] *On the Aindra School of Sanskrit Grammarians* 1875, App. A. p. 106.

[8] *Zur Einfuhrung in die Ind. Sprache II*, p. 38, 45, 46, ref. in *Gr. Studies Kāt. Ś. Prāt*, by Venkatarama Sarma, Uni. Madras. 1935, P, 117.

मनोयोग का परिणाम है (वही, पृ० ९८)। प्रो० गोल्ड स्टुकर ने अपने निबन्ध में वेबर के तर्कों के खण्डन का असफल प्रयास किया है। उनके मतानुसार पाणिनि वा० प्रा० के कर्ता कात्यायन से पूर्वकालिक थे और कात्यायन ने प्रातिशाख्य की रचना अपने वार्तिक से पूर्व की थी। इसका उद्देश्य वैदिक विज्ञान के विकास के साथ-साथ पाणिनि के ग्रन्थ की आलोचना भी था[1]। डा० बेल्वेल्कर ने भी इसी विचार को पुष्टि की है कि वा० प्रा० के कर्ता तथा वार्तिककार कात्यायन एक ही व्यक्ति थे[2]। किन्तु गोल्डस्टुकर तथा उनके अनुयायी अपने मत की स्थापना में असमर्थ रहे हैं[3]। वा० प्रातिशाख्यकार कात्यायन निश्चय ही पाणिनि से बहुत पहले हो गये हैं। यह दूसरी बात है कि वर्तमान प्रातिशाख्य अपने मूल रूप में हम तक नहीं पहुँचा। वा० प्रा० में व्याकरण से सर्वथा विरुद्ध तथा असंगत शब्द-रूप भी प्रतिपादित हैं। यथा—क्षत्त्र, सत्त्र का रूप चित्र, यत्र, प्रभृति के समान 'त्र'-अन्त (त्त्रान्त नहीं) पढ़ा गया है (६, २७)। इसी प्रकार 'उत्तम्भनम्' तथा 'उत्थितस्य' प्रभृति का अवग्रह केवल इसलिए नहीं किया जाता कि उत्तरपद के आदि वर्ण के विषय में संशय है (५, ३८)। इससे सिद्ध होता है कि वा० प्रा० की रचना पाणिनि से पहले हो चुकी थी, न कि उसके पश्चात्[4]।

यदि कात्यायन ने पाणिनि के उणादि सूत्रों तथा व्याकरण के सूत्र 'उदःस्थास्तम्भयोः पूर्वस्य' (८,४,६१) को देखा होता, तो ऐसी भूलों तथा संशयों का कोई अवसर ही न रहता।

इस विषय का अधिक विवेचन आगे किया जायेगा। इनकी रचनाओं में कात्यायन श्रौतसूत्र, सर्वानुक्रमणी तथा वाजसनेयानुक्रमणी—ये तीन और मानी जा सकती हैं[5]। कात्यायन के काल को पाणिनि के काल से कम से कम १०० वर्ष पूर्व मानना ही पड़ेगा। अतः वा० प्रा० की रचना सातवीं शती ई० पू० के आरम्भ में अवश्य हो चुकी होगी।

वा० प्रातिशाख्य का वर्तमान रूप—

अपने वर्तमान रूप में इस प्रातिशाख्य में अनेक ऐसी असंगतियां तथा विरोध पाये जाते हैं, जिनके कारण मूलरचना तथा सम्भवतः भाष्य में भी परिवर्तन तथा प्रक्षेप सिद्ध होते हैं।

---

[1] पाणिनि, पृ० १४९-१६१।

[2] *System of Sans. Gr.* p. 29-30.

[3] कीथ, तै० सं०, अनु० पृ० CLXXI.

[4] तु० सूर्यकान्त अथ० प्रा०, उपोद्घात पृ० ६५।

[5] मैक्डानल सं० बृहद्देवता, भूमिका, पृ० २२, ५७० किन्तु काशीकर (सर्वा० पृ० ७७) श्रौतसूत्र और सर्वानुक्रमणी के कर्ता के मध्य शताब्दियों का अन्तर मानते हैं।

वर्णमाला के अष्टम अध्याय में उपदेश के विषय में वेबर का मत है कि संपूर्ण अष्टम अध्याय बाद का प्रक्षेप है[1]। कई स्थलों पर सूत्रपाठ आगे पीछे हो गया है, यथा, कुछ लोग ४, १२२ के स्थान पर ४, ९६ का पाठ करते हैं[2]। व्यञ्जनों को गिनाये बिना 'अथ व्यञ्जनानि'[3] कह कर 'इति स्पर्शाः'[4] पढ़ा गया है और पचीस स्पर्श भाष्य में गिनाये गये हैं। प्रतीत होता है कि ये मूल में से निकल कर किसी समय भाष्य में सन्निविष्ट हो गये हैं। द्वितीय अध्याय में स्वर-प्रकरण का आरम्भ किया गया है। छठे अध्याय में पुनः स्वर प्रकरण को उठाया गया है। द्वितीय अध्याय में निपातों तथा नामों के स्वरों से सम्बद्ध विशेष सूत्र पढ़े गये हैं, जबकि छठे अध्याय में आख्यातों[6] तथा उपसर्गों[5] के विशेष स्वरों की चर्चा की गयी है। इनमें क्रमभंग स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। ६, २३ के भाष्य में भी गड़बड़ प्रतीत होती है[7]। षष्ठ अध्याय का पाठ द्वितीय अध्याय के अनन्तर होना चाहिये।

४, १२९ को भाष्यकार ने ही व्यर्थ कह दिया है तथा ३, ९५ को निष्प्रयोजन। ४, ३ का मूल सूत्रपाठ में कोई स्थान नहीं, किन्तु उवट ने इस पर भाष्य किया है, अतः इसे सूत्र मान लिया गया है। अनन्तभट्ट ने इस पर भाष्य नहीं लिखा।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि इस प्रातिशाख्य के मूल में हेर-फेर किये गये हैं।

विषय-विवेचन :—इस प्रातिशाख्य में इस समय आठ अध्याय हैं, जिनमें कुल मिलाकर ७२६ सूत्र हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक समान सूत्र 'वृद्धं वृद्धिः' मंगलार्थ पढ़ा गया प्रतीत होता है। यद्यपि प्रातिशाख्य के मुख्य विषय पदपाठ के पदों के स्वर, संस्कार, आगम, आदेश, लोप, विकार, प्रकृतिभाव पर विचार है। शिक्षा सम्बन्धी विषयों का समावेश भी शिक्षाशास्त्र पर प्रातिशाख्य के आधृत होने के कारण कर दिया गया है। उवट ने लिखा है कि यह शास्त्र अन्य

---

[1] पॉल थीमे सप्तम अध्याय को भी प्रक्षिप्त मानते हैं (पा० वे० उपोद्घात, पृ० १५)।

[2] उवट, वा० प्रा० ४, १२२ पर।

[3] वा० प्रा० ८, ४।

[4] वा० प्रा० ८, ५।

[5] वा० प्रा० ६, १; ११-२३।

[6] वा० प्रा० ६, २-१०; २४।

[7] द्र० वें० शर्मा; क्रि० शु० य० प्रा०, पृ० २४८-२४९।

> सभी शास्त्रों से इस विषय में विशेष है कि इसमें शिक्षा तथा व्याकरण दोनों का सम्मिलित विधान किया जाता है।[1]

वाजसनेयि प्रातिशाख्य के नाम से प्रसिद्ध इस ग्रन्थ का सम्बन्ध यद्यपि मुख्य रूप से माध्यन्दिन शाखा से है[2] और बर्नेल के अनुसार यह मूलरूप में काण्वशाखा से सम्बद्ध था, किन्तु अब इसमें माध्यन्दिनशाखीय विषयों का सन्निवेश हो गया है[3], तो भी इसका सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद की सभी शाखाओं से पाया जाता है[4]। कोई सूत्र विशेष रूप से माध्यन्दिनों से सम्बद्ध है,[5] तो कोई माध्यन्दिनों के अतिरिक्त अन्य सभी शाखाओं से,[6] कोई चरकों के लिए है,[7] तो कोई वाज़सनेयि शाखा के लिए[8] और कुछ केवल काण्वों के लिए[9]। कुछ सूत्र ऐसे भी हैं जो किसी भी उपलब्ध शाखा से सम्बद्ध नहीं हैं[10], उनके लिए लौकिक उदाहरण (रूपोदाहरण) दिये गये हैं।

अन्य दृष्टि से प्रकृतिपाठ—संहिता, पद, तथा क्रमपाठ—इसके विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। छन्दों से सम्बद्ध कोई सूत्र इसमें नहीं पाया जाता।

यद्यपि वर्णसमाम्नाय स्वरूपतः अष्टम अध्याय में पढ़ा गया है, तो भी प्रथम अध्याय में भी वर्णों के विविध-भेदों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है[11], इनमें स्वर, सन्ध्यक्षर, व्यञ्जन, अन्तःस्थ, ऊष्म, अनुस्वार, अनुनासिक, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय गिनाये गये हैं। कुल ६५ वर्ण हैं, इनमें से ळ्, ळ्ह जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा नासिक्य वर्ण माध्यन्दिनों के यहां नहीं पाये जाते[12]।

---

१. वा० प्रा० १, १६९।

२. अनन्तभट्ट कृत भाष्य, पृ० २, मद्रास वि० वि० सं०, १९३५; अनन्तदेव याज्ञिक, प्रति० परि० १, ३ पर।

३. ऐन्द्र स्कूल० पृ० ८६-८७।

४. अनन्तभट्ट, पृ० २-४।

५. वा० प्रा० १, १२२।

६. वा० प्रा० ४, १०४; १४६।

७. वा० प्रा० ४, १३७।

८. वा० प्रा० ५, ४३।

९. वा० प्रा० ३, ८७; ९१; ५, ४४।

१०. वा० प्रा० ३, ४३; ४७; ४, ९; ९५; ६, २०-२३।

११. वा० प्रा० १, ४४, ४५, ४७, ४९, ५०, ५४।

१२. वा० प्रा० ८, ३५।

यहां वर्णों की अधिष्ठात्री देवताओं का भी उल्लेख किया गया है[1], जो अष्टम अध्याय की अर्वाचीनता का द्योतक है[2]।

यहां ष तथा टवर्ग का स्थान मूर्धा (१, ६७) तथा करण प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र कहा गया है (१, ७८)। र का स्थान दन्तमूल[3] तथा करण जिह्वाग्र है[4]। ऋकार जिह्वामूलीय तथा कवर्ग का स्थान जिह्वामूल[5] और करण हनुमूल कहा गया है[6]। वास्तव में स्थान हनुमूल तथा करण जिह्वामूल होना चाहिए। ऋ और लृ में रेफ और लकार संश्लिष्ट रूप में विद्यमान हैं। (४, १४८ (द्र० ऐलन, वही, पृ० ७२. अनुवाद गलत है)। पाणिनि तथा पतञ्जलि के अनुसार दीर्घ लृकार नहीं है, किन्तु वार्तिककार कात्यायन तथा वा० प्रा० लेखक कात्यायन के मत में दीर्घ लृकार होता है। कण्ठ्यों का करण हनुमध्य कहा गया है (१. ८४), जो बड़ा विचित्र लगता है। चवर्ग को स्पर्श वर्ण माना गया है, न कि वर्तमान घर्ष स्पर्श[7]। वर्गों के पञ्चम वर्णों को अनुनासिक संज्ञा दी गयी है[8] और उनका उच्चारण मुख सहित नासिका से किया जाता है[9], अनुस्वार और अनुनासिक में स्पष्ट भेद किया गया है[10]। आचार्य औपशवि के मत में स्वरपरक नकार के उपधाभूत स्वर को अनुनासिक विकार होता है[11] और व्यञ्जन परे रहते अनुस्वार का आगम होता है[12]। अनुस्वार का स्थान नासिका[13] और करण हनुमूल[14] है। ह्रस्वपूर्वक अनुस्वार का उच्चारण काल १½ मात्रा तथा पूर्व ह्रस्व का ½ मात्रा विहित है[15], दीर्घपूर्व अनुस्वार

---

१. वा० प्रा० ८, ३६-४३ ।
२. वेबर, का० प्रा० भूमिका ।
३. वा० प्रा० १, ६८ ।
४. वा० प्रा० १, ७७ ।
५. वा० प्रा० १, ६५ ।
६. वा० प्रा० १, ८३ (द्र० अथर्व प्रा० १, २०) ।
७. वा० प्रा० ८, ९-१३ ।
८. वा० प्रा० १, ८९ ।
९. वा० प्रा० १, ७५ ।
१०. वा० प्रा० ३, १३०-१३२ ।
११. वा० प्रा० ३, १३१ ।
१२. वा० प्रा० ३, १३२; तु० व्या० शि० १६९; ल्यूडर्स, पृ० ८५ ।
१३. वा० प्रा० १, ७८ ।
१४. वा० प्रा० १, ८३ ।
१५. वा० प्रा० ४, १५० ; वे० शर्मा, वही, पृ० २०६, इस सूत्र का अनुवाद दोषपूर्ण है। 'अध्यर्ध' का अर्थ 'One Fourth करना सर्वथा अक्षम्य है। द्र० या० शि० ४४, शिक्षावल्ली टीका, पृ० १०६-७ टि० १ ।

अर्धमात्रा काल का होता है तथा पूर्वस्वर १$\frac{१}{२}$ मात्रा काल का[1]। समान पद में स्वरों के मध्य स्थित द्वित्वापन्न वर्ण के सन्धारण के कारण एक वर्ण के समान या दोनों के एक प्रयत्न से किये गये उच्चारण को **अभिनिधान** कहा गया है[2] यथा—कुक्-कुरः और एक ही पद में पञ्चम स्पर्श परे रहते पूर्ववर्ती अपञ्चम वर्ण के उच्चारण में **यम** होता है, जिसे यहां **विच्छेद** कहा गया है[3]। इस शब्द का प्रयोग केवल इसी प्रातिशाख्य में किया गया है। यथा—द ध् ध् नः। **यम** का करण नासिकामूल (१, ८२) है। **यम** पूर्ववर्ती स्वर का अंग होता है (१, १०३)। इसका स्वरूप कुँ खुँ गुँ घुँ (८, २४), बताया गया हैं, जो सर्वथा अस्पष्ट है। यमों की संख्या सभी प्रातिशाख्यों में बीस प्रतीत होती है, किन्तु भाष्यकारों ने इसे चार तक सीमित करने का प्रयास किया है, जो किसी अवस्था में भी संगत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस अवस्था में तो **तक्मन्** तथा **आत्मन्**, के यमों में कोई अन्तर करना सर्वथा असम्भव हो जायेगा[4]। इस प्रसंग में ऊष्मों से परे **यमापत्ति** को दोष माना है,[5] यथा 'प्रश् श् नः' में **यम** का उच्चारण दूषित है। उच्चारण के विषय में केवल एक और दोष बताया गया है। स्पर्श से परे ककार वर्ग के रहते 'स्फोटन' या 'संयोग' का पृथग् उच्चारण दोष है,[6] यथा—काण्डात्काण्डात् में 'त्का' का उच्चारण एक साथ करना चाहिये न कि त्/का० इस प्रकार पृथक् करके[7]। उच्चारण के प्रसंग में एक और महत्त्वपूर्ण बात स्वरमध्यस्थ जकार का यकार उच्चारण है[8]। गार्ग्य के अनुसार 'ख्या' का 'क्शा' उच्चारण करना चाहिये[9]। ये दोनों ही उच्चारण चरक सम्प्रदाय में प्रचलित थे। जातूकर्ण्य के अनुसार ऋषि के नाम के अतिरिक्त 'कश्यप' का उच्चारण 'कच्छप' करना चाहिये[10]। शौनक के मत में असमान स्थान वाले श् ष् स् परे रहते पूर्वस्थ अपञ्चम स्पर्श को महाप्राण अघोष (द्वितीय) वर्ण हो जाता है। यथा—

---

[1] वा० प्रा०४, १५१।

[2] वा० प्रा० ४, १४४ पर उवट।

[3] वा० प्रा० ४, १६३; तु० ऋक् प्रा० ६, २९-३४; तै० प्रा० २१, १२-१४ अथर्व प्रा० १, ९९-१००।

[4] द्र० ह्विट्ने, अथर्व प्रा० १. ९९।

[5] ४, १६४—यथा—प्रश्नं' इत्यत्र नकारसदृशो यमस्सम्भवति, सदोषत्वाद् वर्ज्यः (अनन्त भट्ट)।

[6] वा० प्रा० ४, १६५।

[7] ऐलन, ने अभिनिधान के प्रसंग में यमासक्ति विषयक संकेत (वे० शर्मा; पृ० १९५) देकर भूल की है (पृ० ७२, टि० २)।

[8] वा० प्रा० ४, १६६।

[9] वा० प्रा० ४, १६७; उवट।

[10] वा० प्रा० ४. १६० पर अनन्तभट्ट।

सम्यक्+स्रवन्ति=सम्यख् स्रवन्ति,
अनुष्टुप्+शारदी=अनुष्टुफ् शारदी
(वा० प्रा० ४, १२२ ; तु० तै० प्रा० १४, १३)

प्रगृह्यस्वरों (१, ९२-९८) तथा स्वरों की स्वाधीनता तथा व्यञ्जनों की पूर्वाङ्गता-पराङ्गता (१, १००-११७) की चर्चा भी स्पष्ट रूप से की गयी है, जिसका उदात्तत्वादि के निर्णय के लिए बहुत महत्त्व है ।

पदपाठ के अध्याय को दृष्टि से अवग्रह के सम्बन्ध में पञ्चम अध्याय में किया गया विस्तृत विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । अवग्रह कहां और किन अवस्थाओं में किया जाना चाहिये (५, १-२३) और किन परिस्थितियों में नहीं करना चाहिये (५, २४-४५) इन सब पर प्रकाश डाला गया है ।

अन्य प्रातिशाख्यों की तरह इसमें भी विशेष प्रकार के शब्दों को स्थान-स्थान पर गिनाया गया है, जिनकी ओर आचार्य विशेष ध्यान आकृष्ट करना चाहते थे । इसी प्रकार की शब्द-तालिकाओं में उन शब्दों को गिनाया गया है, जिनके अन्त में विसर्जनीय नहीं रहता (४, २८-३४) या जिनमें एक यकार है, या दो (४, १५२-१५८) या यकार होता ही नहीं (४, १५९-१६२), या जिनमें एक, दो अथवा तीन स्पर्शों वाले शब्द हैं (६, २५-३०) । किन्तु इस प्रकार की गणरचना में ग्रन्थकार सर्वथा असफल रहे हैं । इसी प्रकार क्रियावाचक शब्दों तथा आमन्त्रित शब्दों के स्वरों के विषय में नियम बनाने (६, १-२३) तथा सामान्य शब्दों के स्वर-सन्धान के नियमों का अधूरा प्रयास (२, १-४५ ; ५५-६४) भी विफल ही कहा जा सकता है ।

द्वितीय तथा छठे अध्यायों में नामों, निपातों, उपसर्गों, तथा आख्यातों के स्वरों पर विचार किया गया है । इसमें भी विचार क्रम का अभाव है । जैसा कि पहले कह चुके हैं, द्वितीय अध्याय के अनन्तर षष्ठ अध्याय रखना चाहिये था ।

अष्टविध स्वरित का विस्तार से प्रतिपादन महत्त्वपूर्ण है[1] । 'पादविवृत्त' के स्थान पर 'पादवृत्त' स्वरित प्रयोग किया गया है । तीनों प्रकार के स्वरों का आदि, मध्य, अन्त तथा सर्व इन चार विभागों के अन्तर्गत विचार किया गया है । स्वरों का प्रतिपादन निम्नलिखित क्रम से किया गया है—

१. अनुदात्ताधिकार
२. आद्युदात्ताधिकार
३. द्विरुदात्ता०
४. तीन उदात्त वाले शब्द
५. सर्वोदात्त
६. सर्वानुदात्त
७. अन्तोदात्त
८. वैकल्पिक स्वर ।

---

[1] वा० प्रा० १, १११, ११४, ११५-१२० ।

स्वरों की चर्चा के अतिरिक्त स्वरसंधियों का भी प्रतिपादन किया गया है[1]।

जैसे कि पहले कह चुके हैं, वा०प्रा० तथा पाणिनिकृत अष्टाध्यायी में अनेक पारिभाषिक शब्दों में समानता पायी जाती है। यथा - **तिङ्, आङ्, लुक्, लुप्, उपदगम्, अनुदेश, अन्यतरतः, लिङ्, संज्ञा प्रभृति** ।

कुछ पारिभाषिक शब्द ऐसे भी हैं, जो केवल यहीं प्रयुक्त हुए हैं। यथा—

सिम्, जित्, धि, भावी आदि ।

वा० प्रा० तथा अष्टाध्यायी के कुछ समान सूत्र द्रष्टव्य हैं—

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य (वा० प्रा० १३४ ; पा० १, १, ६६)
तस्मादित्युत्तरस्यादेः (वा० प्रा० १, १३५ ; पा० १, १, ६७)
षष्ठी स्थाने योगः (वा०प्रा० १, १३६ ; पा० १, १, ४९)
संख्यातानामनुदेशे यथासंख्यम् (वा०प्रा० १, १४३)
यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (पा० प्रा० १, ३, १०)
विप्रतिषेधे उतरं बलवदलोपे (वा० प्रा० १, १५९)
विप्रतिषेधे परं कार्यम् (पा० १, ४, २) ।

इसी प्रकार कुछ थोड़े हेरफेर से ये सूत्र भी समान लगते हैं—

उच्चैरुदातः, नीचैरनुदात्तः, उभयवान् स्वरितः, तस्यादित उदात्तं स्वरार्धमात्रम् (वा० प्रा० १, १२६=पा०—अर्धह्रस्वम् १, २, ३२)
उदात्ताच्चानुदात्तं स्वरितम् (वा० प्रा० ४, १३७=पा० उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः ८, ४, ६६)
नोदात्तस्वरितोदयम् (वा० प्रा० ४, १४३=पा० ८, ४, ६७)
समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः (वा० प्रा० १, ४३)
तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (पा० १, १, ९) ।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेकों अनुरूपताएं पायी जाती हैं, किन्तु जैसा कि पहले कह चुके हैं, वा० प्रा० का वचोविन्यास तथा शैली अधिक विस्तार-प्रवण, कृत्रिम, दुर्बोध तथा अपेक्षाकृत अविकसित है। विषय की समानता के कारण समान शब्दावलि का प्रयोग स्वाभाविक है। वा० प्रा० में अनेकों प्राचीन आचार्यों

---

[1] वा० प्रा० ४, १२९-१४१ ।

के नाम निर्दिष्ट हैं, जिनमें यजुः शाखा प्रवर्तकों के अतिरिक्त औपशवि[१], कश्यप, शाकटायन,[२] दाल्भ्य,[३] शौनक,[४] जातूकर्ण्य,[५] गार्ग्य[६] तथा शाकल्य[७] के नाम महत्त्वपूर्ण हैं।

व्याख्याएं—(१) उवटकृत 'मातृमोद' नामक भाष्य अनेकत्र प्रकाशित हो चुका है। यह भाष्य न तो अतिसंक्षिप्त है, न ही अत्यन्त विस्तृत। इसमें सरल भाषा में सूत्रार्थ करके उदाहरण-प्रत्युदाहरण से विषय का आशय स्पष्ट व्यक्त किया गया है। पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष दोनों का स्पष्ट प्रतिपादन करके सूत्रार्थ का अभिप्राय समझाया गया है। यद्यपि उवट ने ऋक्प्रा० पर भी भाष्य लिखा है, तो भी कहीं भी दोनों रचनाओं की तुलना अथवा एक-दूसरे का संकेत नहीं किया गया। भाष्यकार विषय के प्रतिपादन में अनुपयुक्त, व्याकरण तथा शिक्षा से सम्बद्ध तथा ऐसे सूत्रों का विशेष उल्लेख करते हैं, जिनके उदाहरण वा० सं० में नहीं पाये जाते। इन्होंने कुछेक उदाहरण शाखान्तरों से भी दिये हैं, जिनमें कुछ आजकल अनुपलभ्य हैं। इन्होंने कई स्थलों पर पूर्वाचार्यों से मतभेद भी व्यक्त किये हैं[८]। अनन्तदेव याज्ञिक के अनुसार भर्तृयज्ञ, पितृभक्ति, वासुदेव, काकोपाध्याय प्रभृति भाष्य उनसे पूर्व हो चुके थे।

(२) **अनन्तभट्ट**—मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित वा० प्रा० के साथ अनन्तभट्ट का भाष्य 'पदार्थप्रकाश' भी छपा है। अनन्त की माता का नाम भागीरथी था और पिता का नागदेव। यह काण्वशाखीय ब्राह्मण थे तथा काशी में निवास करते थे। इन्होंने याजुष काण्वसंहिता पर भी भाष्य लिखा है तथा 'पञ्चोपाख्यान संग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की है। प्रतिज्ञा० (१, ३) में अनन्त ने महीधर का उल्लेख किया है। महीधर ने

---

[१] वा० प्रा० ३, १३१।

[२] वा० प्रा० ४, ५।

[३] वा० प्रा० ४, १६।

[४] वा० प्रा० ४, १२२।

[५] वा० प्रा० ४, १२५।

[६] वा० प्रा० ४, १६७।

[७] वा० प्रा० ३, १०।

[८] वा० प्रा० १, ८९; ४, १२२; १२७।

'मन्त्रमहोदधि' नामक ग्रन्थ की रचना सं० १६४५ (१५८८ ई०) में की थी तथा 'पञ्चोपाख्यान संग्रह' की रचना सं० १६६४ (१६०७ ई०) में की थी[१] तथा 'विधान पारिजात' या 'विधान-दिविषद्वृक्ष' की सं० १६८२ (१६२५ ई०)[२] में की थी। यह सूचना उसने स्वयं भी दी है। अतः उसका काल सं० १६३०-१६९० (सन् १५७३-१६३३) सर्वथा संगत प्रतीत होता है।

(३) **श्रीराम शर्मा** (अथवा रामचन्द्र) सं० १८०२ वि० (सन् १७४५) से पूर्वकालिक था। इसने वा० प्रा० पर 'प्रातिशाख्य ज्योत्स्ना' नामक व्याख्या लिखी थी, जिसका कुछ अंश डा० थीबो (Thibaut) ने स्वरचित 'दास जटापटल' में प्रकाशित किया था। 'प्रातिशाख्य-प्रदीपशिक्षा' में इस टीका को दो-तीन बार उद्धृत किया गया है। रामचन्द्र की दो अन्य रचनाएं 'वेद-परिभाषा-सूत्र शिक्षा' तथा 'वेद-परिभाषा-कारिकाशिक्षा' भी उपलभ्य है[३] बालकृष्ण गोडशे द्वारा सं० १८०२ (सन् १७४५) में रचित "प्रातिशाख्य-प्रदीपशिक्षा" में 'ज्योत्स्ना' का निर्देश दो स्थानों पर मिलता है (पृ० ३०५-३०६)। अतः इसका रचनाकाल सं० १८०२ से पूर्व सुनिश्चित है।

(४) **राम अग्निहोत्री** नामक किसी विद्वान् ने 'प्रातिशाख्य-दीपिका' नाम की व्याख्या लिखी थी। इसका एक हस्तलेख दक्खन कालेज, पूना, में संख्या २८७ के अन्तर्गत सुरक्षित है। इनके पिता का नाम सदाशिव अग्निहोत्री था। गुरुवर भगवत्प्रसाद, वेदाचार्य, सं० वि० वाराणसी, के संग्रह में भी शाके १७०९ (सन् १७८७) में लिखी एक हस्तलेख की प्रतिलिपि है। सम्भवतः यह 'प्रातिशाख्य-प्रदीपशिक्षा' के रचयिता सदाशिव सूनु बालकृष्ण गोडशे के सहोदर हैं, जिन्होंने इसकी रचना १८०२ वि० (१७४५ ई०) में की प्रतीत होती है[४]।

(५) **शिवराम** नामक किसी विद्वान् द्वारा रचित वा० प्रा० पर 'शिवाख्य भाष्य', सरस्वती-भवन, वाराणसी, में सुरक्षित है। मीमांसक का अनुमान है कि इस व्याख्या के रचयिता शिवरामेन्द्र

---

[१] द्र० इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय सूचीपत्र, पृ० ६८५।

[२] द्र० इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय सूचीपत्र भाग ३, पृ० ४३७, संख्या ४६०।

[३] शिक्षासंग्रह, बनारस, सं० १९८३, पृ० ३०६-२६।

[४] मीमांसक, सं० व्या० शा०, भाग २, पृ० ३५५, द्वि० सं०।

सरस्वती हैं, जिनका संन्यास-ग्रहण से पूर्व नाम शिवराम या शिवराम चन्द्र था और कि इसका रचनाकाल १६०० वि० के लगभग होगा[1]।

(६) **विवरणकार**—किसी अज्ञातनामा व्यक्ति के द्वारा वा० प्रा० पर 'विवरण' नामक व्याख्या रची गयी थी। इसका उल्लेख अनन्तदेव याज्ञिक ने स्वरचित प्रतिज्ञासूत्र व्याख्या में किया है[2]।

(७) **बालकृष्ण गोडशे** ने 'प्रातिशाख्य-प्रदीपशिक्षा' नामक शिक्षाग्रन्थ के अन्तर्गत क्रमविशेष से प्रातिशाख्य के लगभग ३/४ सूत्रों की व्याख्या कर डाली है। इन्होंने याज्ञवल्क्य, कात्यायन-शिक्षा, प्रतिज्ञासूत्र, अनन्त याज्ञिक तथा 'ज्योत्स्ना' व्याख्या के साथ-साथ अनेकों ग्रन्थों तथा आचार्यों को उद्धृत किया है। इस ग्रन्थ की रचना सं० १८०२ (सन् १७४५) में की गयी है। गोडशे महाराष्ट्रीय ब्राह्मण सदाशिव के पुत्र थे।

संस्करण—(१) कात्यायन प्रातिशाख्य—एल्फ्रेड वेबर-सम्पादित—यह रोमन लिपि में है। इसमें समस्त सूत्र तथा उनका जर्मन अनुवाद, टिप्पणियां एवं अन्य प्रातिशाख्यों से तुलनात्मक उद्धरण दिये गये हैं। उवट भाष्य से भी उद्धरण दिये गये हैं (१८५८, इण्डि० स्टु० भाग ४, पृ० ६५-१६०, १७७-३३१)।

(२) कात्यायन प्रातिशाख्य — उवट भाष्य तथा टिप्पणियों सहित, सम्पा०, युगल किशोर शर्मा, १८८८ ई०, बनारस; इसके अन्त में प्रतिज्ञा० परि० ; भाषिक परि० ऋग् यजूंषि, अनुवाक तथा चरणव्यूह दिये गये हैं।

(३) इसी की प्रतिलिपि पं० जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ने १८९३ में कलकत्ता से प्रकाशित की। इन दोनों संस्करणों में आलोचनात्मक पद्धति का आश्रय नहीं लिया गया। न ही अन्त में कोई सूचियां या तालिकाएं ही दी गयी हैं।

(४) वेङ्कटराम शर्मा सं०, मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९३५ ; इसमें उवटभाष्य के साथ अनन्तभट्ट का भाष्य भी मुद्रित किया गया है, जिससे इसकी उपयोगिता बढ़ गई है। किन्तु सम्पादन की दृष्टि से यह संस्करण अत्यन्त भ्रष्ट है।

(५) श्रीमती इन्दु रस्तोगी द्वारा संपादित तथा अंग्रेजी में अनूदित, वाराणसी।

---

[1] सं० व्या० शा०, भाग २, पृ० ३५६, द्वि० सं०।

[2] प्रतिज्ञा० भाष्य (१, ७)।

षष्ठ अध्याय

अथर्ववेद प्रातिशाख्य

चतुरध्यायिका

ह्विट्ने ने सन् १८६२ ई० में शौनकीय चतुरध्यायिका तथा चतुरध्यायिका-भाष्य प्रकाशित किया तथा इसे अथर्ववेद प्रातिशाख्य के नाम से प्रचारित किया। चतुरध्यायिका को अथर्वप्रातिशाख्य का नाम केवल अथर्वपरिशिष्ट सं० ४९[1] में दिया गया है। जैसा कि नाम से प्रकट है यह च० अ०, अ० वे० सं० की केवल शौनकीय शाखा से सम्बद्ध मानी जाती है। ह्विट्ने तथा अन्य विद्वानों ने चिरकाल तक इसे ही **शौनकीय** नाम से प्रसिद्ध प्रचलित अ० वे० सं० का प्रातिशाख्य मानकर इसकी विवेचना की है, किन्तु अनेक स्थलों पर संहिता तथा च० अ० में सामञ्जस्य के अभाव के कारण इस ग्रन्थ के विषय में अनेक प्रकार की शङ्काएं उठीं, जिनका समाधान नहीं हो सका[2]। किन्तु एक और अथर्वप्रातिशाख्य के प्रकाशित हो जाने पर अनेक उलझनों के सुलझ जाने से प्रतीत होता है कि च० अ० प्रचलित अ० वे० सं० से भिन्न किसी अन्य अ० वे० सं० से सम्बद्ध है। अर्थात् वर्तमान अ० वे० सं० शौनकीय शाखा से सम्बद्ध नहीं[3] या फिर च० अ० शौनकीय नहीं। च० अ० में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलि पाणिनि की शब्दावलि से बहुत अधिक मिलती है[4]। अनेक सूत्रों में ऐसे विषयों का प्रतिपादन किया गया है, जिनका सम्बन्ध शुद्ध सामान्य व्याकरण से है न कि प्रातिशाख्य से[5]। ऐसे शब्दों पर विचार किया गया है, जिनके संहितागत तथा पदगत रूपों में कोई अन्तर ही नहीं[6]। अनेक ऐसे सूत्र भी हैं, जिनका सम्बन्ध केवल संहिता से है यथा— 'गविष्टौ गवेषणे च'[7]।

---

[1] अथर्व परि० पृ० ३३७ ।

[2] ह्विट्ने, अ० प्रा० (च० अ०) आंग्लानुवाद, चौखम्बा सं०, १९६२, पृ० २५०-५३ ; कीथ, वे० ब्लै० य०, उपोद्० पृ० ३८ ।

[3] सूर्यकान्त, अथर्वप्राति०, लाहौर १८३९ ई० ; १९६८ सं० दिल्ली, उपोद्० पृ० ३२ तथा आगे ।

[4] पा० वे०, पृ० ८५ ।

[5] तु० च० अ० १, २ ।

[6] ह्विट्ने, वही, पृ० २५० ।

[7] च० अ० २, २३ ।

किन्तु इससे यह परिणाम निकालना उचित नहीं कि च० अ० पाणिनि-व्याकरण से परिचित या प्रभावित है। स्वयं पाणिनि प्रवचनकर्ता हैं, मूल लेखक नहीं। यह परम्परागत विश्वास उनके ग्रन्थ में उल्लिखित अनेक पूर्वाचार्यों के नामों तथा पतञ्जलि के वचनों से प्रमाणित होता है। यह कल्पना और भी तर्कशून्य है कि च०अ० ने पाणिनि के अनेक क्लिष्ट तथा दुरूह सूत्रों को सरल तथा सुबोध बना दिया है[1]। यह मानते हुए भी कि पारिभाषिक शब्दावलि तथा कुछ सूत्रों की रचना की समानता काल-निर्णय में अचूक प्रमाण नहीं है[2], अधिकतर विद्वान् च० अ० को पा० से अर्वाचीन मानने के पक्ष में है[3]।

पाणिनीय व्याकरण सूत्रशैली की प्रौढ़ तथा परिपक्व अवस्था को प्रकट करता है, जबकि वा० प्रा० तथा च० अ० दोनों में रचना-शैथिल्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। गणों की रचना का आरम्भिक रूप प्रातिशाख्यों में दृष्टिगोचर होता है, जिनमें एक-एक शब्द नामतः परिगणित है। पाणिनि ने इस गणरचना के प्रकार को बदल कर अपनी सर्वथा नवीन गणपद्धति का आविष्कार किया। च० अ० की गणरचना-शैली पाणिनि के गणपाठ-रचना-प्रकार से मिलती है, तो भी इस विषय में पाणिनि ही च० अ० का ऋणी है[4] और जब हम यह स्वीकार करते हैं कि वर्तमान च० अ० अपने से प्राचीन मूल च० अ० का संक्षिप्त रूप है[5], तो मूल च० अ० तो और भी प्राचीन ठहरती है। यह सम्भव है कि वर्तमान च० अ० वर्तमान वा० प्रा० से कुछ अर्वाचीन हो[6], किन्तु इसमें अनेक ऐसे संकेत भी मिलते हैं, जिन से प्रतीत होता है कि अपने मूलरूप में च० अ० वर्तमान वा० प्रा० से कई अंशों में प्राचीन है, क्योंकि इसने आरम्भ में ही प्रातिशाख्य के मूल उद्देश्य—पदपाठ तथा संहिता के सम्बन्ध—का उल्लेख किया है, जबकि वा० प्रा० ने स्वर तथा सन्धि को ही अपना उद्देश्य माना है—

चतुर्णां पदजातानां नामाख्यातोपसर्गनिपातानां सन्ध्यपद्यौ गुणौ प्रातिज्ञम्। (१, १)

---

[1] पॉल थीमे पा० वे०, पृ० ९५।

[2] ह्विट्ने ने, अ० प्रा० (च० अ०), पृ० २४९, सूर्यकान्त अ० प्रा०, उपोद्०, पृ० २९।

[3] उपर्युक्त तथा पॉल थीमे वही, पृ० ९५-९८ *Z. D. M. G.* (१९३५, पृ० २१-२४; वेबर इण्डि० स्टु० ४, पृ० ९०-९२।

[4] ह्विट्ने च० अ० आंग्लानु० परिशिष्ट, पृ० २४९; कपिलदेव, सं० व्या० गणपाठ, अजमेर, सन् १९६१, पृ० २१-२३, सूर्यकान्त, अ० प्रा०, पृ० २२; इनकी इस मान्यता का इनके इस परिणाम से स्पष्ट विरोध है कि च० अ० पाणिनि से बाद की रचना है।

[5] सूर्यकान्त अ० प्रा० उपोद्० पृ० ६१।

[6] वेबर, वही पृ० ७९, लीविख, वही, पृ० ४७; पॉल थीमे, पा० वे०, पृ० ३, ८५, ९४-९५।

दूसरे वा०प्रा० में शौनक के नाम से यह मत उद्धृत किया गया है कि यदि स्पर्श के अव्यवहित बाद ऊष्मवर्ण आ जाये, तो स्पर्श को अघोष महाप्राण आदेश हो जाता है। यथा—'सम्यख् स्रवन्ति'। यही नियम च० अ० में भी (भिन्नवर्गीयता की व्यवस्था के बिना) पाया जाता है (२, ६)। क्योंकि शौनक को ही च० अ० का कर्ता माना जाता है, अतः सम्भव है कि वा० प्रा० का संकेत यहां च० अ० की ओर ही हो। यहां पर यह संकेत ऋक् प्रा० के रचयिता शौनक की ओर नहीं हो सकता, क्योंकि वहां इसे अन्य आचार्यों के मत के रूप में उद्धृत किया गया है (६, १५)—

ऊष्मोदयं प्रथमं स्पर्शमेके द्वितीयमाहुरपदान्तभाजम् ।

अतः सम्भव है कि च० अ० तथा वा० प्रा० दोनों समकालीन रचनाएं हों। अतः अथर्वप्रा० (च० अ०) को सर्वाधिक अर्वाचीन प्रातिशाख्य मानना केवल सापेक्ष कालगणना की अत्यधिक खींचातानी करना ही होगा[1] और इनके काल में अधिक अन्तर नहीं[2]।

अतः सिद्ध है कि वर्तमान च०अ० भी पाणिनि से प्राचीन है और इसक रचनाकाल सप्तम शताब्दी ई० पू० के अन्तिम चरण से इधर नहीं हो सकता।

च०अ० के कर्ता के विषय में सुनिश्चित ज्ञान के अभाव के कारण उसके देशकाल के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उज्जैन-हस्तलेख-संग्रहालय में सुरक्षित एक हस्तलेख[3] तथा सरस्वती-भवन-संग्रहालय-सूची, सं २०८६ में यह पाठ अध्यायों के अन्त में मिलता है—'इत्यथर्ववेदे कौत्सव्याकरणे चतुरध्यायिकायां प्रथमः ··· ···'। इससे संकेत मिलता है कि यह **आथर्वण व्याकरण** कौत्स द्वारा प्रोक्त है। किन्तु यह कौत्स कौन हैं ? इसका उत्तर नहीं है।

चतुरध्यायिका

विषय-विवेचन—

चतुरध्यायिका अन्य प्रातिशाख्यों की अपेक्षा कहीं अधिक संक्षिप्त तथा संश्लिष्ट है। इसमें वर्णसमाम्नाय तक का अभाव है, जिस पर इसका समस्त ढांचा आधृत है और जो प्रत्येक अन्य प्रातिशाख्य में कहीं न कहीं समाविष्ट है। परिभाषाएं अन्य प्रातिशाख्यों में विस्तार से समझायी गयी हैं, किन्तु इसमें अत्यन्त संक्षेप से जहां-तहां चलती कर दी गयी हैं। इसका आंशिक हेतु इस ग्रन्थ का अधिक सादा तथा कम कृत्रिम कलेवर तथा रचनाक्रम ही है। फिर भी विद्वान् कर्ता

---

[1] सि० वर्मा, वही [हिन्दी], पृ० ३३।

[2] सिद्धेश्वर, क्रि० स्ट० फो० पृ० २०-२७।

[3] द्र०एस०एल० कात्रे का न्यु० इण्डियन एण्टि०, १९३८ में लेख।

महत्त्वपूर्ण विषयों पर पूर्णरूप से और कहीं-कहीं अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से विचार करने से नहीं चूकते। महत्त्वपूर्ण तथा विवादास्पद विषयों पर अन्य विद्वानों तथा प्राचीन आचार्यों के मतभेदों पर यथास्थान संक्षेप से प्रकाश डाला गया है। **अभिनिधान, स्वरभक्ति, यम, वर्णक्रम,** पादादि तथा पादान्त व्यञ्जन, परस्पर **सन्धियोग्य व्यञ्जन, विसर्जनीय** तथा स्वरों से सम्बद्ध **सन्धियां** तथा **प्रगृह्य** वर्ण, **जात्यस्वरित** तथा उसके विविधरूप सभी विषयों पर सुचारुरूप से विचार किया गया है। पदपाठ को संहितापाठ में परिवर्तित करने तथा संहितापाठ से पदपाठ बनाने सम्बन्धी विशेष विषयों की चर्चा भी संक्षेप से कर दी गयी है। किन्तु क्रमपाठ के विषय में अभीष्ट ध्यान नहीं दिया गया। वेदाध्ययन सम्बन्धी नियमों की ओर भी संकेत किया गया है।

इस प्रातिशाख्य की एक अत्यन्त मार्मिक तथा महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें नियमों के निर्माण में गणों का बहुतायत से प्रयोग किया गया है, जिस कारण अन्य प्रातिशाख्यों के प्रायः सभी विषयों को अपने भीतर संजो कर भी यह सर्वाधिक संक्षिप्त तथा संश्लिष्ट बन पाया है। यह हमें संस्कृत व्याकरण की उन विशेषताओं के निकट ला खड़ा करता है, जिनकी चरम परिणति पाणिनि की अष्टाध्यायी में हुई[1]। इस प्रातिशाख्य में अनेक ऐसे नियम हैं, जिनका सम्बन्ध व्याकरण से अधिक है, प्रातिशाख्य से कम। इसमें व्याकरण की पारिभाषिक शब्दावलि का प्रयोग अन्य सभी प्रातिशाख्यों से अधिक किया गया है।

इसमें चार प्रकार के पदों की चर्चा आरम्भ में ही कर दी गयी हैं,[2] जो संहितापाठ तथा पदपाठ दोनों अवस्थाओं में प्रातिशाख्य का विषय है। ये शब्द भी यास्क के निरुक्त से ग्रहण किये प्रतीत होते हैं, **चतुर्णां पदजातानां नामाख्यातोपसर्गनिपातानां**[3]—इसमें वर्ण-समाम्नाय को सिद्धवत् मानकर ध्वनियों की उत्पत्ति तथा उनके वर्गीकरण पर विचार किया गया है। इस विषय में करणों पर विचार करते हुए कहा गया है कि कण्ठ्य वर्णों (अ, ह, विसर्ग) का करण 'अधरकण्ठ' होता है[4] तथा ओष्ठ्यों का 'अधरोष्ठ'[5], 'व' का करण वा० प्रा०[6] तथा तै० प्रा०[7] में दन्ताग्र माना गया है। इस उच्चारण-भेद से एक ओर जहां

---

[1] ह्विटने, च० अ०, आंग्लानुवाद, पृ० २४९।

[2] च० अ० १, १।

[3] तु० **'चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च।'** निरुक्त० १, १, ८।

[4] च० अ० १, १९।

[5] च० अ० १, २५ ; तु० तै० प्रा० २, ३९ पर त्रिभाष्य०।

[6] च० अ० १, ८१।

[7] च० अ० २, ४३।

शाखाभेद की विशेषता प्रकट होती हैं, वहां दूसरी ओर प्रातिशाख्यों की स्वतन्त्र वैज्ञानिक सूक्ष्मदृष्टि पर भी प्रकाश पड़ता है। 'स्पृष्टों' का करण स्पर्श है'[1]। यहां **करण** शब्द का प्रयोग ढीला है, यह **प्रयत्न** का वाचक है, किन्तु भाष्यकार ने स्वर-मध्यस्थ ड् तथा ढ् के उच्चारण में पूर्ण स्पर्श के स्थान पर **मृदुप्रयत्न** से ही उच्चारण करने का निर्देश दिया है—यथा **इडा** तथा **पुरुमीढम्**। ऊष्मों का करण जहां अन्त:स्थों के समान **ईषत्स्पृष्ट है** वहां **विवृत** भी है,[2] जो सर्वथा संगत प्रतीत होता है। इस विषय में तै० प्रा० का वचन ध्यान देने योग्य है—**स्पर्शस्थानेषूष्माण आनुपूर्व्येण**[3]; **करणमध्यं तु विवृतम्**[4]। वर्तमान भारतीय उच्चारण के 'तालुचित्रों' (Palatograms) से भी इस कथन की पुष्टि होती है[5]। ह्विट्ने इस तथ्य को समझने में असमर्थ रहे[6]। षकार के उच्चारण में करण को समझने के लिए एक अपूर्व तथा मार्मिक शब्दचित्र **द्रोणिका** के प्रयोग से प्रस्तुत किया है। इसमें जिह्वा प्याले या कठौती का आकार धारण करती है[7]। यद्यपि स्वरों का प्रयत्न विवृत है[8], तो भी एक पक्ष इसे **स्पृष्ट** भी मानता था[9], जो सम्भवतः 'इ' तथा 'उ' के विषय में प्रतिपादित विचार[10] के अनुरूप ही प्रतीत होता है। 'ए' के विषय में तै० प्रा० में थोड़े स्पर्श का सङ्केत किया गया है, जिसकी पुष्टि आज के ध्वनि-शास्त्री करते हैं,[11] किन्तु ह्विट्ने ने इस विचार का सर्वथा निराकरण कर दिया था[12]। मूर्धन्यों का करण **प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र** है[13] जिसकी पुष्टि अन्यत्र भी होती है[14]। श्वास तथा नाद की चर्चा भी यहां की गयी है[15]।

---

[1] च० अ० १, २९ ; तु० ऋक् प्रा० १३, ९।

[2] च० अ० १, ३१।

[3] च० अ० २, ४४।

[4] च० अ० २, ४५।

[5] द्र० विश्वनाथ प्रसाद, भोजपुरी, पैलेटोग्राम, सं० २, ६८, ६९।

[6] च० अ० १, ३१ पर।

[7] च० अ० १, २३।

[8] च० अ० १, ३२।

[9] च० अ० १, ३३।

[10] व्यास शिक्षा, २८४; २९४ तथा २९५ (Lüders, पृ० ९४; ९८, टि० २)।

[11] प्रसाद, विश्वनाथ, वही, तालुचित्र, सं० ९९, १००।

[12] च० अ० १, ३३ पर।

[13] च० अ० १, २२।

[14] तै० प्रा० २, ३७ ; वा० प्रा० १, ७८।

[15] च० अ० १, १२-१३।

जिह्वामूलीयों (कवर्ग, ऋ तथा जिह्वामूलीय) का **करण** हनुमूल कहा गया है[१], जो ठीक नहीं है। यहां हनुमूल **स्थान** होना चाहिये और जिह्वामूल करण[२]। यही भूल वा० प्रा० में भी की गयी है[३]। रेफ के **करण दन्तमूल** कहे गये हैं,[४] जो बड़ा विचित्र लगता है। दन्तमूल **स्थान** होना चाहिये, न कि **करण**[५]। ऋ तथा ऌ वर्णों में 'र' तथा 'ल' का संस्पर्श रहता है,[६] जिसमें र की अर्धमात्रा दोनों ओर से स्वर की १/४ मात्रा से घिरी रहती है[७]। ऋ का इस प्रकार का उच्चारण लुप्त हो गया है। तै० प्रा० (२, १८) के अनुसार ऋ, ऌ के उच्चारण में दोनों हनुभागों को अधिक समीप लाकर जिह्वा का अग्र भाग ऊपर के दांतों के ऊपर तथा पिछले भाग को स्पर्श करता है। दीर्घ तथा प्लुत ऋकार-ऌकार में रकार-लकार केवल प्रथममात्रा में पाये जाते हैं [illegible] भाग स्वरमय रहता है[८]। इसी कारण उत्तरकालीन लेखकों ने इनको स्वर मानने से इनकार कर दिया था[९] (कैय्यट, महाभाष्य, १, १, ४; पा० १, १, ९ पर)। दन्त्य वर्णों का करण चपटा (**प्रस्तीर्ण**) जिह्वाग्र है। इस विषय में ऋक् प्रा०[१०] में किसी भी स्पर्श वर्ण के उच्चारण में जिह्वा का अधिक '**प्रथन**' या '**विस्तार**' (उवट) करने के विरुद्ध चेतावनी दी गयी है। **अभिनिधान** का लक्षण यहां सर्वाधिक पूर्ण है— 'व्यञ्जनविधारणमभिनिधानः पीडितः सन्नतरो हीनश्वासनादः'[११]। एक के अनन्तर दूसरे व्यञ्जन के आ जाने पर पूर्वव्यञ्जन का विधारण या करण का स्थान पर रोकना **अभिनिधान** कहलाता है। इस अवस्था में कुछ काल तक रोककर फिर उसी प्रयत्न से अगले वर्ण का उच्चारण किया जाता है। इस सन्धारण की अवस्था में वह पूर्व वर्ण क्षीणतर एवं श्वास तथा नाद से रहित होकर रुका रहता है। यह **अभिनिधान** केवल स्पर्श परे रहते पूर्वस्पर्श को ही होता है[१२] और पदान्त में या समस्त पदों के पूर्वपद के अन्त में होता

---

[१] च० अ० १, २०।

[२] तु० तै० प्रा० 'हनुमूले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयति' (२, ३५)।

[३] च० अ० १, ८३।

[४] च० अ० १, २८।

[५] द्र० वा० प्रा० १, ६८; १, ७७; तै० प्रा० २, ४१।

[६] च० अ० १, ३८-३९; तु० ऋक् प्रा० १३, ३४।

[७] सर्व० शि० १९।

[८] च० अ० १, ३८-३९।

[९] च० अ० १, २४; ह्विट्ने का अनुवाद Thrust forward' ठीक नहीं।

[१०] च० अ० ऋक् प्रा० १४, २१।

[११] च० अ० १, ४३।

[१२] च० अ० १, ४४।

है[1]। ऊष्म परे रहते पूर्व लकार[2] तथा हकार परे रहते पूर्व ङ्, ण्, न् को भी **अभिनिधान** किया जाता है[3]। **अभिनिधान** की संज्ञा **आस्थापित** भी है[4]।

किन्तु यदि पश्चाद्वर्ती वर्ग का कोई स्पर्श वर्ण पूर्व स्थित हो और किसी पूर्ववर्ती वर्ग का कोई स्पर्श वर्ण अवयव-रहित उत्तर स्थित हो, तो सन्धारण के बाद उत्तर वर्ण का उच्चारण करने से ठीक पूर्व सन्धारण का त्याग करते समय पूर्व-वर्ण-सदृश हलका सा विस्फोट होता है, जिसे यहां '**स्फोटन**' की संज्ञा दी गयी है,[5] यथा—'त्रिष्टुप्छन्दः वषट्-कारेण, अवत्-कम्'। **स्फोटन** प्रायः कवर्ग परे रहते होता है।

किन्तु चवर्ग परे रहते पूर्ववर्ती टवर्ग के उच्चारण में स्फोटन के स्थान पर **काल विप्रकर्ष** या **कर्षण** होता है[6]। इस अवस्था में पूर्व स्थान को छोड़कर उत्तरस्थान तक जाने के लिए करण को समय अधिक लगता है, यथा—'षड्जाता', 'षट् च' में **स्फोटन** का काल **स्वरभक्ति** के काल के तुल्य ही होता है[7]। **स्वरभक्ति** के विषय में भी इस प्रातिशाख्य में सर्वाधिक विचार किया गया है। 'र' के अनन्तर स्वरपरक ऊष्म परे रहते मध्य में आधे या चौथाई अकार के तुल्य **स्वरभक्ति** का सन्निवेश किया जाता है[8]। किसी अन्य व्यञ्जन के परे रहते 'र' के अनन्तर चौथाई अथवा १/२ अकार के तुल्य **स्वरभक्ति** का विधान है[9]। **यम** का स्वरूप अन्य प्रातिशाख्यों के समान ही है[10]। हकार के अनन्तर नासिक्य वर्ण आने पर मध्य में नासिक्य का आगम होता है[11]। ऊष्म परे रहते पूर्ववर्ती पदान्त स्पर्श को द्वितीय वर्ण अर्थात् महाप्राण अघोष का आदेश हो जाता है[12]।

---

१. च० अ० १, ४५ ।

२. च० अ० १, ४६ ।

३. च० अ० १, ४७ ।

४. च० अ० १, ४८ ।

५. च० अ० २, ३८ ।

६. च० अ० ३, ३९ ।

७. च० अ० १, १०३ ।

८. च० अ० १, १०१ ।

९. च० अ० १, १०२; तु० वा० प्रा० (४, १७) जहां स्वरभक्ति को ऋ, लृ के रूप में माना गया है, द्र० तै० प्रा० २१, १५-१६; ऋक् प्रा० ६, ४६ ।

१०. च० अ० १, ९९ ; द्र० ऋक् प्रा० ६, २९ ; ३२-३४ ; तै० प्रा० २१, १२ ; वा० प्रा० ४, ६० ।

११. च० अ० १, १००; तु० तै० प्रा० २१, १४ ।

१२. च० अ० २, ६ ।

यथा—विश्वक् सत्यम् > विश्वख् सत्यम् । विराट् शिर: > विराठ् शिर: । भाष्यकार के अनुसार शाङ्खमित्रि, शाकटायन तथा वात्स्य का यह मत है। वा० प्रा०[1] के अनुसार शौनक का मत है कि समान स्थान वाले ऊष्मों के परे रहते अपञ्चम स्पर्श द्वितीय हो जाते हैं। वार्तिककार कात्यायन के अनुसार यह मत पौष्करसादि का है[2]। इस विषय में वैमत्य के अतिरिक्त यह भी सङ्केत मिलता है कि या तो च० अ० शौनकीय नहीं या वा० प्रा० ने ठीक जानकारी नहीं दी। अधिक सम्भावना प्रथम विकल्प की ही है, क्योंकि इसका अनेक स्थलों पर वर्तमान शौनकीय अथर्ववेद से सामञ्जस्य नहीं बैठता।

'ट' से परे 'स' रहते मध्य में 'त' का आगम किया जाता है यथा— 'विराट् स्वराजम् > विराट्त् स्वराजम्, षट्सहस्राः > षट्त् सहस्राः[3]'।

ध्वनिशास्त्र सम्बन्धी इन नियमों के अतिरिक्त स्वर-सन्धियां, व्यञ्जन-सन्धियां, प्रगृह्यस्वर, वर्णक्रम या द्वित्व, अक्षरकाल, वर्णकाल, दीर्घीकरण, अनुनासिकीकरण, विसर्जनीय-सन्धियां, मूर्धन्यीकरण, स्वरसन्धान, जात्यस्वरित के विविध भेद, संहिता में स्वर-विकार, पदपाठ का स्वरूप, धातु तथा उपसर्ग का संयोग तथा वियोग, समासों की रचना तथा समास-विग्रह, पदपाठ में शब्दों के प्राकृतिक रूप, पद में आवृत्ति, क्रम-पाठ का स्वरूप तथा निर्माण सम्बन्धी नियम प्रभृति अनेक विषयों पर विचार किया गया है।

इनमें वर्णक्रम सम्बन्धी कुछ नियम ऐसे हैं, जिनका समर्थन न केवल संहिता पाठ नहीं करता, अपितु उच्चारण की दृष्टि से भी अव्यावहारिक तथा काल्पनिक प्रतीत होते हैं।

एक नियम पदान्त में व्यञ्जनों के द्वित्व का आदेश देता है,[4] यथा— 'त्रिष्टुप्प्, गोधुक्क्, विराट्ट्, दृषत्त्। यह नियम ऋक् प्रा०,[5] वा० प्रा०[6] तथा तै० प्रा०[7] में वर्ण-क्रम सम्बन्धी नियमों के सर्वथा विरुद्ध ही नहीं, अव्यावहारिक भी है। ऐसे ही स्वर से परे संयोगादि व्यञ्जन के द्वित्व का आदेश है[8]। यथा— अग्ग्निः, वृक्क्षः।

---

१. वा० प्रा० ४, १२२ ।

२. पा० ८, ४, ४८ पर— 'चयो द्वितीयाः पौष्करसादेः' ।

३. च० अ० २, ८ ; तु० तै० प्रा० ५, ३३ ; ऋक् प्रा० ४, १७ ।

४. च० अ० ३, २६ ।

५. ऋक् प्रा० ६, ७ ।

६. वा० प्रा० ४, ११८ ।

७. तै० प्रा० १४, १५ ।

८. वा० प्रा० ३, २८ ।

उच्चारण की दृष्टि से यह कृत्रिम प्रतीत होता है। भाष्य के इन उदाहरणों में भी 'अग्निः' में तो यमज 'ग्' भी हो सकता है। अतः यह उदाहरण उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

चतुरध्यायिका तथा अथर्ववेद

यद्यपि चतुरध्यायिका के प्रथम सम्पादक तथा अनुवादक डा० ह्विट्ने ने इस सन्देह के निराकरण का भरसक प्रयत्न किया है कि यह प्रातिशाख्य शौनकीय शाखा का न होकर किसी अन्य शाखीय आथर्वणिक संहिता से सम्बद्ध हो सकता है,[1] तथा उन्होंने अनेक असंगतियों की व्याख्या करने का प्रयास किया है, तो भी यह स्पष्ट है कि वर्तमान शौनकीय अथर्वसंहिता में इस प्रातिशाख्य में प्रतिपादित अनेकानेक नियमों की अवहेलना होती दिखायी देती है, जिन सबका उत्तरदायित्व केवल हस्तलेखों के प्रतिलिपिकों पर नहीं डाला जा सकता। न ही—'स्मृति-विभ्रम' से इसका समाधान सम्भव है। दूसरे इस समय हमारे सम्मुख एक और अथर्व-प्रातिशाख्य भी विद्यमान है, जिसके नियमों का वर्तमान अथर्वसंहिता में प्रायः पालन किया गया है। इसके सम्पादक के अनुसार ३२३६ उद्धरणों में से मुश्किल से दस उद्धरणों में अ० प्रा० के नियमों की स्पष्ट अवहेलना की गयी है। जबकि चतुरध्यायिका में सैकड़ों उद्धरण ऐसे हैं, जिनके नियमों की अवहेलना वर्तमान अ० वे० में स्पष्ट की गयी है[2]। ऐसे उद्धरण भी हैं जिनमें च० अ० में निर्दिष्ट कुछ शब्द अ० वे० में पाये ही नहीं जाते[3]। यथा—

हनिगम्योः सनि' (१, ८६)—अ० वे० में गम् का सन्नन्त रूप नहीं है।

शान्मान्दानाम् (१, ८७)— √शान्, √दान् का सन्नन्त रूप संहिता में नहीं है।

क्षुभ्नादीनाम् (३, ९४)— √क्षुभ् का कोई कृदन्त रूप संहिता में नहीं है।

उदोहन्ति हरतिस्थास्तम्भिषु (४, ६२)— उद्+√हन् का कोई रूप संहिता में नहीं।

---

१. च० अ०, आंग्लानु०, पृ० २५१-५८।

२. च० अ० २, ७४, ७५, ७६; २, ६३ ; १०७ ; ३, ७९ ; २, ४० ; २, ८६; ३, २६ ; ३, २८; ४, ७५; ७७ आदि; द्र० अ० प्रा०, सूर्यकान्त सं० उपोद्०, पृ० ३२, ३८-३९; ह्विट्ने, च० अ० आंग्ला०, पृ० २५१-५२।

३. सूर्यकान्त सं० अ० प्रा० उपोद्० पृ० ३९।

ऐसे उदाहरणों की असंगतियों को केवल लेखक का प्रमाद नहीं कहा जा सकता। सोलह ऐसे वाक्य च० अ० में उद्धृत हैं, जो अ० वे० सं० में नहीं पाये जाते हैं[1]। इनके विषय में ह्विट्ने की यह व्याख्या ठीक नहीं कि यह सब कर्ता की अधिक विस्तृत क्षेत्र के लिए नियम बनाने की प्रवृत्ति के कारण है[2]। सूर्यकान्त का यह सुझाव विचारणीय है कि च० अ० तथा अ० वे० सं० के इन विसंवादों के कारण यही मानना उचित है कि वर्तमान अ० वे० सं० शौनकीय नहीं है[3]। सायण भी शौनकीय संहिता पर भाष्य लिखने का दावा करते हैं, किन्तु उनकी संहिता तथा वर्तमान शौनकीय नाम से प्रसिद्ध एवं प्रचलित अ० वे० सं० में भी सैंकड़ों पाठभेद पाये जाते हैं। केवल प्रथम चार काण्डों में ही तीन सौ से अधिक मन्त्रों में भेद पाया गया है[4]। अतः इस बात की और गहरी छानबीन परम आवश्यक है कि वास्तविक शौनकीय संहिता का रूप क्या है और वर्तमान अ० वे० सं० का सम्बन्ध किस शाखा से है।

च० अ० के भाष्य में अनेक उदाहरण ऐसे दिये गये हैं, जो अ० वे० सं० से नहीं लिये गये, अपितु लोक से संगृहीत हैं। ये उदाहरण पाणिनीय व्याकरण के नियमों के उदाहरणों से बहुत कुछ मिलते हैं,[5] जिस कारण यह प्रातिशाख्य तथा व्याकरण के घनिष्ठ सम्बन्ध का एक और प्रमाण उपलब्ध होता है तथा इन उदाहरणों की प्राचीनता तथा अविच्छिन्न परम्परा सिद्ध होती है।

भाष्य—किसी अज्ञात व्यक्ति द्वारा लिखित भाष्य को ह्विट्ने ने १८६२ ई० में प्रकाशित किया था। इसमें सूत्रों की व्याख्या, उदाहरण तथा किसी पद्यात्मक टीका से प्रचुर मात्रा में उद्धरण दिये गये हैं। कहीं-कहीं लौकिक उदाहरण भी पाये जाते हैं।

संस्करण—ह्विट्ने द्वारा भाष्य सहित प्रकाशित १८६२ ई०, अंग्रेजी में अनूदित ; आंग्लानुवाद *J.A.O.S.* ; इसी का द्वितीय संस्करण चौखम्भा, वाराणसी में १९६२ में प्रकाशित हुआ।

अथर्वप्रातिशाख्य

१९३९ ई० में डा० सूर्यकान्त ने **अथर्वप्रातिशाख्य** नाम से एक नवीन प्रातिशाख्य को लाहौर से प्रकाशित करके तब तक अथर्वप्रातिशाख्य के नाम से

---

[1] ह्विट्ने, पृ० २५३।

[2] वही।

[3] वही, पृ० ४०।

[4] ह्विट्ने, फेस्टग्रस ऑ रॉथ, पृ० ९०।

[5] द्र० च० अ० १, ५८; २, १४; २५; ४०; ५२; ६३ आदि।

प्रसिद्ध शौनकीय चतुरध्यायिका का महत्त्व कम कर दिया। तब तक सभी विद्वानों ने उसी को ही अथर्वप्रातिशाख्य मान कर न केवल उस रूप में उसकी आलोचना प्रत्यालोचना ही की, अपितु ह्विट्ने ने स्वसम्पादित और बाद में लैनमैन द्वारा प्रकाशित अथर्वसंहिता का पाठ निर्धारित करने में भी उसी को आधार माना था[1]। किन्तु स्वयं ह्विट्ने के सम्मुख यह कठिनाई उपस्थित हुई कि च० अ० में सैंकड़ों ऐसे शब्दरूपों तथा सन्धियों का प्रतिपादन किया गया है, जिनका अनुकरण तथा पालन संहिता के हस्तलेखों में नहीं किया गया। इन विसंवादों का कारण समझाने का प्रयास भी उन्होंने अपनी टिप्पणियों में किया है। उनके मन में इन विसंवादों का मुख्य कारण संहिता के प्रतिलिपिकों की नासमझी है, जिन्होंने प्रातिशाख्य के नियमों के अनुसार संहिता को न लिख कर लोक में प्रचलित सन्धियों तथा शब्दरूपों को अपनाने की मूर्खता की है[2]। उनके अनुसार च० अ० के नियम भी केवल संहिता तक सीमित न रह कर लोक के क्षेत्र में भी पदार्पण करते पाये जाते हैं[3]।

च० अ० के भाष्यकार द्वारा उद्धृत, किन्तु अ० वे० सं० में अनुपलब्ध ऐसे १६ वाक्य हैं, जिनको भाष्यकार का प्रमाद कह कर उनकी अन्य शाखाओं में खोज करने का सुझाव दिया गया है[4]। किन्तु दुर्भाग्य से ये असंगतियां तथा विसंवाद इतने अधिक हैं कि सभी शाखाएं मिला कर भी उनका औचित्य स्थापित करने में असमर्थ हैं, जबकि नवीन प्रातिशाख्य में उद्धृत ३२३६ वाक्यों में से मुश्किल से १० वाक्य ऐसे हैं, जिन पर अथर्व प्रातिशाख्य में प्रतिपादित नियम लागू नहीं होते[5]। इससे यही सिद्ध होता है कि शौनकीय कही जाने वाली च० अ० का वर्तमान शौनकीय अ० वे० सं० से कोई सम्बन्ध न होकर किसी अन्य शाखीय अ० वे० सं० से है तथा प्रस्तुत अ० प्रा० एवं प्रचलित अ० वे० सं० एक ही शाखा के हैं[6]।

---

[1] द्र० ह्विट्ने द्वारा अनूदित, अथर्ववेद, उपोद्० पृ० CXXXIII तथा अग्रे।

[2] च० अ० आंग्ला०, पृ० २५१-२५२।

[3] वही, पृ० २५३।

[4] वही, पृ० २५३, च० अ० आंग्ला०; चतुरध्यायिका में लिखित या सङ्केतित बहुत से शब्द अथर्ववेद संहिता में नहीं पाये जाते (द्र० च० अ० १, ७७; ८६; ८७ ; २, १४; ५१ ; ३, २ ; ९४ ; ४, २८ ; ६२)।

[5] सूर्यकान्त, अ० प्रा० उपोद्०, पृ० ३२।

[6] सूर्यकान्त ने इन तथ्यों से यह परिणाम निकाला है कि वर्तमान अ० वे० सं० ही शौनकीय शाखा से भिन्न किसी अन्य अनिर्दिष्ट शाखा से सम्बद्ध है (वही, पृ० ४० टि० पृ० ३५)।

ऋक्प्रा०, वा०प्रा० तथा अ०प्रा० सभी ऊष्मों से पूर्व विसर्ग के लोप का आदेश देते हैं, किन्तु च० अ० (२, ४०; भाष्य, टि० ह्विट्ने) के अनुसार यह **परसस्थान** हो जाता है और क्योंकि अ०वे०सं० के हस्तलेख प्रायः लोप ही करते हैं, अतः सिद्ध है कि अ०वे०सं० तथा अ०प्रा० दोनों एक ही शाखा सेसम्बद्ध हैं और च० अ० किसी अन्य शाखा का प्रातिशाख्य है (द्र० सूर्यकान्त, अ० प्रा०, टि०, पृ० ३५)। फिर भी अ० प्रा० के अनेक सूत्र च० अ० के सूत्रों के समान हैं[1]। च० अ० में यद्यपि गणों का प्रयोग किया गया है, तो भी ये गण अत्यन्त संक्षिप्त, अस्पष्ट तथा भाष्य आदि में कहीं भी पूरी तालिका के अभाव में अनुपादेय हैं। जबकि अ० प्रा० में गणों की लम्बी तालिकाएं दी गयी हैं, जिनसे विषय को समझने में बहुत सहायता मिलती है। सूर्यकान्त के मतानुसार ये गण मूलरूप में च० अ० के ही अङ्ग थे। वर्तमान च० अ० मूल का संक्षिप्त रूप होने के कारण उसके गण भी सङ्केतमात्र रह गये हैं। च० अ० भाष्य के अनेक स्थल इस अ० प्रा० से मिलते हैं[2]। यह समानता इतनी अधिक है कि दूषित पाठ भी एक जैसे हैं[3]। इससे यही परिणाम निकलता है कि च० अ० तथा भाष्य दोनों किसी बृहत्तर ग्रन्थ का संक्षेप है[4]।

अपने वर्तमान रूप में अ० प्रा०, च० अ० से अर्वाचीन है। यहां तक कि अ० प्रा० का तृतीय प्रपाठक एक तरह से च० अ० पर आधृत है[5]। दोनों ही सामान्य व्याकरण को आधार मान कर अनेक नियमों के निर्माण में प्रवृत्त हुए हैं। दोनों के सूत्र अपनी-अपनी शाखाओं की संहिता तक ही सीमित रहते हैं, किन्तु अ० प्रा० अनेक स्थलों पर च० अ० का अनुकरण करता है। अतः यही अर्वाचीन है[6]। अ० प्रा० के सूत्र ऋक् प्रा० के सूत्रों के समान ही पद्यात्मक हैं। जहां कहीं भी परम्परागत आथर्वणिक संहिता पाठ दुष्ट या असंगत है वहां अधिकतर स्थलों पर अ० प्रा० संहिता-पाठ की पुष्टि करता है। अतः इसका रचनाकाल उन त्रुटियों के प्रादुर्भाव से बाद का है। अ० वे० सं० के उन्नीसवें काण्ड की ओर अ० प्रा० में एक बार भी सङ्केत नहीं किया गया, जबकि च० अ० केवल एक बार सङ्केत करती है[7]। अथर्व परिशिष्ट अ० वे० सं० के

---

[1] वही, पृ० ६०।

[2] अ० प्रा० ६३=च० अ० भा० १, ७४; अ० प्रा० १०३=च० अ० भा० ३, ३४; अ० प्रा० १०१=च० अ० भा० २, ६२।

[3] अ० प्रा० ५७ ब=च० अ० ३, ६०।

[4] सूर्य० वही, पृ० ६१।

[5] वही, पृ० ६२।

[6] वही, पृ० ६२।

[7] च० अ० २, ६७।

उन्नीसवें काण्ड से परिचित है। 'गणमाला' नामक परिशिष्ट में इससे अनेकों मन्त्र उद्धृत किये गये हैं[1]। परिशिष्टों के काल का निश्चय नहीं है, किन्तु महर्षि पतञ्जलि के काल के विषय में बहुत से विद्वान् सहमत हैं। यह द्वितीय शताब्दी ई० पू० के मध्य में विद्यमान थे। उनका अ० वे० सं० के उन्नीसवें काण्ड से परिचय था[2]। अतः इसके आधार पर यदि कोई काल-निर्णय हो सकता है, तो यह कि अ० प्रा० पतञ्जलि से प्राचीन है। पा० में उन्नीसवें काण्ड के सङ्केत के अभाव से कोई परिणाम नहीं निकाला जा सकता। पाणिनि के सूत्रों से अ० प्रा० के सूत्रों में साम्य है, किन्तु इससे भी प्रातिशाख्य की अर्वाचीनता सिद्ध नहीं होती,[3] क्योंकि प्रथमतः तो यही सिद्ध करना असम्भव है कि अ० प्रा० के व्याकरण-सम्बन्धी सूत्र पाणिनि के व्याकरण का अनुसरण करते हैं, क्योंकि इन दोनों में साम्य होते हुए भी कहीं-कहीं इतना विभेद है कि इनका पाणिनीय व्याकरण से कोई सम्बन्ध ही प्रतीत नहीं होता[4]। बहुत सम्भव है कि अ० प्रा० के सम्मुख कोई और व्याकरण उपस्थित था और जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है, गणपाठ की रचना वा० प्रा० से आरम्भ होकर चतुरध्यायिका तथा ऋक्तन्त्र से होती हुई पाणिनि तक पहुँची है। अ० प्रा०, चतुरध्यायिका तथा पाणिनि के मध्य में होने के कारण, गणपाठ की पद्धति को अधिक सुचारु रूप दे सका, जिसे पाणिनि ने पूर्णता प्रदान की।

हमारी सम्मति में तो सभी प्रातिशाख्य पाणिनि से प्राचीन हैं और पाणिनि ने अपने व्याकरण की सामग्री शाकटायन प्रभृति वैयाकरणों की कृतियों तथा प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रन्थों से संगृहीत करके उसे परिपुष्ट तथा पूर्णरूप में प्रस्तुत किया। अतः अ० प्रा० भी पाणिनि से प्राचीन और च० अ० से अर्वाचीन रचना है।

विषय-विवेचन :—

जबकि ऋक् प्रा०, तै०प्रा०, वा०प्रा०, च०अ० तथा ऋक्तन्त्र सभी पदपाठ से संहितापाठ बनाने में प्रवृत्त हैं, अ०प्रा० ही केवल ऐसा प्रातिशाख्य है, जो संहिता

---

[1] ब्लूमफील्ड, कौशिकसूत्र पृ० XL. अथर्ववेद पृ० ३५ ; अ० वे० आंग्ला० में लैनमैन, पृ० CXLVI.

[2] पॉल थीमे, पा० वे०, पृ० ५०, ५१, ६६; द्र० पतञ्जलि, पा० ६, १, १५ पर वार्तिक २ पर; अ० वे० सं० १९, ३६, ५ उद्धृत।

[3] द्र० सूर्यकान्त, वही, पृ० ६२।

[4] यथा—अ० प्रा० १४७ (i), सूर्यकान्त, वही, पृ० ६२-६३।

से पदपाठ बनाने के नियम प्रस्तुत करता है[1]। फिर भी अ० प्रा० के कुछ नियम केवल संहिता पर लागू होते हैं, जबकि अन्य प्रातिशाख्यों में कुछ नियम ऐसे हैं, जो केवल पदपाठ पर लागू होते हैं[2]। स्वयं अ० प्रा० ने अपने को व्याकरण-शास्त्र घोषित किया है[3]। इस प्रातिशाख्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि च० अ० से सम्बद्ध संहिता तथा अ० प्रा० से सम्बद्ध संहिता में कई विषयों में सीधा विरोध था। यथा—

तन्न:=तम्+न: (अ० प्रा० सम्बद्ध संहिता)
=तत्+न: (शौनकीय संहिता)[4]

तथा 'कृणोतु' के पूर्व विसर्ग को तीन स्थलों पर षकार नहीं होता[5], किन्तु च० अ० के अनुसार 'कृणोतु' के पूर्व विसर्ग को सर्वत्र 'ष्' होता है[6]। भाष्यकार ने इस षत्व को केवल तीन स्थलों तक सीमित कर दिया है। इन सभी स्थलों पर 'क' से पूर्व अ०वे०सं० में विसर्ग ही दृष्टिगोचर होता है और ह्विट्ने ने हस्तलेखों के आधार पर सर्वत्र विसर्ग ही रखा है। केवल एक स्थल पर (६, १०६, ३) ष् पाया जाता है, वह भी सम्भवत: प्रमादवश रह गया है[7]। अतः वर्तमान अ० वे० सं० शौनकीय नहीं है[8]। जिस संहिता पर सायण ने अपना भाष्य लिखा है और जो शौनक के नाम से प्रसिद्ध है, वह भी प्रचलित अ० वे० सं० से असंख्य स्थलों पर भिन्न पायी जाती है। केवल प्रथम चार काण्डों में ही ३०० से अधिक मन्त्रों में भेद सिद्ध किया जा चुका है[9]। अ० प्रा० के प्रकाश में भी यही सिद्ध होता हैं। उसका पाठ अ० प्रा० के नियमों के अनुकूल नहीं है[10]। सम्भव है उसका पाठ च० अ० से सम्बद्ध शाखा का हो, जिसे शौनकीय कहा जाता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि वर्तमान अ० वे० सं० शौनकीय नहीं।

---

[1] **सन्धिशास्त्राणि पदसन्धानार्थं प्रोक्तानि**', अ० प्रा० २-ब।

[2] द्र० सूर्यकान्त, अ० प्रा०, टि० पृ० २।

[3] **तदिदं शास्त्रं व्याकरणं पुरस्तादध्येयमलं विज्ञानाय** (अ० प्रा० ३-स)।

[4] **अकारान्तं पुंसि वचनं। नपुंसकं तकारान्तं शौनके** (अ०प्रा० ३-ग ; १४०-स)।

[5] अ० प्रा० १४८।

[6] च० अ० २, ६५।

[7] ह्विट्ने, च० अ०, २, ६५ पर टि०।

[8] सूर्यकान्त अ० प्रा०, टि० पृ० ५१-५२।

[9] ह्विट्ने, फेस्टग्रस ऑन रॉथ, पृ० ९०।

[10] सूर्यकान्त, वही, उपोद्० पृ० ५०-५६।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जहां अन्य प्रातिशाख्यों में ध्वनिशास्त्र सम्बन्धी नियम इनके आवश्यक अंग के रूप में सन्निविष्ट हैं, वहां इस प्रातिशाख्य में इस विषय का एक भी सूत्र नहीं पाया जाता, जिससे यह धारणा उच्छिन्न हो जाती है कि ध्वनिशास्त्र या उच्चारण-सम्बन्धी नियम प्रातिशाख्यों के आवश्यक अंग हैं। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसमें सन्धियों के अतिरिक्त और कोई नियम नहीं पाया जाता[1]। इस रचना के पांच उद्देश्य बताये गये हैं—

१. **एतावच्च**—अर्थात् इस पद के बाद यह पद आने पर यही कार्य होता है, अन्य नहीं। यथा—**पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वान्** (अ०वे० सं० १८,२,५४) यहां पर '**प्र विद्वान्**' में विग्रह से पृथक्त्व दिखाया जाता है, क्योंकि **प्र** का सम्बन्ध **च्यावयतु** से है।

२. **अपवाद**—अर्थात् इस विशेष नियम से शब्दों का यह रूप हो जाता है यथा—'**यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यम्**' (अ०वे०सं० १, ३५, २) यहां **बिभर्ति** के दूसरे अक्षर पर उदात्त प्राप्त था, किन्तु विशेष नियम मे यहां आद्युदात्त है[2]।

३. **आबाध**—सन्धि से उत्पन्न होने वाली समानता, यथा—**अवकादान=अवकाऽअदान ; गर्भादम्=गर्भऽअदम्** यहां 'वृद्धिमान्' अ (अण्) प्रत्यय के कारण वृद्धि में समानता है[3]।

४. **सांवेदन**—पद-सम्बन्धी इस नियम से इस विशेष अर्थ में शब्दों का यह रूप होता है। यथा—'**ज्येष्ठ**'। यह '**श्रेष्ठ**' अर्थ में आद्युदात्त है, किन्तु 'पूर्वजात' अर्थ में 'अन्तोदात्त'। '**कृष्ण**' '**मृग**' के अर्थ में आद्युदात्त है किन्तु वर्ण के अर्थ में अन्तोदात्त।

५. **न्यायमुख**—पद सम्बन्धी नियम। संहिता का ज्ञान पद से होता है, अतः पदपाठ सम्बन्धी नियम जानना आवश्यक है यथा—**नकारस्य विसर्जनीयः**[4]।

---

[1] सूर्यकान्त, वही, टि० पृ० ५७।

[2] तु० पा० ६, १, १९२।

[3] यद्यपि 'अन्नाद' में अच् होता है और यहां वृद्धि नहीं हुई, तो भी प्रातिशाख्य का यह मत है। द्र० म० भा०, पा० ३, २, १। तु० काशिका, पदमञ्जरी तथा शब्दकौस्तुभ, पा० ३, २, ६८ ; जहां 'अन्नाद' लोक में अण् से बनाया गया है और वेद में अच् से।

[4] अ० प्रा० १९६।

पदान्त नकार को विसर्ग होता है यथा—

उपबद्धाँ इहा वह (अ० वे० सं० १, ७, ७) ।

यहां **उपबद्धान्** के नकार को संहिता में विसर्ग किया गया है[1] ।

ये सब प्रयोजन घोषित करने पर भी यह प्रातिशाख्य सर्वग्राही नहीं है। इन प्रयोजनों में से भी अन्तिम प्रयोजन बहुत कम सिद्ध हुआ है । अन्य प्रयोजन भी आंशिक रूप से ही पूरे हो पाये हैं। सामान्य सन्धि के लिए यह च० अ० या सामान्य व्याकरण का सहारा लेता है[2] । प्रथम दो प्रयोजनों की सिद्धि के लिए प्रथम प्रपाठक में उपसर्ग तथा धातुओं के बीच अवग्रह तथा स्वर के विषय पर अत्यन्त सावधानी तथा पूर्णता से विचार किया गया है। स्वर के वैज्ञानिक विश्लेषण के होते हुए भी इस विषय में अनेक असंगतियां रह गयी हैं[3] ।

इस प्रातिशाख्य में कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्दों का ऐसे अर्थों में प्रयोग किया गया है, जो अन्यत्र नहीं पाये जाते। यथा उपरिनिर्दिष्ट **'आबाध'** तथा **सांवेदन** शब्द। पदपाठ के लिए **न्याय** शब्द तथा अक्षर के लिए **वेला** शब्द का प्रयोग भी इसी प्रकार का है । पाणिनीय व्याकरण में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्दों का भी इसमें प्रयोग पाया जाता है यथा—**कर्मप्रवचनीय, उपपद, विग्रह** ।

इस प्रातिशाख्य के दो संस्करण प्राप्त होते हैं—एक संक्षिप्त, दूसरा विस्तृत। संक्षिप्त संस्करण में संक्षेप इस नासमझी से किया गया है कि मूलसूत्र के अर्थ ही लुप्त हो जाते हैं। यथा बृहत् संस्करण में पाठ है—

वासो ददाति भर्तवे इति सार्वधातुके[4] ।

अर्थात् इस मन्त्र में **ददाति** √दा का सार्वधातुक रूप है। इसे संक्षिप्त सं० में लिखा गया है—**इति सार्वधातुके** जहां इति व्यर्थ ही नहीं, भ्रामक भी है।

बृहत् संस्करण में पाठ है—

सजेः। पत्संगिनीरा सजन्तु द्विषते त्वा सजामस्या सजत्वं मित्राणा ··· सचतिरन्यत्र[5] । यहां **सच्** से पृथक् करने के लिए √**सज्** के रूपों की तालिका दी गयी है।

---

[1] तु० पा० ८, ३, ९ ; ८, ३, २; ८, ३, १७ ; ८, ३, १९ ; च० अ० २, २७ ।

[2] सूर्यकान्त वही, उपोद्० पृ० ६७ ।

[3] द्र० सूर्यकान्त, वही, उपोद्० पृ० ६७-६९ ।

[4] अ० प्रा० (बृहत्) १२५ ।

[5] अ० प्रा० ६० ।

किन्तु संक्षेपकर्ता ने इसको न समझ कर सूत्र बना दिया—**'सचतिरन्यत्र'** जिसका कोई सिर पैर नहीं रह जाता[1]।

इसके अतिरिक्त इस प्रातिशाख्य में भी अनेक प्रकार के प्रक्षेपों का भी प्रवेश हो गया है, जिससे कई स्थल अस्पष्ट तथा भ्रामक होने के कारण दुरूह हो गए हैं।

संस्करण—अथर्वप्रातिशाख्य के लघुपाठ का एक संस्करण पं० विश्वबन्धु जी ने लाहौर से प्रकाशित किया था तथा इसमें इस ग्रन्थ का अध्ययन भविष्य में प्रकाशित करने का वचन दिया था, जो पूरा न हो सका।

बृहत्पाठ का एक संस्करण डा० सूर्यकान्त ने १९३९ में लाहौर से ही प्रकाशित कराया था। किन्तु दोनों में से किसी पर भी कोई व्याख्या उपलब्ध नहीं हुई।

---

[1] विस्तार द्र० सूर्यकान्त, वही, उपोद्० पृ० १९-२२।

सप्तम अध्याय

साम प्रातिशाख्य

ऋक्तन्त्रम्

ऋक्तन्त्र नामक सामवेदीय रचना को कई लोगों ने व्याकरण की संज्ञा दी है, तो भी यद्यपि इसे कहीं भी प्रातिशाख्य की संज्ञा नहीं दी गयी, ह्विट्ने[१] और गोल्डस्टुकर[२] को प्रमाण मानकर आधुनिक विद्वानों ने इसे 'प्रातिशाख्य' मान लिया है, क्योंकि इसमें प्रातिशाख्य के विशिष्ट लक्षण घटित होते हैं[३]। जैसे कि हम अन्य प्रातिशाख्यों के विषय में देख चुके हैं कि वर्तमान अवस्था में कोई भी प्रातिशाख्य केवल किसी एक शाखा विशेष से सम्बद्ध होते हुए भी उस संहिता की अन्य शाखाओं का भी प्रतिनिधित्व करता है[४]। इसीलिये यद्यपि यह प्रातिशाख्य मुख्यरूप से कौथुमशाखा से सम्बद्ध है, तो भी अन्य शाखाओं की भी थोड़ी-बहुत चर्चा करता है[५]। इस प्रातिशाख्य का भी उद्देश्य अपनी प्रकार की अन्य रचनाओं के समान ही, सामवेद के पदपाठ को संहिता में परिवर्तनार्थ नियमों का निर्देश करना ही है।

परम्परा के अनुसार ऋक्तन्त्र 'व्याकरण' के रचयिता शाकटायन कहे जाते हैं, जिसकी पुष्टि न केवल ऋक्तन्त्र की पुष्पिकाओं से होती है, अपितु सामसर्वानुक्रमणी के स्पष्ट वचन से भी होती है[६]। किन्तु भट्टोजिदीक्षित ने इसे औदव्रजि की रचना घोषित किया है[७], जिसकी पुष्टि पाणिनीय शिक्षा के व्याख्याकार शिक्षाप्रकाश के रचयिता ने भी की है।

---

१. चतुरध्यायिका, भूमिका।

२. *Academy*, July 9, 1870, p. 270, quoted by A. Burnell, Ṛktantra, p. VII ; Caland, *P.V.B.*, Intro. p. VII.

३. सूर्यकान्त, ऋक्तन्त्र, भूमिका, पृ० २।

४. द्र० वैदिकाभरण, तै० प्रा० ४, ११ ; अनन्तभट्ट, वा० प्रा० मद्रास सं०, पृ० २ ; कुमारिलभट्ट, तन्त्रवार्तिक १, ३।

५. सूर्यकान्त ऋक्त० पृ० २-११।

६. तथा नागेश, ल० श० शे० संज्ञा०, ऋक्तन्त्रव्याकरणे शाकटायनोऽपि ··· ।

७. श० कौ० १, १, ४।

इन दो विरोधी विचारों के सम्बन्ध में अधोलिखित तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है—

१. ऋक्त० के सूत्र ५९ में औदव्रजि को उद्धृत किया गया है।
२. शाकटायन को प्रथम प्रपाठक में ही उद्धृत किया गया है, किन्तु यह प्रपाठक मूल रचना का अभिन्न अंग नहीं माना जाता।
३. वर्तमान रूप में इस रचना के अनेक नियम प्रातिशाख्य-विषयक न होकर व्याकरण-विषयक अधिक हैं।
४. अनेक हस्तलेखों की पुष्पिकाओं में इसे शाकटायन कृत व्याकरण ही कहा गया है।
५. सामतन्त्र तथा ऋक्तन्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में बहुत अधिक साम्य पाया जाता है। यथा—

अड्=पादमध्यीय
अण्=पादादि
खिड्=पादोपान्त्य
चु=दीर्घीभवति
ण=पादान्तीय।

सामतन्त्र में इस प्रकार की कृत्रिम संज्ञाओं की भरभार है। इसके अतिरिक्त बर्नेल ने दोनों रचनाओं की इस विशेषता की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि दोनों में ही किसी पारिभाषिक प्रकरण का अभाव होने के कारण इन संज्ञाओं का भाव समझने के लिए हमें व्याख्याओं का सहारा लेना पड़ता है। इनके अतिरिक्त कई पारिभाषिक शब्द सार्थक शब्दों को तोड़ मरोड़ कर बनाये गये हैं—

अर=अक्षर
उद्=उदात्त
घ=दीर्घ
ठ्य=कण्ठ्य
र्ग=वर्ग इत्यादि।

परम्परा तथा सामसर्वानुक्रमणी के अनुसार सामतन्त्र के कर्ता का नाम औदव्रजि है। वंशब्राह्मण में पुण्ययशस् औदव्रजि नामक सामवेद के एक प्राचीन आचार्य का उल्लेख आता है[1]। सामवेद की एक और रचना पुष्पसूत्र के नाम से

---

[1] वंश० ब्रा० पृ० ११।

प्रसिद्ध है। सम्भवत: इस नाम का 'पुण्ययशस्' से कुछ सम्बन्ध है[1]। इस सम्बन्ध में विचित्र बात यह है कि एक हस्तलेख में पुष्पसूत्र को भी 'औदव्रजि'—कृत कहा गया है। पुष्पसूत्र में भी उपरिनिर्दिष्ट पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया गया है—

रूप=वैरूप
लेय=कालेय
क्रन्द=अभिक्रन्द
तनि=संतनि
गोष्ठ=अंगिरसां गोष्ठ
चिणेड=प्रति-चिणेड-काशित
आन्धी-या न्धीगव=आन्धीगव।

अत: सम्भावना इस बात की है कि इन तीनों रचनाओं का मूलकर्ता एक ही व्यक्ति हो और उसका नाम 'पुण्ययशस्' औदव्रजि रहा हो[2]। यह सर्वथा सम्भव है कि मूल ऋक्तन्त्र उसी औदव्रजि की कृति हो और कालान्तर में उन्हीं की शिष्यपरम्परा में शाकटायन नामक वैयाकरण ने इस कृति का प्रतिसंस्कार किया हो। शाकटायन ने औदव्रजि को ऋक्तन्त्र में ही नामत: उद्धृत किया है[3]। यह वही शाकटायन प्रतीत होते हैं, जिनके व्याकरण-विषयक विचारों को यास्क तथा पाणिनि दोनों ने ही उद्धृत किया है, क्योंकि ऋक्तन्त्र के अनेक सूत्र पाणिनीय सूत्रों के समानान्तर हैं। यह तो सिद्ध हो ही चुका है कि पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की रचनाओं से बहुत कुछ ग्रहण किया है और कि पाणिनि प्रातिशाख्यों से परिचित थे। पाणिनि के काल के आसपास ही ऋक्तन्त्र का एक बार पुन: प्रतिसंस्कार किया गया प्रतीत होता है, क्योंकि यहां शाकटायन को भी उद्धृत किया गया है[4]। इसी काल में ऋक्तन्त्र में ऐसे अनेक सूत्रों का प्रक्षेप किया गया प्रतीत होता है, जिनका सामवेद अथवा अन्य किसी भी वेद से कोई सम्बन्ध नहीं है,[5] अपितु ये सूत्र शुद्ध व्याकरण से सम्बद्ध हैं और पाणिनीय सूत्रों के समानान्तर हैं। इस विषय में पाणिनीय सूत्र अधिक व्यवस्थित एवं व्यापक हैं[6]।

---

[1] सूर्यकान्त, वही, पृ० ३७।

[2] सूर्यकान्त, वही, पृ० ३९।

[3] ऋक्त० सूत्र ५३।

[4] श्वासो नाद इति शाकटायन:।

[5] ऋक्त० १८९-२११ ; द्र० (=पा० ६, १, १३५-१५७) तथा द्र० ऋक्तन्त्र १०७-१०९ पर सूर्यकान्त की टिप्पणियां।

[6] सूर्यकान्त, वही, पृ० ४१।

अतः अधिक सम्भावना इस बात की है कि ये सूत्र सीधे शाकटायन के व्याकरण से ग्रहण किये गये हैं। ऋक्तन्त्र में ऐसे भी कुछ नियम हैं, जिनका सम्बन्ध 'भाषा' से है और जिनके समानान्तर नियम पाणिनीय व्याकरण में तो नहीं पाये जाते, किन्तु कात्यायन ने इनकी चर्चा की है[१]। अतः सम्भव है कि वर्तमान ऋक्तन्त्र में कुछ सूत्र पाणिनि और कात्यायन से ग्रहण किये गये हों। तो भी ये दोनों ही आचार्य ऋक्तन्त्र के कर्ता शाकटायन के ही ऋणी हैं।

पुष्पसूत्र के कर्ता भी औदव्रजि कहे जाते हैं। यह रचना वर्तमानरूप में किसी एक की कृति नहीं है। अपितु वररुचि, गोभिल प्रभृति अनेक आचार्यों द्वारा निर्मित है[२]। यही बात सामतन्त्र के विषय में भी कही जा सकती है। अतः वर्तमान रूप में विद्यमान ऋक्तन्त्र और पुण्ययशस् औदव्रजि की मूलरचना का वैयाकरण शाकटायन-कृत प्रतिसंस्करण ही है। इस शाकटायन ने सम्भवतः सामवेद का पदपाठ तथा व्याकरण एवं शिक्षा-सम्बन्धी कृतियों की रचना की थी, जिनमें से इस समय एक भी उपलब्ध नहीं हैं[३]। वर्तमान साम-पदपाठ गार्ग्य की कृति मानी जाती है। बर्नेल ने इस परम्परा की उपेक्षा करके इसे एक अवान्तरकालीन रचना माना है[४], जो अप्रमाणित है।

ऋक्तन्त्र के रचनाकाल के विषय में यह प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

> गोभिल-गृह्यकर्म-प्रकाशिका तथा पुष्पसूत्र के व्याख्याकार दोनों ने ही इसके सूत्रों को उद्धृत किया है[५]।
>
> कैयट ने इसकी ओर सङ्केत किया है[६]। शौनकीय तथा कात्यायनीय चरणव्यूहों में ऋक्तन्त्र का उल्लेख अत्यन्त स्पष्ट है[७]। 'शिक्षाप्रकाश' तथा अन्य शिक्षाओं ने इसे उद्धृत किया है[८]।

---

[१] द्र० ऋक् त०, ९६, ९७, ९८, ९९, १०३ ; १०६ पर सूर्यकान्त की टिप्पणियां।

[२] वेबर, *Akad. Vorlesungen Über Ind. Lit. 1876*, p. 91 ; R. Simon, *Pushpa* ; p. 499.

[३] द्र० सूर्यकान्त वही, पृ० ४६-५०।

[४] ऋक्तन्त्र, भूमिका, पृ० २१।

[५] पुष्प० ७८७ ; गो० गृ० क० प्र०, पृ० १२२।

[६] पा० ४, २, ६० पर यद्यपि स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, तो भी कई लोग 'सामलक्षणं प्रातिशाख्यं' से ऋक्त० की ओर संकेत मानते हैं। तु० बर्नेल, आर्षेयब्रा०, भूमिका, पृ० २०।

[७] शौ० च० व्यूह, पृ० ४४ ; कात्या० च० व्यूह०, पृ० ७० (श्रीधर वारे० सम्पा० परि० दशकम्, पूना)।

[८] शिक्षा-संग्रह, पृ० ३८८, ४४३ ; सिद्धेश्वर, क्रि० स्ट०, पृ० ५०।

जैसे कि हम ऊपर देख चुके हैं, इसके संभाव्य कर्ता पुण्ययशस् औदव्रजि हैं, जिनका नामोल्लेख वंशब्राह्मण तक में किया गया है[1]। कैलैण्ड के मतानुसार तो पुष्पसूत्र ऊह तथा ऊह्य गानों से भी प्राचीन है। यद्यपि इस मत को संगत नहीं कहा जा सकता, तो भी इससे इसकी प्राचीनता के विषय में कैलैण्ड की भावना अवश्य अभिव्यक्त होती है।

ऋक्तन्त्र और सामतन्त्र की रचना का उद्देश्य ऋचाओं को सामों में परिवर्तित करना था, जिनका कि सोमयागों में गान किया जाता था और ये याग प्रातिशाख्यों के उदय से बहुत पहले प्रचलित थे। अतः कम से कम अपने मूलरूप में तो ऋक्तन्त्र अन्य प्रातिशाख्यों से अर्वाचीन नहीं हो सकता[2]। शाकटायन ने ऋक्तन्त्र का प्रतिसंस्कार किया था। शाकटायन को ऋक्प्रा०, वा० प्रा० तथा चतुरध्यायिका ने उद्धृत किया है[3], अतः शाकटायन इन सब से प्राचीन है। सूर्यकान्त के मतानुसार अपने अन्तिम और वर्तमान रूप में ऋक्तन्त्र पाणिनि से तो क्या कात्यायन से भी अर्वाचीन हो सकता है[4]।

ऋक्तन्त्र का विश्लेषण

प्रथम प्रपाठक—स्वरों और व्यञ्जनों का वर्गीकरण तथा लक्षण करके कर्ता ने प्रत्याहार निर्माणार्थ इनके स्वाभाविक क्रम में परिवर्तन किया है।

इस प्रपाठक को उत्तरकालीन वैयाकरणों ने औदव्रजि के नाम से उद्धृत किया है, किन्तु यह प्रपाठक मूलरचना के निर्माण के बाद किसी समय में इसमें जोड़ दिया गया प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें वर्णित अनेक बातों का संक्षेप में द्वितीय प्रपाठक में पुनः वर्णन किया गया है। प्रत्याहारों का तो मूलरचना तथा ग्रन्थ के विषय से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। शौरिसूनु ने स्वरचित 'लघुऋक्तन्त्रसंग्रह' में इस प्रपाठक को अधिक महत्त्व नहीं दिया है।

द्वितीय प्रपाठक—समासों में होने वाली अनियमित संधियों का सामान्य उल्लेख करके स्वरों, व्यञ्जनों तथा नासिक्यों के उच्चारण स्थानों का विवरण दिया गया है। इसमें 'ऐकार' की गणना नहीं की गयी। अन्य सभी प्रातिशाख्यों में इसका स्वरों में स्पष्ट अन्तर्भाव किया गया है।

---

१. वंशब्रा० पृ० ११।

२. सूर्यकान्त, वही, पृ० ६७।

३. ऋक्प्रा० १, १६; ८, १६; वा० प्रा० ३,९; ३, १२; ८६; चतुरध्यायिका ४, ३०।

४. वही पृ० ६८।

इस प्रपाठक में विसर्जनीय का एक स्थान कण्ठ के अतिरिक्त विकल्प से उरस् भी निर्दिष्ट है[1] और ऋकार एवं ॠकार का स्थान जिह्वामूल बताया गया है[2]। रेफ दन्त्य या दन्तमूलीय है[3]। ऌकार की चर्चा यहां नहीं की गयी। जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय के लिए विशेष नियम नहीं बताये गये। **यमों** के विषय में ऋक्तन्त्र ने ऋक्प्रा० का अनुसरण किया प्रतीत होता है।

यमों की वास्तविक संख्या या गणना के विषय में यहां कुछ नहीं कहा गया। पदान्त समानाक्षर स्वर अनुनासिक होते हैं[4]। पदान्त व्यञ्जन पूर्वस्वर के अङ्ग होकर अक्षर कहलाते हैं; विषय को स्पर्श मात्र करके छोड़ दिया गया है।

अनुस्वार को पूर्व स्वराङ्ग और रङ्ग से भिन्न व्यञ्जनकोटि का वर्ण माना गया है[5]। **अभिनिधान** की चर्चा के प्रसङ्ग में व्यञ्जनों के द्वित्व की विविध परिस्थितियों का निर्देश भी किया गया है। द्रुत, मध्यम तथा विलम्बित **वृत्तियों** की भी चर्चा की गयी है, जिनका वर्णन पातञ्जल महाभाष्य में कात्यायन के वार्तिकों द्वारा भी कराया गया है[6]। इनकी चर्चा अन्य प्रातिशाख्यों में भी की गयी है[7]।

स्वरप्रकरण का भी संक्षिप्त और चलता-सा वर्णन कर दिया गया है, जिससे पदपाठ से संहितापाठ के निर्माण में सहायता मिल सके। उदात्तादि के लक्षण नहीं किये गये। स्वरित का पृथक् अस्तित्व न मानकर उदात्त की आधी अर्धमात्रा को ही स्वरित कहा गया है[8] और **उदात्त, अनुदात्त** तथा **प्रचय** तीन ही **स्वरों** को मान्यता दी गयी है,[9] जो पाणिनि के अनुयायियों के मत से मेल नहीं खाती। यहां उदात्तोत्तर **अनुदात्त-जन्य स्वरित** की चर्चा तो की गयी है, किन्तु उसके अवान्तर भेदों **'तैरोव्यञ्जन'** और **'तैरोविराम'** का उल्लेख नहीं किया गया। **क्षैप्र, प्रश्लिष्ट** तथा **अभिनिहित** सन्धिज स्वरितों का वर्णन किया गया है।

---

[1] ऋक्त० सूत्र ३।

[2] ऋक्त० सूत्र ४।

[3] ऋक्त० सूत्र ८।

[4] ऋक्त० सूत्र १८।

[5] द्र० ऋक्त० सूत्र २३ एवं १८५; तथा उन पर सूर्यकान्त की टिप्पणी।

[6] पा० १, १, ७० पर कात्यायन एवं पतञ्जलि।

[7] ऋक्प्रा० १३; ४६-४९; तै० प्रा० २३, २०।

[8] ऋक्त० सूत्र ५३।

[9] विवृतिकार ने नार० शि० (१, ८, १) के आधार पर यह मत व्यक्त किया है, किन्तु उपलब्ध नार० शि० के पाठ से यह पक्ष सिद्ध नहीं होता (विवृति, पृ० ५-६)।

तृतीय प्रपाठक में भी स्वरप्रकरण की चर्चा कुछ दूर तक चलती है। स्वरित से अनुदात्त (**एकश्रुति**) का स्वर उदात्त के समान ही 'उच्च' होता है[1]। यहां स्पष्ट ही 'पद' को 'प्रकृति' मानकर[2] निरुक्त के समस्त पद—'पदकृतीनि'[3] की व्याख्या कर दी गयी है। प्रातिशाख्य के लक्ष्य के अनुरूप ही यहां संहिता बनाते समय पदों में होने वाले परिवर्तनों का दिग्दर्शन कराया गया है।

समास में 'विभक्ति' का लोप, अनेक प्रकार की सन्धियों तथा प्रगृह्य स्वरों आदि का प्रतिपादन यहां किया गया है। **अभिनिहित** सन्धि में 'अ' के पूर्वरूप के स्थान पर उसके लोप का विधान किया गया है[4], जबकि सामवेद-संहिता में अधिकांश स्थलों पर 'अ' विद्यमान देखा जाता है[5]। पदान्त **न्** को विसर्जनीय, दीर्घ आ को अनुनासिक, विसर्जनीय को रेफ एवं य होकर लोप प्रभृति व्याकरण सम्बन्धी अनेक विषयों का प्रतिपादन किया गया है। पदान्त **न्** का विसर्जनीय होकर रेफ में परिवर्तन की विधि अन्य प्रातिशाख्यों की अपेक्षा जटिल है, किन्तु अधिक सुदृढ़ भित्ति पर अवस्थित और वास्तविकता के अनुकूल है, क्योंकि इस प्रकार की सभी अवस्थाओं में **न्** या तो प्रथमा एकवचन का है (यथा विद्वान्) या द्वितीया बहुवचन का[6]। दोनों अवस्थाओं में न् के अनन्तर **स्** की सत्ता सिद्ध होती है। दीर्घ स्वर के अनन्तर पदान्त न् को विसर्जनीय का विधान किया गया है[7]। आ के अनन्तर तो विसर्ग को **य्** होकर[8] लोप हो जाता है[9], किन्तु अन्य दीर्घ स्वरों के अनन्तर इसे **र्** करके[10] स्वर और र् के मध्य में अनुस्वार का आगम किया जाता है[11], यथा—प्रधीँरति। स्वर परे रहते पदान्त य्, **व्** के **'अर्ध'** का विकल्प से लोप किया गया है[12]। तै० प्रा० (१०, १९-२३) में वात्सप्र के नाम से तथा चतुरध्या० (२, २४) में शाकटायन के नाम से इस प्रकार की

---

[1] ऋक्त० सूत्र ६१—'उच्चश्रुतीनि'।

[2] ऋक्त० सूत्र ६८।

[3] निरुक्त १, ६।

[4] 'लुबन्य:'—सू० ८३।

[5] द्र० सूर्यकान्त, ऋक्त०, भूमिका पृ० ७३-७५।

[6] ह्विट्ने चतुरध्या० २, २७; पा० ८, ३. ९; तथा ८, ३, १-१२।

[7] ऋक्त० सूत्र ११३।

[8] ऋक्त० सूत्र ११७।

[9] ऋक्त० सूत्र १५८।

[10] ऋक्त० सूत्र ११५।

[11] ऋक्त० सूत्र १८५।

[12] 'अर्धं वा'—सूत्र १६१।

लेशवृत्ति (=लुप्तवदुच्चारण) का विधान पाया जाता है। पा० (८, ३, १८) ने इसे 'लघुप्रयत्नतर' का नाम दिया है, जिसका अर्थ 'शिथिल उच्चारण' किया गया है[1]। अतः प्रतीत होता है कि ऋक्तन्त्र में शाकटायन ने अपने किसी पूर्वाचार्य के मत को दृष्टि में रखकर वैकल्पिक विधान किया है। विसर्ग को परसवर्ण, जिह्वामूलीय एवं उपाध्मानीय के विधान[2] के कारण वा० प्रा० (३, ९; १२) ने इसे शाकटायन के नाम से उद्धृत किया है; शाकल्य के मतानुसार श्, ष्, स् परे रहते विसर्ग को कोई विकार नहीं होता[3]। स्वरों के दीर्घीकरण, व्यञ्जनों के द्वित्व तथा मूर्धन्यीकरण का भी विवरण यहां दिया गया है। विचित्र बात यह है यद्यपि ऋक्तन्त्र कौथुमशाखा का प्रातिशाख्य है, तो भी इसके अनेक नियम संहिता में लागू होते नहीं देखे जाते, यथा, चवर्ग परे रहते तवर्ग को चवर्ग का विधान किया गया है[4], किन्तु सामवेद-संहिता में **न्** को ऐसी स्थिति में प्रायः अनुस्वार ही किया गया है[5]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋक्तन्त्र अन्य प्रातिशाख्यों की अपेक्षा संक्षिप्त है। इसमें लक्षण और परिभाषाएं न होने के तुल्य हैं। यहां तक कि वर्णमाला तक का अभाव है। किसी विषय को विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया गया। अन्य प्रातिशाख्यों के विपरीत यहां **स्वरभक्ति, यम** जैसे सूक्ष्म विषयों के विवेचन का अभाव खटकता है। पद को संहिता में परिवर्तित करने के नियम यहां अवश्य पाये जाते हैं। इन विषयों में ऋक्तन्त्र तथा चतुरध्या० में बहुत साम्य है। दोनों में नियमों के स्पष्टीकरणार्थ गणों का आश्रय लिया गया है। दोनों में ही सूक्ष्म सिद्धान्तों के आधार पर विषय का संक्षिप्त प्रतिपादन करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, जिस कारण ये दोनों ही व्याकरण के अधिक निकटस्थ हो गये हैं, जिसका उपबृंहण पाणिनि की अष्टाध्यायी में विस्तार से हुआ है।

सामवेद का क्रमपाठ उपलभ्य नहीं है। किन्तु परम्परा की प्रसिद्धि के के अनुसार ऋक्तन्त्र के कर्ता ने ही क्रमपाठ का निर्माण किया था। ऋक्तन्त्र में क्रमपाठ को स्पर्श नहीं किया गया; यह विषय केवल वा० प्रा० में विस्तारपूर्वक वर्णित है। जैसे कि ऊपर देख चुके हैं, ऋक्तन्त्र में अपने प्रस्तुत विषय

---

[1] पा० ८, ३, १८ पर भट्टोजि०।

[2] ऋक्त० सूत्र १७७।

[3] वा० प्रा० ३, १०; पा० ८, ३, ३६—'वा शरि'।

[4] ऋक्त० सूत्र १७८।

[5] द्र० सूर्यकान्त, वही, सूत्र १७८ पर टिप्पणी।

के अतिक्रमण करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। **अभिनिहित सन्धि** के विषय में साम० सं० में पाये जाने वाले कई उदाहरणों की न तो व्याख्या ही की गयी है, न चर्चा ही। यथा— **'संक्रन्दनोऽनिमिषः'** (साम सं० १८, ४९); **अंहोऽतिपिप्रति** (साम सं० १३५२)।

कई ऐसे उदाहरण दिये गये हैं, जो वर्तमान किसी भी वेद में उपलभ्य नहीं हैं। यथा—शकन्धुकादि गण में—**अपक्षपा असि; वपा हवत्मना शक अन्धुक ईश**[1]; **पर्षच्छ्लोकः**[2]। अभिनिहित सन्धि के प्रसंग में 'अ' का लोप साम० सं० में स्वल्प स्थानों पर ही होता है[3]।

व्याख्या—ऋक्तन्त्र पर उपलभ्य व्याख्या अत्यन्त संक्षिप्त सूत्रशैली में लिखी गयी है। वह भी अनेक स्थानों पर अस्पष्ट और अबोध्य हैं। इसमें अधिकारों का प्रयोग किया गया है, जिससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार को सामवेदीय व्याकरण का बहुत अच्छा ज्ञान था। कहीं-कहीं सामवेद से बाहर ऋग्वेद और ऐतरेय ब्राह्मण तक से उदाहरण दिये गये हैं,[4] किन्तु कर्ता के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं। एक स्थल पर व्याख्या में नकुलमुखाचार्य को उद्धृत किया गया है, जिसके विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं। उपाध्याय अजातशत्रु (९५० ई०) ने बाहूकाचार्य के भाष्य का उपयोग किया था। बाहूक ने प्रस्तुत व्याख्या को उद्धृत किया है[5]। अतः सम्भव है कि उनका काल ईसवी शती के आरम्भ में हो।

संस्करण—(१) ए० सी० बर्नेल ने सर्वप्रथम ऋक्तन्त्र का सम्पादन किया था (मंगलौर)।

(२) सूर्यकान्त, द्वितीय संस्करण, व्याख्या के सन्दर्भों सहित, १९३४, लाहौर। इसी का प्रतिसंस्करण १९७० में दिल्ली से प्रकाशित हुआ।

लघु ऋक्तन्त्र

ऋक्तन्त्र के आधार पर एक लघु ऋक्तन्त्र की रचना भी किसी ने की थी। इसके रचयिता के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

---

[1] ऋक्त० सूत्र ८७; तु० पा० ६, ४, ९४।

[2] ऋक्त० सूत्र १७९ में।

[3] द्र० सूर्यकान्त, ऋक्तन्त्र, भूमिका, पृ० ७३-७८।

[4] ऋक्त० सूत्र २२५ पर।

[5] साईमन, पुष्पसूत्र, पृ० ४९९।

लघु ऋक्तन्त्र के पृष्ठ ४६ पर पाणिनि की नामोल्लेखपूर्वक चर्चा की गयी है। अतः यह कृति पाणिनि से पश्चात्कालिक है।

हरदत्त कृत सामसर्वानुक्रमणी में कहा गया है **'नैगाख्यं लघु ऋक्तन्त्रञ्चद्रिकाख्यं स्वस्य तु'** इसका क्या अभिप्राय है, यह विचारणीय है।

सामतन्त्रम्

सामवेद के सहायक ग्रन्थों में सामतन्त्र एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। यद्यपि हस्तलेखों तथा 'गोभिलगृह्यकर्म-प्रकाशिका' में इसे व्याकरण कहा गया है[1], तो भी स्वरों के व्युत्पादन के कारण तथा प्रकृति, प्रत्ययादि के विचार के अभाव के कारण इसे प्रातिशाख्य कहना ही अधिक संगत है। अन्य वेदों के प्रातिशाख्यों तथा सामवेद के प्रातिशाख्यों के स्वरूप में भी भेद है। जहां अन्य प्रातिशाख्यों में स्वर, व्यञ्जन आदि के उच्चारण, सन्धियों, पदपाठ तथा संहितापाठ के भेदों, छन्दों तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों का प्रतिपादन किया गया है, वहां सामवेद के प्रातिशाख्यों का मुख्य विषय संगीत के सातस्वरों, इनके देवताओं, त्रिविध प्रकार के गानों में ऋचाओं के स्वरूप में परिवर्तनों, अलङ्कारों तथा पदावृत्तियों का प्रतिपादन है।

सामतन्त्र के कर्ता के विषय में हमें कुछ निश्चित ज्ञान नहीं है। साम सर्वानुक्रमणी में औदव्रजि को कर्ता के रूप में स्मरण किया गया है[2]। सामश्रमी ने इसे गार्ग्य की कृति कहा है। सूर्यकान्त ने ऋक्तन्त्र की भूमिका में विस्तार से विचार करके सर्वानुक्रमणी को ही प्रमाण माना है। इस रचना का काल ऋक्तन्त्र से अर्वाचीन है।

'सामतन्त्रप्रकाशिका' नामक भाष्य भी उपलब्ध है; यह अपूर्ण है। इस भाष्य में किसी प्रकार के शास्त्रार्थ या ऊहापोह का सर्वथा अभाव है। केवल उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण दिये गये हैं। उनमें भी **वेयगानों** के उदाहरण तो नामग्रहण-पूर्वक दिये गये हैं, किन्तु **आरण्यगानस्थ** उदाहरणों में साम का निर्देश ही कर दिया गया है—यथा, **वैरूपे, देवव्रतेषु** इत्यादि। कहीं पर केवल ऋचा का ही निर्देश किया गया है, यथा—**'यज्जायथायाम्'**। आरण्यगान का निर्देश **'रहस्य'** नाम से भी किया गया है। **प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव** तथा **निधन**-रूप गानविभागों में से **प्रस्ताव, उपद्रव** तथा **निधन** का निर्देश **तुडि, वादे** तथा **निक्षे**

---

[1] **ऋक्तन्त्रं सामतन्त्रञ्च संज्ञालक्षणमेव च ।**
धातुलक्षणञ्च स्यादिति व्याकरणानि च' (पृ० २)।

[2] **औदव्रजिकृतं सूक्ष्मं सामगानां सुखावहम् ।** (सा० सर्वा० पृ० ४ ; हरदत्त कृत)

इन शब्दों से किया गया है। दयाशङ्कर कृत टीका भी उपलब्ध है (बर्नेल, आर्षेय ब्रा०, उपोद्० पृ० २४) यह प्रौढ़ सूत्रशैली की रचना है। यहां संक्षिप्त शब्दों का बड़ा रोचक प्रयोग किया गया है। यथा—

> उद्=उदात्त ; एके=एकाक्षरे ; ग=वर्ग ; घ=दीर्घ ; च=नीच ;
> त्रात्=चित्रात् ; दात्=पदात् ; दे=पदे ; रे=स्वरे ।

साम सर्वानुक्रमणी[1] के अनुसार सामतन्त्र में १५ प्रपाठक हैं; किन्तु इस समय १३ उपलब्ध हैं। अन्तिम दो प्रपाठकों के नाम 'अक्षर तन्त्र' (पर्वप्रकरण) तथा 'संज्ञाप्रकरण' या 'संज्ञा लक्षण' हैं। दोनों में गीति-प्रतिपादन समान रूप से किया गया है। व्युत्पाद्य-स्वरों का ऋगक्षर तथा स्तोभाक्षर के आश्रय-भेद से सामतन्त्र तथा अक्षरतन्त्र दो नाम हो गये हैं। स्तोभ[2] उन आगन्तुक ऋग्-विलक्षण शब्दों या अक्षरों को कहते हैं, जो गानावस्था में ऋक्-विलक्षण शब्दों के बीच-बीच में सन्निविष्ट किये जाते हैं। यह दो प्रकार के होते हैं—एक सार्थक यथा—'नृम्णे' 'निधीमहि', 'अग्निष्टपतिः' ; दूसरे निरर्थक यथा—हाइ, हाउ, औहोवाई इत्यादि। इनमें निरर्थक स्तोभ तो केवल गान के अलङ्कारार्थ प्रयुक्त होते हैं और सार्थक स्तोभ तान्त्रिक प्रभावोत्पादक माने जाते हैं।

सत्यव्रत सामश्रमी स्वसंपादित अक्षरतन्त्र में सामतन्त्र तथा अक्षरतन्त्र दोनों के भिन्न-भिन्न कर्ता मानते हैं। सामतन्त्र का कर्ता गार्ग्य तथा अक्षरतन्त्र का आपिशलि। किन्तु इस सान्यता में कोई प्रमाण नहीं[3]। सामतन्त्र में उदात्तदि स्वरभेद से पद के नौ भेद माने गये हैं, जो पाणिनीय शिक्षा[4] में भी स्वीकार किये गये हैं। अन्यत्र[5] ग्यारह भेदों की भी चर्चा की जाती है। गान के सात स्वरों के यह नाम हैं—क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र तथा अतिस्वार्य—जो लोक में मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, निषाद, धैवत तथा पञ्चम के नाम से प्रसिद्ध हैं[6]।

---

[1] सा० सर्वा० पृ० ४।

[2] 'The Stobha-phrases always sing the highest tones to the syllables which also in the spoken language, have the highest pitch' (Hoogt, *The Vedic Chant studied in its textual and melodic forms*).

[3] द्र० ए० एम० रामनाथ दीक्षित, सामतन्त्र भूमिका, पृ० ५, सं० काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६१।

[4] पा० शि० ४५।

[5] वाज० प्रा० १, १ उत्वट भाष्य।

[6] तु सामविधान ब्रा० ; नार० शि० ५, २ जहां निषाद और धैवत के स्थान क्रमशः पञ्चम और षष्ठ गिनाये गये हैं।

सामगान का आरम्भ क्रुष्ट तथा अतिस्वार्य से कभी नहीं होता, न ही क्रुष्ट स्वर से समाप्ति ही होती है। सामगायक जितने अंश को एक साथ गाते हैं, उसे **पर्व** कहते हैं। **पर्व** एकाक्षर भी होते हैं, अनेक-स्वर भी। **पर्वों** के भी अनेक भेद गिनाये गये हैं। गानों के **प्रत्युत्क्रम**, **अतिक्रम**, **कर्षण**, **स्वार** नामक भेद किये गये हैं। इनके भी अनेक भेद-प्रभेद दर्शाये गये हैं, **नन्दा**, **दोषावस्ता**, **शता** प्रभृति। पर्वों के स्वरूप का वर्णन तथा मूल ऋक् में आने वाले शब्दों के आधार पर सामों के नामों का स्पष्टीकरण किया गया है। यथा—'प्रातरग्नि'[1] इस ऋचा पर गीयमान पर्व को 'मर्ता' तथा 'तिस्रोवाचः'[2]। इस ऋचा पर गीयमान पर्व को 'तिधेनवा' कहा जाता है, क्योंकि प्रथम ऋचा में 'मर्ता स इन्धते' भाग में मर्ता पद तथा द्वितीय में 'मिमन्ति धेनवः' पदों में 'तिधेनवः' दृष्टिगोचर होते हैं। गान में ऋचाओं को अनेक प्रकार के विकार होते हैं। उन विकारों में अनेक भाव दर्शाये गये हैं यथा—

विकर्षभाव—वि+अञ्जते का संहिता में 'व्यञ्जते', किन्तु गीति में 'वियञ्जते' रूप हो जाता है।

ह्रस्वभाव—देवी+एतु='देव्येतु' का गीति में 'वी' को ह्रस्व होकर गान का स्वरूप 'प्रदा३वियें' हो जाता है।

आइभाव—'यो जान्विन्द्र' में इकार को 'आइभाव' होकर गान में इसका रूप यह हो जाता है—

यो जानूऽ३वाऽ३इ……इत्यादि

सामवेद की विभिन्न शाखाओं में गानभेद तो होते ही हैं, एक ही कौथुमशाखा में भी गान में प्रकार भेद दृष्टिगोचर होते हैं। यथा—वामदेव की ऋचा '**कयानश्चित्र**'[3] में साम का स्वरूप यह होगा 'का५या-नश्चाऽ३इत्रा३ आभुवात् । ऊ। तीसदावृधः स-खा-औऽ२३ होहाइ। कयाऽ२३श्चाइ। ष्ढयौ होऽ३। हुम्माऽ२। वाऽ२र्तोऽ३हाइ[4]।

इस विषय में सामश्रमी का पाठ इस प्रकार है—

काऽ५ या नश्चाऽ३यित्राऽ३आभुवात्। औऽ३होहायि-कया-ऽ२३श्चायि।
वाऽ२र्तोऽ३५हायि॥

---

१. साम० सं० पृ० ८५।

२. सा० सं० पृ० ४७१।

३. सा० सं० पृ० १६९।

४. सातवलेकर सं० पृ० १।

चित्र शब्द को गान के समय 'चाइत्र' रूप हो जाता है। इकार को आइकार हो जाता है। इस 'आइ' की **गति** संज्ञा है। जो **इगति उगति** दो प्रकार की है—हाइ, हाउ। इस **गति** के स्वरूप के विषय में मतभेद है। दूसरा पक्ष इसे 'औ हो हा यि' इस प्रकार लिखता है।

गान के स्वराङ्कन प्रकार में भी मतभेद पाया जाता है। काञ्जीमण्डलवासी सामग परस्पर भिन्न पाठों को स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनके मन्त्रों पर स्वर-सङ्केत अङ्कों से न होकर अक्षरों से किया जाता है। उपर्युक्तमन्त्र का उनके गान में यह रूप हो जायेगा—

> का ट मि यां। न चौश्चाइत्र आंयुवात्। ऊक। तीं गो सा पा वृधस्स। खा क। औ चे हों हा इ। क कः या२चाइ। ष्ठ टि यौ हो। हि का म्मा प्रे। वा की मि तों हा इ। इति।

इन अक्षरनिर्देशों में भी अनेक भेद हैं।

राणायनीय के गान पाठ में भी वर्णों के ऊपर स्वराङ्क सङ्केत नहीं होते। वर्णों के पश्चात् अङ्कों के द्वारा पूर्ववर्णों के स्वरों का ज्ञान होता है। वर्णों के नीचे पड़ी रेखा दीर्घत्व की सूचक होती है, यथा—

हा ऽ ३ उ ऽ २ हा ऽ २ उ ऽ २ हा ऽ २ उ ऽ २। आ ऽ ३ जा ऽ २ ओ ऽ ३ वा ऽ ३। ३। दि ऽ २ दी ऽ २ हि विश्वतस्पृ ऽ २ थुः। उ ऽ २ दु ऽ २ त्यं ऽ २ जा ऽ २ ता ऽ २ ३ वायि दा ऽ २ सा ४ २ म् २। दे ऽ २ वं ऽ २ व ऽ २ ह ऽ २ न्ती ऽ २ ३ का इ ता ऽ २ वा ऽ ४ २ः। दृ ऽ २ शे ऽ २ वि ऽ २ श्वा ऽ २ या ऽ २ सू रा ऽ २ या ऽ ४ २म् २॥

यद्यपि वर्णसंख्या, वर्ण आनुपूर्वी, वर्णवर्गीकरण, स्थान, प्रयत्न आदि विषय साम प्रातिशाख्यों में नहीं पाये जाते, तो भी वर्णों से सम्बद्ध स्वर, व्यञ्जन, अन्तःस्थ, ऊष्म आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में यहां भी किया जाता है। इन विषयों का विवरण ऋक्तन्त्र-व्याकरण में दिया गया है और क्योंकि सामतन्त्र ऋक्तन्त्र से बाद का है, अतः इन विषयों का प्रतिपादन यहां नहीं किया गया। हरदत्त कृत सा० सर्वा० में सामतन्त्र के भाष्यकार का नाम भट्ट उपाध्याय कहा गया है, जिसके विषय में कुछ ज्ञात नहीं।

अक्षरतन्त्र

सामवेद से सम्बद्ध **'अक्षरतन्त्र'** नामक एक लघु रचना है। इसका प्रकाशन पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने बहुत पहले किया था।

सामश्रमी के मतानुसार इसका रचयिता ऋक्तन्त्रकार शाकटायन का समसामयिक महामुनि आपिशलि था[1]। ऐसी सम्मति इन्होंने निरुक्तालोचन में भी व्यक्त की है[2]।

इसमें सामगानों में प्रयुज्यमान स्तोभ आदि के विषय में चर्चा की गयी है। जहां सामतन्त्र में योनि (ऋचा)-गत अक्षर-विकार, विश्लेष, विकर्षण, अभ्यास, विराम आदि पर विचार किया गया है, वहां अक्षरतन्त्र में स्तोत्रगत आपात स्वर आदि का विवेचन किया गया है[3]।

व्याख्या :—इस पर एक वृत्ति भी प्रकाशित हुई है, जो नवीन तथा आद्यन्तहीन है, जिसके लेखक का कुछ पता नहीं।

पुष्पसूत्र

सामतन्त्र के अतिरिक्त सामवेद का एक और प्रातिशाख्य पुष्पसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। सामवेदीय सर्वानुक्रमणी में हरदत्त ने इसके रचयिता का नाम वररुचि लिखा है :—

सूत्रकारं वररुचिं वन्दे पाणिनिञ्च वेधसम् ।
फुल्लसूत्रविधानेन खण्ड-प्रपाठकानि च ।।

तथा— **वन्दे वररुचिं नित्यमूहाब्धेः पारदृश्वनम्**[4] ।

किन्तु मैक्समूलर के अनुसार इसको गोभिल से सम्बद्ध किया जाता है,[5] जो मान्य नहीं हो सकता। यह वररुचि कौन थे, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। मीमांसादर्शन के नवम अध्याय के नवम अधिकरण में (अधिकरण माला में) पुष्पसूत्र के एक वचन की ओर सङ्केत किया गया है—**'तथा सामगा आहुः—वृद्धं तालव्यमाइ भवतीति'**[6] यह सूत्र पुष्प० ३, १ में इस प्रकार पाया जाता है।

---

[1] भूमिका, पृ० २।

[2] निरुक्तालोचन, पृ० ११५।

[3] सामश्रमी, अक्षरतन्त्र, भूमिका, पृ० १।

[4] पृ० ७।

[5] हि० ए० एस० एल०, द्वि० सं० पृ० २१०।

[6] द्र० सामश्रमी सं० पुष्प० की भूमिका।

'तालव्यमायि यद्वृद्धम् अवृद्धं प्रकृत्या' इससे प्रतीत होता है कि पुष्पसूत्र जैमिनि से पूर्ववर्ती है। बर्नेल ने इसे अपेक्षाकृत नवीन रचना कहा है[1]।

पुष्पसूत्र के दो पाठ प्रचलित हैं। एक तो वह जिस पर उपाध्याय अजातशत्रु का भाष्य है, जो कि पञ्चम से दशम प्रपाठक तक उपलब्ध है और काशी से प्रकाशित हुआ है। इसमें प्रथम चार प्रपाठकों पर अजातशत्रु का भाष्य नहीं है। क्योंकि अजातशत्रु के पञ्चम प्रपाठक के भाष्य के आरम्भ में ही मंगलाचरण किया गया है, अतः स्पष्ट होता है कि अजातशत्रु के भाष्य का आरम्भ यहीं से होता है। दूसरे पञ्चम प्रपाठक की प्रत्येक कण्डिका के अन्त में लिखा है—**इति उपाध्यायाजातशत्रुकृते पुष्पसूत्रभाष्ये प्रथमस्य प्रथमी कण्डिका समाप्ता।** इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि अजातशत्रु को प्रथम चार प्रपाठकों का ज्ञान नहीं था।

डा० कैलेण्ड की सूचनानुसार[2] दूसरी वृत्ति शिवराम की है, जो प्रपाठक ३-१० तक उपलब्ध है। तीसरी टीका रामकृष्ण दीक्षित सूरी अथवा नाना भाई की 'नाना भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। जो सम्पूर्ण दस प्रपाठकों पर है। प्रथम दो प्रपाठकों पर विनायक भारद्वाज की टीका भी उपलब्ध होती है, अतः यह निश्चित है कि इस ग्रन्थ के दस प्रपाठक हैं।

अन्य सामवेदीय प्रातिशाख्यों के समान ही इसका विषय भी गान संहिता से सम्बद्ध है। ग्रामगेय तथा अरण्येगेय गानों से ऊहगान के निर्माण के नियम तथा स्तोभ-सम्बन्धी विवेचन इसकी विशेषताएं हैं। इसमें उन स्थलों तथा मन्त्रों का भी निर्देश किया गया है, जहां स्तोभ का विधान तथा अपवाद किया जाता है।

इसकी रचना-शैली की विशेषता यह है कि इसमें पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण मूल शब्द के आदि या अन्त के अक्षरों से ही कर लिया जाता है, जैसे कि सामतन्त्र के प्रकरण में देख चुके हैं।

इसमें अन्य सामवेदीय रचनाओं की परम्परा में ही व्याकरण से सम्बद्ध ऐसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो अपेक्षाकृत प्राचीन या ऐन्द्र व्याकरण की परम्परा में हैं[3]। पुष्पसूत्र के रचयिता की विद्वत्ता की चर्चा करते हुए बर्नेल ने लिखा था, "फुल्लसूत्र (पुष्पसूत्र) के रचयिता की महती

---

१. आर्षेयब्रा०, भूमिका, पृ० २३।

२. पञ्चविंश ब्रा०, भूमिका, पृ० ७।

३. बर्नेल, वही, पृ० २३।

विश्लेषण-शक्ति पाणिनि के समान ही थी ··· ··· ' किन्तु उसका प्रयोग किस लक्ष्य के लिये किया गया[1] ।'

आज बर्नेल को चाहे यह लक्ष्य महत्त्वहीन प्रतीत होता हो, किन्तु सामवेद-साहित्य की समसामयिक स्थिति को सम्भालने के लिए इन रचनाओं की आवश्यकता थी और उनका औचित्य सामगान की लुप्त होती हुई वर्तमान परम्परा से सिद्ध होता है।

सात्यमुग्रि—राणायनीय प्रातिशाख्य

सामवेद की उक्त शाखा से सम्बद्ध इस प्रातिशाख्य का उल्लेख भट्टोजिदीक्षित ने स्वरचित शब्दकौस्तुभ (१, १, २) में किया है । 'यद्यपि छन्दोगानां मध्ये सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारञ्चाधीयते— 'सुजाते ए अश्व सूनृते' इति अन्तपादस्थस्याव्यपरस्य तदीये प्रातिशाख्येऽर्धमेकारमर्धमोकारञ्च विदधति तथापि प्रातिशाख्यसमाख्या बलादेव सर्वशाखासाधारणेऽस्मिन् शास्त्रे तस्य न ग्रहणम्[2] ।'

राणायनीय ऋक्तन्त्र

गोभिल गृह्यसूत्र (२, ८, ४) के व्याख्याकार भट्टनारायण का वचन है 'अभिनिष्ठानं विसर्जनीयमक्षरम् । राणायनीयानाम् ऋक्तन्त्रे प्रसिद्धा विसर्जनीयाभिनिष्ठनाख्यायेति ।'

उपलब्ध ऋक्तन्त्र में 'अभिनिष्ठानं' नामक विसर्जनीय का उल्लेख नहीं किया गया । किन्तु तु० 'विसर्जनीयोऽभिनिष्ठानः' (चतुरध्यायिका १, २, १) तथा पा० (८, ३, ८६) 'अभिनिसःस्तनः शब्दसंज्ञायाम्' । अभिनिष्ठानो वर्णः ।

गौतमि प्रातिशाख्य

सामवेद से सम्बद्ध गौतमि शिक्षा में गौतमि प्रातिशाख्य का उल्लेख किया गया है—''अथ सप्ताक्षरमेकमुदाहृतं प्रातिशाख्ये । त्रहि त्रहि यिनिक्ष्वेति ननकषषषक वाः । गौतमेनोक्तम्—'न स सप्ताक्षरात्परः संयोगो भवति' इति ।

---

[1] वही, पृ० ३२ ।

[2] **ननु च भोश्छन्दोगानां पर्षवकृतिरेषा तत्रभवताम् ।**
तथा उस पर प्रदीप । भट्टोजि ने यह वचन महाभाष्य तथा कैय्यट के वचनों के आधार पर ही लिखा है ।

वेदाङ्ग

वेदाङ्ग ज्योतिष

अष्टम अध्याय

वेदाङ्ग ज्योतिष

पाणिनीय शिक्षा की प्रसिद्ध कारिका के अनुसार ज्योतिष वेद का तृतीय अङ्ग है। कर्मकाण्ड के समय पर सम्पादनार्थ कालगणना तथा नक्षत्र-निरीक्षण के विज्ञान की नींव वैदिक आर्यों ने अत्यन्त प्राचीन काल में ही रख ली थी। उस प्राचीन काल में ही लोगों ने नक्षत्रों के स्थान, तारों की स्थिति, सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों की गति, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष आदि के निरीक्षण-परीक्षण का प्रयास आरम्भ कर दिया था।

आरम्भ में 'नक्षत्र' शब्द सभी तारों के लिए प्रयुक्त होता था—यथा ऋक्-संहिता के इस मन्त्र से प्रकट होता है।

'अप ते तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः। सूराय विश्वचक्षसे'[1] ।

'सर्वदर्शी सूर्य के लिए (अर्थात् आगमन पर) रात्रियों-सहित नक्षत्र चोरों के समान भाग जाते हैं।'

फिर चन्द्रमार्ग पर पड़ने वाले तारों को नक्षत्र कहने लगे।

'अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः'[2] ।

"अब यह चन्द्रमा तारों की गोद में स्थित है।"

तै० सं० (४, ४, १०) में सभी २७ नक्षत्रों के नाम गिनाये गये हैं और यहां नक्षत्र से उन तारकापुञ्जों को समझना चाहिये, जो चन्द्रमार्ग में पड़ते हैं[3]।

अथर्ववेद (१९, ७, १) में अट्ठाईस नक्षत्रों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में सप्तर्षियों का भी उल्लेख पाया जाता है।

'अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुत्रचिद्दिवेयुः'[4] ।

---

[1] ऋग् १, ५०, २; अथर्व० १३, २, १७; २०, ४७, १४।

[2] ऋग् १०, ८५, २; अथर्व १४, १, २।

[3] गोरखप्रसाद, भारतीय ज्योतिष शास्त्र का इतिहास, पृ० ३१, सन् १९५६, लखनऊ।

[4] ऋग् १, २४, १०।

'ये जो ऋक्ष (सप्तर्षि) ऊपर आकाश में स्थित हैं और रात्रि में दृष्टिगोचर होते हैं, वे दिन में कहीं चले जाते हैं।

'ऋक्ष' पद का अर्थ "सप्तर्षि" ही है, इसकी पुष्टि शतपथ ब्राह्मण के वचन से होती है—

सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते[१]।

'सप्तर्षियों को ही पहले ऋक्ष कहते थे'। पाश्चात्य ज्योतिष में सप्तर्षि-मण्डल को आज भी मेजर या ग्रेट बेयर (भालू=ऋक्ष→रीछ) कहा जाता है। ग्रहण का उल्लेख भी ऋग्वेद में ही किया गया है।

यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन् नह्यन्ये अशक्नुवन्[3]॥

जिस सूर्य को असुर के पुत्र स्वर्भानु ने अन्धकार में छिपा लिया था, उसे अत्रियों ने खोज निकाला, जो दूसरे न कर सके।

इससे अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः अत्रि के पुत्र ग्रहण की किसी प्रकार की गणना कर सकते रहे होंगे कि सूर्य ग्रहण का अन्त कब होगा।

पश्चाद्वर्ती वैदिक साहित्य में तो बृहस्पति तथा शुक्र की भी चर्चा की गयी है। तै० ब्रा० में बृहस्पति के जन्म का उल्लेख इस प्रकार किया गया है।

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानस्तिष्यं नक्षत्रमभिसंबभूव[४]।

'जब बृहस्पति पहले-पहल प्रकट हुआ, तो वह तिष्य (=पुष्य) नक्षत्र के पास स्थित था'। शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने इसका यह अर्थ लगाया है कि कभी पुष्य नक्षत्र बृहस्पति ग्रह की ओर आ गया होगा और अपनी गति के कारण दो चार घण्टे में पुनः प्रकट हुआ होगा, तो लोगों ने इसे बृहस्पति के जन्म की संज्ञा दी होगी, तब बृहस्पति पुष्य के निकट रहा होगा[५]। वहीं पर बृहस्पति के ग्रहत्व की चर्चा की गई है।

---

१. श० ब्रा० २१, १२, ४।

२. ऋग् ५, ४०, ९।

३. गोरखप्रसाद, वही, पृष्ठ ३४।

४. तै० ब्रा० ३. १, १।

५. भारतीय ज्योतिष, हिन्दी अनुवाद, शिवनाथ झाड़खण्डी कृत, पृ० ८८ सन् १९५७।

"बृहस्पतिः प्रथमञ्जायमो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्[1] ।"

'उत्पन्न होकर पहले-पहल बृहस्पति विशाल प्रकाश के अत्यन्त उच्चस्वर्ग में स्थित हुआ'। दीक्षित के मत में यहां बृहस्पति तारारूपी देवता माना गया है[2] ।

शुक्र की चर्चा करते हुए श० ब्रा० में लिखा है—

तद्वा एष एव शुक्रो य एष तपति, तद्यद् एष एतत्तपति तेनैष शुक्रश्चन्द्रमा एव मन्थी[3]—"यह जो चमकता है वह शुक्र ही है, क्योंकि यह चमकता है, अतः यह शुक्र है, चन्द्रमा मन्थी है।"

इमामु हैके शुक्रस्य पुरोरुचं कुर्वन्ति — अयं वेनश्चोदयन्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने[4] **इत्येतदस्य रूपं कुर्मो य एष तपति तथाह ज्योतिर्जरायुरिति**[5] । 'कुछ लोग **अयं वेनश्चोदयत्** इस मन्त्र को शुक्र की पुरोरुच् बनाते हैं। यह जो **ज्योतिर्जरायुः** कहा गया है, यह उसी का रूप (वर्णन) करते हैं 'जो यह चमकता है'।

इससे सिद्ध होता है कि 'वेन' और 'शुक्र' एक ही पदार्थ हैं[6] या कम से कम शतपथ ब्रा० के काल में ऐसा मानने की परम्परा थी, इस प्रकार आकाशीय ज्योतिःपुञ्ज के प्रायः सभी प्रधान-प्रधान नक्षत्रों तथा ग्रहों का उल्लेख वैदिक साहित्य के किसी न किसी भाग में हो चुका है।

जर्मन विद्वान वेबर की सम्मति में ग्रहों का आविष्कार भारत में ही हुआ होगा, क्योंकि इनके नाम विशेषरूप से भारतीय हैं[7]। इस विषय में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वयं ऋग्वेद में ही **अधिमास** का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है—**वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः । वेदा य उपजायते**[8] । 'व्रत का पालन

---

[1] ऋग् ४, ५०, ४ ; तै० ब्रा० २, ८, २ में भी।

[2] वही, पृ० ८८ ।

[3] श० ब्रा० ४, २, १, १ ।

[4] ऋग् १, १२३, १ ।

[5] श० ब्रा० ४, २, १, ८ ।

[6] दीक्षित, वही, पृ० ८९ ।

[7] हि० इ० लि० पृ० २५१ ।

[8] ऋक् १, २५, ८ ।

करने वाले वरुण देव सन्तति-सहित बारह मासों को जानते हैं और उसे भी जानते हैं, जो (तेरहवां मास) समीप ही उत्पन्न होता है।'

यहां तेरहवां मास ही बारह मासों की सन्तति है, जो समय-समय पर उनके यहां उत्पन्न होती रहती है[1] अथवा सन्तति से पक्षों और दिनों का भी अर्थ ग्रहण किया जा सकता है[2]। इससे यह स्पष्ट ही लक्षित होता है कि उस समय के आर्य लोग चान्द्र वर्ष और सौर वर्ष में होने वाले अन्तर को जानते थे और उसे पाटने के लिए **अधिमास** का प्रयोग करते थे, और इस प्रकार वर्ष में ऋतुओं का हिसाब ठीक रखते थे। इस तेरहवें मास की चर्चा वा० सं० (२२, ३१) में भी की गयी है, जिसे लोग **अंहसस्पति** (=पाप का स्वामी) कहते थे। आज भी लोग इसे **मलमास** के नाम से पुकारते हैं। तै० सं० (४, ४, ११) में बारहमासों के नाम आज के नामों से सर्वथा भिन्न थे। यथा—वसन्त के दो मास 'मधु' और 'माधव' कहलाते थे, ग्रीष्म के दो मास 'शुक्र' और 'शुचि', वर्षा के दो मास 'नभस्' और 'नभस्य', शरद् के दो मास 'इष' तथा 'ऊर्जा', हेमन्त के दो मास 'सहस्' और 'सहस्य', शिशिर के दो मास 'तपस्' और 'तपस्य' के नाम से प्रसिद्ध थे। तै० ब्रा० (३, १०, १) में तेरह मासों के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं। (१) **अरुण** (२) **अरुणज** (३) **पुण्डरीक** (४) **विश्वजित्** (५) **अभिजित्** (६) **आर्द्र** (७) **पिन्वमान** (८) **अन्तवान्** (९) **रसवान्** (१०) **इरावान्** (११) **सर्वौषध** (१२) **संभर** (१३) **महस्वान्**। तै०ब्रा० में ही अन्यत्र[3] तेरहवें मास का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है—**द्वादशारत्नी रशना कर्तव्या ३ त्रयोदशारत्नी वेति। ऋषभो वा एष ऋतूनां यत् संवत्सरः, तस्य त्रयोदशो मासो विष्टपम्**। 'रस्सी बारह हाथ की बनानी चाहिये या तेरह की। यह जो संवत्सर है, वह ऋतुओं (गौओं) का ऋषभ (साण्ड) है। तेरहवां मास उसका कुहान है[4]।

वर्ष के मासों के उपर्युक्त नाम बाद में बदल दिये गये और नक्षत्रों के नाम पर रखे गये। इसका भी कारण था। प्राचीन मासों का ऋतुओं के साथ कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं था, जिसके फलस्वरूप बारह चान्द्रमासों के पूरे होने पर वर्ष का अन्त सौरवर्ष से लगभग ग्यारह दिन पूर्व ही हो जाता था, क्योंकि चान्द्रवर्ष में ३५४ दिन होते हैं और सौरवर्ष में ३६५,२५ दिन। इसी का स्वाभाविक परिणाम यह था कि प्रत्येक वर्ष कोई भी ऋतु पिछले वर्ष की अपेक्षा लगभग ग्यारह दिन पीछे रह सकती थी। इस दोष को दूर करने के लिए

---

[1] ग्रासमान, अनु०।

[2] पीटर्सन, हिम्स०, भाग १, पृ० ६९, टि० २।

[3] तै० ब्रा० ३, ८, ३।

[4] गोरखप्रसाद, वही० पृ० १७।

ऋषियों ने पूर्णिमा के समय तारों के बीच चन्द्रमा की स्थिति और ऋतु से प्रत्यक्ष सम्बन्ध को खोज निकाला और नक्षत्रों के हिसाब से मासों की गणना आरम्भ कर दी गयी, जिससे सौरवर्ष और चान्द्रवर्ष में अन्तर अत्यन्त स्वल्प रह गया। तै० ब्रा० (१, ९, २, ८) से प्रकट होता है कि मास-निर्धारण करने के लिए उन दिनों तारों का वेध आरम्भ हो गया था[1]— **न पूर्वयोः फल्गुन्योरग्निमादधीत, एषा वै जघन्या रात्रिः संवत्सरस्य यत् पूर्वे फल्गुनी……एषा वै प्रथमा रात्रिः संवत्सरस्य यदुत्तरे फल्गुनी**, 'पूर्व फल्गुनियों में अग्न्याधान नहीं करना चाहिये, यह वस्तुतः वर्ष की अन्तिम रात्रि है, जो पूर्वा फल्गुनी है……उत्तराफल्गुनी में अग्न्याधान करना चाहिये; यह संवत्सर की प्रथम रात्रि है, जो उत्तरा फल्गुनी है'।

यद्यपि यहां पूर्णिमा शब्द का प्रयोग नहीं हुआ, तो भी अभिप्राय पूर्णिमा का ही है। इसकी पुष्टि श० ब्रा० (६, २, २, १८) से हो जाती है—

एषा ह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्या फाल्गुनी पूर्णिमा।

"फाल्गुनी पूर्णिमा संवत्सर की प्रथम रात्रि होती है।"

अतः स्पष्ट है कि वैदिक काल में ज्योतिष की सच्ची नींव रख दी गयी थी। वैदिक ज्योतिष पर प्रकाश डालने वाली एक लघु रचना 'वेदाङ्ग ज्योतिष' अभी तक उपलब्ध होती है। इसके निर्माण का उद्देश्य "यज्ञकालार्थ सिद्धि" अर्थात् दर्शपूर्णमास प्रभृति यज्ञों के कालज्ञान की सिद्धि है[2]।

हम जानते हैं कि वैदिक संहिताओं में यज्ञों के सम्पादनार्थ कालविशेष का विधान किया जाता है[3] तथा यज्ञ प्रभृति वैदिक कर्मकाण्ड इतना जटिल है कि तनिक सी त्रुटि भी कर्म को निष्फल बनाने के लिए पर्याप्त है। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि अपने यज्ञों को सफल बनाने के लिए आर्य लोगों ने कितनी सावधानी बरती होगी। यद्यपि आज हमारे पास आर्यों के ज्योतिष विज्ञान का प्रारम्भिक रूप सुरक्षित नहीं है, तो भी वेदाङ्ग-ज्योतिष से उसका अनुमान किया जा सकता है। इस रचना में महात्मा लगध के द्वारा प्रतिपादित

---

[1] गोरखप्रसाद, वही, पृ० २०।

[2] वेदांग ज्योतिष, शामशास्त्री सम्पादित, श्लोक २।

[3] **संवत्सरमेतद् व्रतञ्चरेत्**, तै० आ० (१, १२, १); **वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत** (तै० ब्रा० १, १, २, ६७); **मासि-मासि पृष्ठान्युपर्यन्त, मासि-मासि अतिग्राह्या गृह्यन्ते। एकाष्टकायां दीक्षेरन्। फल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन्** (तै० सं० ७, ४, ८, १); **कृत्तिकासु अग्निमादधीत** (तै० ब्रा० १, १, २, १)।

काल-ज्ञान के सिद्धान्त की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की गयी है[1]। इससे पता चलता है कि यह रचना अपने प्रकार की प्रथम कृति नहीं है, तो भी शामशास्त्री की अटकल के अनुसार इस का नाम 'शुचि' हो सकता है[2]। इसके रचना काल के विषय में अनेक लोगों ने अनेक मत व्यक्त किये हैं। कोलब्रुक ने इसे १४०० ई० पू० का माना था[3]। बेण्टले ने १८२३ में स्वरचित ग्रन्थ *Historical view of the Hindu Astronomy*, Cal., में इसे ११८१ में रचित माना और आर्चडीकन प्राट ने इसकी पुष्टि की[4]। मैक्समूलर ने इस काल को स्वीकृति प्रदान की[5]। बेण्टले के अनुसार १४२६ ई० पू० के आसपास 'विशाखा' नक्षत्र के मध्य में शरत् सम्पात् पड़ता था और इसी समय नक्षत्रों की खोज तथा खगोल में स्थापना की गयी थी। याकोबी के अनुसार यह रचना वराहमिहिर से १८९६ वर्ष पूर्व अर्थात् लगभग १४०० ई० पू० में रचित होनी चाहिये[6]।

शङ्कर बालकृष्ण तथा बाल गंगाधर तिलक भी इसे १४०० ई० पू० की रचना मानते हैं[7]। गोरखप्रसाद ने स्वरचित 'भारतीय ज्योतिष का इतिहास' नामक पुस्तक में इसका रचनाकाल १२०० ई० पू० ही माना है[8]। इस कालगणना का एक परिणाम यह निकलता है कि क्योंकि इस रचना से पूर्व वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मणों की रचना हो चुकी थी, अतः वैदिक मन्त्रों का रचनाकाल १५००-१००० ई० पू० कदापि नहीं माना जा सकता। यद्यपि मैक्समूलर ने इसे ११८१ ई० पू० की रचना स्वीकार कर लिया है, तो भी बिना किसी तर्क या युक्ति के यह फतवा भी जारी कर दिया है कि अपने आप में यह प्रमाण वैदिक साहित्य के रचनाकाल की स्थापना में व्यर्थ है'[9]। इससे यही प्रतीत होता है कि वे इस विषय में निरुत्तर हो गये थे, इसलिए अपनी स्थापना के पक्ष में उन्हें ऐसी टिप्पणी करनी पड़ी[10]।

---

१. वेदांग ज्योतिष, श्लोक २।

२. आंग्लानु°, श्लोक १।

३. एशियाटिक रिसर्चिज़, भाग ७, पृ० २८५; मिसलेनियस एसेज़, भाग-१ पृ० १०८; एशियाटिक०, भाग ८, पृ० ४७।

४. प्रो० मैक्समूलर, ऋग्वेद भाग ४, पृ० २७-२८।

५. वही, पृ० २९।

६. *Indian Art*, 1894, 6158 ff.

७. *Orion* p. 6, गीता रहस्य, सप्तम हिन्दी सं० पृ० ५६२, १९३३।

८. पृ० ४२।

९. ऋग्वेद भाग ४, भूमिका, पृ० ३०।

१०. द्र० सि०वि० वैद्य, सं० सा० इ०, ३ भाग, पृ० ३७।

यह वेदाङ्ग-ज्योतिष दो संस्करणों में उपलब्ध होता है। एक ऋग्वेद ज्योतिष है, जिसमें ३६ श्लोक हैं, दूसरा यजुर्वेद ज्योतिष कहलाता है, जिसमें ४४ श्लोक हैं। अधिकांश श्लोक दोनों में समान है, केवल क्रमभेद है। कहीं-कहीं शब्दभेद भी पाया जाता है, किन्तु अर्थ में विशेष भेद नहीं है। ऋग्० ज्यो० के सात श्लोक यजु० ज्यो० में नहीं पाये जाते तथा यजु० ज्यो० के १४ श्लोक ऋग्० ज्यो० में नहीं मिलते। सम्भवतः ये दोनों रचनाएं किसी बड़े ग्रन्थ से संकलित की गयी हैं। शामशास्त्री के अनुसार यजु० ज्यो० में टीका के रूप में लिखे गये कुछ श्लोक मूल में सम्मलित हो गये हैं।

इन रचनाओं की भाषा संक्षिप्त तथा अस्पष्ट होने के कारण इनके अर्थ लगाने में बड़ी कठिनाई होती है। इस पर लिखा गया सोमाकर-भाष्य भी अस्पष्ट होने के कारण सहायक सिद्ध नहीं हुआ। वेबर,[1] कोलब्रुक,[2] बैण्टले,[3] ह्विट्ने,[4] थीबो,[5] बर्गेस,[6] याकोबी,[7] शङ्करबालकृष्ण दीक्षित,[8] छोटेलाल बार्हस्पत्य,[9] सुधाकर द्विवेदी,[10] बालगंगाधर तिलक,[11] डा० शामशास्त्री,[12] गोरखप्रसाद[13] तथा कीथ[14] ने

---

१. *Uber den Veda Kalender, Namens Jyotisham,* Royal Akadamy of Sciences, Berlin, 1862.

२. *Asiatic Researches,* Vol. VII, p. 285 ; Vol. VIII, 471, *Miscellanious Essays,* Vol. I, p. 108.

३. *The Astro.* 1823.

४. *On the Origin of the Hindu Science of Astronomy, Pr. A.O.S.* 1859.

५. *Contributions to the Explanation of the Jyotisha Vedānga JAS. Beng,* 1877, Vol. XLVI, p. 41 *; Indian Astronomy, Indian Thought,* Vol. I, 1907, p. 8, 193, 313, 423.

६. *Notes on Hindū Astronomy J.R.A.S.* 1897, p. 717.

७. *ZDMG,* LXXIV, p. 247 *; Ind. Ant.,* 1894, p. 158 ff.

८. भारतीय ज्योतिष (मराठी), १८८१।

९. हिन्दुस्तान रीव्यु १९०६, कई लेख।

१०. सुधाकर भाष्य १९०७।

११. *Vedic chronology and Ved. Jyot,* 1925.

१२. *Light on Ved. Jyot., Kuppuswami Shastri Com. Vol.,* Madras, 1935 ; *Ved. Jyot.,* ed. 1936, Com. Sans. and English Tr.

१३. *The Astro. Ved. Jyot., J.G.J.R.I.* IV p. 3392-48.

१४. *J. R. A. S.* 1914, *Vedic Calender.*

इस प्राचीन रचना के अर्थों को स्पष्ट करने का भरसक प्रयास किया है, तो भी इससे कई श्लोक अभी तक भी अस्पष्ट तथा विवादास्पद बने हुए हैं। थीबो ने इसके १-१०, १८, २१, २४, २८, ३०-४० श्लोकों की स्पष्ट व्याख्या करके शेष को अस्पष्ट घोषित कर दिया था। उसके बाद अनेक विद्वानों ने इन्हें स्पष्ट करने का प्रयास किया, किन्तु आंशिक सफलता ही प्राप्त की। शामशास्त्री ने अपने व्याख्या-सहित संस्करण में वेदांग-ज्योतिष के श्लोकों को सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिष-करण्ड तथा काल-लोक-प्रकाश जैसे जैन ग्रन्थों की सहायता से स्पष्ट करने का नवीन प्रयास किया है। यद्यपि हिन्दू ज्योतिषियों ने वेदांग-ज्योतिष के सिद्धान्त का परित्याग प्रथम ईसवी शती के आरम्भ में करके यूनानी (रोमक) सिद्धान्त को स्वीकार करके अपनी गणना-पद्धति में परिवर्तन तथा संशोधन कर लिया था, तो भी जैन ज्योतिर्विदों ने अपनी प्राचीन परम्परा को स्थिर रखा है। उनकी पञ्चांग-निर्माण के लिए गणना-पद्धति वेदांग-ज्योतिष की पद्धति के सर्वथा समान है। यहां तक कि वेदांग-ज्योतिष के ग्यारहवें श्लोक की स्पष्ट प्राकृत व्याख्या सूर्य-प्रज्ञप्ति में उपलब्ध है। इन ग्रन्थों की सहायता से वेदांग-ज्योतिष की अनेक जटिलताएं सुलझ गयी हैं। जैसा कि पहले कह चुके है कि इस रचना का उद्देश्य यज्ञ के काल से सम्बद्ध विषयों की सिद्धि है। अतः इसमें पञ्चांग बनाने के नियम बतलाये गये हैं तथा यह यज्ञादि के लिए उचित समय के निर्धारणार्थ उपयोगी है।

जैसा कि कह चुके हैं कि वैदिक काल में चान्द्रमास ही मुख्य था, आधुनिक गणना के अनुसार एक चान्द्रमास में २९·५३०५८८ दिन होते हैं, इसी प्रकार वर्ष में ३६५·२४२ दिन। इन भिन्नों से बचने के लिए प्राचीन आर्य गणितज्ञ युगों का प्रयोग करते थे। वेदांग-ज्योतिष में युग पांच वर्ष का माना गया है। इसमें १८३० दिन तथा ६२ चान्द्रमास रहते थे। इस प्रकार एक चान्द्रमास में २९·५१६ दिन होते हैं, जो वास्तविक परिमाण से कुछ कम हैं। इसका कारण यह है कि युग अधिक लम्बा नहीं चुना गया, इस त्रुटि को दूर करने के लिए आर्यभट्ट (पाँचवी शती) ने ४३२००० वर्षों का युग माना है।

इसमें आढक, द्रोण, कुडव, नाडिका, पाद, काष्ठा, कला, मुहूर्त और ऋतुशेष की परिभाषा की गयी हैं तथा युग में वर्षों, मासों, तथा दिनों का परिमाण बताया गया हैं। एक युग में तारों का उदय कितनी बार होता है, तथा दो अधिमास कब-कब आते हैं, युग के आरम्भ के क्षणमें सूर्य और चन्द्रमा की क्या स्थितियां होती हैं, उत्तरायण और दक्षिणायन का आरम्भ कब-कब होता है? इन विषयों पर विचार किया गया है। २७ नक्षत्रों तथा इनके देवताओं के नाम भी गिनाये गये हैं तथा अशुभ नक्षत्रों का भी उल्लेख किया गया है, तिथियों के क्षय होने का भी उल्लेख किया गया है। इस क्षय का कारण यह है कि चान्द्रमास में लगभग २९½ दिन होते हैं और तोस तिथियां होती हैं, अतः दो मास में

५९ दिन और ६० तिथियाँ होती हैं। इस भेद को दूर करने तथा दिनों तथा तिथियों का सामञ्जस्य करने के लिए लगभग दो मास में एक तिथि का क्षय करना ही पड़ता है।

एक श्लोक में पूर्णिमा तथा अमावस्या पर अपने नक्षत्र में चन्द्रमा के स्थान का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। यह भी स्पष्ट किया गया है कि नक्षत्र में सूर्य के स्थान का पता कैसे लगाया जाये। विषुव (जब दिन-रात बराबर होते हैं) तथा सूर्य और चन्द्रमा के भोगांशों के योग के जानने के उपाय भी समझाये गये हैं। इस योग के न्यूनाधिक होने के अनुसार इसे विशेष संज्ञाएं दी गयी हैं। पीछे के योगानुसार शुभाशुभ का विचार होने लगा।

सत्ताईस नक्षत्रों को एक क्रम से गिनाया गया है, जिससे तुरन्त जाना जा सकता है कि किसी नक्षत्र में सूर्य के आने पर पूर्णिमा या अमावस्या के क्षण उसके आदि बिन्दु से सूर्य का कितना अन्तर है।

एक ही श्लोक में २७ अक्षरों के द्वारा नक्षत्रों का संकेत करके उन्हें गणना के अनुसार इस क्रम से रखना, कि सूर्य और नक्षत्रों के स्थान के सम्बन्ध पर भी प्रकाश डाला जा सके, सूत्रशैली के विकास में अद्भुत चमत्कार है[1]।

इस प्रकार का अक्षर-प्रयोग बाद में सामवेदीय ग्रन्थों की विशेषता बन गयी तथा पांच वर्ष के युग में ६२ पूर्णिमा व ६२ अमावस्या मिलाकर १२४ पर्व माने गये हैं। इसी कारण यहाँ प्रत्येक नक्षत्र को १२४ अंशों में विभक्त किया गया है।

इस प्रकार ६२ चान्द्रमास पाँच सौरवर्षों के युग में होते हैं, जिसका परिणाम यह है कि एक सौरयुग में दो **अधिमास** बढ़ा कर सौर और चान्द्र वर्षों में सामञ्जस्य उत्पन्न किया जाता था। अर्थात् प्रत्येक २½ वर्ष पर एक **अधिमास** की वृद्धि करनी पड़ती थी। इन पाँच वर्षों के नाम— **संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर** और **इदवत्सर**—तै० ब्रा० में इनके देवताओं के नामों सहित पहले ही उल्लिखित हैं[2]। इससे इस ज्योतिष की दीर्घ परम्परा पर प्रकाश पड़ता है। इस वेदांग की परम्परा हमें वराहमिहिर तक में परिलक्षित

---

[1] गोरखप्रसाद, भारतीय ज्योतिष का इतिहास, पृ० ४३-४४; वेदांग ज्यो० १८ 'जौ द्रा गः ख श्वे ही रो षा चि म्मू ष ण्यः सू मा धा णः रे मृ धा स्वा पो ऽजः कृ ष्य ह ज्ये ष्ठा इत्यृक्षा लिङ्गैः'। यहाँ जौ=आश्वियुजौ; द्रा=आर्द्रा; गः=भगः; ख=विशाखः; षा=आश्लेषाः।

[2] तै० ब्रा० १, ४, १०, १; तै० सं० ५, ५, ७, ३-४।

होती है। वराहमिहिर द्वारा बृहत्-संहिता तथा पञ्चसिद्धान्तिका दोनों में ही दक्षिणायन तथा उत्तरायण की स्थिति क्रमशः आश्लेषा के मध्य में तथा धनिष्ठा (श्रविष्ठा) के आरम्भ में मानी गयी है। यही स्थिति वेदांग-ज्योतिष में भी उल्लिखित है[1]। माघ शुक्ला प्रतिपदा के दिन युग का आरम्भ होता था। अर्थात् वेदांग-ज्योतिष में अमांत-पद्धति का अनुसरण किया जाता था, जबकि सूर्यप्रज्ञप्ति और अर्थशास्त्र में पूर्णिमान्त पद्धति का चलन था[2]। किन्तु वेदांग-ज्योतिष के उक्त वचन से यह ठीक-ठीक ज्ञात नहीं होता कि श्रविष्ठा का आदिबिन्दु कहां था। इसी सन्देहास्पद तथ्य को लेकर विविध विद्वानों ने वेदांग-ज्योतिष के रचनाकाल के विषय में विविध मत व्यक्त किये हैं।

जोंस[3] तथा पादरी प्राट[4] ने इसका काल ११८१ ई० पू० निर्धारित किया है, तो डेविस[5] और कोलब्रूक[6] ने १३९१ ई० पू०। वर्ष का आरम्भ श्रावण शुक्ला प्रतिपदा को होता था, जो आषाढ़ी पूर्णिमा के अनन्तर पड़ता था[7], जबकि सूर्य-प्रज्ञप्ति और अर्थशास्त्र में वर्ष श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदा पर आरम्भ होता था। यद्यपि वेदांग ज्योतिष अपने समय की बहुत उत्तम रचना है, तो भी आजकल के विज्ञान की दृष्टि से इसमें कुछ त्रुटियाँ भी परिलक्षित होती हैं।

ग्रन्थकार ने यह चर्चा नहीं की है कि सूर्य और चन्द्रमा समान वेग से नहीं चलते। इनके कोणीय वेग को समान मानकर गणना करने के कारण सभी तिथियों की लम्बाई समान मानी गयी है, जो वास्तविक तथ्य नहीं है। तिथियां छोटी और बड़ी होती हैं। बाद के सभी ज्योतिषियों ने सूर्य और चन्द्र के असमान कोणीय वेगों पर विचार किया है, तिथियां छोटी-बड़ी मानी हैं और उनकी गणना के आवश्यक नियमों का प्रतिपादन किया है। यह भी कहीं नहीं बताया गया है कि यदि वेध और गणना में अन्तर पड़ जाये, तो उस अन्तर को कैसे सुलझाया

---

[1] वेदाङ्ग० ६।

[2] शामशास्त्री, वेदांग०, श्लोक ६, पृ० ३ (आँग्ल टिप्पणी)।

[3] एशियाटिक रिसर्चेज २, पृ० ३९३।

[4] जे० ए० एस० बी०, ३१, पृ० ४९।

[5] एशियाटिक रिसर्चेज २, पृ० २६८; ५, पृ० २८८।

[6] एसेज, १, पृ० १०९-११०।

[7] शामशास्त्री, वेदांग० १, ३ (आंग्लानु०) महाभारत और सूत्रादिकों में वर्ष आरम्भ वसन्त में होता था, "अतः वैदिककाल के बाद दोनों पद्धतियों का प्रचार रहा होगा और वसन्तारम्भ मानने वालों का प्राधान्य रहा होगा, क्योंकि वेदांग ज्योतिष के अतिरिक्त अन्य किसी भी ग्रन्थ में उत्तरायण में वर्षारम्भ का उल्लेख नहीं है।" दीक्षित, वही, पृ० १८७।

जा सकता है। इसके लिए या तो कुछ नियम रहे होंगे और अब उनका लोप हो चुका है, जैसा कि छोटेलाल बार्हस्पत्य का मत है, या कोई नियम नहीं थे और समय-समय पर गणना में संशोधन करके गणना के परिणामों को साक्षात् देख कर, तथ्यों के अनुसार कर लिया जाता होगा, जैसा कि शामशास्त्री का मत है[1]। सम्भवतः उस प्राचीन काल में अधिक सूक्ष्म नियम नहीं बनाये गये होंगे। इसी कारण अयन का सूक्ष्म विचार भी नहीं किया गया है। यह भी आश्चर्य की बात है कि वेदांग-ज्योतिष में वर्ष ३६६ दिन का माना गया है, जबकि उसका वास्तविक परिमाण ३६५·२५ दिन है। यदि सौ वर्षों तक निरन्तर ३६६ दिन का वर्ष माना जाये, तो अन्त में गणना से प्राप्त और प्रत्यक्ष परम्परागत ऋतुओं में लगभग ७५ दिन का अन्तर पड़ सकता है। इसलिए गणना और प्रत्यक्ष उपलब्ध तथ्यों के अन्तर को दूर करने के लिए अवश्य नियम रहे होंगे। इन नियमों के अभाव में ही डा० जे० बर्गेस ने वेदांग की पद्धति को 'प्रारम्भिक' (Primitive) तथा 'स्थूल' (Crude) कहा है, क्योंकि इस पद्धति के अन्तर्गत प्रत्येक १९ वर्षों में चान्द्र मासों में ३·३९९ दिनों का, नक्षत्र मासों में २·०९३ दिनों का अन्तर आ जायेगा और सौर वर्षों में १४·०८४ दिनों की वृद्धि हो जाएगी। किन्तु स्वामी पिल्लै के अनुसार ऐसे किसी दोष को आशंका व्यर्थ है, क्योंकि इस पद्धति के अनुसार पांच वर्षों में एक बार माघ शुक्ला प्रतिपदा के दिन चन्द्रमा धनिष्ठा नक्षत्र में तथा सूर्य उत्तरायण के समय धनिष्ठा नक्षत्र में होने ही चाहियें।

इस प्रकार चन्द्र और सूर्य की पारस्परिक संयुति के कारण उपर्युक्त दोष स्वतः दूर हो सकता था। उनकी गणना के अनुसार वेदांग ज्योतिष का वर्ष आधुनिक सौरवर्ष से केवल १० सैकण्ड छोटा था।

याजुष ज्योतिष में कुछ एक त्रुटियां दूर करने का प्रयास किया गया प्रतीत होता है। दीक्षित के अनुसार इस रचना से प्रतीत होता है कि लगध काश्मीर-निवासी थे। इस वेदाङ्ग के अनुसार धनिष्ठा को प्रथम नक्षत्र माना गया प्रतीत होता है। महाभारत काल में उत्तरायण श्रवण नक्षत्र में होने लगा और इसी नक्षत्र को प्रथम नक्षत्र माना जाता था, यथा—

श्रवणादीनि नक्षत्राणि। (अनुगीता)

यह स्थिति ४०० ई०पू० के लगभग रही होगी। बाद में प्रथम शती ई०पू० के आसपास सिद्धान्त-ग्रन्थों में चित्रा को प्रथम नक्षत्र माना जाने लगा और संवत्सर का आरम्भ **बसन्त-सम्पात** से होने लगा, जो अश्विनी में पड़ता था। यजुर्वेदांग में कृत्तिका को प्रथम नक्षत्र माना गया है। अतः यह अति प्राचीन रचना है[2]।

---

[1] गोरखप्रसाद, वही, पृ० ४७।

[2] संहिताओं और ब्राह्मणों में सर्वत्र नक्षत्रों का आरम्भ कृत्तिका से होता है।

इसमें भी नक्षत्रों के नामों का संक्षेप किया गया है, जिसमें अन्तिम अक्षर ही नाम-सूचक है। इसमें यह भी कहा गया है कि मनुष्यों के नाम उनके जन्म के नक्षत्र के अनुसार होने चाहियें—**यजमानाय शक्यज्ञैर्नाम नक्षत्रजं स्मृतम्**। इसमें[1] तौल और नाप के मानों का भी उल्लेख है तथा नाड़िकायन्त्र, जिसके लिए जलघटी का उपयोग किया जाता था—का भी उल्लेख किया गया है।

आथर्वणज्योतिष

आथर्वण-ज्योतिष अपेक्षाकृत नवीन रचना है, जिसमें सर्वप्रथम परिमाणों का ब्योरा दिया गया है। इन भिन्न-भिन्न प्रमाणों से ही मुहूर्त नापे जाते थे, किन्तु ये प्रमाण सदा एक से नहीं रह सके हैं[2]। मुहूर्तों के नाम शङ्कु की छाया की लम्बाई के अनुसार भिन्न-भिन्न रखे गये हैं, यथा ९६ से ६१ अंगुल की छाया होने पर '**रौद्र**' नाम का मुहूर्त होता था। ६० अंगुल से १२ अंगुल की छाया के रहते '**श्वेत**' मुहूर्त, १२ से ७ अंगुल तक में **मैत्र**, छह अंगुल छाया पर '**सारभट**' मुहूर्त, पांच पर '**सावित्र**', चार पर '**वैराज**' तीन पर '**विश्वावसु**', मध्याह्न में छाया के शङ्कु के मूल में रहने पर '**अभिजित्**' मुहूर्त होता है। इसी प्रकार अपराह्ण में छाया के बढ़ने पर अन्य मुहूर्तों की चर्चा की गयी है। इस प्रकार कुल १५ मुहूर्त गिनाये गये हैं। रात्रि में भी १५ मुहूर्त इसी क्रम के अनुसार माने गये हैं।

तदनन्तर इन मुहूर्तों के अन्तर्गत क्रियमाण कर्मों के शुभाशुभ फलों को भी गिनाया गया है। यथा मारण आदि रौद्रकर्मों या भयङ्कर कार्यों के लिए '**रौद्र**' मुहूर्त शुभ माना गया है। अभिचार कर्मों की सफलतार्थ '**सारभट**' मुहूर्त शुभ माना गया है। विवाह, उपनयन प्रभृति देवकार्यों के लिए '**सावित्र**' मुहूर्त, राजा के शत्रु पर आक्रमण करने के लिए '**बल**' मुहूर्त तथा पराक्रम के कार्यों तथा शस्त्र-निर्माण आदि के लिए '**वैराज**' मुहूर्त शुभ माना गया है। '**विजय**' नामक मुहूर्त में शत्रु पर आक्रमण करने से विजय निश्चित मानी गयी है, जबकि '**नैर्ऋत**'[3] मुहूर्त में शत्रु की समस्त सेना को नष्ट किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त विशेष तिथियों में शुभाशुभ कालों (करणों) की भी चर्चा की गयी है, जो एक मास में ग्यारह होते हैं। इनमें से चार '**ध्रुव**' कहलाते हैं तथा सात '**चर**'। **बव, बालव, कौलव, तैतिल, गर, वणिज,** तथा **विष्टि** '**चर**' संज्ञक

---

[1] श्लोक १७।

[2] दीक्षित, वही, पृ० १४०।

[3] अपराह्ण में शङ्कु की छाया छह अंगुल रहने पर '**नैर्ऋत**' मुहूर्त होता है। (आथर्वण-ज्योतिष, १०)।

करण कहलाते हैं, जबकि **शकुनि, चतुष्पद, नाग** एवं **कौस्तुभ ध्रुवसंज्ञक करण** कहे गये हैं।

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को रात्रि में, पञ्चमी को दिन में, अष्टमी को रात्रि में, द्वादशी को दिन में, पूर्णिमा को रात्रि में, चतुर्थी को दिन में, सप्तमी को रात्रि में तथा एकादशी को दिन में '**बव**' नामक प्रथम करण होता है। इन करणों में क्रियमाण कार्यों के विविध परिणामों का ब्योरेवार वर्णन किया गया है। यथा अमावस्या को दिन में जब '**चतुष्पद**' नाम का करण हो, तो तान्त्रिक विधि से भूतों को बलि-दान करके शत्रुओं को नष्ट किया जा सकता है। कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी को शकुनि नामक करण होने पर उस रात्रि को चोरी करना, युद्धसम्बन्धी कार्य करना तथा पक्षियों का पालना श्रेष्ठ होता है। विनाश करना, बन्धन में डालना तथा बलपूर्वक अपहरण सदृश कार्यों के लिए **नाग** नामक करण शुभ होता है। दूसरी ओर '**विष्टि**' नामक करण में किया गया कार्य कभी फलदायक नहीं हो सकता, यदि सफलता मिल भी जाये, तो देवता लोग भी उसे अधिक दिन तक भोग नहीं सकते[1]।

इन करणों की अधिष्ठात्री देवताओं का भी वर्णन किया गया है, यथा—**बव** का विष्णु, **बालव** का ब्रह्मा, **कौलव** का चन्द्रमा, एवं **तैतिल**[2] का इन्द्र।

तिथियों में यात्रा आदि शुभ कर्मों के करने के लिए विशेष निर्देश दिये गये हैं। यथा दशमी और एकादशी की यात्रा शुभ होती है, जबकि अमावास्या तथा पूर्णिमा को यात्रा वर्जित है, षष्ठी अष्टमी, नवमी एवं चतुर्थी में कोई भी शुभ कार्य नहीं करना चाहिये[3]। युग्म तिथियां सभी अशुभ मानी गयी है[4]।

सप्ताह के सातों दिन गिनाने के अनन्तर उन दिनों में किये जाने वाले कार्यों के शुभाशुभ परिणामों का भी विवरण दिया गया है।

सत्ताईस नक्षत्रों को तीन-तीन के वर्गों में विभक्त करके नौ वर्ग बनाये गये हैं। तीन-तीन के वर्ग उनके उत्तम, मध्यम तथा अधम होने के विचार से किये गये हैं।

रजस्वला की शुद्धि के विषय में भी वर्णानुरूप विचार किया गया है।

---

[1] आथ० ज्यो०, श्लोक ५१-५२।

[2] आथ० ज्यो० ५९।

[3] आथ० ज्यो० ६२; ६४-६५।

[4] आथ० ज्यो० ७१।

अन्त में गर्भाधान के लिए उपयुक्त समय आदि पर प्रकाश डाला गया है।

यहां ध्यान देने की बात यह है कि वेदांग-ज्योतिष के समान ही यहां पर भी मीन, मेष आदि राशियों का उल्लेख नहीं किया गया न ही वेदांग-ज्योतिष के समान नक्षत्रों के कृत्तिका आदि नामों का उल्लेख ही किया गया है। ये नाम अथर्ववेद में पाये जाते हैं[1]।

यहां ५२ श्लोकों में ज्योतिष की जातक-शाखा से सम्बद्ध प्रारम्भिक विवरण दिया गया हैं। यह भाग फलित-ज्योतिष से सम्बद्ध होने के कारण महत्त्वपूर्ण है।

यद्यपि यह रचना अन्य वेदांगों से अर्वाचीन है, तो भी इसे पर्याप्त प्राचीन होना चाहिये, क्योंकि इसमें मेष आदि द्वादश राशियों के नाम नहीं पाये जाते[2]। इसमें एक श्लोक में कहा गया है कि इस रचना का फलितांश भृगु के मतानुसार कहा गया है[3]। इसकी अन्य विशेषता रजस्वला के नियम[4] तथा गर्भाधान की तिथियों से सम्बद्ध विधान हैं[5]। इसके दो संस्करण उपलब्ध होते हैं, एक में १६२ श्लोक हैं, दूसरे में १६६। इसका हिन्दी में अनुवाद किया गया है।

संस्करण—

१. **ज्योतिष वेदांगम्**—सुधाकर भाष्य सहित, म० म० सुधाकर द्विवेदी, बनारस, १९०७।

२. **ज्योतिष वेदांग** (Explained)—ला० छोटेलाल बार्हस्पत्य, हिन्दुस्तान रिव्यु, १९०६।

३. **याजुष ज्योतिषम्**—सोमाकरशेष-कृत भाष्य तथा सुधाकर द्विवेदी-कृत भाष्य सहित, १९०७—१९०८।

४. **वेदांग ज्योतिष**—आंग्लानु० तथा संस्कृत व्याख्या 'दीपिका' सहित, डा० शाम शास्त्री, मैसोर, १९३६।

५. **आथर्वण ज्योतिष**—(१) पं० भगवद्दत्त, लाहौर, १९२४।
(२) पं० छोटे लाल शर्मा (श्री पीताम्बरा पीठ परिषद्, वनखण्डेश्वर, दतिया (म० प्र०), सन् १९६५।

---

[1] अथर्व० १९, ७, २।

[2] दीक्षित, वही, पृ० १४२।

[3] दीक्षित, बा० कृ०, वही पृ० १४१।

[4] आथ० ज्यो०, श्लोक १३०-१३८।

[5] आथ० ज्यो०, श्लोक १३९-१५५।

वेदाङ्ग

निरुक्त

नवम अध्याय

निरुक्त

विषय प्रवेश :

वेद के छह् अंगों में से निरुक्त एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। निरुक्त शब्द का सम्बन्ध 'निर्वचन' से है, जो निर्+√वच् से बनता है। निरुक्त के भाष्यकार दुर्गाचार्य का कथन है कि परोक्षवृत्ति या अतिपरोक्षवृत्ति शब्द में छुपे हुए अर्थ को प्रकट करके उसके अवयवों का विग्रह करके बताना ही निर्वचन है[1]।

'निरुक्त' शब्द का चौथे वेदांग के रूप में सर्वप्राचीन प्रयोग मुण्डकोपनिषद्[2] में हुआ है। देवताध्याय ब्राह्मण में भी शास्त्रवाचक अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। वहाँ **'अथातो निर्वचनम्'**[3] कह कर गायत्री आदि छन्दों का निर्वचन किया गया है। क्योंकि देव० ब्रा० की एतद्विषयक शब्दावलि तथा विषयवस्तु निरुक्त[4] से सर्वथा मिलती है और क्योंकि देवताध्याय अपेक्षाकृत आधुनिक है तथा वास्तविक ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता और इसमें निरुक्त के समान ही **'इति ह ब्राह्मणम्'** कहकर एक ब्राह्मण-वचन उद्धृत किया गया है, जबकि सामान्यतः एक ब्राह्मण में दूसरे ब्राह्मण को उद्धृत नहीं किया जाता, अतः अनुमान किया जाता है कि इस ब्राह्मण का रचना-काल निरुक्त के बाद का है।

छां० उप०[5] में 'देवविद्या' का उल्लेख किया गया है, जिसका अर्थ शंकराचार्य ने 'निरुक्तम्' किया है। प्राचीन ब्राह्मणों में भी "निरुक्त" शब्द से देवताओं के स्वरूप का निर्वचन ही समझा जाता था, निरुक्त-शास्त्र नहीं। ब्राह्मणों में देवविद्या के प्रसंग में निरुक्त शब्द का प्रयोग सर्वत्र हुआ है। देवविद्या भी निरुक्त-शास्त्र का अंग ही है, जिसका प्रतिपादन यास्कीय निरुक्त

---

[1] निरुक्त २, १।

[2] मुं० उप० १, ५।

[3] देव० ब्रा० ३, १।

[4] निरु० ७, १२-१३।

[5] छां० उप० ३, १, ७।

[6] निरु० ७, १, २।

के उत्तरषट्क में किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों में शब्द-निर्वचनों की भरमार पायी जाती है, जिसका मूल संहिताओं में भी खोजा जा सकता है और जिनका उपयोग यास्क ने अपनी रचना में जी खोल कर किया है।

ऋग्वेद में ही **'अर्किण:'** को **√अर्च्** से,[1] **'मघ'** को **'मंहति'** से,[2] **'यज्ञ'** को **'अयजन्त'**[3] से **'ऋत्विज्'** को **'ऋतुशो यजाति'** से,[4] स्पष्ट सम्बद्ध किया गया है। इस प्रकार अथर्ववेद आदि में **'नदी'** को **√नद** से[5], **'आपस्'** को **√आप्** से,[6] **'सर्पि:'** को **√सृप्** से[7] जोड़कर इन शब्दों के निर्वचन का प्रयास किया ही गया है। आगे चल कर ब्राह्मणों में इस प्रवृत्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि ही हुई है, जिसके फलस्वरूप आज उपलब्ध्र वैदिक साहित्य में कम से कम ८३३ निर्वचन पाये जाते हैं[8]। यास्क से पूर्ववर्ती नैरूक्त तथा शाकपूणि, औपमन्यव प्रभृति सभी विद्वान् इस विषय में ब्राह्मणों के निवचनों के ऋणी हैं। स्वयं यास्क ने अपने निर्वचनों की पुष्टि में ब्राह्मणों को बहुश: उद्धृत किया है[9], तथा अपने पूर्ववर्ती आग्रायण, औदुम्बरायण, औपमन्यव, और्णवाभ, कात्थक्य, कौत्स, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, चर्मशिर:, तैटीकि, वार्ष्यायणि, शतबलाक्ष, शाकटायन तथा शाकपूणि नामक आचार्यों के अतिरिक्त अनेक नैदानों, याज्ञिकों, वैयाकरणों तथा नैरुक्तों के मत-मतान्तरों की चर्चा की है, जिससे शास्त्र की प्राचीनता तथा विशाल अध्ययन-परम्परा पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। जहां तक विविध प्रकार की साहित्यिक विधाओं का सम्बन्ध है, यास्क की सूचना के अनुसार निम्नलिखित सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं - नैरुक्त, वैयाकरण, आर्ष, याज्ञिक, आत्मप्रवाद, परिव्राजक, पूर्वयाज्ञिक, आख्यानसमय, ऐतिहासिक तथा नैदान। इनमें आख्यान के साथ ऋषियों की विशेष प्रीति का उल्लेख किया गया है—**ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति आख्यानसंयुक्ता** (निरु० १०,१०,४६ ; ११,१९ ; २५ ; १२,४१।

---

१. ऋग् १, ७, १।

२. ऋग् १, ११, १३।

३. ऋग् १, १६४, ५०।

४. ऋग् १०, २, ५।

५. अथ० वे० ३, १३, १।

६. अथ० वे० ३, १३, २।

७. तै० सं० २, ३, १०, १ ; काठ० सं० ११, ७ ; मै० सं० २, ३, ४।

८. शिवनारायण शास्त्री, निरुक्त मीमांसा, पृ० ४ ; इण्डोलौजिकल बुक हाऊस, वाराणसी, सं० २०२६।

९. पी० डी० गुणे, 'ब्राह्मण-कोटेशंस इन निरुक्त' ; भण्डारकर कमँमो० वॉ० पृ० ४३-४५।

यास्क तो ऋषियों को भी मानते हैं। यह इसी से सिद्ध होता है कि यास्क ने **अर्क, गायत्र, गिरः, मेघ, पपुरि, ऋत्विज्** प्रभृति के उपर्युक्त प्रकार के आर्ष निर्वचनों को प्रायेण स्वीकार कर लिया है।

यास्कीय निरुक्त कोई स्वतन्त्र रचना न होकर निघण्टु नामक एक अन्य ग्रन्थ पर भाष्य है, जिसमें कुल १७७१ शब्दों का संग्रह तीन काण्डों तथा पांच अध्यायों में किया गया है। कालक्रम से इस लघुरचना के भी दो पाठ हो गये—एक लघु दूसरा बृहत्। इनमें न केवल शब्द-संख्या में ही अन्तर पाया जाता है, अपितु प्रतिपादन-शैली में भी अन्तर है। बृहत्पाठ के १७७१ शब्दों में से १९ लघुपाठ में नहीं पाये जाते तथा लघुपाठ के १५ शब्द बृहत्पाठ में नहीं मिलते। निघण्टु (२, १४) के दोनों पाठों की शब्दसंख्या समान होते हुए भी कुछ शब्द एक पाठ में उपलब्ध हैं, तो दूसरे में नहीं। इसके अतिरिक्त अध्यायों के खण्डों की संख्या में भी भेद है। बृहत्पाठ के प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस अध्याय के खण्डों के प्रथम शब्द खण्डसूत्र के रूप में देकर खण्डों की संख्या तथा प्रत्येक खण्ड के अन्त में संगृहीत शब्दों की संख्या भी दे दी गयो है, लघुपाठ में नहीं। अपनी व्याख्या में यास्क ने बृहत्पाठ का ही प्रयोग किया प्रतीत होता है[1]। सम्भवतः लघुपाठ का उदय बाद में हुआ होगा[2]। शौनकीय बृहद्देवता को ये दोनों पाठ ज्ञात थे। बृ० दे० ६, १८३ (=निरुक्त ६, ५) में बृहत्पाठ का अनुसरण किया गया है, जबकि बृह० दे० २, ४-५ (=निरुक्त ७, १०) में लघुपाठ का आश्रय लिया गया है[3]।

निघण्टु संसार का सर्वप्राचीन शब्दकोष है, किन्तु यह भी निर्विवाद सत्य है कि इससे पूर्व इस प्रकार के अनेक निघण्टु विद्यमान थे, जिनमें शब्द-संग्रह संकलनकर्ता की इच्छा के अनुरूप कुछ न कुछ विशेषता रखते हैं[4]। यास्क के ही १,२० के उद्धरण से सिद्ध होता है कि 'निघण्टु' व्यक्तिवाचक न होकर जातिवाचक है। उनके ही अनुसार जिस रचना में ये चार बातें पायी जाती हों वही 'निघण्टु' है—(१) समानार्थक धातुओं का संग्रह; (२) एक ही अर्थ वाले भिन्न-भिन्न शब्दों का संग्रह; (३) कई अर्थों वाले शब्दों का संग्रह[5] तथा (४) देवताओं के प्रधान तथा गोण नामों का संग्रह। वर्तमान निघण्टु में तृतीय लक्षण नहीं घटता

---

[1] नि० मी० पृ० १३-१७।

[2] डा० लक्ष्मण सरूप के मतानुसार यास्क के सम्मुख दोनों पाठ उपस्थित थे, द्र० निघण्टु तथा निरु० भूमिका पृ० ९-१०।

[3] एच० स्कोल्ड, वही पृ० ९४।

[4] द्र० विष्णु पद भट्टाचार्य, यास्कस् निरुक्त, पृ० ३९-४१।

[5] निरुक्त, १, २०, ३।

अतः अनुमान किया जा सकता है कि इस लक्षण से युक्त निघण्टु भी रहा होगा। वर्तमान निघण्टु में अनेकार्थक शब्दों तथा अनवगत-संस्कार शब्दों का एकत्र मिश्रण कर दिया गया है।

यास्क ने इन अध्यायों को नैघण्टुक काण्ड का नाम दिया है। सम्भव है इसी काण्ड के आधार पर सम्पूर्ण ग्रन्थ का नाम "निघण्टु" पड़ गया हो[1]। चतुर्थ अध्याय में अनेकार्थक क्लिष्ट शब्द तथा अनवगत-संस्कार शब्द तीन खण्डों में संकलित किये गये हैं। इसे नैगम या ऐकपदिक काण्ड कहा गया है[2]। पञ्चम अध्याय में प्रधान देवताओं से सम्बद्ध शब्दों का संग्रह किया गया है। इसे दैवत-काण्ड का नाम दिया गया है।

प्रथम अध्याय में सत्रहखण्डों में भौतिक तथा प्राकृतिक पदार्थों एवं तत्सम्बन्धी क्रियाओं के वाचक ४१५ पर्यायवाचक शब्द संकलित हैं। द्वितीय अध्याय में २२ खण्डों में मनुष्य, उसके अङ्गों, उपयोग की वस्तुओं, विविध क्रिया-कलापों से सम्बद्ध ५१६ पयार्यवाचक शब्दों का संग्रह है। तृतीय अध्याय में ३० खण्डों में विशेषण, सुखादिभावाभिव्यञ्जक, प्रज्ञा, क्रिया, उपमा, मेधावी, स्तोता, ऋत्विक्, दान आदि विविध प्रकार के ४१० शब्दों का सङ्कलन किया गया है। इस प्रकार नैघण्टुक काण्ड में कुल १३४१ शब्द सङ्कलित हैं। चतुर्थ अध्याय में २७९ ऐसे शब्दों का संग्रह है, जिनकी व्युत्पत्ति अज्ञात (अनवगत-संस्कार) हैं। इनके संकलन का आधार अस्पष्ट हैं। पञ्चम अध्याय में ६ खण्डों में कुल १५१ नाम संकलित है। प्रथम तीन खण्डों में पृथिवी-स्थानीय देवताओं के ५२, चतुर्थ तथा पञ्चम खण्ड में अन्तरिक्ष-स्थानीय देवी-देवताओं के ६८, तथा छठे खण्ड में द्युस्थानीय देवताओं के ३१ नाम संगृहीत हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण निघण्टु में कुल १७७१ (१७६५—सि० वर्मा)[3] शब्दों का संकलन किया गया है। इनमें से अधिकांश पद नाम और आख्यात ही हैं। कुछ एक निपात और केवल तीन उपसर्ग हैं।

नाम तथा आख्यातपदों का सङ्कलन उसी रूप में किया गया है, जिस रूप में वे मन्त्रों में प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कहीं नामपद आख्यातों के मध्य में भी रख दिये गये हैं। विभक्ति और वचन में कोई भेद न होने पर भी अर्थभेद के कारण कुछ शब्दों की आवृत्ति की गयी है। एक ही आख्यात के भिन्न-भिन्न रूप भी पृथक्-पृथक् शब्दों के रूप में संगृहीत हैं। इस प्रकार की शब्दावृत्तियों

---

[1] यास्कस् निरुक्त, भूमिका पृ० ५-७ पर राजवाड़े, जिनके मत में यास्क के सम्मुख वर्तमान निघण्टु के स्थान पर कोई अन्य निवण्टु रहा होगा (द्र० वही; पृ० २९४-९५)।

[2] निरुक्त ४, १।

[3] *AIOC*. I, p. 68.

की संख्या कम से कम २६५ है[1]। इससे प्रकट होता है कि निघण्टु में शब्द-संकलन की प्रक्रिया किसी वैज्ञानिक आधार या पद्धतिविशेष पर आश्रित नहीं है और यह संग्रह उस प्राचीन काल में किया गया होगा, जबकि कोषकला अपने विकास की अत्यन्त आरम्भिक अवस्था में रही होगी। इस दृष्टि से इस सङ्कलन का विशेष ऐतिहासिक महत्त्व है।

इसी शब्दकोष पर यास्क ने भाष्य की रचना की है, जिसे निरुक्त कहा जाता है। किन्तु यह भाष्य निघण्टु के प्रत्येक शब्द पर नहीं किया गया।

डा० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार निरुक्त में १२९८ निर्वचन किये गये हैं[2]। इनमें से निघण्टु के कुल ६६० शब्दों की व्याख्या की गयी है[3]। प्रथम तीन अध्यायों के १३४१ शब्दों में से केवल २३० के निवर्चन किये गये हैं। यह शब्दों की व्याख्या समास-शैली में की गयी है, जिस कारण पर्यायवाची शब्दों के एक समूह में से केवल एक-आध शब्द की व्याख्या हो सकी है; परिणामस्वरूप पर्यायवाचक शब्दों के पारस्परिक सूक्ष्म अर्थभेद का स्पष्टीकरण नहीं हो सका, इसी कारण शब्दों के अर्थों की ऐतिहासिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि हमसे आज भी उतनी ही ओझल है, जितनी यास्क की व्याख्या से पूर्व थी। यास्क ने क्लिष्ट तथा देवतावाचक शब्दों की विस्तार से व्याख्या की है, जिस कारण वैदिक शब्दों के अर्थज्ञान के लिए आज भी निरुक्त का विशेष महत्त्व बना हुआ है।

निघण्टु का रचयिता

निघण्टु यास्क की अपनी रचना है या परम्परा-प्राप्त शब्दसंग्रह है? इस विषय पर विद्वानों में बहुत मतभेद पाया जाता है। प्राचीन भाष्यकारों तथा

---

[1] नि० मी० पृ० २१; द्र० '**अश्नुते, अशत्, आष्ट, आनशे तथा आनट्** (२, १८), **वष्टि, वश्मि, उश्मसि तथा नामिक रूप उशक्** (२, ६); **बभस्ति, बत्सति भसथ तथा बब्धाम्** (२, ८)। इस विषय में यह जानना भी रुचिकर होगा कि निघण्टु में सङ्कलित सभी शब्द वेद में नहीं पाये जाते। **कण्ढति, कवते, क्षुभ्यति, गवते, द्रूळति, ध्रति, ध्रयति, ध्राति, बिस्यति, मिस्यति, शवति, श्वात्रति, स्यमति** प्रभृति ऐसे शब्द हैं (निघ० २, १४), जो न केवल किसी वैदिक संहिता या ग्रन्थ में नहीं पाये जाते, अपितु संस्कृत के समस्त वाङ्मय में कहीं भी उपलब्ध नहीं होते। सम्भव है किन्हीं लुप्त शाखाओं में पाये जाते हों।

[2] स्कोल्ड की गणना के अनुसार यह संख्या १३१० है। द्र० निरुक्त की भूमिका, लक्ष्मण सरूप कृत।

[3] नि० मी० पृ० २२।

भारतीय परम्परा के अनुसार निघण्टु तथा निरुक्त एक ही व्यक्ति यास्क की दो कृतियां हैं। वेदभाष्यकार वेङ्कटमाधव,[1] सायणाचार्य,[2] मधुसूदन सरस्वती,[3] प्रभृति ने निघण्टु को यास्क की कृति माना है। किन्तु दुर्गाचार्य,[4] सत्यव्रत सामश्रमी[5] तथा अन्य आधुनिक विद्वान् निघण्टु को यास्क से प्राचीन रचना मानते हैं। आधुनिक विद्वानों ने निघण्टु को न केवल यास्क से प्राचीन माना है, अपितु इसे अनेक लोगों की कृति घोषित किया है[6]। स्कोल्ड ने तो निरुक्त के पूर्व-षट्क को भिन्न-भिन्न कर्ताओं की रचनाएं सिद्ध करने का प्रयास किया है। अतः उनके मत में दैवतकाण्ड मूल निघण्टु का अंग नहीं था[7]। सिद्धेश्वर वर्मा ने महाभारत के मोक्षधर्मपर्व के वचन[8] के आधार पर निघण्टु को कश्यप की कृति माना है।

इस विषय में डा० आर० डी० कर्मकर ने निघण्टु को यास्क से प्रचीन किसी व्यक्ति की कृति सिद्ध करने के लिए अनेक युक्तियां प्रस्तुत की हैं (प्रथम आ० इ० ओ० सी, द्वि० भाग, पृ० ६२-६९), जो संक्षेपतः इस प्रकार हैं।

(१) दुर्गाचार्य ने निघण्टु तथा निरुक्त के कर्ता भिन्न-भिन्न सिद्ध करने के लिए अनेक स्थलों पर प्रमाण प्रस्तुत किये हैं :—

(क) 'स (समाम्नायः) च ऋषिभिर्मन्त्रार्थपरिज्ञानायोदाहरणभूतः ··· ··· ··· ··· ग्रन्थीकृतः (निरुक्त, पृ० ४-५)। अर्थात् ऋषियों ने मन्त्रार्थ के ज्ञानहेतु उदाहरण रूप में इस समाम्नाय का संकलन किया था।

---

[1] ऋग्० ७, ८७, ४ पर भाष्य।

[2] ऋग्भाष्यभूमिका—**पञ्चाध्याय-रूपे काण्डत्रयात्मके एतस्मिन् ग्रन्थे परा निरपेक्षतया पदार्थस्योक्तत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम्। तद् व्याख्यानञ्च ··· ··· ··· यास्को निर्ममे।**

[3] प्रस्थानभेद—'**तत्रापि निघण्टुसंज्ञकः पञ्चाध्यायात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केन कृतः**' तथा महिम्नस्तोत्र, श्लोक ७ की व्याख्या।

[4] निरुक्त १, २०; ४, १८; तथा ५, १५ पर भाष्य।

[5] निरुक्तालोचन, पृ० २२।

[6] आर० डी० कर्मकर (वि० पद, भट्टाचार्य कृत या० निरु० पृ० २७-२८); लक्ष्मणसरूप निघ० निरु०, भूमिका, पृ० १४; वी० के० राजवाड़े, या० निरु० पृ० ११५।

[7] वही, पृ० ६।

[8] म० भारत शां० ३४२, ७२-७३।

(ख) 'तेन ज्ञायते'—अन्यैरेवायमृषिभिः समाम्नायः समाम्नातः, अन्य एव चायं भाष्यकार' इति (निरु० पृ० ३०७)। अर्थात् (दावने', 'अकूपारस्य' में मन्त्रपाठ के व्यतिक्रम से) ज्ञात होता है कि इस समाम्नाय का संकलन अन्य ऋषियों द्वारा किया गया था और यह भाष्यकार अन्य है।

(ग) **तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते** (निरु० पृ० ५) पर दुर्ग टिप्पणी करते हैं—**तं च योऽसमाम्नातश्छन्दस्येवावस्थितोऽगवादिरन्यैर्वा निरुक्तैः समाम्नातस्तमिमं ··· ··· आचक्षते अन्येऽप्याचार्या इति वाक्यशेषः।**

अन्य आचार्य भी इस संकलन को निघण्टु कहते हैं। इससे प्रकट होता है कि 'निघण्टु' शब्द इस प्रकार के सङ्कलनों के लिए रूढ़ हो चुका था।

(२) स्वयं यास्क ने कहा है—**साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः······इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः** (निरु० पृ० ९०) अर्थात् धर्म को साक्षात् करने वाले ऋषियों ने इस ग्रन्थ को सङ्कलित किया।

(३) **तडित्**—शब्द निघ० (पृ० २००) में **अन्तिकनामानि** के अन्तर्गत पठित है तथा तदनन्तर **वधकर्माणः** के अन्तर्गत भी पठित है (पृ० २०४) किन्तु यास्क इसका वास्तविक अर्थ 'अन्तिक' ही समझते प्रतीत होते हैं—**विद्युत्तडिद्भवतीति शाकपूणिः, सा ह्यवताडयति दूराच्च दृश्यते। अपि त्विदमन्तिकनामैवाभिप्रेतं स्यात्** ··· ··· (पृ० २०७) अर्थात् शाकपूणि के मत में बिजली को 'तडित्' कहते हैं। क्योंकि यह प्रहार करती है और दूर से दिखायी देती है। अथवा सम्भव है कि यह अन्तिक वाचक ही अभिप्रेत हो।

(४) निघण्टु में अनेक स्थलों पर धातुओं में नामों को तथा नामों में धातुओं को सम्मिश्रित कर दिया गया है, जिसे यास्क को टिप्पणी द्वारा स्पष्ट करना पड़ा है। यथा—

(क) निघ० (पृ० २०४) में सात व्याप्तिवाचक धातुओं में दो नाम वाचक शब्द पठित हैं—**आचक्षाणः तथा आपानः**। यास्क को स्पष्ट करना पड़ा—**तत्र द्वे नाम्नी आचक्षाण आश्नुवानः, आपान आप्नुवानः।** अर्थात् यहां दो नाम हैं।

(ख) उसी पृष्ठ (२०४) पर 'वधकर्मा' धातुओं में दो नामवाचक शब्द **तडित् और आखण्डल** पढ़े गये हैं, जो उचित नहीं।

(ग) **महत्** वाचक नामों में **ववक्षिथ** तथा **विवक्षसे** दो धातु पढ़ी गयी हैं। यास्क इनकी ओर सङ्केत करते प्रतीत होते हैं (निरु० पृ० २१३)।

(घ) **पश्यतिकर्मा** धातुओं के अन्तर्गत नामवाचक पद भी हैं (पृ० २१७) **विचर्षणिः** तथा **विश्वचर्षणिः**[1]।

इस पर यास्क को विशेष टिप्पणी लिखनी पड़ी—**नामान्यामिश्राणि**। यदि निघण्टु यास्क की रचना होती, तो उन्हें इस प्रकार टिप्पणी लिखने के स्थान पर मूल में संशोधन करके ही स्पष्ट कर देना चाहिये था।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि निघण्टु को धातु के नामों की प्रकृति के रूप में ज्ञान तो था ही नहीं, उसे धातुओं का भी ज्ञान स्पष्ट नहीं था। अन्यथा वे एक ही धातु के विविध रूपों का कोष में अर्थ के स्पष्टीकरण के हेतु एक स्थान पर संग्रह न करते। यथा—वश्मि, उश्मसि तथा उशिक् सभी एक साथ पठित हैं; बभस्ति के अतिरिक्त बप्सति, भसथः और बब्धाम् सभी एक साथ संगृहीत हैं। यदि निघ० को **√वश्** तथा **√भस्** का प्रकृति के रूप में ज्ञान होता, तो वह इनके सब रूपों के एक साथ संग्रह की व्यर्थता को समझ लेता।

निरुक्तकार को न केवल धातु का स्पष्ट ज्ञान ही था अपितु उस समय तक नामों के धातुजत्व का सिद्धान्त इतना विकसित हो चुका था कि उसके विषय में मतभेद भी उभर कर सामने आ चुके थे। उन्हें धातुओं के गणों, गतम्, जग्मतुः प्रभृति रूपों में होने वाले परिवर्तनों का पूरा-पूरा पता था। लीबिख का यह विचार भ्रामक है कि यास्क को आख्यात और धातु के भेद का ज्ञान नहीं था[2]। इसमें निघ० एवं निरुक्त के कालभेद का स्पष्ट प्रमाण मिलता है।

(५) निघ० (४, २, ७९; ८०; ८१) में **परि, ईम्, सीम्** पठित हैं, जबकि यास्क इनकी व्याख्या क्रमशः पृष्ट २८, ५२, ४३ पर कर चुके थे। तो फिर इस पुनरावृत्ति की क्या आवश्यकता थी?

(६) **दावने, अकूपारस्य** निघ० (४, १, ३२-३३) में पठित हैं। जबकि वेद में इनका क्रम **अकूपारस्य, दावने** है। जो यास्क ने अपने भाष्य में स्वीकार किया है। तो फिर निघ० में व्यतिक्रम की क्या आवश्यकता थी?

(७) यास्क ने निरुक्त में अनेक ऐसे शब्दों के अर्थ किये हैं, जिनको निघ० में नहीं पढ़ा गया। यदि वे निघण्टु के रचयिता होते, तो ऐसे कठिन और सन्दिग्धार्थ शब्दों को भाष्य में स्पष्ट करने की अपेक्षा मूल में ही पढ़ना अधिक समीचीन होता। यथा—

---

[1] तुलना० दुर्गवृत्ति तथा स्कन्द भाष्य।

[2] *Einführung. II. G. 25-30*; द्र० टेकनीक० पृ० ६८-६९।

(क) **श्वात्रमिति क्षिप्रनाम** (निरु० पृ० ३५९) । इसे **क्षिप्रनामों** (निघ० २, १५) में नहीं पढ़ा गया ।

(ख) **द्युम्नं** ··· ··· **अन्नं** वा **(**निरु० पृ० ३७५**)** किन्तु अन्नवाचक शब्दों (निघ० २, ४) में इसे नहीं पढ़ा गया ।

(ग) **तूर्णाशम् उदकं भवति** (निरु० ५, १६), किन्तु **उदक**-वाचक शब्दों में इसे नहीं पढ़ा गया (निघ० १, १२) ।

(घ) **कृत्तिः** ··· ··· **अन्नं वा** (निरु० ५,२२), किन्तु यह पद अन्नवाचक शब्दों में (निघ० २, ७) में नहीं है ।

(ङ) **शम्ब इति वज्रनाम** (निरु० ५, २५) किन्तु **वज्रनामों** (निघ० २, २०**)** में **शम्ब** नहीं है ।

(च) **श्रुष्टीति क्षिप्रनाम** (निरु० ६, ३), **क्षिप्रनामों** (निरु० २, १५) में इसे नही पढ़ा गया ।

(८) न केवल यह कि निघण्टु यास्क की रचना नहीं, अपितु विद्वानों का यह भी मत है कि यह किसी भी एक व्यक्ति को रचना नहीं है। क्योंकि निघ० ४, २ में ऐसे अनेक शब्द पढ़े गये हैं, जिनके अर्थ प्रथम तीन अध्यायों में कहीं न कहीं स्पष्ट कर दिये गये हैं । यथा—**अन्धस्** (४, २, ६=२, ७, १) ; **वराह** (४, २, २१=१, १०, १३) ; **स्वसराणि** (४, २, २२=१, ९, ५) ; **शर्याः** (४, २, २३=२, ५, ५); **सिनम्** (४, २, २८=२, ७, ८); **वयुनम्** (४, २, ४८=३, ९, १०) ।

इन पुनरावृत्त शब्दों के अर्थों में कोई भेद नहीं, अतः पुनरावृत्ति का सामञ्जस्य प्रतीत नहीं होता ।

इसके अतिरिक्त शब्द-विन्यास का प्रकार भी भिन्न-भिन्न है। दो-दो शब्दों के आठ जोड़े चतुर्थ अध्याय में इस प्रकार पढ़े गये हैं—

१. **दावने** (४, १, ३२), **अकूपारस्य** (४, १, ३३) ।
२. **विद्रुघे-द्रुपदे** (४, १, १८ ; १) ।
३. **वाहिष्ठः-दूतः** (४, २, २-३) ।
४. **कुटस्य-चर्षणिः** (४,२, ७०-७१) ।
५. **अनवायम्-किमीदिने** (४, ३, ४३-४४) ।
६. **श्रुष्टी-पुरन्धिः** (४, ३, ५०-५१) ।
७. **चनः-पचता** (४, ३, ६४-६५) ।
८. **सदान्वे-शिरिम्बिठः** (४, ३, ११९-१२०) ।

इनमें (एक) में तो शब्दक्रम बदला गया है। (तीन) में संहिता के **वाहिष्ठो दूतो** को **वाहिष्ठः दूतः** कर दिया गया है। (छः) में **पुरन्धि** के स्थान पर **पुरन्धिः ;** (आठ) में **शिरिम्बिठस्य** के स्थान पर **शिरिम्बिठः** पढ़ा गया है। इससे चतुर्थाध्याय के प्रथम खण्ड तथा तृतीय खण्ड के रचयिता भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं (कर्मकर वही)।

अतः यह दोनों भाग एक व्यक्ति की रचनाएं नहीं हो सकतीं।

दूसरी ओर निघण्टु को यास्क की कृति मानने वालों के मुख्य तर्क ये हैं—

१. यास्क ने ग्रन्थ आरम्भ करते हुए लिखा है—**समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः।** इससे प्रतीत है, जैसे कि एक ही रचना का कोई नवीन अध्याय आरम्भ कर रहे हों। प्राचीन ग्रन्थ की व्याख्या आरम्भ करने की परम्परा के अनुसार उन्हें लिखना चाहिये था—**अथ समाम्नायो व्याख्यातव्यः** अथवा **अथातः समाम्नाय-व्याख्या।**

२. देवताओं के नामों के संकलन की चर्चा करते हुए यास्क ने कहा है, कि कुछ लोग देवताओं के विशेषणों-सहित नामों का संकलन करते हैं। यथा—**इन्द्रो वृत्रहा, इन्द्रोऽहोंमुक्।** किन्तु मैंने केवल उन रूढ़भूत नामों का ही संकलन किया है, जिनके द्वारा मुख्य रूप से स्तुति की जाती है। **यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्राधान्यस्तुति तत्समामने** (निरुक्त ७, १३); इस से सिद्ध होता है कि यास्क ने निघण्टु का संकलन भी स्वयं ही किया था, **समामने** पद विशेष रूप के देखने योग्य है।

३. 'कई बार देवताओं के कर्मानुरूप विशेषणों का भी संकलन कर लेते हैं'। किन्तु इससे तो उनके केवल विशेषण प्रकट होते हैं न कि प्रधान नाम—**यथा वृत्रहा, पुरन्दरः**—अर्थात् मैंने ऐसा नहीं किया **तस्मान्नैतान्यहं समामने—दुर्ग** (निरु० ७, १३)।

४. निरुक्त की पाण्डुलिपियों के साथ ही निघण्टु भी अनिवार्य रूप से जुड़ा रहता है।

५. स्कन्द-माहेश्वर तथा दुर्गाचार्य आदि निरुक्त के व्याख्याकार निरुक्त के प्रथम अध्याय को षष्ठ अध्याय मानकर व्याख्या आरम्भ करते हैं।

६. मधुसूधन सरस्वती,[1] सायणाचार्य[2] प्रभृति प्रचीन परम्परा के पोषक विद्वानों ने निघण्टु को यास्क की कृति मान कर इसे भी **निरुक्त**

---

[1] **महिम्नःस्तोत्र की** व्याख्या, श्लोक ७।

[2] ऋग्वेद भाष्य भूमिका।

नाम से अभिहित किया है[1]। किन्तु पूर्वप्रतिपादित प्रबलतर युक्तियों के सामने ये युक्तियां निर्बल तथा सारहीन होने के कारण अग्राह्य हैं।

तत्समामने से इतना ही प्रकट होता है कि यास्क से पूर्व भी कई निघण्टु विद्यमान थे। उनमें एक यह भी था, जिसमें यास्क ने कहीं-कहीं परिवर्तन-परिवर्धन करके उस परम्परा को उसी प्रकार अक्षुण्ण रखा, जैसे पाणिनि ने परम्पराप्राप्त सूत्र-समूह को नया कलेवर प्रदान करके अष्टाध्यायी की रचना की है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि निघण्टु के आकार-प्रकार का न तो निर्धारण यास्क ने किया और न ही निघण्टु की रचना प्रथम बार यास्क ने की। इस परिणाम का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि इससे निघण्टु तथा निरुक्त के निबन्धन तथा रचनाशैली में पाये जाने वाले महान् अन्तर की उलझन को सुलझाने में सहायता मिलती है। जैसा कि हमने देखा है, निघण्टु एक अत्यन्त अव्यवस्थित पुनरावृत्तियों से पूर्ण, अयुक्तिसंगत रचना है, जो कोश-कला के प्रारम्भिक रूप को प्रस्तुत करती है, जबकि निरुक्त एक प्रौढ़ रचना है, जिसने सर्वप्रथम शास्त्र-रचना को वैज्ञानिक आधारशिला प्रदान की और निर्वचन-शास्त्र के सामान्य नियमों की रचना की। इन दोनों रचनाओं के अन्तराल को समझने के लिए इनमें कालगत व्यवधान को हृदयंगम करना होगा, जिसको समझे बिना इनकी रचना-प्रौढि के अन्तर के विषय में अटकलें लगाना व्यर्थ है[2]।

महाभारत के एक वचन के अनुसार इसके रचयिता का नाम कश्यप था—

'वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत
निघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्।
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः।
(म० भा० मोक्षधर्म ३४२, ८६-८७)

वहीं पर शिपिविष्ट को यास्क का गुरु कहा गया है—

स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः।
मत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान्॥
(वही, ३४२, ६९-७१)

किन्तु इस कश्यप तथा शिपिविष्ट के विषय में इससे अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं।

---

[1] 'पञ्चाध्यायरूपे काण्डत्रयात्मके एतस्मिन् ग्रन्थे निरपेक्षतया पदार्थस्योक्तत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तम्' सायण।

[2] द्र० निरुक्तमीमांसा, पृ० २३-३०; तथा वि० पद, या० निरु० पृ० २४-३३।

निघण्टुकार को धातु की शब्दप्रकृति के रूप में ज्ञान नहीं प्रतीत होता। जबकि यास्क को न केवल धातुओं का ही पता है, अपितु 'नामों के आख्यताज' होने का पूरा सिद्धान्त उनके समय से पूर्व ही विकसित हो चुका था[1]। इस समस्त विकास के लिए निघण्टु और निरुक्त में कम से कम दो सौ वर्ष का अन्तर होना चाहिये।

यास्क से पूर्ववर्ती नैरुक्त सम्प्रदाय

हम ऊपर कह चुके हैं कि यास्क ही सर्वप्रथम नैरुक्त नहीं। इन से पूर्ववर्ती १४ नैरुक्तों की चर्चा व्याख्याकार दुर्गाचार्य ने की है।

इनके नाम इस प्रकार हैं—

१· **आग्रायण**—इन्हें निरुक्त में तीन बार उद्धृत किया गया है, यथा— **कर्णः ऋच्छतेरित्याग्रायणः** (निरु० १, ९)।

'नासत्यौ सत्यस्य प्रणेतारौ इत्याग्रायणः' (निरु० ६, १३)।

'इन्द्र इदं करणादित्याग्रायणः (निरु० १०, ८) **इन्द्र=इदम्+√कृ**।

२· **औदुम्बरायण** को एक बार शब्द को अनित्य (**इन्द्रियनित्यं**) मानने के प्रसंग में उद्धृत किया गया है—**इन्द्रियनित्यं वचनमित्यौदुम्बरायणः** (निरु० १, १) शब्द की सत्ता वागिन्द्रिय में रहने तक होती है।

३· **औपमन्यव** को यास्क ने १२ बार उद्धृत किया है। यथा—**निघण्टवः**— **'ते निगन्तव एव सन्तो निगमनात्'** (निरु० १, १)।

दण्डः— **'दमनात्'** (निरु० २, २)।

पञ्चजनाः—**'चत्वारो वर्णाः, निषादः पञ्चमः' (**निरु० ३, ११**)**।

कुत्सः—**'कर्ता स्तोमानाम्'** (निरु० ३, ८)।

काकः—**'न शब्दानुकृतिर्विद्यते'** (निरु० ३, १८)।

इससे सिद्ध होता है कि वे 'शब्दानुकृति' के सिद्धान्त को नहीं मानते थे और काक-सदृश शब्दों का भी निर्वचन करने के पक्ष में थे। **'यज्ञ'** की निरुक्ति 'बहुकृष्णाजिनः' से की गयी है (निरु० ३, १९), जो सर्वथा अवैज्ञानिक है। इनके मतानुसार शिपिविष्ट' तथा 'विष्णु' एक ही देवता 'विष्णु' के वाचक हैं। केवल 'शिपिविष्ट' का अर्थ कुत्सित है (निरु० ५, ७)। इन्होंने **'इन्द्र'** का **निर्वचन** **'इदं दर्शनात्'** से किया है (१०, ८)। अन्य स्थल इस प्रकार हैं (२, ६; २, ११; ३, ८; ६, ३०२; १०, ८)।

---

[1] द्र० गजानन बालकृष्ण पलसुले कृत संस्कृत धातु पाठ, पृ० ६-८।

इस दीर्घ तालिका से प्रतीत होता है कि **औपमन्यव** अपने समय के नैरुक्त-शिरोमणि माने जाते थे । सम्भव है कि उन्होंने अपने स्वतन्त्र निघण्टु का भी निर्माण किया हो । जैसी कि पं० भगवद्दत्त ने निरु० ५, ७ के आधार पर कल्पना की है । प्रा० ऑप्पर्ट (G. Oppert) की हस्तलेखसूची में उपमन्युकृत निरुक्त का उल्लेख है[1] ।

चरणव्यूह के अनुसार चरकों की एक उपशाखा **'औपमन्यव'** के नाम से प्रसिद्ध थी । सम्भव है इनका कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्ध रहा हो ।

४. **और्णवाभ** का नाम निम्न प्रसंगों में उल्लिखित हुआ है—

(क) **ऊर्व्यः—'वृणोतेरिति'** (२, २६) ।
(ख) **नासत्यौ—'सत्यावेव नासत्यौ'** (६, १३) ।
(ग) **जुहोतेर्होता** ··· ··· (७, १) ।
(घ) **अश्वैरश्विनौ** (१२, १) ।
(ङ) **त्रिधा निधत्ते पदम्—समारोहणे, विष्णुपदे, गयशिरसि** (१२, १९) ।

इन निर्देशों से पता चलता है कि और्णवाभ का अपना निरुक्त भी था । अन्तिम निर्देश से यह सङ्केत भी मिलता है कि और्णवाभ ने ऋग्० १, २२, १७ की व्याख्या भी की थी ।

बृ० दे० (७, १२५) में केवल एक बार इनका उल्लेख किया गया है, जिसके अनुसार **और्णवाभ** के मत में ऋग्० (१०, ८५, १८-१९) के देवता **अश्विनौ** थे । इस समय १८ वीं ऋचा के देवता **सोमार्कौ** माने जाते हैं और १९ का **चन्द्रमा** ।

५. **कात्थक्य** के सभी उल्लेख निरु० के अष्टम—नवम अध्याय में किये गये हैं, जहाँ आप्री सूक्तों के देवताओं के विषय में इनके विचारों को सात बार अभिव्यक्त किया गया है, किन्तु इनके नैरुक्त होने का कोई प्रमाण नहीं है । सम्भवतः इसी कारण दुर्गाचार्य ने इन्हें नैरुक्तों में नहीं गिना और १४ नैरुक्त माने हैं इनके सङ्केत-स्थल इस प्रकार हैं—निरु० ८, ५; ८, ६; ८, १०; ८, १७; ९, ४१; ९, ४२ ।

---

[1] *Cat. of Sanskrit Mss.*, Vol. II, p. 510.

तो भी बृ० दे० (३, १०) में **कात्थक्य** का **यास्क** के साथ एक बार उल्लेख किया गया है।

पं० भगवद्दत्त का यह अनुमान ठीक ही है कि **कात्थक्य** एक याज्ञिक था, क्योंकि उसके लिए **'उलूखल'** पद का महत्त्व यही था कि यह एक यज्ञोपयोगी पात्र है।

६. **क्रौष्टुकि** (निरु० ८, २) **'द्रविणोदाः'** का अर्थ **'इन्द्र'** समझते थे। **शौनक** (बृ० दे० ४, १३७) के अनुसार **क्रौष्टुकि** सोम को ऋग्० ४, २८ का देवता मानते थे। इस समय ४, २८ के देवता **'इन्द्र'** अथवा **'इन्द्रसोमौ'** माने जाते हैं। पौराणिक परम्परा के अनुसार **भागुरि** का ही नामान्तर **क्रौष्टुकि** था। किन्तु इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

७. **गार्ग्य** को निरुक्त में तीन बार उद्धृत किया गया है।

(क) उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः (१, ३)।

अर्थात् उपसर्गों के विविध स्वतन्त्र अर्थ होते हैं। **शाकटायन** के मत में नामों—आख्यातों से विरहित उपसर्गों के स्वतन्त्र अर्थ नहीं होते।

(ख) न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानाञ्चैके (१, १२)।

अर्थात् गार्ग्य तथा वैयाकरणों में से कुछेक के मत में सभी नाम आख्यातज नहीं होते। कुछेक ही होते हैं।

(ग) अथात उपमाः। यदेतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः (३, १३)।

शाकटायन के सभी नामों को आख्यातज मानने के सिद्धान्त के मुख्य विरोधी गार्ग्य ही थे।

पं० भगवद्दत्त के मतानुसार यह **गार्ग्य** सामवेद के पदकार गार्ग्य ही हैं, क्योंकि निरुक्त में व्यक्त किये गये विचार के अनुरूप ही सामपदपाठ में सर्वत्र उपसर्गों की सार्थक एवं स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया गया है। ऋक्संहिता का पदपाठ इस विषय में किसी व्यवस्थित सिद्धान्त की अभिव्यक्ति करता प्रतीत नहीं होता।

सामपदपाठ में **'विप्रासः'** पद का विश्लेषण इस प्रकार किया गया है—**वि। प्रासः** तथा **सूनृतः** का **सू। नृतः**। किन्तु ऋक्पदपाठ में **'वि'** तथा **'सू'** को पृथक् नहीं दर्शाया गया।

बृ० दे० (१, २६) में **गार्ग्य** का केवल एक बार उल्लेख किया गया है।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में एक **गार्ग्य** को बहुधा उद्धृत किया है। यथा—पा० ७, ३, ९९; ८, ३, २०; ८, ४, ९७। ब्रह्माण्ड पुराण[1] में **पान्नागारि** '**गार्ग्य**' को **बाष्कलि भरद्वाज** का शिष्य कहा गया है। किन्तु ये सभी **गार्ग्य** पद एक ही व्यक्ति के वाचक हैं, ऐसा मानने का कोई अकाट्य प्रमाण नहीं है।

८. **गालव** का यास्क ने केवल एक ही बार (४, ३) उल्लेख किया है। '**शितामतः**' (वा० सं० १, १४३) **शितिमांसतो मेदस्स इति गालवः**'। अर्थात् गालव के मत में 'शिताम=मेदस्। किन्तु शौनक ने बृ० दे० में इन्हें चार बार[2] उद्धृत किया है। म० भाष्य[3] में '**गालव**' नामक वैदिक शाखा का उल्लेख किया गया है। जो सम्भवतः सामवेद से सम्बद्ध है। एक गालव ऋग्० के क्रमपाठ के निर्माता भी प्रसिद्ध हैं[4]। महाभारत[5] में '**गालवशिक्षा**' का भी उल्लेख है। इसी **बाभ्रव्य गालव** द्वारा ऋक्संहिता का अष्टक विभाजन किया गया माना जाता है[6]।

९. **चर्मशिरस्** का उल्लेख यास्क ने एक बार किया है (निरु० ३, १५); जहां **चर्मशिरस्** ने **विधवा** की निरुक्ति इस प्रकार की है— ………**विधावनाद्वेति चर्मशिराः**'। क्योंकि वह इतस्ततः भागती है। बृ० दे० में इनका उल्लेख नहीं किया गया।

१०. **तैटीकि** को यास्क ने दो बार उद्धृत किया है—

(क) **शिताम—'शितामतो यकृत्त इति तैटीकिः**' (४, ३)।

(ख) '**बोरिटं तैटीकिरन्तरिक्षमेवमाह**' (५, २७)।

यह ध्यातव्य है कि इस अन्तिम स्थल को दुर्गाचार्य ने अपनी व्याख्या में अपने नियमानुसार उद्धृत नहीं किया। अतः यह पाठ सन्दिग्ध माना जाता है। शौनक ने बृ० दे० में तैटीकि का उल्लेख नहीं किया।

---

[1] ब्रह्माण्ड०, १, ३५; द्र० विष्णुपद भट्टाचार्य, यास्कस् निरुक्त, पृ० ६९; तथा टि० १२, पृ० ९२।

[2] बृ० दे० १, २४-२५; ५, ३०; ६, १३; ७, ३८।

[3] म० भाष्य, पा० १, ४, ४४, वा० १७।

[4] तु० ऋक्० प्रा० ११, ६५—'**इति प्र बाभ्रव्य उवाच क्रमम्**'।

[5] म० भा०, शान्ति०, अध्याय ३४२, १०३-१०४।

[6] द्र० वि० भट्टाचार्य, वही, पृ० ९३, टि० १७।

११. **वार्ष्यायणि** का उल्लेख यास्क ने केवल एक बार किया है—

'षड्भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः' (१, २)।

पतञ्जलि ने यास्क के इस सन्दर्भ को शब्दशः उद्धृत किया है किन्तु **वार्ष्यायणि** शब्द से पूर्व **'भगवत्'** शब्द जोड़ कर इन के व्यक्तित्व तथा इनकी प्रतिभा को और उभार दिया है।

१२. **शताबलाक्ष मौद्गल्य** को केवल एक ही बार उद्धृत किया गया है, जहां **मृत्यु** पद के निर्वाचन के प्रसंग में इन के मत को अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है—

'मृतं च्यावयतीति वा शतवलाक्षो मौद्गल्यः' (११, ६)।

अर्थात् **'मृत्यु'** मृत व्यक्ति को अपने स्थान से हटा देती है। शौनक ने इन्हें उद्धृत नहीं किया।

१३. **शाकटायन** को यास्क ने तीन बार उद्धृत किया है।

(क) **'न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुः** ·· ·· (निरु० १, ३)।

अर्थात् असम्बद्ध, स्वतन्त्र उपसर्ग किसी अर्थ के वाचक नहीं होते। **शाकटायन** की इस स्थापना का प्रबल विरोध गार्ग्य ने यह कह कर किया था कि उपसर्ग स्वतन्त्ररूपेण विविध अर्थों के वाचक होते हैं—यह हम ऊपर देख चुके हैं।

(ख) **'तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च'**।
(निरु० १, १३)

अर्थात् शाकटायन तथा नैरुक्तों के सिद्धान्त के अनुसार सभी नाम क्रियाजन्य हैं।

इस विषय में भी **शाकटायन** का विरोधी **गार्ग्य** ही है, जिसने प्रतिपादित किया कि सभी नाम आख्यातज नहीं माने जा सकते। पाणिनि ने **शाकटायन** को अनेक बार उद्धृत करके उन्हें व्याकरण का प्रकाण्ड पण्डित सिद्ध किया है, तो भी कुछेक वैयाकरण भी उनकी उपर्युक्त मान्यता से सहमत नहीं थे। इस बात को स्वयं यास्क ने ही अपने अगले ही वाक्य में व्यक्त कर दिया है—**'न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानाञ्चैके'**। **शाकटायन** अपने मन्तव्य के इतने कट्टर पक्षधर थे कि एक पद को अनेक पदों से व्युत्पन्न करने से भी नहीं झिझकते थे।

यथा—

(ग) **ग्रथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्य: पदेतरार्द्धान् सञ्चस्कार शाकटायन:, एते: कारितञ्च यकारादिञ्चान्तकरणमस्ते: शुद्धञ्च सकारादिञ्च'** (१, १३)।

अर्थात् शाकटायन ने एक शब्द के भागों को विभिन्न क्रियाओं से व्युत्पन्न किया, जबकि अर्थ ग्रसंगत था ग्रौर धातु-सम्बन्धी विकार अविद्यमान थे। यथा—'सत्यं' पद को उन्होंने परवर्ती शब्दांश के 'य' को √इ के णिजन्त रूप (ग्रय) से तथा पूर्ववर्ती शब्दांश 'सत्' को √अस् के सामान्य रूप से व्युत्पन्न किया। इन सन्दर्भों से यह स्पष्ट हो जाता है कि **शाकटायन** ने किसी निरुक्त का निर्माण किया था, जिसमें 'सत्य'-सदृश निरुक्तियां की गयी थीं। **शाकटायन** ने ग्रच्छ्, श्रत् तथा अन्तर् इन तीन ग्रधिक उपसर्गों का भी प्रतिपादन किया था, जिसकी चर्चा शौनक ने (बृ० दे० २, ९५) की है। शौनक ने इन्हें आठ बार नामनिर्देश-पूर्वक तथा ग्रादर से उद्धृत करके इनकी प्रतिभा पर प्रमाण की मोहर लगा दी है[1]।

शाकटायन ने अनेकों ऋचाओं के देवताग्रों के विषय में भी अपना मत व्यक्त किया है। '**पञ्चजना:**' की पहचान के विषय में भी शाकटायन ने ग्रपना मत व्यक्त किया था, किन्तु निरुक्त में इस विषय में ग्रौपमन्यव तथा शाकटायन के मतों में विपर्यास कर दिया गया है[2]। इस विपर्यास की चर्चा बृ० दे० (७, ६९) ने की है—

यास्कौपमन्यवावेतानाहतु: पञ्च वै जनान्।
निषादपञ्चमान् वर्णान् मन्यते शाकटायन: ॥

निरुक्त में इसके विपरीत कहा गया है—'**चत्वारो वर्णा निषाद:पञ्चम इत्यौपमन्यव:**'[3]।

१४. **शाकपूणि** को यास्क ने सर्वाधिक उद्धृत किया है। इस तथ्य को पुष्ट करने वाले ग्रनेक प्रमाण उपलभ्य हैं कि **शाकपूणि** ने किसी निरुक्त की

---

१. बृ० दे० २, १; ९५; ३, १५६; ४, १३७-१३८; ६, ४३; ७, ६९; ८, ११; ९०।

२. द्र० निरु० ३, ८।

३. वही।

रचना की थी। **शाकपूणि** का उपनाम **'रथीतर'** था, जिसका सङ्केत बृ० दे० में प्राप्त होता है[1]।

ब्रह्माण्ड० (१, ३५, ३) तथा वायु० (६०, ६५) के अनुसार शाकपूणि रथीतर ने तीन संहिताओं का प्रवचन किया था एवं निरुक्त का प्रणयन भी—

प्रोवाच संहितास्तिस्रः शाकपूणी रथीतरः।
निरुक्तञ्च पुनश्चक्रे चतुर्थं द्विजसत्तमः[2]।'

यास्क ने शाकपूणि को १९ बार उद्धृत किया है। इनमें नौ स्थानों पर तो शाकपूणि ने **द्रविणोदाः** (८, २), **इध्म** (८, ५), **तनूनपात्** (८, ६), **नराशंस** (८, ७), **द्वारः** (८, १०), **त्वष्टा** (८, १४), **वनस्पति** (८, १७, १८), **विश्वेदेवाः** (१२, ४०) प्रभृति देवताओं के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं, एवं पांच शब्दों के निर्वचन किये हैं, यथा—**महान्** (३,१३), **ऋत्विक्** (३,१९), **अप्सराः** (५, २८), **अच्छ** (५, २८) तथा **अग्नि** (७, १४)।

अग्नि के तीन स्थानों (७, २८ ; १२, १९) के विषय में भी शाकपूणि ने निर्णय दिया है। एक स्थान (४, १५) पर ऋग्वेद (४, ३२, २३) की ऋचा के शब्दों **विद्रधे**, **नवे**, **द्रुपदे** तथा **अर्भके** की सप्तमी विभक्ति के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं। तीन स्थलों पर शब्दों के अर्थ किये हैं (३, ११ ; ४, ८ ; ५, ३)।

शाकपूणि का भी स्वरचित निरुक्त अवश्य रहा होगा और यह भी सम्भव है कि उसके मूल निघण्टु का संग्रह भी शाकपूणि ने स्वयं ही किया हो। इस कल्पना का आधार निरुक्त के स्कन्दभाष्य का यह वचन है—**'दाश्वान् इति यजमाननाम शाकपूणिना पठितम्'** (निरु० १, ४)। ऋग्० (६, ६२, ३) पर अपने भाष्य में स्कन्दस्वामी ने अपने निरुक्त-भाष्य की पुष्टि करते हुए लिखा है—**दाश्वान् इति यजमाननाम।**

इसी प्रकार निरु० (३, १०) पर अपने भाष्य में स्कन्दस्वामी ने लिखा है, **शाकपूणेरतिरिक्ता एते— विव्याक, विव्याच, उरुव्यचाः, विव्रे इति व्याप्तिकर्माणः।**

अर्थात् शाकपूणि ने **'व्याप्तिकर्मा' विव्याक** प्रभृति शब्द अतिरिक्त पढ़े हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि **शाकपूणि** का निघण्टु भी था[3]।

---

[1] द्र० बृ० दे० १, २३, २६।

[2] द्र० वायु० ६१, २ ; विष्णु० ३, ४, २३-२४।

[3] विस्तारार्थं द्र०, वि० भट्टाचार्य, 'यास्कस् निरुक्त', पृ० ८०-८९।

पं० भगवद्दत्त के विचार में **शाकपूणि** ने निरुक्त के अतिरिक्त एक अन्य वैदिक-रचना का निर्माण भी किया प्रतीत होता है, जिसकी ओर तै० सं० के भाष्यकार भट्टभास्कर संकेत करते प्रतीत होते हैं[1] ।

१५. **स्थौलाष्ठीवि** को यास्क ने दो बार उद्धृत किया है—

(क) **अग्निः कस्मात् अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः** (७, १४)

(ख) **वायुः ··· एतेरिति स्थौलाष्ठीविः, अन्वर्थको वकारः**

(१०, ११)। इसे शौनक ने उद्धृत नहीं किया।

इस प्रकार कम से कम १४-१५ नैरुक्त आचार्यों के विचारसौष्ठव का मन्थन करने एवं पूर्ववर्ती दीर्घकालीन परम्परा के विविध मन्तव्यों, सिद्धान्तों तथा विचारधाराओं के अनवरत प्रवाह की लहरियों में निमग्न-उन्मग्न होते हुए यास्क ने अपने समय में प्रवर्तमान नैरुक्तविचार-सरणि को हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है। निर्वचनसम्बन्धी सिद्धान्त एवं विचार न तो नवीन थे, न ही यास्क की निजी उद्भावनाओं के फलितार्थ। ये दीर्घकालीन गहरी परम्परा के धरातल पर अवस्थित एवं अनेकानेक प्रतिभाशाली बुद्धिवैभव-सम्पन्न विभूतियों के गहन ऊहापोह की सुदृढ़ आधारशिला पर निर्मित विचार-परम्परा के प्रतिनिधि हैं, जिन्हें यास्क ने अपने प्रतिभासम्पन्न मस्तिष्क में मथ कर तज्जन्य नवनीत के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है।

आज चाहे हम इनमें से कतिपय निष्कर्षों से असहमत हों तथा कतिपय फलितार्थों को प्रारम्भिक एवं हास्यास्पद कह कर नकार दें, किन्तु यदि कालरूपी समुद्र की विशाल एवं अतल गहराइयों में डुबकी लगा कर देखें, तो पता चलेगा कि इन विचारसरणियों का मूल संसार की सर्वप्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता में अन्तर्हित है, जिसकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए यथेष्ट सामग्री आज भी हस्तामलकवत् सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

जिस समय भारत में इन गहन विषयों पर विचार हो रहा था, उस सुन्दर समय के विशाल पटल पर अन्य कोई संस्कृति उभर कर आयी ही न थी। यह विचारधाराएं दो, चार, दस पीढ़ियों की नहीं, सहस्राब्दियों के वैचारिक ऊहापोह के प्रतिफल के रूप में यास्क तक पहुँची थीं, जिन्हें सौष्ठवपूर्ण रूप में सजा-संवार कर उस अन्तिम निर्वचनकार ने उस समय हम तक पहुंचाया, जब संसार के अन्य किसी व्यक्ति ने इस विषय को स्पर्श करने का साहस भी नहीं किया था। आज से तीन सहस्राब्दियों के पश्चात् आने वाली नसलें हमें भी 'आदिम' ही घोषित करेंगी, किन्तु इससे हमारी आज की, अबतक की, विविधविषयों की उपलब्धियों का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

---

[1] वही, पृ० ८९-९०।

दशम अध्याय

निरुक्तकार यास्क

उपर्युक्त निघण्टु पर भाष्य के रूप में लिखित निरुक्त के रचयिता का नाम यास्क प्रसिद्ध है और उनका सर्वप्राचीन उल्लेख शौनकीय बृहद्देवता में किया गया है, जहां नाम-निर्देश-पूर्वक यास्क के विचारों का १९ बार उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु सात स्थलों पर यास्क के नाम से निर्दिष्ट सिद्धान्त तो न्यूनाधिक रूप में वर्तमान निरुक्त में खोजे जा सकते हैं। यद्यपि उनमें से उद्धृत विचार निरुक्त में उपलब्ध नहीं होते[1]। दो अवस्थाओं में नैरुक्तों के नाम से निर्दिष्ट विचार वर्तमान निरुक्त में उपलब्ध विचारों के सर्वथा विरुद्ध हैं[2]। इसी प्रकार वररुचि के नाम से प्रसिद्ध 'वाररुच-निरुक्तसमुच्चय' में यास्क को भाष्यकार के नाम से स्मरण किया गया है तथा उनके नाम से कुछ विचार प्रकट किये गये हैं, जिनमें कुछेक वर्तमान निरुक्त में उपलब्ध नहीं होते[3]। कई ऐसे शब्द हैं, जिनके निर्वचन वहां भाष्यकार के नाम से दिये गये हैं, किन्तु हमारे निरुक्त में उपलब्ध नहीं हैं। यथा—'सूनरः', जिसमें पदकार ने अवग्रह नहीं दिखाया, किन्तु भाष्यकार ने पदकार की अवहेलना करके उसका निर्वचन किया है। इसी प्रकार **'उदकर्मणि हिरण्यमुच्यते इति भाष्यकारवचनात्'**[4]। इन उदाहरणों से यह परिणाम निकालना स्वाभाविक है कि या तो यास्कीय निरुक्त का कोई बृहत्तर संस्करण रहा होगा, जिनमें ये शब्द पाये जाते थे या ये निर्देश किसी अन्य निरुक्तकार की रचना की ओर इंगित करते हैं, जिसका अब लोप हो चुका है[5], क्योंकि इसमें ऐसे भी निर्वचन दिये गये हैं, जो यास्क के निर्वचनों से मेल नहीं खाते।

---

[1] बृ० दे० २, १११; २, १३२ (सन्देहास्पद); २, ७४ ब आदि; ३, ११२ ब; ४, १८—(सन्देहा०); ७, ७; ८, ११ (सन्देहा०)।

[2] बृ० दे० ३, १००; ४, ४ ब; ५, ४०; ६, ८७ अ०, ६, १०७; ७,१८; ७, ६८ आदि; ७, ९३; ७, १५३; ८, ६५ अ।

[3] बृ० दे० १, १२६; ५, ८ (द्र० स्कोल्ड, वही, पृ० १०२)।

[4] द्र० कुन्हन राज का संस्करण पृ० XXXII—XXXIII; वी० पी० भट्टाचार्य, वही, पृ० ५५-६०।

[5] वाररुच० पृ० ६७।

यथा—कृष्णं कृषतेर्नाशार्थस्य, तम आदेनाशयिता[1]।

यास्क का निर्वचन है—**कृष्णं कृष्यतेः। निकृष्टो वर्णः**[2] तथा **आत्मा** के विषय में कहा गया है—**अन्तेर्धातोरात्माशब्दो निरुक्तः**[3], किन्तु यास्क ने इसका निर्वचन इस प्रकार किया है। **आत्मा अततेर्वा, आप्तेर्वा, अपि वा आप्त इव स्यात्, यावद् व्याप्तिभूतः इति।**[4]

अतः अन्य निरुक्त या इसी निरुक्त के अन्य संस्करण की संभावना का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता।

इस विषय में ध्यान देने की बात यह है कि निरुक्त के मूलपाठ की पुष्पिकाओं में कहीं भी यास्क का नाम—निर्देश नहीं मिलता। किन्तु निरुक्त के परिशिष्ट के दूसरे अध्याय के अन्त में—**नमः पारस्कराय। नमो यास्काय** लिखा मिलता है, जो निश्चय ही यास्क के किसी प्राचीन श्रद्धालु ने जोड़ दिया है।

यास्क के निरुक्त के सर्वप्राचीन समालोचक बृहद्देवता के रचयिता आचार्य शौनक हुए हैं, जो पाणिनि से प्राचीन हैं[5]। उन्होंने, जैसे कि ऊपर कह चुके हैं, यास्क के विचारों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख नामनिर्देशपूर्वक किया है। एक ऐसे ही स्थल पर उन्होंने यास्क तथा नैरुक्तों के सिद्धान्तों में परस्पर विप्रतिपत्ति की चर्चा की है। नैरुक्तों के मत में वैदिक और लौकिक नामों की नौ प्रकार के कर्मों से उत्पत्ति होती है, जबकि यास्क, गार्ग्य तथा रथीतर के अनुसार ४ प्रकार के कर्मों से होती है[6]। किन्तु वर्तमान निरुक्त में यास्क के नाम से उल्लिखित इस सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन कहीं नहीं किया गया, तो भी **आशीः** तथा **कर्म** यह नामों के दो स्रोत वर्तमान निरुक्त से प्रमाणित होते हैं[7]। यास्क तथा नैरुक्तों में इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिकभेद के उल्लेख के कारण सन्देह होता है कि क्या यास्क को नैरुक्त नहीं माना जाता था ?

---

[1] वार० निरु० पृ० ३०।

[2] निरु० २, २०।

[3] वार० निरु० पृ० ३२।

[4] निरुक्त ३, १५।

[5] मैकडानल, बृ० दे०, भूमिका पृ० २२।

[6] बृ० दे० १, २३ तथा अग्रे।

[7] निरुक्त १, १३७ कार्मनामिकः, ५, २२ 'आर्शीनामिकः।

वर्तमान निरुक्त के अध्ययन से पता चलता है कि स्वयं यास्क ने अपने ग्रन्थ में जहां-कहीं भी नैरुक्तों के नाम से निर्वचन किये हैं या किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वहां स्वमत से विप्रतिपत्ति कहीं भी नहीं दिखायी, उसका समर्थन ही किया है और इन्होंने 'नैरुक्तों' का उल्लेख २२ बार किया है। अतः प्रतीत होता है कि शौनक ने नैरुक्तों तथा यास्क में भेद करके यास्क के पूर्ववर्ती नैरुक्तों तथा यास्क के सैद्धान्तिक भेदों की ओर ही सङ्केत किया है।

वर्तमान निघण्टु के समान ही वर्तमान निरुक्त के भी लघु तथा बृहत् दो पाठ हैं। बृहत्पाठ में जहां ऐसे निर्वचन उपलब्ध होते हैं, जो लघुपाठ में नहीं पाये जाते, वहां इसमें कई अप्रासंगिक तथा अनावश्यक बातों का भी समावेश किया गया है। इस प्रकार के एक प्रक्षेप का मूल मैकडानल ने बृहद्देवता में खोज निकाला है[1]। लघुपाठ की सभी पाण्डुलिपियों में निरुक्त के परिशिष्ट के दोनों अध्यायों को मिलाकर एक ही तेरहवें अध्याय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। बृहत्पाठ में दोनों को पृथक्-पृथक् रखा गया है। लघुपाठ के अध्याय पादों तथा खण्डों में विभाजित हैं, बृहत्पाठ में केवल खण्डों में। लघुपाठ की सभी पाण्डुलिपियां वर्तनी तथा व्याकरण आदि की दृष्टि से बहुत अशुद्ध हैं। डा० सरूप के मतानुसार इन दोनों पाठों में से कोई-सा भी एक पाठ पूर्णतया विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। इनमें या तो महत्त्वपूर्ण विषय छूट गये हैं या व्यर्थ बातें घुस आयी हैं[2]। इस विषय में डा० सरूप तथा स्कोल्ड इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि दुर्गाचार्य तथा स्कन्द-महेश्वर की दोनों ही व्याख्याएं लघुपाठ पर ही लिखी गयी हैं[3]। किन्तु दुर्गाचार्य के पाठ में लघुपाठ की अशुद्धियां नहीं पायी जातीं। प्रतीत होता है ये अशुद्धियां दुर्गाचार्य के बाद निरुक्त में प्रविष्ट हो गयी थीं। किन्तु दुर्गाचार्य के समय में ही निरुक्त में बहुत से पाठभेद हो गये थे, जिनका आभास दुर्ग की व्याख्या में स्थान-स्थान पर मिलता है। वैयाकरण महाभाष्य तथा निरुक्त की तुलना करके स्कोल्ड ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सामान्यतः पतञ्जलि ने लघुपाठ का ही आश्रय लिया था, किन्तु उनके इस कथन में कोई सार नहीं, क्योंकि महाभाष्य में उद्धृत निरुक्त के सभी वचन पूर्वषट्क के हैं। अतः उत्तरषट्क अर्थात् दैवतकाण्ड पतञ्जलि के बाद की रचना कही जाती है[4]। किन्तु हम ऊपर देख चुके है कि पतञ्जलि से शताब्दियों पूर्व शौनक ने बृहद्देवता में यास्क के नामोल्लेखपूर्वक तथा बिना नामनिर्देश के भी दैवतकाण्ड

---

[1] निरु० ६, ५ < ✓बृ० दे० ५, १३७।

[2] निघ० निरु० हस्तलेखों का विवरण।

[3] लक्ष्मण सरूप, वही, पृ० ४५-४७ ; स्कोल्ड, वही, पृ० १६६-६७।

[4] वही, पृ० ८२।

पर अपने विचार व्यक्त किये हैं, जहाँ ऋग्वेदीय देवताओं का वर्णन किया गया है। बृहद्देवता में यास्कीय निरुक्त का केवल एक उद्धरण दिया गया है— **'भावप्रधानमाख्यातम्'** (निरुक्त १, १)। वैसे यास्क के अनेक विचारों को निरुक्त का उल्लेख किये बिना संक्षिप्त अथवा विस्तृत रूप में ७३ बार व्यक्त किया गया है। इन सभी स्थलों का अध्ययन करके स्कोल्ड इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि शौनक के सामने निरुक्त का वही पाठ प्रतीत होता है, जो आज पाण्डुलिपियों तथा दुर्गाचार्य की टीका में उपलब्ध होता है। शौनक ने ही यास्क के नाम का उल्लेख करके यास्क के मत को १९ बार व्यक्त किया है। उनमें से कई मन्तव्य ऐसे हैं, जो आज निरुक्त में उपलब्ध नहीं होते। इनके विषय में स्कोल्ड का मत है कि यदि इनमें शौनक का अभिप्राय इसी यास्क से था, तो उनके सम्मुख इससे बृहत्तर निरुक्त होना चाहिये था। साथ ही निरुक्त की आलोचना के प्रसंग में शौनक ने यास्क के मन्तव्यों को पांच स्थलों पर प्रस्तुत किया है[1] और ये सभी प्रसंग निरुक्त में पाये जाते हैं[2]। अतः प्रतीत होता है कि शौनक के सम्मुख थोड़े बहुत अन्तर के साथ कुल मिलाकर वर्तमान पाठ ही रहा होगा। इस प्रकार शौनक यास्क तथा उनकी रचना निरुक्त से पूर्ण परिचय रखते थे।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में दो बार **'यस्क'** शब्द पढ़ा है[3], जिससे अपत्यार्थक अण् प्रत्यय करके **'यास्क'** शब्द से सिद्ध किया जाता है कि पाणिनि निरुक्तकार यास्क को जानते ही थे। यास्क गोत्रवाची शब्द है, अतः अन्य यास्कों की सत्ता भी सर्वथा सम्भावित है।

माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण में यास्क का नाम दो बार आता है[4], एक यास्क का उल्लेख शौनकीय ऋक्प्रातिशाख्य[5] में भी किया गया है, जो छन्दःशास्त्रज्ञ थे। दूसरी ओर यास्क ने स्वरचित तैत्तिरीय सर्वानुक्रमणी में शौनक के ऋक् प्रातिशाख्य में निर्दिष्ट छन्दः-सम्बन्धी मत का नामोल्लेखपूर्वक निर्देश किया है, जो ऋक्प्रातिशाख्य १६, ७० में व्यक्त किया गया है। काण्डानुक्रम के अनुसार तैत्तिरीय शाखा के प्रवर्तक तित्तिरि के गुरु का नाम **यास्क पैंगि** था, जो वैशम्पायन के शिष्य थे। वैशम्पायन के अन्य शिष्य कठ (पतञ्जलि पा० ४, ३, १०४ पर) तथा कलापी (पा० ४, ३, १०८) थे। काशिका ने पा० ४, ३, १०४ में अरुणि को भी वैशम्पायन-शिष्य माना है। किन्तु महाभाष्य में ऐसा कोई

---

[1] बृ० दे० २, १०९; ११३।

[2] निरु० ४, २; ६, १६; २, ६; ५, २१; ३, ६।

[3] पा० २, ४, ६३ (यस्कादिभ्यो गोत्रे) तथा ४, १, ११२ शिवादि गण में ७०वां शब्द।

[4] श० ब्रा० १४, ५, ५, २७; ७, ३, २७।

[5] ऋक् प्रा० १७, ४२।

सङ्केत नहीं पाया जाता। किन्तु यास्क पैङ्गि को निरुक्तकार यास्क नहीं माना जा सकता, जैसा कि वेबर का विचार है[1]। इस प्रकार कौन-से यास्क निरुक्तकार थे, यह विवादास्पद हो जाता है।

मैक्समूलर, बोह्ट्लिङ्क तथा उनके अनुयायी सत्यव्रत सामश्रमी, स्कोल्ड, प्रभृति यास्क को पाणिनि से अर्वाचीन मानते हैं, तथा गोल्डस्टुकर, मैकडॉनल एवं बेल्वल्कर प्रभृति इन्हें पाणिनि से प्राचीन घोषित करते हैं। वाजसनेयि-प्रातिशाख्य तथा निरुक्त में शब्दों के वर्गीकरण को लक्ष्य में रख कर मैक्समूलर ने निरुक्त के '**नामान्याख्यातजानि**' के सिद्धान्त को प्रातिशाख्य तथा पाणिनीय वार्तिकों के रचयिता कात्यायन से परवर्ती मानकर यास्क को कात्यायन से भी अर्वाचीन घोषित किया है[2]। किन्तु नामपदों के आख्यातज होने की मान्यता यास्क की निजी न होकर पूर्ववर्ती आचार्य शाकटायन की है[3]। अतः यह तर्क यास्क पर लागू नहीं होता।

श्री सत्यव्रत सामश्रमी यास्क को कात्यायन से तो प्राचीन किन्तु पाणिनि से अर्वाचीन मानते हैं। उनके अनुसार यास्क ने जहां-कहीं भी व्याकरण शब्द या व्याकरण की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया है, वहां सर्वत्र पाणिनि की रचना ही उनकी उपजीव्य है,[4] किन्तु उनका यह तर्क सर्वथा भ्रान्त है। पाणिनि से बहुत प्राचीन अनेक वैयाकरण हो गये हैं, जो पाणिनि के उपजीव्य थे तथा जिनकी शब्दावली पाणिनि ने अपना ली है[5]।

श्री विष्णुपद भट्टाचार्य का इस विषय में यह तर्क है कि पाणिनि ने **उपधा, लोप, गुण, वृद्धि, अभ्यास, आम्रेडित** प्रभृति संज्ञाओं के पारिभाषिक अर्थों की व्याख्या करके उन्हें अपने व्याकरण में प्रयुक्त किया है, किन्तु यास्क ने इनमें से अनेक संज्ञाओं का पारिभाषिक अर्थ स्पष्ट किये बिना ही निरुक्त में प्रयोग किया है। इससे यह परिणाम निकाला गया है कि पाणिनि के समय में तो ये परिभाषाएं प्रसिद्ध नहीं थीं और यास्क के समय तक ये पारिभाषिक अर्थों में रूढ़ हो चुकी थीं। अतः यास्क अर्वाचीन हैं।[6]

---

[1] वेबर, हि० इण्डियन लिट्० पृ० ९१ ; (कीथ, तै० सं० अनुवाद, भूमिका पृ० ९१-९२)।

[2] ऐ० सं० लिट्, पृ० १६३ ; (चौखम्भा सं०) ; पृ० १४४ तथा १२२।

[3] ऐ० सं० लिट्, पृ० १२१ (चौखम्भा सं०)।

[4] निरुक्तालोचन, पृ० १०३ ; १०५।

[5] द्र० म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, महाभाष्य, नवाह्निक की भूमिका (चौ० सं०)।

[6] यास्कज निरुक्त, पृ० ५-६ ; वस्तुतः ये तर्क गोल्डस्टुकर के हैं। पाणिनि, पृ० १७० तथा आगे; इनका समर्थन हन्नस् स्कोल्ड ने किया था (पेपर्स ऑन् पाणिनि, पृ० ३४)।

किन्तु यह सिद्ध करना अत्यन्त सरल है कि यास्क ने पाणिनि की शब्दावली का कहीं भी उपयोग नहीं किया। **कर्मप्रवचनीय**, **गति**, **अभ्यास**, **प्रत्यय**, **कित्**, **ङित्**, **णिच्**, **सन्**, **यङ्** प्रभृति शब्द पाणिनि के पश्चात् ही प्रचलित हुए हैं। यास्क ने इन सरल तथा संक्षिप्त शब्दों के स्थान पर अधिक बड़े शब्दों का प्रयोग किया है। **कित् ङित्** के स्थान पर **निवृत्तिस्थान**, **णिजन्त** के लिए **कारित**, **सन्नन्त** के लिए **चिकीर्षित**, **यङन्त** तथा **यङ्लुगन्त** दोनों के लिए **चर्करीत** शब्दों के प्रयोग इस विषय में निदर्शन हैं। 'प्रत्यय' के स्थान पर **नामकरण**, **उपबन्ध** तथा **अन्तकरण** शब्दों के प्रयोग से यह भी सिद्ध होता है कि निरुक्त के समय तक इस अर्थ में कोई एक शब्द रूढ़ नहीं हो पाया था, अन्यथा यास्क उस एक ही शब्द का प्रयोग करते।

यास्क की पाणिनि से प्राचीनता उसकी उपसर्गों की व्याख्या से ही बहुत सीमा तक प्रमाणित हो सकती है, जो पाणिनि की व्याख्या से अत्यन्त निकृष्ट कोटि को है और फिर यास्क की रचना-शैली पाणिनि की रचना-शैली से अधिक प्रचीन है[1]।

यास्क द्वारा प्रयुक्त अपेक्षाकृत सरल तथा वर्णनात्मक पारिभाषिक शब्दावली को पाणिनि की यादृच्छिक एवं जटिल पारिभाषिक शब्दावली तक विकास के लिए कम से कम सौ वर्षों तक का समय चाहिये[2]। यास्क द्वारा प्रयुक्त, **उपधा**, **अभ्यास**, **गुण**, **संहिता** प्रभृति शब्दों की पाणिनि द्वारा पुनर्व्याख्या से यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि पाणिनि यास्क द्वारा प्रयुक्त इन पारिभाषिक शब्दों से अपरिचित थे, अतः यास्क से प्राचीन थे[3] और यास्क की पाणिनि से प्राचीनता केवल प्रतीयमान साक्ष्यों और हेत्वाभासों पर आधृत हैं[4]। लीबिख़ (पाणिनि, पृ० १९) ने यास्क को महाभाष्यकार पतञ्जलि के समय में रखने का विचार व्यक्त किया है। किन्तु किसी भी पुष्ट प्रमाण के अभाव में यह सर्वथा अग्राह्य है तथा रॉथ[5], गोल्डस्टुकर[6], मैक्समूलर[7], वेबर[8], ह्विट्ने[9] और

---

[1] कीथ, तै० सं० आंग्लानुवाद, भूमिका, पृ० १७०-१७१।

[2] एस० के० बेल्वेल्कर, सिस्टम्स० सं० ग्रा, पृ० ६-७।

[3] गोल्ड०, पाणिनि, पृ० १७०।

[4] ह० स्कोल्ड, पेपर्स ऑन् पाणिनि पृ० ३४।

[5] निरुक्त, पृ० XI।

[6] पाणिनि, पृ० २२५।

[7] ए० सं० लिट्०, पृ० ५०।

[8] इण्डि० स्टु० V, पृ० ५७।

[9] P. A. O. S. मई १८७६, पृ० XXII।

मैकडॉनल[1] सभी के मतों के विरुद्ध है। डा० कीलहार्न[2] ने दिखाया है कि विविध शास्त्रीय सिद्धान्तों के विकास के आधार पर भिन्न-भिन्न कृतियों के रचना-काल का निर्णय करना उचित नहीं है, जो अवश्य ही कुछ एक अवस्थाओं में सत्य है[3]।

यास्क ने **आस्यदघ्ना:** (१,९) को √दघ् से सम्बद्ध किया है, जबकि पाणिनि ने यहां **दघ्नच्** प्रत्यय की कल्पना की हैं (पा० ५, २, ३७)। आधुनिक भाषा-विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि प्राचीन काल में बहुत से प्रत्यय स्वतन्त्र प्रकृति के रूप में प्रयुक्त होते थे। बाद में इनको 'प्रत्यय' के रूप में मान लिया गया[4]। अत: व्याकरण की पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर यास्क को पाणिनि का ऋणी सिद्ध नहीं किया जा सकता, यास्क ही प्राचीन सिद्ध होते हैं। यास्क ने महाभारत में वर्णित एक घटना[5] की ओर संकेत किया है, जिससे उनका काल महाभारत युद्ध के बाद का सिद्ध होता है। कृतवर्मा द्वारा श्रीकृष्ण के यहां से चुरायी गयी स्यमन्तक मणि को अक्रूर लेकर भाग गये थे[6]। इस घटना की ओर संकेत **अक्रूरो ददते मणिम्** इस श्लोकांश में किया गया है[7]। इन सभी तर्क-वितर्कों से सिद्ध होता है कि यास्क पाणिनि से प्राचीन हैं। पाणिनि से शौनक भी प्राचीन हैं।

शौनक यास्क से अर्वाचीन हैं। अत: यास्क और पाणिनि के मध्य में शौनक सिद्ध होते हैं। पाणिनि का काल ७०० ई० पू० के आस-पास है[8]। शौनक और यास्क के बीच कम से कम सौ वर्ष का अन्तर स्पष्ट है। इतना ही अन्तर पाणिनि तथा शौनक के बीच में मानना चाहिये। अत: यास्क का काल ९०० ई० पू० से अर्वाचीन नहीं माना जा सकता।

शतपथ० के यास्क को निरुक्तकार यास्क मानने के लिए पुष्ट प्रमाण नहीं है। न ही ऋक् प्रातिशाख्य में उल्लिखित यास्क का निरुक्तकार से तादात्म्य सिद्ध किया जा सकता है।

---

१. हि० सं० लिट्, पृ० २६९-७०।

२. *Remarks on Śikṣās*, पृ० १३।

३. कीथ, तै० सं० अनु०, भूमिका, पृ० CLXX।

४. द्र० बट कृष्णघोष, लिङ्ग्वि० इन्ट्रो० सं० पृ० १०७।

५. म० भारत, सभा १४, ६०; मौसल० ३, २३; श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध।

६. निरुक्त २, २।

७. द्र० 'ऋक् प्रा० प्रकरण'।

८. द्र० इसी ग्रन्थ का 'पाणिनि-प्रकरण'।

विषय विवेचन—

जैसा कि पहले कह चुके हैं प्राचीनकाल से ही वैदिक देवताओं के स्वरूप तथा अर्थ को स्पष्ट करने के लिए नामों का निर्वचन किया जाता रहा है। बाद में इस निर्वचन-विद्या का स्वतन्त्र रूप में अध्ययन करने के लिए निरुक्त-शास्त्र की नींव डाली गयी। यास्क से पूर्व अनेक ऐसे नैरुक्त हो गये थे, जिनका उल्लेख स्वयं यास्क ने अपने ग्रन्थ में किया है। इनमें मूर्धन्य नैरुक्त शाकपूणि थे, जिन्हें यास्क ने सम्मानपूर्वक स्मरण किया है, यहां तक कि उन्होंने अपने ग्रन्थ की रूपरेखा शाकपूणि की रचना के अनुसार ही बनायी। शाकपूणि की रचना में देवविद्या को चर्चा का मुख्य विषय बनाया गया था, निर्वचन का प्रयोग गौणरूप में किया गया था। यास्क ने शाकपूणि के मत का २३ बार उल्लेख किया है, जिनमें से केवल ८ बार निर्वचनशास्त्र के सन्दर्भ में उनका नामोल्लेख किया गया है। किन्तु धीरे-धीरे निरुक्त का निर्वचनप्रधान या भाषाशास्त्रीय स्वरूप अधिकाधिक निखरने लगा। देवविद्या के प्रसंग में भी निर्वचन का महत्त्व बना रहा।

यास्क के निर्वचन-प्रधान ग्रन्थ में आधे से अधिक भाग में देवविद्या का ही प्रतिपादन तथा व्याख्यान किया गया है, तो भी इसका मुख्य उद्देश्य निर्वचन की सहायता से वेदार्थज्ञान कराना है, क्योंकि इसके बिना मन्त्रों का अर्थज्ञान नहीं हो सकता[1]। निर्वचन आरम्भ करने से पूर्व यास्क ने निर्वचन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

यास्क के अनुसार पद चार प्रकार के हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। नाम तथा आख्यात का लक्षण करते हुए यास्क ने इन्हें क्रमशः सत्त्व-प्रधान तथा भाव-प्रधान बताया है[2]। उनके अनुसार इनमें कोई मौलिक अन्तर न होकर केवल अवस्था का अन्तर है। क्रिया का क्रम चलते रहने तक उसे '**भाव**' कहते हैं और यह क्रम पूर्ण हो जाने पर क्रिया '**सत्त्व**' नाम से पुकारी जाती है।

यास्क ने इस बात की भी विवेचना की है कि नाम कैसे रखे जाते हैं। जैसा कह चुके हैं शाकटायन तथा नैरुक्त सम्प्रदाय के अनुसार प्रत्येक नाम किसी न किसी आख्यात (धातु) से व्युत्पन्न होता है। गार्ग्य तथा वैयाकरण ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार सभी नाम आख्यातज नहीं होते, कुछ होते भी हैं, जिनमें

---

[1] **अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते, अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः।** (निरुक्त १,१५)। **अपि च—'मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूढः** तथा **तस्माद्यदेव किञ्चानूचानोभ्यूहति, आर्षं तद् भवति'** (निरुक्त १३, १२)।

[2] निरु० १, १, ९।

स्वर तथा व्याकरण की समस्त प्रक्रिया सूपपन्न हो, वे नाम तो आख्यातज माने जा सकते हैं, यथा—कर्ता, हर्ता, कारक, प्रभृति। किन्तु जहां स्वर-संस्कार अस्पष्ट हों, वे शब्द **आख्यातज** न होकर रूढ (**संविज्ञात**) होते हैं, यथा— गौ, अश्व, पुरुष। यदि सभी नामों को आख्यातज मान लिया जाये, तो प्रत्येक समान क्रिया करने वाले सत्त्व का नाम समान होना चाहिये—प्रत्येक व्यक्ति जो दौड़ता है, 'अश्व' के नाम से पुकारा जाना चाहिये। दूसरे, प्रत्येक **सत्त्व** के उतने नाम होने चाहियें, जितनी क्रियाओं से वह सम्बद्ध हो। एक खम्भे का नाम **स्थूणा** (सीधा खड़ा होने वाला) ही न होकर **दरशया** (गर्त में स्थित) तथा **सञ्जनी** (छत का सहारा) भी होना चाहिये। तीसरे, सभी नामों का व्याकरण के नियमों के अनुसार मूलधातु से स्पष्ट सम्बन्ध होना चाहिये, यथा— '**पुरुष**' का रूप **पुरिशय** होना चाहिये, **अश्व** का **अष्टा**। चौथे, सत्त्व की उत्पत्ति के बाद उससे सम्बद्ध क्रिया को खोजना असंगत है। पृथिवी को फैली हुई देखकर उसे √प्रथ् से जोड़ना अनुचित है। अतः सभी नामों को आख्यातज मानना अयुक्त है। इस तर्क-परम्परा के उत्तर में नैरुक्तों के उत्तर हैं कि—

१. कुछ सत्त्वों के नाम उनकी क्रिया के अनुरूप होते भी हैं, यथा—**तक्षा, परिव्राजक** प्रभृति। किन्तु २. ये नाम उस के बहुविध कार्यों में से प्रधानकार्य के अनुसार होते हैं। 'तक्षा' अनेक कार्य करता हुआ भी अपने प्रधान कार्य के अनुरूप नाम ग्रहण करता है। ३. कई शब्दों को, जो स्वर-संस्कार से सम्पन्न होते हैं, पदार्थों के नामार्थ प्रयुक्त किया भी जाता है, यथा—**व्रतति** (लता) **जागरूक, दर्विहोमी**। ४. कई पदार्थों का नाम भावी क्रिया के अनुरूप रखा जाता है, यथा— **कठफोड़ा**। ५. वस्तु को देखकर भी उसे क्रिया से सम्बद्ध किया जाता है, यथा **पृथिवी** को √**प्रथ्** से। प्रत्येक दौड़ने वाले को **अश्व** क्यों नहीं कहते ? यह तो लोग ही बता सकते हैं कि कैसे कहना चाहिये।

इस प्रकार यास्क ने नामों और आख्यातों के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला है और विरोधीपक्ष के प्रश्नों का उत्तर दिया है। यद्यपि आज भाषा-विज्ञान इस 'धातु सिद्धान्त' को नहीं मानता, तो भी इससे यास्क के प्रतिपादन का महत्त्व कम नहीं हो जाता। उपसर्गों और निपातों का लक्षण न करके उनका 'प्रतिपद-पाठ' ही कर दिया गया है। यास्क ने २० उपसर्ग गिनाये हैं और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उपसर्गों के योग से नामों और आख्यातों के अर्थों में क्या परिवर्तन होते हैं[1]। यह प्रकरण उपसर्गों के अर्थ तथा इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

निपातों के ३ भेद किये गये हैं— **उपमार्थक, कर्मोपसंग्रह** तथा **पदपूरण**[2] किन्तु इनमें कोई स्वरूपगत पार्थक्य नहीं किया जा सकता, उपमार्थक निपात

---

[1] वही १, ३, ४ से आगे।

[2] वही, १, ४, ३।

कर्मोपसंग्रह भी हो सकते हैं और **पदपूरण** भी। **कर्मोपसंग्रह** का लक्षण निरुक्त के उपलब्ध पाठों से स्पष्ट नहीं हो सका। यास्क ने १४ निपात गिनाएं हैं।

इसी प्रसंग में यास्क ने शब्द की नित्यता-अनित्यता का प्रश्न भी उठाया है। औदुम्बरायण के मत में शब्द **'इन्द्रियनित्य'** है अर्थात् अनित्य है। यास्क ने इस मत की परीक्षा करके यह निष्कर्ष निकाला है कि शब्द परमार्थतः नित्य है, किन्तु व्यवहारतः अनित्य[1]। इससे यह प्रकट होता है कि स्फोटवाद के सिद्धान्त की जड़ें यास्क के काल तक फैली हुई थीं।

इसी अध्याय में यास्क ने एक और महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार किया है कि सभी शब्द धातुज हैं या नहीं। गार्ग्य तथा कुछेक वैयाकरण सभी शब्दों को आख्यातज नहीं मानते, किन्तु शाकटायन नामक वैयाकरण तथा नैरुक्त सभी शब्दों का आख्यातज मानते हैं। गार्ग्य के अनुसार जिन शब्दों की व्युत्पत्ति व्याकरण के आधार पर सिद्ध की जा सकती है, वही आख्यातज माने जा सकते हैं, अन्य नहीं। किन्तु शाकटायन, जो एक प्राचीन तथा प्रतिष्ठित वैयाकरण हैं, सभी शब्दों को आख्यातज मानते हैं। इन्हीं के इस सिद्धान्त के अनुसार उणादि सूत्रों की रचना हुई है, जिनके अनुसार सभी शब्दों की व्युत्पत्ति सम्भव है। यास्क ने दोनों पक्षों के तर्क प्रस्तुत करके इसी दूसरे पक्ष को पुष्ट किया है[2] तथा आधुनिक भाषा-शास्त्र के एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। आधुनिक भाषाविज्ञान गार्ग्य के मत की पुष्टि करता है।

यास्क ने निरुक्त-शास्त्र के लक्ष्यों तथा प्रयोजनों पर भी यहीं प्रकाश डाला है। क्योंकि निरुक्त शब्दों के अर्थों को ध्यान में रखकर निर्वचन करता है, अतः निरुक्त के अध्ययन के बिना मन्त्रों के अर्थों की प्रतीति सम्भव नहीं है। मन्त्रार्थ को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही यास्क ने विभिन्न संहिताओं के लगभग ८०० मन्त्रों तथा मन्त्रांशों की व्याख्या की है तथा उन मन्त्रों की भी व्याख्या की है, जो निघण्टु की व्याख्या में सहायक नहीं भी थे।

मन्त्रार्थ करते हुए वे प्रायः या तो कठिन शब्दों के लौकिक पर्याय देते हैं या उनका निर्वचन करके अर्थों को स्पष्ट करते हैं। मन्त्रार्थ या मन्त्रगत शब्दों के स्वरूप या निर्वचन के विषय में मतभेद की अवस्था में वे या तो मतभेद की चर्चा मात्र करके छोड़ देते हैं या उसकी सम्यक् परीक्षा करके अपना निर्णय देते हैं।

इसी प्रसंग में उन्होंने उस समय प्रचलित मन्त्रार्थ की विविध प्रणालियों या पद्धतियों की भी चर्चा की है और अधिदैवत, अधियज्ञ तथा अध्यात्म दृष्टियों

---

[1] वही १, २, १ से आगे।

[2] वही १, १२, २-१, १४, ७।

के अतिरिक्त ऐतिहासिकों, परिव्राजकों तथा नैदानों के दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किये हैं। निरुक्तकार स्वयं अधिदैवत पक्ष के पोषक थे[1]।

इसी अर्थ-प्रसंग में यास्क द्वारा उठाया गया एक महत्त्वपूर्ण विवाद भी विचारणीय है। यास्क के समय तक वेद इतने पुरातन हो चुके थे कि उनकी भाषा को समझने में कठिनाई होने लगी थी तथा अनेक मंत्रों या मन्त्रांशों के अर्थ सन्देहास्पद हो गये थे तथा लोगों में न केवल मन्त्रार्थ-विषयक मतभेद ही उभर आये थे अपितु कुछ लोग इनके सार्थक होने में भी सन्देह करने लगे थे। इन्हीं मतभेदों तथा संशयों की रोकथाम के लिए वैदिक विद्वानों ने प्रातिशाख्यों, अनुक्रमणियों तथा अन्य रचनाओं की सृष्टि की। वैदिक कर्मकाण्डी पुरोहितों ने कर्मकाण्ड को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया कि अर्थ की सर्वथा अवहेलना करके मंत्रपाठ मात्र में पुण्य समझा जाने लगा। ऐसे ही कर्मकाण्डी आंगिरस कौत्स भी थे, जिन्होंने वेदमन्त्रों को अर्थहीन घोषित कर दिया। यास्क ने इनके तर्कों, आक्षेपों तथा निष्कर्ष को चुनौती दी है तथा मंत्रों को सार्थक सिद्ध करके विपक्षियों को करारी फटकार बतायी है[2]। विषय के महत्त्व तथा यास्क की युक्तियों की सबलता का लोहा मानकर पूर्वमीमांसा के प्रणेता आचार्य जैमिनि ने अपने मीमांसादर्शन में इस प्रश्न को पुनः उठा कर यास्क के इस प्रकरण का पूरा प्रयोग किया है[3]।

निरुक्त के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद तक तो ग्रन्थ की भूमिका ही है। द्वितीय पाद से ही निघण्टु भाष्य का कार्य आरम्भ होता है। द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में यास्क ने अपने निर्वचन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जिनका विवेचन हम आगे करेंगे। निरुक्त २. ५ से लेकर तृतीय अध्याय के अन्त तक निघण्टु के **नैघण्टुक काण्ड** में संकलित पर्यायवाची शब्दों के केवल प्रधान-प्रधान शब्दों की व्याख्या तथा निर्वचन को मन्त्रों में अनेक प्रयोगों से पुष्ट करके दर्शाया गया है। इस प्रकरण को यास्क ने शीघ्रता से समाप्त करने का प्रयास किया है।

तीसरे अध्याय में ही औरसपुत्रों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है, जिससे उसके पितृसम्पत्ति में अधिकार तथा पुत्री के अनधिकार के विषय पर भी प्रकाश डालने का अवसर प्राप्त हो गया और इस प्रकार यास्क ने अपने समय में प्रचलित धर्मशास्त्र की विचार-पद्धति पर भी प्रकाश डाला है तथा

---

[1] तु० **'निरुक्तमधिदैवतविषयम्'** (ऋग्० १, १६४ पर आत्मानन्द)।

[2] निरु० १, १५, २—१, १६।

[3] पूर्वमीमांसा, १, २, ३१-५०; कौत्स के इन आक्षेपों के कारण उन्हें वेद-विरोधी घोषित करना उचित नहीं है (द्र० वैदिक भाष्यकार(प्रकरण) तथा *ABORI* १२; पृ० ४०-४९ में के० एम० शेम्बवनेकर का लेख *"Was Kautsa a Sceptic ?"*

अभ्रातृमती कन्या के विवाह के निषेध की चर्चा करके समसामयिक सामाजिक स्थिति पर भी हमारा ध्यान केन्द्रित किया है। इसी प्रसङ्ग में "उत्पन्न होते ही स्त्री को दूर फेंक देते हैं", इस प्रथा की ओर सङ्केत कर दिया है[1]। भारतवर्ष में ही नहीं, संसार की बहुत सी जातियों में (विशेषत: योद्धा जातियों में) लड़कियों को फेंक देने की प्रथा प्रचलित रही है। स्त्रियों को बेचने की प्रथा का उल्लेख भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है[2]।

निघण्टु (३, १३) में संगृहीत उपमावाचक शब्दों की व्याख्या के प्रसङ्ग में यास्क ने अलङ्कारशास्त्र की सर्वप्रथम उद्भावना की है। वास्तव में यास्क के पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य ने ही उपमा का लक्षण किया था, जो आज भी मान्य है[3]। यास्क ने चार प्रकार की उपमाओं का प्रतिपादन किया है—**कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा** और **सिद्धोपमा**,[4] इनके अतिरिक्त **अर्थोपमा** और **लुप्तोपमा** का भी उल्लेख किया है। यह समस्त प्रसंग काव्यशास्त्र की आरम्भिक स्थिति की ओर इंगित करता है।

चौथे से छठे अध्याय तक को **नैगमकाण्ड** कहते हैं, क्योंकि इनमें निघण्टु के चतुर्थ अध्याय (नैगमकाण्ड) की व्याख्या की गयी है, जिसमें स्वतन्त्र शब्दों का संकलन हुआ है। इसे **ऐकपदिक** काण्ड भी कहते हैं। इस काण्ड के प्रत्येक शब्द की व्याख्या की गयी है, क्योंकि इस काण्ड में अनेकार्थक तथा अनवगत-संस्कार शब्द संगृहीत हैं, अत: कठिन हैं, जिन को अवगत कराने के लिए विर्वचन तथा व्याख्या अपेक्षित है। यहां निर्वचन-प्रक्रिया को यास्क ने केवल निघण्टु के शब्दों तक ही सीमित न रखकर प्रसंगवश आये हुए अन्य शब्दों का भी निर्वचन करके मन्त्रों के उद्धरण से उनकी पुष्टि की है। इस प्रकार यास्क मन्त्रों में श्रुत और निघण्टु से बाहर के असंकलित शब्दों तथा उनकी व्याख्या में आये हुए एवं उससे मिलते जुलते शब्दों का भी निर्वचन करते चले गये हैं। अनेकार्थक शब्दों की व्याख्या में उनके प्रत्येक अर्थ को स्पष्ट करने वाले निर्वचन पृथक्-पृथक् करते हैं[5]।

आवश्यकतानुसार अन्य आचार्यों के मत भी जहां-तहां उद्धृत किये गये हैं, यथा—'शिताम' शब्द की व्याख्या में शाकपूणि, तैटीकि तथा गालव इन तीन आचार्यों के मतों को उद्धृत किया गया है[6]।

---

[1] निरु० ३, १ से ३, ६ तक—**तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसमिति च।** (द्र० मै० सं० ४, ६, ४; ७, ९: काठ० सं० २६; ९)।

[2] **स्त्रीणां दानविक्रयोत्सर्गा विद्यन्ते न पुंस:** (३, ४, ३)।

[3] निरु० ३, १३, २२। [4] ३, १५, १ से ३, १७।

[5] द्र० दुर्ग०—**तत्त्वपर्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि।**
निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं नैगमे पदे॥ (निरु० ४, १, १२)

[6] निरु० ४, ३, २।

सप्तम से द्वादश अध्याय तक यास्क ने देवविद्या का प्रतिपादन किया है। इस प्रकरण को उन्होंने दो भागों में विभक्त किया है। एक में तो देवविद्या के आधारभूत सिद्धान्तों तथा मान्यताओं की चर्चा की है[1], दूसरे में दैवतकाण्ड में संकलित देवताओं का स्वरूप-निरूपण किया है[2]।

इस विषय में प्रो० मैक्समूलर ने हेनोथीज़्म या केथैनोथीज़्म के सिद्धान्त का प्रचार किया था, जिसके अनुसार बारी-बारी प्रत्येक देवता अवसर आने पर दूसरे देवताओं से श्रेष्ठ माना जाता है। किन्तु ह्विट्ने तथा हॉप्किंस ने इस मत का विरोध किया था। ऋग्वेद के देवतावाद को मैकडॉनल ने 'बहुदेवतावादात्मक एकदेवतावाद' कहा है, जो निरुक्त की विचारधारा के निकटस्थ है।

देवताओं के स्वरूप पर भी विचार किया गया है। कुछ लोग इन्हें मनुष्याकार मानते हैं, क्योंकि उनकी स्तुतियां सचेतनों के समान की जाती हैं। उनके नाम तथा अंग-प्रत्यंग भी पुरुषों के समान ही वर्णित हैं, पुरुषों के समान ही ये अनेक द्रव्यों को प्रयोग में लाते हैं तथा इनके कर्म भी पुरुषविध ही बताये गये हैं। दूसरे मत के अनुसार देवता अपुरुषविध हैं, क्योंकि ये सभी विशेषताएं तो अचेतन वस्तुओं के साथ भी वेद-मन्त्रों में सम्बद्ध की गयी हैं। हो सकता है कि ये दोनों प्रकार के हों। आख्यानों के विशेषज्ञों के मत में पुरुषविध देवताओं के कर्म के रूप में ही पृथिवी आदि देवता हैं[3]।

आधुनिक विद्वानों में मैकडॉनल ने इस मानवीकरण को केवल छायात्मक माना है, क्योंकि वेदमन्त्रों में प्राकृतिक पदार्थों का ही आलङ्कारिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है, जो उनके प्राकृतिक आधार का लाक्षणिक प्रतिनिधित्व करता है[4]। यास्क ने वैदिक-मन्त्रों की इस विशेषता की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि विशेष-विशेष देवताओं की स्तुति किन्हीं विशेष-विशेष देवताओं के साथ ही की गयी है, जो परस्पर सहचारी देवता कहे जाते हैं।

देवताओं के विषय में इस भूमिका के पश्चात् यास्क ने उनकी व्याख्या आरम्भ कर दी हैं, जो बारहवें अध्याय के अन्त तक चलती है। इस व्याख्या में

---

[1] निरु० ७, १-१३।

[2] वही, ७. १४-१२ वें अध्याय के अन्त तक।

[3] दुर्गाचार्य के अनुसार क्षिति जल आदि कर्मात्मक हैं तथा उनके अधिष्ठातृदेव पुरुषाकार ही हैं। (**अपुरुषविधाः क्षितिजलादयः परे तु अधिष्ठातारः पुरुषविग्रहाः**—निरु० ७,७,८) द्र० वै० मा० (हिन्दी) पृ० २६-३७।

[4] वै० मा० पृ० ३१, निरु० ७, ६।

पहले देवता-निर्वचन किया गया है, तदनन्तर वैदिक-ऋचाओं में उनका प्रयोग दर्शाया गया है। इसी प्रसङ्ग में बहुत सी ऋचाओं की व्याख्या कर दी गयी है, जिसमें उस समय प्रचलित मन्त्रार्थ-सम्बन्धी मतभेदों का भी निर्देश कर दिया गया है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

वेदमन्त्रों में बहुधा देवताओं के स्वाभाविक स्थान तथा कर्म के भिन्न स्थान तथा कर्म का अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन कर दिया जाता है। इन वर्णनों को प्राचीन काल में 'अतिस्तुति' कहा जाता था[1]। परिशिष्ट के १३वें अध्याय में यास्क ने विभिन्न देवताओं के 'अतिस्तुतियों' के मन्त्रों को उद्धृत करके उन देवताओं के स्वरूप तथा गुणों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

परिशिष्ट—निरुक्त के प्रचलित पाठ में कुल १४ अध्याय उपलब्ध होते हैं, जिनमें दो अन्तिम अध्याय परिशिष्ट कहलाते हैं। तेरहवें अध्याय की चर्चा ऊपर हो चुकी है। दूसरे अध्याय में मनुष्य के मरने पर जीव की क्या गति होती है, वह पुनः शरीर कैसे धारण करता है, इत्यादि आध्यात्मिक विषयों पर विचार किया गया है।

इन दो अध्यायों की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। एक मत के अनुसार तो ये दोनों अध्याय यास्ककृत नहीं हैं। दूसरे के अनुसार त्रयोदश अध्याय तो यास्ककृत है, किन्तु चतुर्दश अध्याय किसी अन्य व्यक्ति की रचना है। तीसरे के अनुसार ये दोनों अध्याय यास्ककृत ही हैं। इन मतों का संक्षेप में परीक्षण किया जाता है—

१. दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्तवृत्ति के आरम्भ में निरुक्त का परिमाण बतलाते हुए लिखा है कि पञ्चाध्यायी का यह भाष्य द्वादश अध्यायों में है[2] और दुर्गवृत्ति की पाण्डुलिपियों में त्रयोदश अध्याय पर वृत्ति उपलब्ध भी नहीं है। अतः डा० लक्ष्मण सरूप का निष्कर्ष है कि कि त्रयोदश अध्याय पर उपलब्ध वृत्ति बाद में किसी ने उनके नाम से लिख कर जोड़ दी है[3]।

---

[1] द्र० दुर्ग० निरु० १३, १ पर "… … …**स्वस्वकर्माधिकारातिक्रमेण स्वगुणातिशयेन च यास्ता उपप्रदर्श्याः**"। तथा स्कन्दस्वामी—" .. … …**इहेदानीं कर्मातिक्रमेण गुण-भूयस्त्वेन च प्रदर्शनीयेति। अथेत्यनन्तरमा वक्ष्यमाणा अतिशयवत्यः स्तुत्य इति**… …"। निरु० १३, १; पृ० ४७।

[2] द्र० **अथ च तस्या द्वादशाध्यायी भाष्यविस्तरः**।

[3] द्र० निघण्टु तथा निरु०, भूमिका, पृ० ५२।

'चत्वारि वाक्' (ऋग्० १, १६४) की निरुक्त (१३, ९) तथा महाभाष्य के पस्पशाह्निक में की गयी व्याख्याओं में कुछ शब्द-साम्य के आधार पर स्कोल्ड ने निरुक्त के इस संदर्भ को महाभाष्य के बाद का प्रक्षेप माना है[1]।

२. गोविन्द रामकृष्ण भडकमकर ने सायण के ऋग्वेद के उपोद्घात के साक्ष्य पर तथा अपनी पाण्डुलिपियों के आधार पर निरुक्त के १३, १३ के अन्तिम वाक्य के अन्त तक यास्क की कृति को माना है[2]।

३. भगवद्दत्त ने दोनों अध्यायों को यास्क की रचना सिद्ध करने का प्रयास किया है।

प्रथमत: दुर्ग ने अपनी वृत्ति के उपोद्घात में दी गयी विषय-सूची में निरुक्त के ३७ विषयों को गिनाया है। उनमें अन्तिम दो विषय अर्थात् 'विद्यापरिप्राप्त्युपायोपदेश' तथा मन्त्रार्थ-निर्वचन द्वारा देवता के नाम के निर्वचन के फलस्वरूप **देवताताद्भाव्य** की प्राप्ति त्रयोदश अध्याय के अन्त में ही प्रतिपादित है। दूसरे, विषय-सूची के आरम्भ में दुर्ग ने निरुक्त को **अखिलपुरुषार्थोपकारवृत्तिसमर्थ** कहा है। निरुक्त १३, १३ में भी **अस्या अखिलपुरुषार्थोपकारप्रवृत्तायाः** शब्द मिलते हैं। अत: दुर्ग ने त्रयोदश अध्याय के अन्त तक वृत्ति लिखी थी।

इसके अतिरिक्त वररुचिकृत 'निरुक्तसमुच्चय' में भी निरुक्त १३, १३ को उद्धृत किया गया है तथा दुर्गवृत्ति की बहुत सो पाण्डुलिपियों की पुष्पिकाओं में त्रयोदश अध्याय की समाप्ति पर **सपादसप्तदशाध्यायी ऋज्वर्था नाम निरुक्तवृत्तिः समाप्ता** अथवा **अष्टादशाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः** लिखा मिलता है, जिससे त्रयोदश अध्याय की प्रामाणिकता तो सिद्ध होती ही है, साथ ही एक यह भी संकेत मिलता है कि किसी समय समूचे परिशिष्ट को एक ही अध्याय माना जाता था।

इसके अतिरिक्त दुर्गाचार्य से पूर्ववर्ती स्कन्दस्वामी ने भी त्रयोदश अध्याय १३, १३ को अपने भाष्य (१, २०) में उद्धृत किया है। बाद में अनेक लेखकों ने इस अध्याय को उद्धृत किया है[3]। इस विषय में बृहद्देवता

---

[1] दि निरुक्त, पृ० ७६-७७।

[2] द्र० निरुक्त ऑफ यास्क, भाग २, पृ० ११६७, टि० २।

[3] द्र० कुमारिल भट्ट (तन्त्रवार्तिक १, ३, ७) में निरुक्त १३, १२; उद्गीथ (ऋग्० १०, ७१, ५) पर निरुक्त १३, १३; शां० श्रौ० सू० (५, १, १) पर आनर्तीय भाष्य में १३, १२; सायणभाष्य उपोद्घात में—**समाम्नायः समाम्नातः इत्यारभ्य तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवतीत्यन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे**" लिखा है। इससे यह संकेत मिलता है कि सायण १३वें अध्याय को द्वादश अध्याय का अङ्ग मानते थे।

(८, १२९) तथा निरुक्त (१३, १२) में शब्दसाम्य ध्यान देने योग्य है[1]। इससे यह सिद्ध होता है कि त्रयोदश अध्याय बहुत प्राचीन काल से ही भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा निरुक्त के अभिन्न अंग के रूप में यास्क द्वारा निर्मित माना जाता रहा है।

चतुर्दश अध्याय के विषय में भी तां० ब्रा० (४, ८, ३) के सायण भाष्य में निरुक्त (१४, ६) का उद्धरण, ऋग्० १, १६४, २० के भाष्य में इस मन्त्र की 'निरुक्त'-कृत व्याख्या (१४, ३०) की ओर सङ्केत,[2] याज्ञवल्क्यस्मृति (३, ८३) पर टीका में विज्ञानेश्वर द्वारा उद्धृत तीन श्लोक (निरु० १४, ६), दुर्ग द्वारा "निरुक्तं चतुर्दशधा" का उल्लेख, ये सभी चतुर्दश अध्याय की कम से कम चौदहवीं शताब्दी में यास्क की रचना के रूप में मान्यता को प्रमाणित करते हैं। किन्तु दुर्ग तथा स्कन्द-महेश्वर की इस अध्याय पर टीकाओं का अभाव खटकता है। अतः इस विषय में प्राचीन प्रमाणों के अभाव में तथा इस अध्याय में प्रतिपादित विषय का निरुक्त-शास्त्र से असम्बद्ध होने के कारण इसे निरुक्त का अङ्ग नहीं माना जा सकता।

---

[1] न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम्। (बृ०दे०) तथा नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा (निरुक्त)।

[2] निरुक्ते गतमस्य मन्त्रस्य व्याख्यानमनुसन्धेयम् (कात्यायन० सर्वानु० द्र०)।

एकादश अध्याय

निरुक्त का देवतावाद

यास्क ने जहां निरुक्तियों तथा तत्सम्बन्धी विषयों पर अपने विचारों से हमें लाभान्वित किया है, वहां अपनी कृति के उत्तरार्ध में वैदिक देवताओं के प्रकार, स्वरूप, कर्म, साहचर्य प्रभृति अनेक विषयों पर प्रकाश डालकर अपने समय में प्रचलित देवतावाद के विविध पक्षों को हमारे समक्ष उजागर कर दिया है। वैदिक-परम्परा के अनुसार प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, देवता तथा छन्द का ज्ञान परमावश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। इनके सम्यग् ज्ञान के बिना वेदार्थ को आत्मसात् करना दुष्कर कार्य माना जाता है[१]। ऋषियों की मन्त्र-दृष्टियों में उन मन्त्रों में अन्तर्हित अभिप्रायों तथा उनमें प्रतिपादित विविध कर्मकलापों के वास्तविक महत्त्व को समझने के लिए भी देवता-ज्ञान परमावश्यक है, क्योंकि कर्मकलाप की अन्तिम परिणति देवताधीन होने के कारण दैवतज्ञान को हृदयङ्गम किये बिना लौकिक तथा वैदिक कर्मों का फल प्राप्त नहीं हो सकता[२]।

एक स्मृतिवचन के अनुसार तो ऋषि, छन्द तथा देवता के ज्ञान के बिना मन्त्रों का प्रयोक्ता 'मन्त्रकण्टक' तथा 'यागकण्टक' कहलाता है[३]।

कात्यायन ने मन्त्रगत देवता की परिभाषा इस प्रकार की है, **'यस्य वाक्यं स ऋषिः, या तेनोच्यते सा देवता'**[४], जिसका मन्त्र होता है, वह ऋषि कहलाता है तथा जिसके विषय में कहा जाता है वह उस मन्त्र का देवता होता है। यह परिभाषा यास्क के इस वचन पर आधृत है—**'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति'**[५]।

---

१. **वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।**
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमधिगच्छति (बृ० दे० १, २)॥

२. बृ० दे० १, ३-४; २१; ऋग् विधान, १, २, १, निरु० ७, ३, ८—
एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्मन्त्रदृष्टयो भवन्ति।

३. सर्वानु० १, २ तथा उस पर षड्गुरुशिष्य का भाष्य।

४. सर्वानु० २, ४-५।

५. निरु० ७, १, ४; बृ० दे० १, ६; मुइर, संस्टेक्स्ट० भाग २, पृ० १९५; सर्वानु० २, ४-५—**यस्य वाक्यं स ऋषि र्या तेनोच्यते सा देवता।**

जिस किसी कामना से प्रेरित ऋषि जिस देवता के निमित्त अपने अभीष्ट स्वामित्व को चाहता हुआ स्तुति का प्रयोग करता है, उसी देवता-विषयक वह मन्त्र होता है।

किन्तु वे मन्त्र, जिनके देवता की पहचान की जाती है, तीन प्रकार के होते हैं—एक वे जिनमें देवताओं को परोक्षरूपेण सम्बोधित किया जाता है, द्वितीय वे, जिनमें उन्हें प्रत्यक्षरूपेण सम्बोधित किया जाता है, तृतीय वे, जिनमें देवता स्वयं अपने विषय में कुछ कहता है।

प्रथम प्रकार के मन्त्रों में देवता की स्तुति में सब विभक्तियों का प्रयोग किया जाता है। यथा—

(१) **'इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः'** (ऋग्० १०, ८९, १०)।
इन्द्र द्युलोक पर शासन करता है, तथा पृथिवी पर (भी)।

(२) **'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्** ··· ···' (ऋग् १, ७, १)।
गाथागायक इन्द्र का बहुत (स्तवन करते हैं)।

(३) **'इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणाः'** (ऋग्० ७, १८, १५)।
इन्द्र के साथ सक्रिय होते हुए ये तृत्सु लोग ···।

(४) **'इन्द्राय पवते मदः'** (ऋग्० ९, १०७, १७)।
इन्द्र के लिए सोम पवित्र होता है।

(५) **'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन'** (ऋग्० ९, ६९, ६)।
इन्द्र के बिना कोई स्थान पवित्र नहीं होता इत्यादि[1]।

द्वितीय प्रकार के मन्त्रों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) **'त्वमिन्द्र बलादधि'** (ऋग्० ९, १५३, २)।
हे इन्द्र! तू शक्ति से उत्पन्न हुआ है।

(२) **वि न इन्द्र मृधो जहि** (ऋग्० १०, १५२, ४)।
हे इन्द्र! हमारे शत्रुओं का वध कर।

तृतीय प्रकार के मन्त्रों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) **अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।**
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥
(ऋग्० १०, १२५, १)

---

[1] तु० रॉथ, Nir, Erlanterungen, p. 100.

मैं (वागाम्भृणी) रुद्रों, वसुओं, आदित्यों तथा विश्वदेवों के साथ विचरती हूँ। मैं मित्र तथा वरुण, दोनों को उठाये रहती हूँ, तथा इन्द्र, अग्नि एवं अश्विनी कुमारों को (भी)।

(२) अभिद्यां महिना भुवमभी३मां पृथिवीं महीम् । कुवित्सोमस्यापामिति ।
(ऋग्० १०, ११९, ८)

'मैंने अपनी महिमा से द्युलोक तथा इस विशाल पृथिवीलोक (दोनों) का अतिक्रमण कर लिया है। क्या मैं ने सोमरस का पान नहीं किया ?'

(३) अहं स यो नववास्त्वं बृहद्रथं सं वृत्रेव दासं वृत्रहारुजम् ।
यद् वर्धयन्तं प्रथयन्तमानुषग् दूरे पारे रजसो रोचना करम् ॥
(ऋग्० १०, ४९, ६)

'मैं वह हूँ, जिसने विशाल रथ वाले दास नववास्त्व को इस प्रकार कुचल दिया है, जैसे वृत्रहा (इन्द्र) दस्युओं को (कुचल देता है)। जब मैं ज्योति के प्रवर्धक तथा विस्तारक को सीधा उस लोक से दूर ले आया'। इस मन्त्र में ऋषि अपने ही विषय में चर्चा करते हैं। अतः यास्क, शौनक और कात्यायन तीनों के लक्षणानुसार वे स्वयं ही मन्त्र के देवता हैं। किन्तु यास्क का लक्षण यहा सटीक नहीं बैठता और अव्याप्ति-दोष से दूषित है, क्योंकि यहां किसी भी सूक्त में मन्त्रद्रष्टा ऋषि की कामना व्यक्त नहीं की गयी, अपितु अपनी व्यक्तिगत शक्ति तथा विशेषताओं को उभारा गया है।

यद्यपि यास्क ने यहां देवता का स्पष्ट एवं सर्वथा निर्दोष लक्षण नहीं किया, तो भी तिर्यग्रूपेण अपना अभिप्राय व्यक्त कर दिया है।

वैदिक देवतावाद के सम्बन्ध में यास्क के समक्ष कई सम्प्रदाय उपस्थित थे, यथा—पूर्व याज्ञिक, याज्ञिक, नैरुक्त, ऐतिहासिक तथा अध्यात्मवादी, परिव्राजक, आख्यानसमय, नैदान तथा आर्ष। इनमें से यास्क ने दो पक्षों को ही प्रमुखता प्रदान की है। वे हैं, याज्ञिक तथा नैरुक्त, तथा इस प्रसंग में इन दो सम्प्रदायों के परस्पर विरोधी विचारों को प्राधान्येन प्रस्तुत किया गया है।

वैदिक देवताओं की संख्या के विषय में स्वयं ऋग्वेद में ही विरोधाभासों की कमी नहीं है। यह दूसरी बात है कि भाष्यकारों तथा व्याख्याकारों ने इन विरोधाभासों के समाधान प्रस्तुत करने के भरसक प्रयत्न किये हैं। एक स्थान पर इनकी संख्या अग्नि के अतिरिक्त ३३३९ बतायी गयी है—

त्रीणि शता त्रिसहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् ।
(ऋग्० ३, ९, ९)

तीन सहस्र तीन सौ उन्तालीस देवताओं ने अग्नि की सेवा की।

अन्यत्र द्यौ, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी इन तीनों लोकों में ग्यारह ग्यारह देवताओं की सत्ता की चर्चा की गयी है—

ये देवा दिव्येकादशस्थ, पृथिव्यामेकादशस्थ अप्सु क्षितौ महिनैकादशस्थ
(ऋग्० १, १३९, ११)

यहां भी ३४ वां अग्नि इनके अतिरिक्त है।

अथर्ववेद में भी देवताओं को तीन स्थानों में विभक्त किया गया गया है—
ये देवा दिविष्ठा ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्षे (अथर्व० १, ३०, ३)

तथा—

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये चेमे भूम्यामधि।
(अथर्व० १०, ९, १२)

विभिन्न दृष्टियों से निरूपित अनैकमत्यपूर्ण यही परम्परा ब्राह्मणग्रन्थों में दृग्गोचर होती है। (ऐ० ब्रा० १, १०; २, १८) में ३३ सोमपा देवता परिगणित हैं, तो ३३ असोमपा भी गिनाये गये हैं। सोमपा देवताओं के अन्तर्गत आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, प्रजापति तथा वषट्कार हैं, जो ऋग्वेद के उपरिनिर्दिष्ट ३४ देवताओं से मेल नहीं खाते, क्योंकि यहां वसु इन्द्र के साथी होने के कारण मध्यस्थानीय देवता हैं[1]। वहां रुद्र तो अन्तरिक्ष-स्थानीय माने ही जाते हैं। इस प्रकार १९ देवता अन्तरिक्ष-स्थानीय ठहरते हैं, १२ आदित्य द्युस्थानीय हैं ही। पृथिवीस्थानीय एक भी नहीं बैठता।

३३ असोमपा देवता हैं—११ प्रयाज, ११ अनुयाज, ११ उपयाज। यास्क ने भी इस विषय में अपनी परम्परा का पालन करते हुए निघण्टु के पञ्चम अध्याय में समाम्नात १५१ देवताओं को पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ, इन तीन स्थानों में विभक्त किया है, तो भी इस बहुदेवतावाद का समाहार 'एक आत्मवाद' में किया गया है। संख्या के इस गोरखधन्धे में से निकलने के लिए यास्क ने ऋग्वेद का आंचल थाम लेना ही श्रेयस्कर समझा, जहां तीन देवताओं तथा उनके स्थानों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है—

---

[1] तु० **शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुण: सुशंस:।**
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाष: शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु॥
(ऋग् ७, ३५, ६)

यद्यपि यह मन्त्र देवता-स्थान के विषय में प्रमाण नहीं हो सकता, तो भी अन्यत्र प्राप्त साक्ष्य की पुष्टि कर सकता है।

सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात् अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः ।
(ऋग्० १०, १५८, १)

'सूर्य द्युलोक से, वायु अन्तरिक्षलोक से तथा अग्नि पार्थिव तत्त्वों से हमारी रक्षा करे'। यास्क ने भी अग्नि, इन्द्र या वायु तथा सूर्य इन तीन को ही मुख्य देवताओं के रूप में मान्यता प्रदान की हैं[1]। अन्य देवताओं को इन तीनों के ही रूपान्तर स्वीकार किया है। किन्तु ऋग्वेद में ही इन सभी देवताओं का समाहार अन्त में एक ही देवता में कर दिया गया है—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।
(ऋग्० १, १६४, ४६)

अर्थात् 'एक ही सत्ता को विद्वान् लोग अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं, उसे अग्नि, यम, मातरिश्वा (प्रभृति) कहते हैं'। इस प्रसंग में यह जानना भी उपयोगी होगा कि यहां जिस 'एक ही सत्ता' का उल्लेख किया गया है, वह 'सूर्यदेव' ही है। अर्थात् यहां ऋषि ने 'सूर्य' को ही परमसत्ता के रूप में स्वीकार किया है[2]।

रूपं रूपं मघवा बोभवीति, मायाः कृण्वानस्तन्वं परिस्वाम् ।
(ऋग् ३, ५३, ८)

अर्थात् 'अपने शरीर में मायावी परिवर्तन करता हुआ इन्द्र, इच्छानुसार भिन्न-भिन्न रूप धारण करता रहता है—

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।
(ऋग्० १०, ११४, ५)

अर्थात् उत्प्रेरित कवि एक सुन्दर पंखों वाले (व्यक्ति) की अनेक प्रकार से कल्पना करते हैं—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ (ऋग्० १०, ९०, २)

भूत और भविष्यत्, जो कुछ भी है, वह सब यह पुरुष ही है। (वह) अमरत्व का स्वामी है, जो अन्न से अतिरोहण करता है।

---

[1] ऐ०ब्रा० २, १७ ; कौ० ब्रा० ८, ८ ।

[2] **एकैव वा महानात्मा देवता, सा च सूर्यः** (सर्वा० २, १४) ।
तु० बृ० दे० **अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः** (६१)
असतश्च सतश्चैव योनिरेषा प्रजापतिः (६२)

अथवा—

हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

(ऋग् १०, १२१, १)

'हिरण्यगर्भ ही सर्वप्रथम उत्पन्न समस्त संसार का एक स्वामी था' ।

अथवा—

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मां देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥

(ऋग् १०, १२५, ३)

'मैं ही सम्पत्तियों की संग्राहक, सर्वज्ञा, यज्ञ के योग्य देवताओं में मुख्य हूं। देवताओं ने मुझे बहुत्र अवस्थित तथा बहुत करने वाली बना दिया' ।

अथर्ववेद का व्रात्यकाण्ड तथा उच्छिष्ट काण्ड (११, ७) एकात्मवाद के निदर्शन हैं।

इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने अनेकता में एकता को स्थापित करके उस महान् दर्शनशास्त्र की आधारशिला रख दी थी, जिसके ऊपर पश्चात्कालिक समस्त भारतीयदर्शन का विशाल भवन खड़ा किया गया। इन्हीं मन्त्रों के आधार पर ब्राह्मणों ने भी अनेक देवतावाद का समाहार एकात्मवाद में कर दिया[1] । यास्क ने भी अन्ततोगत्वा सभी देवताओं को एक ही आत्मा के प्रत्यंगों के रूप में स्वीकार कर इस समस्या का समाधान कर दिया[2] ।

इस प्रकार यास्क ने व्यावहारिक दृष्टि से तीन देवता का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया, किन्तु तात्त्विकदृष्टि से एक ही 'आत्मा' को अन्तिम तत्त्व के रूप में मान्यता प्रदान की। ऐ० ब्रा० (४, १०) के अनुसार अग्नि सबसे नीचा देवता है, तो विष्णु सर्वोच्च, शेष देवता इन दोनों के मध्यवर्ती हैं।

किन्तु यास्कीय देवता जहां एक ओर ऋग्वेदोय अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, आदित्य प्रभृति भौतिक शक्तियां हैं, वहां दूसरी ओर वैदिक कर्मकाण्ड से सम्बद्ध अनुयाज, प्रयाज, इध्म, उलूखल, मुसल, ग्रावा, हविर्धान-सदृश उपकरण तथा इन्द्र आदि देवताओं के रथ, दुन्दुभि, धनुष, इषु, ज्या, हस्तघ्न जैसे उपकरण, एवं नदियां

---

[1] श० ब्रा० ११, ६, ३, ४।

[2] **माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते । एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति** (निरु० ७, ४; सर्वानु० २, ११; १४); **तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति** (निरु० ७, ५)।

ओषधियां, शकुनि, अरण्यानी-सदृश पदार्थ भी देवता पद से अलङ्कृत किये गये हैं।

जहां निर्वचन तथा देवता के आकार प्रभृति के चिन्तन के क्षेत्र में यास्क ने याज्ञिकों को प्रतिपक्षी के रूप में लताड़ा है[1], वहां देवतापदवाच्य पदार्थों तथा कुछ एक समीकरणों के क्षेत्र में वह न केवल उन्हीं के साथ हाथ मिलाने को तत्पर दृष्टिगोचर होते हैं, अपितु उनके पदानुग कहलाने में भी हिचकते नहीं। सम्भव है कि निघण्टु में पठित शब्दों के अनुक्रम का अनुसरण करने के अतिरिक्त उनके पास कोई चारा न हो। किन्तु हम समझते हैं कि उन्होंने एकात्मवाद के सहारे इन सभी शंकाओं को निरस्त कर दिया है।

मन्त्र में उपस्तुत, वर्णित व चर्चित कोई भी पदार्थ यास्क के लिए देवता-पदाभिधेय वस्तु के गौरव का आस्पद बन गया है, यह हम कह चुके हैं। फिर भी प्रधान देवता तीन ही माने गये हैं, पृथिवीस्थानीय अग्नि, अन्तरिक्षस्थानीय इन्द्र अथवा वायु तथा द्युस्थानीय सूर्य। इन तीनों की ही महिमा के कारण तथा कर्मों की भिन्नता के कारण इन के अवान्तर भेदों-प्रभेदों के रूप में देवतान्तर उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नामों से पुकारे जाने लगे, यथा एक ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न कर्म करने के परिणाम स्वरूप होता, अध्वर्यु ब्रह्मा तथा उद्गाता जैसे भिन्न भिन्न नामों से अभिहित किया जाता है[2]।

तनिक और सूक्ष्मता से विचार करने पर पता चलता है कि इन तीन देवताओं के मूल में एक ही 'आत्मा' निहित है। कात्यायन के अनुसार वह एक आत्मा सूर्य है[3]। ऋग्वेद में कहा भी है—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (ऋग्० १, ११५, १)।

'सूर्य चराचर जगत् का अन्तरात्मा है'। अन्य देवता उसी की विभूतियां हैं[4]। यह सूर्य ही प्रजापति है, जिसे शाश्वत ब्रह्म तथा अक्षर कहा जाता है[5]। यह

---

[1] तु० **याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति। तदेतेनोपेक्षितव्यम्। ते चेद् ब्रूयुः लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति**……… (निरु० १, १७)।

[2] निरु०, ७,५; बृ० दे० (१, ७१) **तासामियं विभूतिर्हि नामानि यदनेकशः**; सर्वानु० २, १२; द्र० बृ० दे० २, २४-२५।

[3] सर्वानु० २, १३।

[4] वही, २, १४-२०।

[5] बृ० दे० १, ६२।

सूर्य हो स्वयं को तोन भागों में विभक्त करके तीनों लोकों में प्रतिष्ठित है और यही अन्य देवताओं को यथाक्रम अपनी रश्मियों में सन्निविष्ट रखता है[1]। कात्यायन ने यहाँ यास्क[2] के अभिप्राय का स्पष्ट उद्‌घाटन करके हमारे समक्ष रख दिया है।

मूल प्रकृति या मूल देवता की अनेकविध महिमा के कारण कार्यकारण की अनन्यता को स्वीकार करते हुए ऋषि लोग उन देवताओं के रथ, अश्व प्रभृति की स्तुति के माध्यम से देवता की ही उसी प्रकार स्तुति करते हैं, यथा किसी राजा के रथों, अश्वों, आयुधों तथा सैनिकों की प्रशंसा के माध्यम से राजा की ही प्रशंसा की जाती है। याज्ञिकों के अनुसार देवता पृथक्-पृथक् भी हो सकते हैं, क्योंकि इनकी स्तुतियां तथा नाम भिन्न-भिन्न हैं।

कर्म-पृथक्त्व के कारण एक व्यक्ति के अनेक अभिधानों की सम्भावना के विषय में यह भी सम्भव है कि अनेक व्यक्ति कर्मों का विभाजन करके भिन्न-भिन्न कर्मों को पृथक्-पृथक् करें। उस अवस्था में उनका स्थान तथा सम्भोग एक ही हो सकता है, यथा—एक ही पृथिवी पर मनुष्य, पशु तथा देवता निवास करते हैं तथा पर्जन्य, वायु एवम् आदित्य सभी एक ही पृथिवी का भिन्न-भिन्न प्रकार से भोग करते हैं। यह सब उसी प्रकार सम्भव है, जैसे एक ही राष्ट्र के भिन्न-भिन्न लोग एक ही देश में निवास करते हुए वहां के पदार्थों को भिन्न-भिन्न प्रकार से किन्तु सम्मिलित रूप में उपभोग करते हैं[3]।

इन देवताओं का जन्म कैसे हुआ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए यास्क ने कहा है कि इनकी महिमाशालिनी प्रकृति का हो प्रभाव है कि वे एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं। यथा प्रातःकाल में सूर्य अग्नि से उत्पन्न होता है, तो सायंकाल में सूर्य से अग्नि। स्वयं ऋग्वेद के ऋषि ने इस तथ्य का सूक्ष्मेक्षण करके इसका अनेक प्रकार से निरूपण किया है।

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।
(ऋग्० १०, ८८, ६)

त्वमग्ने वरुणो जायसे त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः।
(ऋग्० ५, ३, १)

स वरुणः सायमग्निर्भवति, स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्[4]।
(अथर्व० १३, ३, १३)

---

[1] बृ० दे० १, ६३।

[2] निरु० ७, ४, ९।

[3] निरु० ७, ५, 'नरराष्ट्रमिव'।

[4] तु० 'एष प्रातः प्रभुवति। इति ह विज्ञायते'।

'यह अग्नि सायंकाल में वरुण बन जाता है, वह प्रातः उदय होता हुआ मित्र बन जाता है'।

उत्पत्ति—देवताओं की उत्पत्ति के विषय में विविध विचार व्यक्त किये गये हैं, यथा—

अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि (ऋग्० १०, ७२, ४)।

'अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ और दक्ष से अदिति'[1]।

परि प्रजातः क्रत्वा बभूथ भुवो देवानां पिता पुत्रः सन् (ऋग्० १,६९,१)।

एक अन्य विचार के अनुसार देवताओं का जन्म कर्म से होता है[2]। कर्मों के अनुसार देवताओं की सत्ता तथा नामरूप प्रसिद्ध हो जाते हैं। एक ही द्युस्थानीय देवता सरण करने के कारण 'सूर्य' कहलाता है। दिन का निर्माण करने के कारण 'दिवाकर', अपनी रश्मियों से समस्त जगत् को व्याप्त करने के कारण 'विष्णु', सबका प्रेरक होने के कारण 'सविता' तथा अदिति से उत्पन्न होने के कारण 'आदित्य' के नाम से अभिहित होता है।

अथवा इनका जन्म देवाधिदेव सर्वभूतात्मा से होता है[3]। इनके रथ, अश्व, आयुध सभी कुछ आत्मा ही हैं। देवताओं के इन उपकरणों की सत्ता उनकी आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। आत्मा ही उनका सर्वस्व है[4]। ये सभी आत्म-स्वरूप हैं।

इसकी स्पष्ट व्याख्या बृ० दे० (१, ७४) ने इस प्रकार की है—

तेजस्त्वेवायुधं प्राहुर्वाहनञ्चैव यस्य तत्।

इन देवताओं का **आकार** क्या है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए यास्क ने कई विकल्प प्रस्तुत किये हैं। कुछ लोगों की सम्मति में ये 'पुरुषाकार' हैं, क्योंकि ऋषियों ने अपनी स्तुतियों में इन का पुरुषविध ही वर्णन किया है तथा पुरुषविध अभिधानों से ही इन्हें स्मरण किया है। पुरुषांगों के समान ही देवतांगों की भी प्रशंसा की गयी है—

---

[1] तथा—'**अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव** (ऋग्० १०, ७२, ५)।

[2] तु० '**कर्मफलसिद्धये लोकस्य अग्निवायुसूर्या जायन्ते, नह्येतेभ्य ऋते लोकस्य कर्मफलसिद्धिः स्यात्** (दुर्ग० निरु० ७, ४, १३ पर)।

किन्तु यहां दुर्ग की व्याख्या समीचीन प्रतीत नहीं होती।

[3] निरु० ७, ४, १४।

[4] वही, ७, ४, १५; बृ० दे० २, २३।

ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू (ऋग्० ६, ४७, ८)।

'हे इन्द्र ! तुझ बलवान् की भुजाएं महिमाशाली हैं'।

यत् सङ्गृभ्णा मघवन् काशिरित्ते (ऋग्० ३, ३०, ५)।

'हे मघवन् ! वह (द्युलोक तथा पृथिवी लोक), जिन्हें तू ने पकड़ रखा है, तेरी मुट्ठी में हैं'[1]।

देवताओं से सम्बद्ध पदार्थों की स्तुति भी पुरुषों द्वारा प्रयोज्य पदार्थों की स्तुति के समान ही की गयी है—

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि (ऋग्० २, १८, ४)।

'हे इन्द्र ! तू कत्थई वर्ण के दो अश्वों के साथ आ'।

कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते (ऋग्० ३, ५३, ६)।

'तेरे गृह में सुन्दरी पत्नी तथा रमणीय वस्तुजात है'।

मन्त्रों में उनके कर्मों का वर्णन भी **पुरुषकर्मवत्** ही किया गया हैं—

अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य (ऋग्० १, ११६, ७)।

'हे इन्द्र ! तू सम्मुख प्रस्तुत (पदार्थ) का भक्षण तथा पान कर।

आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम् (ऋग्० १, १०, ९)।

'हे श्रवणशक्तिसम्पन्न कानों वाले ! हमारी पुकार को सुन'[2]।

इसके विपरीत विरोधी पक्ष के अपने तर्क हैं, जिनके आधार पर देवताओं को अपुरुषविध सिद्ध करने का प्रयास किया गया है । अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी, चन्द्रमा प्रभृति स्पष्ट ही अपुरुषविध दिखायी पड़ते हैं। जो यह कहा गया है कि इनकी स्तुतियां पुरुषविध की गयी हैं, इस का सीधा प्रत्युत्तर यह है कि अचेतन वस्तुओं की स्तुतियां भी चेतनवत् ही की जाती हैं। अक्ष प्रभृति ओषधि-पर्यन्त सभी पदार्थों के सम्बन्ध में वेदवचन यही प्रमाणित करते हैं । रथ को सम्बोधित करके ऋषि कहते हैं—

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।
(ऋग्० ६, ४७, २६)

'हे वनस्पते ! तू दृढांग बन जा । तू हमारा पार लगाने वाला कल्याणकारी वीर है'[3]।

---

[1] निरु० ७, ६, १-५ ।

[2] निरु० ७, ६, ६-७ ।

[3] निरु० ९, २ ।

यह तर्क भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि पुरुषविध अंगों से युक्त वर्णित होने के कारण देवता पुरुषविध हैं, क्योंकि अचेतन वस्तुओं का वर्णन भी पुरुषविध अंगों से युक्त व्यक्ति के समान किया जाता है। यथा—सोमादि के पेषणार्थ प्रयोज्य प्रस्तरों के वर्णन में कहा गया है—

अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः (ऋग्० १०, ९४, २)।

'ये प्रस्तर हरितवर्ण मुखों से क्रन्दन करते हैं'।

देवताओं के पुरुषविध उपकरणों से युक्त होने की युक्ति भी अग्राह्य है। अचेतन वस्तुओं का भी ऐसा ही वर्णन वेद में पाया जाता है। नदी की स्तुति करते हुए ऋषि कहते हैं—

सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम् (ऋग्० १०, ७५, ९)।

'सिन्धु नदी ने सुखद, अश्वों से खींचे जाने वाले रथ को जोता'।

देवताओं के पुरुषविध कर्मों से युक्त होने की युक्ति भी निस्सार है, क्योंकि अचेतन पदार्थों का वर्णन भी इसी प्रकार किया जाता है—सोमाभिषवणार्थ प्रयोज्य ग्रावा तथा अभिषवणफलक के प्रसंग में कहा गया है—

होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत (ऋग्० १०, ९४, २)।

'होता से भी पूर्व वे स्वादिष्ट हविष् का स्वाद ले लेते हैं'[1]।

इस प्रकार की युक्ति-प्रतियुक्ति के झमेले में से निकलने के लिए प्रतिपक्ष ने एक विचार यह व्यक्त किया कि फिर देवता को पुरुषविध तथा अपुरुषविध दोनों प्रकार का मान लेना ही श्रेयस्कर है[2]। पुराण-इतिहास आदि शास्त्रों का अभिमत भी यही है। प्रत्यक्षतः अपुरुषविध होते हुए भी पृथिवी पापियों के भार से आक्रान्त होकर इस बोझ से मुक्त होने के लिए प्रार्थना करती स्त्री के रूप में वर्णित की गयी है। इसी प्रकार अग्निदेव ने पुरुषरूप में ही श्रीकृष्ण तथा अर्जुन से खाण्डववन के दाहार्थ प्रार्थना की थी।

अन्त में यास्क ने अपना निर्णायक मत व्यक्त करते हुए कहा कि देवता वस्तुतः पुरुषविध ही हैं, केवल कर्मात्मक रूप में दृश्य होने के कारण वे अपुरुषविध प्रतीत होते हैं। यथा—यज्ञकर्म से एकीभाव के कारण यजमान को

---

[1] निरु० ७, ७, १-६।

[2] निरु० ७, ७, ७।

यज्ञ के रूप में देखा जाता है[1] । इस विषय का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए दुर्ग० ने कहा है कि सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथिवी, अग्नि आदि तो देवताओं के कर्मरूप हैं, किन्तु इनके अभिमानी देवता ही वास्तविक देवता हैं, जो पुरुषविध हैं[2] ।

यास्क ने अग्नि, इन्द्र या वायु तथा सूर्य, इन तीन देवताओं के द्वारा सेव्य लोकों, पदार्थों, सवनों, ऋतुओं, छन्दों, स्तोमों, सामों, कर्मों तथा इनके सहचारी देवताओं का विवरण भी प्रस्तुत किया है ।

यद्यपि अग्नि का मुख्य स्थान पृथिवीलोक है, तो भी मध्य (अन्तरिक्ष) लोक में अवस्थित विद्युत् तथा द्युलोक में विराजमान आदित्य भी अग्नि के रूपान्तर हैं। ब्राह्मण ने भी कहा है—**अग्निः सर्वाः देवताः**—'सभी देवता अग्नि स्वरूप ही हैं'। तो भी जिस अग्नि का वैदिक सूक्तों में प्रधान वर्णन किया गया है और जिस को यज्ञ में हविष् प्रदान की जाती है, वह यही पार्थिव अग्नि है। अन्य दोनों को गौणरूप में 'अग्नि' पदवाच्य मान लिया गया है[3]। अग्नि को ही 'अदिति' भी कहा गया है[4] तथा आदित्य को दक्ष[5]। इससे **अदितेर्दक्षो अजायत, दक्षाद्वदितिः परि** (ऋग्० १०, ७२, ४) की पहेली बोधगम्य हो जाती है।

प्रस्तुत प्रसंग में पार्थिव अग्नि की चर्चा ही अभीष्ट है।

इसका स्थान पृथिवी है, सोमयाग में प्रातःसवन में प्रधान देवता होने के कारण प्रातःसवन से इसका विशेष सम्बन्ध है। **अग्न्याधान** का प्रधान देवता तथा वसन्त-ऋतु[6] में विधान होने के कारण वसन्त-ऋतु भी अग्नि से सम्बद्ध है। अग्नि के अधिकांश मन्त्र गायत्री छन्द में रचित होने के कारण गायत्री को अग्नि से जोड़ दिया गया है। इसी प्रकार त्रिवृत् स्तोम, रथन्तर साम का सम्बन्ध मुख्यरूपेण अग्निसम्बन्धी कर्मों से होने के कारण ये **अग्नि-भक्ति** कहलाते हैं।

---

[1] यहाँ **'अपिवाऽपुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः'** पाठ स्वीकार करके शिवनारायण तथा ब्रह्ममुनि ने यहां सिद्धान्त रूप में देवताओं को अपुरुषविध ही स्वीकार किया है, जो दुर्गाचार्य के विचार के विरुद्ध है (निरुक्त के पांच अध्याय, पृ० ५५८-५९)।

[2] तु० मैकडानल, वैदिक देवशास्त्र, पृ० १५-२० ; देवताओं के आकार—चिन्तन के विषय में द्र० निरु० ७, ५-७ ।

[3] निरु० ७, १७, १-१८-२ ; १०, ३५, २ ; तु० वही ११, २३, ५; बृ०दे० १,९१-९५।

[4] निरु० ११, २३, ५।

[5] वही, ११, २३, २।

[6] **वसन्ते वसन्ते अग्नीनादधीत** ।

एवमेव आप्री देवता, अक्ष, ग्रावा प्रभृति अन्य पार्थिव देवगण अग्नि के सहचारी माने जाते हैं[1]। अग्नायी, पृथिवी, इळा स्त्रीदेवता भी इसकी सहचरियां हैं[2]। इनके अतिरिक्त शरद् ऋतु, अनुष्टुप् छन्द, एकविंश स्तोम, वैराज साम[3] भी अग्नि से सम्बद्ध पृथिवीस्थानीय पदार्थ ही हैं।

अग्नि देवता का मुख्य कर्म यज्ञ में प्रदत्त आहुतियों को देवताओं तक पहुंचाना तथा मन्त्राहूत देवताओं को यज्ञस्थल में ले आना तथा प्रकाश का प्रसारण है[4]।

इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि आप्रीसूक्त के देवताओं के अन्तर्गत उषा, नक्त, भारती तथा सरस्वती पार्थिव न होती हुई भी आप्री देवताओं में परिगणित होने के कारण पृथिवीस्थानीय देवताओं के अन्तर्गत संकलित हैं। यहां पृथिवीस्थानीय देवता वस्तुतः केवल पृथिवी इळा तथा अग्नायी हैं।

वैदिक मन्त्रों में जिन देवताओं के साथ किसी देवता की स्तुति की गयी है, उन्हें यास्क ने 'संस्तविक' देव की संज्ञा प्रदान की है। अग्नि के 'संस्तविक' देवता इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य तथा ऋतुएं हैं[5]।

आग्नावैष्णव तथा आग्नापौष्ण का संस्तवन करने वाली एक भी ऋचा ऋग्वेद में (दशतयी) में नहीं पायी जाती। किन्तु इन दोनों देवताओं के साथ युगलरूप में अग्नि को हविष् प्रदान की जाती है।

फिर भी यास्क ने अग्नि और पूषन् का पृथक्-पृथक् स्तवन करने वाली ऋचा को उद्धृत किया है[6]।

इन्द्र के द्वारा सेव्य अन्तरिक्षलोक, माध्यन्दिनसवन, ग्रीष्मऋतु, त्रिष्टुभ् छन्द, पञ्चदश स्तोम, बृहत् साम, मध्यमस्थानीय देवता-गण, यथा, 'मरुतः', 'रुद्राः', 'ऋभवः', 'अङ्गिरसः', 'पितरः', 'अथर्वाणः', 'भृगवः', 'आप्त्या'[7] तथा स्त्रीदेवता इसके संस्तविक देवता अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति,

---

[1] दुर्गाचार्य ने अक्ष प्रभृति को पृथिवीस्थानीय देवगणों के अन्तर्गत गिनाया है।

[2] निरु० ७, ८, २।

[3] वही, ७, ११, ५ ; बृ०दे० १, ११५-११६।

[4] निरु० ७, ८, ३ ; बृ० दे० १, ११९-२०।

[5] निरु० ७,८,४; बृ० दे० (१, ११७) ने इस संस्तवन में मरुतों तथा विष्णु को अधिक गिनाया है, निरुक्त में मरुतों की इस प्रसंग में चर्चा ही नहीं की गयी। जबकि बृ० दे० का पाठ **विष्णुना चास्य संस्तवः** है। निरुक्त के अनुसार 'चास्य' के स्थान पर **'नास्य'** होना चाहिये। विष्णु के साथ संस्तव का स्पष्ट निषेध किया गया हैं (७,८,६)।

[6] स्कन्द के अनुसार यहां वरुण आदि देवता (निघ० ५, ४, २-४) तथा उपरिलिखित देवगण अभीष्ट हैं।

[7] ऋग्० १०, १७, ३ ; निरु० ७, ९, १ ; तु० दुर्गाचार्य—
किन्तु पृथक् पृथक् च अग्निः स्तूयते पूषा च (निरु० ७, ८, ७)।

ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु तथा वायु[1]। मित्र का वरुण के साथ, सोम का पूषा एवं रुद्र के साथ, पूषा का वायु के साथ, पर्जन्य का वात के साथ संस्तव किया जाता है[2]। इनके अतिरिक्त इन्द्र से सम्बद्ध हेमन्त ऋतु, पंक्ति छन्द, त्रिणव स्तोम तथा शाक्वर साम भी गिनाये गये हैं।

इन्द्र के कर्मों में अवश्याय, वृष्टि प्रभृति का प्रदान, वृत्र (मेघ) का हनन तथा अन्य शक्ति-सम्पाद्य कर्म गिनाये गये हैं। दुर्गाचार्य ने इस 'बलकृति' की व्याख्या करते हुए कहा है कि जगत् में कीड़े-मकोड़े से लेकर बड़े से बड़े तक जो भी शक्तिमत्ता का कार्य करते हैं, वह वस्तुतः इन्द्र का ही कार्य होता है। स्कन्द ने इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि बल प्राण है, प्राण वायु ही है और वायु इन्द्र से भिन्न नहीं हैं—

बलं हि प्राणः, प्राणश्च वायुर्वायुश्चेन्द्रः।

शौनक ने इन्द्र के कर्मों का ब्योरा इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

रसादानं तु कर्मास्य वृत्रस्य च निबर्हणम्।
स्तुतेः प्रभुत्वं सर्वस्य बलस्य निखिला कृतिः॥
(बृ० दे० २, ६)

द्युस्थानीय देवता आदित्य के भाग में द्युलोक, तृतीय सवन, वर्षा तथा शिशिर ऋतुएं, जगती तथा अतिछन्दा छन्द, सप्तदश तथा त्रयस्त्रिंश स्तोम, वैरूप तथा रैवत साम, सविता, सूर्य, अश्विनौ, त्वष्टा प्रभृति द्युस्थानीय देवता, उषा, सूर्या, वृषाकपायी प्रभृति स्त्री देवता निर्धारित हैं[3]। चन्द्रमा, वायु तथा संवत्सर के साथ आदित्य की संस्तुति की जाती है[4]। सूर्य और वैश्वानर अग्नि को हविष् प्रदान की जाती है[5]।

---

१. निरु० ७, १०, ३ ; बृ० दे० २, १-५।

२. द्र० दुर्ग, **मध्यमस्थानेन च द्युस्थानेन च संस्तव इति पार्थिवेन प्रतिषेधात्। ऋचं नोदाहरति। मृग्यमुदाहरणं येन संस्तवः।** (निरु० ७, ११, ६); बृ० दे० १, १२७-१२९।

३. निरु० ७, ११, १; ७; बृ० दे० २, ८-१४।

४. निरु० ७, ११, ३।

३. बृ०दे० २,१६; तु० ऋग्० १०,८८; सर्वानु० पर षड्गुरुशिष्य भाष्य—**सौर्यवैश्वानरीयम्। सूर्यदेवत्यं वैश्वानरगुणाग्निदेवत्यञ्च।**

इसके कर्म रसादान, रश्मियों से रसों का धारण तथा जो कुछ भी प्रभुत्व तथा ईशत्व से समन्वित प्रभावशाली कर्म हैं, वे सब आदित्य के ही कर्म हैं[1]।

यास्क का कहना है कि कुछ लोग[2] हविः प्रदान करते समय प्रयुक्त देवताओं के सविशेषण नामों को भी स्वतन्त्र देवताओं के रूप में ग्रहण करते हैं, यथा—**इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्राय अंहोमुचे**। यदि सविशेषण देवताओं को शुद्ध निर्विशेषण देवताओं से भिन्न, स्वतन्त्र देवता मान लिया जाये, तो देवताओं के स्वरूप का निर्णय तथा उनकी इयत्ता का निर्धारण दुष्कर कार्य हो जायेगा[3]।

इसी प्रकार कर्मभेद से देवताभेद करना भी अनुचित है। **वृत्रहा, पुरन्दर** में वृत्रहनन तथा पुरभेदन नामक दो कर्मों के भेद के आधार पर देवताभेद नहीं किया जा सकता[4]।

मन्त्रों में प्रायः देवता का किसी न किसी रूप में निर्देश अथवा सङ्केत रहता है, जिसके आधार पर उस मन्त्र में देवता का निर्धारण किया जा सकता है। किन्तु कुछेक मन्त्र ऐसे भी हैं, जिनमें देवता का कोई सङ्केत नहीं पाया जाता। ऐसे 'अनादिष्ट देवता' मन्त्रों में देवता का निश्चय प्राचीन काल से ही विवादास्पद विषय बना रहा है। यास्क ने अनेक ऐसी विचारधाराओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, जो उनसे पूर्व वैदिक विद्वज्जगत् में प्रवाहित हो रही थीं।

अनादिष्ट-देवता मन्त्रों में देवता का निश्चय उन मन्त्रों के यज्ञ में विनियोग के आधार पर किया जा सकता है। याज्ञिक परम्परा के अनुसार जिस देवता के लिए उस मन्त्र का विनियोग होता आ रहा हो, वही उस मन्त्र का देवता होगा[5]। यथा, अग्निष्टोम में विनियोज्य मन्त्र का देवता अग्नि मानना चाहिये।

किन्तु कुछ मन्त्र ऐसे भी होते हैं, जिनका किसी भी यज्ञ में विनियोग नहीं किया गया है। अथवा उनके यज्ञ ही उत्सन्न हो गये हैं, अथवा यज्ञों के अतिरिक्त प्रायश्चित्त, जप, उपाकरण प्रभृति कर्मों में भी मन्त्रों का विनियोग होता है, जिनमें देवताविशेष का निश्चय नहीं किया जा सकता।

---

[1] निरु० ७, ११, २ ; बृ० दे० २, १९ ।

[2] 'नैरुक्ताः'—दुर्ग० ।

[3] निरु० ७, १३, ८-१० ।

[4] निरु० ७, १३, ११-१४ ।

[5] वही, पृ० ७, ४, २ ।

यास्क सूचित करते हैं कि याज्ञिकों के मत में ऐसे स्थलों में 'प्रजापति' को देवता मानना चाहिये, किन्तु नैरुक्तों के अनुसार यहां 'नराशंस' को देवता माना जाता है। शाकपूणि के विचार में 'नराशंस' पार्थिव अग्नि ही है। कात्थक्य के मतानुसार 'नराशंस' यज्ञ का द्योतक है। ब्राह्मण में कहा गया है, **यज्ञो वै विष्णुः** (श० ब्रा० १, १, २, १३)[1]। पुनः नैरुक्तों के मत में 'विष्णु' आदित्य की अवस्था-विशेष (मध्याह्नकालीन सूर्य) ही है। अतः ऐसे मन्त्रों का देवता आदित्य होना चाहिये। कुछ लोग उत्सन्न यज्ञमन्त्रों का देवता यज्ञ अर्थात् 'क्रतु' ही को मानते हैं।

एक और विचार के अनुसार ऐसे स्थलों पर अपनी इच्छानुसार देवता की कल्पना की जा सकती है। अथवा जिस कामना की पूर्ति के लिए यज्ञ किया गया हो, उसके अनुरूप देवता की कल्पना कर सकते हैं[2]। अथवा मन्त्रसंहिता में जिस देवता से सम्बद्ध स्तुति प्रार्थना का प्रसंग या अधिकार चल रहा हो, उसके अन्तर्गत पड़ने वाले 'अनादिष्ट-देवता' मन्त्र का देवता भी पूर्वगत देवता को समझना चाहिये।

अथवा किसी सूक्त अथवा सूक्त-समूह में जिस देवता की स्तुति-प्रशंसा में अधिक मन्त्र पढ़े गये हों, उस सूक्त अथवा सूक्त-समूह में पड़ने वाले 'अनादिष्ट देवता' मन्त्र का देवता भी वही स्वीकार कर लेना चाहिये[3]।

एक और सुझाव के अनुसार (सम्भवतः यास्क का अपना मत) ऐसे स्थलों पर 'यज्ञ' अथवा 'देवता' को देवता मानना चाहिये[4]।

यहां 'यज्ञ' का अभिप्राय **विष्णु** से है, जिसका भाव आचार्य कात्थक्य ने 'आदित्य' ग्रहण किया है और 'देवता' पद का अभिप्राय **अग्नि** से है, क्योंकि ब्राह्मणवचन के अनुसार **अग्निः सर्वा देवता**[5], अर्थात् अग्नि ही सर्व देवता हैं, तथा **अग्नि र्वै देवतानां भूयिष्ठभाग** अर्थात् 'देवताओं में अग्नि ही सर्वाधिक भाग का अधिकारी है'।

यास्क ने इस समस्या के इस पक्ष पर भी विचार किया है कि यज्ञों अथवा यज्ञांगों से सम्बद्ध अश्व प्रभृति अदेवताओं की भी देवताओं के समान ही स्तुति-प्रशंसा की जाती है, तो क्या उन्हें भी अग्नि, इन्द्र, सूर्य प्रभृति देवतापदवाच्य

---

[1] निरु० ७, ४, ४।

[2] वही, ७, ४, ५ तथा उस पर दुर्ग०।

[3] वही, ७, ४, ६ **(प्रायोदेवता वा)** तथा उस पर दुर्ग०।

[4] वही, ७, ४, ७—**याज्ञदैवतो मन्त्रः**।

[5] काठ० सं० १०, १ ; ऐ० ब्रा० १, १।

प्राकृतिक शक्तियों का ही समकक्ष माना जा सकता है। क्योंकि यास्क की अपनी ही परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में वे भी देवता कहलाने के स्पष्ट अधिकारी हैं। यास्क का स्पष्ट उत्तर है कि देवता के ऐश्वर्य तथा सर्वशक्तिमत्ता (माहाभाग्य) के कारण वास्तव में यह स्तुति-प्रशंसा उस एक आत्मा की ही की जाती है, जो कभी अश्व, रथ आदि के रूप में, तो कभी अग्नि, इन्द्र प्रभृति के रूप में और कभी दोनों रूपों में एक साथ प्रकट हो सकती है[1]। अतः इस विषय में किसी प्रकार के वैषम्य-व्यत्यास की शङ्का नहीं करनी चाहिये।

देवताविवरण के प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि मन्त्रों में उपस्तुत देवताओं में भी परस्पर विषमता दृष्टिगोचर होती है। सभी देवताओं की स्तुति समानरूप से अथवा समान परिमाण में नहीं की गयी। किन्हीं का स्तवन तो लगातार कई-कई सूक्तों में किया गया है। किन्हीं का पूरे सूक्त में और किन्हीं का सूक्त के एक-आध मन्त्र में ही कर दिया जाता है। कुछेक ऐसे भी हैं, जिनकी सूक्त में स्तुति न करके उन्हें केवल हविष् प्रदान की जाती है। दूसरों को हविष् भी प्रदान की जाती है और उनकी स्तुति भी की जाती है। अन्यों की चर्चा केवल अन्य देवताओं की स्तुति के प्रसंग में गौणरूप से कर दी जाती है या फिर अनेक देवताओं के आनुषंगिकरूप में उनका भी उल्लेख मात्र कर दिया जाता है[2]। ऐसे देवताओं की पहचान तथा उनके स्थान-निर्धारण का मानदण्ड क्या है? इस प्रसंग में यास्क ने इस प्रकार के विभिन्न देवताओं की ओर स्पष्ट सङ्केत किया है। जिस वैश्वानर को सूक्त समर्पित किया जाता है, अथवा हविः प्रदान की जाती है, वह पार्थिव अग्नि ही है। अन्तरिक्षस्थानीय अग्नि या विद्युत् तथा द्युस्थानीय अग्नि या आदित्य ये दोनों अग्नियां मन्त्र में आनुषंगिकरूपेण ही उपस्तुत हुई हैं अर्थात् या तो ये अन्य देवताओं के साथ उपस्तुत हैं तथा बहुदेवताक मन्त्रों में उल्लिखित होती हैं, या फिर ऐसे देवता हैं, जो अन्य देवताओं के वर्णन में गौणरूपेण वर्णित हुए हैं, तथा उन्हें औपचारिक रूप से 'वैश्वानर' पद से अभिहित किया जाता है[3]।

एक-एक ऋचा में उल्लिखित देवताओं के अन्तर्गत 'इध्म' प्रभृति की गणना की गयी है[4]। ऐसे देवता भी हैं, जिनकी स्तुति अन्य देवता के साथ आयी ऋचा

---

[1] निरु० ७, ४, ८ तथा उस पर दुर्ग०।

[2] निरु० ७, १३, ५ तथा उस पर दुर्ग०; द्र० निरु० १०, ४२, ५; तु० बृ० दे० १, १७-१९ तथा ८, १२९।

[3] निरु० ७, ३१, ३-४ तथा उस पर दुर्ग०; वही ७, १३।

[4] निरु० ८, ४-२१।

में ही की गयी है यथा—**उद्वेति** (ऋग्० ७, ६३, १-४½) की साढ़े चार ऋचाएं सूर्यदेवताक (सौर्य) मानी जाती हैं तथा अन्तिम आधी ऋचा 'मैत्रावरुणी'[1] ।

दुर्गाचार्य तथा स्कन्दस्वामी ने पादर्चभागी देवताओं की ओर भी सङ्केत किया है । स्वयं यास्क के साक्ष्यानुसार कुछेक पूर्वाचार्य **नवो नवो भवति जायमानः** (ऋग्० १०, ८५, १९) के द्वितीय पाद को 'आदित्य'—सम्बन्धी मानते थे, यद्यपि यास्क ने इस सम्पूर्ण ऋचा को चन्द्रमापरक लगाया है[2] । निपातभाग अथवा आनुषंगिक कई देवताओं के अन्तर्गत 'विधाता' का उल्लेख किया गया है, जिसका निपात बहुदेवताक मन्त्र में किया गया है, यथा, **सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि** (ऋग्० १०, १६७, ३) में, तथा नैघण्टुकरूपेण उपस्तुत 'पृथिवी' का उल्लेख **यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्याम्** (ऋग्० १, १०८, १०) में किया गया है[3] ।

किन्तु इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि यहां **पृथिवी** शब्द अपने प्रधान अर्थ 'यह लोक' अर्थ में प्रयुक्त न होकर 'लोकसामान्य' अर्थ में द्यु तथा अन्तरिक्ष के लिए लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

इस प्रकार यास्क ने दैवतपक्ष पर विविध दृष्टियों से विचार करके अनेक प्रकार की विचार-सरणियों के दिग्दर्शन कराये हैं, जो उनसे पूर्वकालिक युग में वैदिक विद्वानों के उर्वर मस्तिष्कों में बनती बिगड़ती रहती थीं । यास्क ने अपने पूर्वज आचार्यों के कन्धों पर अवस्थित होकर उन विचारधाराओं को दूर तक प्रवाहित होते देखा और उस मनोरम दृश्य को उस चतुर चितेरे ने अपनी बहुरंगी तूलिका से चित्रित करके हम तक पहुँचा कर हमें कृतार्थ कर दिया ।

जहां यास्क ने देवताओं की संख्या, स्वरूप तथा स्थान के विषय में अपने सिद्धान्त को संहिताओं के ऋषि-वचनों पर आधृत रखा है, वहां इन देवताओं के नामों के निर्वचनों का आधार भी यथासम्भव वैदिक मन्त्रों को ही माना है । अग्नि के पर्यायवाची जातवेदस् की निरुक्तियों का आधार वैदिक मन्त्र है, यथा—

(क) **जाते जाते विद्यते** (निरुक्त ७, २९, २) ।
जन्मञ्जन्मन् निहितो जातवेदाः (ऋग्० ३, १, २०) ।
(ख) **जातानि वेद** (निरुक्त, वही) ।
विश्वा वेद जनिमा जातवेदाः (ऋग्० ६, १५, १३) ।

---

[1] निरु० ७, १३, ६ पर दुर्ग० ; बृ० दे० ६, ५ ।

[2] निरु० ११, ६—**आदित्यदैवतो द्वितीय पाद इत्येके** ।

[3] निरु० ७, १३, ७ तथा उस पर दुर्गाचार्य ।

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्रिणां जातवेदाः ।
(तु० अथर्ववेद १, ८, ४)

संहिता में अन्यत्र यद्यपि यास्कीय शब्दों से साम्य नहीं पाया जाता, तो भी अर्थ-साम्य अवश्य लक्षित होता है। यथा—

जात आपृणो भुवनानि रोदसी (ऋग्० ३, ३१, १०)।

'उत्पन्न होते ही तुमने भुवनों, धरती-आकाश, को भर दिया। व्याप्त कर लिया—प्राप्त कर लिया, <√विद् लाभे'।

तु० **जाते जाते विद्यते इति वा** (निरुक्त ७, १९)[1]।

जातो यदग्ने भुवना व्यख्यः (ऋग्० ७, १३, ३)।

'हे अग्ने ! तुमने उत्पन्न होते ही समस्त भुवनों को जान लिया' <√विद् ज्ञाने। तु० **जातानि वेद** (वही)।

यास्क ने केवल अपने विचारों को पाठक पर थोपने का प्रयास नहीं किया, अपितु परम्परागत अनेक मतमतान्तरों पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार करके शुद्ध तर्कों के आधार पर अपने पक्ष को प्रस्थापित किया है। 'वैश्वानर' के सम्बन्ध में विचार-विमर्श इसमें निदर्शन है।

वैश्वानर के भौतिक स्वरूप के विषय में विविध सम्प्रदायों तथा विद्वानों में यास्क से पूर्व विभिन्न प्रकार के वैमत्य प्रचलित थे। उन सभी ने अपने-अपने मतों के पक्ष में वेदमन्त्रों को ही आधार माना था, एवम् अर्थ तथा अभिप्राय के बोध के भेद से मतभेद उत्पन्न हो गये थे। उन्हीं वैदिक-वचनों के आधार पर कुछ लोग इसे माध्यमिक अग्नि सिद्ध करने का प्रयास करते थे, तो अन्य औत्तमिक अग्नि। यास्क ने प्रत्येक पक्ष के वैदिक साक्ष्य का विवेचन करके अपनी तर्कशक्ति के बल पर उनके विचारों का खण्डन करके वैश्वानर को पार्थिव अग्नि सिद्ध किया है। इनके विपक्षियों में **याज्ञिकों** अथवा **पूर्वयाज्ञिकों** का प्राधान्य है, जिन्होंने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए यज्ञप्रधान संहिताओं तथा ब्राह्मण-वचनों का आश्रय लिया है। उनके अनुसार **असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः** (मै० सं० २, १, २)। **आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्** (निविद्—शां० श्रौ० सू० ८, २, २२) ; **दिवि पृष्टो अरोचताग्निर्वैश्वानरो बृहत्** (वा० सं० ३३, ९२)। तथा **वैश्वानरो यतते सूर्येण** (ऋग्० १, ९८, १) **छान्दोगिक सूक्त** (का० श्रौ० सू० १२, ३, २१) याज्ञिकों के अनुसार **अग्निमारुतशस्त्र** में तथा **हविष्पान्तीय सूक्त** (ऋग्० १०, ८८) में, सौर्य-वैश्वानर होने के कारण वैश्वानर को द्युस्थानीय अग्नि (आदित्य) ही सिद्ध करता है। अग्निष्टोम में विनियुक्त मन्त्रों से पहले

---

[1] तु० **यत्तज्जातः पशूनविन्दत, तज्जातवेदसो जातवदेस्त्वम् इति ब्राह्मणम्** (वही)।

वैश्वानर की स्तुति की जाती है, तदनन्तर रुद्रों एवं मरुतों की और अन्त में अग्नि की। इससे सिद्ध होता है कि 'वैश्वानर' आदित्य के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं।

वैश्वानर के निमित्त प्रदेय पुरोडाश द्वादश कपालों पर पकाया जाता है[1]। आदित्य भी बारह हैं। अतः वैश्वानर आदित्य का ही पर्यायवाची है।

वैश्वानर को माध्यमिक अग्नि (विद्युत्, मेघ) सिद्ध करने लिए ऋग्० १, ५९, ६ का आश्रय लिया गया है—

प्र नु महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत् ।।

अर्थात् 'अब मैं वर्षा कराने वाले की महिमा का वर्णन करूँ, जिस वृत्रहन्ता की सेवा में लोग जाते हैं। वैश्वानर अग्नि ने दस्यु को मार डाला, जल को नीचे गिरा दिया। शम्बर (मेघ) को छिन्न-भिन्न कर डाला।'

अन्त में शाकपूणि के माध्यम से नैरुक्तों का यह सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया गया है कि यह पार्थिव अग्नि ही प्रधान वैश्वानर है। इस पक्ष की मुख्य-मुख्य युक्तियां ये हैं—

(क) जब तक अन्तरिक्षीय वैश्वानर (विद्युत्) पार्थिवरूप में ग्रहण नहीं कर लिया जाता, तब तक वह मध्यम-स्थानीय अग्नि की विशेषताएं लिये रहता है, यथा, जल से दीप्त होने वाला तथा शरीर में जाकर शान्त हो जाने वाला।

(ख) जब सूर्य की किरणों के सामने आतिशी शीशे **(कंसं वा मणिं वा)** को रख कर उसके नीचे सूखे गोबर को रखें, तो वह जल उठता है। आदित्य रूपी अग्नि पार्थिव अग्नि के रूप में जला सकती है।

(ग) वैदिक मन्त्र में कहा गया है—**वैश्वानरो यतते सूर्येण**। 'वैश्वानर सूर्य से युक्त होता है' इसी से सिद्ध होता है कि सूर्य वैश्वानर नहीं हो सकता। कोई भी पदार्थ स्वयं से युक्त नहीं हो सकता। दूसरे से ही युक्त होता है।

(घ) यदि वैश्वानर सूर्य होता तो उन्हीं सूक्तों में, जो द्युलोक-सम्बन्धी देवताओं, अर्थात् सवितृ, पूषन्, विष्णु तथा विश्वेदेवाः के लिए निरूपित हैं, वैश्वानर-सम्बन्धी वचन होते। तथा वे उसकी सूर्य के कर्मों को सम्बद्ध करके स्तुति करते। किन्तु ऐसा नहीं है। अपितु

---

[1] द्र० तै० सं० १, ८, ८, १-२; २, २, ५, ६। तै० ब्रा० १, ७, २, ५। मै० सं० ३, १०, २; ४, ३, ६; तु० वही, ३, ४, ४।

अग्नि को सम्बोधित सूक्तों में ही वैश्वानर से सम्बद्ध वचन पाये जाते हैं तथा उसकी स्तुति अग्नि के कर्म जोड़ कर की गयी है, यथा, तू ले जाता है (**वहसि**), पकाता है (**पचसि**), जलाता है (**दहसि**) इत्यादि।

(ङ) जो यह कहा है कि वैश्वानर के साथ वर्ष कर्म को सम्बन्धित किया जाता है। इसका उत्तर यह है कि यह तो पार्थिव अग्नि के सम्बन्ध में सम्भव है, यथा—

भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्यग्नयः (ऋग्० १, १६४, ५१)।

'धरती को मेघ तृप्त करते हैं द्युलोक को अग्नियां तृप्त करती हैं।'

इस प्रकार की अनेक युक्तियों से यास्क अपने पक्ष का प्रतिपादन करते हैं कि जिस वैश्वानर के निमित्त सूक्त पढ़ा जाता है और हविः प्रदान की जाती है, वह यही पार्थिव अग्नि है। अन्य दोनों गौणरूप से वैश्वानर संज्ञा के द्वारा स्तुति तथा हविः को प्राप्त करते हैं[1]।

इससे सिद्ध होता है यास्क ने दैवत-समस्या के समाधान के लिए अत्यन्त सूक्ष्मेक्षिका का प्रयोग करके अत्यन्त विस्तार से इस समस्या के सभी पक्षों पर विचार करके अपने पक्ष को बड़ी योग्यतापूर्वक प्रतिष्ठापित किया है।

---

[1] निरु० ७, २३, १; ३, १, ४।

द्वादश अध्याय

निर्वचन के सिद्धान्त तथा प्रक्रिया

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, निर्वचन की प्रक्रिया के बीज स्वयं ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं। इसका विकास ब्राह्मणों में बहुत अधिक हुआ। फलतः यास्क के अनेकों निर्वचन ब्राह्मणों के निर्वचनों पर आधृत हैं। नैरुक्तों ने अपने निर्वचनों के आधारभूत कुछेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया प्रतीत होता है, जिनका कुछ आभास हमें यास्क के ग्रन्थ में मिलता है[1]।

द्वितीय अध्याय के आरम्भ में यास्क ने निर्वचनों के कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इनके निर्वचनों के विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत परोक्ष तथा अतिपरोक्षवृत्ति वाले शब्द ही आते हैं, प्रत्यक्षवृत्ति वाले शब्दों का निर्वचन यास्क ने नहीं किया[2]। यास्क का कथन है कि जिन शब्दों में उदात्त आदि स्वर तथा व्याकरण-सम्मत प्रकृति-प्रत्यय आदि अर्थानुकूल हों एवं उचित धातु के विकार से अन्वित हों, उनका निर्वचन तदनुसार ही करना चाहिये। किन्तु यदि व्याकरण की प्रक्रिया अर्थ के अनुकूल ठीक न बैठती हो और धातुगत विकार की भी प्रतीति न हो रही हो, तो अर्थ को प्रधान मानकर कृत्-तद्धित-आदि किसी भी वृत्ति[3] (शब्द रचना) की समानता से परीक्षा करनी चाहिये। यदि ऐसी कोई समानता न हो, तो भी उस शब्द के किसी अक्षर या वर्णमात्र की समानाता के आधार पर निर्वचन करना चाहिये। इसके लिए व्याकरण की प्रक्रिया की अधिक परवा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ये शब्दवृत्तियां संशयग्रस्त होती हैं। यह सिद्धान्त ऐ०ब्रा० में प्रतिपादित है कि यदि सीधा विर्वचन न हो सकता हो, तो किसी

---

[1] द्र० निरु० मीमांसा, पृ० २३५।

[2] द्र० दुर्ग०, **न च निरुक्ते कारकहारकलावकादिशब्दा व्युत्पाद्यन्ते, सुबोधैव तेषां व्युत्पत्तिः प्रसिद्धैव च व्याकरण इति** …… (२, १ पर, पृ० ९८)।

[3] वृत्ति के अनेक अर्थ किये गये हैं; यथा—**क्रियागुण** (दुर्ग; स्कन्द); कृत् और तद्धित के रूप (राजवाड़े); 'आख्यातों और नामरूपों की धातुओं से निकालने की प्रक्रिया' (भगवद्दत); 'जटिल शब्द रचना' (लक्ष्मण सरूप)।

[4] निरु० २, १; **तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां, तथा तानि निर्ब्रूयात्। अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद्वृत्तिसामान्येन। अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्, न त्वेव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति।**

भी प्रकार से निर्वचन करना चाहिये, क्योंकि **परोक्षप्रिया वै देवाः**—देवता तो परोक्ष-प्रिय होते हैं। इस प्रकार यास्क ने जहां शब्दरचना पर ध्यान देकर निर्वचन करने पर बल दिया है, वहां उन्होंने सभी नामपदों को आख्यातज मानने का सिद्धान्त भी अपने सम्मुख रखा है, जिसे बहुत से भाषाविद् कपोल-कल्पित घोषित करते हैं तथा अत्यन्त जटिल आधुनिक प्रक्रिया के सहारे शब्द के मूल को खोजने का प्रयास करते हैं, फिर भी सफलता सन्देहास्पद ही रहती है। आज भी किसी भाषा के सभी शब्दों की व्युत्पत्ति तथा उनकी ऐतिहासिक यात्रा का अध्ययन सम्भव नहीं हो सका है।

यास्क का 'संस्कार' की अधिक परवाह न करने का सिद्धान्त ऐतरेय ब्राह्मण पर आधृत है। इसी प्रकार उनका यह कथन कि किसी अक्षर या वर्ण की समानता को आधार मान कर निर्वचन कर ही देना चाहिये, ब्राह्मण के इस सिद्धान्त पर आधृत है कि देवता परोक्षप्रिय होते हैं। ऐ० ब्रा० (१३, ९) में 'मानुष' पद का निर्वचन इसी सिद्धान्त पर किया गया है—

> **यदब्रुन्मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति तन्मादुषमभवत्…… मादुषं ह वै नामैतद्यन्मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः।**

इसके साथ इस प्रकार का निर्वचन 'अक्षर-वर्ण-साम्य' के आधार पर निर्वचन करने के यास्क के सिद्धान्त का पूर्वगामी है। इस प्रकार के अन्य निर्वचन भी ऐ० ब्रा० में किये गये हैं यथा—

अग्नि-स्तोम=अग्निष्टोम ; ज्योतिःस्तोम=ज्योतिष्टोम।
चतुः-स्तोम=चतुष्टोम (ऐ० ब्रा० १४, ५)।
न्युब्जाः=न्यग्रोधाः (ऐ० ब्रा० ३५, ४)।

किन्तु ऐ० ब्रा० के ये निर्वचन निरुक्ति की अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था के द्योतक हैं, तथा कर्मकाण्डीय पण्डितों की मनोवृत्ति पर प्रकाश डालते हैं।

दूसरी ओर 'होतृ' पद की निरुक्ति ऐ० ब्रा० में आ- √वह् से जोड़ी गयी है, (ऐ० ब्रा० १,२), जबकि और्णवाभ ने इसे √हु से सम्बद्ध करके इसे 'याज्ञिक' (=अध्वर्यु) का अर्थ प्रदान कर दिया[1]। किन्तु यास्क ने इसे √हू या √ह्वे से सम्पन्न करके ऐ० ब्रा० के अर्थ के समीप ला खड़ा किया[2]।

---

[1] निरुक्त ७, १५ ; द्र० निरुक्त ४, २६।

[2] *Vedic Index*, under *Hotṛ*, vide Viman Chandra Bhattacharya, *IHQ*, XXXV, p. 109-119.

शाकटायन ने जो एक शब्द के भागों को विभिन्न क्रियाओं से व्युत्पन्न किया और 'सत्य' पद के 'य्' को √इ के णिजन्त रूप से, 'सत्' को √अस् से जोड़ा, तो श० ब्रा०[1] की प्रक्रिया के अनुरूप ही किया। ब्राह्मण ने 'हृदय' पद को तीन धातुओं—√हृ, √दा तथा √इ- से व्युत्पन्न किया है।

आधुनिक भाषाविज्ञान भी अर्थ को ही प्रधान मानकर शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन करता है। एक ही अर्थ वाले अनेक शब्दों तथा उनके मूल में बहुत कम सादृश्य देखा जाता है, यथा—भारोपीय * penque : संस्कृत-पञ्च (pañca); ज़ेन्द-पञ्च (Paũca); ग्रीक—πεγτε; लैटिन—quinque, लिथुआनियन penke; गॉथिक—fif; जर्मन—fünf; प्राचीन इंग्लिश—fif; इंग्लिश—five। फ्रेञ्च—larme तथा इंग्लिश—tear में केवल र् (r) ही समान है। इंग्लिश—four तथा जर्मन—vier, ग्रीक—τετταρεσ में भी केवल र् (r) का ही साम्य पाया जाता है।

किन्तु इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के लिए पर्याप्त योग्यता तथा प्रतिभा होना आवश्यक है।

अर्थभेद के रहते भी रूप-साम्य बहुधा देखा जा सकता है। इस अवस्था में अर्थ को ही प्रधान मानकर निर्वचन करना चाहिये। शब्दसाम्य का कोई महत्त्व नहीं है। यह सिद्धान्त आज भी उतना ही सत्य है, जितना यास्क के समय में था। उदाहरणार्थ—

अनिष्ट=अन्-इष्ट—'न चाहा गया' <√इष् से व्युत्पन्न
अनिष्ट=अन्-इष्ट—'यज्ञ न किया गया' <√यज्
अवसान=अ-वसान—'वस्त्रहीन'
अवसान=अव-सान—विश्रामस्थल
अनुदार=अन्-उदार—कृपण
अनुदार=अनु-दार—पत्नी द्वारा अनुसृत
अक्त= —'हटा दिया गया' <√अज्—से व्युत्पन्न
अक्त= —लेप कर दिया गया <√अञ्ज्—से व्युत्पन्न

इस प्रकार के शतशः उदाहरण संस्कृत से तथा अन्य भाषाओं से दिये जा सकते हैं[2]।

---

[1] श० ब्रा० १४, ७, ४, १।

[2] द्र० लक्ष्मण सरूप, 'निघण्टु तथा निरुक्त', भूमिका (हिन्दी), पृ० ५९-६३।

इन सामान्य सिद्धान्तों के प्रतिपादन के बाद शब्दों की रचना में होने वाले विविध विकारों या परिवर्तनों का वर्णन किया गया है। यथा—धात्वादि शेष, अन्तलोप, उपधाविकार, वर्णलोप, आद्यन्तविपर्यय, आदिविपर्यय, अन्तविपर्यय, वर्णागम, सम्प्रसारण प्रभृति अनेक विकारों को सोदाहरण चर्चा की है, जो आज भी भाषा-विज्ञान को मान्य हैं। यह दूसरी बात है कि आज हम इन परिवर्तनों का प्रतिपादन अधिक वैज्ञानिक ढंग से कर सकने में समर्थ हैं। यास्क की यह मान्यता सर्वथा सिद्ध है कि कभी-कभी शब्द में इतना अधिक परिवर्तन हो जाता है कि उसमें तथा उसके स्रोत में किसी प्रकार का साम्य दृष्टिगोचर नहीं होता—**विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति।**

वैदिक-भाषा से ही संस्कृत-भाषा का विकास हुआ है और इन दोनों भाषाओं में गहरा सम्बन्ध है, तो भी यास्क ने दर्शाया है कि बहुत से ऐसे धातु हैं, जिनसे वैदिक शब्दों की उत्पत्ति तो हुई है, किन्तु क्रिया के रूप में उनका प्रयोग वेद में उपलब्ध नहीं होता, संस्कृत में मिलता है[1]। दूसरी ओर कुछ धातु ऐसे भी हैं, जिनका वैदिक भाषा में क्रिया के रूप में प्रयोग हुआ है, किन्तु संस्कृत में उनसे उत्पन्न शब्दमात्र पाये जाते हैं[2]।

यास्क इस बात से भी अपरिचित नहीं थे कि एक ही शब्द की प्रकृति का प्रयोग एक अर्थ में एक देश में होता है, तो उसकी विकृति का अन्य अर्थ में अन्य देश में। यथा—गतिवाचक √शव् का प्रयोग कम्बोज देश में होता था, तो उसी के विकार-भूत "शव" शब्द का प्रयोग आर्यों में 'मृतक-शरीर' के अर्थ में होता है। इसी प्रकार √दा—'काटना' के क्रियावाचक शब्द 'दाति' का प्रयोग प्राच्यों में होता था, तो काटने के साधन "दात्र" का उदीच्यों में[3]। इससे न केवल यास्क की भाषा-विकास-विषयक बहुज्ञता ही प्रकट होती है, अपितु तत्कालीन भाषाओं के पारस्परिक संबन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है।

तद्धितान्त तथा समस्तपदों के निर्वचन उनको अवयवों में तोड़कर करने चाहियें। **दण्ड्यः<दण्ड <√दम् ; राजपुरुषः=राज्ञःपुरुषः**[4]। आधुनिक भाषा-विज्ञान के सम्पृक्ति-दोष (contamination) से भी वे परिचित थे, जिसके कारण कई समान प्रतीत होने वाले धातुओं से भी निर्वचन करने से वे झिझके नहीं।

---

[1] निरु० २, २, ६—**अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते, दमूनाः क्षेत्रसाधा इति।**

[2] **अथापि नैगमेभ्यो भाषिका, उष्णं घृतमिति** (२, २, ७)।

[3] निरु० २, २, ८ द्र० महा० भा० १, १, १।

[4] निरु० २, २, ११-२, ३, २।

"ककुप् च कुब्जश्च कुब्जतेर्वा, उब्जतेर्वा[1] **। लक्ष्मीर्लाभाद् वा, लक्षणाद् वा, लाञ्छनाद् वा, लषतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणो लभ्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणो लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः"**[2] ।

यास्क अपने समय में उपलब्ध सभी साधनों से लैस होकर निर्वचन-शास्त्र के प्रतिपादन में प्रवृत्त हुए थे । आधुनिक भारोपीय भाषाओं से तुलना की सुविधा के अभाव में भी वे शब्दों के अर्थों की गहराई तक पहुँचने का पूरा प्रयत्न करते थे तथा इस विषय में पूर्वाचार्यों के विचारों की भी चर्चा करते थे । यथा—**अक्षि चष्टेः । अनक्तेरित्याग्रायणः तस्मादेते व्यक्ततरे इव भवत इति ह विज्ञायते**[3] √अञ्जु से और निकटतर धातु नहीं मिल सकता था[4]; वे अपने समय के व्यापक दृष्टि रखने वाले जागरूक वैज्ञानिक और मनीषी थे । वे गुण, वृद्धि, सम्प्रसारण, कण्ठ्य तथा तालव्य वर्णों के पारस्परिक सम्बन्धों, वर्णद्वित्व, सन्धि के नियमों, मूर्धन्यीकरण प्रभृति व्याकरण के अनेक विषयों से पूर्णतः परिचित थे । उनके कुछेक निर्वचन तो इतने वैज्ञानिक हैं कि आधुनिक भाषा-विज्ञान भी आश्चर्य-चकित हो उठता है यथा—'सहस्र शब्द का √सह् से सम्बन्ध जोड़ना वास्तव में विस्मयकारी है, क्योंकि इसका मूल segheslo Kmtom में खोजा गया है, जिसका अर्थ **शक्तिशालीशतम्** है ; **सहस्रं सहस्वत्** (निरु० ३, १०, १) । ऐसे ही **जरिता=गरिता** (निरु० १, ७, १) । यहाँ कण्ठोष्ठ्य 'ग्व्' ($\hat{g}^{u}$) का तालव्य 'ज्' में परिवर्तन सर्वथा वैज्ञानिक है । आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसार यास्क की कुछ निरुक्तियाँ तो उन्हें सर्वथा स्वीकार्य हैं, कुछ ध्वनि की दृष्टि से स्वीकार्य हैं, किन्तु अर्थ की दृष्टि से नहीं, कुछ अंशतः स्वीकार्य हैं, क्योंकि वे अत्यन्त प्राकृत (Primitive) हैं, कुछ के स्वीकार किये जाने को सम्भावना है, तो कुछ सर्वथा अस्वीकार्य हैं, कुछ सर्वथा अशुद्ध हैं, तो कुछ असम्भव हैं; कुछ इतनी दुर्बोध हैं कि उनके विषय में किसी प्रकार की सम्मति नहीं दी जा सकती[5] ।

यह ठीक है कि आज हम यास्क के सभी निर्वचनों को मान्यता प्रदान नहीं कर सकते । उनमें अनेक त्रुटियाँ हैं और वे सभी आधुनिक विज्ञान की तुला पर तोलने से पूरे नहीं उतरते, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि निरुक्त को 'विज्ञान का प्रतिवाद' (Traversity of Science) तथा निर्वचनों को अशुद्ध सिद्धान्त पर आश्रित होने के कारण निरर्थक (Senseless) तथा निर्वचनविधि को

---

१. निरु० ७, १२, ७-८ **कुब्जतेर्वा कौटिल्यार्थस्य, उब्जतेर्वा न्यग्भावार्थस्य, ईषद्भुग्नभावादुभयार्थोपपत्तेः** (दुर्ग०) ।

२. निरु० ४, ९ ।

३. निरु० १, ९, १ ।

४. तु० भारो० oqu—to see; Gk. *osse*.

५. द्र० सि० वर्मा, ईटि० या०, भूमिका, पृ० १९ ।

मूर्खतापूर्ण (Absurd) तथा 'मानव बुद्धि का दुरुपयोग मात्र' कह कर इसकी अवहेलना की जाये[१]। यास्क के विषय में इस प्रकार के अनियन्त्रित प्रलाप का मुख्य कारण आलोचकों द्वारा व्याकरण की व्युत्पत्ति-प्रक्रिया तथा निरुक्त की निर्वचन-प्रक्रिया में भेद न कर सकने की निजी अक्षमता है। यास्क ने अपनी रचना को स्वतन्त्र विद्यास्थान, व्याकरण का पूरक तथा स्वप्रयोजन का साधक कहा है[२]। इसका कार्य-क्षेत्र व्याकरण के कार्यक्षेत्र से भिन्न है, दुर्गाचार्य का कथन है कि व्याकरण द्वारा स्वर-संस्कारों पर ही विचार किया जाता है। अतः जब तक निरुक्त का ज्ञान न हो, व्याकरण अधूरा है, क्योंकि निरुक्त न जानने वाला अर्थ का निश्चय करने में समर्थ नहीं हो सकता[३]। अतः यह अर्थ-निर्वचन-शास्त्र स्वतन्त्र विद्या-स्थान है। व्याकरण तो लक्षण-प्रधान है (शब्द प्रधान)[४]। निर्वचन शब्द का अर्थ है—'अर्थान्वाख्यान' है[५]।

इसलिए शब्दों के विषय में निरुक्त की प्रक्रिया व्याकरण की पद्धति से सर्वथा भिन्न है और उसके निर्वचनों को व्याकरण की कसौटी पर कसना सर्वथा असंगत तथा भारी भूल है। इस विषय में यास्क ने स्पष्ट चेतावनी दी है कि निर्वचन-कर्ता को शब्द के स्वरसंस्कार की अधिक परवा नहीं करनी चाहिये, अपितु अर्थ को ध्यान रख कर शब्द की परीक्षा करनी चाहिये[६]। समान रूप वाले शब्दों का भी अर्थभेद या कार्यभेद होने पर निर्वचन भेद होना आवश्यक है। स्कन्द ने कहा है—**नानाकर्मत्वाच्च निर्वचनान्यत्वम्** (निरु० २, ८; भाष्य, भाग २ पृ० ६३)। इस दृष्टि से देखने पर यास्क की ये निरुक्तियां समझ में आ जाती हैं। **इन्द्राणी=इन्द्रस्य पत्नी** (११, ३७); **व्याघ्रः=व्याघ्राणाद् व्यादाय हन्ति इति वा** (३, १८); **अन्धस्=आध्मानीयं भवति** (५, १०); **ऋक्षाः=उदीर्णानीव ख्यायन्ते** (३, २०); **रश्मिः=यमनात्** (२, ५); **द्वारः=जवतेर्वा, द्रवतेर्वा, वारयतेर्वा** (८, ९), **अन्नम् = आनतं भूतेभ्यः** (३, ९); **अग्निः = अग्रणी भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः** (७, १४), **मेधा=मतौ धीयते** (३, १९)।

---

१. राजवाड़े, यास्कस् निरुक्त, भाग १, भूमिका, पृ० ४१-४३ स्वयं राजवाड़े की निरुक्तियाँ इतनी अनर्गल तथा ऊल-जलूल हैं कि उनका सिर-पैर समझ सकना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

२. **तदिदं विद्यास्थानं, व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकञ्च** (१, १५)।

३. **व्याकरणेन हि स्वरसंस्कारौ चिन्त्येते, तस्मादपरिसमाप्तमेव तावद् व्याकरणं यावन्निरुक्तं नाधिगतम्, न हि अनैरुक्तोऽर्थमवधारयितुमलम्** (निरु० १, १५ पर टीका)।

४. निरु० १, १५ पर ही।

५. **निर्वचनं नामार्थस्यान्वाख्यानं**—अनन्तभट्ट, भाषिकसूत्र ३, ६; **अर्थनिर्वचनायि निर्वचनानि** (प्रपञ्च हृदय)।

६. **अर्थनित्यः परिक्षेत ··· ··· न संस्कारमाद्रियेत्** (२, १, ३-४)।

इन निर्वचनों को मूर्खतापूर्ण कहना[१] सर्वथा अनुचित है। ये शब्द-निर्वचन नहीं, अपितु अर्थ-निर्वचन है। **रश्मिः यमनात्** का यह भाव नहीं कि रश्मि की उत्पत्ति √यम् से की जाती है, अपितु रश्मि को यह नाम इसलिए दिया गया है कि बन्धनार्थक (√यम्) √रश् से बनता है[२]।

यह नहीं कि यास्क व्याकरण की प्रक्रिया से अपरिचित थे। अर्थानुकूल स्वर-संस्कार सिद्ध होने पर व्याकरण-प्रक्रिया का भी आश्रय लेते हैं, यथा—**अश्वः=अश्नुतेऽध्वानम्** (२, २६); **श्रद्धा=श्रद्धानात्** (९, ३०); **अवसम्=अवतेर्गत्यर्थस्यासौ नामकरणः** (१, १७); **कण्टकः=कृन्ततेः** (९, ३२); **ऊर्क्=पक्वं, सुपरिवृक्णमिति** वा (३, ८); **समुद्रः=समुद्द्रवन्त्यस्मादापः, समभिद्रवन्त्येनमापः, सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि, समुदको भवति, समुनत्तीति** वा (२, १०)। वैयाकरण इसकी व्युत्पत्ति सम्+√उदि-क्लेदने से करते है[३]। शेष अर्थ-निरुक्तियां हैं। व्याकरण के प्रति उनकी आस्था का प्रमाण उनके अपने वचनों से मिलता है कि व्याकरण से अनभिज्ञ के सामने निर्वचन नहीं करने चाहिये[४]। जब यास्क एक शब्द के अनेक निर्वचन करते हैं, तो वह उस शब्द के विविध अर्थों तथा पदार्थ के विविध प्रयोगों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। इन निर्वचनों को सदा उनके निर्वचन-विषयक सन्देह या अरुचि के द्योतक नहीं मानना चाहिये।

उनका सिद्धान्त है कि समान कर्म (अर्थ) वाले शब्दों के निर्वचन भी समान ही होते है, नाना अर्थों वाले शब्दों के निर्वचन भी भिन्न-भिन्न होते हैं, उनका निर्वचन अर्थानुकूल ही करना चाहिये[५]। इसीलिये उन्होंने **निर्ऋति** (निघ० १, १, १६) के दो निर्वचन किये हैं, क्योंकि इसके दो अर्थ हैं—(१) **पृथिवी** (२) **कृच्छ्रापत्ति**। पृथिवी अर्थ में निर्वचन किया है—**निरमणात्** (जहां लोग आनन्द मनाते हैं)=नि+√रम् से; 'कृच्छ्रापत्ति' के अर्थ में—**ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा। सा पृथिव्या सिन्दह्यते, तयोर्विभागः**[६]। कृच्छ्रापत्ति के अर्थ में इसका निर्वचन √ऋ से किया जाता है। दोनों शब्दों में सन्देह हो जाने की संभावना के कारण उनका विभाग करने के लिए पृथक् निर्वचन करना चाहिये। नि+√ऋ-

---

[१] सि० वर्मा, वही पृ० ११८-११९।

[२] तु० **रस्सी** (=डोर)<रश्मि।

[३] **स्फायितञ्चि०** (उणा० २, १३)।

[४] **नावैयकरणाय (निर्ब्रूयात्)** (निरु० २, ३, ५)।

[५] निरु० २, ७, २—**तानि चेत् समानकर्माणि समान-निर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नाना-निर्वचनानि यथार्थं निर्वक्तव्यानि** द्र० स्कन्द० निरु० भा० २, ८; भाग २, पृ० ६३।

[६] निरु० २, ३, ७।

गतौ=दुर्गति। यास्क के अनुसार जिन शब्दों की व्याकरण की प्रक्रिया स्पष्ट है, उन **प्रत्यक्षवृत्ति** शब्दों का निर्वचन व्याकरण के अनुसार करना चाहिये। जहां व्याकरण की प्रक्रिया अस्पष्ट है, उन **परोक्षवृत्ति** शब्दों का निर्वचन अर्थ के अनुकूल व्याकरण की वृत्ति का आश्रय लेकर करना चाहिये। जिन शब्दों की व्युत्पत्ति पर किसी प्रकार से प्रकाश न पड़ सकता हो, उन **अतिपरोक्षवृत्ति** शब्दों का निर्वचन शब्द तथा उसके मूल के रूप में या उस शब्द के किसी अंश के अर्थों की ओर संकेत करने वाली ध्वनियों की समानता के आधार पर कर देना चाहिये[१]।

निर्वचन के इन सामान्य सिद्धान्तों को ध्यान में रख कर अब हम यास्क के कुछ निर्वचनों पर दृष्टिपात करते हैं। यास्क के कुछ निर्वचन तो आधुनिक भाषाविज्ञान को सर्वथा स्वीकार हैं। यथा—अङ्कस्<अञ्चु-झुकना, ग्रीक ανκοινα टेढ़ी मेढ़ी वस्तुएं (अञ्चतेः)[२]।

कुछ ध्वनि की दृष्टि से तो स्वीकार हैं, किन्तु अर्थों की दृष्टि से नहीं। यथा—राजा<√राज्-दीप्तौ[३] भारो० reĝ- to direct। कुछ अंशत स्वीकार है, यथा—द्यु<√द्युत्-दीप्तौ[४] किन्तु भारो० √द्यु (*diu to shine ; ग्रीक-δεκλοσ-visible। कुछ सन्देहास्पद है। भर (संग्राम)<√भृ- धारणे[५] भारो० *bher ; GK. φερο=मैं धारण करता हूं। कुछ के स्वीकार होने की संभावना है। काशि (=मुष्टि)<√काश् प्रकाशने[६] quo-ḱ. 'देखना'।

कुछ निरुक्तियां 'लोक-निरुक्तियां हैं, जो परम्परया प्रसंगवश ब्राह्मणों या किंवदन्तियों तथा कल्पना पर आधृत हैं। यथा—अङ्गिरस्<अङ्गार। (अङ्गारेषु अङ्गिराः)[७] भारो० angiros=सन्देशहरः ग्रीक angellos (सन्देशहर), स्यालः<(साला)<स्यात् (शूर्पात्) स लाजानावपति'[८] भारो० sidurio- = पत्नी का भ्राता ; रूसी—surin। कहीं-कहीं यास्क एक शब्द को अनेक धातुओं से निश्पन्न मानते है, यथा—अग्नि=√इ (=अ)+√अञ्ज् या √दह् (=ग्)+√नी (=नि) **अग्निः स खल्वेतेरकारमादत्ते, गफारमनक्तेर्वा दहते र्वा, निः-परः**[९]

---

१. निरु० २, १।
२. निरु० २, २८।
३. निरु० २, ३।
४. निरु० १, ६।
५. निरु० ४, २४।
६. निरु० ६, १।
७. निरु० ३, १७।
८. निरु० ६, ९।
९. निरु० ७, १४।

यद्यपि यह मत शाकपूणि का है, तो भी वह इसका अनुमोदन करते हैं। उन्होंने स्वयं भी इस प्रकार के निर्वचन किये हैं। **अंशुः शमष्टमात्रो भवति। अननाय शं भवतीति वा**[1]।

√शम् (=अं)+√अश् (=श्)+उ। अथवा √अन् (=अ)+√शम् (=श्)+उ।

इन विचित्रताओं तथा त्रुटियों के रहते भी यास्क ने हमें भाषा-विज्ञान की प्रक्रिया तथा उसके आधार-भूत सिद्धान्तों की आधारभित्ति उस समय प्रदान को, जबकि संसार के किसी भी भाग में इस विषय में किसी प्रकार के विचार की क्षमता तो दूर रही, अंकुर भी उत्पन्न नहीं हुए थे। आज हम अनेक अंशों में यास्क के कन्धों पर खड़े होकर निर्वचन-प्रक्रिया की वास्तविकता को दूर तक देख सकते हैं, जिसने पाणिनि का भी पथ-प्रदर्शन किया और जो हमारे लिए भी प्राचीन आर्य-भाषा के अनेक धुन्धले पदार्थों को दृग्गोचर करने के हेतु प्रकाशस्तम्भ का काम देते हैं।

यास्क तथा पदकार शाकल्य

यास्क ने निरुक्त के अन्य प्रयोजनों के साथ-साथ इस शास्त्र की सहायता से संहिता का पदविभाग करना भी एक प्रयोजन माना है। निरुक्त के बिना पदविभाग नहीं किया जा सकता[2]। इसका कारण स्पष्ट है। अर्थज्ञान के बिना पदविभाग सम्भव नहीं और निरुक्त के ज्ञान के बिना मन्त्रार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता[3]। अतः राजवाड़े का यह प्रश्न हास्यास्पद है कि क्या पदकार शाकल्य नैरुक्त था? पदकार को पदनिर्वचन का ज्ञान होना ही चाहिये। स्वयं यास्क ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए 'अवसाय' पद का उदाहरण दिया है। एक स्थल पर (ऋग्० १०, १६९, १) तो 'अवस्' शब्द का चतुर्थी एकवचन है, जहां इसका अर्थ 'गौ' या 'आजीविका' है। यहां √अव—गतौ+अस् से निष्पन्न इस पद का पदपाठ में विग्रह नहीं किया गया है[4]। अन्यत्र अव+√सो—(स्यति) विमोचने+ल्यप् से निष्पन्न 'अवसाय' का पदपाठ में विश्लेषण किया गया है **(अवऽसाय)**[5]।

---

[1] निरु० २, ५।

[2] **अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते** (निरु० १, १७, १)।

[3] **अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते** (वही० १, १५, ११)।

[4] **अवतेर्गत्यर्थस्यासो नामकरणः तस्मान्नावगृह्णन्ति** (निरु० १, १७, २)।

[5] **अवसायाश्वान्; स्यतिरुपसृष्टो विमोचने, तस्मादवगृह्णन्ति** (निरु० १, १७, २)।

यास्क ने पदकार के पदविश्लेषण का कई स्थलों पर विरोध किया है, तो भी स्कोल्ड का यह वचन अप्रामाणिक है कि यास्क के समय में पदकार को प्रमाण नहीं माना जाता था और यास्क को पदकार का ज्ञान नहीं था[1]। यास्क ने तो पदकार शाकल्य का नामनिर्देशपूर्वक उल्लेख किया है[2]।

वायो (ऋग् १०, २९, १) को पदकार ने दो पद मानकर **वा, यः** ऐसा पदपाठ लिखा है। यास्क ने इसे एक ही पद **वायः** (=पक्षी का) स्वीकार किया है। यास्क का तर्क यह है कि यदि **यः** पद को स्वतन्त्र माना जाये, तो **न्यधायि** में **अधायि** तिङन्तपद को उदात्त होना चाहिये[3] और उस अवस्था में अर्थ भी असमाप्त ही रहेगा[4]। बृ० दे० (२, ११४) ने यास्क की इस आपत्ति का विरोध किया है कि **अधायि** का स्वर न समझने के कारण ही यह आपत्ति उठाई गई है, किन्तु शौनक का यह आक्षेप समझना कठिन है।

ऋग्० (५,३९,१) में आये **मेहना** पद को भी पदकार ने एक ही पद माना है। यास्क ने इसे एक पद मानकर इसका अर्थ **मंहनीय** (=श्रेष्ठ, पूजार्ह) किया है, किन्तु विकल्प में इसे (**मेहना=मे, इह, ना**) तीन पद मानकर विश्लेषण किया है[5]। एक और मंत्र (ऋग्० १, १०५, १८) में **मासकृद् वृकः** में पदकार ने **मा, सकृत्** ऐसे दो पद मान कर इसका अर्थ 'मुझे एक बार' ऐसा करने का संकेत किया है और सभी भाष्यकारों ने इसी अर्थ को स्वीकार किया है। यास्क ने इसे **मासकृत्** एक पद मानकर इसका अर्थ 'चन्द्रमा' किया है। बृ० दे० ने यहाँ भी यास्क का विरोध किया है[6]। किन्तु विरोध का कारण नहीं बताया, किन्तु इस विषय में यास्क का सुझाव मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि **मा** के बिना मन्त्रार्थ अपूर्ण रह जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यास्क ने बल-पूर्वक अपने मत को प्रकट करते हुए शाकल्य का विरोध करने का साहस किया। ऐसे असंख्य वैदिक शब्द हैं, जिनका विश्लेषण किया जा सकता है। किन्तु पदकार ने उनका विश्लेषण नहीं किया। इस विषय में पदकार कुछेक परम्पराओं का पालन करते प्रतीत होते हैं, जिनके उपजीव्य सिद्धान्तों की प्रतिपत्ति आज कठिन हैं[7]।

---

१. द्र० निरु० पृ० ७। २. निरु० ६, २८, ३।

३. तु० पा० **यद्वृत्तान्नित्यम्** (८, १, ६६)।

४. निरु० ६, २८।

५. तु० साम० पपा० १, १४५—मे, इह, न।

६. द्र० बृ० दे० २, ११२, ११३; ओल्डनबर्ग का सुझाव है कि यहां **मा, असकृत्** पपा० हो सकता है किन्तु, '**असकृत्**' पद का ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं भी प्रयुक्त न होने के कारण यह सुझाव अमान्य है।

७. द्र० सि० वर्मा, ईटि०, पृ० १५०-१७९; के० एल० शर्मा, प्रातिशाख्यस् एण्ड पदपाठ **पं० चारुदेव शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृ० १३३-१४८; (*Charudeva Shastri Felicitation* Vol., p. 133-148).

त्रयोदश अध्याय

निरुक्त तथा पश्चात्कालिक साहित्य

जैसा कि हम कह चुके हैं, निरुक्त से पूर्व न केवल संहिताएं, ब्राह्मण, उपनिषद् कई शिक्षा-ग्रन्थ, प्रातिशाख्य, व्याकरण तथा निरुक्त सबका निर्माण हो चुका था और यास्क ने इन सबसे लाभ उठाया, अपितु उनकी आलोचना करके अपने मत का प्रतिष्ठापन भी किया। यास्क की अनेकानेक निरुक्तियां ब्राह्मण-निर्वचनों पर आधृत ही नहीं, हूबहू वही भी हैं। इसी प्रकार देवतावाद की प्रतिष्ठापना भी संहिताओं तथा ब्राह्मणों पर आधृत है। यास्क से अवरकालिक वैदिक-साहित्य-स्रष्टाओं ने यास्क के अप्रतिहत वैदुष्य तथा अप्रतिम प्रतिभा के आगे सिर झुका कर उनकी रचना के अमूल्य रत्नों से अपनी कृतियों को सजाया, संवारा तथा अमर हो गये। बृहद्देवता तथा ऋग्वेद-सर्वानुक्रमणी इस तथ्य के निदर्शन हैं। पाणिनि जैसे वैयाकरण और पतञ्जलिसदृश भाष्यकार भी अपनी कृतियों में प्रतिपादित अनेक सिद्धान्तों की सत्यता और अक्षुण्णता के लिए यास्क के ऋणी हैं। जहां यास्क ने अपने नैरुक्त-सम्प्रदाय का सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि सभी नाम आख्यातज होते हैं, वहां वैयाकरणों के इस पक्ष को हमारे समक्ष रख दिया कि सभी नाम आख्यातज नहीं होते। पाणिनि ने वैयाकरण-सम्प्रदाय के सिद्धान्त के अनुरूप ही उभय पक्षों को स्वीकार करके व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न दो प्रकार के शब्दों को स्वीकार करके उणादियों को भी अपने व्याकरण के अन्तर्गत लपेट लिया।

यास्क ने औदुम्बरायण के शब्द के 'इन्द्रियनित्यत्व' के सिद्धान्त के खोखलेपन को स्पष्ट करके पतञ्जलि तथा तदनन्तर व्याकरणदर्शनकेसरी भर्तृहरि के लिए शब्द-नित्यत्व के सिद्धान्त के प्रतिपादन का मार्ग प्रशस्त एवं निरापद कर दिया।

यही नहीं कि यास्क ने केवल प्राचीन विद्याओं को ही अपने प्रखर बुद्धि-वैभव से ऐश्वर्यान्वित किया है, अपितु नवीनतम शास्त्र भाषा-विज्ञान का भी अनेक दिशाओं में मार्गदर्शन कराया है। इसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। अब हम विविध ग्रन्थों से तुलनात्मक प्रसंगों को उद्धृत करके यास्क के विशाल अध्ययनशील मस्तिष्क से परिचय प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, यथा—

निरुक्त	तै० सं०
१, ५ : वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा।	१, ७, ७, २
१, १५ : उरु प्रथस्व।	१,१;८,१; १,२,१२,२; ६, २, ७, ३

ओषधे त्रायस्वैनम् ।	१, २, १, १ ; ··· ··· ६, ३, ३, २
एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः	१,३,५, १··· रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे ।
अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीति	६, ३, ७, १
६, ८ सा मे सत्याशीर्देवेषु	३, २, ७, २
१०, ५ : यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् । इति हारिद्रविकम् ।	१,५,१,१ सोऽरोदीत् । यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् ।
११, ३३ : कुहूमहं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवां जोहवीमि । सा नो ददातु श्रवणं पितॄणां तस्यास्ते देवि हविषा विधेम ।	३, ३ ११ कुहूमहं सुभगां विद्मना ··· ··· । ३, ३, ११
१२, ४१ अग्निः पशुरासीत् । तमालभन्त तेनायजन्त । इति च ब्राह्मणम् ।	५, ७, २६, १ अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त, स एतं लोकमयजत् ।
निरुक्त	मै० सं०
१, १, १५ असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् ।	२, ९, ९
३, ४ तस्मात्पुमान्दायादः । अदायादा स्त्री इति विज्ञायते तस्मात्स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम् इति च ।	४, ६, ४···तस्मात्पुमान्दादः । स्त्र्यदायादा यत्स्थालीं परास्यन्ति न दारुमयं तस्मात्स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम् ।
३, २१ ग्नास्त्वाकृन्तन्नपसोऽतन्वत । कृत्तिवासाः पिनाकहस्तोऽवततधन्वा ।	१, ९, ४ १,१०,४ पिनाकहस्तो कृत्तिवासाः··· ।
५, ११ अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वम् शमीध्वमध्रिगो ।	४, १३, ४ अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वमध्रिगो ।
७, १९ यत्तज्जातः पशून विन्दत तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम् । इति ब्राह्मणम् ।	१, ८, २ यज्जातः ··· ··· । ··· ··· जातवेदस्त्वम् ।
तस्मात्सर्वानृतून्पशवेऽग्निमभिसर्पन्ति इति च ।	तस्मात् ··· ··· अभिसर्पन्ति ।
८, १९ देवेभ्यो वनस्पते हवींषि ··· ··· रजिष्ठैः ।	४, १३, ७

८, २० वनस्पते रशनया··· ···वोचः ।	४, १३, ७
७, २४ अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति ······असावादित्योऽग्निं रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति ।	११, १० अग्निर्वा······ यदा सा आदित्योऽर्वाङ् रश्मिभिः पयावर्तते ····· वर्षति ।
निरुक्त	काठ० सं०
१२, १३ अग्निं चित्वा न रामामुपेयात् । रामा रमणायोपेयते न धर्माय ।	२२, ७ अग्निं चित्वा प्रथमं चित्वा न रामामुपेयात् ······ ।
निरुक्त	ऐ० ब्रा०
१, १६ एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं । यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदतीति च ब्राह्मणम् ।	१, ४, ९ एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति ।
४, २७ पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति च ब्राह्मणं हेमन्तशिशिरयोः समासेन । षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्रा इति ब्राह्मण समासेन ।	१, १, १४ पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन । तावान् संवत्सरः । २, १७, २ त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहानि ।
४, २७ सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्रा इति च ब्राह्मणं विभागेन ।	२, १७, ४ सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्राः ।
७, ११ शरदनुष्टुबेकविंशः स्तोमो वैराजं सामेति पृथिव्यायतनानि । हेमन्तः पंक्तिस्त्रिणवः स्तोमः शाक्वरं सामेत्यन्तरिक्षायतनानि ।	५, ४, १ एकविंशः स्तोमो वैराजं सामानुष्टुप् छन्दः ··· ··· । ५, ६, १ त्रिणवस्तोमः शाक्वरं साम पंक्तिश्छन्दः ··· ··· ।
निरुक्त	तै० ब्रा०
३, ८ असोरसुरानसृजत्, तदसुराणामसुरत्वम् इति विज्ञायते ।	२, ३, ८, २ तेनासुनाऽसुरानसृजत् । तदसुराणामसुरत्वम् ।
३, २० नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः ।	१, ५, २, ५, ६ अमुं स लोकं नक्षते । तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम् ।

निरुक्त	श० ब्रा०
१, ७ दक्षिणा दक्षतेः समर्धयतिकर्मणः	२, २, २, २ ते (यज्ञं) देवा दक्षिणाभिरदक्षयंस्तद् यदेनं दक्षिणाभिरदक्षयं स्तस्माद् दक्षिणा नाम ।
२, १० समुद्द्रवन्त्यस्मादापः । समभिद्रवन्त्येनमापः ।	१४, २, २, २ एतस्माद् वै समुद्रात्सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि समुद्द्रवन्ति ।
३, १६ पशुः पश्यतेः	६, २, १, ४ यदपश्यत्तस्मादेते पशवस् तेऽवेतमपश्यत्तस्माद्धैवैते पशवः ।
४, २१ अथापि शंयुर्बार्हस्पत्य उच्यते ।	१, ९, १, २४ शम्युर्ह वै बार्हस्पत्यः ।
७, १४ अग्निः ·· अग्रणी भवति । अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते ।	२, २, ४, २ स जातः पूर्वः प्रेयाय, यो वै पूर्व एत्यग्रऽएतीति वै तमाहुः ··।
७, २३ अथासावादित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः ।	९, ३, १, २५ वैश्वानरोऽसौ स आदित्यः ।
७, २४ ··· ···ब्राह्मणानि भवन्ति ।	१३,३,८,३ इयं (पृथिवी) वै वैश्वानरः ।
पृथिवी वैश्वानरः। संवत्सरो वैश्वानरः	६,६,१,५ संवत्सरो वैश्वानरः ।
९,२० उरु मे कुर्वित्यब्रवीत् । तदुलूखलमभवत् । उरुकरं वै तत्तदुलूखलम् ··ब्राह्मगम्	७,५,१,२२ उरु मे करदिति तस्मादुरुकरम् । उरुकरं ह वै तदुलूखलम् ··· ··· ।
१२, १४ अन्धो भग इत्याहुः···ब्राह्मणम् ।	१, ७, ४, ६ तस्मादाहुरन्धो भग इति ।

निरुक्त	गोपथ ब्रा०
४, २७ ऋतुः संवत्सरः	१, ५, ५ त्रयो वा ऋतवः संवत्सरस्य ।
७, १० माध्यन्दिनं सवनं ग्रीष्मस्त्रिष्टुप् पञ्चदशस्तोमो बृहत्साम ।	१, १, १७ ···त्रैष्टुभं छन्दः, पञ्चदशं स्तोमं······ग्रीष्ममृतुम् ।
७,११ असौ लोकस्तृतीयं सवनं वर्षा जगती सप्तदश स्तोमः ।	१, १, २९ ··· आदित्यो दैवतम् तदेव ज्योतिर्जागतं छन्दो द्यौः स्थानम् ।

इसी प्रकार के और भी उदाहरण उपलभ्य हैं[1]। ऋक्सर्वानुक्रमणी में तो पग-पग पर निरुक्त को आधार माना गया है। षड्गुरुशिष्य ने सर्वानु० की व्याख्या में निरुक्त का सहारा लिया है।

---

[1] द्र० लक्ष्मणसरूप, निघण्टु तथा निरुक्त, पृ० २४७-२६३ ।

अथर्व प्रातिशाख्य का प्रथम सूत्र ही निरुक्त के प्रथम वाक्य **चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च** को मानो आधार मान कर निर्मित हुआ हो—**चतुर्णां पदजातानां नामाख्यातोपसर्गनिपातानां सन्ध्याद्यौ गुणौ।** बृहद्देवता ने भी निरुक्त का अनुकरण सम्पूर्ण रचना में किया है—

निरु०	बृ० दे०
१, १ भावप्रधानमाख्यातम्।	२, १२, १ भावप्रधानमाख्यातम्
पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातमाचष्टे	१, ४४ यः पूर्वापरीभूत इहैक एव। आख्यातशब्देन तमर्थमाहुः।
१, ४ निपाता उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। अप्युपमार्थेऽपि कर्मोपसंग्रहार्थेऽपि पदपूरणाः।	२, ८९ उच्चावचेषुचार्थेषु निपाता समुदाहृताः। कर्मोपसंग्रहार्थे च क्वचिच्चौपम्यकारणात्।
१, ४ तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्तीति। इवेति ··· ··· ··· नेति चिदिति ··· ··· न्विति।	२, ९१ इव न चिन्नु चत्वार उपमार्था भवन्ति ते।
१, ६ न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद् वेद यदद्भुतम्। अन्यस्य चित्तमभिसञ्चरेण्यमुताधीतं विनश्यति।	४, ५०-५१ न श्वो नाद्यतनं ह्यस्ति वेदकस्तद्यदद्भुतम्। कस्य चित्त्वर्थसञ्चारे चित्तमेव विनश्यति।
१, ९ पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थका कमीमिद्विति।	२,९०-९१ मिताक्षरेषु ग्रन्थेषु पूरणार्थास्त्वनर्थकाः। कमीमिद्विति विज्ञेया ये त्वनेकार्थकाश्च ते।
२, १० देवापि-शन्तनु की कथा।	७, १५५-१५७ ; ८, १-६।
२, २४ विश्वामित्र तथा नदी कथा।	४, १०, १०६-१०७।
५, १४ सर्वे देवाः पुष्करे त्वाधारयन्त।	५, १५५ सर्वत्र पुष्करं तत्र विश्वेदेवा अधारयन्त।
५, १३ उर्वश्यप्सराः ··· ··· तस्य रेतश्चस्कन्द।	५, १४९ तयोरादित्ययोः सत्रे दृष्ट्वाप्सरसमुर्वशीम्। रेतश्चस्कन्द तत्कुम्भे न्यपतद्वासतीवरे।

इस प्रकार बृहद्देवता तो एक प्रकार से निरुक्त की प्रतिलिपि कही जा सकती है। डा० सरूप ने अपने निरुक्त के हिन्दी अनुवाद की भूमिका के परिशिष्ट में इकसठ स्थान ऐसे गिनाये हैं, जिनसे बृ० दे० निरुक्त की सर्वथा और शब्दशः अनुकृति प्रतीत होती है।

दस स्थानों पर पाणिनि भी निरुक्त के उपसर्ग-प्रकरण का अनुकरण करते प्रतीत होते हैं। अर्थात् निरुक्त १, ३=पा० १, ४, ८३-९७।

इसी प्रकार उणादि सूत्रों में अनेकों पदों की निर्मिति निरुक्त के अनुकरण पर की गयी है, यथा—

निरुक्त	उणादि सूत्र
१, ७ दक्षिणा दक्षतेः।	२, ५० द्रुदक्षिभ्यामिनन्।
१, १३ प्रथनात् पृथिवीत्याहुः।	१, १५० प्रथेः षिवन् संप्रसारणं च।
१, २० भीमो बिभ्यत्यस्मात्।	१, १४७ भियः षुग्वा।
२, ६ वृक्षो व्रश्चनात्।	३, ६६ स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्।
३, ५ श्मश्रुलोम। श्मनिश्रितं भवति।	५, २८ श्मनि श्रयतेर्डुन्।
३, १० तडित् ··· ताडयतीति सतः।	१, १०० ताडेर्णि लुक् च।
३, २१ स्त्रियः स्त्यातेः ··· ···	४, १६५ स्त्यातेर्डट्।
४, १७ रयिरिति धननाम। रातेर्दानकर्मणः।	२, ६६ रातेर्डैः।
७, २४ घृतमिति उदकम्। जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः।	३, ८९ अञ्जिघृसिभ्यः क्तः।
९, २७ आप आप्नोतेः।	२, ५८ आप्नोतेर्ह्रस्वश्च।
१०, ५ रुद्रः ··· रोदयतेर्वा।	२, २२ रोदेर्णिलुक् च।
१०, ४ इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वा	१, १३ उन्देरिच्चादेः।

उणादियों में उन्हीं शब्दों की व्युत्पत्ति दिखाने का प्रयास किया गया है, जिनकी व्युत्पत्ति पा० द्वारा नहीं की गयी अथवा नहीं की जा सकती। यद्यपि वहुत से उणादि सूत्रों की रचना पूर्व-पाणिनि युग में की गयी मानी जाती है और इनका निर्माता शाकटायन माना जाता है, जो किसी भी शब्द को अव्युत्पाद्य न मानकर सभी नामों को आख्यातज मानता था और यास्क तथा उनका नैरुक्त-सम्प्रदाय भी सभी नामों को व्युत्पाद्य तथा सभी नामों को आख्यातज ही घोषित करता था—**तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणी ति गार्ग्यो वैयाकरणानाञ्चैके** (निरुक्त १, १२)। यहां **न सर्वाणि** पद के अनुरूप ही पा० भी उभयपक्षी थे। वे कुछ शब्दों को अवश्य ही आख्यातज मानने को तय्यार नहीं थे, शेष की व्युत्पत्ति तो स्वयं उन्होंने ही दर्शायी है। अतः उणादि सूत्रों का कर्ता शाकटायन हो या कोई अन्य व्यक्ति, या वह यास्क का समविचार। वर्तमान स्थिति में तो यास्क-पूर्ववर्ती शाकटायन उणादियों का कर्ता प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वर्तमान उणादियों का कर्ता अगणित स्थलों पर यास्क का अन्धानुकरण करता भी प्रतीत होता है।

वैयाकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी यास्क का अनुसरण किया है। अनेक स्थलों पर वह स्पष्ट रूप से यास्क के शब्दों की प्रतिध्वनि करता प्रतीत होता है, यथा—

निरुक्त	महाभाष्य
१, १ तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च।	१, १, १ ··· चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च।
भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि	५, ३, २ क्रियाप्रधानमाख्यातं भवति। ··· ··· द्रव्यप्रधानं नाम।
गौरश्वः पुरुषो हस्तीति।	१, १, १ गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिमृगः······।
१, २ षड्भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणि। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति इति।	१, ३, १ षड्भावविकारा इति ह स्माह भगवान् वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यतीति।
१, ३ परि इति सर्वतोभावम्।	५, १, १ परिः सर्वतोभावे वर्तते।
अधि इत्युपरिभावम्	१, ३, १ अधिरुपरिभावे वर्तते।
१, ७ मंहतेर्दानकर्मणः।	६, १, १ मंहतिर्दानकर्मा।
१, १८ यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तु ज्वलति कर्हिचित्।	१, १, १ यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते·····।
२, १ अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति स्तोका रज्जु सिकतास्तर्क्विति।	१, १, २ कृतेस्तर्कुः कसेः सिकताः हिंसेः सिंहः।
२, २ शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते ··· ··· विकारमार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु। दात्रमुदीच्येषु।	१, १, १ शवतिर्गतिकर्मा। कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति। विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। ··· ··· दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु। दात्रमुदीच्येषु।

२, १८ रातेर्वा स्याद्दानकर्मणः ।	खण्ड ३, पृ० ३६ रातेर्दानकर्मणः ।
२, २१ मेहतीति सतः ।	खण्ड ३, पृ० १६ मिहेर्मेघः ।
३, १ अपत्यं कस्मात् ……नानेन पततीति वा ।	५, १, २ ……अपत्यमिति अपतनाद् अपत्यम् ।
३, ९ धनं कस्मात् । धिनोतीति सतः ।	५, १, २ धिनोतेर्धनम् ।
३, १८ सिंहोर्हिंसेर्वा स्याद्, विपरीतस्य ।	३, १, ६ हिंसेः सिंहः ।
४, १० सक्तुमिव……वाचि ।	१, १, १ यास्क से बहुत मिलती-जुलती व्याख्या है ।

अतः सिद्ध होता है कि जहां एक ओर यास्क ने अपने से पूर्वाचार्यों के विचारों को आत्मसात् किया, वहां इन्होंने अपने पश्चात् आने वाले नैकविध विषयों के विद्वानों तथा लेखकों को अपने विचारों से प्रभावित किया। भारतीय शब्द-शास्त्र शताब्दियों से यास्क के वैदुष्यवित्त से मालामाल होता रहा है और शताब्दियों तक आगे भी तब तक होता रहेगा, जब तक शब्दशास्त्र की सत्ता रहेगी।

भारतीय शब्द-शास्त्र के इतिहास में यास्क का नाम सुनहरे अक्षरों में अङ्कित रहेगा।

निरुक्त का महत्त्व

निरुक्त संसार का सर्वप्राचीन निर्वचन-शास्त्र होने तथा भाषा-विज्ञान और व्याकरण दोनों शास्त्रों का पूरक एवं सहायक होने के कारण महत्त्वपूर्ण शास्त्र है तथा निर्वचन-शास्त्र को पृथक् स्वतन्त्र विज्ञान का स्थान प्रदान करने का सर्वप्रथम प्रयास है।

यास्क की इस सर्वप्राचीन उपलभ्य रचना ने निर्वचन के सिद्धान्तों को भी एक वैज्ञानिक विधा के अनुरूप हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है।

वैदिक मन्त्रों में कहीं-कहीं एक से अधिक देवताओं का संकेत होने पर उस मन्त्र के वास्तविक देवता का पता लगाने के लिए भी निरुक्त की सहायता मिल सकती है और इस प्रकार यज्ञयाग आदि कर्मकाण्ड में मन्त्रविनियोगार्थ निरुक्त का उपयोग किया जा सकता है।

इतना ही नहीं, मन्त्रार्थ के निश्चयार्थ भी इस शास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है। यास्क ने कहा भी है— **इदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते**[1] अर्थात्

---

[1] निरु० १, १५ ।

इसके बिना मन्त्रों में अर्थ का निश्चय नहीं होता। अपने इस पक्ष की पुष्टि के लिए यास्क ने प्राय: ६०० मन्त्रों की व्याख्या हमारे समक्ष प्रस्तुत की है। इस प्रकार यास्क अज्ञात भाष्यकारों में सर्वप्रथम ठहरते हैं[1]। निरुक्त को **विद्या-स्थान** कहकर इसे प्रसिद्ध चौदह विद्याओं में स्थान दिया गया है।

यद्यपि यह व्याकरण का पूरक शास्त्र है, तो भी यह व्याकरण पर सर्वथा निर्भर नही। यास्क ने स्वयं स्पष्ट कह दिया है—

न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति[2]।

अर्थात् शब्द की व्याकरण-विषयक व्युत्पत्ति को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये, क्योंकि ये वृत्तियां सन्देहास्पद होती हैं। व्याकरण शब्द के रूप को प्राधान्य प्रदान करता है, तो निरुक्त अर्थ-प्रधान शास्त्र है। पदार्थ की सिद्धि के लिए वह व्याकरण पर एक सीमा तक ही निर्भर रह सकता है, तो भी व्याकरण तथा निरुक्त का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

यद्यपि यास्क से पूर्व व्याकरण-शास्त्र का विकास ही नहीं हो चुका था, अपितु व्याकरण एक भरे-पूरे सम्प्रदाय के रूप में उभर कर नैरुक्तों के साथ कई विषयों में टक्कर भी लेने लगा था। यास्क ने अपने ग्रन्थ में व्याकरण-शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावलि का प्रयोग करके न केवल अपने से पूर्वभावी व्याकरण-शास्त्र की स्थिति पर प्रकाश ही डाला है, अपितु भावी वैयाकरणों के लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम भी किया है।

यास्क ने व्याकरण तथा वैयाकरण दोनों शब्दों का प्रयोग किया है[3]। वैयाकरण चार प्रकार के 'पद' मानते थे— नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात[4]।

यास्क ने आचार्य वार्ष्यायणि के मतानुसार **भाव** या **व्यापार** के छह भेदों का निरूपण किया है[5] तथा **भावप्रधानमाख्यातम्**, **सत्त्वप्रधानानि नामानि** कहकर **भाव** तथा **सत्त्व** शब्दों के अर्थों के साथ-साथ **आख्यात** तथा **नाम** के अर्थों को भी स्पष्ट कर दिया। इससे प्रतीत होता है कि वैयाकरण अभी तक इस विषय में किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सके थे।

---

[1] Winternitz, *Goschichte der Indischen Literatur*, III, p. 379.

[2] निरु॰ २, १।

[3] निरु॰ १, १२; १, १५; २, ३; ९, ५; १३, १।

[4] निरु॰ १३, ९।

[5] निरु॰ १, २।

उपसर्ग किसी अर्थ के द्योतक होते हैं या वाचक, इस विषय में उस समय दो पक्ष उभर कर सामने आ चुके थे[१]।

शब्द में व्याकरण-विषयक परिवर्तन की प्रक्रिया को यास्क ने **संस्कार** के नाम से अभिहित किया है[२] एवं प्रत्यय के योग से धातु में होने वाले विकार को **प्रादेशिक विकार** या **प्रादेशिक गुण**[३] के नाम से स्मरण किया है। धातु तथा प्रत्यय शब्दों का प्रयोग यास्क ने इन अर्थों में नहीं किया।

यद्यपि यास्क ने **आत्मनेपद तथा परस्मैपद** शब्दों का व्याकरणिक प्रयोग नहीं किया, तो भी उनके प्रयोगों से प्रकट होता है कि वह इन दो प्रकार की धातुओं से परिचित थे।

तत्रजात: (९, ८) तदर्हति (२, २), तस्मै हितम् (३, ७; ११, ३६), **तेन संस्कृतम्** (११, ३९), **सोऽस्य निवास:** (१०, ४४) प्रभृति अर्थों में तद्धित प्रत्ययों का प्रयोग होता था।

वृत्तियों के ये भेद प्रमाणित होते हैं—**कृत्**, तद्धित, **समास**[४], **कारित**[५], **चिकीर्षित**[६], **चर्करीत**[७] क्रमशः **कृदन्त**, **तद्धितान्त**, **समस्त**, **णिजन्त**, **सन्नन्त** तथा **यङन्त** या **यङ्लुगन्त** के द्योतक माने जाते थे।

पाणिनि द्वारा प्रयुक्त लोप तथा **उपधा**[८], **अन्वादेश**[९], **गुण**[१०], **संहिता**[११] शब्दों का प्रयोग यास्क ने उन्हीं अर्थों में किया है और अपने पश्चाद्भावी महावैयाकरण को मार्ग दर्शन कराया है। '**सर्वनाम**' का प्रयोग भी इसी कोटि में आता है[१२]। पाणिनि की ही सूचनानुसार **अयादि** सन्धि में निष्पन्न पदान्त **य्** तथा **व्** का शाकल्य के

---

[१] निरु० १, ३।

[२] वही, २, १।

[३] वही, १, १२; १४; २, १ (स्कन्द ने १, १२; १४ में **प्रादेशिकेन गुणेन** पाठ स्वीकार किया है)।

[४] वही, २, २।

[५] वही, १, १३।

[६] वही, ६, १।

[७] वही, २, १८।

[८] वही, २, १।

[९] वही, ४, २५; ६, १३; ३१; ७, ९।

[१०] वही, १०, १७।

[११] वही, १, १७।

[१२] **त्व इति सर्वनाम अनुदात्तम्।**

अनुसार नित्य लोप होता है[1]। इस नियम का यास्क ने एक बार भी उल्लङ्घन नहीं किया। इससे यास्क की प्राचीनता द्योतित होती है।

व्याकरण-विषयक इन प्रयोगों के द्वारा यास्क ने पाणिनि का भी पथ-प्रदर्शन किया है।

इन्होंने आधुनिक-भाषा की सुदृढ़ आधार-शिला रखी तथा निर्वचन-शास्त्र को वैज्ञानिक धरातल पर सर्वप्रथम उस प्राचीन काल में स्थापित किया, जिसमें निर्वचन-शास्त्र की अन्यत्र कहीं कल्पना भी नहीं की गयी थी। भले ही उनकी अनेक निरुक्तियां आज हमें अवैज्ञानिक एवं अटपटी-सी प्रतीत होती हों, किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यास्क का दृष्टिकोण इतना वैज्ञानिक था कि आज का भाषा-शास्त्री विस्मयाक्रान्त होकर उनकी सूझ-बूझ के समक्ष नतमस्तक हो रहा है।

शब्दों के रूप-परिवर्तनों को समझाते हुए यास्क ने आज के भाषा-वैज्ञानिकों की शब्दावलि का प्रयोग करके आधुनिक भाषा-शास्त्रियों को आश्चर्य-चकित कर दिया है।

इसके ये कारण हैं—

(क) आदिस्वरलोप (Aphesis)—✓अस्→स्तः।
(ख) मध्यस्वरलोप (Syncope) उपधालोप ✓गम्→जग्मतुः, जग्मुः।
(ग) सवर्णलोप (Haplology) ✓दा→दत्त→प्रदत्त→प्रत्तम्; अवत्तम्।
(घ) मध्यस्वरागम (Anaptyxis) स्वर-भक्ति (वर्णोपजन)
✓अस्→आस्थतः, ✓भ्रस्ज→भरूजा।
(ङ) वर्णविपर्यय (Metathesis) (आद्यन्तविपर्यय) ✓श्चुत्→स्तोकः,
✓सृज् > रज्जुः ✓कस् > सिकताः।
(च) समीकरण (Assimilation) ('आदिविपर्यय') ✓द्युत् > ज्योतिः।
(छ) महाप्राणीकरण (Aspiration) ✓मद् > मधु।
(ज) अल्पप्राणीकरण (Deaspiration) भिद् > बिन्दु।

शब्दशास्त्र के **रूपविज्ञान** (Morphology) में शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध-तत्त्व को समझना परमावश्यक है। इसके बिना वाक्यार्थ को समझना असम्भव है। रूपपरिवर्तन को यास्क ने 'व्यय' नाम दिया है। जिन शब्दों में रूप-परिवर्तन होता है, उन्हें वे **दृष्टव्यय** कहते हैं, अन्यों को **अव्यय** जिसका प्रयोग

---

[1] लोपः शाकल्यस्य पा० ८, ३, १९।

पाणिनि ने अपने व्याकरण में जी खोल कर किया है। इन सम्बन्धतत्त्वों (नाम और आख्यात दोनों) का उन्हें पूरा-पूरा ज्ञान था। कृत् और तद्धित प्रत्ययों को अलग करके शब्दव्युत्पत्ति का निर्देश इसमें प्रमाण है। यथा—'**अथ तद्धितसमासेषु एकपर्वंसु चानेकपर्वंसु च पूर्वंपूर्वं अपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्**' (१, २)।

अर्थ-तत्त्व शब्द का प्राण है और निरुक्त की आधार-शिला है। शब्द और अर्थ के इस घनिष्ठ सम्बन्ध को समझने वाला सर्वप्राचीन भाषा-वैज्ञानिक यास्क ही था। वैयाकरणों, नैयायिकों और मीमांसकों के दार्शनिक विचार-प्रवाह तो बहुत बाद में प्रवाहित हुए और यूरोप के विचारक तो हाल ही में जागे हैं।

अर्थ-परिवर्तन के कारणों पर यास्क ने स्थान-स्थान पर प्रकाश डाला है, और उपमा, रूपक तथा ताद्धित प्रयोगों को ही अर्थ-परिवर्तन का मुख्य कारण माना है। उदाहरणार्थ—**कक्ष्या** घोड़े की रस्सी को कहते हैं, जो उसके 'कक्ष' में बांधी जाती है। इसी सादृश्य के आधार पर मनुष्य की 'काँख' को भी कक्ष कहने लगे[1]। पशु के चार पैरों के कारण ही 'पाद' शब्द 'चौथाई' का वाचक हो गया[2]। गौ से सम्बद्ध अनेक पदार्थों के वाचक गो-शब्द के इतने अर्थ होने का कारण इनका ताद्धित प्रयोग है। गो शब्द के सूर्य, चन्द्र तथा किरणों के वाचकत्व का कारण '**अर्थादेश**' (Transference of Meaning) के सिद्धान्त में निहित हैं।

वैसे तो यास्क का वैदुष्य निरुक्त में सर्वत्र बिखरा पड़ा है, किन्तु यदि अनुसन्धान की आधुनिक प्रक्रिया का निदर्शन देखना हो, तो सप्तम अध्याय में **जातवेदस्** तथा **वैश्वानर** के वास्तविक अर्थान्वेषण की प्रक्रिया में देखना चाहिये। शब्द-निर्वचन तो भाषा-विज्ञान का अनिवार्य अंग है, और इसी के लिए निरुक्त का निर्माण हुआ है। अतः उस के विषय में और अधिक चर्चा व्यर्थ होगी।

निरुक्त के ज्ञान के बिना वैदिक संहिताओं के पदपाठ में पदों का विभाजन-विश्लेषण नहीं किया जा सकता। यथा, **अवसाय पद्वते** (पैरों से युक्त भ्रमणकर्ता अथवा यात्रा के लिए भोजन सामग्री) में √अव्+अस प्रत्यय से निष्पन्न 'अवस' शब्द में अवग्रह नहीं किया जाता। किन्तु **अवसायाश्वान्** (अश्वों को खोलकर) में **अव+√सो>स्यति** से निष्पन्न (**अव√सो+ल्यप्**) का पदपाठ में अवग्रह किया जाता है[3]।

---

१. **तत्सामान्यान्मनुष्यकक्षः। बाहुमूलसामान्यादश्वस्य** (निरु० २, २)।

२. **पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः** (निरु० २, ७)।

३. निरु० १, १७।

'चाहे यास्क की सभी निरुक्तियां असमीचीन सिद्ध क्यों न हो जायें—इन में से बहुत सी हैं भी—तो भी यास्क का महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि वह निर्वचन-शास्त्र की वैज्ञानिक आधार-शिला रखने वाले हैं तथा इस विज्ञान के सिद्धान्तों का निर्धारण करने वाले सर्वप्राचीन व्यक्ति हैं[1]।'

इस सन्दर्भ में राजवाड़े का यह लेख अर्थहीन है कि 'निरुक्त इस प्रकार की प्रशंसा के सर्वथा अयोग्य है, यह विज्ञान न होकर विज्ञान का प्रतिवाद है। उसका इतना आग्रह मात्र ही सर्वथा अवैज्ञानिक है कि सभी नाम आख्यातज होते हैं[2]।'

डा० सरूप की सम्मति में यास्क का यह सिद्धान्त सर्वथा समीचीन है कि 'अर्थ को दृष्टि में रख कर शब्द की परीक्षा करनी चाहिये[3]।'

---

[1] लक्ष्मण सरूप, निरु० भूमिका, पृ० १७-२१।

[2] *Yāska's Nirukta*, Intro. p. XLI.

[3] **अर्थनित्यः परीक्षेत** (निरु० २, १; द्र० स्कोल्ड, *The Nirukta*, p. 29-30; also *Preface*, XIII. 37; XIV. 2.

चतुर्दश अध्याय

निरुक्त के व्याख्याकार

(१) निरुक्त वार्तिक

निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य तथा स्कन्दस्वामी ने अपनी व्याख्याओं में "वार्तिक" नामक ग्रन्थ को अनेक बार उद्धृत किया है। इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि यह निरुक्त की समीक्षात्मक व्याख्या थी, जिसमें निरुक्त-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण समस्याओं का विवेचन किया गया था। दुर्ग ने वार्तिक को सादर उद्धृत किया है, जिससे निरुक्त के विविध विषयों पर प्रकाश डालने वाली इस रचना की प्रामाणिकता सिद्ध होती है, तो भी निरुक्त की टीकाओं में उपलब्ध उद्धरणों के अतिरिक्त न तो इस ग्रन्थ के विषय में और न ही इसके रचयिता के विषय में कोई परिचय प्राप्त हुआ है।

निघण्टु शब्द पर यास्क की टीका पर टिप्पणी करते हुए वार्तिककार ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि रूढ शब्द में जितने धातुओं की सत्ता के लिंग प्रतीत होते हों, उन सभी से उस शब्द के निर्वचन करने चाहिये[1]।

वार्तिककार के नाम से दुर्गाचार्य ने तीन और पद्य भी उद्धृत किये हैं[2]। इसके अतिरिक्त नाम निर्देश किये बिना **अपि चोदाहरन्ति, तदुच्यते, उक्तं हि** प्रभृति शब्दों से निर्दिष्ट ऐसे पद्य उद्धृत किये गये हैं, जिनके विषय में डा० विष्णुपद भट्टाचार्य का विचार है कि वे वार्तिककार के वचन हैं[3]। ऐसे दो पद्यों को

---

[1] द्र० दुर्ग०, निरु० १, १, ७—**अपि चोक्तं वार्तिककारेण** ··· ··· राजवाड़े ने इस पद्य का संकेत बृ० दे० २, १०४ में देखा है, किन्तु वहाँ का पद्य इससे सर्वथा भिन्न है।

[2] निरु० ६, ३, ४ ; ८, ४, २ स्कन्द ने इस **क्रमप्रयोजनं नाम्नां** ··· ··· पद्य को ८१३ में (निरु० भाग २, पृ० १२३) वार्तिककार (शौनक) के नाम से उद्धृत किया है। ११, १३, २। (बृ० दे० ५, ४९ स्वल्प पाठभेद)। स्कन्द ने भिन्न रूप से नाम निर्देश बिना उद्धृत किया है (निरु० भाग ४, पृ० ६२)।

[3] १, ९, ३ ; २, ३, ९ ; ४, १, १ ; ४, १, २ (दो पद्य) ; ७, ७, ९ ; ९, ११, १ ; १०, १, २।

बिना किसी अवतरणिका के उद्धृत किया गया है[1]। राजवाड़े के मत में यह वार्तिककार बृ० दे० के रचयिता शौनक के अतिरिक्त और कोई नहीं हैं[2]।

किन्तु मण्डनमिश्र-विरचित स्फोटसिद्धि की टीका गोपालिका में निरुक्त वार्तिक से नाम-निर्देशपूर्वक एक पद्य तथा बिना नाम के पांच पद्य उद्धृत किये गये हैं, जो भट्टाचार्य के अनुसार वार्तिक से ही लिये गये हैं, किन्तु इनमें से एक भी पद्य बृ० दे० में नहीं पाया जाता। अतः इस वार्तिक का बृ० दे० से कोई सम्बन्ध नहीं[3]। इस विषय में स्कन्दस्वामी का साक्ष्य महत्त्वपूर्ण है—

> **अश्वादि वार्तिककारः पठति। 'क्रमप्रयोजनं नाम्नां शाकपूण्युप (णिरुप!) लक्षितम्। प्रकल्पयेदन्यदपि न प्रज्ञामवसादयेत् इति' शौनकस्याप्ययमेकाशयः इत्यध्यगीष्महि[4]।**

यद्यपि यह श्लोक शौनकीय बृ० दे० में उपलब्ध नहीं होता, तो भी 'शौनकस्यापि' में 'अपि' के प्रयोग से वह वार्तिककार तथा शौनक में स्पष्ट भेद करते प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर निरुक्त ११, १३, २ पर वार्तिककार के नाम से उद्धृत पद्य बृ० दे० ५, ४९ से स्वल्प मात्रा में भिन्न है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वार्तिककार ने बृ० दे० के कुछेक पद्य नामनिर्देश के बिना अपने ग्रन्थ में समाविष्ट कर लिये थे, जिनको बाद के ग्रन्थकारों ने वार्तिककार के नाम से उद्धृत कर दिया है। अन्यथा वार्तिक एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्र रचना है।

इसके अतिरिक्त युधिष्ठिर मीमांसक को निरुक्तवार्तिक नाम की एक रचना का हस्तलेख डा० कुञ्जनराज के संग्रह से प्राप्त हुआ है, जो उपर्युक्त वार्तिक से भिन्न है तथा दुर्गाचार्य से अर्वाचीन है[5]। यह ग्रन्थ केरलस्थ कोण्डयूर-ग्रामवासी कीरशर्मा के पुत्र नीलकण्ठ गार्ग्य, जिनका संन्यासोत्तर नाम पद्म हो गया था, की रचना है। ग्रन्थ अति प्रौढ़ है। इसमें निरुक्त के प्रथम तीन अध्यायों पर विस्तृत टीका है, उत्तर के तीन नैगमकाण्ड-अध्याय पूर्वापेक्षया संक्षिप्त हैं। यह

---

[1] निरु० २, ९, १; २, २८, १।

[2] निरु०; पूना सं० भाग १, पृ० २२, भाग २, टि० पृ० १०९, १८१।

[3] वि० प० भट्टाचार्य, 'निरुक्त वार्तिक-ए लॉस्ट ट्रीटाईज़', *I.H.Q.* २६ (१९५०) पृ० १५९-१६५; 'यास्कस् निरुक्त' (१९५८), पृ० ९६-१०८; 'गोपालिका' में उद्धृत छहों पद्य निरु० १, २० की व्याख्या हैं।

[4] निरु० ८, २ पर भाष्य, भाग ३, पृ० १२३।

[5] निरुक्त समुच्चय की भूमिका, द्वि० आवृत्ति, पृ० ९।

ग्रन्थ निरुक्त के छठे अध्याय के 'जबारु'[1] पद के निर्वचन के साथ समाप्त होता है। इसमें ४६४० श्लोक हैं। ग्रन्थ अपूर्ण है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह इतना ही लिखा गया था या शेष भाग नष्ट हो गया था। इससे स्पष्ट है कि 'निरुक्त वार्तिक' नाम से दो भिन्न-भिन्न रचनाएं प्रसिद्ध हैं।

इस समय यास्कीय निरुक्त पर निम्नलिखित व्याख्याएं उपलब्ध हैं—

(१) दुर्गसिंह या दुर्गाचार्य द्वारा विरचित 'ऋज्वर्थवृत्ति' निरुक्त के गूढार्थ को समझने के लिए न केवल सर्वप्राचीन उपलभ्य व्याख्या है, अपितु सुविशद्, विस्तृत, सुस्पष्ट तथा पाण्डित्य-पूर्ण भी है। इसमें इन्होंने निरुक्त के प्रायः सभी शब्दों को उद्धृत किया है, जिससे निरुक्त के पाठ निश्चित करने में यह व्याख्या अत्यन्त सहायक है। स्थान-स्थान पर मन्त्रों की दार्शनिक विवेचना करने में भी इनकी अद्भुत-क्षमता तथा विवेकशील-प्रौढ़ता का परिचय प्राप्त होता है। उन वैदिक मन्त्रों को, जिन्हें यास्क ने निरुक्त में आंशिक रूप में उद्धृत किया है, इन्होंने अपनी वृत्ति में सकलपाठ में उद्धृत करके समूचे मन्त्रों की व्याख्या करके उनके भावों को स्पष्ट कर दिया है। इन्होंने निरुक्त के १२ अध्यायों पर ही व्याख्या लिखी है, परिशिष्ट की व्याख्या किसी पश्चात्कालिक व्यक्ति ने जोड़ दी है।

इनकी वृत्ति की पुष्पिका में लिखा मिलता है—**ऋज्वर्थायां निरुक्तवृत्तौ जम्बूमार्गाश्रमनिवासिनः आचार्यभगवद्दुर्गसिंहस्य कृतौ** … … …[2]। जिसमें सर्व प्रथम डा० लक्ष्मण सरूप ने और बाद में सभी विद्वानों ने प्रायः इन्हें काश्मीर के जम्बू प्रदेश का निवासी समझा। किन्तु बाद में स्वयं डा० लक्ष्मण सरूप ने ही अपनी इस व्याख्या को असमीचीन बताते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि यहां 'जम्बूमार्ग' से अभिप्रेत नर्मदा नदी के पश्चिमी तीर पर अवस्थित एक तीर्थ स्थान है, जिसकी चर्चा पुराणों तथा महाभारत में की गयी है। यह स्थान आधुनिक भड़ोचनगर के आसपास रहा होगा[3]। इसी प्रकार स्वसम्पादित निरुक्त की भूमिका में ही उहोंने दुर्गाचार्य का काल चौदहवीं शती का आरम्भ निश्चित किया था, जिसे कीथ प्रभृति अनेक वैदिक विद्वानों ने मान लिया था। किन्तु स्वयं उन्होंने ही स्कन्दमहेश्वर भाष्य की भूमिका में उस विचार का निराकरण करके दुर्गाचार्य को स्कन्दस्वामी से पूर्व प्रथमशती ईसवीं में स्थापित करने का

---

[1] निरु० ६, १७।

[2] इन्ट्रोडक्शन टु द निरुक्त, ऑक्सफोर्ड, (१९२०) पृ० ५०-५१।

[3] लक्ष्मण सरूप सम्पादित, स्कन्दमाहेश्वर भाष्य, भाग ३-४, भूमिका, पृ० ९७-१०१, (१९३४)।

सपरिश्रम प्रयत्न किया है[1]। दुर्गाचार्य का गोत्र वसिष्ठ था तथा वे कापिष्ठल-संहिता के अनुयायी थे। इन्होंने निरुक्त (४, २४) में निरूपित ऋग् (३, ५३, २२) की ऋचा की इसी कारण व्याख्या नहीं की है कि इसमें वसिष्ठ की निन्दा की गयी है। वे कहते हैं—**यस्मिन्नागमे एष शब्दः (=लोधम्) सा वसिष्ठद्वेषिणी ऋक्। अहञ्च कापिष्ठलो वासिष्ठः। अतस्तां न निर्ब्रवीमि।**

इस व्याख्या का सम्पादन अनेक बार हो चुका है, क्योंकि यही सर्वाधिक विशद् तथा विस्तृत व्याख्या है, जिसकी चर्चा न केवल स्वयं स्कन्दस्वामी ने अपनी व्याख्या में की है[2], अपितु एक ओर जहां उन्हें 'भगवद्दुर्ग'—कहकर आदरपूर्वक स्मरण किया है, वहां दूसरी ओर अनेक स्थलों पर उनकी आलोचना की है[3]।

इनके इस वचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्कन्दस्वामी से पूर्व निरुक्त के बर्बरस्वामी तथा दुर्गाचार्य के अतिरिक्त अन्य व्याख्याकार भी हो चुके थे, जिनका आज पता नहीं है।

(२) स्कन्दस्वामीकृत 'निरुक्त वृत्ति' या 'विवरण' यद्यपि दुर्गाचार्य की वृत्ति जैसी विशद् एवं विस्तृत नहीं है, तो भी सरल और स्पष्ट है। यह वृत्ति सम्प्रति स्कन्दमहेश्वर-रचितवृत्ति के नाम से प्रकाशित हुई है, क्योंकि इस समय यह व्याख्या दोनों की सम्मिलित व्याख्या के के रूप में प्रचारित हुई है। किन्तु इस समय यह निश्चय करना सम्भव नहीं है कि वृत्ति का कौन-सा भाग स्कन्दविरचित है और कौन-सा महेश्वरविरचित। देवराज यज्वा ने अपने निघण्टु-भाष्य में ऐसे अनेक उद्धरण दियें हैं, जिनमें स्कन्द का नाम-निर्देश नहीं किया गया, जबकि अन्य उद्धरणों में स्कन्द का नाम-निर्देश स्पष्ट किया गया है। ऐसे नामनिर्देश-रहित उद्धरण सम्भवतः महेश्वर की वृत्ति से लिये गये हैं[4]।

स्कन्दस्वामी शतपथब्राह्मण के व्याख्याकार हरिस्वामी के गुरु थे, जो मालवाधिपति विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष थे। अपने काल के विषय में स्वयं हरिस्वामी ने हमें सूचित किया है कि उन्होंने ३७४० कलि संवत् में श० ब्रा० पर भाष्य की रचना की थी। यह काल ५३८ ई० बनता है तथा विक्रमादित्य

---

१. वही पृ० ८४-८७।

२. **तस्य पूर्वटीकाकारैर्बर्बरस्वामिभगवद्दुर्गप्रभृतिभिः विस्तरेण व्याख्यातस्य ··· ··· वृत्तिः क्रियते।**

३. वही पृ० ८४-८७।

४. लक्ष्मण सरूप, वही, पृ० ६७-७८।

मालवाधिपति यशोधर्मन् हैं, जिन्होंने मिहिरकुल हूण को सन् ५२८ ई० में पराजित करके विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी[१]। अतः स्कन्दस्वामी का काल ५०० ई० ठहरता है[२]। स्कन्दस्वामी ने ऋग्वेद पर भी भाष्य लिखा है, जिसकी विशेषता यह है कि वह मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थों का भी उद्घाटन करते हैं। निरुक्त की व्याख्या में भी उनकी यह विशेषता प्रकट होती है। अतः ये दोनों भाष्यकार एक ही व्यक्ति हैं।

(३) महेश्वर की कृति में भामह-कृत काव्यालंकार (६५०), भर्तृहरि-कृत वाक्यपदीय (६५१ ई०); कुमारिलभट्ट (७०० ई०) के 'श्लोकवार्तिक' तथा 'तन्त्रवार्तिक' के उद्धरण उपलब्ध होते हैं। अतः इनका समय कुमारिलभट्ट से पश्चात्कालिक है, क्योंकि इन्होंने कात्यायन-श्रौतसूत्र के भाष्यकार कर्काचार्य की पंक्ति 'निषादस्थपतिं याजयेत्' उद्धृत की है (निरुक्त ३, ८। स्कन्द २, १३९) और कर्काचार्य का काल ११वीं शती माना जाता है, अतः महेश्वर का काल १२वीं शती माना जा सकता है[३]।

निघण्टु का भाष्यकार—देवराज यज्वा

निघण्टु के भाष्यकार देवराज यज्वा ने अपने भाष्य में अनेक पूर्ववर्ती व्याख्याओं की ओर नामनिर्देश के बिना ही सङ्केत किया है, जो इस समय उपलब्ध नहीं हैं। देवराज ने अपने भाष्य में निघण्टु के प्रत्येक पद की सिद्धि पाणिनि तथा भोजराज के व्याकरणों के आधार पर करने का प्रयास किया है। तथा निघण्टु के पाठ-संशोधन का भी प्रयत्न किया है। इन्होंने स्वयं लिखा है कि इन्होंने वेङ्कटपुत्र माधव के ऋग्वेदभाष्य (ऋगर्थदीपिका) की विविध अनुक्रमणियों तथा अनेकानेक कोशों की सहायता से निघण्टु के पाठ-संशोधन का भी प्रयत्न किया है। अपने भाष्य में इन्होंने अनेक वैदिक भाष्यकारों तथा विद्वानों का नामोल्लेख करके उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की है, जिनमें ये उल्लेखनीय हैं— (१) स्कन्दस्वामी की 'निरुक्तवृत्ति'। (२) स्कन्दस्वामी, भवस्वामी, राहदेव, श्रीनिवास, माधव, उवट, भास्कर मिश्र तथा भरतस्वामी के वेदभाष्य, (३) उणादि वृत्ति, (४) पाणिनीय व्याकरण, (५) क्षीरस्वामी तथा अनन्ताचार्य की निघण्टु-व्याख्यायें, (६) भोजराज-कृत व्याकरण तथा (७) कमलनयनकृत निखिलपदसंस्कार। आश्चर्य की बात है कि इस सूची

---

[१] द्र० सरूप, इण्डिसिज् ; भूमिका, पृ० २९-३०।

[२] द्र० ऋग्वेद के भाष्यकार प्रकरण।

[३] सरूप-सम्पादित स्कन्द० भाष्य, भाग ३, भूमिका, पृ० ८०।

में दुर्गाचार्य का नामनिर्देश नहीं किया गया। इससे कुछ लोग दुर्गाचार्य को देवराज से पश्चात्कालिक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, किन्तु यदि दुर्गाचार्य इतने अर्वाचीन होते, तो पूर्ववर्ती इन वेदभाष्यकारों तथा अन्य व्याख्याकारों में से किसी का तो नाम लेते, अतः नकारात्मक प्रमाण को अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

देवराज ने "दैवम्" व्याकरण का भी बहुधा उल्लेख किया है। हरदत्तविरचित पदमञ्जरी का उद्धरण भी इन के भाष्य में दिया गया है[1]। सायण ने अपने वेदभाष्य में देवराज का उल्लेख किया है। क्योंकि सायण का काल चौदहवीं शताब्दी निश्चित है, अत: देवराज का काल १३ वीं शताब्दी में अवश्य होना चाहिये।

निरुक्त के संस्करण

(१) *Jaska's Nirukta* : R. Roth, Gottingen, 1852.

(२) निरुक्त, दुर्गभाष्य, ४ भाग, सत्यव्रत सामश्रमी सम्पा० कलकत्ता, १८८२-९१।

(३) निरुक्त, अजमेर, १८९३, १९०३।

(४) निरुक्त, व्याख्या-सहित, गोविन्द परशुराम रावेरकर-सम्पा० बम्बई, १९१२।

(५) वैदिककोष, (निघ० + निरुक्त), भास्करराय दीक्षित, बम्बई, १८८८।

(६) निरुक्त—दुर्गानुसारिणी लघुवृत्ति, मुकुन्दझा बख्शी, बम्बई, १९१२।

(७) म० म० पं० शिवदत्त सम्पा० दुर्गाचार्यवृत्ति, बम्बई, १९१२, १९२५।

(८) निरुक्त-हिन्दी व्याख्या सहित; विद्यामार्तण्ड पं० सीताराम शास्त्री, भिवानी, १९१५, १९१७।

(९) निरुक्त, हिन्दी व्याख्या; पं० राजाराम शास्त्री, लाहौर, १९१८।

(१०) निरुक्त (+निघण्टु), दुर्गभाष्यसहित; एच० एम० भडकमकर बम्बई, १९१८।

(११) निरुक्त तथा निघण्टु : डा० लक्ष्मण सरूप; पञ्जाब वि० वि०; लाहौर, १९२०; देहली, १९६२।

---

[1] निघण्टुभाष्य, पृ० १६३, (गु० मं० सं०)।

(१२) निरुक्त, हिन्दी व्याख्यासहित ; पं० चन्द्रमणि विद्यालङ्कार गुरुकुल कांगड़ी, १९२५ ।

(१३) निरुक्त, हिन्दी व्याख्या, पं० भगवद्दत्त, देहली ।

(१४) निरुक्त, दुर्गाचार्य भाष्यसहित; वी० के० राजवाड़े, आनन्दाश्रम पूना, १९२१-२६ ।

(१६) निरुक्त, स्कन्द स्वामी तथा महेश्वर कृत भाष्य सहित डा० लक्ष्मण सरूप सम्पा०, लाहौर, १९३०-३४ ।

(१५) निरुक्त, हिन्दी व्याख्यासहित; ब्रह्ममुनि ; आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर, १९६६ ।

निघण्टु के संस्करण

(१) देवराज की व्याख्यासहित निघण्टु, आर० रॉथ द्वारा सम्पा० १८५२ ।

(२) पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने बी० आइ०, कलकत्ता से प्रकाशित किया ।

(३) म० म० पं० शिवदत्त द्वारा सम्पा० निरुक्त के अन्तर्गत, १९१२; १९२५ ।

(४) एच० एम० भडकमकर ने स्वसम्पादित निरुक्त के संस्करण के अन्तर्गत प्रकाशित किया, बम्बई १९१८ ।

(५) डा० लक्ष्मण सरूप सम्पा० निरुक्त सं० के अन्तर्गत, १९२०, १९६२ ।

(६) देवराज कृत व्याख्या-सहित, गुरुमण्डल, कलकत्ता ।

पञ्चदश अध्याय

वाररुच निरुक्त-समुच्चय

वररुचि के नाम से प्रसिद्ध यह रचना नानाविध वैदिक-मन्त्रों का संग्रह है, जिनकी व्याख्या यास्कीय निरुक्त की पद्धति के अनुसार की गयी है[1]। यह वररुचि कौन थे, इनका काल क्या था ? इस विषय में निश्चित रूप से जानने का कोई साधन हमारे पास नहीं है। युधिष्ठिर मोमांसक इनको स्कन्दस्वामी से पूर्व-कालिक मानते हैं, किन्तु इस विषय में कोई पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये। डा० लक्ष्मण सरूप ने इसे प्राचीन रचना माना है। इस रचना में निरुक्त से बहुत से उद्धरण दिये गये हैं और यास्क को प्रायः भाष्यकार कहा जाता है, किन्तु कुछ स्थलों पर यास्कीय वचन वर्तमान निरुक्त में उपलब्ध नहीं होते। यथा—**उदकमपि हिरण्यमुच्यते इति भाष्यकारवचनात्**[2] तथा **सूनरः··· ··· ···पदकारेणैतत् पदं नावगृहीतम्। तथापि भाष्यकारवचनात् पदकारमनादृत्यै तन्निरुक्तम्।**

ये दोनों वचन हमारे निरुक्त में उपलब्ध नहीं हैं। सम्भव है ये यास्कीय निरुक्त के महत्तर संस्करण से लिये गये हों अथवा किसी अन्य निरुक्त से उद्धृत किये गये हों, जो अब लुप्त हो चुका है[3]। यास्क के समान ही यहां भी पदकार की अवहेलना की गयी है।

यह रचना ४ कल्पों में विभक्त है तथा इसमें १०२ मन्त्रों की व्याख्या की गयी है। प्रथम कल्प में तो व्याख्या की पद्धति पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय में नित्य कर्मों में विनियुक्त मन्त्रों की व्याख्या की गयी है। तृतीय में दर्शपूर्णमासेष्टि में विनियुक्त मन्त्रों की व्याख्या है। चतुर्थ में ३१ प्रकार के मंत्रों के एक-एक उदाहरण की व्याख्या है। बृहद्देवता में ३६ प्रकार के मन्त्र गिनाये

---

[1] **निरुक्तप्रक्रियानुरोधेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः।** (१+अ) निरुक्त, स्कन्द० तृ० भाग; भूमिका पृ० २६।

[2] पृ० ६७, कुन्हणराज-सं०।

[3] कुन्हणराज, भूमिका, पृ० ३३। किन्तु **तथा च प्रकरणवश एव निर्वक्तव्या इति भाष्यकारवचनम्** (ऋग्० ५, ३१, ६ पर उद्धृत) (कल्प, ४, ७) जिसे कुन्हणराज तथा लक्ष्मण सरूप दोनों ने निरुक्त में अनुपलब्ध घोषित कर दिया था, निरु० १३, १२ में उपलब्ध है।
(द्र० सरूप, स्कन्दभाष्य ६, २२)।

गये हैं । किन्तु दोनों में केवल १५ प्रकार के मन्त्रों के उदाहरण परस्पर मिलते हैं । बृ० दे० में स्तुति, सङ्कल्प तथा अभिष्टव के लिए कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया गया । मन्त्रों के प्रकारों के नामों के विषय में भी दोनों में भेद है । बृ० दे० में 'कत्थना' यहां 'विकत्थना' है, बृ० दे० का 'शाप' यहां अभिशाप है । बृ० दे० का प्रायः अनुसरण नहीं किया गया है । न ही उसका प्रयोग ही किया गया प्रतीत होता है[1] । स्कन्दस्वामी ने अपने ऋग्वेद-भाष्य में मन्त्रों को केवल पांच वर्गों में ही विभक्त किया है । माधव भट्ट ने सामवेद-भाष्य में सामवेद के विशेष ३१ प्रकार के अतिरिक्त मन्त्रों की चर्चा की है किन्तु उनका इस रचना के ३१ प्रकारों से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

इस रचना का स्कन्दस्वामी के ऋग्वेदभाष्य तथा महेश्वर के निरुक्त-भाष्य से घनिष्ठ संबन्ध है[2] और संभावना यही है कि निरुक्त-समुच्चय ने इन ग्रन्थों से सामग्री उधार ली है[3] । इसकी व्याख्या विस्तृत है, ऋषि, देवता तथा उपाख्यानों का उल्लेख भी किया गया है । कुछ स्थलों पर मूल तथा व्याख्या में भेद पाया जाता है[4] । वैदिक स्वर-सञ्चार के विषय में अनेक स्खलन पाये जाते हैं[5] तथा वैदिक प्रक्रिया भी दूषित है[6] । मंत्रों में आये आख्यानों को यह औपचारिक मानते हैं, क्योंकि नैरुक्तों के मत में मंत्र नित्य हैं[7] । निरुक्त-समुच्चय में एक दर्जन से अधिक आचार्यों को उद्धृत किया गया है । इनमें से प्रत्येक आचार्य प्राचीन है । निरुक्त-समुच्चय के अनेक वचन स्कन्दस्वामी के निरुक्त-भाष्य के वचनों से बहुत अधिक साम्य रखते हैं । डॉ० सरूप ने तो नि० सं० के पाठों के सहारे स्कन्द नि० भा० के पाठों को शुद्ध करने का दावा किया है (वही) ।

---

१. कुन्हणराज भूमिका, पृ० ११ ।

२. वही, पृ० १३ ।

३. वही, पृ० २६ युधिष्ठिर मीमांसक के मत में यह स्कन्द से पूर्ववर्ती हैं । किन्तु इस विषय में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं दिये । लक्ष्मण सरूप का भी यही मत है । किन्तु कुन्हणराज इसके विपरीत स्कन्द को पूर्ववर्ती मानते हैं (*Kuppusvāmi Vol.* p. 83) (वही, पृ० २६) ।

४. वही पृ० २५ ।

५. मीमांसक भूमिका, पृ० ४ ।

६. मीमांसक, पृ० ५ ।

७. निरु० समु० पृ० ७१ ।

नोट :—निरु० समु० के तीन संस्करण निकल चुके हैं—(१) सी० कुन्हणराज का, मद्रास वि० वि०, १९३८ ; (२) युधिष्ठिर मीमांसक का *Oriental Magazine* लाहौर, १९३९ ; (३) मीमांसक, १९६५, भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर ।

वेदाङ्ग

व्याकरण

षोडश अध्याय

व्याकरणशास्त्र की पृष्ठभूमि

वेद के छह अंगों में व्याकरण का स्थान प्रमुख माना गया है—**मुखं व्याकरणं स्मृतम्**[1]। महाभाष्यकार ने व्याकरण को 'उत्तरा विद्या' कहा है[2] तथा छहों अंगों में प्रधान माना है[3]। व्याकरण का विधिवत् अध्ययन कब से आरम्भ हुआ और व्याकरण को शास्त्र के सिंहासन पर कब आरूढ़ किया गया, यह कहना तो कठिन है, किन्तु ऐसे संकेत मिलते हैं कि ऋग्वेद के ऋषि भी शब्दों की प्रकृति को समझते थे। उन्होंने जानबूझ कर ऐसे प्रयोग किये हैं, जिनसे शब्दव्युत्पत्ति की प्रवृत्ति झलकती है। यथा—

> **तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो[4]; उष आ भाहि भानुना[5]।**
>
> 'वाक् के विश्लेषण की बात तै० सं० में स्पष्ट कही ही गयी है[6]। धातु और उससे निष्पन्न शब्दों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार के प्रवाह का दूरस्थ स्रोत अथर्ववेद में दृष्टिगोचर होता है, जहां जलवाचक चार शब्दों की व्युत्पत्तियां करके इस सिद्धान्त की ओर स्पष्ट इंगित किया गया है, कि नाम शब्दों के मूल धातुओं में निहित हैं'।
>
> **यददः सं प्रयतीरहावनदता हते। तस्मादा नद्यो ह नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः[7]।**
>
> 'जलों को नदियां इसलिये कहते हैं कि वे अहि के मारे जाने पर 'नाद' करती हुई चलती हैं'।

---

[1] पा० शि० ४२।

[2] म० भाष्य, १, १, ३२।

[3] म० भाष्य, **प्रधानं च षट्स्वंगेषु व्याकरणम्** (१म आह्निक)।

[4] ऋग्० १, ४, ९।

[5] ऋग्० १, ४८, ९।

[6] **तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते** ६, ४, ७, ३; तु०वा०सं० १९, ७० : **दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् प्रजापतिः।**

[7] अथर्व० ३, १३, १।

तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनुष्ठन[1] ।

'आप इसलिये कि इनको इन्द्र ने प्राप्त किया' ।

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत……तस्माद्वार्नाम वो हितम्[2] ।

'वार् इसलिए कि इन्द्र ने इनका वरण किया था ।

उदानिषु मंहीरिति तस्मादुदकमुच्यते[3] ।

'उदक इसलिये कि वे उफनते हैं ।

यहां कवि स्पष्ट ही जानबूझ कर 'नामों' का सम्बन्ध आख्यातों से उनकी प्रकृति के रूप में जोड़ता दिखायी देता है[4] ।

यही शब्दव्युपत्तियां उत्तरकालीन ब्राह्मणों के निर्वचनों का पूर्वाभास प्रस्तुत करती हैं—

तस्मादश्वः पशूनामाशुः[5] ।

'इसलिये (अश्व) पशुओं में शीघ्रगामी हैं' ।

'स' इमान् लोकानवृणोत् । यदिमान् लोकानवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्[6] ।

'उसने इन लोकों को ही आच्छादित कर लिया । इसी कारण वृत्र का वृत्रत्व सिद्ध होता है' ।

यदिष्टिभिः प्रैषमैच्छंस्तदिष्टीनामिष्टित्वम्[7] ।

'उन्होंने जो इष्टियों से प्रैष की इच्छा की, इसी से इष्टियों का इष्टित्व सिद्ध होता है ।

इन निरुक्तियों से स्पष्ट होता है कि उस समय में शब्द की प्रकृति तथा प्रत्यय में विश्लेषण करने की प्रवृत्ति जागृत हो चुकी थी और जैसा कि ऊपर दर्शा

---

[1] अथर्व० ३, १३, २ ।

[2] अथर्व० ३, १३, ३ ।

[3] अथर्व० ३, १३, ४ ।

[4] ये मन्त्र तै० सं० ५, ६, १ ; मै० सं० २, १३, १ तथा काठ० सं० ३९, २ में भी पाये जाते हैं ।

[5] तै० ब्रा० ३, ८, ७, २ ।

[6] तै० सं० २, ४, १२, २ ।

[7] ऐ० ब्रा० १, २, १ ।

आये हैं, व्याकरण शब्द अपने मूलरूप में सुधीजनों के हृदयों में लहराने लगा था। किन्तु अभी तक शब्द की वास्तविक प्रकृति धातु का पूरा ज्ञान नहीं हो पाया था। अन्यथा **इष्टि** का सम्बन्ध √इष्—इच्छायाम् से न जोड़ा जाता[1], तो भी धातु के लिये सर्वप्राचीन शब्द **आख्यात** ब्राह्मणों की ही देन है। इसी प्रकार—**कारित (णिजन्त), चिकीर्षित (सन्नन्त), चेक्रीयित (यङन्त)** और **चर्करीत** जैसे पारिभाषिक शब्दों का विकास इसी ब्राह्मण काल में ही हुआ है।

यही निरुक्तियां बाद में निरुक्तशास्त्र का आधार बनीं। यास्क का निरुक्त इसमें प्रमाण है। उसमें अनेकों निर्वचन सीधे ब्राह्मणों से ग्रहण किये गये हैं। यास्कीय निरुक्त से यह भो प्रमाणित होता है कि यास्क से पूर्व अनेकानेक नैरुक्त तथा वैयाकरण आचार्य संस्कृत-साहित्य के क्षितिज में देदीप्यमान हो चुके थे, जिनमें से कई-एक ने नामों तथा आख्यातों के सम्बन्धों पर विचार किया था, तो अन्यों ने शब्दों की नित्यता-अनित्यता के विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किये थे, तो किसी ने उपसर्गों की सार्थकता एवं निरर्थकता पर अपनी दृष्टि से प्रकाश डाला था।

शाकटायन तथा नैरुक्त गार्ग्य के अनेक ऐसे विषयों पर मतभेद इतने उभर कर विद्वन्मण्डली के समक्ष प्रस्तुत हुए थे कि यास्क के पाश्चाद्वर्ती आचार्य पाणिनि भी उनकी अवहेलना न कर सके और उनका उल्लेख करने को बाध्य हो गये। इस एक तथ्य से सिद्ध होता है कि यास्क से पूर्व ही नैरुक्तों नथा वैयाकरणों की सुदीर्घ तथा सुदृढ़ परम्परा चली आ रही थी। ऋक्तन्त्र व्याकरण ने व्याकरणशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन-विषयक गुरुशिष्य-परम्परा की भी चर्चा की है, कि ब्रह्मा ने बृहस्पति को व्याकरणशास्त्र का उपदेश दिया। बृहस्पति ने इन्द्र को, इन्द्र ने भरद्वाज को, भरद्वाज ने ऋषियों को और ऋषियों ने ब्राह्मणों को[2]।

गो० ब्रा० तक आते-आते व्याकरण सम्बन्धी अनेक पारिभाषिक शब्दों तथा धारणाओं का प्रचलन हो चुका था। उसमें कहा गया है—

> **ओङ्कारं पृच्छामः, को धातुः, किं प्रातिपदिकं, किं नामाख्यातम्, किं लिङ्गं, किं वचनं, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वर उपसर्गो निपातः किं वै व्याकरणम्, को विकारः कति मात्रः, कति वर्णः, कत्यक्षरः, कति पदः, कः संयोगः, किं स्थाननादानुकरणम्।**

---

[1] अन्यत्र द्र० तम् (पाप्मानं प्रजापतिः) अवृश्चत्। तस्माद् वृष्टिः (तै० ब्रा० ३,१०,९,१) √व्रश्च् से वृष्टि को जोड़ना भी इसी ओर इंगित करता है।

[2] ऋक्तन्त्र, सूर्यकान्त सम्पा०, पृ० ३।

इस से भी प्राचीन ऐ० ब्रा०[1] में सप्तधा विभक्त वाणी का उल्लेख किया गया है।

भारतीय परम्परा के अनुसार प्रत्येक विद्या का मूल स्रोत ब्रह्मा को माना जाता है, अतः उपर्युक्त ऋक्तन्त्र के वचन में भी इसी परम्परा की झलक दृष्टिगोचर होती है। बृहस्पति देवताओं के गुरु होने के नाते सभी विद्याओं के ज्ञाता तथा प्रवक्ता माने जाते हैं। लोक में भी कई शास्त्र बृहस्पति के नाम से प्रसिद्ध हैं। यथा—अर्थशास्त्र, वास्तुशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने व्याकरण-शास्त्र के प्रवक्ता बृहस्पति द्वारा इन्द्र को प्रतिपद उपदेश करने की बात कही है[2]। किन्तु किसी बार्हस्पत्य-व्याकरण की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती, किन्तु इन्द्रकृत व्याकरण के अनेक सङ्केत ही नहीं, प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। तै० सं०[3] में व्याकरण के मूल संस्कर्ता के रूप में इन्द्र की ही चर्चा की गयी है—**ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति। ताम् इन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।**

इसकी व्याख्या में सायण स्पष्ट लिखते हैं—**तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत्।**

अर्थात् इन्द्र ने वाणी का प्रकृति-प्रत्यय आदि विभागों में विश्लेषण कर दिया। इन्द्र के द्वारा चलाये गये सम्प्रदाय को ऐन्द्र-सम्प्रदाय के नाम से स्मरण किया जाता है। प्राचीन प्रातिशाख्य इसी से सम्बद्ध थे। इसी के समानान्तर एक अन्य माहेश्वर-सम्प्रदाय भी था। पाणिनि का सम्बन्ध इसी सम्प्रदाय से था[4]। माहेश्वर सूत्रों पर सम्पूर्ण अष्टाध्यायी आधृत है, यह सर्वविदित है। किस सम्प्रदाय के कितने वैयाकरण अद्ययावत् हो गये हैं, यह तो अज्ञात है, किन्तु इतना तो आज भी प्रमाणित किया जा सकता है कि पाणिनि से पूर्व ८५ व्याकरण-प्रवक्ता हो गये हैं, दस की तो नामोल्लेखपूर्वक चर्चा स्वयं पाणिनि ने की है। १६ आचार्यों का उल्लेख विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में किया गया है, दस प्रातिशाख्यों

---

[1] ऐ० ब्रा० ७, ७।

[2] म० भाष्य १, १, १।

[3] तै० सं० ६, ४, ७, ३ ; तै० आर० ७, २, १ में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान जैसे शुद्ध वैयाकरण प्रयोग उस समय तक व्याकरण-शास्त्र के विकास तथा प्रगति पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। इन शब्दों में 'सन्तान' पद पर टिप्पणी करते हुए एच० शरफे (Harmut Scharfe) ने लिखा है कि इसका अर्थ उत्तरकालिक 'सन्धि' हो सकता है (*Grammatical Litrature*, p. 79).

[4] मीमांसक, सं० व्या० शा०, भाग १, पृ० ६६-७२ (तृ० सं०)।

तथा सात अन्य वैदिक व्याकरणों में व्याकरण के ५९ आचार्यों का उल्लेख किया गया है[1]। इस प्रकार ८५ प्राचीन व्याकरण-प्रवक्ताओं के नाम गिनाये जा सकते हैं, जो पाणिनि से पूर्व हो चुके हैं।

अब हम इन वैयाकरणों के विषय में यथासम्भव प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे :—

१. इन्द्र-ऐन्द्र-व्याकरण के कर्ता इन्द्र के विषय में हमें कुछ विशेष ज्ञान उपलब्ध नहीं हो सका, तो भी प्राचीन ग्रन्थों में इस व्याकरण की चर्चा की गयी है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं ऐन्द्र-व्याकरण का अपना विशेष सम्प्रदाय था, जिसके अन्तर्गत प्रातिशाख्यों एवं कातन्त्र या कालाप-व्याकरण की रचना की गयी। पाणिनि के वार्तिककार कात्यायन को भी कुछ आधुनिक विद्वान् मूलतः ऐन्द्र-व्याकरण का ही अनुयायी मानते हैं[2]। यहां तक कि डा० बेल्वलकर कातन्त्र को ही ऐन्द्र-व्याकरण समझते हैं[3]। किन्तु पं० युधिष्ठिर मीमांसक इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि भट्टारक हरिश्चन्द्र तथा दुर्गाचार्यसदृश आचार्यों ने ऐन्द्र-व्याकरण के जो उद्धरण दिये हैं, ये कातन्त्र-व्याकरण में उपलब्ध नहीं होते। इसके अतिरिक्त भट्टारक हरिश्चन्द्र द्वारा उद्धृत सूत्रानुसार ऐन्द्र-व्याकरण में **वर्णसमूह** का निर्देश था, जो कातन्त्र में नहीं पाया जाता[4]।

इसके अतिरिक्त ऐन्द्र-व्याकरण का पाठ परिमाण व्याकरण से बहुत बड़ा था। लङ्कावतार सूत्र में ऐन्द्र-व्याकरण का उल्लेख किया गया है[5]। सोमदेव सूरिविरचित यशस्तिलकचम्पू में भी ऐन्द्र-व्याकरण का निर्देश पाया जाता है[6]। 'हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि' में ऐन्द्र-व्याकरण का संकेत किया गया है। अल्बेरुनी ने ऐन्द्र-तन्त्र का उल्लेख किया है[7]। कथासरित्-सागर के अनुसार ऐन्द्र-व्याकरण बहुत पहले ही नष्ट हो गया था। जैन शाकटायन व्याकरण (१, २, ३७) में इन्द्र का मत उद्धृत है। दुर्गाचार्य ने निरुक्त-व्याख्या के आरम्भ में ही सूचित किया है, **नैकं पदजातं, यथार्थः पदमैन्द्राणाम्**[8]। सरस्वती कण्ठाभरण

---

१. ए० सी० बर्नेल, ऐन्द्र स्कूल०, ४-५।

२. सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर।

३. सं० व्या० शा० भाग १, पृ० ८७ ; (तृ० सं०)।

४. टेक्निकल टर्म्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृ० २८०।

५. प्रथम आश्वास, पृ० ९०।

६. अल्बेरुनी का भारत, भाग २, पृ० ४०।

७. तरंग ४, श्लोक २४-२५।

८. निरु०, पृ० ८ (वेङ्कटेश्वर प्रेस)।

में वैयाकरण इन्द्र की चर्चा की गयी है[1]। तमिल व्याकरण **तोलकप्पियम्** का आधार भी ऐन्द्र-व्याकरण ही है। प्रातिशाख्यों की रचना भी ऐन्द्र-व्याकरण के अनुसार की गयी है। **तोलकप्पियम्** में प्रातिशाख्यों के तथ्य कातन्त्र-व्याकरण के पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया गया है। कच्चायण तथा पालि-व्याकरण में भी ऐन्द्र-व्याकरण की शब्दावली का प्रयोग पाया जाता है। कहा जाता है कि ऐन्द्र-व्याकरण अत्यन्त विशाल था, यहां तक कि १२वीं शती से पूर्वभावी महाभारत के टीकाकार देवबोध को लिखना पड़ा—

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥

माहेन्द्र-व्याकरण को 'व्याकरणार्णव' तथा पाणिनि के व्याकरण को 'गोष्पद' कहना दोनों के अन्तर को स्पष्ट कर देता है। तिब्बती लेखकों के अनुसार ऐन्द्र-व्याकरण का परिमाण २५ सहस्र श्लोकात्मक था[2]।

इस व्याकरण के दो सूत्र इस समय उपलब्ध होते हैं।

अथ वर्णसमूहः। इति ऐन्द्रव्याकरणस्य[3]।

डा० बर्नेल के अनुसार ऐन्द्र-व्याकरण का प्रथम सूत्र था **सिद्धो वर्णसमाम्नायः** जो कातन्त्र व्या० का भी प्रथम सूत्र है[4]।

किन्तु इन से एक बात स्पष्ट होती है कि ऐन्द्र-व्याकरण का आरम्भ वर्णसमाम्नाय से होता था। ऋक् तन्त्र[5] तथा ऋक् प्रा०[6] में वर्ण समाम्नाय का उपदेश किया गया है।

दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्त-व्याख्या में लिखा है—

नैकं पदजातम्, यथा अर्थः पदम् इत्यैन्द्राणाम्[7]। सुषेण विद्याभूषण ने भी **अर्थः पदम्** को ऐन्द्र के नाम से उद्धृत किया है[8]। परिभाषेन्दु० की व्याख्या में वैद्यनाथ ने परिभाषाओं का मूल ऐन्द्र-व्याकरण को माना है।

---

[1] बर्नेल, ऑन द ऐन्द्र स्कूल०, पृ० ८।

[2] जे० जी० जे० आर० आइ०, भाग १, सं० ४, पृ० ४१०।

[3] भट्टारक हरिश्चन्द्र-रचित चरक व्याख्या, पृ० ५८।

[4] ऑन् द ऐन्द्र स्कूल०, पृ० ५।

[5] प्रपा० १, खण्ड ४।

[6] द्र० वगर्द्वयवृत्ति।

[7] यद्यपि मुद्रित पाठ, **यथार्थः पदमैन्द्राणाम् इति** है तो भी तु० वा० प्रा० **अर्थः पदम्** (३, २); द्र० मीमांसक, सं० व्या० शा०, भाग १, पृ० ८६, टि० ४।

[8] मीमांसक, वही, पृ० ८७; टि० १।

बर्नेल के अनुसार समास-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली पाणिनि के पूर्व से चली आ रही थी। इसी प्रकार **टि, घु, भ** संज्ञाएं भी पा० से पूर्व प्रयुक्त होती थीं। इसी प्रकार विभक्तियों के लिए **प्रथमा, द्वितीया** प्रभृति, निपात, धातु, प्रत्यय, प्रधान, **प्रयत्न, भविष्यत्**, वर्तमान, **अन्त, एकवचन**, उपसर्ग, **अनुस्वार**, अनुनासिक, **आत्मनेपद, परस्मैपद, उपधा, गुण**, विभक्ति, **वृद्धि, आमन्त्रित, संयोग, सवर्ण, ह्रस्व, लोप**—ये सभी संज्ञाएं पाणिनि से पूर्व ही प्रयुक्त होती थीं तथा ऐन्द्र-सम्प्रदाय में प्रचलित थीं[1]। छां० उप०[2] में **स्वर, स्पर्श, घोषवन्तः, ऊष्म, विवृत** शब्दों का व्याकरण-विषयक अर्थों में प्रयोग किया गया है। इनमें **स्वर, स्पर्श** तथा **ऊष्म** शब्दों का प्रयोग ऐन्द्र-व्याकरण में किया गया है। ऐ० ब्रा० में **अक्षर, वर्ण, पद-कार** शब्दों का प्रयोग किया गया है। वैदिक कल्पसूत्रों में **व्यञ्जन, मकार**, तालु स्थल, **औष्ठ्य स्थल, प्लुत, सन्ध्यक्षर, प्रगृह्य** शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो सभी ऐन्द्र संज्ञाएं हैं[3]। गणों का प्रयोग भी मुख्यरूप से ऐन्द्र-सम्प्रदाय की देन है[4]।

निरुक्तों, प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाओं का निर्माण भी ऐन्द्र-सम्प्रदाय के अन्तर्गत तथा इसी की रचना-पद्धति के अनुरूप किया गया था[5]। बर्नेल के मतानुसार तो कुणि एवं व्याडि-सदृश प्राचीन वैयाकरण भी सम्भवतः ऐन्द्र-सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे[6]। शान्तनव के फिट्सूत्र, कातन्त्र, कालाप, मुग्धबोध, सारस्वत-व्याकरण तथा शब्दानुशासन सभी ऐन्द्र-सम्प्रदाय के ऋणी हैं[7]।

जैन शाकटायन तथा जैनेन्द्र व्याकरण भी ऐन्द्र-सम्प्रदाय से प्रभावित हैं, यद्यपि कई-एक महत्त्वपूर्ण विषयों में उससे पृथक् मार्ग पर चले हैं[8]।

पाणिनि ने अपने व्याकरण में कुछ विशेषताएं उत्पन्न कीं। यथा—शिवसूत्रों के आधार पर प्रत्याहारों का प्रयोग, अनुबन्धों का प्रयोग, लिट्, लुट्, लोट् सदृश नवीन संज्ञाएं, कारक-प्रक्रिया तथा अत्यन्त विशद सूत्र-रचना प्रक्रिया[9]।

---

[1] वही, पृ० २०-२२।
[2] छां० उप० २, २२, ५।
[3] बर्नेल, वही, पृ० २७।
[4] वही, पृ० २८-२९।
[5] बर्नेल, वही, पृ० ४५।
[6] वही, पृ० ५१।
[7] वही, पृ० ५१।
[8] वही, पृ० ३६।
[9] वही, पृ० ३९।

अन्यथा ऐन्द्र-सम्प्रदाय ने ही सर्वप्रथम संहितापाठ तथा पदपाठ के सम्बन्धों को स्थापित करके अत्यन्त सूक्ष्म विचार-पद्धति का आश्रय लेकर वैदिक स्वरसन्धान को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया, जो आजतक वैदिक शब्दसमूह के स्वरूप को अक्षुण्ण रखे हुए हैं।

२. भरद्वाज

ऋक्तन्त्र के अनुसार इन्द्र ने बार्हस्पत्य-व्याकरण का भरद्वाज को उपदेश दिया, जो सम्भवतः आंगिरस बृहस्पति का पुत्र था[1]। ऐ० आर० (२, २, ४) में लिखा है कि इन्द्र ने भरद्वाज को **घोषवत्** तथा ऊष्मवर्णों का ज्ञान कराया था[2]। चरकसंहिता, सूत्रस्थान (१, २३) की सूचना के अनुसार इन्द्र ने भरद्वाज को आयुर्वेद पढ़ाया था। महाभारत शान्तिपर्व (१८२, ५) से विदित होता है कि भृगु ने भरद्वाज को धर्मशास्त्र का उपदेश किया था। चरक (सूत्र० १,२७) सूचित करता है कि भरद्वाज ने अनेक ऋषियों को आयुर्वेद पढ़ाया था, जिनमें से एक आत्रेय पुनर्वसु भी था। वायुपुराण (१०३,६३) के अनुसार भरद्वाज ने तृणञ्जय से पुराण की शिक्षा ग्रहण की थी और गौतम को पुराण का उपदेश किया था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र (१२, १) में भरद्वाज को अर्थशास्त्र का प्रवक्ता कहा है। बार्हस्पत्य भरद्वाज ऋग्वेद के अनेक सूक्तों के द्रष्टा कहे गये हैं[3]। बृ० दे० (५, १२४; १३७; १३९) के अनुसार ऋषि भरद्वाज ने राजा अभ्यावर्तिन् चायमान तथा सृञ्जय के पुत्र प्रस्तोक को इन्द्र से प्रार्थना करके वारशिखों के विरुद्ध हर्युपीया नदी के तट पर युद्ध में विजय दिलायी थी तथा बहुत-सा धन प्राप्त किया था। पञ्च० ब्रा० (१५, ३, १७) के अनुसार यह काशिराज दिवोदास के पुरोहित थे। मै० सं० (३, ३, ७) तथा गो० ब्रा० (२, १, १८) में इन्हें दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन का पुरोहित माना गया है तथा जै० ब्रा० (३, २, ४४) ने इन्हें दिवोदास के पौत्र क्षत्र का पुरोहित कहा है। तै० ब्रा० (३, १०, ३१) के अनुसार दीर्घजीवी भरद्वाज के साथ इन्द्र का विशेष सम्बन्ध था, अतः यही भरद्वाज व्याकरण-शास्त्र के प्रवक्ता हैं[4]। भरद्वाज का व्याकरण अनुपलब्ध है। न ही उसका कोई वचन ही सुरक्षित है। केवल वा० प्रा० में उन्हें आख्यात-

---

[1] मीमांसक, सं० व्या० शा०, भाग १, पृ० ९० (तु० सं०)।

[2] **तस्य यानि व्यञ्जनानि तच्छरीरम्, यो घोषः स आत्मा, य ऊष्माणः स प्राणः, एतद्ध हैवेन्द्रो भरद्वाजाय प्रोवाच।**

[3] **ऋक् सर्वानु० १, २८-३०।**

[4] **द्र० मीमांसक, सं० व्या० शा०, भाग १, पृ० ९२।**

द्रष्टा के रूप में प्रस्तुत किया गया है[१]। एक भारद्वाज-शिक्षा भी पूना से प्रकाशित हुई है[२], जिसे मीमांसक अर्वाचीन मानते हैं[३]।

३. भागुरि

यद्यपि भागुरि का उल्लेख पाणिनि ने नहीं किया, तो भी इनके सम्बन्ध में यह श्लोक अतिप्रसिद्ध है :—

> **वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।**
> **आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा[४] ॥**

भागुरि के मत में **अव** और **अपि** उपसर्ग के आकार का लोप हो जाता है। यथा—**अवगाह=वगाह, अपिधान=पिधान** तथा हलन्त शब्दों में **आप्** प्रत्यय होता है, यथा, **वाक्→वाचा ; निश्→निशा ; दिश्→दिशा**।

बृहत्संहिता १४७, २, पृ० ५८१ के अनुसार भागुरि बृहद्गर्ग का शिष्य था।

जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में भागुरि के श्लोकबद्ध छह वचन उद्धृत किये हैं ; इनके अतिरिक्त दो वचन और भी उपलब्ध होते हैं[५]। इन सभी के श्लोकबद्ध होने से अनुमान किया जा सकता है कि भागुरि का व्याकरण ऋक्प्रा० के समान ही छन्दोबद्ध होगा।

प्रपञ्चहृदय, चरणव्यूह टीका, जै० गृ० सू० तथा गो० गृ० प्रका० प्रभृति अनेक ग्रन्थों से प्रकट होता है कि आचार्य भागुरि किसी सामवेदीय शाखा के प्रवक्ता थे[६]। लौगाक्षिगृह्यसूत्र की भूमिका में उद्धृत अगस्त्य के श्लोकतर्पण के एक वचन से प्रतीत होता है कि भागुरि यजुर्वेद की शाखा के प्रवक्ता भी थे[७]।

---

१. **भारद्वाजकमाख्यतम्**, अ० ७, पृ० ३२७, मद्रास सं०।

२. भण्डारकर ओरियेण्टल रिसर्च इंस्टिच्यूट, पूना।

३. वही, पृ० ९५।

४. न्यास ६, २, ३७ ; धातुवृत्ति √इण् पृ० २४७ ; प्रक्रियाकौमुदी, भाग १, पृ० १८२ ; अमरटीकासर्वस्व, भाग १, पृ० ५३ (कुछ पाठ०)।

५. पृ० ४४४ ; ४४५ ; ४४६ ; ४४७^{२} ; ३९९ (भर्तृहरि के नाम से) : द्र० मीमांसक सं० व्या० शा०, भाग १, पृ० ९८-९९।

६. द्र० भगवद्दत्त-कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास', भाग १, पृ० ३०८-३१० (द्वि० सं०)।

७. काश्मीर सं० सी०, पृ० ९।

संक्षिप्तसार के एक सूत्र की टीका में औत्थासनिक गोपीचन्द्र के एक उदाहरण से प्रतीत होता है कि भागुरि किसी ब्राह्मण का भी प्रवक्ता था, यथा—**शाट्यायनिनः, भागुरिणः, ऐतरेयिणः**[1]। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' में इसके सम्बन्ध में भागुरि के मत को उद्धृत किया है[2]।

४. पौष्करसादि

पौष्करसादि का नामोल्लेख पाणिनि ने नहीं किया, किन्तु महाभाष्य (पा० ८, ४, ४८) के एक वार्तिक में इनका उल्लेख किया गया है। तै० प्रा०[3] तथा मैत्रायणीय प्रतिशाख्य[4] में पौष्करसादि के अनेक मत उद्धृत किये गये हैं। एक मत शां० आर०[5] में भी उद्धृत है। हिर० गृ० सू०[6], आग्नि० गृ० सू०[7], तथा आप० ध० सू०[8] में विविध विषयों पर पुष्करसादि के मतों को उद्धृत किया गया है। हरदत्त के अनुसार पुष्करसादि ही पौष्करसादि है[9]। तै० प्रा० (५, ४०) के माहिषेयभाष्य के अनुसार पौष्करसादि ने कृष्णयजुर्वेद की एक शाखा का प्रवचन किया था। शां० आर० के उपर्युक्त उद्धरण से भी यही आभास मिलता है। पौष्करसादि शब्द **तौल्वल्यादिगण**[10] में पठित है, तथा पुष्करसद् पद **यस्कादि**[11], **बाह्वादि**[12] तथा **अनुशतिकादि**[13] गण में पढ़ा गया है। हरदत्त के मत में यह प्राच्यदेशवासी थे[14]। बौद्धजातकों में 'पोखरसदों' का उल्लेख मिलता है, वे प्राग्देशीय हैं[15]।

५. चारायण

यद्यपि चारायण का कोई व्याकरण सम्बन्धी वचन कहीं उद्धृत नहीं किया गया, तो भी लौ० गृ० सू० की व्याख्या में देवपाल ने इन के एक वचन की व्याख्या

---

[1] तद्धित, ४५४।

[2] तृतीय उद्योत, पृ० ३८५ ; अन्य क्षेत्रों में भागुरि के उल्लेखों के लिये द्र० मीमांसक, वही, पृ० १००-१०१।

[3] तै० प्रा० ५, ३७ ; ३८ ; १३, १६ ; १४, २ ; १७, ६।

[4] मै० प्रा० ५, ३९, ४० ; २, १, १६ ; २, ५, ६।

[5] शां० आर० ७, ८।

[6] हिर० गृ० सू० १, ६, ८।

[7] आग्नि० गृ० सू० १, १।

[8] आप० ध० सू० १, १९, ७ ; १, २८, १।

[9] आप० ध० सू० १, १९, ७ पर।

[10] पा० २, ४, ६१।

[11] पा० २, ४, ६३।

[12] पा० ४, १, ९६।

[13] पा० ७, ३, २०।

[14] **'पुष्करसदः प्राच्यत्वात्'**, पदमञ्जरी, भाग १, पृ० ४०९।

[15] मीमांसक, वही, पृ० १०२।

उद्धृत की है, जिससे इनके वैयाकरण होने की सूचना मिलती है[1] । महाभाष्य में चारायण का स्मरण पाणिनि तथा व्याडि के साथ किया गया है[2] । चारायणीय-प्रातिशाख्य का उल्लेख मिलता है । अतः बहुत सम्भव है कि चारायण वैयाकरण थे । चारायण कृष्णयजुर्वेद की चारायणीय-शाखा का प्रवक्ता भी है । यह शाखा तो इस समय अनुपलभ्य है, किन्तु इसका 'चारायणीय मन्त्रार्षाध्याय' प्रकाशित हो चुका है[3] । चारायणीय शिक्षा भी प्राप्य है[4] ।

६. काशकृत्स्न

पाणिनि से पूर्वभावी वैयाकरणों में काशकृत्स्न का नाम अतिप्रसिद्ध है । महाभाष्य[5] में काशकृत्स्न शब्दानुशासन का उल्लेख किया गया है[6] । बोपदेव ने अष्टशाब्दिकों में काशकृत्स्न का उल्लेख किया है[7] । जैन शाकटायन की अमोघावृत्ति (३. २, १६१) में 'त्रिकं काशकृत्स्नीयम्' उदाहरण में काशकृत्स्न को स्मरण किया गया है । भट्टभास्कर ने रुद्राध्याय के भाष्य में काशकृत्स्न का यजुः सम्बन्धी मत उद्धृत किया है[8] । भट्टपराशर ने तत्त्व-रत्नाकर में मीमांसा के संकर्षकाण्ड (अ० १३-१६) को काशकृत्स्नप्रोक्त कहा है तथा आप० श्रौ० सू० (मैसूर) के सम्पादक सी० नरसिंहाचार्य ने इसका अनुमोदन किया है[9] । काशकृत्स्न के व्याकरण के अनेक सूत्र वैयाकरण वाङ्मय में उद्धृत किये गये हैं । काशकृत्स्न धातुपाठ चन्नवीर कविकृत कन्नड़ व्याख्या के संस्कृत रूपान्तर-सहित प्रकाशित हो चुका है[10] । इस व्याख्या में काशकृत्स्न व्याकरण के १३५ सूत्र उपलब्ध हो गये हैं । कहीं-कहीं **काशकृत्स्नि** पद भी प्रयुक्त हुआ है, किन्तु दोनों पद एक ही व्यक्ति का बोध कराते हैं[11] । कात्यायन श्रौतसूत्र तथा भासकृत 'यज्ञफलं'

---

१. लौ० गृ० सू० ५, १ पर ।

२. **कम्बलचारायणीयाः**—भा० १, १, ७३ ।

३. डी० ए० वी० कॉ० लाहौर ।

४. द्र० *I. A.* १८७६ में कीलहार्न ।

५. **पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्……काशकृत्स्नम्** (१म आह्निक) ।

६. **इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः** (कविकल्पद्रुप) ।

७. पूना सं० पृ० २६ ।

८. भाग १, भूमिका, पृ० ५५ तथा ५७ ।

९. काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम्, अनुवादक तथा सम्पादक, युधिष्ठिर मीमांसक, अजमेर सं० २०२२ ।

१०. द्र० मीमांसक, वही पृ० १०६-१०७ ।

११. का०श्रौ०सू० ४, ३, १७ ।

में 'काशकृत्स्नि' के मतों का उल्लेख किया गया है[1]। 'यज्ञफलम्' में 'काशकृत्स्न मीमांसाशास्त्र' का उल्लेख है, भट्टपराशर ने इन्हें बादरायण का शिष्य कहा है[2]।

पा० ने **अरीहणादिगण** (पा० ४, २, २०) में 'काशकृत्स्न' पद पढ़ा है। अतः वह पाणिनि से पूर्ववर्ती थे[3]। Cardona ने इस विचार का निराकरण किया है। यह तर्क इतना ही दुर्बल है, जितना पा० गण० में यस्क पद के उल्लेख से यह परिणाम निकालना कि पाणिनि निरुक्त से परिचित थे[4]।

वेदान्तसूत्रों में यद्यपि काशकृत्स्न का उल्लेख है, किन्तु इस बात का क्या प्रमाण है कि वहां उल्लिखित काशकृत्स्न यही वैयाकरण ही था। यद्यपि पतञ्जलि के उल्लेख से काशकृत्स्न की प्राचीनता सिद्ध होती है, किन्तु इससे उसकी वर्तमान कृति की पूर्व-पाणिनीयता सिद्ध नहीं होती (वही)। Cardona की ये तीनों आपत्तियां तभी सिद्ध कही जा सकती हैं, जब वह किसी अन्य यास्क तथा किसी अन्य काशकृत्स्न की सत्ता सिद्ध कर दें। यास्क को तो सभी पूर्व पाणिनीय मानते ही हैं। मीमांसक का विचार है कि वह आपिशलि से भी पूर्वभावी थे[5]।

काशकृत्स्न ऐन्द्र-सम्प्रदाय की रचना बर्नेल तथा बेल्वल्कर दोनों के मत में कातन्त्र (कालाप या कौमार) व्याकरण ऐन्द्र-व्याकरण का ही रूपान्तर है। बर्नेल के मतानुसार तो काशकृत्स्न भी ऐन्द्रसम्प्रदाय के अन्तर्गत ही है। यह तो मीमांसक भी मानते हैं कि कातन्त्र काशकृत्स्न का संक्षेप है[6]। काशकृत्स्न व्याकरण ऋक्-प्रातिशाख्य के समान ही श्लोकबद्ध रचना सिद्ध होती है। इसके धातुपाठ में पा० धा० पाठ से ४५० धातु अधिक हैं। ऐन्द्र-व्याकरण का परिमाण भी पा० व्याकरण से बहुत बड़ा था। इस व्याकरण का पाणिनीय (माहेश्वर) सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध लक्षित नहीं होता।

रचना शैली, तथा पारिभाषिक शब्दावली की दृष्टि से ऐन्द्र सम्प्रदाय माहेश्वरसम्प्रदाय से प्राचीन प्रतीत होता है। अतः हम समझते हैं कि काशकृत्स्न का सीधा सम्बन्ध ऐन्द्र-सम्प्रदाय से था। कातन्त्र-व्याकरण का सीधा सम्बन्ध काशकृत्स्न से था और यह इसी के संक्षेप के रूप में लिखा गया। इसी कारण कातन्त्र भी ऐन्द्र-सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही विकसित हुआ प्रतीत होता है।

---

[1] अंक ४, पृ० १२६।

[2] ११वीं ओरियेण्टल कान्फ्रेंस, लेखसंक्षेप, पृ० ८५-८६।

[3] द्र० मीमांसक, वही पृ० ११४।

[4] *Pa. Survey*, p. 152.

[5] वही, पृ० ११४।

[6] मीमांसक, वही पृ० ११३; ११६-११७ द्वि० सं०।

हमने देखा है कि का० पा० (५, १, ५८) में उदाहरणरूपेण सूचित किया गया है **त्रिकं काशकृत्स्नम्** एवं जैन शाकटायन को अमोघावृत्ति (३, २, १६१) में इसी उदाहरण को **त्रिकं काशकृत्स्नीयम्** इस रूप में प्रस्तुत किया गया है। इनसे स्पष्ट होता है कि काशकृत्स्न का ग्रन्थ अध्याय-त्रयात्मक था। कालाप अथवा कातन्त्र व्याकरण भी, जो काशकृत्स्न का संक्षेप प्रतीत होता है, अध्यायत्रयात्मक ही है। अतः कातन्त्र का उपजीव्य काशकृत्स्न भी तीन अध्यायात्मक ही होगा।

पाणिनीय सम्प्रदाय के अन्तर्गत पाणिनीय तन्त्र के संक्षेप चान्द्रव्याकरण में भी मूलतन्त्र के समान ही आठ ही अध्याय रखे गये हैं। इसी प्रकार भोजकृत सरस्वती कण्ठाभरण में भी आठ ही अध्याय हैं। स्वयं पाणिनि ने भी अपने उपजीव्य आपिशल-व्याकरण और शिक्षा-सूत्रों के अनुसार ही अपने व्याकरण तथा शिक्षा-सूत्रों को क्रमशः आठ अध्यायों तथा आठ प्रकरणों में विभक्त किया है। अतः प्रतीत होता है कि काशकृत्स्न ने भी अपना व्याकरण तीन अध्यायों में ही लिखा होगा। इस अनुमान की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि कातन्त्रधातुपाठ में काशकृत्स्न धातुपाठ के समान ही धातुओं को नौ गणों में विभक्त किया गया है तथा जुहोत्यादि को अदादि के अन्तर्गत माना गया है। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि कातन्त्र के समान ही इस के तीन अध्यायों में क्रमशः पांच-पांच तथा दस पाद रहे होंगे[1]।

काशकृत्स्न ने धातुपाठ तथा, उणादिपाठ की भी रचना की थी। काश० धा० सू० के अनुसार **श्वन, कम, अम, चम** धातुओं को णिच् प्रत्यय होने पर विकल्प से **मित्** संज्ञा होने के कारण दो-दो रूप बनते हैं—**श्वनयति-श्वानयति, कमयति-कामयति, अमयति-आमयति, चमयति-चामयति**। जबकि पा० धा० सूत्रानुसार मित्संज्ञा न होने के कारण एक-एक ही रूप बनता है— श्वानयति, कामयति प्रभृति।

पाणिनि ने जिन-जिन धातुओं को छान्दस माना है, उन्हें काश०धा०पा० में सामान्य धातुओं के समान ही पढ़ा गया है। इससे यह प्रकट होता है कि काश० धा० पा० की रचना के समय ये धातु लोक में प्रचलित थे। अतः काश० धा० पा० का रचना-काल पा० धा० पा० के रचनाकाल से पूर्ववर्ती है।

काशकृत्स्न-रचित सूत्रों में प्रत्ययों के अनुबन्धों तथा विकरणों में भी उदात्तादि स्वरों का ध्यान रखा गया है। इससे यह विदित होता है कि उस समय लोकभाषा में भी स्वरनिर्देश का व्यवहार होता था[2]।

---

[1] मीमांसक वही, पृ० ११७।

[2] मीमांसक, वही भाग २, पृ० ३४-३५।

७. शन्तनु (शान्तनवाचार्य)—

फिट्सूत्रों के कर्ता शन्तनु या शान्तनवाचार्य पाणिनि से पूर्वकालिक है[1] । स्वयं पतञ्जलि ने अव्युत्पन्न प्रातिपदिकों के स्वर-सन्धान के लिए फिट्सूत्रों का आश्रय लिया है[2] । मीमांसक का विचार है कि फिट्सूत्रों की रचना आपिशलि से पूर्व हो चुकी प्रतीत होती है[3] । कीथ का यह विचार अमान्य है कि फिट्सूत्र पतञ्जलि से परवर्ती हैं[4] । मीमांसक महोदय का यह कथन चिन्त्य है कि फिट्सूत्रों के कर्ता का नाम शान्तनवाचार्य अशुद्ध है। प्रकाशित सिद्धान्तकौमुदी की पुष्पिका में **शान्तनवाचार्यप्रणीतेषु फिट्सूत्रेषु तुरीयः पादः** लिखा होने के कारण लेखक का नाम शान्तनवाचार्य ही माना जाना चाहिये। दूसरे भीष्म पितामह के पिता राजर्षि शन्तनु को इन सूत्रों का कर्ता मानना[5] भी कोरी कल्पना प्रतीत होती है ।

८. वैयाघ्रपद्य—

का० पा० (४, २,६५; ५,१,५८ तथा ७,१,९४) में 'वैयाघ्रपद्य व्याकरण' का उल्लेख किया गया है। तथा का० पा० ८, २, १ में उद्धृत **शुष्किका शुष्कजङ्घा च** कारिका को भट्टोजि दीक्षित ने वैयाघ्रपद्य विरचित वार्तिक माना है। अतः यह कोई वैयाकरण रहे होंगे और क्योंकि पा० (४, १, १०५) में उणादि में व्याघ्रपाद् शब्द पढ़ा गया है। अतः वह पाणिनि से पूर्व हो सकता है। इसके अतिरिक्त वैयाघ्रपद्य का उल्लेख श० ब्रा०[6], जै० ब्रा०[7], जै० उप० ब्रा०[8], तथा शां० आर०[9], प्रभृति में किया गया है। अतः वह प्राचीन आचार्य प्रतीत होते हैं। और क्योंकि काशिका (४, २, ६५) में 'दशका वैयाघ्रपदीयाः' तथा ५,१,५८ में 'दशकं वैयाघ्रपदीयम्' उदाहरण दिये गये हैं, अतः स्पष्ट है कि इस व्याकरण में दश अध्याय थे ।

इससे अधिक इस प्रसंग में कुछ भी विदित नहीं है ।

---

१. द्र० मीमांसक, वही, भाग २, पृ० ३१७ ।

२. वही, पृ० ३१५-१६ ।

३. वही, पृ० ३१७ ।

४. 'संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी), पृ० ५१०, यही विचार पं० कालीचरण शास्त्री ने 'बंगालस् कंट्रिब्यूशन', भाग १, पृ० ११८ में व्यक्त करने की भूल की है ।

५. वही, भाग २, पृ० ३१५ ।

६. श० ब्रा० १०, ६, १७ ।

७. जै० ब्रा० १, २२; २५ ।

८. जै० उप० ब्रा० ३, ७, ३, २; ४, ९, १, १ ।

९. शां० आर० ९, ७ ।

९. **रौढि**—

का० पा० ६,२,३७ में उदाहरण दिये गये हैं—**पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयकाशकृत्स्नाः**। पतञ्जलि ने म० भाष्य १, १, ७३ में **घृतरौढीयाः** उदाहरण दिया है। इसका अर्थ काशिका में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—**घृतप्रधानो रौढिः, तस्य छात्राः घृतरौढीयाः**। का० पा० ६, २, ६९ में भी '**घृतरौढीयाः**' पढ़ा गया है। इसका अर्थ यह है—जो छात्र रौढि-प्रोक्तशास्त्र की उपेक्षा करके केवल घृत भक्षणार्थं उसका शिष्यत्व स्वीकार करते थे, उनकी निन्दार्थ इस पद का प्रयोग किया जाता था। पतञ्जलि (पा० ४, १, ६९) ने सूचित किया है कि पूर्वाचार्य पाणिनीय **क्रौड्यादिभ्यश्च** (पा० ४, १, ८०) के स्थान पर **रौढ्यादिभ्यश्च** पढ़ते थे।

इससे प्रतीत होता है कि रौढि नामक आचार्य पाणिनि से पूर्वकालिक वैयाकरण थे।

१०. **गौतम**—

महाभाष्य (पा० ६,२,३६) में **आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः** प्रयोग दिया गया है, जिससे प्रतीत होता है कि गौतम वैयाकरण थे। तै०प्रा० (५,३८) तथा मै० प्रा० (५,४०) में भी गौतम के मत उद्धृत किये गये हैं। अतः गौतम पाणिनि से प्राचीन सिद्ध होते हैं। एक गौतमीय-शिक्षा भी उपलब्ध है। गौतम गृ० सूत्र तथा गौ० ध० सू० भी प्रसिद्ध हैं। 'गौतम पितृमेध सूत्र' तथा 'श्राद्धकल्प' भी सामवेदियों में प्रचलित हैं। चरणव्यूह में गौतमीयों को राणायनीयों की उपशाखा के अनुयायी माना गया है। खादिर गृ० सू० को भी गौतम की कृति माना जाता है[1]।

११. **व्याडि**—

कात्यायन ने पा० १, २, ६४ पर एक वार्तिक में सर्वप्रथम व्याडि का नाम लिया है। भाष्य में पतञ्जलि ने 'संग्रहकार' व्याडि का उल्लेख किया है[2] तथा 'संग्रह' को 'दाक्षायण' की कृति कह कर सूचित किया है कि व्याडि का नामान्तर 'दाक्षायण' भी प्रसिद्ध था। यद्यपि पतञ्जलि ने इसके जीवन पर कोई प्रकाश नहीं डाला, तो भी पुरुषोत्तम देव ने त्रिकाण्डशेष में व्याडि को विन्ध्यस्थ 'नन्दिनी सुत' तथा 'मेधावी' नामों से अभिहित किया है। आचार्य हेमचन्द्र[3] ने भी इसे 'विन्ध्यवासी'[4] और केशव ने 'विन्ध्यनिवासी' नामों से स्मरण किया

---

[1] कैलैण्ड, जै० सं०, भूमिका, पृ० १७; अस्को परपोला, श्रौ० ला०, द्रा०, पृ० ५५-५६।

[2] **संग्रहे एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्। ··· संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे ···।** पा० १, १, १।

[3] अभिधानचिन्तामणि, मर्त्यकाण्ड ५१६।

[4] शब्दकल्पद्रुम, पृ० ८३।

है। किन्तु व्याडि नाम के कई व्यक्ति होने के कारण कौन सा व्याडि इन कोशों में अभिप्रेत है, यह स्पष्ट नहीं होता। वैयाकरण व्याडि का सर्वप्राचीन उल्लेख ऋक् प्रा०[1] में किया गया है। पतञ्जलि[2] के पश्चात् काशिका[3] तथा भाषावृत्ति (६, १, ७०) प्रभृति अनेक ग्रन्थों में व्याडि का उल्लेख किया गया है। इसका नामान्तर 'दाक्षायण' वा 'दाक्षि' भी था[4]।

का० पा०[5] ने दाक्षि को प्राग्देशीय माना है।

पा० (६, २, ८६) के छात्र्यादि गणपाठ में व्याडि पद पढ़ा गया है तथा का० पा० (६, २, ६९) में व्याडि के शिष्यों की ओर सङ्केत किया गया है।

एक विचार के अनुसार दाक्षायण व्याडि पाणिनि के मामा हो सकते हैं, जिस कारण व्याडि पाणिनि का समकालिक ठहरता है, किन्तु ऋक् प्रा० में व्याडि के मत उल्लिखित होने के कारण और ऋक् प्रा० के पाणिनि से प्राचीन होने के कारण व्याडि को पाणिनि का समकालिक तथा अष्टाध्यायी का व्याख्याता मानना[6] सन्देहास्पद प्रतीत होता है या फिर ऋक् प्रा० के व्याडि तथा कात्यायन के व्याडि को पृथक्-पृथक् व्यक्ति मानना होगा।

महाभाष्य (६, २, ३६) में एक प्रयोग मिलता है **आपिशलपाणिनीय-व्याडीयगौतमीयाः**। इसमें अन्य प्रसिद्ध वैयाकरणों के साथ उल्लेख के कारण व्याडि के भी वैयाकरण होने का अनुमान किया जा सकता है तथा उसके अन्तेवासियों का निर्देश समीचीन हो सकता है।

व्याडि मुख्यतया दार्शनिक वैयाकरण के रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत किये गये हैं। इनके दो मुख्य सिद्धान्तों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया है। एक तो वह शब्द-नित्यता[7] के सिद्धान्त के पोषक थे। द्वितीय वह शब्द को द्रव्यवाची मानते थे, जातिवाचक नहीं[8], जबकि वाजप्यायन के मत में शब्द आकृति-वाचक होते हैं व्यक्ति वाचक नहीं[9]। **संग्रह** एक अतिविशाल लक्ष श्लोक

---

१. ऋक्० प्रा० २, २३; २८; ६, ४६; १३, ३१; ३७।

२. पा० ६, २, ३६; १, २, ६४।

३. का० पा० २, ४, २१ :

४. का० पा० ४, १, १२२; म० भा० २, ३, ६६।

५. का० पा० ४, १, १६०।

६. मीमांसक, वही, पृ० २८३-८४।

७. **संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणम्** इति (१, १, १)।

८. सर्वदर्शनसंग्रह, (पूना), पृ० ३०८, **द्रव्यपदार्थवादिव्याडिनये शब्दस्य व्यक्तिरेवाभिधेयतया प्रतिभासते**।

९. **आकृत्यभिधानाद्वैकं शब्दं विभक्तौ वाजप्यायनः** म० भाष्य (झज्जर, पृ० १४४)।

परिमाण विविध-विषयों का प्रतिपादक, सूत्रात्मक ग्रन्थ था। इसके सम्भवतः पांच अध्याय थे[१]। इसकी व्यापकता का अनुमान भर्तृहरि के इस वचन से लग सकता है—**चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षितानि)**[२]।

इस ग्रन्थरत्न के कुछेक एक वचनों का संग्रह मीमांसक महोदय ने प्रकाशित किया है[३]।

व्याडि ने किसी परिभाषा-पाठ का भी प्रवचन किया था, जिसका सम्बन्ध पाणिनीय-तन्त्र से कहा जाता है[४]। इस परि० पाठ के दो संस्करण थे, जिन्हें म० म० काशीनाथ अभ्यंकर ने 'परि० संग्रह' में प्रकाशित किया है। प्रथम परि० पाठ में ९३ परिभाषाएं है तो दूसरे में १४० हैं। इनमें पर्याप्त पाठभेद पाया जाता है। व्याडि के लिंगानुशासन का उल्लेख वामन, हर्षवर्धन तथा हेमचन्द्र के लिंगानुशासनों में मिलता है। यह ग्रन्थ अतिविस्तृत था यह सूचना वामन ने दी है।

१२. वाजप्यायन

पतञ्जलि ने पा० सूत्र **सरूपाणमेकशेष एकविभक्तौ** (१, २, ६४) पर एक वार्तिक **आकृत्यभिधानाद् वैकं विभक्तौ वाजप्यायनः** के द्वारा वाजप्यायनाचार्य के शब्द के आकृति-वाचकत्व के सिद्धान्त से हमें सूचित किया है,[५] जो व्याडि के व्यक्तिवाचकत्व के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है। पतञ्जलि ने इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है—**आकृत्यभिधानाद् वैकं शब्दं विभक्तौ वाजप्यायनः आचार्यो न्याय्यं मन्यते। आकृतिः, सा च अभिधीयत इति।**

वाजप्यायन प्राचीन वैयाकरण दार्शनिक थे, जिनका सिद्धान्त इस विषय में मीमांसकों के जातिवाचक सिद्धान्त से मेल खाता है। पतञ्जलि ने इस विषय में पाणिनि के विचार को स्पष्ट करते हुए लिखा है—**उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। आकृतिं पदार्थं मत्वा 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' इत्युच्यते। द्रव्यं पदार्थं मत्वा 'सरूपाणाम्' इत्येकशेष आरभ्यते**[६]। वार्तिककार कात्यायन ने व्याडि, वाजप्यायन तथा पौष्करसादि का उल्लेख किया है, जिनमें से व्याडि सर्वप्राचीन है। सम्भवतः वाजप्यायन इन तीनों के मध्यवर्ती माने जा सकते हैं।

---

[१] **पञ्चकः संग्रहः** चान्द्र० वृत्ति ४, १, ६२।

[२] **संग्रहे तावत् प्राधान्येन परीक्षितम्** पर व्याख्या, मीमांसक, वही, पृ० २८४।

[३] वही, २८५ से।

[४] वही, भाग २, पृ० २८३।

[५] म० भा० (झज्जर सं०), पृ० १४४।

[६] म० भा० पस्पशा०।

सप्तदश अध्याय

पाणिनि द्वारा उल्लिखित वैयाकरण

पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती दस वैयाकरण आचार्यों के मतों को नामनिर्देशपूर्वक उद्धृत किया है। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) **शाकल्य** का मत अष्टाध्यायी में चार बार उद्धृत किया गया है— (क) १, १, १६; (ख) ६, १, १२७; (ग) ८, ३, १९; (घ) ८, ४, ५१। इनमें से प्रथम सूत्र के भाव का समर्थन ऋक् प्रा०[1] अथर्व प्रा०[2] तथा चतुरध्यायिका[3] में भी किया गया है। म० भाष्यकार पतञ्जलि[4] ने शाकल्य की संहिता की प्रशंसा में कहा है—**शाकल्याय संहितामनुप्रावर्षत्**। शाकल्य की संहिता को सुन कर देवताओं ने वर्षा की। यहां **संहिता** शब्द से **वैदिक-शाखा** अभिप्रेत है[5]। **शाकल्यस्य संहिता** के विषय में षड्गुरुशिष्य ने भी चर्चा की है[6]। निरुक्तकार यास्क ने भी शाकल्य की 'पदकार' के रूप में आलोचना की है[7]। एक 'पदकार' के पदपाठ की आलोचना करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है कि पदकारों को व्याकरण के नियमों का पालन करना चाहिये[8], जबकि अन्यत्र[9] इन्होंने स्वयं पदकार के पदपाठ का अनुमोदन किया है कि **अनूप**[10] शब्द में दीर्घ (ऊप) केवल पदपाठ में अवग्रह को दृष्टि में रख कर मान लेना चाहिये। यहां पदकार स्पष्ट ही शाकल्य है, जिसके पदपाठ में अवग्रह देखा जा सकता है। कैयट ने

---

१. ऋक्० प्रा० १, ६८।

२. अथर्व० प्रा० ३, ३।

३. च० अ० १, ८१।

४. पा० १, ४, ८४ पर।

५. नागेश, वही।

६. ऋक् सर्वानु० (कात्यायन व्या०), मैकडॉनल सं० पृ० १६८।

७. निरु० ६, २८ : दुर्ग०—**शाकल्यः पदकारः**।

८. पा० ३, १, १०९ तथा ६, १, २०७।

९. म० भा०, पा० ६, ३, ९८।

१०. ऋग्० ९, ७, १०७।

> यहां भाष्यकार के दृष्टिकोण की आलोचना की है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में शाकल्य का नामनिर्देश-पूर्वक उल्लेख चार बार किया है[1] तथा दो बार **'स्थविर' शाकल्य**[2] एवं **शाकल्यपितुः**[3] का नाम लेकर निर्देश किया है, जो सम्भवतः शाकल्य के पिता हो सकते हैं।

वा० प्रा०[4] में शाकल्य के नाम से श्, ष्, स् के परे रहते विसर्ग में कोई विकार न होने का नियम पढ़ा गया है, जो शाकटायन के परसवर्ण के नियम के विरुद्ध हैं[5]। शाकल्य का नाम श० ब्रा०[6] में भी आया है, जहां इन्होंने याज्ञवल्क्य से जनकविदेह की सभा में प्रश्न किया है।

शाकल्य-व्याकरण का उल्लेख प्रसिद्ध नौ व्याकरणों के अन्तर्गत किया गया है—

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम् ।
सारस्वतं चापिशलं शाकल्यम्पाणिनीयकम् ।।

शाकल्य को वैयाकरण के रूप में पतञ्जलि ने **शाकल्यस्य छात्राः शाकलाः**[7] कह कर प्रसिद्ध कर दिया है। ऋग्वेद की शाकल-शाखा ने ही शाकल्य के नाम को उज्ज्वल कर रखा है, क्योंकि व्याकरण के आधार पर इस ऋग्वेद संहिता के पदपाठ के निर्माण का श्रेय इन्हीं आचार्य शाकल्य को ही है। ऋग्वेद संहिता के पदपाठ के आधारभूत व्याकरण की आधारशिला कितनी सुदृढ़ एवं गहरी थी, इसका प्रमाण स्वयं पदपाठ प्रस्तुत करता है। जिसकी वैज्ञानिकता की धाक आज भी बैठी हुई है[8]। इनका काल आरम्भिक ब्राह्मण, भागवत पुराण[9] तथा विष्णु पुराण[10] ने ऋग्वेदीय-शाखा परम्परा का वर्णन इस प्रकार किया है—व्यास—पैल—इन्द्र

---

१. ऋक्० प्रा० ३, १३ ; ३, २२ ; ४, १३ ; १३, ३१ ।
२. वही, २, ८१ ।
३. वही, ४४ ।
४. वा० प्रा० ३, १० ।
५. वा० प्रा० ३, ९ ।
६. श० प्रा० ११, ६, ३ ।
७. पा० ४, १, १८ पर भाष्य ।
८. Harmut Scharfe, *Grammatical Literature* (ed. J. Gonda), p. 81 ; ab., v. 26.
९. भाग० पु० १२, ६, ४४-६० ।
१०. वि० पु० ३, ४, १६-२० ।

प्रमति तथा बाष्कल । इन्द्रप्रमति—माण्डूकेय—शाकल्य । इसी प्रकार की परम्परा शौनकीय चरणव्यूह की महिदास-कृत व्याख्या[1] में भी दी गयी है ।

२. **गालव** को पाणिनि ने चार बार स्मरण किया है— (क) ६, ३, ६१ ; (ख) ७, १, ७४ ; (ग) ७, ३, ९९ ; (घ) ८, ४, ६७ ; सर्वत्र नाम-ग्रहण पूजार्थ ही माना जाने के कारण पतञ्जलि ने गालव की विशेषता का उल्लेख नहीं किया ।

शाकपूणि एवं तैटीकि के साथ गालव का उल्लेख पाणिनि से पूर्व यास्क ने किया है,[2] जहां **शिताम** शब्द की निरुक्ति के विषय में चर्चा चलायी गयी है । गालव के मत में इस शब्द का अर्थ 'मांस' होता है, क्योंकि यह श्वेत (शिति) होता है ।

बृहद्देवता[3] में गालव का नाम चार बार ग्रहण किया गया है । अन्तिम निर्देश में तो इन्हें शौनक और यास्क-सदृश आचार्यों की कोटि में गिनाया गया हैं ।

शैशिरिशिक्षा में भी गालव का शौनक के शिष्य के रूप में उल्लेख किया गया है ।

ऐतरेय आरण्यक[4] में गालव के नाम का उल्लेख **महाव्रताध्ययन** के प्रसंग में किया गया है, जहां गालव के मतानुसार इस व्रत को परिसमाप्ति उसी दिन करनी चाहिये, जिस दिन इसे आरम्भ किया गया था, जबकि जातूकर्ण्य इसे उस दिन समाप्त नहीं करना चाहते थे[5] ।

इससे प्रतीत होता है कि वैयाकरण एवं नैरुक्त होने के अतिरिक्त गालव एक कुशल याज्ञिक भी थे ।

३. **शाकटायन** का उल्लेख अष्टाध्यायी में तीन बार किया गया है—(क) ३, ४, १११; (ख) ८, ३, १८ ; (ग) ८, ४, ५० । इनमें अन्तिम दो पर महाभाष्य में कोई टिप्पणी नहीं की गयी । यास्क ने शाकटायन का तीन बार नामनिर्देश पूर्वक उल्लेख किया है—(क) १, ३ ; (ख) १, १२ तथा (ग) १, १३ ।

---

[1] का० सं० सी०. पृ० ३ से ।

[2] निरु० ४, ३ ।

[3] बृ० दे० १, २४ ; ५, ३९ ; ६, ४३ ; ७, ३८ ।

[4] ऐ० आर० ५, ३, ३ ।

[5] वही, पृ० ४६९ आर० एल० मित्र का सं० ।

प्रथम उल्लेख में तो शाकटायन का यह मत व्यक्त किया गया है कि असम्बद्ध उपसर्गों का निजी कोई अर्थ नहीं होता। द्वितीय स्थल पर शाकटायन का प्रसिद्ध मत उद्धृत किया गया है कि सभी नाम आख्यातज होते हैं। यहां यास्क ने **नैरुक्तसमयश्च** कह कर इन्हें नैरुक्तों से भिन्न दर्शाने का स्पष्ट प्रयास किया है। इन दोनों स्थलों पर इनका सीधा विरोधी गार्ग्य को घोषित किया गया है। **वैयाकरणानाञ्चैके** कह कर यास्क शाकटायन को वैयाकरणों की कोटि में रखते स्पष्ट प्रतीत होते हैं। अपने सिद्धान्त के अनुरूप ही शाकटायन एक ही शब्द के विभिन्न भागों को एकाधिक धातुओं से भी व्युत्पन्न करने से नहीं कतराते थे, जो वस्तुत: इस सिद्धान्त का अतिसीमन कहा जा सकता है। परम्परा शाकटायन को ही उणादि सूत्रों का आदिकर्ता मानती है, जिनका आधार ही यही सिद्धान्त है कि सभी नाम आख्यातज हैं। नागेश ने इस बात की पुष्टि इन वचनों में की है—

> **एवञ्च कृवापेत्याद्युणादिसूत्राणि शाकटायनस्येति सूचितम्। धातुजं नामेति निरुक्ते आह निरुक्तकार: शाकटायनश्च स्वकृते व्याकरेण धातुजं नामेति भाष्येऽन्वय:**[1]**।**

शाकटायन का पक्ष था कि उणादि व्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं[2], जबकि दूसरा पक्ष इन्हें अव्युत्पन्न मानता था। पाणिनि भी आंशिक रूप में शाकटायन के मत को मानते थे और किसी अंश तक उनका भी इन सूत्रों के निर्माण में हाथ है। उणादि-प्रक्रिया को कात्यायन ने पूर्णता प्रदान की।

सामवेद सर्वानुक्रमणी के अनुसार ऋक्तन्त्र-व्याकरण का निर्माण भी शाकटायन ने ही किया था[3]। यद्यपि भट्टोजि दीक्षित[4] तथा कुछ अन्य विद्वान् औदव्रजि को ही ऋक्तन्त्र का कर्ता मानते हैं। औदव्रजि का उल्लेख ऋक्तन्त्र में केवल एक बार (२, ६, १०) किया गया है।

शाकटायन को ऋक् प्रा० (१, १६; तथा १३, ३९) में नामनिर्देश-पूर्वक उद्धृत किया गया है। वहां भी (१, १६) शाकटायन का विरोधी गार्ग्य ही है।

---

१. म० भाष्य, पा० ३, ३, १, पर उद्योत।

२. **'उणादयो व्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि'**।

३. **'ऋचां तन्त्रव्याकरणे पञ्चसंख्याप्रपाठकम्।
शाकटायनदेवेन द्वात्रिंशत्खण्डका: स्मृता:'॥**
ऋकतन्त्र, परि०, पृ० ३ (सूर्यकान्त सम्पा०) द्र० नागेश, लघुश०, काशी, पृ० ७।

४. शब्दकौ०।

शौनकीय चतुरध्यायिका में भी शाकटायन को उद्धृत किया गया है[1]। जहां य तथा व के उच्चारण में लघु प्रयत्न का निर्देश किया गया है। बृ०दे० में शाकटायन के मतों को आठ स्थलों[2] पर उद्धृत किया गया है, जिनमें केवल एक स्थल (२,९५) पर ही इनका मत व्याकरण-विषयक है कि अच्छ, शरद् तथा अन्तर् भी उपसर्गों के अन्तर्गत मानने चाहियें।

वा० प्रा० में शाकटायन का छह सूत्रों में उल्लेख किया गया है[3]। वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि (१२वीं शती) में शाकटायन का अनेक वार आदरपूर्वक उल्लेख किया है।

शाकटायन का स्थान वैयाकरणों में इतना ऊँचा माना जाता था कि काशिका[4] को उदाहरण देना पड़ा—**अनुशाकटायनं वैयाकरणाः** तथा **उपशाकटायनं वैयाकरणाः**। 'सभी वैयाकरण शाकटायन से नीचे हैं'।

बूह्लर[5] ने वर्तमान शाकटायन व्याकरण को पूर्व-पाणिनीय रचना माना था और अष्टाध्यायी को इसी की पुनःसंस्कृत कृति घोषित किया था, जिसका प्रतिवाद बर्नेल ने किया था[6] बाद में कीलहार्न[7] ने तथा लीबिख्[8] ने बूह्लर के विचार का निराकरण किया।

४. **गार्ग्य** का पा० ने तीन सूत्रों में उल्लेख किया है—

(क) ७, ३, ९९। (ख) ८, ३, २०। (ग) ८, ४, ६७।

गालव के प्रकरण में गार्ग्य की चर्चा की गयी है।

यास्क ने गार्ग्य का नामोल्लेख तीन बार किया है[9]। शाकटायन के विरोध में प्रायः गार्ग्य को ही खड़ा किया गया है[10]। जहां शाकटायन असम्बद्ध उपसर्गों के कोई अर्थ स्वीकार नहीं करते, वहाँ गार्ग्य इनके विविध (**उच्चावचाः**) अर्थ स्वीकार करते हैं[11]।

---

[1] च० अ० २, २४; तु० पा० ८, ३, १८।

[2] बृ० दे० २, १; २, ९५; ३, १५६; ४, १३८; ६, ४३; ७, ६९; ८, ११ तथा ८, ९०।

[3] वा० प्रा० ३, ९; १२; ८७; ४, ५; १२९; १९१।

[4] पा० १, ४, ८६।

[5] 1864, *O. U.* 2, P. 691-706।

[6] १८७१, ऐन्द्र० सं० ग्रा०, पृ० ९७।

[7] *NGGW*, 1894, p. 1-14।

[8] क्षीर तरंगिणी सं० पृ० २३६, १९३०।

[9] Cardona, G. *Pa. Survey*, p. 149।

[10] निरु० १, ३; १२; ३, १३।

[11] निरु० १, ३।

शाकटायन के ही मत के विरुद्ध गार्ग्य तथा कुछेक वैयाकरण सभी नामों को आख्यातों से उत्पन्न नहीं मानते, केवल उन्हीं को आख्यातज मानते हैं, जिनके स्वर तथा व्युत्पत्ति (संस्कार) नियमानुरूप (समर्थ) हों तथा क्रिया के अभिधायक धातु से स्पष्ट अन्वित हो तथा उनकी व्युत्पत्ति स्पष्ट विज्ञात हो[1]। दुर्गाचार्य की व्याख्या से प्रतीत होता हैं कि गार्ग्य मुख्यरूपेण नैरुक्त थे और गौणरूपेण वैयाकरण। निरुक्त ३, १३ में गार्ग्य आलंकारिक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं, जहां उन्होंने 'उपमा' का लक्षण प्रस्तुत किया है[2]।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य ने गार्ग्य को पांच बार उद्धृत किया है, यथा—

१, १५; ६, ३६; ११, १७; १, २६; १३, ३१।

वा० प्रा० ने एक बार गार्ग्य का उल्लेख किया है—४, १६७। बृ० दे० ने भी इन्हें एक ही बार (१, २६) उद्धृत किया है।

सामवेद का पदपाठ गार्ग्य की कृति मानी जाती है। निरुक्त (४, ४) में ऋग्० ५, ३९, १ की व्याख्या करते हुए यास्क ने शाकल्य के अनुसार 'मेहना' को एक पद माना है, किन्तु गार्ग्य के पदपाठ के आधार पर तीन पदों की ओर सङ्केत किया है[3]। सामवेद के पदपाठ के अनुसार यहां वस्तुतः 'मेहना' को तीन पदों 'मे। इह। न' में विभक्त किया गया है[4]। दुर्गाचार्य के अनुसार अर्थभेद के कारण पदपाठ में भेद किया गया है। अतः गार्ग्य का पदपाठ भी प्रामाणिक है।

५. **काश्यप** का मत पा० ने दो बार उद्धृत किया है—१, २, १२५; ८, ४, ६७; पा० ८, ४, ६७ में काश्यप का नाम गार्ग्य एवं गालव के साथ ग्रहण किया गया है। काश्यप नामक एक ऋषि का भी नामोल्लेख पाणिनि ने किया है[5], जिसे कालीचरण शास्त्री ने पूर्वोक्त काश्यप से मिलाने का प्रयास किया है। इस प्रसंग में बृ० दे० (३, ५७) में उल्लिखित 'कश्यप' के साथ समीकरण की चेष्टा[6] सर्वथा अनुचित है

---

[1] निरु० १, १२।

[2] निरु० ३, १३—'**अथात उपमा अतत् तत्सदृशम्' इति गार्ग्यः**।

[3] द्र० दुर्गाचार्य—निरु० पृ० २७६, वेङ्कटेश्वर प्रेस,—'**तदुभयं पश्यता भाष्यकारेणोभयोः शाकल्यगार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानुविहितौ**'।

[4] सामवेद १, ३४५ पदपाठ।

[5] पा० ४, ३, १०३।

[6] *Bengal's Contribution to Sanskrit Grammar*, Pt. I, p. 86-87।

क्योंकि बृ० दे० का ऋषि 'कश्यप' ऋग् १०, १३७, २ तथा ८, २९ का द्रष्टा है।

वा० प्रा०[1] में काश्यप का शाकटायन के साथ, विशेष परिस्थितियों में नकार-मकार के लोप प्रसंग में उल्लेख किया गया है।

६. **आपिशलि** का नाम पा० ६, १, ९२ में उद्धृत किया गया है। आपिशलि इतने महान् वैयाकरण थे कि काशिका के व्याख्याकार ने इसके नाम-ग्रहण को 'शास्त्रसम्मानार्थ' माना हैं। यद्यपि पतञ्जलि ने इस सूत्र की व्याख्या नहीं की, तो भी पा० ४, २, ४५ पर आचार्य आपिशलि की विधि श्लोकवार्तिक के रूप में उद्धृत की है। तथा पा० ६, २, ३६ की व्याख्या में एक समस्तपद का उदाहरण दिया है—**आपिशल-पाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः**, जिससे इन आचार्यों के अन्तेवासियों का सङ्केत मिलता है। आपिशलि द्वारा प्रोक्त व्याकरण **आपिशलम्** अतिप्राचीन नौ व्याकरणों में एक माना जाता है।

काशिकाकार ने आपिशल व्याकरण के सूत्र को उद्धृत करके पा० के सूत्र से अन्तर को स्पष्ट किया है। पा० ७, ३, ९५ **तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके** की व्याख्या में काशिका में लिखा है-**आपिशलास् तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुकासु छन्दसीति पठन्ति।**

पा० ५, १, २१ पर टिप्पणी करते हुए कैयट ने लिखा है—**आपिशल काशकृत्स्नयोस्त्वग्रन्थ इति वचनादन्यत्रप्रतिषेधाभावः।** इससे यह सङ्केत मिलता है कि सम्भवतः इन आचार्यों का सूत्र इस प्रकार रहा होगा—**शताच्च अन्यठावग्रन्थे।**

भाष्य, न्यास तथा कैयट द्वारा आपिशल-व्याकरण के अनेकों सूत्रों को उद्धृत किया गया है।

आचार्य पाल्यकीर्ति ने स्वरचित शाकटायन-व्याकरण की अमोघा वृत्ति में पाणिनीय व्याकरण के समान ही आपिशल-व्याकरण के भी 'अष्टाध्यायी' होने की सूचना दी है[2]। काशिका में व्याकरण के गुरुलाघव के विचार का प्रवर्तक भी आपिशलि को ही बताया गया है[3]। **द्विवचन, विभाषा, गुण, सार्वधातुक संज्ञाएं** तथा **टाप्, ठन्, शप्** प्रत्यय एवं **अष्** प्रत्याहार पाणिनि के समान ही आपिशल-व्याकरण में भी प्रयुक्त किये हैं। इनके धातुपाठ तथा गणपाठ की भी पाणिनीय

---

[1] वा० प्रा० ४, ५।

[2] **'अष्टका आपिशलपाणिनीयाः'।**

[3] पा० ६, २, १४ पर वृत्ति, **'आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम्'।**

धातुपाठ तथा गणपाठ के समान ही थे। हरदत्त के अनुसार तो आपिशल-व्याकरण ही पाणिनीय-व्याकरण का उपजीव्य ग्रन्थरत्न था[१], जो मुख्यतः सूत्ररूप में था, किन्तु आपिशलीय श्लोक भी उपलब्ध होते हैं[२]। सम्भवतः इस व्याकरण में उणादियों का भी समावेश रहा होगा[३]। Cardona[४] इस विचार से सहमत नहीं है कि पञ्चपादी उणादि आपिशलि की कृति है।

७. **भारद्वाज** का नामोल्लेख केवल एक बार किया गया है—**ऋतो भारद्वाजस्य** (पा० ७, २, ६३)। भारद्वाज के अनुयायी 'भारद्वाजीय वैयाकरण' कहलाते थे, जिन्हें महाभाष्यकार ने दस-बारह बार उद्धृत किया है[५]। उद्धरणों में कुछ तो स्पष्ट ही वार्तिक हैं, जिनसे इनके व्याकरण का प्रचलन पतञ्जलि के समय तक प्रमाणित होता है। ऋक्तन्त्र की परम्परा के अनुसार इन्द्र ने भरद्वाज को व्याकरण-शास्त्र की शिक्षा प्रदान की थी।

साम प्रातिशाख्य, पुष्पसूत्र, के अनुसार भारद्वाज सामगान के कुशल आचार्य थे, इन्होंने **ब्रह्मयुजो हरय इति** (साम० १,२१५ तथा २,७४१) इस साम के उद्गीथ में सन्धिगीत के स्थान पर पदगीत का प्रतिपादन किया था[६]।

तै० प्रा० (१७, ३) तथा मैत्रायणीय प्रातिशाख्य (२, ५, ६) में भी भारद्वाज के व्याकरण-विषयक मत उल्लिखित हैं।

वस्तुतः भारद्वाज किसी व्यक्ति का नाम-विशेष न होकर गोत्रवाचक शब्द है, जो आगे चलकर देशवाची भी हो गया, जहां भारद्वाज गोत्र के लोग बड़ी संख्या में बस गये थे[७]। अतः भारद्वाज नाम के कई व्यक्ति हो गये हैं, यथा

---

[१] **'कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनावगतमेते साधव इति ? आपिशलेन व्याकरणेन'** (पद-मञ्जरी, भाग १, पृ० ७)।

[२] द्र० कातन्त्रवृत्ति, पृ० ४७९।

[३] मीमांसक, शि० सू०, भूमिका, पृ० ८; व्या० शा० इति०, खण्ड ३, पृ० १९४-१९५।

[४] *Pa. Survey*, p. 148-149.

[५] द्र० कालीचरण शास्त्री, वही, टि० पृ० ९७।

[६] पुष्पसूत्र, पृ० ७८, चौखम्बा सं०।

[७] *Vide* S. M. Ali, *Geography of the Purāṇas,* p. 165. वायु० (४५, ११९) में यह उदीच्य देशान्तर्गत था। का० पा० (४,२,१४५) के अनुसार तो **'भारद्वाजशब्दोऽपि देशवचन एव, न गोत्रशब्दः'**।

गर्दभीविपीत भारद्वाज[1], कृष्ण भारद्वाज[2], द्रोण भारद्वाज[3]। अर्थशास्त्र में भारद्वाज के अनेक मत उद्धृत हैं[4]।

८. **चाक्रवर्मण** का नाम पा० ६, १, १३० तथा उणादि ३, १४४ में उल्लिखित है। भट्टोजि दीक्षित ने भी श० कौ०[5] में तथा श्रीपति दत्त ने कातन्त्र परि० के सूत्र **हेतौ वा** की वृत्ति में चाक्रवर्मण का मत उद्धृत किया है। इससे चाक्रवर्मण को सम्भवत: शाकटायन से भी प्राचीन आचार्य माना जा सकता है और यदि पञ्चपादी उणादियों को आपिशलि की रचना स्वीकार किया जाये[6], तो वह आपिशलि से भी पूर्ववर्ती ठहरते हैं। पाणिनि द्वारा उल्लिखित इन वैयाकरणों के विषय में अन्य विद्वानों ने भी चर्चा की है, यथा—बेल्वल्कर[7]; सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी[8], वासुदेव शरण अग्रवाल[9], Birwe, R.[10], कालीचरण शास्त्री[11], विधाता मिश्र[12]।

जहां कहीं पा० ने 'उदीचाम्' अथवा 'प्राचाम्' का उल्लेख किया है, वहां आधुनिक विद्वानों ने विशेष 'स्थानों' के स्थान पर विशेष 'सम्प्रदायों' का अर्थ स्वीकार किया है। यथा—गोल्डस्टुकर[13], आर० जी० भण्डारकर[14], बेल्वल्कर[15],

---

[1] बृ० आर० उप० ४, १, ५।

[2] काश्यपसंहिता सूत्र० २७, ३।

[3] म० भारत में प्रसिद्ध।

[4] अर्थ० शा० १, ७; १, १५; १६; ५, ६; ८, ३।

[5] श० कौ० १, १, २७।

[6] मीमांसक, सं० व्या० शा०, भाग १, पृ० १५५-१५६; भाग २, पृ० १९५।

[7] सिस्टम्स० पृ० ९-१०।

[8] *N. U. G.*, 7, p. 46-53.

[9] *India as known to Pāṇini*, p. 343-49.

[10] *Studien zu Adhyāya III der Aṣṭādhyāyī Pāṇinis*, Wiesbaden, 1966।

[11] *Bangal's Contribution to Sanskrit Grammar in the Pāninian and Cāndra systems*, 1972।

[12] *A Critical Study of Sanskrit Phonetics*, 1972।

[13] पाणिनि, पृ० ९०, टि० ९७।

[14] *I. A.* 2, P. 69-71।

[15] सिस्टम्स०, पृ० १०-११।

पैङ्के (Panke R. Otto)[१], रेनु[२], रामशङ्कर भट्टाचार्य[३], के० वी० अभ्यङ्कर[४], एस० पी० सुब्रह्मण्य शास्त्री[५], एस० एम० कात्रे[६], जे० गोण्डा[७] ।

९. **स्फोटायन** का पा० ६, १, १२३ में उल्लेख किया गया है । हरदत्त के मतानुसार स्फोटवाद के सिद्धान्त के प्रतिपादक आचार्य स्फोटायन ही थे[८] । किन्तु हेमचन्द्राचार्य के अनुसार स्फोटायन का वास्तविक नाम कक्षीवान् था[९] । इसके अतिरिक्त भरतमिश्र ने स्फोटसिद्धान्त के प्रतिपादक का नाम 'औदुम्बरायण' लिखा है[१०], जो शब्द को नित्य मानते थे । एक औदुम्बरायण का उल्लेख यास्क[११] ने भी किया है, जो शब्द को अनित्य मानते थे । एक स्फोटायन का उल्लेख भारद्वाजकृत 'यन्त्रसर्वस्व' में भी किया गया है[१२] । यह कौन था ? कहना कठिन है ।

१०. **सेनक** का नामोल्लेख पा० ५, ४, ११२ में किया गया है । यहां इनका नाम पूजार्थ ही ग्रहण किया गया है । अन्यत्र कहीं भी सेनक का नाम निर्देश उपलब्ध नहीं होता ।

इन दस आचार्यों के अतिरिक्त पाणिनि से पूर्ववर्ती अनेक ऐसे वैयाकरण थे, जिनका नामोल्लेख न करके पाणिनि ने केवल उनके देश की ओर संकेत किया है, जहां विशेषशब्द की व्युत्पत्ति विशेष प्रकार से की जाती थी या विशिष्ट व्याकरण-

---

[१] *GGA*, 1891, p. 957, 975 ।

[२] *La Durghaṭavṛtti de Śaraṇadeva* p. 6, n. 2 ।

[३] *JGJRI*, 9, p. 178-79 ।

[४] म० भाष्य, मराठी अनु०, पृ० १२४, १४८-४९; *A Dictionary of Sans. Gr.* पृ० २५५ ।

[५] *Lectures in Mahābhaṣya*, 1960, p. X.

[६] *Pāṇinian Studies*, 1968-69, p. 397 ।

[७] *Pāṇini and modern Linguistics*, p. 338 ।

[८] **'स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः'** ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने भी इसी मत का अनुकरण किया है ।

[९] **स्फोटायने तु कक्षीवान्**—अभिधानचिन्तामणि, पृ० ३४० तथा केशव—नानार्थार्णवसंक्षेप, पृ० ८३, श्लोक १३६ ।

[१०] स्फोटसिद्धि, पृ० १ तथा द्र० वाक्य० २, ३४३ ।

[११] **इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः**, निरु० १, २ ।

[१२] बृहद्विमानशास्त्र, ब्रह्ममुनि सम्पा०, पृ० ७४ ।

प्रक्रिया का आश्रम लिया जाता था। प्राङ् या प्राचाम् शब्द या इसके अन्य रूपों का प्रयोग दो दर्जन बार तथा 'उदीचों' का पांच-छह बार प्रयोग पाणिनि ने अष्टाध्यायी में किया है। इन संकेतों से इतना स्पष्ट होता है कि उस समय कम से कम दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ऐसे व्याकरण-सम्प्रदाय थे, जिनकी सम्मतियों की अवहेलना पाणिनि भी नहीं कर सकते थे। अतः पाणिनीय अष्टाध्यायी का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक तथा इसकी परिधि अत्यन्त विस्तृत एवं विशाल थी। अनेकों ऐसे वैयाकरण भी पाणिनि से पूर्व हो गये थे, जिनका उल्लेख पाणिनि ने नहीं किया, किन्तु जिनकी चर्चा अन्यत्र प्राचीन ग्रन्थों, प्रातिशाख्य प्रभृति में की गयी है।

अष्टादश अध्याय

अष्टाध्यायी

ऊपर वर्णित विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र के क्षेत्र में पाणिनि से पहले आचार्यों की लम्बी शृंखला ने इस शास्त्र के विकास में अपना योगदान किया था और पाणिनि बहुत बड़ी सीमा तक उनके ऋणी थे। उन्होंने अपनी अष्टाध्यायी की रचना उन्हीं की कृतियों को आधार मानकर की थी। उनके द्वारा प्रयुक्त अनेक संज्ञाओं एवं परिभाषाओं का प्रयोग अष्टाध्यायी में किया गया है। पाणिनि द्वारा विरचित गणपाठ तथा धातुपाठ भी पूर्वाचार्यों की रचनाओं पर आधृत है ; कुछ एक उणादि-सूत्रों से भी वे परिचित थे। इन सब की संक्षिप्त चर्चा हम आगे करेंगे। पहले हम अष्टाध्यायी में प्रतिपादित विषयों पर विहंगम-दृष्टि डालना चाहते हैं।

शिवसूत्र—शिवसूत्रों के कर्ता के विषय में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। स्कोल्ड[1], मंगलदेव शास्त्री[2], फैडेगन (Faddagon)[3], स्टेन कोनो (Sten Konow)[4], के अनुसार शिवसूत्रों का कर्ता पाणिनि से पूर्व कोई व्यक्ति था, जिसका नाम महेश्वर कहा जाता है, जिसने माहेश्वर-सम्प्रदाय की नींव रखी। पा० उसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

किन्तु अन्य लोगों के विचार के अनुसार शिवसूत्र पाणिनि की ही रचना है और यह बात इन सूत्रों तथा पा० के सूत्रों के पारस्परिक-सम्बन्धों का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाती है[5]।

---

१. निरुक्त, पृ० २२।

२. *PAIOC* 4, p. 469.

३. *AO* 7, p. 56.

४. *AO* 19, p. 291-328.

५. द्र० के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर (*PAIOC* 4, p. 142); Thieme, Paul, *Pāṇini and the Veda*, p. 109-110. K. M. K. Śarmā, *Pāṇini, Katyayane and Patanjali*, p. 32-36; जयदत्त शास्त्री (गुरुकुल पत्रिका १८, पृ० २३७-४१)।

प्रथम अध्याय—इसमें मुख्यतः संज्ञाओं तथा परिभाषाओं का प्रतिपादन किया गया हैं, जिनके आधार पर उत्तरवर्ती प्रकरणों का निर्माण किया गया हैं। यद्यपि इन संज्ञाओं में से कुछ अवश्य ही पूर्वाचार्यों द्वारा व्यवहृत हैं, तो भी अधिकांश संज्ञायें पाणिनि द्वारा उपज्ञात हैं। उनमें से भी कुछ लघु संज्ञायें हैं यथा—**टि, घु, घ, षट्** प्रभृति, उनमें से कुछ महती संज्ञायें हैं, यथा—**सर्वनाम, सार्वधातुक, प्रातिपदिक, आत्मनेपद, परस्मैपद, कर्म-प्रवचनीय, सम्प्रसारण** प्रभृति। इनमें से बहुत सी अन्वर्थसंज्ञायें हैं। कुछ संज्ञायें अष्टम अध्याय में भी दी गयी हैं, क्योंकि उनकी वहीं आवश्यकता थी। यथा—**आम्रेडित**। कहीं-कहीं परिभाषाओं का भी प्रतिपादन संज्ञाओं के साथ ही किया गया है। इस सूत्र-व्यवस्था में परिभाषाओं का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। सूत्रों की विविध परिस्थितियों को समझने के लिए परिभाषा-सूत्र अत्यन्त आवश्यक हैं, क्योंकि परिभाषा ही सूत्रों के अर्थों को सुस्पष्टता तथा पूर्णता प्रदान करती है।

वृद्धिरादैच्, **अदेङ्गुणः** तथा **इकोगुणावृद्धि** इस सूत्रक्रम में प्रथम दो संज्ञा-सूत्र हैं, तो तृतीय परिभाषा सूत्र, जो उन संज्ञा सूत्रों के विषय-क्षेत्र को निर्धारत करता है कि गुण और वृद्धि केवल इक् (अ, इ, उ, ऋ. लृ) को ही हो सकते हैं। इसी प्रकार **षष्ठी स्थाने योगा** (पा० १, १, ४९) परिभाषा-सूत्र है, जो यह निर्देश करता है कि यदि किसी सूत्र में किसी शब्द के साथ 'षष्ठी' विभक्ति जुड़ी होती है, तो उस शब्द के साथ 'स्थाने' शब्द का सम्बन्ध हो जाता हैं और इसी के आधार पर **एकोयणचि** (पा० ६, १, ७७) में इक् के स्थान पर यण् का आदेश होता है, किन्तु संज्ञाओं की व्याख्या करते समय पाणिनि ने यह स्पष्ट कह दिया है कि जो संज्ञाएं लोक में प्रचलित हैं या प्रसिद्ध हैं उनके लक्षण करने की कोई आवश्यकता नहीं[1], इसलिये उन्होंने पदार्थों के लिंग, वचन, काल और उपसर्जन जैसे लोक-प्रसिद्ध शब्दों की व्याख्या नहीं की। इस लिए अष्टाध्यायी को **अकालकं व्याकरणम्** की संज्ञा दी जाती है।

चतुर्थ पाद में **कारक** की चर्चा की गयी है, कारक का उपन्यास-क्रम यह है—अपादान, सम्प्रदान, करण, अधिकरण, कर्म, कर्त्ता। इस क्रम में विप्रतिषेध नियम ही हेतु है। षष्ठी को कारक नहीं माना गया। १, ४, ५६ से **निपात** और १, ४, ५९ से **उपसर्ग** का विचार किया गया है। १, ४, ८३ से **कर्मप्रवचनीय** की चर्चा से पूर्व १, ४, ६०-८२ में **गतिसंज्ञक** शब्दों की चर्चा की गयी है, क्योंकि वाक्यगत पद-सामान्य का विचार प्रथमाध्याय का विषय है, अतः अध्याय के अन्त में लिंग का विचार किया गया है।

---

[1] **तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्** (पा० १, २, ५३)।

द्वितीय अध्याय में आचार्य ने समासों तथा विभक्तियों पर विचार किया है। यद्यपि समास-सम्बन्धी सभी बातों का प्रतिपादन यहां नहीं किया गया है, तो भी मुख्य-मुख्य तथ्यों की व्याख्या कर दी गयी है। पूर्व-पदार्थ प्रधान होने के कारण **अव्ययीभाव** का प्रतिपादन सर्वप्रथम किया गया है (२, १, २२ तक)। तदनन्तर उत्तरपदार्थ-प्रधान तत्पुरुष (२, १, २२—२, २, २२) **बहुव्रीहि** (२,२, २३—२,२,२८) **द्वन्द्व** (२, २, २९) समासों का विवेचन किया गया है। समास-प्रकरण के आरम्भ में ही **समर्थः पदविधिः** (२, १, १) कह कर आचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि समास केवल उन शब्दों के बीच सम्भव है, जिनमें परस्पर **सामर्थ्य** या **एकार्थीभाव** विद्यमान है। किन्तु बाद के व्याख्याकारों ने प्रयोगों को देखते हुए यह व्याख्या दे दी है कि जिनमें 'एकार्थीभाव' नहीं है, किन्तु अर्थ समझ में आ जाता है, उनमें भी **सामर्थ्य** को मान लेना चाहिये[1]। समास केवल सुबन्तों में ही नहीं होते, अपितु **सुबन्तों और तिङन्तों** में भी सम्भव हैं। अतः समास-प्रकरण के बाद सुप्—विभक्तियों के अर्थों का विवेचन किया गया है (२, ३ पाद)।

चतुर्थ पाद में समास से सम्बन्धित **लिंग-वचनों** का विधान किया गया है। **आर्धधातुक**-सम्बन्धी धात्वादेश, नाम और **विकरण**-सम्बन्धी **लुक्—प्रकरण** भी इसी पाद में उपन्यस्त हैं।

तृतीय अध्याय—इसमें धातुओं, उनसे लगने वाले प्रत्ययों, तथा उन दोनों से निष्पन्न क्रियावचनों एवं **कृदन्तों** पर विस्तार से विचार किया गया है। प्रथमपाद में प्रत्ययों में **उपपद** की चर्चा नहीं की गयी। द्वितीयपाद के प्रत्ययों में **उपपद** की चर्चा की गयी है।

इस अध्याय में पाणिनि ने नामों के धातुजत्व की समस्या को यह मध्यम मार्ग अपनाकर सुलझा लिया है कि प्रायः नब्बे प्रतिशत प्रातिपदिक तो धातु से सीधे और सरलतापूर्वक व्युत्पन्न हो सकते हैं और इस व्युत्पत्ति की सहायता के लिए उन्हों ने धातुपाठ को क्रमबद्ध किया है, जिसकी चर्चा अन्यत्र की जायेगी। शेष कुछ शब्द भी बचे रहते हैं, जिनकी व्युत्पत्ति सीधे सम्भव नहीं है। व्युत्पन्न शब्दों के लिए लगभग १३० **कृत्-प्रत्ययों** की कल्पना की गयी है। इनके अतिरिक्त उणादि-प्रत्यय भी हैं, जिनसे पाणिनि परिचित अवश्य थे, किन्तु न तो ये उनकी कृति ही हैं, और न उन्होंने इनको विशेष महत्त्व ही दिया है। कृत् तथा कृत्य प्रत्ययों के साथ ही दस लकारों का प्रतिपादन भी यहीं किया गया है, जो भाषा के

---

[1] असमर्थत्वेऽपि गमकत्वात् समासः।

क्रिया-वचनों के वैविध्य पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। पाणिनि ने धातु जैसे जटिल एवं कठिन विषय का जिस खूबी से निर्वाह किया है, वह अपने-आप में एक उपलब्धि है। वैदिक तुमर्थक प्रत्ययों तथा ण्वुल् प्रभृति का विवेचन चतुर्थ पाद में किया गया है। धातु से नामों की व्युत्पत्ति के बाद **चतुर्थ** तथा **पञ्चम** अध्यायों में नाम से नाम की व्युत्पत्ति के प्रसंग में प्रथम **स्त्री प्रत्ययों** की चर्चा की गयी है (४, १, ३-४, १, ८१)। तदनन्तर **तद्धित प्रकरण** का आरम्भ किया गया है (४, १, ८२)। तद्धित भी समास के समान ही वृत्ति है। अतः इनके लिए भी सामर्थ्य की शर्त आवश्यक है। इन प्रत्ययों का आधार किसी न किसी विभक्ति से सम्बद्ध वह प्रातिपदिक होता है, जिससे विशेष अर्थों मे ये लगाये जाते हैं, यथा—**दक्षस्यापत्यं पुमान् दाक्षिः**। इसकी व्युत्पत्ति दक्ष से **तस्यापत्यम्** के अर्थ में इञ् प्रत्यय लगा कर सम्पन्न की गयी है। **तद्धित** प्रकरण में पहले तो **अस्वार्थिक तद्धित** और बाद में (५, ३, १ से) **स्वार्थिक तद्धित** प्रत्ययों की चर्चा की गयी है। **तद्धित** के दो सौ से अधिक प्रत्यय सौ से अधिक अर्थों को व्यक्त करने के लिए लगाये जाते हैं; इन प्रत्ययों का मुख्य कार्य वाक्य में प्रयुज्यमान पदों को अर्थगाम्भीर्य प्रदान करता है। इनसे निश्चय ही भाषा में वैविध्य, परिष्कार तथा शक्ति का सञ्चार होता है, तो भी चतुर्थ अध्याय में मुख्य रूप से चार अर्थों में **तद्धित** प्रत्ययों का प्रतिपादन किया गया है—**तस्यापत्यम्**, **तस्य समूहः**, **तस्य निवासः** तथा **अदूरभवश्च**।

इनके अतिरिक **तेन रक्तं रागात्**, **साऽस्य देवता**, **तेन निर्वृत्तं** प्रभृति अन्य प्रत्यय भी यहीं विहित हैं। **शेषे** अधिकार के अन्तर्गत **तत्र जातः**, **तत्र भवः** **ततः आगतः**, **तस्येदम्** प्रभृति अर्थों में प्रत्ययों का विधान किया गया है।

पञ्चम अध्याय में मुख्यतः **तद्धित** प्रत्यय ये हैं—**तस्मै हितम्**, **तेन क्रीतम्**, **तदस्य सञ्जातम्**, **कालात्** प्रभृति अनेक अधिकारों के अन्तर्गत अनेक प्रत्यय विहित हैं।

पा० ५, ४, ६८ से समासान्त प्रत्ययों का आरम्भ किया गया है। प्रक्रिया की दृष्टि से **समासान्त** प्रकरण को **तद्धित** प्रकरण के अन्तर्गत रखना उचित ही है। अध्याय ६ से ८ तक प्रतिपादित विषयों में एक विशेष प्रकार की एकसूत्रता दृष्टिगत होती है, जबकि अध्याय १ से पांच तक शब्दों के अवयवों तथा उनके अर्थों पर विश्लेषणात्मक विचार किया गया है। अध्याय ६ से ८ तक में उन अवयवों के शब्दरूपों में संश्लेषणा तथा शब्दरूपों की वाक्यरूपों में परिणति की पद्धति का विधान है। यद्यपि इस विषय में कोई स्पष्ट निर्देश देना कठिन है, तो भी मोटे रूप में कह सकते हैं कि ६-७ अध्यायों में शब्दावयवों के शब्दरूपों में संश्लेषणों का विधान है, तो ८वें में वाक्य के विकास की चर्चा की गयी है।

छठे अध्याय में पहले तो ध्वनि-विषयक विविध नियम दिये गये हैं, जिनके अन्तर्गत प्रकृति (धातु आदि) से सम्बद्ध आदेश आदि कार्यों का

विधान किया गया है और उसके बाद प्रत्ययों से सम्बद्ध कार्यों की चर्चा की गयी है। प्रकृति-सम्बन्धी कार्यों के अन्तर्गत द्वित्व, आत्व, आगम, आदेश, सम्प्रसारण सभी का विवेचन आ जाता है।

सन्धि प्रकरण, पा० ६, १, ७२ से ६, १, १५७ तक प्रतिपादित है।

पा० ६, १, १५८ से ६, १, २२२ तक असमस्त पदों तथा तदनन्तर द्वितीय पाद के अन्त तक समस्त पदों के स्वर-विधान की विवेचना की गयी है। तृतीय-पाद में समस्तपदों के पूर्वपदों तथा उत्तरपदों में होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण किया गया है। चतुर्थ पाद से अंगाधिकार का आरम्भ होता है, जिसके अन्तर्गत प्रथम **सिद्धकार्य** और बाद में **असिद्धकार्य** का निरूपण किया गया है। ६, ४, १२९-१७५ में 'भ'-अधिकार के अन्तर्गत शब्दों में होने वाले अनेक परिवर्तनों पर दृष्टिपात किया गया है।

सप्तम अध्याय में मुख्यतः अंगाधिकार के अन्तर्गत ही विविध प्रत्यय-कार्यों तथा इससे सम्बद्ध आगमों का उल्लेख किया गया है। इसी अध्याय में प्रकृति में होने वाले अनेक परिवर्तनों का निरूपण भी किया गया है। चतुर्थ पाद में तो धातु-सम्बन्धी कार्य तथा अभ्यास आदि में होने वाले परिवर्तनों की चर्चा है।

अष्टम अध्याय—इस अध्याय में वाक्यस्वर, वाक्यगत विविध संश्लेषणात्मक परिवर्तनों, पदगत विविध परिवर्तनों पदान्त-विधियों तथा व्यञ्जन-विषयक सन्धियों से सम्बद्ध अनेकों नियमों का प्रतिपादन पाया जाता है। 'पूर्वत्रासिद्धम्' अधिकार के अन्तर्गत उपदिष्ट सभी कार्य सवा सात अध्यायों में अनुशिष्ट कार्य-कलाप की दृष्टि से असिद्ध कहे गये हैं। यह असिद्ध-प्रकरण पाणिनीय-व्याकरण की विलक्षणता है। अन्त में चत्व, णत्व, नुम् प्रभृति अनेक विधियों का विधान किया गया है।

अष्टाध्यायी के आठ अध्यायों में पाणिनि ने ३९९३[1] (या ३९९१—बालमनोरमा) सूत्र लिखे हैं। किन्तु इतने प्रसिद्ध तथा वस्तुपरक ग्रन्थ में भी अनेक पाठान्तर पाये जाते हैं, जो अनेक कारणों से अनेक स्तरों पर उभर आये हैं।

परम्परा के अनुसार स्वयं पाणिनि ने ही अपनी रचना में कुछ संशोधन किये थे और इस प्रवचन-भेद से पाठभेद उत्पन्न हो गये[2]। दूसरे, वृत्तिकारों के

---

[1] गोल्डस्टुकर, पाणिनि, पृ० १३४, चौ० सं०, १९६५।

[2] **उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः। केचिदाकडारादेका संज्ञा इति, केचित् प्राक् कडारात्परं कार्यमिति (म० भा० १, ४; १) द्र० काशिका ६, २, १०४—पूर्वपाणिनीयाः, अपरपाणिनीयाः।**

व्याख्यान-भेद से भी पाठभेद उत्पन्न हो गये, यथा— **जरद्भिरित्यपि पाठः केनचिदाचार्येण बोधितः**[1] तथा **काण्डे विद्धिभ्य इत्यन्ये पठन्ति**[2]। कुछ पाठभेद लेखक-प्रमादवश भी प्रविष्ट हो गये हैं, यथा—**एवं चटकादैरगित्येतत् सूत्रमासीत्। इदानीं प्रमादात् 'चटकाया' इति पाठः'**[3]। कई सूत्रों में वार्तिकों का मिश्रण हो गया है, जो सम्भवतः काशिका से भी पूर्वकालिक है, किन्तु हरदत्त, कैय्यट प्रभृति के अनुसार ये पाठप्रक्षेप काशिकाकार के किये हुए हैं[4]। इस प्रकार प्रतीत होता है कि अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्तियों में दो प्रकार के पाठ थे, लघु तथा बृहत्। कात्यायन ने अपने वार्तिक लघुपाठ पर लिखे और काशिकाकार ने अपनी वृत्ति बृहत्पाठ पर लिखी। इस के अतिरिक्त पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना संहितापाठ में की थी, जिस कारण सूत्रविच्छेद के विषय में वृत्तिकारों में परस्पर वैमत्य उत्पन्न होना आश्चर्यकर नहीं होना चाहिये। पतञ्जलि ने इन मतभेदों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है—

> **नैवं विज्ञायते—कञ्क्वरपो यञश्चेति। कथं तर्हि कञ्क्वरपोऽयञश्चेति**[5]।

> तथा—**यथा पुनरियमन्तरतमनिर्वृत्तिः, सा किं प्रकृतितो भवति स्थानिन्यन्तरतमे षष्ठीति, आहोस्विदादेशतः—स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम आदेशो भवतीति। कुतः पुनरियं विचारणा? उभयथा तुल्या संहिता 'स्थानेऽन्तरतम उरण् रपरः' इति**[6]।

डा० कीलहार्न[7] की गणना के अनुसार पाणिनि-सूत्रपाठ को पश्चात्कालिक परम्परा ने कम से कम ५८ स्थलों पर परिवर्तित कर दिया गया है। इनमें से अधिकांश स्थलों का पाठपरिवर्तन कात्यायन या पतञ्जलि अथवा दोनों के समक्ष विद्यमान सूत्रपाठ में हो चुका था। ये पाठ-परिवर्तन उनके अपने सूत्रपाठ पर की गयी आलोचनात्मक टिप्पणियों में झलकते हैं। **छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति** इस वचन के रहते इस प्रकार का कोई पाठ-परिवर्तन जानबूझ कर करना सम्भव नहीं था, किन्तु काशिका इस प्रकार के पाठ-परिवर्तनों के प्रति जागरूक प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ कात्यायन का पाठ है, **नान्तः पादं व्यपरे** (पा० ६, १, ११५)।

---

[1] का० पा० २, १, ६७ पर पदमञ्जरी।

[2] पदमञ्जरी ४, १, ८१।

[3] न्यास ४, १, १२८।

[4] द्र० मीमांसक, सं० व्या० शा०, भाग १, पृ० १५०।

[5] म० भा० ४, १, १६।

[6] महाभाष्य, १, १, ५०।

[7] ए० आई० १६, पृ० १७८-१८४।

किन्तु पतञ्जलि ने इसका पाठ **प्रकृत्यान्तःपादं व्यपरे** स्वीकार किया है, जिसे काशिका ने भी अङ्गीकार किया है। यह पाठभेद अवश्य ही कात्यायन और पतञ्जलि के मध्यवर्ती काल में किसी ने कर दिया प्रतीत होता है। अथर्व० प्रा० के समानान्तर पाठ में **प्रकृत्या** पद विद्यमान है[1], किन्तु यह पतञ्जलि से प्राचीन है।

सूत्रपाठ में अनेक प्रकार के परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, यथा—

१. एक ही सूत्र में योगविभाग—१, १, १७-१८ ; १, ४, ५८-५९ ; २, १, ११-१२ ; ३, १, ११७-११८ ; ५, १, ५७-५८ ; ६, १, ३२-३३ ; ६, १, १६४-१६५ ; ७, ३, ११७-११८-११९।

२. मूल सूत्रपाठ में एक या अधिक शब्दों की वृद्धि—

१, ३, २९ में **विदिप्रच्छिस्वरति** वार्तिकों से लिये गये हैं।

३, १, ९५ का मूल पाठ केवल कृत्याः था।

३, १, ११८ का मूलपाठ **प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः** था।

३, ३, १२२ में **आधार** एवं **आवाय** बढ़ाये गये हैं। का० में **अवहार** पाठ है।

४, २, २ में **शकल** तथा **कर्दम** पश्चात्कालिक वृद्धि हैं।

५, ४, ५० में **अभूततद्भावे** की वृद्धि की गयी है।

८, १, ७३ **नामन्त्रिते समानाधिकरणे** था।

८, १, ७४ **सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम्** था।
ये दोनों एक ही सूत्र के रूप में सम्मिश्रित थे।

३. कहीं-कहीं सूत्रपाठ में परिवर्तन कर दिया गया है, यथा—

५, ३, ५ **एतदोऽन्** (पतञ्जलि), द्र० कैय्यट।

६, १, १२४ **इन्द्रे च** (पतञ्जलि)।

६, १, १२५ **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** (भाष्य के अनुसार यहां '**नित्यम्**' पद अनावश्यक है)

६, १, १३७ **संपरिभ्यां भूषणसमवाययोः करोतौ** (भाष्य)

६, १, १५० **विष्किरः शकुनौ वा** (म० भाष्य)

---

[1] तु० अथर्व प्रा० ३, ५४ में समानान्तर पाठ में प्रकृत्या० (ह्विट्ने सं०), द्र० पाणिनि एण्ड वेद, पाल थीमे, पृ० ८५ से।

यहां **विष्किरः शकुनौ विकिरो वा** इस कात्यायन-वार्तिक को ही सूत्र मान लिया गया है (द्र० म० भाष्य; कैय्यट; नागेश) काशिका का पाठ **विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा** है, जिसका नागेश ने **अनार्षः पाठः** कहकर प्रत्याख्यान कर दिया है।

४. सम्पूर्ण सूत्रों का सन्निवेश भो मूल में कर दिया गया है—

वृद्धस्य च पूजायाम् (४, १, १६६)=वार्तिक ४, १, १६३।

दृष्टं साम (कलेर्ढक् ४, २, ७-८)=वा० ४, २, ७।

कौपिञ्जलहास्तिपदादण् (४, ३, १३२)=वा० ४, ३, १३१ (कैय्यट **अपाणिनीयः सूत्रेषु पाठः** तथा ४, ३, १३३ पर भो—**कौपिञ्जल इत्यस्यापाणिनीयत्वं आथर्वणिकस्येकलोपश्च** (४, ३, १३३)=वा० (**इदमपि वार्तिकमिति तु हरदत्तः**-नागेश) इसके विषय में नागेश की सम्मति कैय्यट से भिन्न है। **द्वित्रिपूर्वादण्च** (५,१,३६)=वा० ५,१, ३५ **सूत्रेषु अनार्षः पाठः कैय्यट**; हरदत्त भी द्र०। **अचि शीर्षः** (६,१,६२)=वा० ६,१,६१ **वार्तिकं दृष्ट्वा सूत्रेषु कैश्चित्प्रक्षिप्तम्—कैय्यट**। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी पाये जाते हैं, जिनके लिये द्र० पॉल थीमे *Pāṇini and the Pāṇiniyas*, *JAOS*, 76, p. 23 (1956).

यद्यपि भारतीय परम्परा के अनुसार पाणिनीय-व्याकरण एक आदर्श व्याकरण है और इसी कारण इसे वेदांग की पदवी दी गयी, तो भी त्रुटियों की ओर दृष्टिपात किये बिना यह मान्यता हमारे भावनात्मक उद्गार मानी जा सकती है। सर्वप्रथम, तो किसी भी समृद्धिशालिनी गतिमती प्रचलित भाषा का कोई शाश्वत व्याकरण हो ही नहीं सकता और यह बात इसी से सिद्ध है कि पाणिनि के समय से तीन चार शताब्दियों के भीतर ही कात्यायन को पाणिनि के लगभग १५०० सूत्रों पर चार सहस्र से अधिक वार्तिक लिख कर दस सहस्र अतिरिक्त शब्द-रूप प्रस्तुत करने पड़े। इसलिये पाणिनि ने जहां अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की कृतियों का आश्रय लेकर अपने समय के एक अत्यन्त उत्तम व्याकरण की रचना की, वहां हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि प्राचीन वैदिक-सम्प्रदायों के प्रातिशाख्यों की अपनी-अपनी विशिष्ट परम्परायें थीं। पाणिनि ने उन विशेषताओं में सामञ्जस्य स्थापन करने की दृष्टि से तत्तद्विषयक सामान्य नियमों का ही प्रतिपादन किया है। अतः उन पर यह अभियोग लगाना सर्वथा अनुचित है कि उन्होंने वैदिक-शाखाओं में प्रतिपादित विशिष्ट रूपों पर ध्यान नहीं दिया था। उन्होंने इस विषय में किसी 'पद्धति' का आश्रय नहीं लिया और इसलिये वे विश्वासास्पद नहीं कहे जा सकते[1]। दूसरे, उन्होंने अपनी रचना का लक्ष्य मुख्यरूप से लौकिक-भाषा को

---

[1] द्र० कीथ, पाणिनि एण्ड वेद, इ०क० भाग २, पृ० ७३९।

ही बनाया था। अतः स्वाभाविक था कि छान्दस भाषा के विषय में उनकी कृति कई पक्षों में अपूर्ण रही हैं।

तीसरे, पाणिनि की रचना अतिसंक्षिप्त सूत्रशैली में हुई हैं और उसका मुख्य उद्देश्य स्मरणशक्ति की सहायता से अत्यल्प शब्दों में अतिविशाल एवं विस्तृत भाषा के प्रयोगों की शुद्धता को बांधकर रख देना था। उस समय इस शैली को अत्यन्त आदर तथा प्रशंसा की दृष्टि से देखा गया, किन्तु आज के आलोचक की दृष्टि में पाणिनि ने शैली की वेदी पर पद्धति और संगति की बलि चढ़ा दी[1]। चौथे, पाणिनि में अनेक स्थलों पर प्रकृत विषय का उत्क्रमण करके अन्य विषयों के प्रतिपादन की प्रवृत्ति दृष्टि-गोचर होती है। परिणाम-स्वरूप प्रसंगवश प्राप्त विषय के स्थान पर ऐसे अन्य सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन किया जाता है, जो आचार्य के मस्तिष्क में सर्वोपरि विद्यमान होते हैं, यथा—पा० २, १, २। द्वितीय अध्याय के पाद १-२ में सामान्यतः समासों का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु पा० २,१,२ का समास से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, किन्तु इसे **पूर्व व्युत्क्रम** कहा जा सकता है।

उत्तर व्युत्क्रम का उदाहरण पा० ८,४,५७ प्रस्तुत करता है, जो अवसान में अप्रगृह्य स्वरों को विकल्प से अनुनासिक करने का आदेश देता है, जबकि प्रकरण में पदान्त-व्यञ्जनों में होने वाले परिवर्तनों की चर्चा है।

अतिप्रसंग विषय का उदाहरण पा० १, ३,२ से ९ में दृष्टिगोचर होता है। पा० १,३,१ में **भूवादयो धातवः** का प्रकरण उठाया गया है और पा० १, ३, १२ से पादान्त तक धातु-विषयक चर्चा ही चलती है, किन्तु बीच में २ से ९ तक सूत्रों में अचानक ही धातु-विषयक तथा अधातुक-विषयक दोनों प्रकार के अनुबन्धों का प्रसंग चला दिया गया है। **समकालिक व्युत्क्रम** का उदाहरण पा० ४, १, ७७-८१ में मिलता है, जहां तद्धित के अधिकार के अन्तर्गत तद्धित तथा स्त्री-प्रत्यय दोनों को साथ-साथ चलाया गया है[2]।

आर्धधातुक की परिभाषा पा० ३,४,११४ में की गयी हैं, जबकि आर्धधातुक प्रत्यय की चर्चा १,१,४ में ही कर दी गयी है[3]। विभाषा की परिभाषा तो पा० १,१,४४

---

[1] "..... having sacrificed system for the sake of style." H.E. Buiskool, *Tripādi*, p. 1 ; द्र० ह्विट्ने, सं० ग्रा०, पृ० XI ; "...... the prevalence given to the first principle above the demands of logical division." B. Faddegon, *Studies on Pāṇini's Grammar*, p. 50.

[2] बी० फैडेगन, स्टडीज ऑन पा० ग्रा० पृ० ४९-५१।

[3] लोप की परिभाषा पा० १, १, ६० में की गयी है, किन्तु प्रयोग पा० १, १, ४ में किया गया है।

में की गयी है, किन्तु इसका प्रयोग पा० १, १, २८ में ही कर दिया गया है। यदि विभाषा शब्द लोक-प्रसिद्ध था, तो पा० १, १, ४४ व्यर्थ है। इस प्रकार के कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। अनेक स्थलों पर पाणिनीय सूत्र इतने संक्षिप्त हैं कि वह दुरूह ही नहीं हो गये, अपितु उनकी संगति लगाना भी कठिन है। कई इतने गूढ़ हैं कि वे न केवल संशयास्पद ही हैं, अपितु अपरिज्ञेय भी हैं। इन सूत्रों को हृदयंगम करने के लिए प्रचण्ड स्मरण-शक्ति तथा अपरिमेय साहित्यिक अनुशीलन अनिवार्य हैं[1]। यद्यपि ह्विटने को अष्टाध्यायी में अत्यन्त कठिन तथा कृत्रिम चार सहस्त्र ऐसे सूत्रों के अतिरिक्त और कुछ दिखायी ही नहीं पड़ा, जिनमें स्पष्टता तथा असन्दिग्धता के मूल्य पर संक्षिप्तता की ओर अधिक ध्यान दिया गया है,[2] तो भी पाणिनि ने उस सुदूरकाल में ऐसा प्रशस्य तथा शाश्वत एवं विस्मयजनक व्याकरणशास्त्र संसार को प्रदान किया, जिसके अनुकरण पर अठारहवीं शताब्दी के अन्त में जाकर यूरोपीय भाषाओं के व्याकरणशास्त्रों की नींव रखी गयी। यदि हम आज पाणिनि की आलोचना करने में समर्थ हो सके हैं, तो इसलिये कि हम पाणिनि के कन्धों पर खड़े होकर और अधिक दूर तक देख सकते हैं और इसलिये भी कि पाणिनि ने वह मार्ग हमारे लिये प्रशस्त कर दिया था, जिस पर चलकर आज हम व्याकरण-कैलाश की चोटियों पर विजय-पताका फहराने का दावा कर सकते हैं और नीचे अवस्थित समस्त शब्द-संसार पर दृष्टिपात करने में समर्थ हो सके हैं।

पाणिनि द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक संज्ञायें :—

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, पाणिनि से पूर्व अनेक व्याकरणाचार्य हो गये थे। अन्य सामग्री के अतिरिक्त उनके द्वारा प्रयुक्त संज्ञाओं का भी उपयोग पाणिनि ने किया है। ये संज्ञाएं दो प्रकार की होती हैं—कृत्रिम और अकृत्रिम। कृत्रिम वे हैं, जिन्हें आचार्य अपने शास्त्र में निर्वाहार्थ प्रयोग में लाते हैं, अकृत्रिम वे हैं, जिन्हें अर्थविशेष में चिरकाल से लोक अथवा साहित्य में प्रयुक्त किया गया है और सम्भवतः भविष्य में किया जाता रहेगा[3]।

कुछ संज्ञाएं तो पाणिनि ने अपने शास्त्र में प्रयोगार्थ स्वयं कल्पित कर ली थीं। यथा—**टि, घु, भ, घ, नदी** प्रभृति लघुसंज्ञाएं हैं। कुछ महती संज्ञाएं भी है—यथा—**सम्प्रसारण, प्रातिपदिक** प्रभृति, कुछ संज्ञाएं पूर्वाचार्यों द्वारा

---

[1] पॉल थीमे, इण्डियन कल्चर, भाग ४, पृ० १९८ से १९९ ; द्र० मरे फाउलर, जे० ए० ओ० एस०, ८५ (१९६५) पृ० ४४-४७।

[2] सं० ग्रा० पृ० ११।

[3] द्र० म० भाष्य १, १, २२।

परम्परा-प्राप्त हैं। यथा— **वृद्धि**,[1] **सर्वनामस्थान**,[2] **संयोग**,[3] **सार्वधातुक**,[4] **पदम्**[5], **धातु**,[6] **अभ्यास**,[7] **प्रत्यय**,[8] **अपृक्त**,[9] **उपधा**,[10] **संहिता**[11] प्रभृति अनेक पारिभाषिक संज्ञाओं का प्रयोग पूर्वाचार्यों के अनुकरण पर किया गया है[12]।

अनुबन्ध

इन संज्ञाओं के प्रयोग के अतिरिक्त अष्टाध्यायी में लाघव लाने के लिए पाणिनि ने अनुबन्धों का उपयोग भी किया है। प्रत्ययों में अनुबन्ध लगाकर ही उन्होंने सूत्रों के अर्थों को इतने संक्षेप में अभिव्यक्त करने में सफलता प्राप्त की है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अनुबन्धों का प्रयोग भी पूर्वाचार्यों से होता चला आ रहा था। पा० ने अनुबन्ध शब्द का प्रयोग न करके 'इत्' शब्द का प्रयोग किया था, तथा आठ सूत्रों में स्पष्ट किया है कि कौन-कौन से वर्ण **इत्** माने जायें और उन का लोप किया जाये[13]। यद्यपि पाणिनि ने सूत्रपाठ, गणपाठ तथा धातुपाठ (उपदेश) में अनुनासिक अच् का इत् किया हैं,[14] तो भी यह नहीं बताया कि उपदेश में

---

१. द्र० म० भाष्य १, १, १।

२. न्यास, पदमञ्जरी, का० पा० १, १, ४२।

३. ऋक्प्रा० १, ३७।

४. आपिशल व्या० में प्रयुक्त 'सार्वधातुका' द्र० का० पा० ७, ३, ९५।

५. **'विभक्त्यन्तं पदम्' आहुरापिशलीयाः** (सुषेण विद्याभूषण, कलापचन्द्र (सन्धि० २०); मीमांसक, वही, भाग १ पृ० ९८ टि० २।

६. **'क्रियावचनो धातुः'** वा० प्रा० १, ३, १।

७. **रराणो रातिरभ्यस्तः** (निरु० २,१२); **सरूकं वा स्यात् सर्तेरभ्यस्तात्** (निरु० ६,३,१)।

८. **प्रत्ययसवर्णं मुदि शाकटायनः** वा० प्रा० ३, ९; द्र० चतुर० (५, १३); प्रातिशाख्यों में पूर्व, पर, मध्य (आगम) सभी का वाचक **प्रत्यय शब्द** था।

९. ऋक्प्रा० ११, ३ : तै० प्रा० १, ५४-५५ : वा० प्रा० १, १५१।

१०. वा० प्रा० १, ३५ चतुर० १, ९२।

११. ऋक्प्रा० २ १; वा० प्रा० १, १५८; निरु० १, १, १७; ऐ० आर० (३, १, ५) में तो **निभुर्जसंहिता** तथा **प्रवृष्ण संहिता** का पारिभाषिक प्रयोग भी पाया जाता है।

१२. विस्तारार्थ द्र० क्षितीशचन्द्र चैटर्जी, टेक्नीक०।

१३. पा० १, ३, २-९।

१४. पा० १, ३, २।

कौन-कौन से अच् अनुनासिक हैं और उनकी क्या पहचान है; अतः परम्परा पर ही निर्भर रहकर पाणिनीय सम्प्रदाय में जिन वर्णों को अनुनासिक घोषित कर दिया, उन्हें ही अनुनासिक माना जाता है[१], शेष सूत्रों में यह स्पष्ट किया गया है कि **कौन-कौन** व्यञ्जन किन-किन परिस्थितियों में इत् माने जायें, जिन से यह निष्कर्ष निकलता है कि विभक्तियों के तवर्ग, स् तथा म् उपदेश के सभी पदान्त व्यञ्जन **इत्** होते हैं[२]। कुछ-एक वर्ण उपदेश में प्रयुक्त किसी पद के आदि में भी **इत्** माने जाते हैं[३]। कुछ वर्ण प्रत्ययों के आदि में आने पर **इत्** होते हैं, किन्तु तद्धित प्रत्यय इस विषय में अपवाद हैं[४]। इस प्रकार पाणिनि ने ऐ, औ, छ, झ, ठ, ढ, थ, द, ध, फ, ब, भ, ह, य, व के अतिरिक्त सभी वर्णों को अनुबन्धों में **इत्** घोषित कर दिया है। इनमें से भी ख घ छ झ ठ ढ फ य व का भिन्न-भिन्न आदेशों के स्थानी के रूप में उपयोग किया है[५]। अतः केवल द ध ब ह ऐ और औ ही अप्रयुक्त वर्ण हैं। अनुबन्धों का एक उपयोग प्रत्याहार बनाने के लिए भी किया जाता है। लगता है **प्रत्याहारों** का प्रयोग भी पूर्वपाणिनीय काल से होता चला आ रहा था, क्योंकि ऐन्द्रसम्प्रदाय में भी इनका उपयोग प्राचीन काल से किया गया है। शिवसूत्रों पर आधृत प्रत्याहारों के अतिरिक्त **सुप्** और **तिङ्**, **सुट्**, **आप्** तथा **तङ्** प्रत्याहारों के द्वारा पाणिनि ने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध किये हैं। **तृन्** प्रत्याहार का निर्माण बड़े विचित्र ढंग से किया गया है। **लटः शतृ शानचौ०**[६] से तृ तथा **तृन्**[७] से **न्** लेकर **तृन्** प्रत्याहार बना है। इसी प्रकार **कृञ्** का रूप तो और भी विचित्र है। **अभूत तद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्बन्धकर्तरि च्विः**[८] से तो कृ को तथा **कृञो** द्वितीयतृतीयं०[९] से **कृञः** के **ञ्** को लेकर **कृञ्** प्रत्याहार बनाया जाता है। किन्तु प्रतीत होता है कि ये दोनों प्रत्याहार पाणिनि द्वारा नहीं बनाये गये, अपितु उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा काम चलाने के लिए कल्पित कर लिये गये हैं[१०]

---

१. **प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः।**

२. **हलन्त्यम्** १, ३, ३ ; **न विभक्तौ तुस्माः** १, ३, ४।

३. **आदिर्ञिटुडवः** १, ३, ५।

४. **लशक्वतद्धिते** १, ३, ८।

५. द्र० पा० ७, १, १-३ ; ७, ३, ५०।

६. पा० ३, २, १२४।

७. पा० ३, २, १३५।

८. पा० ५, ४, ५०।

९. पा० ५, ४, ५८।

१०. देवस्थली, 'अनुबन्धज़ ऑफ़ पाणिनि', पृ० ११

कुछ अनुबन्ध संज्ञा-निर्माणार्थ लगाये गये हैं, यथा— कु चु टु तु पु में अनुबन्ध 'उ' लगाने से वे केवल अपने ही नहीं, अपितु अपने वर्ग के सभी वर्णों के बोधक होते हैं।

कई स्थानों पर प्रत्ययों के आगे-पीछे दोनों ओर एक-एक अनुबन्ध लगाया गया है, जिससे उनमें परस्पर भेद करने में सुविधा होती हैं, यथा—**ङीन्**, **ङीप्**, **ङीष्**। यहाँ 'ङ्' तो समान्य ग्रहणार्थ लगाया गया है, जबकि न्, प्, ष् भेद करने के लिए (विशेषणार्थ) हैं तथा ङी, आप् तथा तृ क्रमशः **ङीन्**, **ङीप्**, **ङीष्**, **चाप्**, **टाप्**, **डाप्** तथा **तृच्** और **तृन्** के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

कई अनुबन्धों का **सामान्यग्रहणाविघातार्थ** प्रयोग किया गया है, यथा—**क्यच्** तथा **तृच्** में च्, **ङीप्** में प् तथा **टाप्** में ट्।

प्रत्ययों के पृथक् करणार्थ (विशेषणार्थं) भी अनुबन्ध लगाये जाते हैं, यथा—**सम्** में श्, **अच्** और **खच्** में च् तथा **क्विन्** में न्।

यद्यपि सामान्यतः प्रत्यय आद्युदात्त कहे गये हैं[1], तो भी स्वर निर्धारणार्थ भी अनुबन्धों का प्रयोग किया गया है, जिसके लिए पा० ने कम से कम सात वर्णों का प्रयोग किया है। प् अनुदात्त का द्योतक है[2], तो च् अन्तोदात्त का[3]। इस स्थिति में **चाप्** की स्थिति बड़ी विचित्र है, यह **चित्** भी है और **पित्** भी। अतः इसके विरोध-परिहारार्थ एक परिभाषा का उपयोग किया जाता है—**पित्स्वराच्चित्स्वरो बलीयान्**। किन्तु इसको भी आचार्य नहीं मानते। त् से स्वरित[4], तो ञ् एवं न् से आद्युदात्त का बोध होता है[5]। इसी प्रकार अन्य वर्णों का भी उपयोग किया गया है[6]।

इस प्रकार अनुबन्धों के प्रयोग से पा० ने न केवल शास्त्र में लाघव ही प्राप्त किया है, अपितु ग्रहण तथा धारण में सरलता भी ला दी है। **ञित्**, **णित्** प्रत्ययों के परे रहते अंग के अन्त्य अथवा उपान्त्य **अच्** को वृद्धि की जाती है, किन्तु

---

[1] पा० ३, १, ३।

[2] पा० ३, १, ४।

[3] पा० ६, १, १६३।

[4] पा० ७, १, १८५।

[5] पा० ६, १, ९७।

[6] **कितः** (६, १, १६५); **उपोत्तमं रिति** (६, १, २, ७) **लिति** (६, १, १९३)।

तद्धितों में आद्य **अच्** को[1]। किन्तु **ङित्** प्रत्ययों के सहारे गुण-वृद्धि का निषेध किया जाता है,[2] परन्तु तद्धित में **कित्** प्रत्यय वृद्धि का द्योतक है[3]।

धातुओं में लगे ङ् अनुबन्ध से उनके आत्मनेपद होने का सङ्केत मिलता है[4], तो ञ् से उभयपदी होने का[5]।

धातुओं के अन्त में अचों का भी विविध कार्यों के लिए अनुबन्धों के रूप में उपयोग किया गया है, यथा—**ञिश्विदा**, **ञिमिदा** में **आ** का **निष्ठा** में **इट्** के निषेध के लिए[6]। ओलस्जी में 'ओ' का **निष्ठा** के **त्** को **न्** करने के लिए[7]। इस विषय में ध्यान रहे कि इ उ तथा ऋ के अतिरिक्त अचों का धातुओं के अनुबन्धों के रूप में ही प्रयोग किया गया है।

धातुओं के आदि में भी अनुबन्ध लगाकर विविध कार्य सिद्ध किये जाते हैं, यथा—**डुपचष्** में **डु** तथा **टुवेपृ** में **टु**[8]। कभी-कभी आगमों तथा विकरणों को भी अनुबन्ध लगाकर विविध कार्य सिद्ध किये जाते हैं[9]।

इस प्रकार अनुबन्धों के द्वारा पाणिनि ने व्याकरण शास्त्र के अनेक कार्यों को सरल तथा संक्षिप्त रूप में प्रयुक्त करने में सफलता प्राप्त की है।

अष्टाध्यायी (सूत्रपाठ) के संस्करण

(१) बोह्तलिङ्क (Bohtlingk, Otto) ने सूत्रपाठ का प्रथम संस्करण प्रकाशित किया (१८३९-४०)। इसमें कलकत्ता में छपे एक संस्करण पर छपी आधुनिक व्याख्या भी थी, सूत्रपाठ भी उसी संस्करण का था।

---

[1] पा० ७, २, ११५-११६ ; ११७।

[2] पा० १, १, १५।

[3] पा० ७, २, ११८।

[4] पा० १, ३, १२।

[5] पा० १, ३, ७२।

[6] पा० ७, २, १६।

[7] पा० ८, २, ४५।

[8] **ड्वितः क्त्रिः** (पा० ३, ३, ८८) ; **ट्वितोऽथुच्** (पा० ३, ३, ८९)।

[9] **आद्यन्तौ टकितौ** (पा० १, १, २१)।

(२) १८८७ में बोह्तलिङ्क ने ही केवल सूत्रपाठ का एक "उत्तम संस्करण" (Renou, L., *Pāṇini 'Current trends in linguistics,'* 5 Vols ; *Linguistics in Asia*, p. 483) जर्मन अनुवाद सहित प्रकाशित किया, तो भी इसमें कुछ न्यूनताएं शेष रह गयीं (Renou, *ibid*, p. 483-84)। अनुवाद भी सर्वथा निर्दोष नहीं बन पाया (Cardona, *Pā. Survey* p. 143)।

(३) रेनु ने भी (१९४९—५४, ६६) भाषावृत्ति पर आधृत अष्टाध्यायी का अनुवाद प्रकाशित किया। वह भी सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता (Cardona, वही)। थीमे ने इसकी आलोचना की थी (१९५६, *Pāṇini and the Pāṇineyas IAOS*, 76, p. 1-23)।

(४) गुणतिलके (१८८२) ने सूत्रपाठ का आंग्लानुवाद किया।

(५) श्रीशचन्द्र वसु ने (१८९२) ने भी आंग्लानुवाद सहित सूत्रपाठ छापा। इन्होंने काशिका का अनुसरण किया।

(६) ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने सूत्रपाठ का 'प्रज्ञादेवी' नामक हिन्दी अनुवाद किया तथा १९६४-६८ में प्रकाशित किया।

(७) देवप्रकाश पातञ्जल (१९६५) ने भी हिन्दी अनुवाद सहित सूत्रपाठ को प्रकाशित किया। इन दोनों में सूत्र-विश्लेषण के अतिरिक्त व्युत्पत्ति-प्रक्रिया भी समझा दी गयी है।

अनालोचनात्मक छोटे-मोटे संस्करण तो और भी प्रकाशित किये गये हैं।

एकोनविंश अध्याय

अष्टाध्यायी के परिशिष्ट या खिल पाठ

धातुपाठ

पाणिनीय तंत्र में सूत्रपाठ के अनन्तर धातुपाठ का स्थान है। यद्यपि इस समय निरुक्त ही एक ऐसा प्राचीनतम ग्रन्थ है, जिसमें स्पष्ट रूप से धातुओं तथा उनसे निष्पन्न शब्दों के पारस्परिक सम्बन्धों पर केवल प्रकाश ही नहीं डाला गया है, अपितु प्राचीन आचार्यों—शाकटायन, गार्ग्य प्रभृति नैरुक्तों तथा वैयाकरणों के विचारों को भी हम तक पहुंचाने के लिए सुरक्षित रखा गया है। किन्तु धातु और उससे निष्पन्न शब्द के इन सम्बन्धों पर विचार के प्रवाह का सुदूरस्थ स्रोत हमें अथर्ववेद में दृष्टिगोचर होता है, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं।

किन्तु संस्कृत व्याकरण-शास्त्र के विकास के इतिहास में ऐसा समय भी आया था, जब धातुओं और नामों में कोई मौलिक अन्तर नहीं माना जाता था। किसी एक ही शब्द से आख्यात-विभक्तियां जोड़कर आख्यातरूपों को तथा नाम-विभक्तियां जोड़ कर नामरूपों को बना लिया जाता था। उसी मूलभूत शब्द से कृत् और तद्धित प्रत्यय लगाकर कृदन्त तथा तद्धितान्त शब्दों का निर्माण कर लिया जाता है, यथा—पाणिनि के कण्ड्वादिगण में पठित **उषस्** शब्द के विविध रूपों से प्रकट होता है, इसे धातु मानकर **उषस्यति** आदि क्रियारूपों को, **उषस्यकः**, **उषसिता**, **उषसितव्यम्**, **उषसनीयम्** प्रभृति नामरूपों की सिद्धि की जाती है। **उषस्** शब्द **चादिगण** में पठित होने के कारण उभयविध विभक्तियों से रहित निपातरूप अव्यय भी है। इसी से **उषस्त्यम्**, **उषस्तनम्** प्रभृति तद्धितरूप भी निष्पन्न होते हैं। इस विषय में नामधातु की निष्पत्ति आज भी प्रमाण हैं, यथा अश्व>**अश्वति**, **अश्वीयति**, **अश्वायति**, **अश्वायते**।

उस समय उपसर्गों की भी पृथक् सत्ता नहीं थी[1]। उन्हें मूलशब्द (धातु) का ही अंग माना जाता था। यह बात **असंग्रामयत**, **अव्ययत**, **आनन्दयित्वा**, **प्रार्थयित्वा** प्रभृति प्रयोगों से सिद्ध होती है। इसी कारण दो परिभाषायें बनीं—**पूर्वं हि धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन** तथा **पूर्वं हि धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण**, जो परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं। किन्तु प्राचीनकालिक

---

[1] द्र० मीमांसक, सं० व्या० शा० इ०, भाग २, पृष्ठ १७-२१.

परिस्थितियों की ओर इंगित करती हैं। जब **उपसर्ग** मूल शब्दों का अवयव माना जाता था, तथा कुछ-एक शब्दों में पीछे से जोड़ा भी जाता था।

यही स्थिति निघण्टु तक में दृष्टिगोचर होती है। वहाँ भी नामिक और आख्यातिक शब्दरूपों में स्पष्ट अन्तर नहीं किया गया, अपितु विविध स्रोतों से आये हुये शब्दों का सञ्चय पृथक्-पृथक् न करके उन्हें परस्पर मिश्रित कर दिया है। **चाकमान:** (२, ६) **आक्षाणः** तथा **आपाण:** (२, १८) **तडित्** और **आखण्डल:** (२, १९), **विचर्षणि:** और **विश्वचर्षणि:** (३, ११) सभी क्रियावचनों के अन्तर्गत सञ्चित किये गये हैं, जबकि **ववक्षिथ** तथा **विवक्षसे** जैसे क्रियावचनों का संग्रह नामों में किया गया है (३, ३)।

यह सब होते हुए भी शब्दों के स्पष्ट विश्लेषण तथा उनके पर्यायवाची नामों तथा क्रियावचनों के समूहों में व्यवस्थित करने का श्रेय तो निघण्टुकार को मिलना ही चाहिये। इस विषय में यह स्मरणीय हैं कि यह निघण्टु भी अपने प्रकार की प्रथम रचना नहीं है। इससे पूर्व भी ऐसे शब्द-संग्रह हो चुके थे, जिनके आधार पर इसकी रचना की गयी। यहाँ आख्यातों का संग्रह प्रायः उनके लट् लकार, प्रथम पुरुष के रूप में किया गया है, तो भी अपवादरूप में कुछ—विशेषत: वैदिक शब्द—अन्य रूपों में भी दिये गये थे, यथा—**ईमहे, यामि, मिमिड्ढि** तथा **पीपरत्** (निघ० ३, १९) प्रभृति।

इस विषय में ब्राह्मणों से कुछ विकसित होते हुए भी निघण्टु से यह प्रमाणित नहीं होता कि यहाँ धातु का स्पष्ट विश्लेषण कर लिया गया है। यहां केवल क्रियावचनों का ही संग्रह किया गया है, धातुओं का नहीं। न ही यहाँ धातु शब्द का प्रयोग ही पाया जाता है।

क्रियावचनों के प्रस्तुतीकरण के ढंग से ही प्रतीत होता है कि निघण्टुकार को धातुओं का पृथक् ज्ञान नहीं था, क्योंकि कई ऐसे क्रियावचनों का संग्रह भी एकत्र किया गया है, जिनकी मूलधातु एक ही है। वहां तो **अश्नुते** के अतिरिक्त **अशत्, आष्ट, आनशे** तथा **आनट्** सभी एक साथ संगृहीत हैं (निघ० २, १९) तथा **वष्टि** के अतिरिक्त **वश्मि, उश्मसि,** तथा नामिक रूप **उशिक्** सभी एक साथ रख दिये गये हैं (निघ० २,६)। इसी प्रकार **बभस्ति** के अतिरिक्त **बप्सति, भसथ,** और **बब्धाम्** सभी का संग्रह एक साथ कर दिया है (निघ० २, ८)। यदि निघण्टुकार को मूलधातु का प्रकृति के रूप में ज्ञान होता, तो वह **वष्टि** प्रभृति के अर्थ को स्पष्ट करने के हेतु सभी का एक-साथ संग्रह करने का व्यर्थ प्रयत्न न करता। फिर भी यह संग्रह इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि इसमें पश्चाद्वर्ती धातु-पाठों का बीज विद्यमान है।

जब निघण्टु से हम निरुक्त तक पहुंचते हैं, तो पता चलता है कि यास्क को न केवल शब्द की प्रकृति के रूप में धातुओं से ही परिचय था, अपितु नामों के धातुज होने का सिद्धान्त भी पहले से ही इतना विकसित हो चुका था कि उसके विषय में मतभेद भी उभर कर चर्चा का विषय बन चुके थे। यास्क को धातुओं के **गत्वा, गतम्, जग्मतुः** प्रभृति रूपों में होने वाले परिवर्तनों की प्रक्रिया का भी ज्ञान था। अतः प्रमाणित होता है कि यास्क के समय से पूर्व ही धातुओं का विश्लेषण हो चुका था। लीविख़ का यह विचार[1] भ्रामक है कि यास्क को आख्यात और धातु के भेद का ज्ञान नहीं था। क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने ठीक ही कहा है कि यास्क तो आख्यात को तिङन्त (finite verb) के अर्थ में ही प्रयुक्त करते हैं, जबकि पूर्ववर्ती आचार्य इस शब्द का **धातु** और **तिङन्त** दोनों अर्थों में प्रयोग करते हैं[2]। ऐसा प्रतीत होता है कि यास्क ने ही सर्वप्रथम धातु शब्द का प्रयोग किया हैं[3]— **एतावन्तः समान-कर्माणो धातवः** (निरु० १,२०)। उन्होंने तो धातु शब्द का तिङन्त के अर्थ में भी प्रयोग किया है— **ज्वलतिकर्माण उत्तरे धातवः एकादश** (निरु० २,२८), **कान्तिकर्माण उत्तरे धातवोऽष्टादश** (निरु० ३,९)। इतना हो नहीं **सार्वधातुक** और **आर्धधातुक** शब्द भी पूर्वपाणिनीय ही हैं[4]। कैयट के साक्ष्य के अनुसार तो कई पूर्वाचार्य **शप्** आदि विकरणों को पृथक न मानकर **तिप्** आदि के साथ ही प्रत्यय के रूप में मानते थे[5]।

यास्क ने शाकटायन के वचन में उपसर्गों की सन्निधि में धातुओं में होने वाले अर्थ-परिवर्तन का भी उल्लेख किया है[6]। पूर्वाचार्यों के धातुपाठों के संकेत यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। वोपदेव-कृत कवि-कल्पद्रुम से प्रकट होता है कि प्राचीन आचार्य शाकटायन का धा० पा० उसने देखा था और अपने धा० पा० के निर्माण में उससे सहायता ली थी[7], किन्तु इस समय वह उपलब्ध नहीं है। उनके विषय में कहा जा चुका है कि वह सभी नामों को धातुज मानते थे। वे इतने प्रसिद्ध वैयाकरण थे कि समस्त वैयाकरणों को उनसे नीचा माना जाता था[8]। आचार्य आपिशलि का धा० पा० प्रसिद्ध है, जिसके उदाहरण अनेक ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

---

[1] Einführung, II, p 25-30

[2] Technique and Technical Terms, p. 68-69

[3] तु० **धातुशब्दः पूर्वाचार्य संज्ञा । ते च क्रियावचनानां संज्ञां कृतवन्तः** (काशिका १,३,१)।

[4] **नाम्नो गुणः सर्वधातुकार्धधातुकयोः** (काश० व्या० सूत्र २२)।

[5] **पूर्वाचार्यैः कैश्चित् अतिः प्रत्ययत्वेन परिकल्पितः** (म० भाष्य १, ३, १)।

[6] निरु० १, ३।

[7] कविक० २-३।

[8] द्र० का० पा० **अनुशाकटायनं वैयाकरणाः, उपशाकटायनं वैयाकरणाः** (पा० १,४,८६)।

म० भाष्य (१, ३, २३) में लिखा है—**अस्तिंकारमातिष्ठते, आगमौ गुणवृद्धी अतिष्ठते।** काशिका (१, ३, २२) पर न्यासकार की टिप्पणी इस प्रकार है—**सकारमात्रमस्ति धातुमापिशलिराचार्यः प्रतिजानीते। तथा न तस्य पाणिनेरिव अस् भुवि इति गणपाठः, किं तर्हि 'स भुवि' इति स पठति**[1], अर्थात् आपिशलि के धा० पा० में 'स भुवि' पढ़ा गया है। स्कन्दस्वामी ने निरु० (२, २) पर टिप्पणी की है—**उषिजिघर्तो छान्दसौ धातू व्याकरणस्य शास्त्रान्तरे अपिशलादौ स्मरणात्।** अर्थात् आपिशलि के धा० पा० में **उषति जिघर्ति** धातु पढ़े गये हैं। मैत्रेयरक्षित ने भी आपिशल धा० पा० का उल्लेख किया है[2]।

पा० धा० पा० के विषय में न्यासकार ने कहा है कि यह अपाणिनीय है[3]। अनेक स्थलों पर सूत्रपाठ धा० पा० में वृद्धि या परिबर्तन करता दृष्टिगोचर होता हैं। कुछ धातु, जो धा० पा० में विशेष गण में पठित हैं, सूत्रपाठ में विकल्प से अन्य गण में पठित हैं[4]।

पा० ने **इरितो वा** (३, १, ५७) से **इरित** धातुओं से **च्लि** को अङ् आदेश का विधान किया है और अनेक धातुओं के बाद इर् अनुबन्ध लगा हुआ है, तो पा० ने सूत्र में **अङ्** का विधान स्वयं अपने कण्ठ से उच्चरित बहुत से धातुओं में किया है[5], जबकि वे इनके अन्त में धा० पा० में इर् लगाकर सूत्र को बचत कर सकते थे। इन कारणों तथा अन्य हेतुओं के आधार पर श्री पवाटे ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि धा० पा० पाणिनि को उपदेश के रूप में पूर्वाचार्यों से प्राप्त हुआ था और यह किसी भी सूत्रपाठ से सर्वथा स्वतन्त्र था। अतः पाणिनि ने इसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन किये बिना इसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। पवाटे के तर्कों का पल्सुले ने जोरदार खण्डन किया[6] है। इससे पूर्व लीबिख़[7] ने भी पवाटे के समान ही यही विचार व्यक्त किया था कि धातुपाठ को

---

[1] पदमञ्जरी में भी तथैव। द्र० का० पा० ७,२,१० पर भी न्यास; जहां आपिशल धा० पा० का स्पष्ट संकेत है।

[2] धातुप्रदीप, पृ० ८०।

[3] काशिका ४, १, १०६, **अपाणिनीयत्वाद् गणस्य;** ७, ४, ३, तथा **अन्यो हि गणकारो ऽन्यश्च सूत्रकारः** तथा ७, ४, ७५।

[4] काशिका ३, १, ७०।

[5] पा० ३, १, ५८-५९।

[6] *The Sanskrit Dhātupaṭhas*, 1961, p. 16-24.

[7] *Historische Einfürung und Dhātupāṭha*, p. 51; *Der Dhātupaṭha* (*SHAW*, 1920, 10, p. 57).

पाणिनि ने परम्परागत रूप में प्राप्त किया था, क्योंकि धातुपाठ की क्रमव्यवस्था सर्वथा तर्कहीन है, अतः पाणिनि-कृत नहीं हो सकती। किन्तु Cardona का इस पर प्रश्न यह है कि हम पा० से विशेष प्रकार की क्रमव्यवस्था की अपेक्षा ही क्यों करें? इसके अतिरिक्त Betty Shafts ने वर्तमान धातुपाठ की तर्क-संगति का प्रतिपादन किया भी है[1], जो कुछ सीमा तक विश्वसनीय है (Cardona, *Ibid.*, p. 164)। सौत्रधातु भी इस विषय में प्रमाण हैं। जो धातु धा० पा० में नहीं पढ़े गये, उनको ही सूत्रों में गिना दिया गया है[2]। किन्तु श्री पवाटे के ये हेतु हेत्वाभासों से अधिक कुछ नहीं हैं, क्योंकि इसी प्रकार के तथाकथित दोष पश्चात्कालिक उन धा० पाठों में भी उपलब्ध हैं, जिनके कर्ता तत्सम्बन्धी सूत्रों के भी निश्चित रूप से प्रमाणसिद्ध कर्ता हैं।

इन सब हेतुओं से इतना ही सिद्ध होता है कि पा० से पूर्व धा० पा० का एक विशिष्टरूप स्थिर हो चुका था, जिसे पा० ने इसके दोषों के रहते भी पूर्वाचार्यों के आदरार्थ यथासम्भव उसी रूप में स्वीकार कर लिया था, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने इसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया था, या कोई परिवर्तन कर नहीं सकते थे। सूत्रपाठ भी धा० पा० के समान ही पाणिनि-प्रोक्त रचना है, कृत नहीं। तो जिस प्रकार पा० ने परम्परा-प्राप्त सूत्रों में आवश्यक परिवर्तन-परिवर्धन तथा संशोधन करके अपने व्याकरण को नवीनरूप प्रदान किया है, उसी प्रकार धा० पा० में परिवर्तन क्यों नहीं कर सकते थे? इस प्रश्न का उत्तर पवाटे के पास नहीं है। सूत्रपाठ के समान ही धा० पा० में उन्होंने अभीष्ट परिवर्तन अवश्य किये होंगे। कहीं-कहीं उस परम्परागत रूप को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्होंने नवीन धातुरूपों की निष्पत्ति अपने सूत्रों के द्वारा कर दी हैं[3]।

पतञ्जलि के म० भाष्य से भी इस बात की पुष्टि होती है कि धा० पा० पाणिनि-प्रोक्त होने के कारण उतना ही पाणिनीय है जितना कि सूत्रपाठ[4]। पा० धा० पा० का संकलन आजकल अर्थसहित उपलब्ध होता है, किन्तु क्या अर्थ भी पाणिनि ने लिखे थे, या बाद में जोड़े गये, इस विषय में मतभेद पाया जाता हैं। म० भाष्य में अनेक धातु अर्थ-निर्देश-सहित पठित हैं, अन्य अर्थ-निर्देश-रहित।

---

[1] *Grammatical Method in Pāṇini : His Treatment of Sanskrit Present Stems* (*AOSE* I, p. 2-3).

[2] स्ट्रक्चर ऑफ़ अष्टाध्यायी, पृ० ५ से ३१।

[3] द्र०, गजानन बालकृष्ण पल्सुले, दि संस्कृत धातुपाठज़, पूना, १९६१ पृ० १६-२०।

[4] मीमांसक, सं० व्या० शा० इ०, भाग २, पृ० ४१-४५, ६४, ६८।

स्वयं पतञ्जलि ने भी धातुओं के अर्थसहित संहितापाठ की चर्चा की है[1]। कैय्यट ने धात्वर्थ को अपाणिनीय तथा नागेश ने इसे भीमसेनकृत माना है[2]। किन्तु दोनों पक्ष सर्वथा मान्य नहीं हो सकते। कुछ-एक धातुओं का अर्थ-सहित निर्देश भी अवश्य किया होगा[3]। लीबिख़[4] (Liebich) ने इन सभी अर्थ-निर्देशों को पाणिनि से अवरकालिक माना है और यह भी संकेत किया है कि पतञ्जलि का धात्वर्थों की ओर सङ्केत का ढंग पश्चात्कालिक धातुपाठों के ढंग से भिन्न था[5]। पल्सुले, जी० बी०[6], ने महाभाष्य से प्रमाण एकत्र करके, उनका अध्ययन किया है और लीबिख़ के मत से सहमति व्यक्त की है।

Cardona मीमांसक के इस विचार से सहमत नहीं हो सके कि कुछेक अर्थ-निर्देश अवश्य पाणिनि ने भी किये होंगे[7], तो भी यह मानने पर भी बाध्य हुए हैं कि नागेश ने महाभाष्य के आधार पर प्राचीन धातुपाठ में कहीं-कहीं अर्थ-निर्देश स्वीकार किया है[8]।

प्रतीत होता है कि अष्टाध्यायी के समान धा०पा० के भी दो पाठ थे—

(१) लघुपाठ, जो अर्थनिर्देश-रहित था। (२) बृहद्पाठ, जो अर्थ-निर्देश-सहित था। मीमांसक के अनुसार जिस प्रकार कात्यायन ने अष्टाध्यायी के लघुपाठ पर अपने वार्तिकों की रचना की थी, उसी प्रकार उन्होंने अर्थ-सहित लघु धा० पा० को स्वीकार करके ही **परिमाणग्रहणञ्च** (म० भा० १, ३, १) वार्तिक की रचना की। अधुना लघुपाठ का उच्छेद हो चुका है और वृद्धपाठ

---

[1] **परिमाणग्रहणञ्च कर्तव्यम्। इयानवधिर्धातुसंज्ञा भवति इति वक्तव्यम्। कुतो ह्येतद् भूशब्दो धातु संज्ञोभवति न पुनर्भ्वेधशब्द:** (म० भाष्य १, ३, १) **को हि नाम समर्थो धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामर्थानादेष्टुम्** (२,१,१) **कः खलुः पचादीनां क्रियावचनत्वे यत्नं करोति** (३, १, १९)।

[2] **भीमसेनादयो ह्यर्थं-निर्दिदिशुरिति स्पर्धंते** (श० कौ० १, ३, १ ; ११, २, २०)।

[3] नागेश १, ३, १ ; कौण्डभट्ट (के० पी० त्रिवेदी-कृत संस्करण, १९१५, पृ० ४८); भट्टोजि दीक्षित (द्र० एस० सी० चक्रवर्ती, धातुप्रदीप, पृ० १, टि० २)।

[4] *Zür Einführang … … Historische Einfürung und Dhātupāṭha* (*SHAW*, 1919, p. 49-50) ; *Kṣīrataraṅgiṇī*, p. 243-244.

[5] *Kṣīrataraṅgiṇī*, 1930, p. 244-246.

[6] *The Sanskrit Dhatupāṭhas, a critical study* (Poona, p. 91-95).

[7] *Pā. Survey*, p. 162.

[8] वही पृ० १६३।

प्राच्य, उदीच्य तथा दक्षिणात्य इन तीनों संस्करणों में उपलब्ध होता है[१]। वर्तमान धा० पा० अत्यन्त अस्तव्यस्त अवस्था में प्राप्त होता है। उसमें किन्हीं धातुओं का क्रमविपर्यास, किन्हीं का अर्थविपर्यास, किन्हीं का अभाव और किन्हीं का आधिक्य दृष्टिगोचर होता है। किन्हीं दो वृत्ति-ग्रन्थों का पाठ समान उपलब्ध नहीं होता। यह अव्यवस्था चिरकाल से चली आ रही है[२]। वर्तमान धा० पा० सायण द्वारा परिष्कृत पाठ है। तदनन्तर भट्टोजि ने कुछ परिष्कार किया। सायण ने तन्त्रान्तर-प्रसिद्ध अनेक धातुओं का प्रक्षेप तथा स्वशास्त्रपठित बहुत सी धातुओं का परित्याग करके नवीन संस्करण का निर्माण किया है। अतः इसे सर्वथा पाणिनीय नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जर्मन विद्वान बोह्तलिङ्क द्वारा सम्पादित धा० पा० भी पाणिनीय नहीं है, क्योंकि इसमें भी तन्त्रान्तर-प्रसिद्ध प्रायः सभी धातुओं का संग्रह कर दिया गया है। पाणिनि का मूल धा० पा० अन्वेषणीय है[३]।

वर्तमान धातुपाठ की विशेषताएँ

सम्पूर्ण पा० धा० पा० दस गणों में विभक्त है, प्रकृति और प्रत्यय के मध्य में प्रत्येक गण का पृथक् विकरण है। प्रत्येक गण में अन्तर्गण भी पठित हैं, जिनकी रूपसाधना समान प्रक्रिया के अनुसार होती है। गणों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) भ्वादिगण में एक विशाल धातु-समूह ऐसा है (१-७७६), जिसके सभी धातुरूप एक सामान्य प्रक्रिया के अनुरूप निष्पन्न होते हैं। तीन (भू, क्षि) (२२५) तथा जि (५९३) अपवादों को छोड़ कर शेष सभी व्यञ्जनान्त हैं। इनमें परस्मैपदी भी हैं और आत्मनेपदी भी। केवल दो अल् (५४८) और धाव् (६३२) उभयपदी हैं। इनमें अधिकांश उदात्तान्त हैं। एक विशेषता यह है कि प्रथम धातु 'भू' के अनन्तर तवर्गान्त धातु गिनाये गये हैं। तदनन्तर कवर्गान्त, चवर्गान्त, टवर्गान्त तथा पवर्गान्त धातु पढ़े गये हैं। तदनन्तर नासिक्यान्त धातुओं का अपना पृथक् समूह है। उसके बाद अन्तःस्थान्त और सर्वपश्चात् ऊष्मान्त धातु पठित हैं।

इस सामान्य धातु-समूह के अनन्तर समान विशेषताओं वाले द्युतादि, घटादि, फणादि तथा ज्वलादि समूह रखे गये हैं। इनमें भी तवर्गान्त प्रथम रखे

---

[१] वही, पृ० ५२-५७; द्र० पृ० ७१-७२।

[२] मीमांसक, वही, पृ० ५७-६१।

[३] वही।

गये हैं। तदनन्तर क्रमशः उभयपदी, स्वरान्त धातु और पुनः व्यञ्जनान्त धातु समूह का सन्निवेश किया गया है, जिसमें यजादि भी सम्मिलित हैं।

(२) **अदादि गण** के अन्तर्गत ही **रुदादि**, **जक्षत्यादि** भी हैं। इनमें **जक्षत्यादि** ७ धातु **जुहोत्यादि** के समान ही अभ्यस्त धातु हैं। इस धातुसमूह के अन्तर्गत एक गणसूत्र है—**चर्करीतञ्च** (७१) **"चर्करीत"** यङ्लुगन्त के लिए प्रयुक्त पूर्वपाणिनीय पारिभाषिक शब्द है, जिसका प्रयोग निरुक्त (२, २८) में किया गया है। अदादियों के अन्तर्गत **स्वपादि** पठित हैं जिनको सम्प्रसारण होता है। काशिका ने **स्वपादि वृत्कारणात्** कह कर इनकी सीमा बांधने का प्रयास किया है। पदमञ्जरी ने 'आगणान्तात्' कहकर इनकी सीमा बढ़ा दी है। तत्त्वबोधिनी ने यही बात कही है। क्षीरतरंगिणी ने भी इनको √वृत् पर्यन्त ही माना है किन्तु √वृत् न तो मा० धा० वृत्ति में है और न ही लीबिख़ ने पढ़ा है।

(३) **जुहोत्यादियों** में एक अन्तर्गण है, जिसका प्रयोग वेद तक ही सीमित है (छान्दसः)। किन्तु मैत्रेयरक्षित के अनुसार केवल अन्तिम दो धातु **√जन्** और **√गा** ही छान्दस हैं।

(४) **दिवादियों** की विशेषता यह है कि इस गण के बहुत से आत्मनेपदी धातु-रूप कर्मवाच्य के समान प्रतीत होते हैं, जबकि वही धातु कर्तृ-वाच्यार्थक होकर परस्मैपदी धातुओं के रूप में अन्य गणों में पाये जाते हैं, यथा—√दु (४, ३५)=दु (५, १०)। √मी० (४, २९)= √मी० (९, ४), √प्री० (४,३६)=प्री० (९, २)।

(५) **स्वादियों** में भी केवल नौ धातु वैदिक हैं (२६-३४)।

(६) **तुदादियों** के अन्तर्गत **कुटादिगण** में ३१ व्यञ्जनान्त धातुओं में २१ टवर्गान्त (ट्-ड) हैं। भाषा-विज्ञान के अनुसार यहाँ मूर्धन्यीकरण किसी पूर्ववर्ती मूर्धन्य वर्ण के कारण हुआ है। इसी गण में नासिक्य आगम ग्रहण करने वाला मुचादि गण भी है। इस गण में भी **भ्वादिगण** के समान ही धातुओं का क्रम अन्तिम वर्ण के अनुसार ही रखा गया है। क्रम यह है—तालव्यान्त, ओष्ठ्यान्त, दन्त्यान्त, मूर्धन्यान्त, नासिक्यान्त (ण्प्रायेण) इत्यादि।

(७) **रुधादियों** के विषय में कुछ विशेष निर्देष्टव्य नहीं है।

(८) **तनादियों** में √कृ के अतिरिक्त सभी धातु नकारान्त हैं तथा इनके अन्त में 'उ' अनुबन्ध है।

(९) **क्र्यादि गण** के अन्तर्गत **ल्वादिगण** के धातुओं के निष्ठान्त रूप नकारान्त होते हैं (पा० ८, २, ४४) तथा **क्तिन्** प्रत्ययान्त रूप 'नि'कारान्त होता है। **क्र्यादियों** का क्रम इस प्रकार है १-३८ अजन्त तथा ३९-६१ व्यञ्जनान्त हैं।

(१०) **चुरादि गण** की अपनी विशेषताएं हैं। प्रथम नौ गणों में तो पा० ने आत्मनेपद प्रभृति के विधान के लिए धातुओं के अनुबन्धों में विशेष स्वरों का निर्देश किया है। यथा—व्यञ्जनान्त धातुओं के अनुबन्ध यदि अनुदात्त हों, तो धातु को आत्मनेपदी मानना चाहिये, यदि स्वरित हों, तो उभयपदी। इसी प्रकार अनिट् धातु की पहचान अनुदात्त स्वर से की जाती है, तो **सेट्** की उदात्त स्वर से। किन्तु चुरादियों में यह सब उपाय त्याग दिये गये हैं। आत्मनेपदी धातुओं के दो समूह बना दिये गये हैं (१३५-१७१ तथा ३५०-३५९) कुछ-एक अपवादों के अतिरिक्त शेष सभी परस्मैपदी मानी गयी हैं। **सार्वधातुक, आर्धधातुक** सभी प्रत्यय परे रहते यहां **णिच्** प्रत्यय स्वतःसिद्ध है। अतः यहां एकाच् धातु नहीं मिलता। अतः यहां कहीं भी **इट्** का निषेध नहीं किया जाता (पा ७, २, १०), अर्थात् सभी धातु **सेट्** हैं। यहाँ **शप्** का लोप नहीं होता, अपितु **णिच्** के साथ यह भी लगा रहता है। इस गण के अन्तर्गत **आस्वदीय गण** है (२०९-२६३), जो तभी तक चुरादि रहते हैं, जब तक इनका प्रयोग सकर्मक होता है। **आधृषीय गण** (२६४-३०४) के धातु विकल्प से भ्वादियों के रूप ग्रहण कर लेते हैं[1]।

अन्य धातुपाठ

पाणिनीय धा० पा० के अतिरिक्त इस समय अन्य कई धा० पा० प्रचलित हैं, जो अपने-अपने व्याकरण-तन्त्र से सम्बद्ध हैं। इनमें से एक **काशकृत्स्न धातु-पाठ** है, जो हाल ही में खोज निकाला गया है और विवाद का विषय बन गया है, इसका नाम पूर्वपाणिनीय वैयाकरण 'आदि शाब्दिक काशकृत्स्न' से सम्बद्ध होने के कारण इसे 'काशकृत्स्न शब्द कलाप धातुपाठ' भी कहा जाता है। दक्खन कालेज पूना से चन्नवीरकवि-कृत कन्नड़ टीका सहित कन्नड़लिपि में भी प्रकाशित हो गया है और युधिष्ठिर मीमांसक ने इसे देवनागरी लिपि में भी प्रकाशित किया है[2] और इसके साथ काशकृत्स्न-व्याकरण के १४२ सूत्रों का

---

[1] द्र० लीबिख, Einführung भाग ३, पृ० ६३।

[2] पूना संस्करण १९५२; युधिष्ठिर मीमांसक-कृत देवनागरी सं०, १९६५, अजमेर।

सङ्कलन भी प्रकाशित किया है। इसमें नौ गण हैं—जुहोत्यादि को अदादियों में मिला दिया गया है।

मीमांसक के मत में वैयाकरणों में प्रसिद्ध 'नवगणो धातुपाठ' सम्भवतः यही है। इसके **भ्वादिगण** में पा० धा० पाठ से ४५० धातु अधिक हैं तथा ८०० ऐसे धातु हैं, जो पा० धा० पा० में नहीं पाये जाते। पा० धा० पा० में भी बहुत से धातु इसमें उपलब्ध नहीं होते। कुल मिलाकर इसमें पा० धा० पा० से ४५० धातु अधिक हैं। विशेषता यह है कि पा० धा० पा० में अपठित किन्तु लोक-वेद में उपलब्ध अनेक धातु इसमें सङ्कलित है, यथा—√थर्व > √अथर्व, √ढुढि (=ढुण्ढ) हिन्दी ढूँढ़ना। वेद में प्रयुक्त 'मरति' प्रभृति शब्दों के अनुरूप √मृ—भ्वादि में पठित है। कई ऐसे शब्द है, जिनकी सिद्धि पा० धा० पा० से नहीं हो सकती, इससे सीधे हो जाती है, यथा—'नौ' का पाणिनीय-वैयाकरण **ग्लानुदिभ्यां डौ**[1] (उणा० २, ६५) से सिद्ध करते हैं, काश० में √णौ प्लवने हो पठित है। 'क्षमा' के लिये पा० धा० पा० के √क्षमूष के स्थान पर √क्षमै धारणे अधिक सरल है। पाणिनीय-वैयाकरण 'श्वन्' की सिद्धि के लिये **श्वन्नुक्षन्**………(उणा० १, १४६) का आश्रय लेते हैं, इसमें √श्वन् ही पढ़ा गया है। पा० ने जिन धातुओं को छान्दस माना है, काश० ने उनको सामान्य, यथा—√धृ (छन्दसि) जुहो—√अह (छन्दसि) स्वा०।

युधिष्ठिर ने इसे पूर्वपाणिनीय कृति समझा है, जबकि क्षितीशचन्द्र चैटर्जी[2] तथा पल्सुले[3] इसे बहुत बाद का मानते हैं, क्योंकि इसमें ऐसे धातु भी हैं, जिनका प्रयोग प्राचीन साहित्य में हुआ ही नहीं। इसमें भी पा० धा० पा० के २१ अनुबन्धों का ही प्रयोग किया गया है और पतञ्जलि ने स्पष्ट कहा है (पा० ७, १, १८) कि पा० ने पूर्वाचार्यों के अनुबन्धों का प्रयोग नहीं किया है, जो यद्यपि सर्वथा सत्य नहीं है, तो भी पा० के लिए यह सोचना विचारातीत है कि वह किसी पूर्वरचना की नकल करेंगे। यदि पा० को काश० धा० पा० का पता होता, तो वे इतने अधिक धातुओं को छोड़ क्यों देते? धातुओं के क्रम के विषय में यह कातन्त्र धा० पा० से बहुत मिलता है। इन धातुओं का अर्थनिर्देश भीमसेन के अर्थनिर्देश के प्रायः समान ही है। अतः यह पूर्वपाणिनीय रचना नहीं हो सकती। इसका रचना-काल ६०० ई० से प्राचीन नहीं हो सकता[4]।

---

[1] उणा० २, ६५।

[2] *Technique*, p. 62.

[3] सं० धा० पा०, पृ० ४४-४५।

[4] वही, पृ० ४५।

इसके अतिरिक्त अन्य धा० पा० उपलब्ध हैं, जो पा० तन्त्र से बाहर के हैं, यथा— कातन्त्र धा० पा०, चान्द्र धा० पा०, जैनेन्द्र धा० पा०, शाकटायन धा० पा०, हैमशब्दानुशासन, बोपदेव कृत कविकल्पद्रुम प्रभृति, जिनकी चर्चा व्याकरण-शास्त्र के इतिहासों में देखनी चाहिये[1]।

प्रत्येक धातुपाठ धातुओं के अनुबन्धों के द्वारा उनके पद—आत्मनेपद या परस्मैपद, लट् लकार और कभी-कभी लङ् लकार के अङ्ग के रूप, उपधा के अनुनासिक के लोप, सेट्त्व अथवा अनिट्त्व, नकारादि धातुओं के णत्व प्रभृति विषयक विविध सूचनाएं एक ही दृष्टि में प्राप्त हो जाती हैं, इसलिए धातुओं के अन्त में लगे नाना **इत्** संज्ञक वर्णों का बड़ा महत्त्व है[2]।

धातुपाठ के व्याख्याता

(१) **सुनाग**—काशिका में **विभाषा भावादिकर्मणोः** (७ २, १७) की व्याख्या में वामन ने लिखा है—**सौनागाः कर्मणि निष्ठायां शकेरिटमिच्छन्ति विकल्पेन ·········अस्येतर्भावे:** ।

अर्थात् सुनाग के शिष्य कर्म में प्रयुक्त निष्ठा में शक् धातु से विकल्प में **इट्** चाहते हैं और असु से भाव में ।

सायण ने धातुवृत्ति में सौनाग-मत का अनेकत्र उल्लेख किया है[3]। क्षीरतरंगिणी के आदि और अन्त में धात्वर्थ सम्बन्धी सौनाग मत उद्धृत हैं—**धातूनामर्थ निर्देशोऽयं निदर्शनार्थः इति सौनागाः·········यदाहुः**[4]। इन प्रमाणों से इतना अवश्य प्रतीत होता है कि सुनाग नामक आचार्य ने धातु के विषय में अपना मत प्रकट अवश्य किया था। रचना के विषय में और कुछ ज्ञात नहीं। कैयट के मतानुसार यह कात्यायन से अर्वाचीन है[5]।

---

१. मीमांसक सं० व्या० शा० इ० भाग २, अध्याय २२ ; पलसुले सं० धा० पा० अध्याय २ कातन्त्र धा० के लिये द्र० लीबिख सम्पादित क्षीरतरंगिणी ; बेल्वेलकर, सिस्टमस० पृ० ४३; ४९; ५१; ६४; कीथ, हि० सं० लिट्० पृ० ४३० विण्टरनित्स, भा० सा० इ०, भाग ३ ।

२. द्र० टेक्नीक०, पृ० १३२-१३६; सं धा० पा० अध्याय ३ ।

३. शक, √अस, √शल्व्, √पर ।

४. क्षीर० पृ० ३, ३३३ (मीमांसक सम्पा०) ।

५. प्रदीप २, २, ८ ।

(२) भीमसेन नामक वैयाकरण का पा० धा० के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है, जिसकी चर्चा अनेक ग्रन्थों में की गयी है, यथा – क्रियारत्नसमुच्चय[१] में गणरत्न सूरि, अमरटीका-सर्वस्व में सर्वानन्द[२], धातुप्रदीपकार मैत्रेयरक्षित[३] एवं उमास्वाति भाष्य की व्याख्या में सिद्धसेन गणि[४] के उदाहरण प्रमाण हैं। इसके अन्तर्गत भट्टोजि दीक्षित, नागेश भट्ट, प्रभृति के अनुसार धातुपाठ का अर्थ-निर्देश भीमसेन ने ही किया है[५]। कर्ता भीमसेन हो या कोई और, इसमें सन्देह नहीं कि कात्यायन के समय धा० पा० अर्थ-निर्देश-रहित ही था, अन्यथा कात्यायन का वार्तिक **परिमाणग्रहणञ्च**[६] व्यर्थ होगा और संहितापाठ में पठित भ्वेध प्रभृति धातुओं के अर्थपार्थक्य की दुरूहता के कारण ही सम्भवत: अर्थनिर्देश आवश्यक माना गया था[७]। लीबिख़ ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि पतञ्जलि के द्वारा निर्दिष्ट धात्वर्थ आजकल प्राप्त धात्वर्थों से भिन्न हैं[८]। पाणिनीयेतर धातुपाठों में से चान्द्र धा० पा० अर्थनिर्देश करने वालों में सर्वप्राचीन है, यद्यपि उसमें अर्थ-संक्षेप करके प्राय: एक धातु का एक ही अर्थ दिया गया है। चान्द्र धा० पा० का काल पञ्चम शती के मध्य में होने के कारण परम्परा-प्रसिद्ध भीमसेन का समय पतञ्जलि के तथा चान्द्र धा० पा० के मध्य में दूसरी शती के आस-पास होना चाहिये।

(३) **क्षीरस्वामी** ने पा० धा० पा० के औदीच्य पाठ पर **क्षीरतरंगिणी** नामक वृत्ति लिखी है, जिसका प्रथम संस्करण लीबिख़ ने रोमन अक्षरों में प्रकाशित किया था और द्वितीय, देवनागरी में मीमांसक ने। इनके पिता का नाम भट्ट ईश्वर था। वह सम्भवत: काश्मीर-निवासी थे।

---

[१] **अर्चि, अर्दि तर्पिवदिमृषय: परस्मैपदिन: इति भीमसेनीया:**, पृ० २८४।

[२] **अर्वं पर्वं गतौ इत्ययमपि भूवादौ भीमसेनेन पवर्गान्त-प्रकरणे पठित:** अमर० १,१,७।

[३] **बहुषोऽभूत् यथा भीम: प्रोक्तवान्**……धातु प्रदीप के आदि में।

[४] **भीमसेनात् परतोऽन्यैर्वैयाकरणै:**……पृ० २९४।

[५] द्र० म० भा० १, ३, १ पर नागेश; श० कौ० १, ३, १ ; १, २, २० पर भट्टोजि, जो भीमसेन को आधुनिक कहता है (√दंस् दशने पर सि० कौ०)।

[६] पा० १, ३, १, वा० २।

[७] लीबिख़, आईनफ़ुहरुंग, भाग २, पृ० ६४।

[८] क्षीरतरंगिणी, पृ० २४४-४७।

इनके काल के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु अपने 'अमरकोशोद्घाटन' में श्रीभोज नाम से भोजराज के द्वारा निर्मित व्याकरण का बहुश: उल्लेख किया है तथा एक स्थान पर भोज की व्याख्या को उद्धृत किया है (अमर० चतुर्थ पद्य)। भोज का मृत्युकाल १०६५ ई० है। वर्धमान ने स्वरचित गणरत्नमहोदधि में क्षीरस्वामी को दो बार उद्धृत किया है[1]। गणरत्नमहोदधि का रचनाकाल ११४० ई० है। आचार्य हेमचन्द्र (सन् १०८८-११७२) ने हैमाभिधान की स्वोपज्ञटीका चिन्तामणि में क्षीरस्वामी के दो पाठ उद्धृत किये हैं[2], जो क्रमश: अमर० १, ९, ११ तथा अमर० २, ४, ६१ में उपलब्ध होते हैं। अत: क्षीर० का रचना काल ११वीं शती के उत्तरार्द्ध तथा बारहवीं के पूर्वार्द्ध के मध्य में होना चाहिये[3]।

(४) **मैत्रेयरक्षित** ने धातुप्रदीप नाम की लघुवृत्ति पा० धा० पा० पर लिखी है[4]। सम्भवतः वह बंगवासी थे। उनका रचनाकाल अनुमानतः सन् १०८३ तथा ११०८ के मध्य हो सकता है[4]। इन्होंने जिनेन्द्रबुद्धि-विरचित न्यास पर भी विपुल व्याख्या की रचना की है। इन्होंने स्वयं को ही धातुपारायण, नामपारायण, क्षपणक तथा पाणिनीय-शास्त्र के ज्ञाता, कालाप तथा चान्द्रमत के तत्ववेत्ता घोषित किया है[5]।

(५) **सायण** (सन् १३१५-१३८७) ने माधवीय धातुवृत्ति की रचना सन् १३५८ तथा १३६३ के बीच में किसी यज्ञनारायण नामक विद्वान् से करायी, जैसा कि धातुवृत्ति के अन्त:साक्ष्य से प्रतीत होता है[6]। जहाँ अन्य धातु-वृत्तियां संक्षिप्त तथा अपूर्ण हैं, वहां माधवीय धातु-वृत्ति में प्राय: सभी धातुओं के णिजन्त आदि प्रक्रियाओं तक के रूप संक्षेप में दर्शाये गये हैं। मतभेदों की स्थिति में प्राचीन आचार्यों के मतों को उद्धृत करके अपना निर्णायक मत प्रदान किया गया है। अतिसूक्ष्म विचार-

---

[1] गणरत्न० ४, ३०३, पृ० १८३; ७, ४३०, पृ० २३८।

[2] हैमाभि० ३, ५४१ पृ० ३५०; ४, २११, पृ० ४६१।

[3] विस्तार के लिये द्र० मीमांसक सं० व्या० शा० इ० भाग २, पृ० ७८-८२।

[4] द्र० मीमांसक, वही पृ० ८५।

[5] धातुप्रदीप के अन्त में दो श्लोक।

[6] द्र० मीमांसक, वही; धातुवृत्ति √क्रमु-विक्षेपे तथा √मव्य बन्धने की व्याख्या के अन्त में।

विमर्श के कारण यह ग्रन्थ अनेक स्थलों पर क्लिष्ट हो गया है, तो भी अत्यन्त उपादेय है तथा चौदहवीं शताब्दी में व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन की पद्धति पर यथेष्ट प्रकाश डालता है।

इनके अतिरिक्त हरियोगी-कृत शाब्दिकाभरण (११५० ई० के लगभग), देवकृत दैवम् (११५० के लगभग), दैवं पर कृष्णलीलाशुक कृत पुरुषकार (तेरहवीं शताब्दी) अन्य उल्लेखनीय धातुवृत्तियां हैं।

धातुपाठ के प्रसिद्ध संस्करण

(१) बोह्तलिङ्क ने सन् १८८७ में अपने से पूर्वभावी वेस्टरगार्ड (N. L. Westergaard--१८४१) के संस्करण के आधार पर धातुपाठ को प्रकाशित किया, जो अत्यन्त प्रसिद्ध हो गया।

(२) वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर ने स्वसम्पादित सिद्धान्तकौमुदी में (१९१५)।

(३) श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती ने भाषावृत्ति के संस्करण में (१९१८)।

(४) लीबिख़ (Bruno Liebich) ने १९२० में।

(५) पाठक-चित्राव ने स्वरचित 'पाणिनि शब्दकोश' में (१९३५)।

(६) शङ्करराम शास्त्री ने स्वसम्पादित सूत्रपाठ (१९३७) के साथ।

(७) एस० एम० कात्रे ने स्वरचित *Pāṇini Studies* (*DCBCSIS*) दक्कन कालेज से प्रकाशित ग्रन्थ में।

इन सभी ने बोह्तलिङ्क के संस्करण को ही आधार माना है। यह सब होते हुए भी अद्यपर्यन्त धातुपाठ तथा गण-पाठ का कोई सर्वोत्तम ऐसा संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ, जिसे अन्तिम, आलोचनात्मक, सर्वमान्य संस्करण कहा जा सके। लीबिख़ ने भी अपने संस्करण को समालोचनात्मक न कहकर केवल 'भावी समालोचकों के अध्ययन का आधार' ही माना।

इस विषय में पल्सुले[1] ने पाणिनीय सहित अन्य धातुपाठों की तालिका बना कर उन पर विचार किया है[2]।

गणपाठ

पाणिनि के पञ्चांगी अथवा पञ्चग्रन्थी व्याकरण में सूत्रपाठ तथा धातुपाठ के अनन्तर गणपाठ का तृतीय स्थान है तथा खिलपाठों में द्वितीय। गणपाठ का

---

[1] *'A Concordance of Sanskrit Dhatupaṭhas'*।

[2] १९६१—*'The Sanskrit Dhātupāṭhas, a Critical Study'*।

मूल अर्थ है, जिसकी गिनती की जाए। जहां समूहों में किसी क्रमविशेष की अपेक्षा नहीं की जाती, वहां गण में क्रमविशेष की अपेक्षा रहती है। अतः क्रमविशेष में पठित शब्दसमूह की जिस ग्रन्थ में सत्ता रहती है, उसे गणपाठ कहते हैं और इस प्रकार यद्यपि धातुपाठ भी एक प्रकार का गणपाठ ही हैं, जैसा कि न्यासकार के वचनों से स्पष्ट हो जाता है[1], तो भी वैयाकरण सम्प्रदाय में गणपाठ का प्रयोग केवल उसी ग्रन्थ के लिए होता है, जिसमें केवल प्रातिपदिक-समूह का क्रमबद्ध सङ्कलन हो। यह सङ्कलन सूत्रपाठ में विहित समान कार्य के ज्ञानार्थ निर्दिष्ट शब्द-समूह के रूप में सर्वप्रथम तत्तत्सूत्र में ही किया गया था। जैसा वा० प्रा० से प्रमाणित होता है,[2] इन गणों के नाम उनके आदिशब्दों के आधार पर रखे गये। उत्तरकाल में उनको सूत्रों से पृथक् करके और पृथक् शब्द के साथ आदि या प्रभृति शब्द लगाकर गण के रूप में पाठ प्रस्तुत किया गया। ऋक्० प्रा० के येत्यादि (४, ९१), वा० प्रा० के **उत्तम्भनादीनि** (५,३८) तथा तै० प्रा० के **शैत्यादीनि** (५, ४०) **मन्द्रादि** (२३, २) तथा **अक्षरसंहितादि** (२४, ४) जैसे सूत्रों में यद्यपि पाणिनीय गणशैली नहीं अपनायी गयी, क्योंकि इनके अभिप्रेत शब्द-समूह सूत्रों के अन्तर्गत ही सूत्रकार ने पढ़ दिये हैं (वा० प्रा० २, ४७; तै० प्रा० ७, १६), तो भी इस प्रकार के शब्द-समूह के संग्रह की भावना का जन्म इन आचार्यों के मस्तिष्क में हुआ, यह बात कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। गणपाठ के विकास का यही प्रथम सोपान है और यही बात इन रचनाओं को पूर्वपाणिनीय सिद्ध करने में सहायक है। ऋक्-तन्त्र व्याकरण में इस शैली का विकास दृष्टिगोचर होता है। वहां **आविरादि** (सूत्र १४१), **कौतुस्कुतादि** (सू० १२८), **पटादि** (सू० १६४), **पृषोदरादि** (सू० १६६) कई गण पाये जाते हैं, जिनसे पाणिनि ने अवश्य लाभ उठाया प्रतीत होता है[3]। पाणिनि से पूर्वकालिक वैयाकरणों के उदाहरणों से प्रमाणित होता है कि किसी न किसी रूप में गणपाठ बन चुके थे। जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्द-शक्ति-प्रकाशिका में भागुरि के कुछ श्लोकबद्ध वचन उद्धृत किये हैं, जिनसे प्रमाणित होता है कि **मुण्डादि, कृतादि, सत्यादि, पुच्छादि, श्लोकादि** गणों का प्रयोग भागुरि ने किया था। पतञ्जलि द्वारा सम्मानपूर्वक उल्लिखित यह ऐसे वैयाकरण प्रमाणित होते हैं, जिन्होंने हलन्त-शब्दों से स्त्रीलिंग में टाप् का विधान किया था[4]। आचार्य आपिशलि का भी गणपाठ प्रसिद्ध है। भर्तृहरि के वचन से प्रमाणित होता है कि उन्होंने **सर्वादिगण** में **त्यदादि 'किम्'** से लेकर **'अस्मत्'** पर्यन्त शब्द पढ़े थे।

---

१. **अन्यो हि गणकारोऽन्यश्च सूत्रकारः** (न्यास ७, ४, ३) तथा ७, ४, ७५ एवं धातुपाठ प्रकरण।

२. कपिलदेव, 'संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्पराएं, पृ० १७।

३. कपिलदेव, वही, पृष्ठ १९-२० सूर्यकान्त, ऋक्तन्त्र, भूमिका, पृ० ४३।

४. मीमांसक, वही, भाग २, पृष्ठ १२०; कपिलदेव, वही पृ० २३, २४।

तत्पश्चात् **पूर्वापराधर०** प्रभृति गणसूत्र[1]। इसकी पुष्टि कैयट द्वारा की गयी है। किन्तु लगता है कि कैयट ने भी भर्तृहरि के आधार पर ही लिख दिया है। **त्यदादीनि पठित्वा गणे कैश्चित् पूर्वादीनि पठितानि**[2]। उनके पास आपिशलगणपाठ नहीं था।

अथर्व प्रा० में **बृहस्पत्यादि** (१, १, ४) **व्यस्प्रादि** (१, १, ९) **अजिरादि** (१, २, ७), **अश्वादि** (३, ३, १५) **सत्रसहादि**, (३, ३, १९) प्रभृति अनेक गणपाठ ऐसे हैं, जिनसे गणशैली का विकसित रूप सामने आता है। व्याकरण की दृष्टि से वैसे भी अ० प्रा० बहुत विकसित है और पाणिनि के बहुत समीपस्थ प्रतीत होता है, किन्तु इसी कारण इसे पाणिनि से उत्तरकालिक मानना ठीक नहीं होगा[3]। गणशैली का विकसित रूप भरद्वाजशिक्षा में भी दृष्टिगोचर होता है, जहां **शीभादि** (श्लोक ५८) और **भेण्यादि** गणों का प्रतिपादन किया गया है (श्लोक ६३)। अपने वर्तमान रूप में **उणादि** सूत्रपाठ भी पाणिनि से उत्तरकालिक रचना है, तो भी मूलरूप में पूर्वपाणिनीय काल में उणादियों की सत्ता स्वयं पाणिनि के सूत्रों से प्रमाणित होती है। इसमें **अघ्न्यादि, अब्दादि, अलीकादि** २८ गणों का समावेश है, जो उस समय की गणशैली में शब्दसङ्कलन की अभिरुचि पर प्रकाश डालता है।

फिट्सूत्रों में भी **घृतादि** (११), **ग्रामादि** (३८), **कर्दमादि** (५९), **एवादि** (८३) तथा **वाचादि** जैसे आकृतिगणों की सत्ता से प्रमाणित होता है कि गणशैली पाणिनि से पूर्व त्रिकसित हो चुकी थी। यद्यपि **फिट्सूत्रों** को निश्चयपूर्वक पाणिनि से पूर्व प्रमाणित नहीं किया जा सकता, तो भी उन्हें पाणिनिकाल से अधिक दूर भी नहीं रखा जा सकता[4]।

स्वयं आचार्य पाणिनि के गणपाठ से भी प्राचीन गणपाठों की सत्ता के सङ्केत प्राप्त होते हैं। **यस्कादिगण** (पा० २, ४, ६२) में **पुष्करसत्** पाठ को लेकर हरदत्त ने पदमञ्जरी में यह विचार व्यक्त किया है कि सम्भवतः पाणिनि से प्राचीन किसी वैयाकरण ने अपने **गोपवनादि** गण में **तौल्वल्यादयश्च** वचन भी पढ़ा होगा, क्योंकि **तौल्वल्यादि-गण** में **पुष्करसत्** पठित है। अतः **न गोपवनादिभ्यः** (२, ४, ६७) से प्राप्त लुक् प्रतिषेध के बाधार्थ यस्कादिगण में पुष्करसत् शब्द पढ़ा गया है[5]। अन्यथा पाणिनिसूत्ररचना की दृष्टि से यह

---

१. म० भाष्यदीपिका, मीमांसक द्वारा उद्धृत, वही, पृष्ठ, १२२।

२. प्रदीप, म० भाष्य १, १, ३३।

३. द्र० कपिलदेव, वही, पृष्ठ २२-२३।

४. द्र० फिट्सूत्रज ऑफ़ शान्तनव, जी० वी० देवस्थली, पूना, १९६७, पृ० ३९-४२ ; किन्तु कपिलदेव, वही, पृ० २८-२९।

५. द्र० पदमञ्जरी, का० २, ४, ६३।

व्यर्थ है, क्योंकि इसका कार्य **ब्रह्म च इञः प्राच्यभरतेषु** (पा० २, ४, ६६) से ही सिद्ध हो सकता है।

इसी प्रकार **गौरादि** (पा० ४, १, ४१) के अन्त में **पिप्पल्यादयश्च** एक गणसूत्र है, जिससे **पिप्पल्यादि** नाम के किसी गण का निर्देश किया गया है, किन्तु पाणिनि ने अपने गणपाठ में पिप्पल्यादि का कहीं निर्देश नहीं किया, न ही उसकी पृथक् आवश्यकता ही है, क्योंकि **पिप्पल्यादि** में पठित शब्दों की सिद्धि **गौरादि से** ही हो जाती है, क्योंकि यह आकृतिगण है। अतः प्रतीत होता है कि **पिप्पल्यादि** किसी प्राचीन व्याकरण का सूत्र है और उसी ने ही इसका समावेश **पिप्पल्यादिगण** में कर दिया था। इसी प्रकार सूत्रपाठ और गणपाठ की और भी विशेषताएं हैं, जिनसे प्रकट होता है कि पाणिनि ने अपने से पूर्व किसी आचार्य के गणपाठ अथवा सूत्रपाठ का अनुसरण करते हुए अपने सूत्रों के अनुकूल इन गणों की रचना की थी अथवा गणपाठ के अनुरूप सूत्र-निर्माण किया था। दोनों में से किसी भी स्थिति को मानने पर उन गणों को सत्ता पाणिनि से पूर्व स्वतः सिद्ध हो जाती है[1]। कात्यायन और पतञ्जलि के निर्देशों से भी पूर्वपाणिनीय गणपाठों की सत्ता सिद्ध होती है।

पाणिनि के **गोत्रावयवात्** (४, १, ७९) पर विचार करते हुए कात्यायन ने **सिद्धं तु रौढ्यादिषूपसंख्यानम्** वार्तिक का निर्माण किया और इस प्रकार जिन शब्दों से 'ष्यङ्' आदेश अभीष्ट है, उनका समावेश **रौढ्यादिगण** में उपसंख्यानम् से करने का संकेत दिया है। किन्तु पाणिनीय गणपाठ में **रौढ्यादिगण** पढ़ा ही नहीं गया। म० भाष्य के अनुसार वर्तमान **क्रौड्यादि** गण को ही प्राचीन आचार्य **रौढ्यादि** कहते थे। किन्तु **रौढि** पद तो **क्रौड्यादि** में भी नहीं पाया जाता। जैन शाकटायन में **रूढादिगणं** आज भी विद्यमान है[2]। इससे प्रतीत होता है कि **रौढ्यादिगण** पूर्वपाणिनीय था, जिसे पाणिनि ने बदल दिया था। Cardona[3] को पवाटे के तर्कों ने प्रभावित नहीं किया, न ही अयाचित के तर्कों ने। वह मीमांसक की युक्तियों से प्रभावित होकर गणपाठ को पाणिनि की निजी कृति मानते हैं[4], क्योंकि पाणिनि ने अपने सूत्रों की रचना गणों को सामने रख कर ही की है, और इन गणों की क्रमव्यवस्था भी पाणिनि ने ही अपनी सूत्ररचना के अनुरूप ही रखी है अन्यथा गणपाठ और सूत्रों में सम्बन्धाभाव के कारण गणपाठों का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

---

१. कपिलदेव, वही, पृ० ३५-३६ ; I.S. Pawate, *Structure*, p. 86-92.

२. **रुधादिभ्यः** (शाक० १, ३, ४) ; पञ्चपादी १, १४४ ; दशपादी ७, ११।

३. *Pā. Survey*, p. 165.

४. मीमांसक, सं० व्या० शा० इ० भाग २, पृ० १४१-१४६।

इस प्रसंग में पा० १, १, ३४ पर म० भाष्य की चर्चा पर अनेक विद्वानों ने विचार-विमर्श किया है, यथा—ब्लूमफील्ड[१], पवाटे[२] सुब्रह्मण्य शास्त्री, पी० एस०[३], Birwe[४], कपिलदेव शास्त्री[५], Scharfe, H[६]।

पा० (६, १, ३०) तथा उणादियों में[७] चाक्रवर्मण का स्मरण किया गया है, जिन्होंने अपने व्याकरण में **द्वय** पद को भी सर्वनामों में गिनाया था[८]। किन्तु पा० सर्वादिगण में **द्वय** पद नहीं पढ़ा गया, अतः चाक्रवर्मण का कम से कम सर्वादिगण तो सिद्ध होता ही है।

वर्धमान ने गण-रत्नमहोदधि में शरदादिगण में 'पथिन्' पद के पाठ को व्यर्थ मान कर उसे वृद्धवैयाकरणों के मतानुसार पढ़ा है[९]। 'वृद्धवैयाकरण' से इनका अभिप्राय पाणिनि न होकर कोई और ही है, जिसके आधार पर पा० ने भी अपने शरदादिगण (५, ४, १०७) में चित्स्वर की दृष्टि से पथिन् शब्द का समावेश किया होगा।

पाणिनि का गणपाठ

पाणिनि ने अपने गणपाठ को सूत्रपाठ से पूर्व ही रूप प्रदान कर सुव्यवस्थित कर लिया था। इसके बहुत से प्रमाण अष्टाध्यायी वार्तिक तथा महाभाष्य से प्राप्त होते हैं।

१. **सर्वादीनि[१०] साक्षात्प्रभृतीनि च[११] सप्तमी शौण्डैः[१२]** में आदि अथवा

---

[१] *JAOS* 47, p. 61-70.

[२] स्ट्रक्चर पृ० ८८-९१।

[३] *Lectures on the M. Bhāṣya*, 1960, p. XVII-XVIII.

[४] *Der Gaṇapāṭha*, p. 24-26.

[५] संस्कृत व्या० में गणपाठ की परम्परा; *Gaṇapāṭha Ascribed to Pāṇini*, p. 266-267.

[६] *Pāṇini's Metalanguage*, p. 49-50.

[७] Ayachit, S. M., *Gaṇapāṭha, a Critical Study*, p. 55-61. See Birwe, Robert, *Der Gaṇapāṭha*, 1961, p. 2-3; मीमांसक, सं० व्या० शा०, द्वि० १३९।

[८] शब्दकौस्तुभ ((१, १, २७)।

[९] पृ० ८५।

[१०] पा० १, १, २७।

[११] पा० १, ४, ७४।

[१२] पा० २, १, ४०।

प्रभृति शब्द के प्रयोग से सिद्ध होता है कि गणपाठ के बिना ये सूत्र लिखे ही नहीं जा सकते थे[1]।

२. वे सूत्र इस विषय में प्रमाण हैं, जिनमें किसी गण की विशिष्ट आनुपूर्वी का पाठ किया गया, यथा—

अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः[2], **पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा**[3], **त्यदादीनि च**[4], **सर्वत्रलोहितादिकतन्तेभ्यः**[5] इनमें क्रमव्यवस्था के आभाव में यह सूत्र विशिष्ट शब्दों से विशिष्ट कार्यों का विधान कैसे कर सकते थे। **पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा** का कार्यक्षेत्र तो गण के क्रम के ज्ञान बिना सुनिश्चित हो ही नहीं सकता।

(३) कई सूत्रों में गण के सहारे विहित प्रत्ययविशेष के परे रहते हुए कार्यविशेष का विधान किया गया है। यथा—

प्रवाहणस्य ढे[6]—यहां प्रवाहण से ढक् प्रत्यय होने पर पूर्व को वृद्धि का विधान है और यह ढक् **शुभ्रादिभ्यश्च**[7] से **शुभ्रादिगण** में पठित **प्रवाहण** शब्द के बल पर ही सम्भव है, अतः इस सूत्र के निर्माण से पूर्व **प्रवाहण** का पाठ **शुभ्रादिगण** में अनिवार्य था।

(४) कुछ सूत्र किन्हीं गणों में पठित अवान्तर गणों का निर्देश करते हैं, यथा—**लोहितादिकतन्तेभ्यः**[8] में निर्दिष्ट लोहितादि गण के अन्तर्गत **कण्वादि**[9] भी निर्दिष्ट है।

(५) कुछ सूत्रों में निर्दिष्ट गणों के अन्तर्गत शब्दों से विहित कार्य का किसी अन्य गण में विहित कार्य से सम्बन्ध रहता है, यथा—**शुण्डिकादिभ्योऽण्**[10] में पठित शुण्डिकादि शब्दों को **प्राग्दीव्यतोऽण्**[11] से अण् प्राप्त था। किन्तु कुछ शब्दों में पूर्वविहित ढक्। 'उदपान' शब्द का **उत्सादिगण** में पाठ होने से **अञ्**

---

[1] कपिलदेव, वही, पृ० ३८-३९।
[2] पा० ७, १, २५।
[3] पा० ७, १, १६।
[4] पा० १, १, ७४।
[5] पा० ४, १, १८।
[6] पा० ७, ३, २८।
[7] पा० ४, १, १२३।
[8] पा० ४, १, १८।
[9] पा० ४, २, १११।
[10] पा० ४, ३, ७६।
[11] पा० ४, १, ८३।

'तीर्थ' शब्द का **धूमादिगण**[१] में पाठ होने से **वुञ्** आदि प्राप्त थे, किन्तु उपर्युक्त सूत्र में केवल **अण्** का ही विधान किया गया है, अतः इससे पूर्व **उत्सादि** तथा **धूमादिगणों** की व्यवस्था का होना आवश्यक है।

(१) वार्तिककार ने अपने वार्तिकों में अष्टाध्यायी का वार्तिकों से साक्षात् सम्बन्ध अनेकत्र व्यक्त किया है। यथा—

(क) **अवरादीनां पुनः सूत्रपाठे ग्रहणानर्थक्यं, गणे पठितत्वात्**[२]।

(ख) **लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् वचनम्, भृशादिष्वितराणि**[३]।

(२) गणों में पठित शब्दों पर वार्तिककार के विचार से प्रकट होता है कि गण पूर्व ही विद्यमान थे। यथा—

भिक्षादिषु युवतिग्रहणानर्थक्यम्। पुंवद्भावस्य सिद्धत्वात् प्रत्ययविधौ[४] तथा **'बिल्वादिषु' गवीधुकाग्रहणं मयट् प्रतिषेधार्थम्**[५]।

(३) कई गण-पाठों में शब्दों की न्यूनता को पूरा करने का प्रयास किया गया है—**मरुच्छब्दस्योपसंख्यानम्**[६]। **श्वच्छब्दस्योपसंख्यानम्**[७]।

अतः सिद्ध होता है कि कात्यायन सूत्रकार और गणकार को एक ही मानते थे। पतञ्जलि ने भी गणपाठों को पाणिनीय ही स्वीकार किया है।

(क) **एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नोदात्तनिवृत्तिस्वरः शुन्यवतरति, यदयं श्वन्-शब्दं गौरादिषु पठति**[८]।

(ख) **एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न तद्विशेषेभ्यो भवति यदयं विपाट्शब्दं शरत् प्रभृतिषु पठति**[९]।

---

१. पा० ४, २, १२७।
२. म० भा० नवाह्निक १, ३, ३३।
३. म० भा० ३, १, १३।
४. म० भा० ४, २, ३८।
५. म० भा० ४, ३, १३४।
६. म० भा० १, ४, ५९।
७. म० भा० १, ४, ५९।
८. म० भा० १, ४, २ ; ६, ४, २२।
९. म० भा० १, १, २२।

न्यासकार ने गणपाठ को अपाणिनीय घोषित किया है[1], किन्तु जब वह गणकार की त्रुटियों को यह कह कर टालने का प्रयास करता है कि— **गणकारेणापि हि किं न कृतम् ? वैचित्र्यार्थम् । विचित्रा हि गणस्य कृतिर्गणकारेण**[2], तो निश्चय ही यही समाधान पाणिनि के पक्ष में भी दिया जा सकता है । उसने स्वयं यही समाधान सूत्रकार के लिये दिया भी है ।

ङे प्रथमयोरम् (पा० ७, १, २८) सूत्र पर न्यासकार ने लिखा है कि पाणिनि ने **ङे सुटोरम्** ऐसा लघुन्यास न करके **ङे प्रथमयोरम्** ऐसा सूत्र वैचित्र्यार्थ किया है[3] । इसी प्रकार आई० एस० पवाटे का यह निर्णय भी अप्रामाणिक है कि अष्टाध्यायी के कर्ता ने गणपाठ और धातुपाठ दोनों को अपने पूर्वाचार्यों से उपदेश के रूप में प्राप्त किया था[4] । किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सूत्रपाठ के समान ही गणपाठ भी पाणिनि की प्रोक्त रचना है, कृत नहीं । अर्थात् पूर्वाचार्यों तथा वैयाकरणों से भाषा के अध्ययनार्थ धीरे-धीरे संगृहीत एवं सङ्कलित शब्दों के परिशीलन से अनुलक्षित नियमों का पुनर्मूल्यांकन करके अपने अपार वैदुष्य तथा विशाल अध्ययन के सहारे उसमें परिवर्तन-परिवर्धन करके पाणिनि ने नवीन कलेवर प्रदान किया है, नवनिर्माण नहीं किया । अतः स्वाभाविक है कि इस व्याकरण में प्राचीन आचार्यों द्वारा सङ्कलित सामग्री तथा उसके विश्लेषण के नियमों को आधार मान कर ही अष्टाध्यायी का विशाल भवन तैयार किया है, जैसे कि हरदत्त ने स्पष्ट कहा भी है कि पाणिनि के व्याकरण का साक्षात् उपजीव्य ग्रन्थ आपिशलि का व्याकरण था[5] ।

गण दो प्रकार के माने जाते हैं **पठितगण** और **आकृतिगण** । **आकृतिगण** उन्हें कहते हैं, जिनमें प्रयोगों की समानता के आधार पर शब्दों का सन्निवेश किया जाये । वर्धमान ने आकृतिगण की परिभाषा **आकृत्या आकारेण लक्ष्यते सः आकृतिगणः** की है[6] । इसमें समय-समय पर आवश्यकतानुसार वृद्धि की जाती है । इसीलिये इन गणों में उपलक्षण के रूप में कतिपय शब्दों का ही संग्रह किया जाता

---

[1] का० पा० ४, १, १०६ ; ५, ३, २ ; ५, ३, ११७ ।

[2] का० पा० ४, १, १०६ ; ५, ३, ११७ पर न्यास ।

[3] **ङे सुटोरिति वक्तव्ये ङेप्रथमयोरिति वचनं वैचित्र्यार्थम्** (न्यास, का० ७, १, २८) ।

[4] 'स्ट्रक्चर०' पृ० ९१ ; द्र० धा०.पा० प्रकरण तथा 'गणपाठ, ए क्रिटिकल स्टडी, एस० एम० अयाचित, आई० एल० २२, पृ० १-६१ ।

[5] **कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिना अवगतमेते साधव इति, आपिशलेन व्याकरणेन ··· ··· पदमञ्जरी ।**

[6] गणरत्नमहोदधि पृ० ४३ ।

हैं, समान शब्दों की पूरी गणना नहीं की जाती। इसीलिये समय-समय पर इन गणों में व्याख्याकारों तथा वृत्तिकारों द्वारा प्रक्षेप भी किया जाता रहा है और इस वृद्धि की होड़ में उत्तरकालीन वैयाकरणों ने बहुत से पठित गणों को भी आकृतिगण मान लिया[1]। हेमचन्द्र तथा वर्धमान ने यथासम्भव विस्तृत शब्द-समूह को तत्सम्बद्ध आकृतिगणों में समाविष्ट करके अन्य अपठित शब्दों की सिद्धि के लिए उन पठितगणों को भी आकृतिगण मान लिया[2], यथा वर्धमान के तस्करादि तथा पृषोदरादिगण, जिनमें विशाल शब्द-समूह इसी प्रकार भर लिया गया है। इन आकृतिगणों का उपयोग विविध प्रकार से किया गया, यथा—

(क) अव्ययों और निपातों को स्वरादि तथा चादिगणों की आकृतिगणता के आधार पर **स्वरादि निपातमव्ययम्**[3] तथा **चादयोऽसत्त्वे**[4] जैसे छोटे-छोटे सूत्रों द्वारा निर्दिष्ट किया गया।

(ख) पात्रे समितादि, मयूर व्यंसकादि तथा राजदन्तादि गणों की सहायता से **पात्रेसमितादयश्च**[5], **मयूरव्यंसकादयश्च**[6] तथा **राजदन्तादिषु परम्**[7] जैसे सूत्रों से व्याकरण के सूत्रों से सिद्ध न हो सकने वाले शब्दों की साधुता स्वीकार कर ली गयी।

(ग) अनन्त तद्धितान्त शब्दों की **शिवादि** तथा **शुभ्रादिगणों** में कल्पना करके **शिवादिभ्योऽण्**[8] तथा **शुभ्रादिभ्यश्च**[9] सूत्रों से सिद्धि कर ली गयी।

(घ) अनन्त शब्दों में व्याकरण की दृष्टि से अप्राप्त, किन्तु अभीष्ट अन्तोदात्त तथा आद्युदात्त शब्दों को क्रमशः **उञ्छादीनाञ्च**[10] तथा **वृषादीनाञ्च**[11] में सन्निविष्ट करके सिद्ध करने में समर्थ होते हैं।

---

१. गणरत्न० ··· ··· तेनापरिमितशब्दसमूहः।

२. द्र० **श्रेण्यादिगण**, हैमबृहद्वृत्ति ३, १, १०३ ; गणरत्न० पृ० ८५।

३. पा० १, १, ३७।

४. पा० १, ४, ५७।

५. पा० २, १, ४८।

६. पा० २, १, ७२।

७. पा० २, १, ३१।

८. पा० ४, १, ११२।

९. पा० १, १, १२३।

१०. पा० ६, १, १५६।

११. पा० ६, १, १९९।

(ङ) सर्वथा अव्याकृत शब्दों को पृषोदरादिगण में सन्निविष्ट करके **पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्**[1] इस एक सूत्र से सिद्ध कर दिया है[2] ।

पठितगण:—उन सूत्र-संकेतित शब्द-समूहों को कहते हैं, जिनमें उस सूत्र-विशेष में निर्दिष्ट कार्यार्थि शब्दों की पूर्णसूची स्वयं गणकार द्वारा दी जाती है। यथा—सर्वादि, स्वस्रादि, कथादि गण। इनमें सूत्रकार द्वारा ही अपेक्षित शब्दों को व्यवस्थित कर देने के कारण अन्य-शब्दों का समावेश नहीं किया जा सकता। इसी लिए इनको **नियतगण** भी कहते है। कहीं-कहीं नियतगणों से **'च'** शब्द लगाकर आकृतिगण माना जाता है। पाणिनि के गणों के शब्दक्रम के निर्धारण में उन गणों से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले प्रमुख सूत्रों के अतिरिक्त उस गण के अन्तर्गत कुछ-एक शब्दों का अन्य सूत्रों के साथ भी सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए उन शब्दों में क्रमपठित शब्दों के साथ 'आदि' लगा दिया जाता है। मुख्यगण के भीतर इन अवान्तर शब्दसमूहों को **अवान्तरगण** कहते हैं, तथा उन-उन अन्य सूत्रों द्वारा विहित कार्य को भी प्राप्त होते हैं और मुख्यगण-सम्बन्धी सूत्र द्वारा विहित कार्य को भी। सर्वादि के अन्तर्गत डतरादि, पूर्वादि, त्यदादि तथा द्वयादि चार अवान्तरगण हैं।

बिदादिगण के अन्तर्गत **गोपवनादिगण** तथा **हरितादिगण** भी अवान्तरगण ही हैं। पुरातन काल में तो धातुपाठ, गणपाठ प्रभृति समस्त खिलपाठ, शब्दानुशासन के अन्तर्गत ही पठित होते थे, किन्तु उत्तरकाल में सम्भवतः शब्दानुशासन में लाघव लाने के हेतु और शीघ्रता से सूत्रों को आत्मसात् करने के लिए इनको सूत्रपाठ से पृथक् कर दिया गया। फलस्वरूप इन खिलपाठों को गौण समझकर इनके अध्ययन-अध्यापन की रुचि में ह्रास होने लगा। धातुपाठ और उणादिपाठ का पठन-पाठन तो कुछ-कुछ चलता भी रहा, किन्तु गणपाठ की सर्वथा उपेक्षा होने लगी और क्रमशः गणपाठ उच्छिन्न होने लगा। गणपठित शब्दों के अर्थ भी लुप्त हो गये, यहाँ तक कि गणपाठों पर प्राचीन व्याख्यायें तो अप्राप्य हो गयीं, नवीन के लिखने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर नहीं होती। शुद्धपाठ के अभाव में आज गणपाठ अत्यन्त दुरवस्था में उपलब्ध होते हैं। इसी कारण काशिकाकार को गणपाठ का यथासम्भव संशोधन करके अपनी वृत्ति का अङ्ग बनाना पड़ा। इसी लिए इन्होंने अपनी रचना की भूमिका में 'शुद्धगण।' विशेषण रखा है[3]। इसी प्रयत्न में काशिकाकार ने लिखा—**एतावता एवाष्टौ गोपवनादयः परिशिष्टानां हरितादीनां प्रमादपाठः**[4]—अर्थात् गोपवनादि आठ शब्द ही इस गण में अभीष्ट हैं, शेष 'हरित' आदि प्रमादपठित हैं।

---

[1] पा० ६, ३, १०९ ।

[2] विस्तारार्थ द्र० कपिलदेव, वही पृ० ६२-६३ ।

[3] द्र० पदमञ्जरी, भूमिका, पृ० ५, वाराणसी सं० १९६५ ।

[4] का० पा० २, ४, ६७ ।

गणों के मध्य में कई स्थलों पर अनेक ऐसे वाक्य उपलब्ध होते हैं, जिनको 'गणवाक्य या गणसूत्र कहा जाता है। ये अपाणिनीय हैं, क्योंकि गणवाक्यों तथा सूत्रपाठों में अनेक पुनरुक्तियां उपलब्ध होती हैं और इन गणवाक्यों के रहते अनेक सूत्र सर्वथा अनावश्यक प्रतीत होते हैं, यथा—सर्वादिगण में ये तीन वाक्य गणसूत्रों के रूप में विद्यमान हैं—**पूर्वापरदक्षिणोत्तराधराणि; स्वमज्ञाति०** तथा **अन्तरं बहिर्योगोपसंख्यानयोः।** इनके रहते इसी प्रकरण में इसी शब्दावली में पठित तीन पा० सूत्रों[1] की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार स्वरादि गण में पठित गणसूत्रों तथा पाणिनीय सूत्रों की भाषा में पर्याप्त साम्य पाया जाता है। **षिद्गौरादिभ्यश्च**[2] के पूरक गौरादिगण में एक गणसूत्र है, **पिप्पल्यादयश्च**, जिसके रहते हुए गौरादिगण पुनरुक्त होकर व्यर्थ हो जाता है। इसी प्रकार **नन्दादिगण**[3] के साथ-साथ 'नन्दन' प्रभृति शब्द और ग्रह्यादि गण में **याचिव्याहृ०** तथा **अचामचित्तकर्तृकाणाम्** इन दो गणसूत्रों के साथ साथ अयाची अव्याहारी प्रभृति उदाहरण भी पठित हैं, जो सर्वथा अनावश्यक हैं। अतः ये गणसूत्र पाणिनि विहित नहीं हो सकते[4]। सम्भवतः ये किसी प्राचीन आचार्य के व्याकरण के विभिन्न सूत्र हैं, जिनके उदाहरण किसी प्रकार पाणिनीय गणपाठ में सम्मिलित हो गये[5]।

पाणिनीय सूत्रों को स्पष्ट करने तथा किन्हीं सूत्रों की त्रुटिपूर्ति करने के लिए वार्तिककार तथा श्लोक-वार्तिककार ने पाणिनीय गणों के अतिरिक्त भी अनेक गणों का निर्धारण किया है[6], जिनको चन्द्रगोमी प्रभृति वैयाकरणों ने तथा गणरत्नमहोदधि के कर्ता वर्धमान ने अपने गणपाठों में समाविष्ट करके अपने सूत्रपाठों में भी इनका उपयोग किया है[7]। शाकपार्थिवादि गण[8], सम्पदादि गण[9], शकन्ध्वादिगण[10] प्रभृति अनेक गण इसी प्रकार के हैं, जो

---

[1] पा० १, १, ३४-३६।   [2] पा० ४, १, ४१।

[3] पा० ३, १, १३४।

[4] पा० ३, १, १३४।

[5] द्र० नागेश ·········हेतुमति चेत्यत्र वार्तिकमिदं गणसूत्रं प्रामाणिकम् (म० भा० ३, १,२१) तथा ३, १, २६ पर प्रदीपोद्योत)।

[6] यदि हम इनका प्रक्षेप स्वयं पाणिनिकृत मानें (द्र० कपिलदेव, वही पृ० ८९), तब तो उन्हें अपाणिनीय नहीं कहा जा सकता। क्या स्वयं पाणिनि अपने ही सूत्रों के व्यर्थीकरण के दोषी थे ?

[7] कपिलदेव ९६-९७।

[8] म० भा० २, १, ६८।

[9] म० भा० ३, ३, १०८।

[10] म० भा० ६, १, ९३।

बाद में पाणिनीय गणपाठ में मिलजुल गये हैं। Harmut Scharfe (*Gr. Lit.* P. 103) ने पा० ग० पा० के पाणिनीय होने पर सन्देह किया है। उनके अनुसार यदि ग० पा० पा० का रचा होता और गणपाठ सुनिश्चित होता, तो 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' (पा० ७, १, १६) 'तथा षट् च काण्डादीनि' जैसे सूत्रों में पठित 'पूर्व' तथा 'काण्ड' शब्द 'पूर्वार्ध' तथा 'काण्डादि' के आरम्भ में होने चाहियें थे, किन्तु ये क्रमशः अर्धर्चादि तथा बिल्वादि गण में पठित हैं। अतः पा० के काल में गण सुनिश्चित नहीं थे।

गणपाठ के व्याख्याता

हमने देखा है कि धातुपाठ की अनेकों वृत्तियां लिखी गयी हैं। यह बात गणपाठ के विषय में नहीं कही जा सकती। पाणिनि ने सर्वप्रथम गणपाठ की व्याख्या लिखी प्रतीत होती है[1]। पा० गणपाठ में आये निपातों एवं उपसर्गों की व्याख्या कुछेक विद्वानों ने लिखी थी[2]। **निपाताव्ययोपसर्गवृत्ति** क्षीर स्वामी की रचना है। इन्हीं की लिखी **गणवृत्ति** भी उल्लेखनीय है[3]। एक **गणवृत्ति** पुरुषोत्तम देव की भी है[4]। गणव्याख्यान नाम के ग्रन्थ के उदाहरण मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओं में दिये हैं[5]। भट्टोजि दीक्षित[6] तथा नागेश भट्ट ने एक श्लोक में गणकार के मत उद्धृत किये हैं, जो वर्धमान से भिन्न हैं[7]।

सन् १८७४ में भट्ट यज्ञेश्वर ने पा० गणपाठ की छन्दोबद्ध रचना संक्षिप्त व्याख्या-सहित 'गणरत्न' के नाम से लिखी है, जो वर्धमानकृत गणरत्नमहोदधि के अनुकरण पर है। किन्तु पा० मत की दृष्टि से वर्धमान के मतों का खण्डन भी किया है। कहीं-कहीं वार्तिकों में पठित गणों का समावेश और शाकटायन आदि कृत व्याख्या के गणपाठों का भी उल्लेख किया गया है।

अन्य पाणिनीयेतर व्याकरणों के गणपाठ भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें पा० गणों को बहुशः अपनाया गया है। पाल्यकीर्ति तथा हेमचन्द्र ने कात्यायन

---

[1] कपिलदेव, वही, पृ० १०१।

[2] सिस्टम्स, पृ० ५१।

[3] सिस्टम्स, वही।

[4] भाषावृत्ति, भूमिका, पृ० १, श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती।

[5] रघु० ८, ४८; किरात० २, ३०; शिशु० १,३९; माध० धा० वृ० पृ० ४१६; ५२८।

[6] श० कौ० ३, १, १८।

[7] लघु० शब्द०, उत्तरार्ध, पृ० ५६४।

के वार्तिकों में उल्लिखित गणों को अपने गणपाठ में स्थान दिया है। भोज ने अपने से पूर्ववर्ती सभी गणपाठों का संग्रह पाठ-भेदों-सहित सरस्वतीकण्ठाभरण में किया है, जिसमें चन्द्रगोमी का अनुकरण अधिक किया गया है, किन्तु कहीं-कहीं अपना नवीन मार्ग भी अपनाया गया है[1]।

इन सबमें सर्वोत्तम तथा अनुपम रचना वर्धमान की गणरत्नमहोदधि है, जो ११४० में रची गयी। यह किसी अज्ञात व्याकरण से सम्बद्ध है और छन्दोबद्ध है। इसमें प्राचीन वैयाकरणों के मतों का उल्लेख किया गया है (द्र० कपिलदेव, पृ० १३०-१३६) और यथावसर उन गणों में परिवर्तन-परिवर्धन भी किया गया है।

पा० गणपाठ के अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं—

(१) बोह्तलिङ्क द्वारा स्वसम्पादित सूत्रपाठ के संस्करण में (१८८७)।
(२) पणशीकर द्वारा स्वसम्पादित सिद्धान्तकौमुदी में (१९१३)।
(३) एस० सी० चक्रवर्ती द्वारा स्वसम्पादित भाषा वृत्ति में।
(४) पाठक-चित्राव द्वारा स्वरचित पाणिनि-शब्दकोश के अन्तर्गत (१९३५)।
(५) गोपाल शास्त्री नेने द्वारा स्वसम्पादित सिद्धान्तकौमुदी के अन्तर्गत (१९५८-६१)।
(६) गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी तथा परमेश्वरानन्द द्वारा स्वसम्पादित सिद्धान्तकौमुदी के अन्तर्गत (१९५८-६१)।

'गणपाठ' के विषय में पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है। द्येन (Dyen Isidore)[2] ने गणपाठों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। बिर्वे[3] (Birwe, Robert) ने भी अष्टाध्यायी के तीन अध्यायों का विशाल अध्ययन किया है। कपिलदेव शास्त्री[4] (१९६७) तथा शैलेन्द्र नाथ सेनगुप्त[5] का अध्ययनक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत रहा है।

---

[1] विस्तार के लिये द्र० कपिलदेव वही पृ० १०६-१३०।

[2] *Sanskrit Indeclinables of Hindu Grammarians and Lexicographers*, 1939.

[3] *Der Gaṇapāṭha zu den Aṣṭadhyāyī* IV-VI *der Grammatik Pāṇinis*, 1961, Wiesbaden.

[4] संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि।

[5] *Contributions Towards a Critical Edition of Gaṇapāṭha*, 1961.

परिभाषा-पाठ

परिभाषा किसी भी व्याकरण-तन्त्र का अभिन्न अंग होती है। परिभाषा का लक्षण है **अनियमे नियमकारिणी परिभाषा**। परिभाषाएं सामान्यतः दो प्रकार की होती हैं। एक तो सूत्रों में पठित (**वाचनिक**), जिसके कारण वे सूत्र **परिभाषा-सूत्र** के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं, दूसरी वे, जो सूत्रों से ज्ञापित होती हैं उन्हें **ज्ञापन-सिद्धा परिभाषा** कहते हैं। या लौकिक न्यायों पर आश्रित **न्यायसिद्धा** परिभाषाएं हैं, जो या तो कात्यायन के वचनों पर आधृत हैं या पतञ्जलि के वचनों पर अथवा लौकिक न्यायों पर आधृत हैं। परिभाषा-पाठों में पाणिनीय सूत्रों में अनिर्दिष्ट परिभाषाएं संकलित की गयी हैं।

इन परिभाषाओं के विषय में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या इन्हें पाणिनि ने मान कर इनको ध्यान में रख कर अपने सूत्रों की रचना की थी अथवा पश्चात्कालिक व्याख्याकारों द्वारा इनकी कल्पना की गयी है। यदि ये कात्यायन से पूर्वकालिक हैं, तो क्या इन्हें पूर्वपाणिनि भी कहा जा सकता है? कीलहार्न[1] की मान्यता थी कि इनमें से अधिकांश पूर्व पाणिनीय हैं और पा० ने इन्हें ज्यों का त्यों मान लिया था। बेल्वल्कर,[2] प्रभात चक्रवर्ती[3], देवस्थली[4] ने कीलहार्न से सहमति व्यक्त की। गोल्डस्टुकर का विचार था कि इनमें से अधिकांश पा० के बाद, किन्तु कात्यायन से पूर्व रची गयी थीं[5]। बुइस्कूल (Buiskool)[6] के विचार में ऐसी समस्त सामग्री, जो प्रातिशाख्यों में उपलब्ध नहीं होती, कात्यायन तथा पतञ्जलि के मध्य में आविर्भूत हुई। के० वी० अभ्यङ्कर[7] इनको पूर्वपतञ्जलि मानते हैं, क्योंकि व्याडिकृत 'परिभाषा सूचन' पतञ्जलि से प्राचीन है। कार्डोना[8] के अनुसार इस विषय में कोई सामान्य नियम न बनाकर प्रत्येक परिभाषा पर पृथक्-पृथक् विचार करना अधिक श्रेयस्कर होगा।

परिभाषाओं का सर्वप्राचीन संग्रह व्याडि-कृत **परिभाषासूचनम्** तथा **व्याडिपरिभाषापाठः** में प्राप्त होता है। इन में परस्पर पर्याप्त भेद

---

१. परिभाषेन्दु०, भूमिका, पृ० XXI-XXII, १८७४ ।

२. सिस्टम्स, पृ० ९५ ।

३. फिला० सं० ग्रा०, १९३०, पृ० ७१ ।

४. परिभाषा आर० एन० दाण्डेकर अभिनन्दन ग्रन्थ (*Festschrift*) पृ० १-१३ ।

५. पाणिनि, पृ० १०९-११८ ; १८६१ ।

६. त्रिपादी, पृ० ३९ ; पूर्वत्रासिद्धम्, पृ० ५३-८० ।

७. परिभाषेन्दु० पृ० ४ ।

८. पाणिनि०, पृ० १६८ ।

है। प्रथम पाठ में ९३ परिभाषाएं हैं और द्वितीय में १४०। पुरुषोत्तमदेव की परिभाषा-वृत्ति में १२० परिभाषाएं हैं, जो व्याडि के पाठ अनुसार ही हैं। सीरदेव की परिभाषा-वृत्ति में १३९ परिभाषाएं हैं। **परिभाषेन्दुशेखर** में नागेश भट्ट की भी १३३ परिभाषाएं हैं, किन्तु इनका क्रम सीरदेव के क्रम से भिन्न है।

व्याडि के नाम से प्रसिद्ध **परिभाषा-सूत्रों** के हस्तलेख उपलभ्य हैं। इस रचना की शैली तथा प्रतिपाद्य से प्रतीत होता है कि इसकी रचना **महाभाष्य** से कुछ समय पूर्व हुई है।

पुरुषोत्तमदेव की **लघु-परिभाषा-वृत्ति** में १२० परिभाषाएं हैं, जो व्याडि तथा शाकटायन के अनुसार हैं। इन्हीं की एक दूसरी वृत्ति **परिभाषा-पाठ** में परिभाषाओं की तालिका मात्र दी गयी है, जो परिभाषा-वृत्ति से भिन्न हैं। इसमें ९५ परिभाषाओं को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। ये मुख्यतः कातन्त्र-व्याकरण के अनुसार हैं[1]।

सीरदेव ने अपनी **बृहत्-परिभाषा-वृत्ति** की रचना की, जो एक विद्वत्तापूर्ण एवं आलोचनात्मक कृति है। पुरुषोत्तमदेव के समान ही यह भी प्राच्य विद्वान् थे और **न्यास, तन्त्र-प्रदीप, भाषा-वृत्ति, परिभाषावृत्ति, अनुन्यास** प्रभृति प्राच्य परम्परा की सभी कृतियों से पूर्णतया परिचित थे। इन्होंने अपनी परिभाषाओं का क्रम महाभाष्य में उल्लिखित परिभाषाओं के अनुसार ही रखा है। परिभाषाओं की व्याख्या करके इन्होंने १० ऐसी परिभाषाएं दी हैं, जो **महाभाष्य** में नहीं पायी जाती हैं, किन्तु प्राचीन परिभाषा-कृतियों में पाये जाने तथा महत्त्वपूर्ण होने के कारण जिनका समावेश अनिवार्य समझा गया। सीरदेव पुरुषोत्तमदेव के बाद हुए हैं। पुरुषोत्तमदेव लक्ष्मणसेन के राज्यकाल में थे। इसीलिए उनका काल १२वीं शती का उत्तरार्ध हैं और सीरदेव १२वीं के अन्त में तथा १३वीं शती के प्रारम्भ में माने जाते हैं[2]।

सीरदेव की रचना का संक्षिप्त रूप हरिभास्कर अग्निहोत्री ने अपनी रचना परिभाषा-भास्कर में दिया है। जबकि नीलकंठ दीक्षित ने केवल ११० परिभाषाओं पर एक लघु रचना का **नव-निर्माण** किया। इस प्रकार परिभाषाओं के तीन सम्प्रदाय लक्षित होते हैं—

---

[1] के० वी० अभ्यङ्कर, परिभाषेन्दुशेखर, पूना, भूमिका, पृ० ६, १९६२।

[2] अभ्यङ्कर, वही, पृ० ७; मीमांसक, सं० व्या० शा०, भाग १, पृ० २८७।

(१) व्याडि-शाकटायन प्रभृति की परम्परा।
(२) कातन्त्र की परम्परा।
(३) पुरुषोत्तमदेव की परम्परा।

सभी आधुनिक वैयाकरण तृतीय परम्परा के अनुयायी हैं। **नागेश भट्ट** ने परिभाषाओं की व्याख्या १७१० ई० के बाद लिखी, जबकि अन्य सभी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना कर चुके थे। नागेश ने १३३ परिभाषाओं पर **परिभाषेन्दुशेखर** की रचना की। इसमें परिभाषाओं का क्रम प्रायः पुरुषोत्तम देव के परिभाषा-पाठ के अनुसार ही है। इन्होंने ४२ परिभाषाएं इसमें जोड़ी हैं, जिनमें से ११ परिभाषाओं का स्रोत अज्ञात है। नागेश ने प्रत्येक परिभाषा का अर्थ, विवरण, उदाहरण तथा प्राचीन मतों की समीक्षा देकर अन्त में विविध प्रकार की परिभाषाओं का भेद दर्शाया है। परिभाषाओं के ज्ञानार्थ यह सर्वोत्तम ग्रन्थरत्न है। इस पर अनेक टीकाएं रची गयी हैं। वैद्यनाथ पायगुण्डे की **जया**, भैरव मिश्र की **भैरवी**, राघवेन्द्राचार्य की **त्रिपथगा**, यागेश्वर शास्त्री की **हैमवती**, रामकृष्ण शास्त्री (तात्या शास्त्री) की **भूति** तथा जयदेव मिश्र की **विजया** उल्लेखनीय हैं।

लिंगानुशासन

लिंगानुशासन भी प्राचीन वैयाकरणों द्वारा व्याकरण-शास्त्र का एक अभिन्न अङ्ग माना जाता है। यह पाणिनीय-व्याकरण के पञ्चम अङ्ग के रूप में प्रसिद्ध है, तो भी कई-एक ऐसे भी लिङ्गानुशासन हैं, जो किसी व्याकरण-शास्त्र से सम्बद्ध न होकर सर्वथा स्वतन्त्र रचनाएं हैं, यथा, हर्षवर्धन तथा वामन के **लिङ्गानुशासन**। वामन, हेमचन्द्र, हर्षवर्धन के प्रमाणों से सिद्ध होता है कि पाणिनि से उत्तरवर्ती प्रसिद्ध संग्रहकार व्याडि-विरचित एक विस्तृत **लिङ्गानुशासन** प्रसिद्ध था[1]। जो पाणिनीय **लिङ्गानुशासन** आजकल उपलब्ध है, उसके विषय में कीथ का यह मत सर्वथा अमान्य है कि यह इतना प्राचीन नहीं हो सकता[2], क्योंकि कात्यायन और पतञ्जलि भी इससे परिचित प्रतीत होते हैं, जिसकी पुष्टि जिनेन्द्रबुद्धि तथा हरदत्त ने भी की है[3] कि यह सूत्ररूप में ही था। इसमें लिंगभेद-विषयक कोई दार्शनिक अथवा मौलिक विचार प्रस्तुत नहीं किये गये हैं। यह तो एक सूचीमात्र है, जिसका सीमित मूल्य है। इसका पाठ अतिभ्रष्ट है, वैसे इस पर भट्ट उत्पल, रामचन्द्र, भट्टोजि दीक्षित, नारायण भट्ट, नारायण सुधी तथा तारानाथ तर्कवाचस्पति की व्याख्याएं उपलब्ध हैं[4]।

---

१. वामनकृत लिंगानुशासन, श्लोक ३१; हर्षवर्धन-प्रोक्त लिंगानुशासन, श्लोक ८७; हेमचन्द्रविरचित लिंगानु० विवरण, पृ० १०३।

२. सं० सा० इ० हिन्दी अनु०, पृ० ५१३।

३. द्र० मीमांसक, वही, पृ० २२६।

४. वही, पृ० २२७-२२८।

विंश अध्याय

उणादि तथा फिट् सूत्र

उणादिसूत्र

व्याकरणशास्त्र के अनुसार शब्द दो प्रकार के हैं—**रूढ़** तथा **यौगिक**। **रूढ़** शब्द **अव्युत्पन्न** होते हैं अर्थात् उनके प्रकृति-प्रत्यय प्रभृति का निश्चय नहीं किया जा सकता। **यौगिक** शब्द **व्युत्पन्न** कहलाते हैं और उनके प्रकृति-प्रत्यय स्वर-संस्कार प्रभृति का निश्चय-पूर्वक निर्धारण किया जा सकता है। निरुक्त के साक्ष्यानुसार प्राचीन काल से ही इन दोनों पक्षों के समर्थक आचार्य अपने-अपने मतों को पुष्ट करने के लिए अनेक प्रकार के हेतु प्रस्तुत करते चले आ रहे हैं। उनमें निरुक्त के सिद्धान्त को मानने वाले तथा आचार्य शाकटायन सभी शब्दों को व्युत्पाद्य मानते थे और सभी नामों को **धातुज** सिद्ध करने में संलग्न थे। दूसरी ओर वैयाकरणों का एक पक्ष तथा आचार्य गार्ग्य सभी नामों को **धातुज** मानने के पक्ष में नहीं थे। पाणिनि वैयाकरण-सम्प्रदाय के अनुयायी थे तथा समन्वयवादी आचार्य थे; अतः उन्होंने दोनों पक्षों को प्रश्रय दिया।

इनमें से पहले पक्ष के समर्थकों ने **उणादि** सूत्रों का निर्माण किया, जिनके, प्रमुख सूत्र में उण् प्रत्यय के विधान के कारण उनको **उणादि** कहा जाता है। पाणिनि भी उणादियों से अवश्य परिचित थे, जैसा कि उनके कई सूत्रों से प्रमाणित होता है[1]। किन्तु उणादियों के निर्माता कौन थे, इस विषय में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। मैक्समूलर तथा औफ्रेख़्त के अनुसार सभी उणादियों की रचना स्वयं पाणिनि ने की थी। गोल्डस्टुकर की सम्मति में पा० ने कुछ-एक उणादिसूत्रों का निर्माण किया था, किन्तु अपने वर्तमान रूप में उणादि किसी उत्तरकालीन वैयाकरण की कृति हैं, जो प्रत्येक शब्द को यौगिक मानता था। तेरहवीं शती के लेखक विमल ने इनका कर्ता वररुचि कात्यायन को माना है, जबकि नागेशभट्ट प्रभृति अन्य विद्वान् इनको पूर्व-पाणिनीय आचार्य शाकटायन की कृति समझते हैं, जो न केवल पा० अपितु यास्क से भी पूर्ववर्ती थे।

---

[1] **उणादयो बहुलम्** (३, ३, १) **भूतेऽपि दृश्यन्ते** (३, ३, २) **ताभ्यामन्यत्रोणादयः** (३, ४, ७५) तथा **इस्मन्त्रन्क्विषु च** (पा० ६, ४, ९७); **तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च** (७, २, ९) भी उणादि प्रत्यय ही प्रतीत होते हैं।

वर्तमान समय में प्रा० के० बी० पाठक ने उणादियों को पाणिनीय सिद्ध करने का प्रयास किया है[1]। उनके अनुसार पाणिनि ने ही चार उणादिसूत्रों में अथङ् प्रत्यय का विधान किया है (उणा० ३, ११३-११६), जिसका संकेत पतञ्जलि ने 'अथङ्शब्द औणादिकानाम्'[2] कहकर किया है[3]। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि कुछ-एक उणादि सूत्रों से पाणिनि का परिचय था। यह सिद्ध नहीं होता कि उपलब्ध सभी उणादियों की रचना पाणिनि ने ही की थी।

प्रा० पाठक ने काशिका के इन वचनों से भी अपने पक्ष को पुष्ट करने का प्रयास किया है—**अयमपि अधिकारो योगे-योगे उपतिष्ठते……चकारः पुनरस्यैव समुच्चयार्थः तेनोणादिषु परत्वं न विकल्प्यते** (पा० ३,१,२) और यह परिणाम निकाला है कि **उणादयो बहुलम्** (पा० ३, ३, १) पर काशिका की टिप्पणी से भी उणादिसूत्र पाणिनीय सिद्ध होते हैं। काशिका में कहा गया है कि उणादि प्रत्यय वर्तमान अर्थ में संज्ञा के विषय में बहुलम् पाये जाते हैं, क्योंकि 'वर्तमान' और 'संज्ञायाम्' शब्द उणादि में भी दोहराये गये हैं[4]। अतः सिद्ध होता है कि पा० ने ही, जिसने उणादियो बहुलम् की रचना की थी, उणादियों में बार-बार 'बहुलम्' शब्द का प्रयोग उनके 'बहुलम्' होने का स्मरण कराने के लिए किया है[5]।

किन्तु इस विषय में सर्वोपरि प्रश्न यह है कि पाणिनि, जो एक-एक मात्रा के लाघव के प्रयास का दावा करते हैं (यद्यपि कई स्थलों पर वे इस विषय में असफल रहे हैं), केवल स्मरण कराने के लिए बार-बार बहुलम् जैसे शब्द को 'अक्सर दोहराने' की विचित्र शैली कैसे अपनाते हैं? अतः ये दोनों प्रकार की रचनाएं एक ही व्यक्ति की नहीं हो सकतीं। पाणिनि से पूर्व विद्यमान उणादिसूत्रों के आधार पर उन्होंने अपने सूत्रों का निर्माण उसी प्रकार किया होगा, जिस प्रकार उन्होंने अन्य आचार्यों की कृतियों के सहारे अष्टाध्यायी का ढांचा खड़ा किया था। पाणिनि कर्ता नहीं हैं, प्रवक्ता हैं। पाणिनि ने अनेक अनुबन्धों, परिभाषाओं तथा विचारों को अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों से ग्रहण किया है। इस विषय में सर्वत्र ऐकमत्य पाया जाता है। पाणिनि तथा उणादिसूत्रों में अनेक प्रत्यय समान हैं, यथा— कई शब्द ऐसे हैं, जिनको अष्टाध्यायी में भिन्न प्रकार से निष्पन्न किया गया है और उणादियों में भिन्न प्रकार से, यथा— भीम शब्द को

---

[1] *Authorship of the Unadi Sutras, ABORI* IV 1923, p. 111-136.

[2] म० भाष्य, नि० सा० सं०, भाग २; पृ० ५, कीलहार्न द्वि० सं०, भाग १, पृ० १९३।

[3] पाठक, वही पृ० ११५।

[4] उणा० २, ८४; ८२ : ३७ : ४९ आदि।

[5] पाठक, वही पृ० ११८।

अष्टाध्यायी (३,४,७४) में निपातन से निष्पन्न किया है, किन्तु उणादियों में (१४५) 'भियः षुग्वा' सूत्र में 'मक्' और वैकल्पिक 'षुक्' द्वारा सिद्ध किया गया है। पा० (२, ४, ५७) ने ✓अज् को यु परे रहते वा आदेश करके **प्रवयणः** की सिद्धि की है। पतञ्जलि ने ✓अज्+यु से **वायु** पद की व्युत्पति की है[1], जबकि उणादि (१) ने ✓वा+उण् से **वायु** पद निष्पन्न किया है। पा० तो दूर रहा कात्यायन को भी वर्तमान उणादियों का पता नहीं था। पा० (३, २, १७८) पर कात्यायन का वार्तिक है— **क्विब्वचिप्रच्छ्यातस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसंप्रसारणञ्च।** पतञ्जलि ने इस वार्तिक की व्याख्या की है। जबकि इन शब्दों की निष्पत्ति के लिए उणादि सूत्र विद्यमान हैं— **क्विब्वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च** (उणा० २१५)। सामान्यतः कात्यायन उन शब्दों के लिए पा० सूत्रों के वार्तिक नहीं बनाते, जिनके लिए उणादियों में व्यवस्था विद्यमान थी। अतः कम से कम उणा० २१५ कात्यायन के समक्ष प्रस्तुत नहीं था। पतञ्जलि को भी सम्भवतः इस उणादि सूत्र का पता नहीं था, जिसमें दोनों वार्तिकों का समावेश कर दिया गया है। पतञ्जलि ने **भीरुक** की निष्पत्ति के लिए **क्रुकन्नपि वक्तव्यः** वार्तिक को मान्यता दी है[2]; जबकि उणादि सूत्र (१८९), **भियः क्रुकन्** इसी रूप में विद्यमान है। महाभाष्यकार ने भ्रू को ✓भ्रम्+ऊङ् लगाकर सिद्ध किया है[3], जबकि उणा० सू० **भ्रमेश्च डू०**[4] (२२६) विद्यमान है, जिसने पतञ्जलि के वार्तिक का परिष्कार किया है।

कात्यायन जो शाकटायन का अनुयायी है, पाणिनि को उणादियों के पक्ष में नहीं मानता, जबकि पतञ्जलि जो पाणिनि का अनुयायी है, उणादियों को **अव्युत्पन्न प्रातिपदिक** (म० भा० पा० ८, ३, ५९) कहकर कात्यायन के पक्ष का विरोध करता है।

व्याकरण के अंगों की चर्चा करते हुए पतञ्जलि ने उणादियों को अष्टाध्यायी (पा० व्याकरण) का अंग नहीं माना, किन्तु उत्तरकालीन कारिकाकारों ने उणादियों को भी उपदेश के अन्तर्गत स्वीकार किया है[5]। कैय्यट के मतानुसार

---

[1] का० २, ४, ५७ ; द्र० बाल० भाग ४, पृ० १३८ ; म० भा० (पा० २, ४, ५६) के अनुसार तो वायौ (पा० २, ४, ५७) में वा से विभाषा ग्रहण करके 'अज् को वा आदेश होता है 'यु' परे रहते'—यह अर्थ ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार 'वायु' की सिद्धि हो सकती है।

[2] पा० ३, २, १७४; म० भा० २, १३५।

[3] पा० ६, ४, ४० वा० म० भाष्य ३, १९६।

[4] द्र० **धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिंगानुशासनम् आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः परिकीर्तिताः।**

[5] प्रदीप, मा० भ० ३, ३, १।

उणादि 'शास्त्रान्तरपठित'[1] सूत्र है—इस पर नागेश की टिप्पणी है कि उणादिसूत्र शाकटायन-प्रणीत हैं[2]। उणादि-वृत्तिकार श्वेतवनवासी उणादिसूत्रों को किसी एक की रचना नहीं मानते। वासुदेव दीक्षित भी उणादियों को (**शाकटायन मुनि-प्रणीतानि न तु पाणिनिना प्रणीतानि**) पाणिनि प्रणीत न मानकर शाकटायन मुनि-प्रणीत ही मानते हैं। इस प्रकार सिद्ध होता है कि यद्यपि उणादिसूत्र मूलरूप में पूर्वपाणिनीय हैं और परम्परा इन को शाकटायन-कृत कहती चली आ रही है, तो भी अपने वर्तमान रूप में यह पतञ्जलि से भी उत्तरकालिक रचना है। आधुनिक वैयाकरण विद्वानों में औफ्रेख्त ने उणादियों का सम्पादन किया था (१८३९) तथा घोषणा की थी कि ये सूत्र पूर्वपाणिनीय हैं, क्योंकि पा० स्वयं उणादिसूत्रों की ओर संकेत करते हैं। उणादिसूत्रों में 'कार्षक' (किसान) तथा 'कारि' (कारीगर) सदृश शब्दों की व्युत्पत्ति की व्यवस्था करते हैं, किन्तु पा० के पश्चात्कालिक किसी अन्य वैयाकरण ने इस प्रकार के शब्दों की व्युत्पत्ति की चिन्ता नहीं की, क्योंकि ऐसे शब्दों का प्रयोग ही लुप्त हो गया था। दूसरे उणादि **चाक्रवर्मण** को एक प्राचीन वैयाकरण मानते हैं, जिनका उल्लेख (पा० ६, १, १३०) ने भी एक ही बार किया है। साथ ही साथ अनेक ऐसे शब्दों को वैदिक मानते हैं, जिन्हें पा० ने लौकिक माना है।

गोल्डस्टुकर ने औफ्रेख्त की युक्तियों का पुनरीक्षण किया और उन्हें निरस्त कर दिया (पाणिनि, पृ० १५८-१६२)। इनके अनुसार उणादियों में पा० द्वारा परिभाषित अनेक शब्दों का प्रयोग उन्हीं अर्थों में किया गया है। इसके अतिरिक्त स्वयं पा० ने भी उणादिप्रत्ययों की रचना की थी[3]। म० भाष्य ने ऐसे शब्दों को 'अव्युत्पन्न' कहकर पा० के उणादियों का समर्थन किया है।

के० बी० पाठक का उपर्युक्त पक्ष सर्वथा एकांगी है और इसका सबल उत्तर जगन्नाथ श्रीधर पड़े[4] ने दे दिया है। के० माधवकृष्ण शर्मा[5] तथा लुई रेनु[6] ने पाठक के विचारों का खण्डन करके सिद्ध कर दिया है कि वर्तमान उणादिसूत्र पाणिनि की कृति नहीं हो सकते। दोनों ने स्पष्ट कर दिया है कि पा० तथा उणादियों में अनेकत्र परस्पर विरोध पाया जाता है तथा बेल्वल्कर[7] की युक्तियों

---

१. प्रदीपोद्योत, वही।

२. **येयं शाकटायनादिभिः पञ्चपादी रचिता पृ० १, २।**

३. पाणिनि, पृ० १७१-१८१।

४. *JOIBS*, 1958, p. XVII-XIX.

५. *Festschrift* P.V. Kane, p. 395-404.

६. *J. Asiatique*, 1956, Vol. 244, p. 155-165.

७. सिस्टम्स० पृ० २६, टि० २।

को और आगे बढ़ा कर पुष्ट किया। रेनु ने स्पष्ट कर दिया है कि पा० ने कुछेक उन उणादि व्युत्पत्तियों को ही स्वीकार किया, जिन्हें वे 'व्युत्पन्न' मानते थे। अतः कुछ उणादिसूत्र पूर्वपाणिनि है और शेष पश्चात्कालिक। इसी प्रकार रामशङ्कर भट्टाचार्य[1] एम० डी० पण्डित[2], वी० कृष्णस्वामी अयङ्गर, रामानुज ताताचार्य, एन० एस०[4]।

उणादि दो संस्करणों में उपलब्ध होते हैं—**पञ्चपादी**, जिन में पांच पाद हैं तथा **दशपादी**, जिनके दशपाद हैं। **पञ्चपादियों** में प्रथम प्रत्यय उण् है और पाणिनि के समय में भी यही प्रथम प्रत्यय रहा होगा। **दशपादी** निश्चय ही उत्तरकालिक संस्करण है, क्योंकि दशपादियों में उण् प्रत्यय १, ८६ सूत्र में पठित है। पञ्चपादी सं० की भी शैलियां हैं[5]। एक में पूर्वपाद के अन्त का तथा उत्तरपाद के आदि का प्रत्यय एक नहीं है। यथा, प्रथमपाद का अन्तिम प्रत्यय 'कनिन्' है, किन्तु द्वितीयपाद का आद्य प्रत्यय 'एणु' है। दूसरी वह, जिसमें पूर्वपाद का अन्तिम प्रत्यय उत्तरपाद का आद्य प्रत्यय होता है, यथा, द्वि० पाद के अन्त में **ष्वरच्** का विधान है और तृतीयपाद के आदि में भी **ष्वरच्** ही का विधान है। प्राचीन ग्रन्थों में द्वितीय शैली ही प्रचलित थी, जिसका ज्वलन्त उदाहरण निरुक्त में देखा जा सकता है। मीमांसक के मतानुसार शैली के आधार पर **पञ्चपादी** मूल में **त्रिपादी** ही रहते हैं। प्रथमपाद वर्तमान द्वितीयपाद के अन्त पर समाप्त होता था और द्वितीयपाद वर्तमान तृतीयपाद के अन्त पर तथा तृतीयपाद वर्तमान चतुर्थ-पञ्चमपाद को मिलाकर बनता था[6]।

वर्तमान **पञ्चपादी** उणादि सूत्र-पाठ में इतना अधिक परिवर्तन हो चुका है, कि किसी भी वृत्ति का पाठ किसी भी दूसरी वृत्ति के पाठ से नहीं मिलता, सूत्रों की संख्या में भी अत्यधिक विषमता पायी जाती है। प्रतीत होता है कि **पञ्चपादियों** के भी तीन मूल पाठ हैं—

(१) प्राच्य—उज्ज्वलदत्त, भट्टोजि दीक्षित तथा स्वामी दयानन्द ने प्राच्यपाठ की व्याख्या की है। यह बृहत्पाठ है।

---

१. *JGJRI*, IX, p. 168.
२. *I.L.*, 24, p. 63-67.
३. *Sri Venkateswara Univ. Oriental Jl., Tirupati*, XV, p. 18.
४. *SVUOG*, XV, p. 27.
५. मीमांसक, वही, भाग २, पृ० १७८।
६. मीमांसक, वही, पृ० १७९।

(२) औदीच्य—इस पाठ पर कोई भी वृत्ति न होने के कारण इसके स्वरूप का निश्चय नहीं किया जा सकता, तो भी क्षीरस्वामी की अमर-टीका तथा क्षीरतरंगिणी में उद्धृत उणादि सूत्र सम्भवतः इसी शाखा के हैं।

(३) दाक्षिणात्य पाठ पर श्वेत वनवासी तथा नारायण भट्ट प्रभृति की वृत्तियां हैं **पञ्चपादी** सूत्रपाठ पर गोवर्धन (१२वीं शती) दामोदर (१२वीं शती) पुरुषोत्तमदेव (१२वीं शती का उत्तरार्ध), भट्टोजि दीक्षित (१४६२-१५१४), नारायण भट्ट (१५६० तथा १६७६ के मध्य), महादेव वेदान्ती (१६६३-१७१३), रामभद्र दीक्षित (१६८७ के आस-पास), वेङ्कटेश्वर १७०० के आसपास), पेरूसूरि (१७००-१७५०) प्रभृति अनेक वैयाकरणों ने व्याख्याएं लिखी हैं, जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) उज्ज्वलदत्त ने उणादि सूत्रों पर एक विस्तृत वृत्ति लिखी है, जिसका सम्पादन औफ्रेख्त ने किया था। उज्ज्वलदत्त ने बलेर्गुक् (११२) सूत्र की व्याख्या में वल्गु शब्द को √बल 'प्राणने' से जोड़कर अपने बंगवासी होने का परिचय दिया है। इनके काल के विषय में वैमत्य है[1]। उज्ज्वलदत्त की व्याख्या के भी अनेक संस्करण सम्पादित हो चुके हैं। सर्वप्रथम औफ्रेख्त ने १८५९ में इस व्याख्या का उच्चस्तरीय संस्करण प्रकाशित किया। १८७३ में जीवानन्द ने एक संस्करण छपवाया। सिद्धान्तकौमुदी के प्रत्येक संस्करण के अन्त में उणादियों पर उज्ज्वलदत्त की व्याख्या प्रकाशित हो चुकी है।

(२) श्वेतवनवासी की टीका विद्वत्तापूर्ण है। यह मद्रास वि० वि० से प्रकाशित हो चुकी है। इनके पिता का नाम आर्यभट्ट था। यह इन्द्र ग्राम समीपवर्ती अग्रहार के निवासी थे तथा इनके पूर्वज उत्तरमेरु के निवासी थे, जो मद्रास प्रान्त के चंगलपट के मण्डलान्तर्गत था। इनका भी काल सुनिश्चित नहीं हैं। टी० आर० चिन्तामणि के अनुसार इनका काल ११वीं से १७वीं शती के मध्य कहीं भी हो सकता है[2], किन्तु मीमांसक के अनुसार इनका स्थिति काल १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से उत्तरवर्ती नहीं माना जा सकता[3]। इस व्याख्या का सम्पादन टी० आर० चिन्तामणि ने १९३३ में किया था।

---

[1] दिनेशचन्द्र (पुरुषोत्तमदेवकृत भाषावृत्ति की भूमिका पृ० २०) के अनुसार यह अनुमानतः १३वीं या १४वीं शती के हैं। किन्तु मीमांसक इनको १२वीं के उत्तरार्ध से उत्तरवर्ती नहीं मानते (वही, पृ० १४८-१८६)।

[2] श्वेतवृत्ति, भूमिका, पृ० ११।

[3] वही, पृ० १८८-१८९।

(३) भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी के अन्तर्गत उणादियों पर भी संक्षिप्त व्याख्या लिखी है, परतु प्रौढ़मनोरमा में उणादिसूत्रों की व्याख्या वस्तुतः प्रौढ़ है। सिद्धान्त कौमुदी के सभी टीकाकारों ने उणादियों पर भी टीकाएं लिखी हैं, इनकी संख्या २१ है[1]।

(४) महादेव वेदान्ती की संक्षिप्तवृत्ति अड्यार से प्रकाशित हो चुकी है। महादेव केरलवासी थे। इनके भी काल के विषय में पर्याप्त मतभेद है, किन्तु यदि किंवदन्तियों को छोड़ दिया जाये, तो इनका स्थिति-काल सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर सत्रहवीं के उत्तरार्ध तक कूता गया है[2], जो असंगत प्रतीत नहीं होता। इन्होंने अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त सांख्यदर्शन पर भी वृत्ति लिखी है। इनकी उणादि-वृत्ति का नाम **निजविनोदा** है। इनकी वृत्ति का प्रभाव पेरुसूरिकृत **औणादिक पदार्णव** पर परिलक्षित होता है। महादेव वेदान्ती-विरचित उणादिकोष का सम्पादन मद्रास वि० वि० संस्कृत ग्रन्थमाला के अन्तर्गत कुञ्जुनी राजा ने १९५६ में किया था। जिसमें व्युत्पत्ति तथा अर्थ सहित शब्दानुक्रमणिका जोड़ी गयी है।

(५) पेरुसूरि ने अपने ग्रन्थ में सूचित किया है कि उनके पिता का नाम वेङ्कटेश्वर और गुरु का नाम वासुदेव अध्वरी था तथा वे काञ्चीपुरम् के निवासी थे। वासुदेव अध्वरी सि० कौ० की टीका बालमनोरमा के लेखक थे। अतः पेरुसूरि का काल अठारहवीं शती के मध्य में मानना चाहिये। पेरुसूरि की व्याख्या श्लोकबद्ध है तथा इसमें इन्होंने स्थान-स्थान पर औणादिक पदों से निष्पन्न होने वाले तद्धित प्रयोगों का भी निर्देश किया है। इन्होंने भट्टोजि दीक्षित की प्रौढ़मनोरमा तथा सि०कौ० पर 'तत्त्वबोधिनी' से बहुत सहायता ली है, किन्तु उनका नामनिर्देश नहीं किया[3]। औणादिक पदार्णव का सम्पादन टी० आर० चिन्तामणि ने मद्रास विश्वविद्यालय की संस्कृत ग्रन्थमाला के अन्तर्गत १९३३ में किया था।

---

[1] मीमांसक, वही, पृ० १९०।

[2] द्र० ई० बी० राम शर्मा 'अपाणिनीय प्रामाणिकता', भूमिका, साम्बशास्त्री, प्रक्रिया-सर्वस्व भाग १, भूमिका, पृ० ३।

[3] पञ्चपादी उणादिसूत्रों के व्याख्याकारों के विषय में विस्तार के लिये द्र० मीमांसक, वही, पृ० १७९-२०२।

दशपादी उणादिसूत्रपाठ का आधार पञ्चपादी सूत्रपाठ ही है। इस पाठ का सङ्कलन उणादिसिद्ध शब्दों के अन्तिम वर्णक्रम के अनुसार किया गया है, किन्तु यह सङ्कलन भी **पञ्चपादी** के पाद क्रमानुसार ही किया गया है, यथा इवर्णान्तपदसाधक सूत्रों का सङ्कलन द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चमपाद के सूत्रों के क्रम से ही किया गया है। इसी प्रकार उवर्णान्त शब्दों के साधक सूत्रों का भी १, २, ३, ४, ५ पादों के अनुसार ही सङ्कलन किया गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि **दशपादीकार** का अपना योगदान कुछ भी नहीं। **पञ्चपादी** क्रम में परिवर्तन करते समय अनुवृत्तिगत कठिनाई को दूर करने का प्रयास दशपादीकार ने किया ही है। दूसरे **दशपादी** पाठ में ऐसे कई सूत्र हैं, जो पञ्चपादी पाठ में नहीं पाये जाते। इन सूत्रों को या तो अन्य प्राचीन उणादिसूत्रों से ग्रहण किया गया है या कर्ता की मौलिक देन है, यथा—

(१) **जीवेरदानुक्** (१, १६३)—इस सूत्र को पतञ्जलि ने **ह्यवरट्** की व्याख्या में उद्धृत किया है, तथा **लोपोव्योर्वलि** (६, १, ६६) के भाष्य में इसका संकेत किया है। काशिकाकार ने भी इसे उद्धृत किया है। इसमें वैदिक शब्द **जीरदानु** (जीव्+रदानुक) को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, जो अन्यत्र कहीं नहीं किया गया।

(२) **हन्तेरन् घ च (८, ११४)** –इस सूत्र से **घर** शब्द की सिद्धि की गयो है, जिसे वृत्तिकारों ने गृहवाची माना है।

(३) **मच्छ** शब्द भी इसी प्रकार का है, जिसे अन्यत्र कहीं सिद्ध नहीं किया गया (द्र० दश० १०,१५)[1]। इसी प्रकार के अन्य भी कुछ विशिष्ट शब्द यहां देखने को मिलते हैं। **दशपादी** पर केवल तीन वृत्तियां उपलब्ध हैं।

(१) एक प्राचीन वृत्ति का सम्पादन सन् १८७५ में काशी में हुआ था। और उसका द्वितीय सं० मीमांसक ने प्रकाशित किया है[2]। वृत्तिकार का नामनिर्देश नहीं किया गया। तो भी औफ्रेख्त ने इसका नाम माणिक्यदेव लिखा है, जिसका आधार अज्ञात है। इसके स्थितिकाल का निश्चय भी नहीं हो सका, किन्तु क्योंकि भट्टोजिदीक्षित, देवराज यज्वा, दैवम् की पुरुषकार नामक व्याख्या के लेखक श्रीकृष्ण लीलाशुक, क्षीरतरंगिणी के लेखक क्षीरस्वामी, तथा आचार्य हेमचन्द्र द्वारा स्वोपज्ञ 'उणादि वृत्ति' में दशपादीवृत्ति का बहुशः उल्लेख किया गया है।

---

१. क्षीरतरंगिणी (४,१०१) में इसे संस्कृत का साधु शब्द माना गया है। 'मच्छः मत्तपुरुषः,' मच्छा मत्ता स्त्री (दश० वृत्ति १०, १५)।

२. सरस्वती भवन, काशी १९४३।

काशिका ने भी नामनिर्देश बिना इसको उद्धृत किया प्रतीत होता है। अतः अनुमान किया जा सकता है कि इसका रचनाकाल ७०० ई० से पूर्व होना चाहिये[१]। यह उपलभ्यमान सभी वृत्तियों से प्राचीनतम है। दूसरे, पाणिनीय धा० पा० में अनुपलभ्यमान अनेक धातुओं का निर्देश इसमें किया गया है, यथा—भ्वादिगणीय √कृ तथा √धूञ् धातु। तीसरे, इसमें केचित्, एके, अन्ये शब्दों द्वारा बहुत से पूर्व वृत्तिकारों के मत उद्धृत हैं। कातन्त्र व्याकरण के भी दो सूत्र उद्धृत किये गये हैं[२]।

(२) एक ओर उणादि वृत्ति का भी हस्तलेख सुरक्षित है, जिसके कर्ता तथा काल का कुछ पता नहीं, तो भी इतना अनुमान किया जा सकता है कि इसका आधार पूर्वोल्लिखित वृत्ति ही है तथा हेमचन्द्र से पूर्ववर्ती है[३]।

(३) प्रक्रियाकौमुदीकार रामचन्द्र के पौत्र विट्ठलार्य ने प्रक्रियाकौमुदी की टीका में ही उणादिप्रकरण में दशपादी पर एक संक्षिप्त टीका लिखी है, जिसका लेखनकाल अनुमानतः १४६३-१४७३ ई० आँका जा सकता हैं, क्योंकि इसका एक हस्तलेख सं० १५३६ (१४७९ ई०) का इण्डिया ऑफिस के संग्रहालय में सुरक्षित है। 'The question arises why did *Pa.* refer to Uṇādi suffixes at all if he disapproved of the procedure (*cf.* forming words by them). **उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि** परिभाषा, २२ ; परिभाषेन्दु०[४]।

फिट्सूत्र

जहां पाणिनि ने समस्त संस्कृत-भाषा को लक्ष्य में रखकर स्वरसम्बन्धी नियमों का निर्माण किया था, वहां शान्तनवाचार्य नाम के एक वैयाकरण ने भी अपने स्वरसम्बन्धी नियमों को समस्त संस्कृत-भाषा के लिए ही बनाया। इन सूत्रों को **फिट्सूत्र** कहते हैं। **फिट्** (फिष्) का अर्थ प्रातिपदिक है। पाणिनि तथा शान्तनव दोनों ने ही वेद के लिए 'छन्दसि' तथा लोकभाषा के विषय में 'भाषायाम्' शब्दों का प्रयोग किया है[५]। पा० के समान ही **फिट्** में भी अनेक ऐसे सूत्र हैं, जिनके उदाहरण वैदिक-भाषा में आज कहीं भी उपलब्ध नहीं होते[६]।

किन्तु दोनों में भारी अन्तर यह है कि जहां पाणिनि मुख्यरूप से वैदिक शब्दों के व्युत्पत्ति-पक्ष के पोषक हैं, वहां शान्तनव अव्युत्पत्तिपक्ष के। इसी कारण इनकी स्वरसाधना की पूर्णप्रक्रिया में महान् अन्तर पाया जाता है। पाणिनि तो

---

[१] विस्तारार्थ द्र० मीमांसक, वही भाग २, पृ० २०६-२१०।

[२] वही पृ० २१०-२१२।

[३] वही पृ० २१२।

[४] Harmut Scharfe, *Gr. Lit.*, p. 105, ed. Gonda, 1977, Wiesbaden.

[५] पा० ३, २, १०८ ; ७,२,८८ : फिट्० १,१० ; १४ ; ३, ९ : १, १६ (भाषायाम्)।

[६] फिट् २, १४ ; ३,५ ; १६ ; ४, २।

शब्द की प्रकृति तथा प्रत्ययों को दृष्टि में रखकर स्वर-सम्बन्धी नियमों का निर्माण करते हैं, किन्तु शान्तनव पूरे गढ़े-गढ़ाये शब्द को अविश्लेष्य मानकर उसी के आकार-प्रकार की विशेषताओं तथा अन्य शब्दों से कुछ समानताओं के आधार पर अपने नियम बना डालते हैं। पाणिनि तो कृदन्त तथा तद्धितान्त शब्द-रूपों के स्वर-सन्धान का आधार अनुबन्धों तथा कुछ सामान्य लक्षणों को बनाकर अपने समस्त व्याकरण-शास्त्र की पद्धति के साथ इसका समन्वित रूप प्रस्तुत करते हैं, किन्तु शान्तनव प्रातिपदिकों के बाह्य लक्षणों तथा शब्दों के अन्त्य, मध्यम, उपान्त्य स्वरों, अक्षर-संख्या, वर्ण-मात्रा, लिंग अथवा जाति, पदार्थ प्रभृति कई बातों को सामने रखकर, स्वर-सम्बन्धी नियम बनाते हैं।

इसलिये इस विषय में कीलहार्न का यह विचार नहीं माना जा सकता कि विषय-प्रतिपादन के इस अन्तर का मुख्य कारण यह है कि जहां पा० के समय में संस्कृत एक जीवित भाषा थी, वहां शान्तनव के समय में यह मर चुकी थी[1]। शान्तनव ने **फिष्** या **प्रातिपादिक** का बड़ा विस्तृत अर्थ लेकर उसके अन्तर्गत **कृदन्त, तद्धित** तथा **समास** को समेट लिया है[2] और इस सभी के स्वर को ८७-८८ सूत्रों के छोटे से घेरे में समेटने का प्रयास किया है। वस्तुतः यह एक प्रकार की संक्षिप्त रचना है, जो स्वल्प समय में स्वर को हृदयंगम कराने में सहायक है। इस विषय में कई अवस्थाओं में इसने पा० के सूत्रों में संशोधन भी किया है। पा० ने **अर्थ पद** को सर्वत्र आद्युदात्त माना है,[4] किन्तु स्वामी वाचक **अर्थ** शब्द अन्तोदात्त है, जिसे कात्यायन[3] तथा फिट् (१, १८) दोनों ने विशेष नियम द्वारा स्पष्ट किया है। ऐसे ही पा० (६, १, १९७) ने **ज्येष्ठ** और **कनिष्ठ** पदों को आद्युदात्त माना है, किन्तु आयुवाचक ये दोनों अन्तोदात्त हैं, जिसे फिट्० (१, २२) ने स्पष्ट किया है।

तो भी इतनी छोटी सी रचना में इतने जटिल तथा विशाल विषय का पूर्ण प्रतिपादन असम्भव था। अतः इसके सूत्रों के नियमों के बहुत से अपवाद पाये जाते हैं। थान्त और निष्ठान्त शब्दों को अन्तोदात्त कहा गया, यथा—**गो॒पी॒थ प्र॒भृ॒थ** (१, ७) किन्तु **च॒रथ॑, श॒पथ॑**, मध्योदात्त हैं तथा **जरू॑थ, वरू॑थ** आद्युदात्त हैं। निष्ठान्त शब्द तो कहीं भी आद्युदात्त उपलब्ध नहीं होता। उन्-अन्त पद आद्युदात्त कहे गये हैं (२, ७), किन्तु **अ॒रु॒ण, व॒रु॒ण, ध॒रु॒ण** अन्तोदात्त हैं।

---

[1] फिट् सूत्र सं०, भूमिका पृ० ५।

[2] तु० **अर्थवदधातुरप्रत्ययप्रतिपादिकम्; कृत्तद्धितसमासाश्च** (पा० १, २, ४५-४६)।

[3] पा० ३, १, १०३।

[4] **स्वामिन्यन्तोदात्तत्वञ्च वक्तव्यम्** (पा० वा० ३, १, १०३)।

एक दो सूत्रों में तो बड़ी **अव्यवस्था** दृष्टिगोचर होती है। जहाँ हलादि, असंयुक्त, 'लान्त' पदों को अन्तोदात्त, आद्युदात्त, यहाँ तक कि मध्योदात्त भी कह दिया गया है (२, २५), इसमें कोई नियम नहीं पाया जाता है। ऋग्वेद में ऐसे अनेक शब्द अन्तोदात्त हैं (**क॒पि॒ल, स॒लि॒ल**) ; उपान्त्योदात्त भी हैं (**श॒बल॑, शि॒शूल॑, सु॒मं॒गल॑**), किन्तु आद्युदात्त का एक भी उदाहरण नहीं मिलता[1]। कहीं-कहीं पदों की अक्षर-संख्या तथा लघुत्व-गुरुत्व को स्वर का आधार माना गया है, यथा—इगन्त शब्द विकल्प से आद्युदात्त होते हैं (२, २६) **कृषि॑, भूमि॑, हरि॑** तो आद्युदात्त हैं। किन्तु **जा॒मि ने॒मि र॒यि** अन्तोदात्त हैं। यह विकल्प वस्तुतः व्यवस्थित विभाषा है, किन्तु किसी प्रकार की व्यवस्था का स्पष्टीकरण नहीं किया गया।

ऐसे ही बह्वच् लघ्वन्त शब्दों में, जिनमें एक या अधिक गुरु अक्षर हो, गुरु अक्षर उदात्त होता है, यथा—**ऋ॒बीश॒, का॒क॒म्बीर॑, वृषाक॑पि**। लिंग पर आश्रित स्वर=विधान का भी उदाहरण है—**ध्यपूर्वस्य स्त्रीविषयस्य** (१, ५) अर्थात् धान्त अथवा यान्त नित्य स्त्रीलिंग शब्द अन्तोदात्त होते हैं, यथा—**गो॒धा, मे॒धा** तथा **छा॒या, मा॒या**। पदार्थ पर आश्रित नियम भी बनाये गये हैं—**पाटलपालङ्काम्बसागरार्थानाम्** (१, २) अर्थात् पाटल, पालङ्क, अम्बा तथा सागर के अर्थों वाले शब्द अन्तोदात्त होते हैं। इनमें से **पाटल** तथा **पालङ्क** तो किसी वैदिक-संहिता में उपलब्ध नहीं होते, अम्बा के पर्याय **मा॒ता** और **न॒ना** अन्तोदात्त हैं। सागर के पांच पर्यायों में से तीन **अ॒र्ण॒व, उ॒दधि** और **स॒मु॒द्र** तो अन्तोदात्त हैं, किन्तु **सिन्धु॑** और **अकू॑पार** आद्युदात्त हैं। यहां विशिष्ट स्वरों के लिए विशिष्ट गणों का भी उल्लेख किया गया है, यथा—**घृतादि** (१, २२) अन्तोदात्त हैं ; **ग्रामादि** (२, १५) आद्युदात्त हैं, **कर्दमादि** (३, १०) विकल्प से आद्युदात्त तथा मध्योदात्त हैं। ये सभी आकृति-गण माने गये हैं। इनमें से एक भी पाणिनि के गणपाठ में नहीं पढ़ा गया। इसी प्रकार **एवादि** (४, १४) अन्तोदात्त हैं। **बाबादि** (४, १५) द्व्युदात्त हैं तथा **चादि** (४, १६) सर्वानुदात्त हैं, जिनमें से केवल **चादि** पा० ग० पा० में पठित है, जिनमें लगभग १५० शब्द हैं और सभी अनुदात्त सिद्ध नहीं किये जा सकते। अतः शान्तनव के सम्मुख पाणिनीय चादिगण से भिन्न कोई और चादिगण रहा होगा[2]।

यद्यपि प्रायः यही समझा जाता है कि फिट्सूत्रों का सम्बन्ध वैदिक स्वर-सन्धान से ही है, तो भी हम देखते हैं कि **अनेक** सूत्रों में कहे गये नियम या तो

---

[1] सम्भवतः इसीलिये नागेश प्रभृति ने अनुवृत्ति के आधार पर जनपदवाचक शब्दों को ही इसके उदाहरण माना है।

[2] जी० बी० देवस्थली, फिट्सूत्रास ऑफ़ शान्तनव, पूना, १९६७ पृ० २८।

वैदिक शब्दों के वास्तविक रूप के विरुद्ध बैठते हैं या किसी भी वर्तमान वैदिक संहिता के किसी भी शब्द पर लागू नहीं होते, तो कहना पड़ता है कि शान्तनव ने अपने नियम समस्त संस्कृत-भाषा के लिए बनाये थे[1]। फिट्० २, २० में 'अक्षु' में अन्त होने वाले शब्दों को आद्युदात्त कहा गया है, किन्तु इसका कोई उदाहरण वेद में नहीं पाया जाता, न ही २, १८ का कोई उदाहरण संहिताओं में उपलब्ध होता है। **सिम्** शब्द केवल अथर्ववेद में अन्तोदात्त है (फिट्० ४, ११), अन्यत्र अनुदात्त है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी पाये जाते हैं[2]।

शान्तनव की पारिभाषिक शब्दावलि पा० की शब्दावलि से सर्वथा भिन्न है, यथा— **फिष्=प्रातिपदिक, अश्, अष्**=अच्, **हय्**=हल्; **शिट्=सर्वनाम यमन्वन्=बृद्धि**[3]; **नप्=नपुंसकलिंग ; स्फिक्=लुक्** ; किन्तु **कु** पु० **इक्** तथा **खय्** प्रत्याहारों का प्रयोग पाणिनि के समान अर्थों में ही किया गया है।

पाणिनि तथा शान्तनव के मौलिक सिद्धान्तों में अन्तर देखकर कीलहार्न ने पाणिनि को पूर्ववर्ती कहकर भी[4] अगले ही श्वास में यह भी कह दिया कि **फिट्०** संस्कृतव्याकरण शास्त्र के अत्यन्त अविकसित रूप को प्रकट करते हैं, ये पूर्व पाणिनीय प्रतीत होते हैं,[5] किन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं **फिट्०** बच्चों की स्मृति के लिए सहायक के रूप में लिखे गये थे, और इसी लिए उनमें शब्दों को अव्युत्पन्न मानकर उनसे यान्त्रिक व्यवहार किया गया है। इसके अतिरिक्त उनकी रचनापद्धति में भेद का मुख्य कारण सम्प्रदाय-भेद है। न ही लेखन प्रकार के आधार पर काल-निर्णय करना उचित प्रतीत होता है। हमें यह प्रतीत होता है कि पा० के विशाल एवं जटिल विषय को **फिट्०** में संक्षेप में कहने का प्रयास किया गया है। उत्तरवर्ती काल में भी शीघ्रबोधार्थ व्याकरण की छोटी-छोटी रचनाओं का निर्माण इस विषय में निदर्शन है; यथा— शब्दरूपावलि, धातुरूपावलि, सारसिद्धान्तकौमुदी समासचक्र प्रभृति। स्वयं कीलहार्न[5] ने माना है कि शान्तनव ने पा० के कई अंशों में संशोधन किये हैं। न ही मैक्समूलर के इस तर्क में कोई सार है कि शान्त० ने केवल वैदिक-

---

[1] वही, पृ० ३४।

[2] द्र० १, १४ (बक) **बिल्व** (४, ९) **व्याघ्र** (२, १७) **उशीर, दासेरक, पलाल, शैवाल, शराब** (३, १८)।

[3] फिट्० २, ४१—**यमन्वा शब्दः कृतादिवृद्धौ रूढः** (लघु० श०)।

[4] फिट्० सं० पृ० ५।

[5] वही० पृ० ६।

भाषा के विषय में लिखा है, अतः उन्हें पा० से पूर्ववर्ती मानना चाहिये[1] क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि वैदिक-भाषा पर लिखने वाला लौकिकभाषा के विषय में लिखने वाले से पूर्ववर्ती होना ही चाहिये ; और फिर पा० ने तो दोनों विषयों पर लेखनी चलायी है[2] । इसके अतिरिक्त परम्परा भी शान्तनव को अर्वाचीन समझती है । नागेश ने उन्हें 'आधुनिक' कहा है[3], किन्तु पतञ्जलि (पा० ७, ३, ७८) अपने भाष्य में **फिट्सूत्रों** का सङ्केत करते प्रतीत होते हैं । अतः वह पा० से इतने दूरस्थ नहीं हो सकते कि उन्हें 'आधुनिक' कहा जा सके[4] । मीमांसक जी के मतानुसार **फिट्०** के कर्ता का नाम शान्तनु था और वह भीष्मपितामह के पिता ही थे तथा उनका स्थितिकाल पाणिनि से तो क्या आपिशलि से भी प्राचीन है[5] । यह मत किसी भी विद्वान् का अनुमोदन प्राप्त नहीं कर सका, न ही यह संगत ही प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है ।

मैक्समूलर[6] ने मत व्यक्त किया था कि ये सूत्र पूर्वपाणिनि हैं । अपने मत की पुष्टि में उसका प्रथम तर्क यह था कि फिट्सूत्रों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलि पा० से भिन्न है और द्वितीय यह कि फिट्सूत्रों का विषय वैदिक-स्वर है, अतः इन्हें प्राचीन होना चाहिये ।

प्रथम युक्ति तो कोई युक्ति नहीं । दूसरी इसलिये अमान्य है कि फिट्सूत्र केवल वैदिक-स्वर विषयक ही नहीं हैं, और न ही स्वरसन्धान का विषय पाणिनि काल में लुप्त ही हो गया था । गोल्डस्टुकर[7] ने सप्रमाण दर्शाया है कि फिट्सूत्र पाणिनि से उत्तरकालिक हैं । कीलहार्न[8] ने भी दर्शाया है कि फिट्सूत्रों को पा० का ज्ञान था । फिट्० २, १६, पा० ५, ३, ९ को ध्यान में रख कर लिया गया है । बेल्वल्कर[9] तथा देवस्थली, जी० वी०[10], ने भी दर्शाया है कि फिट्सूत्र पा० से उत्तरकालिक हैं ।

---

१. ए० सं० लिट् पृ० १५२ ।
२. गोल्डस्टुकर, पाणिनि पृ० २२३ ।
३. फिट् २, २१ पर टिप्पणी ।
४. द्र० देवस्थली, वही, पृ० ४२ ।
५. वही, भाग २, पृ० २७४-७७ ।
६. हि० ऐ० सं० लिट्०, १८५९, पृ० १५२ ।
७. पाणिनि, पृ० २१६-२२० ।
८. फिट् सूत्राणि···—(1866) *A. K. M.*, 4, p. 2, Intro. p. 5-11) ।
९. सिस्टम्स०, पृ० २७ ।
१०. फिट्सूत्रास्०, १९६७, पृ० ४२ ।

यही विचार नागेश भट्ट का भी है[१]। मीमांसक तथा कपिलदेव शास्त्री[२] का एक यह तर्क प्रबल है कि जहां पा० ने ऐऔच् में अनुबन्ध 'च्' लगाया है, वहां फिट्सूत्र में 'ष्' (द्व्यच् (२,४) तथा 'बह्वष्' (२, १९) लगाया गया है। चान्द्र व्याकरण के व्याख्याकार के अनुसार 'पूर्व व्याकरण' यहां 'ष्' ही लगाते थे[3]। अतः फिट्सूत्र पूर्वकालिक ठहरते है,[४] किन्तु इस से इतना ही सिद्ध होता है कि चान्द्रगोमी ष्—अनुबन्ध को प्राचीन मानता था, न कि यह पूर्वपाणिनीय भी था[५]।

इस प्रकार यद्यपि फिट्सूत्र पा० से उत्तरकालिक हों भी, तो भी ये पतञ्जलि से पूर्वकालिक हैं[६]। इस विषय में कीलहार्न[७] की युक्तियां दुर्बल[८] हैं।

फिट्० सूत्रों पर कई-एक अज्ञातनामा वैयाकरणों की वृत्तियां उपलब्ध हैं या वृत्तिकारों द्वारा उल्लिखित हैं। विठ्ठल, भट्टोजि दीक्षित तथा श्रीनिवास यज्वा की वृत्तियां तथा व्याख्याएं उल्लेखनीय हैं। भट्टोजि दीक्षित की वृत्ति पर जयकृष्ण तथा नागेश भट्ट की व्याख्याएं भी उपलब्ध हैं[९]।

संस्करण :—(१) फिट्सूत्रों के अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं—कीलहार्न, लोरेन्ज फ्रांज (Kielhorn, Lorenz Franz) द्वारा १८६६ में (ए० के० एम० ४, २) लाइप्सिग, जर्मनी, अनुवाद तथा टिप्पणी सहित। भट्टोजिकृत व्याख्या तथा नागेशकृत व्याख्या तथा फिट्-सूत्रवृत्ति।

(२) श्रीधरशास्त्री पाठक तथा सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव—पाणिनीय सूत्रपाठादि के कोष के अन्तर्गत पृ० ४५७-४६०; १९३५।

(३) गोपालशास्त्री नेने द्वारा सम्पादित सि० कौ० के संस्करण के अन्तर्गत (१९५८-६१), वाराणसी (चौखम्बा) : बालमनोरमा सहित।

---

१. द्र० देवस्थली०, पृ० ४१-४२।

२. संस्कृत व्याकरण में गणपाठ पृ० २९।

३. के० सी० चैटर्जी, चान्द्र० व्याकरण (सम्पा०) भाग १, पृ० ९-१०।

४. कपिलदेव, गणपाठ, पृ० २९।

५. Cardona, G., *Pa. Survey*, p. 176.

६. मीमांसक, २. पृ० ३१५-१६।

७. म० भाष्य, १८६६, भूमिका, पृ० १०-११।

८. Cardona, वही।

९. विस्तारार्थ द्र० मीमांसक, वही, पृ० २८१-२८३।

(४) गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी तथा परमेश्वरानन्द शास्त्री द्वारा सम्पादित सि० कौ० (बालमनोरमा तथा तत्त्वबोधिनी सहित) के भाग ४, ६२९-३०। नागेश की व्याख्या सहित, १९५८-६१।

(५) गोविन्द विनायक देवस्थली द्वारा सम्पा०, आंग्लानुवाद तथा टिप्पणियों सहित मूलपाठ, पूना, वि० वि०, १९६७।

(६) वेदानन्द वेदवागीश, मूलपाठ, फिट्सूत्रप्रदीपाख्य व्याख्या-सहित, गुरुकुल, झज्झर, हरियाणा साहित्य संस्थान।

पाणिनि के व्याकरण की समस्याएं

यद्यपि पाणिनि इस बात को मानकर चलते हैं कि शब्दों के आख्यातज होने के कारण धातुओं में प्रत्यय लगा कर शब्दों की व्युत्पत्ति की जाती है, तो भी प्रश्न यह है कि क्या शाकटायन के समान वे भी सभी नामों को आख्यातज समझते थे? कीथ[1] के मतानुसार पाणिनि का यह सर्वसम्मत विचार नहीं है। पतञ्जलि तथा अन्य पाणिनीय पा० व्या० को शब्दानुशासन के नाम से पुकारते हैं। अतः वाकरनागल[2] तथा थीमे[3] का विचार है कि पाणिनि का मुख्य उद्देश्य शब्दव्युत्पत्ति था, न कि वाक्यरचना, किन्तु यह विचार समाचीन नहीं। पाणिनि का लक्ष्य साधु शब्दों का वाक्य में ठीक प्रयोग ही था[4]।

अल्-जार्ज सेरजिन (Al. George Sergin) वाकरनागल से सहमत हैं कि पा० की कारकव्यवस्था का मुख्य लक्ष्य वाक्यविश्लेषण ही था[5]।

यद्यपि पाणिनि ने अपना व्याकरण मुख्यरूप से 'भाषा' के प्रसंग में लिखा था, तो भी वैदिकरूपों के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं, किन्तु वैदिक-

---

[1] *H. S. L.*, London, 1920, p. 424.

इमेन्यु (Emeneau, M.B.) जे०ए०ओ० एस० ७५, पृ० १४८, १९५५ तथा स्टाआल Staal, Johan Frederik (*Current Trends in Linguistics*, Vol. 5, p. 508).

[2] 1896, *Altindische Grammatik*, *Intro.*, p. LXII.

[3] 1976, *JAOS* 76, *Pāṇini and the Pāṇinīyas*, p. 4.

[4] Vide, Cardona, *JOIB* 14, p. 306 ; *Languages* (Baltimore) 43, p. 35, n. 3 ; *JOIB*, 16, p. 213, n. 14), S. D. Joshi (*Festschrift R. N. Dandekar*, p. 16, 20, 26), (*Cardonà*, *Pā. Survey*, p. 185).

[5] George Cardona, *Pā. Survey*, p. 185.

प्रयोगों पर विस्तार से विचार नहीं किया और बहुत से प्रयोगों की सिद्धि के लिए तो **बहुलं छन्दसि** कह कर ही सन्तोष कर लिया ।

अनेक ऐसे वैदिक प्रयोग हैं, जो वैदिक-साहित्य में उपलब्ध तो होते हैं, किन्तु पा० के द्वारा सिद्ध नहीं किये जा सकते, यथा—शम्भव, गिरिश, गुरुतल्पग, कृष्टपच्य, कुण्डपाय्य, भार्या, आज्य, कुमुद प्रभृति ।

कभी कभी पा० किसी रूप का प्रयोग अपने सूत्र में करके भी उसकी सिद्धि का कोई साधन नहीं बतलाते, यथा—भव, शर्व, व्याघ्र ।

अनेक बार पा० किसी शब्द के अर्थ को स्पष्ट नहीं करते, यथा—अजर्य, कुप्य, ब्रह्मवादिन् ।

अष्टाध्यायी के बहुत से सूत्रों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है, यथा—**अचो यत्** (३, १, ९७), **पोरदुपधात्** (३, १, ९८), **ऋदुपधाच्चाक्लृपि चृतेः** (३, १, ११०); **ऋहलोर्ण्यत्** (३, १, १२४); **ओरावश्यके** (३, १, १२५); **अदोऽनन्ने** (३, २, ६८)। सर्वाधिक विस्तृत क्षेत्रार्थ—द्र० **तव्यत्तव्यानीयरः** (३, १, ९६), **कर्मण्यण्** (३, २, १), प्रभृति ।

अनेक अवस्थाओं में यह जानना कठिन है, कि जहां सूत्र में एक से रूपों की सिद्धि का प्रावधान किया गया है, वहां पाणिनि का आशय इन सभी पर तुल्य बल देने का है या न्यूनाधिक । ऐसी स्थिति में कहीं तो कात्यायन के सङ्केत से व्याख्या स्पष्ट होती है, यथा, ४, २, १३ ; ६, २, १४८ पर, या फिर पतञ्जलि के व्याख्यान से, यथा ३, २, ८७ ; ६, १, ८१ ; ६, ४, १३५ ; ७, ३, ८६ पर। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि पा० द्वारा निर्दिष्ट निपातनों के सम्बन्ध में उनके मन में असामान्य तत्त्व एक समय एक ही था अथवा सम्प्रदायविदों के विचारानुरूप अनेक थे, यथा—**अर्य** (३, १, १०३) ; **कुप्य, कृष्टपच्य** (३, १, ११४) ; **कुण्डपाय्य** (३, १, १३०); **अग्निचित्य** (३, १, १३२); **दधृष्** (३, २, ५९) ।

पाणिनि के आकृतिगण सर्वथा अनिश्चित हैं। इनके विषय में यह निश्चय करना कठिन होता है कि इनमें परिगणित रूप ही अभीष्ट हैं। इनमें भी एक तो वे हैं, जिनकी व्युत्पत्ति पा० सूत्रों से नहीं हो सकती, यथा—**भव, शर्व** (ये दोनों पचादि गण में परिगणित न होने पर भी पतञ्जलि द्वारा **अच्** प्रत्यय से ही निष्पन्न किये गये हैं) **मेष, देव, सेव**[1] ।

दूसरे वे हैं जिनकी सत्ता प्रमाणित होती है, यथा—**चोर-चोरी** (√चुर् +अच्) ये वेद में पाये नहीं जाते। **चोर** केवल तै० आर० परि० (१०, ६४)

---

[1] *Vide, Evolution of Sanskrit Language* by S.D. Laddu, p. 132.

में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु संस्कृत 'भाषा' में इसका प्रचुर प्रयोग पाया जाता है। **जार-भरा** तथा **श्वपचा** शब्द पाणिनि को ज्ञात ही थे, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि वेद में इसका प्रयोग नहीं हुआ[1]।

पाणिनीय सूत्रों में अनुवृत्ति की सीमा कहां तक है, इसका भी निश्चय नहीं किया जा सकता। यथा **उपसर्गे** (३, १, १३६) की अनुवृत्ति **पाघ्राध्मा०** (३, १, १३७) में तथा **अनुपसर्गात्** (३, १, १३८) तथा **विभाषा** (३, १, १३९) की अनुवृत्ति ३, १, १४० में। पा० ३, १, १३६ से तो अकारान्त धातुओं से क प्रत्यय किया गया है, किन्तु पा० ३, १, १३७ से **√घ्रा** से श का विधान कर दिया है, जिससे **व्या-जिघ्र** अथवा **विजिघ्र** या **घ्राय** (३, १, १४१) रूप बनते हैं, तो फिर **व्याघ्र** की सिद्धि के लिए क्या उपाय रह गया, जबकि पा० ने स्वयं **व्याघ्रादिभिः** (पा० २, १, ५६) में प्रयोग किया है[2]। कहीं-कहीं तो कात्यायन भी इस विषय में असमञ्जस में पड़ कर सूत्र के पुनः पढ़ने को बाध्य होता प्रतीत होता है, यथा—**अनुपसर्गे** (३, १, १००) का पुनः पाठ ३, १, १०६ पर किया गया है[3]।

---

१. वही, पृ० ११७-११८।

२. *Vide*, Laddu, S. D. ; *loc, cit.*, p. 148-149.

३. तु० काशिका (३, १, १०६) **अनुपसर्गे इत्येव, प्रवाद्यम्**।

एकविंश अध्याय

पाणिनि का काल

उपरिलिखित विवरण के उपरान्त पाणिनि के स्थितिकाल पर विचार करना उचित होगा। यह ऐसी जटिल समस्या है कि बहुत से विद्वानों के दीर्घकालीन अन्वेषण-गवेषण के बाद भी कोई निर्णायक परिणाम नहीं निकल सका। क्योंकि पाणिनि का स्थितिकाल भारतीय-साहित्य के इतिहास की आधारशिला है, अतः इस पर तब तक सतत विचार-विमर्श होते रहना चाहिये, जब तक किसी एक परिणाम की झलक दृष्टि-गोचर नहीं हो जाती।

वेबर ने पाणिनि का समय सिकन्दर के भारत पर आक्रमण के पश्चात् घोषित किया है। उनका आधार पाणिनि के खण्डिकादि (४, २, ४५) गणपाठ में 'क्षुद्रकमालवकात् सेना संज्ञायाम्' का पाठ तथा उनकी यह भ्रामक मान्यता है कि सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व ये परस्पर विरोधी थे और उनके पश्चात् एक हो गये थे। यूनानी लेखकों के अनुसार ये लोग सदा की परम्परा के अनुसार शत्रु के समक्ष एकत्र हो गये थे, किन्तु आकस्मिक फूट के कारण अकेले क्षुद्रकों ने सिकन्दर का प्रतिरोध किया था, जिसकी गूंज पतञ्जलि के महाभाष्य में भी पायी जाती है 'एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम्'। ये संघ मौर्य साम्राज्य के पश्चात् समाप्त हो गये थे, अतः पाणिनि द्वारा इनका उल्लेख उन्हें मौर्यवंश के उदय से पूर्व ही सिद्ध करता है, न कि पश्चात्[1]।

यद्यपि लीबिख़ इस विषय में कोई स्थिर मत नहीं बना सके, तो भी उन्होंने पाणिनि को बुद्ध तथा ईसवी सन् के आरम्भ से पूर्व सम्भवतः बुद्ध के सन्निकट मानने का प्रस्ताव रखा था। ग्रियर्सन की मान्यता थी कि अशोक के धर्मलेखों तथा पाणिनि के बीच सौ डेढ़ सौ वर्षों का अन्तर होना चाहिये, अतः पाणिनि का काल ४०० ई० पूर्व के लगभग हो सकता है। बोह्तलिङ्क ने इन्हें ३५० ई० पू० के लगभग माना है[2]। लासेन[3] तथा कीथ[4] का भी यही मत है।

---

[1] द्र० वा० शरण अग्रवाल, 'क्षुद्रक मालवों के विषय में पतञ्जलि' : पूना ओरिएण्टलिस्ट १, जनवरी १९३७, पृ० १-७ ; मैक्रिण्डिल, 'सिकन्दर का आक्रमण' में पृ० २३६ पर कर्तियस का साक्ष्य।

[2] अष्टाध्यायी, प्रस्तावना।

[3] *Ind. Alt.* II, p. 477.

[4] *H.O.S.*, 18, CLXVIII से ; ऐ० आर० पृ० २१ से।

मैकडॉनल अपने प्रतिसंस्कृत मत के अनुसार पाणिनि को ५०० ई० पू० के पश्चाद्वर्त्ती मानते हैं[1]। शार्पेन्तिए (Charpentier), के मतानुसार यह तिथि ५५० ई० होनी चाहिये[2], किन्तु बाद में प्रतिसंस्कृत मतानुसार यह तिथि ५०० ई० पू० के लगभग होनी चाहिये[3]। बेल्वल्कर[4], रा० गो० भण्डारकर[5], पाठक[6] तथा गोल्डस्टुकर[7] ने भिन्न-भिन्न तर्कों के आधार पर पाणिनि को सप्तम शती ई० पू० में माना हैं।

डा० भण्डारकर तथा कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार पाणिनि को दक्षिणभारत से परिचय न था। अतः वह सप्तम शती ई० पू० में रहे होंगे। किन्तु यह तर्क सर्वथा निराधार है। पाणिनि से निश्चित रूप से पूर्ववर्त्ती यास्क भी दाक्षिणात्य रीति-रिवाजों से पूर्णरूपेण परिचित थे। उन्होंने वैदिक 'विजामातृ' शब्द का दक्षिण भारत में प्रचलित ऐसे जामाता के लिए प्रयोग किया है, जिसने अपने श्वसुर को पत्नी का निष्क्रयमूल्य चुकाया हो[8]। स्वयं पाणिनि ने अश्मक, कलिंग तथा समुद्रतटवर्त्ती तथा मध्यसमुद्रवर्ती स्थानों के अतिरिक्त अन्तरयन देश का भी उल्लेख किया है, जो कर्करेखा से दक्षिण में स्थित था (पा० ८, ४, २५)। पाणिनि से कुछ ही समयोपरांत होने वाले कात्यायन को पतञ्जलि ने स्पष्ट ही दाक्षिणात्य ('प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः') कहा है। कात्यायन ने चोल तथा पाण्ड्य प्रदेशों के राजाओं का उल्लेख किया है[9]। सप्तम शती ई० पू० आपस्तम्ब जैसी वैदिकशाखा के प्रवर्त्तक भी दाक्षिणात्य ही थे। कात्यायन जैसे उद्भट वैयाकरण तथा आपस्तम्ब जैसे प्रकाण्ड कर्मकाण्डी विद्वान् की उत्पत्ति सूचित करती है कि दक्षिण में आर्य-संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार शताब्दियों से हो रहा था। ऐ० ब्रा० (७, १८) में आन्ध्रों का उल्लेख शबर प्रभृति पिछड़ी जातियों के साथ किया गया है। अतः सिद्ध होता है कि पाणिनि से पूर्व न केवल वैदिक संस्कृति का प्रसार दक्षिण में हो चुका था। अपितु वहां राज्य भी स्थापित हो चुके थे। महाभारत, अशोक के शिलालेख तथा बौद्ध गुफाओं के अभिलेख इस बात के साक्षी हैं कि ईसा से कम से कम ५०० ई० पूर्व

---

[1] इण्डियाज पास्ट।

[2] जे० आर० ए० एस० १९१३ पृ० ६७२-७४।

[3] वही, १९२८ पृ० ३४५।

[4] सिस्टम्स० पृ० १५।

[5] बाम्बे गैज़िटीयर, भाग १, खण्ड २, पृ० १४० से।

[6] ए० बी० ओ० आर० आई०, ११, पृ० ८३ से।

[7] पाणिनि पृ० २२५-२२७।

[8] विजामातेति शश्वद् दक्षिणाजाः क्रीतापतिमाचक्षते ; निरु० ६, ९।

[9] पा० ४, १, १७५—वा०।

ग्रान्ध्रों का शक्तिशाली राज्य दक्षिण में स्थापित हो चुका था और उत्तर भारत के आर्य लोगों को इनका पूर्ण परिचय था। ग्रतः भण्डारकर का पाणिनि के काल-निर्णय के सम्बन्ध में दक्षिण भारत से परिचयाभाव का तर्क ध्वस्त हो जाता है।

डा० देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर ने पहले तो अपने पिता के चरणचिह्नों पर चलते हुए पाणिनि को सप्तम शती ई० पू० में ही रखने का प्रस्ताव किया,[1] किन्तु पीछे इस विचार को बदल कर इन्हें षष्ठी शती ई० पू० के मध्य में स्थापित करने का निर्णय किया[2]।

गोल्डस्टुकर ने साहित्यिक साक्ष्य के ग्राधार पर पा० को सप्तम शती ई० पू० में रखने के ग्रपने प्रस्ताव के पक्ष में ऐसे तर्क दिये हैं, जिनके अनुसार पाणिनि केवल ऋग्वेद, सामवेद तथा कृष्ण यजुर्वेद से परिचित थे। ग्रारण्यक, उपनिषत्, प्रातिशाख्य, वाजसनेयि संहिता, शतपथ ब्राह्मण, अथर्ववेद तथा दर्शन-ग्रन्थों से उनका परिचय नहीं था। केवल यास्क पाणिनि से पूर्व हो चुके थे[3]। यह मान्यता निश्चय ही तथ्यों के सर्वथा विपरीत है। इसी लिए पॉल थीमे ने इसे निरस्त कर दिया है[4]। इन्होंने दर्शाया है कि पाणिनि ऋग्वेद, मै० सं०, काठ० सं०, ग्रथ० वे०, सम्भवतः सा० वे० के पदपाठ, पैप्पालाद शाखा से भी परिचित थे। उपनिषत् शब्द का प्रयोग **जीविकोपनिषदौपम्ये** (पा० १, ४, ७९) में उपमार्थक होते हुए भी **ऋगयनादि** गण (पा० ४,३,७३) में पठित ग्रन्थवाची उपनिषत् शब्द सिद्ध करता है कि पाणिनि 'उपनिषदों' से परिचित थे। इतना ही नहीं, **छन्दोगौक्थिकयाज्ञिक०** (पा० ४, ३, १२९) द्वारा आम्नायवाचक **छान्दोग्य** शब्द की व्युत्पत्ति करके तन्नामक **उपनिषत्** से परिचय का स्पष्ट निर्देश किया है[5]। इतना ही नहीं, इस सूत्र (पा० ४, ३, ७३) में **तस्य व्याख्यानः** (पा० ४, ३, ६६) की ग्रनुवृत्ति से पाणिनि का उपनिषदों से भी परिचय का सङ्केत प्राप्त होता है।

वाजसनेय (पा० ४, ३, १०६) के **शौनकादि गण** में पाठ से वा० संहिता, वा० ब्राह्मण, ग्रनुब्राह्मण (पा० ४, २, ६२) याज्ञवल्क्य ब्राह्मण (४, ३, १०५ वा० **तुल्यकालिकः**), अथर्ववेद (पा० ६, ४, १७४) **दण्डिनायन हास्तिनायनाथर्वणिक०**) तथा **वसन्तादिगण** (पा० ४, २, ६३) तथा इसकी **मौद-पैप्पलाद**

---

[1] कार्माइकेल व्याख्यान, कलकत्ता वि० वि०, १९१८, पृ० १४१।

[2] प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र १९, २१ पृ० ८६।

[3] पाणिनि, पृ० २२५-२२७।

[4] पाणिनि एण्ड वेद १९३५, पृ० ६३-७७।

[5] द्र० कीथ, तै० सं० ग्रांग्ला० भूमिका, पृ० १६७।

शाखाओं (पा० ६, २, ३७) जाजल शाखा (६. ४, १४४वा)[1] हारिद्रविक-शैलालि ब्राह्मण (पा० ४, ३, १०४, ११० ; द्र० निरुक्त १०, ५) हारिद्रविक ब्रा०, प्रभृति अनेक प्राचीन वैदिक ग्रन्थों (पा० ४,३,१०३), कल्पसूत्रों (पा० ४,३,१०५) काश्यप-कौशिक ऋषियों के सूत्रग्रन्थों, यज्ञयाग सम्बन्धी अनेक रचनाओं (पा० ४, ३, ६८ ; ७०), यथा आग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, पाकयज्ञिक, पौरोडाशिक, आध्वरिक प्रभृति, पदपाठ, क्रमपाठ (पा० ४, २, ६० ; ४, २, ६१) उच्चारण-सम्बन्धी रचनाओं, शिक्षा तथा चर्चापाठ (३, ३, १०५ ; ४, २, ६०—६१) पादव्याख्यान (४, ३, ७३) ज्योतिष तथा शकुन-विषयक रचनाओं (तु० मौहूर्तिक-नैमित्तिक, सांवत्सरिक (पा० ४, ३, ७३) प्रभृति विशाल साहित्य से पाणिनि का परिचय सिद्ध करता है कि उस समय तक विविध प्रकार के विशाल साहित्यिक भण्डार का प्रचार-प्रसार हो चुका था। दर्शन से सम्बद्ध आस्तिक, नास्तिक तथा दैष्टिक विचार-धाराओं का उदय हो चुका था (पा० ४, २, ६०)। मीमांसा (४, २, ६१) दर्शन का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। पाराशर्य तथा कार्मन्ददर्शन वैदिक-**भिक्षुओं** की विचारधारा के प्रतिपादक थे (पा० ४, ३, ११०-१११)[2], जो वेदान्त या सांख्य सम्प्रदाय से सम्बद्ध हो सकते हैं[3] तथा बुद्ध से पूर्वकालिक हैं। इस **भिक्षु** शब्द का बौद्ध भिक्षु-सम्प्रदाय से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

इसके अतिरिक्त पाणिनि महाभारत के मूल तथा उपबृंहित दोनों रूपों से परिचित प्रतीत होते हैं[4]। नटसूत्रों (४,३,११०-१११) 'शिशुक्रन्दीय' 'यमसभीय' तथा 'इन्द्रजननीय' जैसी रचनाओं से भी वे भली-भांति परिचित थे[5]। व्याकरण से सम्बद्ध दश प्राचीन आचार्यों का उल्लेख इन्होंने अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर किया है।

यास्क निश्चित रूप से पाणिनि से प्राचीन हैं। यास्क (पा० २, ४, ६३) तथा यास्कीय निरुक्त में उद्धृत अनेक नैरुक्त आचार्यों के नामों को पा० ने गणपाठ

---

[1] 'ऐलयीत' शब्द (पा० ३, १, ५१) का प्रयोग केवल अथर्व (६, १६, ३) में ही हुआ है। पॉल थीमे के अनुसार पा० शौनकीय अथर्ववेद से भिन्न किसी अन्य आथर्वणिक-शाखा से परिचित थे। (पाणिनि एण्ड वेद पृ० ६६); द्र० वेबर (इण्डिस्टु० ५, पृ० ७७ से)।

[2] वेबर, हि० इ० लि०, पृ० ३०५, टि०।

[3] अग्रवाल, इण्डिया, पृ० ३३८।

[4] उत्गीकर, भण्डारकर स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ३४० ; पा० ६, २, ६८।

[5] विस्तारार्थ द्रष्टव्य: अग्रवाल, इण्डिया०, पृष्ठ ३१७-३४० तथा युधिष्ठिर मीमांसक-रचित 'आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय', सं० २०१९ वि०, अजमेर ; यह संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग १ नामक रचना का षष्ठ अध्याय है।

उद्धृत किया है। पाणिनि निश्चय ही समस्त प्रातिशाख्यों तथा बहुत से धर्मसूत्रों, गृह्यसूत्रों तथा श्रौतसूत्रों से प्राचीन थे। पाणिनि द्वारा उल्लिखित समस्त साहित्यिक सूचनाएँ बुद्ध से प्राचीन हैं। बौद्धधर्म से सम्बन्द्ध **भिक्षु**, **निर्वाण**, **कुमारी श्रमणा** तथा **संघ** शब्दों के प्रयोग के आधार पर पाणिनि को बुद्ध-पश्चात् रखने का प्रयास[1] सर्वथा निष्फल है।

'भिक्षु' शब्द का प्रयोग वेदान्त अथवा सांख्य के आचार्यों के लिए प्रयुक्त होता था जैसाकि—**पाराशरिणो भिक्षवः** (पा० ४, ३, १००) **कर्मन्दिनो भिक्षवः** (४, ३, १११) शब्दों के प्रयोग से विदित होता है। **निर्वाण** शब्द का प्रयोग तो **बुझने** के अर्थ में ऋग्वेद (१०,१६,३) अथर्व० (६, १८, १) तथा शां० ब्रा० (७,९:१७,२) में ही हो चुका था। पाणिनि ने इस पद का प्रयोग इसी अर्थ में दर्शाया है—**निर्वातोवातः**। बौद्ध धर्मावलम्बी काशिकाकार ने **निर्वाणो भिक्षुः** स्वयं जोड़ दिया है। पतञ्जलि ने ऐसा कोई उदाहरण नहीं दिया। वार्तिककार कात्यायन ने भी पाणिनि के सूत्र में एतदर्थ कोई संशोधन प्रस्तुत नहीं किया। केवल **अवाताभिधाने** कह कर **निर्वाणोऽग्नि र्वातेन** तथा **निर्वाणः प्रदीपो वातेन**, इन्हीं उदाहरणों का समावेश किया है, अतः स्पष्ट है कि **निर्वाण** शब्द का **मोक्ष** के अर्थ में प्रयोग पाणिनि से पूर्वकालिक नहीं है। अतः पाणिनि को बुद्ध के पश्चात् मानने का यह आधार सर्वथा अप्रामाणिक है। **श्रमण** शब्द का प्रयोग श० ब्रा० (१४, ७, १, २२) में परिव्राजक के अर्थ में ही हुआ है। जैनियों के बहुत से तीर्थङ्कर आदिनाथ प्रभृति बुद्ध से पूर्व हो गये हैं, अतः **श्रमण** शब्द का प्रयोग बुद्ध से पहले से प्रचलित था[2]। **संघ** (पा० ३,३,४२) शब्द का प्रयोग भी बुद्ध से पूर्ववर्त्ती राजनैतिक प्रजातन्त्रीय संघों से ग्रहण किया गया है[3]। सूत्र से उत्तराधर भाव का **संघ** शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो उन लोगों के समूह (**संघ**) वाचक **निकाय** शब्द की व्युत्पत्ति से सम्बन्ध रखते हैं, जिनमें परस्पर कोई विषमता नहीं पायी जाती, अर्थात् सभी एक प्रकार, एक ही समुदाय, जाति, पेशे या विद्या अथवा शिल्प से सम्बद्ध हों, इसीलिए समान स्तर के मनुष्यों के लिए **निकाय** तथा पशुओं आदि को समष्टि के लिए **निचय** तथा **समुच्चय** शब्दों के प्रयोग प्रत्युदाहरण के रूप में रखे गये हैं।

मस्करी (परिव्राजक) (पा० ६, १, १५४) के नाम-निर्देश के आधार पर भी पाणिनि का काल बौद्ध काल के पश्चात् कल्पित करना सर्वथा असंगत

---

[1] वा० श० अग्रवाल, इण्डिया०, पृष्ठ ४५९।

[2] इससे सिद्ध होता है कि 'निर्वाण' शब्द का बौद्ध पारिभाषिक अर्थ पश्चात्पाणिनिकाल में प्रचलित हुआ तथा यह कि पाणिनि का स्थितिकाल बुद्ध से पूर्व था।

[3] *Dialogues of Buddha* by Rhys Davids, Pt. II, p. 79-85; *S. B. E.* XI, p. 3-6.

[4] वा० श० अग्र०, इण्डिया, पृ० २५८-२५९।

है। इस विषय में तर्क यह है कि **मस्करी** का नाम निर्देश करके पाणिनि ने बुद्ध के समकालिक आजीवक-सम्प्रदाय के प्रवर्तक मंखली-गोसाल से परिचय का प्रमाण प्रस्तुत किया है। प्रथमतस्तु पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट **मस्करी** शब्द किसी व्यक्ति-विशेष का नाम न होकर समस्त कर्मों को त्याज्य मानने वाले परिव्राजक-सम्प्रदाय का वाचक है। ये लोग सदा दण्ड (**मस्कर**) धारण करते थे तथा बुद्ध से पहले भी विद्यमान थे। न ही **मस्करी** तथा मंखलि गोसाल के पर्यायवाचक होने का कोई प्रमाण है। पाणिनि के किसी भी व्याख्याकार ने इसे व्यक्तिवाचक नहीं माना है। इसके अतिरिक्त बौद्ध तथा जैन परम्पराएं इस नाम के विषय में एकमत भी नहीं। बौद्ध-सम्प्रदाय में तो इसे गोशालिका-पुत्र अथवा गोशालिपुत्र कहा गया है, जबकि जैन-सम्प्रदाय में गोसाल मंखलिपुत्र पढ़ा गया है।

न ही इस कल्पना में कोई प्रमाण है कि पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट **दैष्टिक** (४, ४, ६०) विचारधारा के प्रथम प्रतिपादक मक्खलि गोसाल थे। डा० ए० एल० बाशम ने स्पष्ट किया है कि इस सम्प्रदाय की सत्ता मक्खलि गोसाल से पूर्वकाल में भी वर्तमान थी तथा उसके समय तक इस सम्प्रदाय के प्रचारक अनेक आचार्य हो गये थे[1]। इस सम्बन्ध में हार्नली की कल्पना[2] निरस्त कर दी गयी है।

ज्योतिष के आधार पर पाणिनि का स्थितिकाल निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। तर्क यह है कि श्रविष्ठादि दस नक्षत्रों में श्रविष्ठा का प्रथम स्थान पर सन्निवेश[3] सिद्ध करता है कि पाणिनि के काल में श्रवणा के स्थान पर श्रविष्ठा नक्षत्र प्रथम नक्षत्र माना जाने लगा था। वेदाङ्ग-ज्योतिष के काल में यही प्रथा थी। इस के पूर्व नक्षत्र-गणना कृत्तिका से आरम्भ की जाती थी। महाभारत में यह गणना श्रवणा से आरम्भ की गयी है[4]। यद्यपि वहीं पर धनिष्ठा (श्रविष्ठा) आदि गणना का प्रमाण भी प्राप्त होता है[5]। अतः प्रतीत होता है कि महाभारत के उक्त वचन के समय धनिष्ठादि के स्थान पर श्रवणादि नक्षत्रगणना आरम्भ हो चुकी थी[6]। किन्तु परम्परागत धनिष्ठादि का भी प्रचलन विद्यमान था। महाभारत के

---

१. द्र० ए०एल० वाशम, हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रिन ऑफ दि आजीवकस्, पृ० ३६ ; ७८।

२. *Ājivikas ERE* I, p. 259 f.

३. पा० ४, ३, ३४।

४. **श्रवणादीनि ऋक्षाणि** (अश्व० पर्व० ४४, २)।

५. वन पर्व, २३०, १०।

६. फ्लीट, जे० आर० ए० एस० १९१६, पृ० ५७० ; कीथ, जे० आर० ए० एस० १९१७, पृ० १३३ ; हाप्किन्स, जे० ए० ओ० एस०, १९०३।

अनुसार धनिष्ठा के स्थान पर श्रवणा की प्रथम स्थान पर गणना का श्रेय विश्वामित्र को था[1] । श्री जोगेशचन्द्र रे के अनुसार १३७२ ई० पू० में श्रविष्ठा (धनिष्ठा) सूर्य और चन्द्रमा संक्रान्ति के समय एक स्थान पर थे । ७० वर्ष में एक नक्षत्र अपने स्थान से एक अंश हट जाता है और एक पूरे नक्षत्र के परिवर्तन में ९३३ वर्ष लगते हैं। अतः पंचम शती ई० पू० के आरम्भ—४०५ ई० पू० में श्रवणा नक्षत्र ने श्रविष्ठा का स्थान ग्रहण कर लिया था[2] । अतः १३७२ ई० पू० से ४०५ ई० पू० तक श्रविष्ठादि गणना का काल था । अतः पाणिनि का समय ५०० ई० पू० से ४०० ई० पू० तक माना जा सकता है[3] ।

किन्तु इस तर्क-परम्परा में सबसे बड़ा दोष यह है कि सूत्र में गिनाये गये नक्षत्रों का सन्निवेश ज्योतिष की गणना के अनुरूप नहीं है, अपितु ये बिना किसी क्रम के गिना दिये गये हैं। दूसरे इस सूत्र में श्रवणा को आदि में रखा भी नहीं जा सकता था, क्योंकि इस सूत्र का नियम श्रवण शब्द पर लागू ही नहीं होता । तीसरे नक्षत्रक्रम से किसी तिथि का निश्चय करना सर्वथा अव्यावहारिक है, क्योंकि याज्ञ० स्मृ० (१, २६७) में कृत्तिका से नक्षत्रों का आरम्भ किया गया है, जो किसी प्राचीन परम्परा का निर्देश करता है, जो तै० सं० के काल में प्रचिलत थी[4] । इसके अतिरिक्त इस विषय में विचारणीय प्रश्न यह भी है कि ९३३ वर्षों के दीर्घकाल में पाणिनि को अन्तिम छोर पर ही स्थापित करने में पूर्वाग्रह पर आधृत कल्पना के अतिरिक्त और क्या प्रमाण है ? उस पूर्वाग्रह के आधारभूत स्तम्भों **मस्करी** प्रभृति पर आधृत बौद्ध साक्ष्यों के धूलिसात् हो जाने पर उन पर स्थापित समस्त कल्पनाप्रासाद स्वतः धराशायी हो जाता है। अतः नक्षत्र-गणना के आधार पर पाणिनि को १४वीं तथा १५वीं शती ई० पू० के बीच, अन्य प्रमाणों से पुष्ट किसी भी काल में रखा जा सकता है। ऐसी अवस्था में मध्यम-मार्ग का अपनाना ही श्रेयस्कर एवं न्यायसंगत प्रतीत होता है। अतः दुर्जनतोषन्यायेन ज्योतिष-गणना को आधार मान भी लिया जाये, तो भी पाणिनि का काल ७०० ई० के आस-पास मानना ही अधिक संगत होगा ।

नन्दराज की अनुश्रुति के आधार पर पाणिनि को किसी नन्द राजा का सभा-पण्डित मान लिया गया है। इसकी तथ्यता को सिद्ध करने के लिए बौद्ध लेखक तारानाथ (१७वीं शती) तथा कथासरित्सागर (११वीं शती) एवं बृहत् कथामञ्जरी (११वीं शती) तथा बौद्ध ग्रन्थ मञ्जुश्रीमूलकल्प (८वीं शती) को

---

[1] कीथ, जे० आर० ए० एस०, १९१७, पृ० ३९ ।

[2] *The First Point of Aśvini*, (1934).

[3] वा० श० अग्र०, वही, पृ० ४६० ।

[4] द्र० तिलक, ओरियन, १९५५ सं०, पृ० ४१ से ।

आधार माना गया है[1]। बड़ी विचित्र बात यह है कि प्राचीन हिन्दू पौराणिक परम्परा को तो अमान्य कर दिया गया, किन्तु बौद्ध-परम्परा को मान्यता प्रदान की गयी। यह परम्परा भी अधिक से अधिक अष्टम शती की है। उस कथासरित्सागर तथा बृहत्कथामञ्जरी को भी ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत करना कहां तक उचित है, जो पाणिनि, व्याडि और कात्यायन वररुचि को पाटलिपुत्र की सभा के सम-सामयिक सदस्य घोषित करते हैं। ये दन्तकथाएं और उनपर आधृत राजशेखर (९००) तथा उससे पूर्व ह्वान् च्वाङ् की जनश्रुतियों के अधकचरे साक्ष्य पर विश्वास करके काल-निर्धारण की समस्त प्रक्रिया ही दोषपूर्ण है।

अपने पूर्वनिर्धारित मत की पुष्टि करने वाले पौराणिक-साक्ष्य को ग्रहण तो कर लेना और शेष को अकारण ही त्याज्य घोषित कर देना भी तथ्यान्वेषण के लिए अर्धजरतीय-न्याय के अनुरूप ही सिद्ध होता है। शिशुनागवंशी उदय के बाद नन्दिवर्धन एवं मह्नन्दिन् प्रभृति राजाओं की काल-गणना के लिए तो पुराणोक्त समयसारणी को स्वीकार कर लिया गया है[2], किन्तु उससे पूर्व के राजाओं की वंशावलियों को अविश्वसनीय घोषित कर दिया गया है[3]। अन्यथा नन्दवंशीय समस्त साक्ष्य धूलि-धूसरित हो जाता है। अतः इस साक्ष्य का तब तक कोई मूल्य नहीं है, जब तक सम्बद्ध समस्त साक्ष्य की ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं मान ली जा सकती।

पाणिनि ने **यवन** तथा **यवनानी** का उल्लेख किया है (पा० ४, १, ४९)। बेन्फे, बर्नेल, वेबर, वाकरनागल प्रभृति ने इसी आधार पर पाणिनि को सिकन्दर के पश्चात् रखने का प्रयास किया था, क्योंकि उनकी सम्मति में यवन शब्द उसके पूर्व यूनानियों के लिए प्रयोग ही नहीं हो सकता था। किन्तु हम जानते हैं कि यूनानी (आयोनियावासी) सिकन्दर से शताब्दियों पूर्व काबुल की घाटी में आकर बसे हुए थे। एवं भारतीय उनसे १००० ई० पू० से भी पहले से परिचित थे[4] और दारा प्रथम (५२१-४८५ ई० पू०) ने अपने अभिलेखों में यौन (=यवन) शब्द का प्रयोग यूनानियों के लिए सर्वप्रथम किया था। नाइसा नामक

---

[1] वासु देव० 'इण्डिया' पृ० ४६२-४६५।

[2] वही, पृ० ४६३-६४।

[3] विन्सेंट स्मिथ ने शैशुनाग वंश के नवें तथा दसवें राजाओं के वायु-मत्स्य पुराणों में निर्दिष्ट कुल राज्यकाल ८५ या ८३ वर्ष को, बिना किसी हेतु के मनमाने ढंग से घटा कर ४५ वर्ष का कर दिया हैं, जबकि इंग्लैंड के जार्ज तृतीय तथा विक्टोरिया के कुल १२४ वर्षों के राज्यकाल को उचित समझकर हजम कर लिया है।

[4] बल्वेल्कर, सिस्टम्स, पृ० १५।

स्थान में यूनानियों का एक विशेष सन्निवेश स्वयं सिकन्दर ने देखा था, जो पहले से बसा हुआ था। पतञ्जलि ने भी **नैशजनपद** का उल्लेख किया है (पा० ४, १, १७० म० भा०)। दारा के राज्य के अन्तर्गत आयोनिया तथा पाणिनि का प्रदेश गान्धार दोनों ही आते थे तथा गान्धार के भारतीयों की एक सैनिक टुकड़ी ने ४७९ ई० पू० में ईरानी सम्राट् खरखेज़ की ओर से यूनानियों के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया था। अतः **यवन, यवनानी** शब्दों से पाणिनि का काल सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् सिद्ध नहीं किया जा सकता। कात्यायन ने **यवनानी लिपि** का भी उल्लेख किया है (**यवनाल्लिप्याम्**—पा० ४,१,४९ वा०)। सम्भवतः पाणिनि को यवनों की लिपि से परिचय नहीं था। अतः वह इस लिपि के प्रचलन के पूर्वकाल के थे[1]।

पाणिनि ने वृक तथा पर्शु नामक आयुधजीवी-संघों का उल्लेख किया है (पा० ५, ३, ११५; ११७), जिनके व्यक्ति क्रमशः वार्केण्य तथा पार्शव कहलाते थे। **वार्केण्य** का रूपान्तर **वर्काण** तथा **पार्शव** का **पार्स** दारा के बेहिश्तून अभिलेख में उल्लिखित हैं। वर्क शकों का आयुध-जीवी संघ था। इसका आभास दारा के ही नक्शेरुस्तम अभिलेख में वर्णित **सक-हौम-वर्का** बहुवचनान्त शब्द से होता है। पार्शव शब्द की प्रतिध्वनि 'बावेरू' शब्द (Babylonian) पर-स-अ-अ में मिलती है। **पाशर्व** तथा **वार्केण्य** लोगों के आयुधजीवी-संघ इस बात के प्रमाण हैं कि तब तक ईरान में हाकामानी राज्य की स्थापना नहीं हुई थी। यह स्थिति ७३० ई० पू० से पूर्व की हो सकती है, जबकि कुरुष (Cyrus) के पूर्वज तैयास्प (Teispes) ने इस राज्य की स्थापना की थी। पर-स-अ-अ यह नाम असीरियाई खातों में ८५० ई० पू० से सुरक्षित है[2]।

पाणिनि ने कन्थान्त नाम वाले प्रदेशों, नगरों, ग्रामों, तालाबों प्रभृति की चर्चा की है (पा० २, ४, २०; ४, २, १०२; १०३; १४२; ६, २, १२४; १२५), जिनके रूप विविध प्रकार के प्रत्ययों से बनते थे। यह कन्था शब्द शक भाषा का है, जो आज भी समरकन्द, ताशकन्द, ख़ोकन्द जैसे मध्येशियाई नगरों के नामों में सुरक्षित है।

इससे प्रतीत होता है कि शक लोग भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के आसपास पाणिनि से पूर्व ही अपना प्रसार कर चुके थे।

गान्धार देश दारा प्रथम (५२१-४८५ ई० पू०) तथा खर्खेज़ (४८५-४६५) के शासनकाल में ईरानी प्रशासन के अन्तर्गत आ चुका था।

---

[1] वी० के० राजवाड़े; सी० बी० वैध; हि० सं० लिट् १, पृ० १४८।

[2] *Historian's History of the World*, Pt. I, p. 388; Pt. II, p. 560; 589.

किन्तु पाणिनि ने इसका उल्लेख स्वतन्त्र जनपद के रूप में किया है (**साल्वेय-गान्धारिभ्याञ्च** ४, १, १६९—**गांधार: जनपद:, गांधारो राजा**)। इससे यह परिणाम निकाला गया है कि यह स्थिति ४६५ ई० पू० के पश्चात् सम्भव हुई होगी, क्योंकि यह काल महानन्दी (४४५-४०३) के साथ पाणिनि की समसामयिकता से मेल खाता है[1], किन्तु क्या हम पूछ सकते हैं कि यह स्थिति ५२१ ई० पू० से पूर्वकालिक क्यों नहीं हो सकती ? उस समय भी गान्धार स्वतन्त्र जनपद था। किन्तु ऐसा मान लेने पर अपनी पूर्वनिश्चित विचारधारा को ठेस लगती है और पाणिनि को पञ्चम शती ई० पू० में निर्धारित करने की योजना को धक्का लगता है। अतः उसे ४४०-४३० ई० पू० के बीच में रखना अत्यन्त आवश्यक है !

कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि दोनों महानुभाव अनेकों समान संस्थाओं से परिचित थे। पॉल थीमे के मतानुसार तो पाणिनि के अनेकों पारिभाषिक शब्दों का वास्तविक अभिप्राय अर्थशास्त्र से ही स्पष्ट होता है। यथा—**मैरेय, कापिशायन, देवपथ, वैयुष्ट, व्युष्ट, यौजन-शतिक दूत, दिव्य, आर्यकृत, पुरुष, हस्ती** (माप), **केदार, परिषद्, अध्यक्ष** प्रभृति।

साथ ही साथ पाणिनि द्वारा उल्लिखित निष्क, सुवर्ण, शाण और शतमान जैसे प्राचीन सिक्कों का ज्ञान कौटिल्य को नहीं है। **विंशतिक** और **त्रिंशत्क** नामक सिक्कों का प्रचलन भी अर्थशास्त्र के समय बन्द हो चुका था। शतमान सिक्के की सूचना तो श० ब्रा०[2] से प्राप्त होती है, जो पाणिनि से कई सौ वर्ष पूर्वकालिक हैं। **विंशतिक** (२० माशे का चाँदी का सिक्का) विम्बसार (षष्ठो शती ई० पू०) के समय में प्रचलित था। इसी प्रकार कार्षापण का (सम्भवतः २० माशे का सिक्का) भी विंशतिक के समकालिक ही था। ये दोनों सिक्के अर्थशास्त्र के काल में प्रचलित नहीं रहे थे। मौर्य काल के कार्षापण की आकृति भिन्न थो[3]। इन सिक्कों की सूचना के आधार पर भी पाणिनि को पञ्चम शती ई० पू० में रखने का प्रयास किया गया, किन्तु जब पाणिनि श० ब्रा० में उल्लिखित **शतमान** जैसे प्राचीन सिक्के का उल्लेख करते हैं और **विंशतिक** का प्रचलन बिम्बसार के समय में प्रमाणित होता है, जो सम्भवतः पहले से चला आ रहा था और कार्षापण का उल्लेख अर्थशास्त्र तथा मनुस्मृति दोनों ने किया है,[4] तो सिद्ध है कि पाणिनि

---

[1] वासुदेव०, इण्डिया०, पृ० ४६८।

[2] काण्ड ५ ; १२ तथा १३ में ; पाणिनि ५, १, २७।

[3] द्र० वासुदेव०, इण्डिया० पृ० ४७२, पा० ५, १, २९।

[4] मनुस्मृति का काल २०० ई० पू० तथा २०० ई० के बीच में माना गया है अर्थात् कौटिल्य से कम से कम दो सौ वर्ष बाद।

प्राचीन साहित्य में वर्णित तथा अपने समय में प्रचलित दोनों प्रकार के सिक्कों का उल्लेख करते हैं। उन्हें तो शब्द-व्युत्पत्ति इष्ट है न कि सिक्कों की ऐतिहासिकता। हम यह भी जानते हैं कि प्राचीनकाल में संस्थाएं और सिक्के बहुत दीर्घकाल तक चलते रहते थे। जैसे कि मनुस्मृति के काल तक भी कार्षापण का चलन प्रमाणित करता है, तो हम समझते हैं कि पाणिनि बिम्बसार से पहले चले आ रहे **शतमान** तथा **विंशतिक** का ही उल्लेख करते प्रतीत होते हैं। अतः पाणिनि बिम्बसार से प्राचीनकालिक थे। इस विषय में ज्ञातव्य है कि अर्थशास्त्र को तृतीय शती ई० में रखने वाले जॉली भी वहां वर्णित अनेकों संस्थाओं के स्रोतों को भी उसकी अपेक्षा अतिप्राचीन पाणिनि में ही खोजते हैं। पाणिनि निश्चय ही कौटिल्य से बहुत प्राचीन थे[२]।

यदि पाणिनि के व्याकरण के विकास पर दृष्टिपात किया जाये, तो ज्ञात होता है कि कात्यायन ने पाणिनीय अष्टाध्यायी के ४००० सूत्रों में से १२२८ सूत्रों में संशोधन या परिवर्धन करके दस सहस्र नवीन शब्दों की सिद्धि करके इस महान् वैयाकरण की सुविहित कृति को पूर्णता प्रदान की। यद्यपि यह ठीक है कि इनमें से प्रत्येक शब्द का प्रचलन पाणिनि के उपरान्त हुआ नहीं माना जा सकता, तो भी मानना ही पड़ेगा कि पाणिनि-कालीन भाषा, शब्दकोष तथा मुहावरों में इतना अधिक अन्तर आ गया था कि कात्यायन को पाणिनि के लगभग ३८% सूत्रों में कांट-छांट करनी पड़ी। यह अन्तर सौ डेढ़ सौ-वर्षों में उस समय कदापि सम्भव नहीं था, जबकि भाषा के प्रचार-प्रसार तथा साहित्यिक गतिविधियों के लिए आवश्यक आवागमन तथा सम्बन्ध-स्थापन के साधनों का आज की अपेक्षा अभाव सा था। पिछले सौ वर्षों में खड़ी बोली के विकास में एड़ी-चोटी का बल लगाने पर भी उसकी वाक्य-रचना में या व्याकरण के प्रयोगों में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। किन्तु पाणिनि से कात्यायन तक आते-आते भाषा का न केवल शब्दकोष और मुहावरा ही परिवर्तित हो गया था, अपितु रचनाशैली भी बदल गयी थी। कई ऐसी साहित्यिक रचनाएं कात्यायन को प्राचीन प्रतीत होने लगीं, जो पाणिनि-काल में या तो विद्यमान ही नहीं थीं या उनके लिए प्राचीन नहीं

---

[१] पॉल थीमे, 'पाणिनि एण्ड वेद' पृ० ८०।

[२] पाणिनि तथा कात्यायन के बीच इतना समय अवश्य मानना पड़ेगा, जिसमें (क) पाणिनि-कालीन व्याकरण-विषयक शब्दरूप सर्वथा लुप्त हो गये थे या पुराने पड़कर 'अप्रयुक्त' माने जाने लगे थे (ख) शब्दों के अर्थ परिवर्तित हो चुके थे। (ग) पा० द्वारा प्रयुक्त शब्द तथा उनके अर्थ इतने पुरातन पड़ गये थे कि उनके प्राचीन प्रयोगों का प्रचलन बन्द हो चुका था (घ) इतने नवीन साहित्य की रचना हो चुकी थी, जिसका पा० को पता नहीं था (द्र० गोल्डस्टुकर, पाणिनि पृ० ९३)।

थीं। अतः पाणिनि और कात्यायन के बीच कम से कम तीन सौ वर्षों का व्यवधान मानना ही होगा।

कात्यायन का काल ४०० ई० पू० माना जाता है, अतः पाणिनि का काल ७०० ई० पू० से पश्चात् नहीं हो सकता।

पाणिनि (६, २, ४२) **कुरुगार्हपत** की चर्चा तो करते हैं, किन्तु **वृजिगार्हपत** की नहीं करते। कात्यायन ने वा० द्वारा इस कमी को पूरा किया। पाणिनि वृजियों से परिचित थे, जो एक अनार्य कबीला था (पा० ४, २, १३१—'मन्द्रवृज्योः कन्')। अतः प्रतीत होता है कि पाणिनि वृजियों के प्रजातन्त्र के रूप में उदय से पूर्व अर्थात् बुद्ध से पूर्व हो गये थे।

अतः पाणिनि के काल का निश्चय करने वाले प्रायः सभी तर्क इन्हें ७०० ई०पू० के आसपास प्रमाणित करते हैं—

(१) पाणिनि द्वारा उल्लिखित समस्त साहित्य बुद्ध से पूर्वकालिक है।

(२) संघ, निर्वाण, श्रमण प्रभृति तथाकथित बौद्ध-शब्द बुद्ध से पूर्वकालिक हैं। तब तक वृजिसंघ का उदय नहीं हुआ था।

(३) ज्योतिष सम्बन्धी साक्ष्य के अनुसार धनिष्ठादि नक्षत्रगणना का प्रयास भी पाणिनि को कम से कम ७०० ई० पू० में रखने का सङ्केत करता है।

(४) यवनानी लिपि का उदय पाणिनि के पश्चात् कात्यायन के समय के कुछ पूर्व हुआ प्रतीत होता है, जबकि यवन ७०० ई० पू० से भी कुछ पूर्व ही भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर बसे हुये थे। वैसे भारतीयों का यवनों से परिचय १००० ई० पू० से पहले का था।

(५) पाणिनि काल में पर्शु तथा वृक लोगों के आयुधजीवी-संघों से हाक़ामानो सम्राज्य की स्थापना से पूर्व की स्थिति प्रमाणित होती है, यह साम्राज्य ७०० ई० पू० स्थापित हुआ था।

(६) गन्धार भी स्वतन्त्र राज्य था। इसे दारा ने ५२१ ई० पू० के पश्चात् आत्मसात् कर लिया था। अतः पाणिनि इस घटना से पूर्वकालिक हैं।

(७) कौटिल्य ने पाणिनि की बहुत सी पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया है और कौटिल्य पाणिनि से कम से कम ३००-३५० वर्ष पश्चात् हुए, अतः पाणिनि ७०० ई० पू० के लगभग हुए हैं।

(८) कात्यायन की भाषा, शब्दकोष, मुहावरे तथा तद्द्वारा उल्लिखित संस्थाएं तथा पाणिनीय-व्याकरण की विशाल संशोधन-प्रक्रिया कात्यायन तथा पाणिनि के मध्यवर्त्ती अन्तराल के कम से कम ३००-३५० वर्ष होने का संकेत करते हैं।

अतः पाणिनि ७०० ई० पू० या इसके आसपास हो सकते हैं, क्योंकि कात्यायन के काल को ३००-३५० ई० पू० में सर्वसम्मति से मान्यता दे दी गयी है।

(९) पाणिनि ने जिस भाषा का व्याकरण लिखा है वह भाषा जन-साधारण में बोली और समझी जाती थी[1]। यह स्थिति महावीर-बुद्ध से निश्चय ही पूर्वकालिक थी, तभी तो इन दोनों ने अपने धर्म का प्रचार अपने समय की प्राकृत या जनसामान्य की भाषाओं में किया। अतः संस्कृत का प्राकृतों के रूप में विकास भले ही पाणिनि के काल में आरम्भ हो चुका हो, किन्तु उन्हें जनसामान्य की बोली का पूर्ण पद बौद्ध-जैन मत-प्रवर्तकों के काल में ही प्राप्त हुआ प्रतीत होता है। अतः पाणिनि को इनसे कम से कम दो सौ वर्ष पूर्ववर्त्ती होना चाहिये।

---

[1] द्र० कीथ, तै०सं० आंग्लानु०, भूमिका, पृ० १६८।

द्वाविंश अध्याय

अष्टाध्यायी के वार्तिककार

पाणिनीय अष्टाध्यायी पर अनेक वैयाकरणों ने वार्तिकों[1] की रचना की है, किन्तु उनके ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। बहुत से वार्तिककारों के नाम भी ज्ञात नहीं हैं, जिनके वार्तिक महाभाष्य में उद्धृत हैं। पतञ्जलि ने कहीं-कहीं वार्तिककारों के नामों का निर्देश किया भी है, यथा—कात्यायन, भारद्वाज, सुनाग, वाडव, क्रोष्टा। इनके अतिरिक्त महाभाष्य के व्याख्याकारों ने भी दो वार्तिककारों के नामों का उल्लेख किया है, यथा—व्याघ्रभूति तथा वैयाघ्रपद्य। भर्तृहरि[2], कुमारिल[3], जिनेन्द्रबुद्धि[4], हरदत्त[5], नागेश[6], प्रभृति आचार्यों ने वार्तिककार के लिए 'वाक्यकार' शब्द का भी प्रयोग किया है।

यह तथ्य सभी जानते हैं कि व्याकरणमहाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपना महाभाष्य कात्यायन-रचित वार्तिकों पर लिखा है। तथापि उन्होंने अन्य अनेक वार्तिककारों के वार्तिकों को भी उद्धृत करके उनकी व्याख्या की है। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे वचनों का भी संग्रह किया है, जो वार्तिक प्रतीत होते हैं, किन्तु वार्तिक हैं नहीं, अपितु अन्य वैयाकरणों के वचन हैं, जिनमें से कुछ तो कारिकाओं के रूप में है और कुछेक कारिकाओं के अंशभूत हैं[7]। कहीं-कहीं पूरी कारिकाएं ही प्राचीन ग्रन्थों से उद्धृत की गयी हैं[8], किन्तु ये कारिकाएं पा० सूत्रों को समझने में भी सहायक हैं। कुछेक ऐसी कारिकाएं भी म० भा० में उद्धृत की गयी हैं[9], जिन्हें कैयट, नागेश आदि टीकाकारों ने वार्तिक समझ कर उनकी संगति लगाने का प्रयास किया है, किन्तु वास्तव में वे वार्तिक नहीं हैं[10]।

---

[1] **उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते । तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिण: ॥**

[2] म० भा० दीपिका, पृ० १६०।

[3] तन्त्रवार्तिक १, ३, ८, पृ० २७८, पूना०।

[4] न्यास, पा० ६, २, ११।

[5] पदमञ्जरी, भाग १, पृ० ७।

[6] म० भा० प्र० उद्योत, ६, १, १३५।

[7] म० भा० ४, २, ६० ; द्र० कैयट द्वारा पूरी कारिका की व्याख्या।

[8] म० भा० ३, २, ५७ ; ५, २, ५९।

[9] म०भा० ४, ३, ६०।

[10] मीमांसक, वही, भाग १, पृ० ३२५।

वार्तिकों को यद्यपि सूत्रवृत्ति (=प्रवृत्ति) की व्याख्या कहा जाता है, तो भी कैयट ने इन्हें **व्याख्यानसूत्र** की संज्ञा भी दी है और भर्तृहरि ने **भाष्यसूत्र** की।

जैसे ऊपर कह चुके हैं, पतञ्जलि से पूर्व अनेकानेक वार्तिककार हो चुके थे, क्योंकि उन्होंने कम से कम २८ सूत्रों पर अन्य आचार्यों के वार्तिक नाम-निर्देश के बिना उद्धृत किये हैं। स्वयं पतञ्जलि ने भी बहुत से वार्तिकों की रचना की थी। जिन वार्तिककारों का नामनिर्देश किया गया है, उनका यथासम्भव परिचय देने का प्रयास किया जायेगा—

भारद्वाज—पतञ्जलि ने भारद्वाजीय वार्तिकों का उल्लेख अनेक बार किया है, जो कात्यायनीय वार्तिकों से कुछ विस्तृत थे, किन्तु यह सुनिश्चित नहीं है कि वे पाणिनीय व्याकरण पर ही लिखे गये थे। सम्भव है, ये पूर्वोक्त भारद्वाज व्याकरण पर ही हों, जो पाणिनीय-व्याकरण से बहुत समानता रखता था। इन वार्तिकों तथा कात्यायनीय वार्तिकों में भी बहुत साम्य है, यथा—

कात्या०—**घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिदर्थम्।**

भार०—**घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम्।**

कात्या०—**यक्चिणोः प्रतिषेधे हेतुमण्णिश्रिब्रूञामुपसंख्यानम्।**

भार०—**यक्चिणोः प्रतिषेधे णिश्रिश्रन्थिग्रन्थिब्रूञामात्मनेपदाकर्मकाणामुपसंख्यानम्।**

सुनाग—महाभाष्य ४, ३, ११४ से प्रतीत होता है कि पाणिनीय अष्टाध्यायी पर 'सौनाग वार्तिकों' की भी रचना की गयी थी[1], जिनके रचयिता का नाम सुनाग था। गुरुपद हालदार के अनुसार सुनाग पाणिनि से पूर्ववर्ती थे[2], जो ठीक नहीं है[3]। ये वार्तिक भी कात्यायनीय वार्तिकों से अधिक विस्तृत थे[4]। इसी कारण महाभाष्य २, २, १७ में कात्यायनीय वार्तिक की व्याख्या के अनन्तर पतञ्जलि ने लिखा है **एतदेव सौनागैर्विस्तृततरकेण पठितम्।**

---

[1] म०भा० ४, ३, ११५ पर कैयट—**पाणिनीयलक्षणे दोषोद्भावनमेतत्।**

[2] व्याकरणदर्शनेर् इतिहास, पृ० ४४५।

[3] मीमांसक, वही०, पृ० ३१५।

[4] मीमांसक, वही, पृ० ३१५-१६।

महाभाष्य ने इस प्रकार अनेक स्थलों पर **अत्यल्पमिदमुच्यते** लिख कर कात्यायनीय वार्तिकों से विस्तृत वार्तिक उद्धृत किये हैं[1], जो सम्भवतः सौनागों के हो सकते हैं[2]। महाभाष्य ४, २, ६५ में महावार्तिक के अध्येताओं के लिए **महावार्तिक** पद का प्रयोग किया गया है। ये **महावार्तिक** सौनाग हो सकते हैं[3] तथा ये **महावार्तिक** सुनाग-विरचित हो सकते हैं।

सौनागों के अनेकों मत भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका, काशिका (७, २, १७), भाषावृत्ति (७, २, १७), क्षीरतरंगिणी, (पृ० ३), धातुवृत्ति (√शक, पृ० ३०१ ; √भस्, पृ० ३०७ ; √शक्लृ, पृ० ३१९) प्रभृति अनेक ग्रन्थों में उद्धृत हैं।

क्रोष्टा—म० भा० १, १, ३ में क्रोष्टा नामक आचार्य के वार्तिक का उल्लेख किया गया है। **परिभाषान्तरमिति च कृत्वा क्रोष्ट्रीयाः पठन्ति, नियमादिको गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेनेति**। इससे प्रकट होता है कि क्रोष्ट्रीय वार्तिक पाणिनीय अष्टाध्यायी पर ही थे।

वाडव—महाभाष्य ८, २, १०६ में एकवचन है **अनिष्टिज्ञो वाडवः पठति**। इस पर नागेश का टिप्पण है—**समस्तं सिद्धं त्विदुतोरिति वार्तिकं वाडवस्य**। इसके विषय में अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं है। म० भा० ३, २, १४ तथा ७, ३, १ में एक कुणरवाडव का भी उल्लेख किया गया है।

व्याघ्रभूति

यद्यपि पतञ्जलि ने व्याघ्रभूति का उल्लेख नहीं किया, तो भी उन्होंने पा० २, ४, ३६ के भाष्य में एक श्लोकवा० उद्धृत किया है, जिसे कैयट ने व्याघ्रभूति विरचित माना है। इसी प्रकार काशिका ७, १, ९४ पर एक श्लोक उद्धृत है, जिसे कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका के कर्ता त्रिलोचनदास ने व्याघ्रभूति के नाम से उद्धृत किया है[4]। सुपद्ममकरन्दकार ने इसे व्याघ्रभूतिकृत ही माना है[5]। काशिका ७, २, १० में उद्धृत अनिट् कारिकाएं भी व्याघ्रभूति-रचित कही जाती हैं[6]।

---

[1] म० भा० २, ४, ४९ ; ३, १, १४ ; २२ ; २५ ; ९७ ; ३, २, २९ प्रभृति।

[2] मीमांसक, वही, पृ० ३१६।

[3] वही।

[4] कातन्त्र चतुष्टय।

[5] सुपद्म०, सुबन्त, २४।

[6] शब्द कौ० १, १, २, पृ० ८२ ; धातुवृत्ति, पृ० ८२।

वैयाघ्रपद्य

वैयाघ्रपद्य नामक व्याकरणाचार्य का नाम महाभाष्य में अनेक बार उल्लिखित है। उनका एक व्याकरण-शास्त्र भी प्रसिद्ध है। का० पा० ८, २, १ पर **शुष्किका शुष्कजङ्घा च** एक श्लोक उद्धृत है, जिसे भट्टोजि ने वैयाघ्रपद्यरचित श्लोकवार्तिक कहा है[1]।

महाभाष्यकार ने गोणिकापुत्र (पा० १, ४, ५१), सौर्य भगवान् (पा० ८, २, १०६) कुणरवाडव (पा० ३, २, १४ ; ७, ३, १) तथा गोनर्दीय[2] के वार्तिकों का उल्लेख किया है।

गोनर्दीय शब्द को भर्तृहरि[3], कैयट[4], राजशेखर[5] प्रभृति अनेक लेखकों ने पतञ्जलि का पर्यायवाची माना है, किन्तु कीलहार्न ने इसे भिन्न व्यक्ति माना है। मीमांसक महोदय के अनुसार यदि यह पतञ्जलि का पर्यायवाची हो भी, तो निदानसूत्रकार पतञ्जलि का द्योतक हो सकता है[6]।

कात्यायन

उपर्युक्त सभी वार्तिककारों के वार्तिकों को पतञ्जलि अथवा अन्य लेखकों ने केवल प्रसंगवश अथवा किसी विशेष समस्या के समाधानार्थ उद्धृत किया है, किन्तु उनमें किसी का भी वार्तिक-संग्रह हम तक नहीं पहुँचा, जिसके आधार पर उस का वास्तविक स्वरूप स्पष्टरूप से हमारे समक्ष उपस्थित हो सके। केवल कात्यायन के वार्तिक ही पतञ्जलि के महाभाष्य के माध्यम से हम तक पहुंचे हैं। अतः कात्यायन को ऐसा वैयाकरण होने का श्रेय दिया जा सकता है, जिसने पाणिनीय अष्टाध्यायी के 'उक्त, अनुक्त अथवा दुरुक्त सूत्रों' पर गहन विचार करके उनमें आवश्यक संशोधन अथवा परिवर्तन-परिवर्धन करके पाणिनीय-व्याकरण को पूर्णता प्रदान की है। इसी कारण प्रो० मैक्समूलर ने कात्यायन को पाणिनीय-व्याकरण का 'सम्पादक' कहा है, जिसने पाणिनीय पारिभाषिक शब्दावली तथा सूत्रपद्धति को आत्मसात् करके उसके सूत्रों का आलोचनात्मक वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

---

[1] श० कौ० १, १, ५६।

[2] म० भा० पा० १, १, २१ ; १, १, २९ ; ३, १, ९२ ; ७, २, १०१।

[3] महाभाष्य टीका (१, १, २१)।

[4] प्रदीप, १, १, २१।

[5] काव्यमीमांसा, पृ० २६।

[6] सं० व्या० शा०, भाग १, पृ० ३२१ (तृ० सं०)।

वस्तुतः पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य की रचना कात्यायनकृत वार्तिकों की ही परीक्षा-समीक्षा करने के लिए की है[1]। कात्यायन ने अपने वार्तिकों द्वारा पाणिनि के व्याकरण को पूर्णता प्रदान की है, इस बात की सिद्धि इसी तथ्य से हो जाती है कि पाणिनि के ३९९१ (या ३९९३) सूत्रों में से १२२८ सूत्रों पर कात्यायन ने लगभग ४२०० वार्तिकों की रचना करके प्रायः दस सहस्र नवीन शब्दों की सिद्धि का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। २८ सूत्रों पर अन्य आचार्यों के वार्तिकों को म० भाष्य में उद्धृत किया गया है। कात्यायन ने ७०९ सूत्रों की व्याख्या की है, ५२७ सूत्रों में संशोधन किया है और ८ सूत्रों को व्यर्थ घोषित करके उनका प्रत्याख्यान कर दिया है।

कात्यायन के इतने महत्त्वपूर्ण तथा अनन्य परिश्रमसाध्य ग्रन्थरत्न की स्वतन्त्र प्रामाणिक पाण्डुलिपि अद्य-पर्यन्त उपलभ्य नहीं है। महाभाष्य के उद्धरण ही इसका एक-मात्र स्रोत हैं, किन्तु महाभाष्य से भी कात्यायनकृत वार्तिकों की वास्तविक संख्या का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया है महाभाष्य में अन्य वार्तिककारों के वचनों के अतिरिक्त स्वयं महाभाष्यकार के वार्तिक भी समाविष्ट हैं। इसके अतिरिक्त पतञ्जलि ने कात्यायन के सभी वार्तिकों का संग्रह अपने ग्रन्थ में किया है अथवा समस्त वार्तिक-समूह को अपनी आलोचना का विषय बनाया है, इसका कोई प्रामाणिक सङ्केत हम तक नहीं पहुंचा है। इसके अतिरिक्त महाभाष्य में वार्तिकों के मूल रचनाक्रम को भी उलट-पलट दिया गया है। इसका प्रमाण यह है कि अनेक वार्तिकों में जिस विषय के सम्बन्ध में **उक्तं वा उक्तपूर्वेण** कहा गया है, उस विषय का प्रतिपादन भाष्य में उस वार्तिक के बाद किया गया है। वास्तव में ऐसे स्थलों पर **वक्ष्यते** का प्रयोग होना चाहिये था। ऐसे कुछेक उदाहरण इस प्रकार हैं—

'उक्तं वा' का निर्देश स्थल	**सम्बद्ध प्रसंग का स्थल**
१. **अटि चोक्तम्** पा० १, १, ३, वा० ९	**अन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य** (पा० ६, १, १३, वा० ५)
२. **उक्तं** वा (१, १, १२, वा० ६)	**अदस ईत्वोत्वे,** (८, २, ६, वा० ९)
३. **उक्तं** वा (१, २, ४३, वा०, ७)	**परवल्लिगम्** (२, ४, १६, वा० ६)
४. **अधिरीश्वरवचन उक्तम्** (१,४,९७, वा० १)	**यस्य चेश्वरवचनम्** (२,३,९ वा० १)
५. **विभक्तौ चोक्तम्** (४, १, १, वा० १५)	**न वा विभक्तौ** (७,१,१, वा० १३)
६. **वा वचने चोक्तम्** (३, १, २, वा० ८)	**वा वचनानर्थक्यं** (३,१,७, वा० १०)

---

[1] द्र० काशिका पर न्यास—

भाष्यं कात्यायनप्रणीतानां वाक्यानां विवरणे पतञ्जलिप्रणीतम् ।

पुण्यराज—**वार्तिकव्याख्यानपुरःसरं महाभाष्यनिबन्धनम् ।**

(वाक्य० २, ४८ पर व्याख्या)

इसके अतिरिक्त साम्प्रदायिक सूत्रपाठ में वार्तिकों का समावेश भी किया जाता रहा है। यथा—**ये च तद्धिते** (६, १, ६१) का तृतीय वार्तिक **अचि शीर्षः** तथा **सुट् कात्पूर्वः** (६, १, १३५) के चतुर्थ तथा पञ्चम वार्तिक **अड्व्यवाय उपसंख्यानम्** तथा **अभ्यासव्यवाये च** स्वतन्त्र सूत्रों का रूप धारणा कर चुके हैं[1]। इसी प्रकार **आत्मनश्च पूरणे** (६ ३, ६), **नित्यमाम्रेडितेऽचि** (६, १, १००), **वृद्धस्य च पूजायाम्** (४, १, १६६), **यूनश्च कुत्सायाम्** (४, १, १६७), प्रभृति अनेक सूत्र वास्तव में वार्तिक हैं[2], किन्तु प्रमादवश सूत्रपाठ में सम्मिलित हो गये हैं। इसी प्रकार **कौपिलञ्जलहास्तिपदावण्** (४, ३, १३२) और **आथर्वणिकस्येकलोपश्च** (४, ३, १३३) ये दो भाष्यवचन तथा सुषमादि गण के दो गणसूत्र (८, ३, ९९; १००) भी सूत्रों में सम्मिलित हो गये हैं[3]।

गोल्डस्टुकर[4] ने सर्वप्रथम यह शङ्का व्यक्त की थी कि कात्यायन ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर कीचड़ उछालने के उद्देश्य से ही अपने वार्तिकों की रचना की थी। वह पाणिनि के घोर विरोधी थे और उन्होंने विद्वेषपूर्ण भावना से प्रेरित होकर अष्टाध्यायी में छिद्रान्वेषणार्थ ही अपनी लेखनी उठायी थी।

वेबर[5] ने गोल्डस्टुकर के इस विचार का अन्धानुकरण करते हुए कात्यायन में पाणिनि के सूत्रों पर आक्षेप और अनेक बार व्यर्थ के आक्षेप करने की दूषित प्रवृत्ति के दर्शन किये हैं।

प्रा० बर्नेल[6] ने भी कात्यायन को पाणिनि का विद्वेषपूर्ण आलोचक घोषित किया है।

इसके विरुद्ध प्रा० कीलहार्न[7] ने कात्यायन के वार्तिकों का विवेचन करके इन आक्षेपों का समीचीन उत्तर दिया है। उन्होंने इस विषय में यह सम्मति व्यक्त की है कि यद्यपि कात्यायन को पाणिनि का व्याख्याता नहीं कहा जा सकता, तो भी उसमें अष्टाध्यायी में केवल छिद्रान्वेषण की कुत्सित प्रवृत्ति को खोजने का प्रयास भी उसके प्रति अन्याय है, क्योंकि जहां कात्यायन पाणिनि के सूत्रों में दोषों तथा न्यूनताओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, वहां वह पाणिनि

---

[1] पा० ६, १, ६२ तथा ६, १, १३६ (काशिका) ;

[2] द्र० कैयट, ६, १, ९९; ४, १, १६३।

[3] गोल्डस्टुकर, पाणिनि, पृ० ९१।

[4] पाणिनि, पृ० ११९-१२१।

[5] इण्डिस्टु, भाग १३, पृ० २९७; ३९९; ५०२।

[6] ऐन्द्र स्कूल, पृ० ९१।

[7] कात्यायन एण्ड पतञ्जलि, पृ० ४७-४८।

का उतना ही प्रबल समर्थन भी करता है। कात्यायन को तो पाणिनि का अनुसर्ता तथा विवेकपूर्ण प्रशंसक कहना चाहिये, जो अपने पूर्वगत आचार्यों के सूत्रों की निष्पक्ष, गम्भीर विवेचना करते हुए उनके विरुद्ध उठाई गयी अथवा सम्भाव्य आपत्तियों पर विचार करके उनके यथासम्भव समाधान, संशोधन, परिवर्धन, परिवर्तन का प्रस्ताव करने के उपरान्त अन्य सभी मार्गों को अवरुद्ध पा कर ही प्रत्याख्यान का मार्ग अपनाते हैं।

पाणिनीय सूत्रों के उद्देश्यों के विषय में सम्भाव्य आपत्तियों एवं आक्षेपों के विरुद्ध भी सभी सम्भव आक्षेपों पर विचार करके ही वह अपना निर्णय देते हैं तथा उन आक्षेपों को निराधार एवं निर्मूल घोषित करने में भी नहीं हिचकिचाते और उन सूत्रों के स्थान पर प्रस्तावित संशोधनों का निराकरण कर देते हैं। इस प्रकार विवेकपूर्ण आलोचना के फलस्वरूप कात्यायन ने जहां एक ओर पाणिनि के सूत्रों के दोष निकाले हैं, वहां दूसरी ओर उनके औचित्य को सिद्ध करने का प्रशस्य प्रयास भी किया है।

कात्यायन ने पाणिनि को अनेक बार भगवान् एवं आचार्य पद से विभूषित किया है[1], अतः इस प्रसंग में किसी प्रकार की दुर्भावना का विचार असंगत है। यदि वार्तिककार ने वस्तुतः पाणिनि के सूत्रों में छिद्रान्वेषण का बीड़ा उठाया होता, तो पाणिनि के प्रबल समर्थक महर्षि पतञ्जलि अपने इतने विस्तृत और विशाल वार्तिक-विवेचन में केवल ३६ सूत्रों में वार्तिककार के विरुद्ध सूत्रकार का समर्थन कर पाये हैं, यह अत्यन्त विस्मयजनक तथ्य है, जो वार्तिककार की निष्पक्ष एवं प्रखर विवेचनाशक्ति का परिचायक है।

कात्यायन के दो प्रकार के वार्तिक उपलभ्य हैं, गद्यमय तथा छन्दोबद्ध। उनमें कहीं-कहीं पूर्णरूपेण तथा कहीं-कहीं स्वल्प परिवर्तन के साथ सूत्र की तथा कहीं-कहीं सूत्र के प्रथम या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शब्द की आवृत्ति की गयी है। पूर्ववर्णित वार्तिकों का उल्लेख **उक्तं शेषे**, **उक्तं वा** तथा **उक्तं पूर्वेण** से किया गया है।

पाणिनीय अष्टाध्यायी से सम्बद्ध होते हुए भी तथा पाणिनीय शब्दावलि का व्यवहार करते हुए भी कात्यायन के वार्तिकों में **अच्** को **स्वर**, **हल्** को **व्यञ्जन**, **अक्** को **समानाक्षर**, **लट्** को **भवन्ती** और **लुट्** को **अद्यतनी** कहा गया है। इससे कथासरित्सागर की इस धारणा को बल मिलता है कि कात्यायन का सम्बन्ध ऐन्द्रशाखा से था। वार्तिकों में वाजप्यायन, व्याडि तथा पौष्करसादि का उल्लेख वार्तिककार के रूप में किया गया है।

---

[1] पा० ७, १, २, वा० ४; ८, ४, ६८; वा० ४।

इसके अतिरिक्त कात्यायन के वार्तिकों से ऐसे अनेकों शब्दों की सिद्धि सम्भव हो सकी है, जो पाणिनीय सूत्रों के घेरे से बाहर रह गये हैं। कुलटा, स्वैरी, प्रैष, जनि प्रभृति अनेक ऐसे शब्द हैं, जो या तो पाणिनीय सूत्रों में प्रयुक्त हैं या पूर्ववर्ती साहित्य में प्रसिद्ध हैं, किन्तु कात्यायन के वार्तिकों की सहायता के बिना सिद्ध नहीं हो सकते। जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, कात्यायन ने दस सहस्र शब्दों की सिद्धि के साधन का उपाय हमारे समक्ष प्रस्तुत करके संस्कृत व्याकरण-शास्त्र को अपूर्व योगदान दिया है।

यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा प्रत्येक शब्द पाणिनि के उपरान्त ही प्रचलित हुआ था, अथवा पाणिनि उनसे सर्वथा अनभिज्ञ थे, क्योंकि इनमें अनेकों शब्द ऐसे भी हैं, जिनका प्रयोग स्वयं पाणिनि ने अपने सूत्रों में किया है, किन्तु उनकी सिद्धि पाणिनीय सूत्रों से सम्भव नहीं, अर्थात् ये शब्द पाणिनि की दृष्टि से चूक गये या उन्हें अव्युत्पन्न मान कर उन्होंने उनकी व्युत्पत्ति की आवश्यकता नहीं समझी, किन्तु कात्यायन ने अपने सम्प्रदाय के अनुसार इन शब्दों की साधनिका प्रस्तुत की। हम जानते हैं कि संस्कृत-व्याकरण के अनेक सम्प्रदाय प्राचीनकाल में विद्यमान थे। कथासरित्सागर (तरंग ४) के अनुसार कात्यायन ऐन्द्र-सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे तथा पाणिनि का सम्बन्ध माहेश्वर-सम्प्रदाय से था, जिसके अन्तर्गत आपिशलिकृत व्याकरण की भी रचना की गयी थी।

अब यह विचार बद्धमूल हो गया है कि कात्यायन न केवल दाक्षिणात्य ही थे अपितु ऐन्द्र-सम्प्रदाय के अनुयायी थे।[1] उपर्युक्त सम्भावनाओं के अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि पाणिनि तथा कात्यायन के अन्तराल में अनेक ऐसे नवीन शब्द प्रयोग में आ गये हों, जिनकी सिद्धि के लिए कात्यायन को वार्तिकों का निर्माण करना पड़ा हो। अन्यथा दस सहस्र की विशाल शब्दराशि का पाणिनि जैसे सूक्ष्मेक्षक वैयाकरण की पैनी दृष्टि से छूट जाना सर्वथा अमान्य है। इस विशालशब्दराशि के प्रादुर्भाव एवं प्रचलन के लिए उस सुदूर भूत में कितना काल अपेक्षित है, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है, तो भी हमारी सम्मति में यह अन्तराल तीन शताब्दियों से न्यून नहीं हो सकता। शब्द व्याकरण के घेरे में तभी आ सकते हैं जब लोक में प्रचुर प्रयोग के द्वारा मंज कर परिष्कृत हो जाते हैं। व्याकरण की दृष्टि से पाणिनि तथा कात्यायन के मध्यवर्ती काल के आकलन के लिए दोनों आचार्यों के बीच की अवधि में प्रादुर्भूत तथा सुप्रयुक्त शब्दराशि का परिष्कार इस से कम समय में तो आज भी सम्भव नहीं, जबकि प्रचार-प्रसार तथा शिक्षण-प्रशिक्षण के अपेक्षाकृत अत्यन्त उन्नत तथा द्रुतगति साधन उपलब्ध हैं।

अतः कात्यायन का प्रादुर्भाव ४०० ईस्वी पूर्व से अर्वाचीन नहीं हो सकता। कात्यायन के जीवन के विषय कोई प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध नहीं है, भाष्यकार के

---

[1] द्र० ऐन्द्रस्कूल०, बर्नेल कृत।

अनुसार वह दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। दक्षिणभारत के कौन से प्रदेश को उन्होंने विभूषित किया, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। परम्परा के अनुसार वार्तिककार का नाम वररुचि था और गोत्र कात्यायन[1]। यद्यपि भाष्यकार ने वाररुच-श्लोकों का उल्लेख किया है, तो भी उनके उल्लेख से वररुचि और कात्यायन को स्पष्ट ही एक ही व्यक्ति सिद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु पतञ्जलि ने जिन भ्राज-श्लोकों का उल्लेख किया है, उन्हें कैयट, हरदत्त तथा नागेश कात्यायन-रचित ही मानते हैं। न हम इस वररुचि को विक्रम का सभापण्डित ही मान सकते हैं। प्राकृत-व्याकरण इन्हीं द्वितीय वररुचि की कृति है।

इसके अतिरिक्त श्रौतसूत्रकार, सर्वानुक्रमणीकार तथा वैयाकरण वार्तिककार कात्यायन एक नहीं हो सकते[2]। गोल्डस्टुकर[3] ने वा० प्रा० के कर्ता कात्यायन का वार्तिककार कात्यायन से ऐक्य स्थापित करने का प्रयास किया है, किन्तु वह विफल रहा है। युधिष्ठिर मीमांसक का यह मत भी अनुपादेय है कि याज्ञवल्क्य का पौत्र, कात्यायन का पुत्र वररुचि ही वार्तिककार है[4], क्योंकि याज्ञवल्क्य उत्तरभारत के निवासी थे और वार्तिककार को पतञ्जलि ने दाक्षिणात्य कहा है। कुमारिल[5] ने 'वाररुचकाव्य' के कर्ता वररुचि को ही 'वार्तिककार' माना है, जो समीचीन नहीं है।

कात्यायन के वार्तिकों की समस्याएं

यद्यपि कात्यायन ने पाणिनीय सूत्रों की त्रुटियों तथा न्यूनताओं की पूर्ति करके संस्कृत व्याकरण-शास्त्र को पूर्णता प्रदान करने का भागीरथ कार्य सम्पन्न किया है, तो भी इसके वार्तिकों के साथ कई-एक समस्याएं जुड़ी हुई हैं, जिनकी ओर ध्यान आकृष्ट कराना सर्वथा उपयुक्त होगा।

प्रथम तो कुछेक वार्तिकों की प्रामाणिकता ही सन्देहास्पद मानी जाती है, यथा पा० ३, २, ८३—**आत्ममाने खश्च** पर वा०, जिसे कोलहार्न ने अस्वीकार

---

[1] त्रिकाण्डशेषकोष—मेधाजित् कात्यायनश्च स पुनर्वसुर्वररुचिः। ··· ··· **व्याकरणस्थ प्रयोजनविशेषो वररुचिना वार्तिके दर्शितः।** (सायण, ऋग्भाष्यभूमिका)।

[2] कीथ, तै० सं० अनु०, भूमिका, पृ० १७२, टि० ४ ; द्र० का० श्रौ० सू० प्रकरण।

[3] द्र० पाणिनि, पृ० १८६-१८९ : बर्नेल, ऐ० सं० ग्रा०, परिशिष्ट अ, पृ० १०७; वा० प्रा० प्रकरण।

[4] सं० व्या० इ०, पृ० २९९ (तृ० सं०)।

[5] कीथ, सं० सा० इ० (हिन्दी), पृ० ५०६।

कर दिया है[1]। इसी प्रकार ३, १, ९६—**तव्यत्तव्यानीयर:** पर वा० **केलिमर उपसंख्यानम्** के सम्बन्ध में भी सन्देह व्यक्त किया गया है[2]।

कई स्थलों पर वा० का सूत्र को केवल वेद (**छन्दसि**) तक सीमित कर देना विचित्र लगता है। यथा पा० ३, २, १५ पर वा० **गिरौ छन्दसि** (वा० ४)। यहां **गिरिश** इतना प्रसिद्ध तथा बहुप्रयुक्त शब्द है कि कात्यायन के समय में लोक में इसके प्रचलन का अभाव आश्चर्यकर है।

कहीं-कहीं इनकी टिप्पणी से सन्देह होने लगता है, कि शब्द केवल वेद तक सीमित न होते हुए भी मुख्यतः वैदिक प्रयोगार्थ हैं। यथा—**अर्य:** (पा० ३, १, १०३, १—**स्वामिन्यन्तोदात्तत्वञ्च वक्तव्यम्**), **कृष्टपच्या:** (पा० ३, १, ११४, वा० ३—**कृष्टपच्यस्यान्तोदात्तत्वञ्च कर्मकर्तरि च**); **अग्निचित्या** (पा० ३, १, १३२, वा० १—**अग्निचित्यस्यान्तोदात्तो भावे**)।

अथवा ऐसे स्थलों पर पतञ्जलि केवल वैदिक उदाहरण ही देकर इस सन्देह को पुष्टि प्रदान कर देते हैं, यथा, **सम्भार्या** (पा० ३, १, ११०, वा० ८—**क्यब्विधौ वृञ्ग्रहणम्—समश्च बहुलम्**); **वार्या:** (पा० ३, १, १०९, वा० १—**क्यब्विधौ वृञ्ग्रहणम्—वार्या ऋत्विज:**); **दार्वाघाट:** (पा० ३,२,४९—वा० १—**दारावाहनोऽणन्तस्य च ट: संज्ञायाम्**); **वेदिषद्** (पा० ३, २, ६१, वा० १—**सदादिषु सुब्ग्रहणम्**)।

किन्तु लगता है कि ये उदाहरण वेद और लोक दोनों में प्रचलित होंगे, क्योंकि कात्यायन प्राय: अपने वार्तिकों में वैदिक तथा लौकिक प्रयोगों में सावधानी से यथोचित अन्तर करते हैं।

कई बार हम कात्यायन के वार्तिकों के प्रयोगक्षेत्र को समझने में असमर्थ होते हैं, क्योंकि हम आकृतिगणों के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ होते हैं, यथा—पा० ३, १, १३४, वा० २—**पचाद्यनुक्रमणमनुबन्धासञ्जनार्थमपवादबाधनार्थं च**। यहां यह स्पष्ट तथा प्रमाणित नहीं होता कि क्या वार्तिककार के मन में केवल **चोरी, नदी, जारभरा** और **श्वपचा** शब्दों की सिद्धि ही अभीष्ट थी या वे **मेष, देव, सेव** को भी पचादियों में गिनते थे।

हमें प्रामाणिकरूपेण इस तथ्य का भी ज्ञान नहीं कि 'गण' के अन्त में 'आदि' से उनका आशय वही था, जो हमें पतञ्जलि के माध्यम से प्राप्त हुआ है, या कुछ न्यूनाधिक था? क्योंकि वार्तिकों का स्वतन्त्र पाठ हम तक नहीं पहुँच

---

[1] *IA* (1886) XV. p. 205.

[2] Laddu, S. D., *Authorship of a Vārttika from the Mahabhaṣya. J. U. P.* (1970) XXXIII, p. 13-22.

पाया है, यथा, पा० ३, १, १३३, वा० ३ तथा पा० ३,२,१; वा १; पा० ३,१, १३५, वा० १ ; २ ; पा० ३, २, ५, वा० २ ; पा० ३, २, १५, वा० १ ।

हमें इस बात का भी पूरा ज्ञान नहीं कि पतञ्जलि द्वारा प्रदत्त प्रत्युदाहरण ही कात्यायन को भी इष्ट थे या नहीं। कभी-कभी तो इसका उत्तर 'हां' में मिल जाता है, यथा—पा० ३, १, १०५, वा० १—**अजरितृ** तथा **अजर** ; पा० ३, १, १०८, वा० १—**दस्युहत्या** ; **श्वहत्या** ; ३, १, ११८, वा० १—**कृष्टपाक्यः** ; पा० ३, १, ११८, वा० १, **प्रतिग्राह्य** ; **अपिग्राह्य** ; पा० ३, २, ५, वा० १—**तुन्दपरिमार्ज** ; **शोकापनोद** आदि। किन्तु अन्यत्र हम असमञ्जस में पड़े रह जाते हैं, यथा, पा० ३, १, १००, वा० १, **आचार्य** ; पा० ३, १, १०९, वा० १, **वार्य** ; पा० ३, १, ११२, वा० २—**भार्या** ।

पतञ्जलि द्वारा अप्रदत्त प्रत्युदाहरणों की कहीं-कहीं हम स्वयं भी कल्पना कर सकते हैं, यथा—पा० ३, २, २४, वा० १, **स्तम्बकारः**; **शकृत्कारः** ; पा० ३, १, १३७, वा० १—**विजिघ्र**, **व्याजिघ्र**, **जिघ्र**, **घ्राय** । पा० ३, १, १४९, वा० १—**प्रावकः**, **सारकः**, **लावकः** । पा० ३,२,४९, वा० १—**दार्वाघाटः** प्रभृति ।

कहीं-कहीं सन्देह बना रहता है कि इनको एक विशिष्ट प्रयोग अभीष्ट था भी कि नहीं, यथा, **निलिम्प** (पा० ३, १, १३८, वा० १ । **कच्छप** (पा० ३, २, ४, वा० १) **कटाहप** तथा **द्विप** की व्युत्पत्ति कात्यायन ने पूर्वसूत्र **आतोऽनुपसर्गे कः** (पा० ३, २, ३) से योगविभाग के द्वारा आकारान्त धातु ('√पा') से **कः** तथा पा० ३, २, ४ से **सुपि** ग्रहण करके अपने वार्तिक (पा० ३, २, ४, वा० २—**योगविभागात्सिद्धम्**) से करने का प्रयास किया है, जो सम्भवतः पा० के ध्यान में भी नहीं थी[1] । **निलिम्प** का साक्ष्य तो वेद में उपलभ्य है, किन्तु कात्यायन तथा पतञ्जलि दोनों ने इसे लौकिक भाषा में प्रयुक्त पाया प्रतीत होता है, किन्तु **कच्छप** आदि के विषय में विश्वासपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता[2] ।

---

[1] Laddu, S. D., loc. cit, p. 28 and 138.

[2] वही, पृ० २८ ; १५० ।

त्रयोविंश अध्याय

महाभाष्यकार पतञ्जलि

पाणिनीय परम्परा के जाज्वल्यमान ग्रन्थरत्न वैयाकरण-महाभाष्य की रचना सर्वातिशायी तथा सर्वतोमुखी-पाण्डित्यमण्डित वैयाकरण-शिरोमणि पतञ्जलि ने की थी। पाणिनि के समान ही यह भी मुनि-पदवी को विभूषित करते हैं तथा **यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्** के सिद्धान्त के अनुसार इनके वचन सर्वाधिक प्रामाणिक माने जाते हैं। इस मान्यता का मुख्य कारण पतञ्जलि की सर्वथा निष्पक्ष सूक्ष्मेक्षिका, युक्तियुक्त प्रतिपादन-क्षमता, गम्भीर-विवेचना-शक्ति, एवं सर्वांगीण प्रखर प्रतिभा तथा व्यापक दृष्टिकोण है।

पतञ्जलि का महाभाष्य मुख्यरूप से कात्यायनकृत वार्तिकों का समालोचनात्मक विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है, किन्तु साथ ही साथ पाणिनि के सूत्रों के औचित्य-अनौचित्य तथा गुण-दोषों के विषय में भी न्यायसंगत, निष्पक्ष एवं तर्कानुमोदित अपनी निर्णायक सम्मति की छाप लगा देता है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि कात्यायन ने अष्टाध्यायी के सूत्रों में यथामति संशोधन, परिवर्धन तथा परिवर्तन करके पाणिनि की रचना की त्रुटियों को दूर करके उसे पूर्ण करने का प्रशस्य प्रयास किया है। किन्तु अनेक विद्वानों ने उनके इस स्तुत्य प्रयास का अवमूल्यन करके उन्हें 'पाणिनिविरोधी' घोषित करने की भूल की है। उनकी दृष्टि में पतञ्जलि की कृति को पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या से कहीं अधिक उन पर किये गये कात्यायन के आक्षेपों के निराकरण में व्यस्त रहना पड़ा है। किन्तु यह मत तथ्यपरक नहीं है, क्योंकि केवल २६ सूत्रों में भाष्यकार ने वार्तिककार के विरुद्ध पाणिनि के पक्ष का समर्थन किया है। वार्तिककार तथा भाष्यकार की इस 'पाणिनि-विरोधी' प्रवृत्ति को देखकर ही गोल्डस्टुकर ने कात्यायन के साथ-साथ पतञ्जलि को भी पाणिनि का आलोचक घोषित कर दिया, यद्यपि पतञ्जलि इस विषय में उतनी दूरी तक नहीं गये।

वस्तुतः पतञ्जलि निष्पक्ष समालोचक हैं। जहां वह पाणिनि पर किये कात्यायन के आक्षेपों का मुंहतोड़ उत्तर देकर आचार्यपक्ष का समर्थन करते देखे जाते हैं, वहां अवसर आने पर पाणिनि के विरुद्ध कात्यायन का प्रबल समर्थन करने से भी नहीं कतराते और पाणिनि के सूत्रों में आवश्यक

संशोधन, परिवर्तन ही नहीं कर देते, अपितु अनावश्यक सूत्रों का प्रत्याख्यान भी कर देते हैं[1]।

अतः यह धारणा सर्वथा निराधार है कि पतञ्जलि ने कात्यायन को परास्त करने अथवा पाणिनि का समर्थन करने के उद्देश्य से लेखनी उठायी थी। इस विषय में कीलहार्न ने स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि कात्यायन के १३५ वार्तिकों में से आधे से अधिक पतञ्जलि ने स्वीकार कर लिये हैं[2]। किन्तु, यद्यपि पा० १,१.६ पर कात्यायन ने केवल **दीधी, वेवी** शब्दों पर ही आक्षेप किया था, तो भी पतञ्जलि ने समस्त सूत्र को ही अनावश्यक घोषित कर दिया है, इसी प्रकार कात्यायन ने पा० १, १, ४९ का समर्थन किया था, किन्तु पतञ्जलि ने इसे अनावश्यक कह कर निरस्त कर दिया है। कात्यायन ने पा० १, १, ८ पर सम्भाव्य आक्षेपों के विरुद्ध सूत्र का समर्थन किया था, किन्तु पतञ्जलि ने इसके 'मुख' पद का प्रत्याख्यान कर दिया है[3]। ऐसे १६ सूत्रों का प्रत्याख्यान किया गया है।

यद्यपि पतञ्जलि का भाष्य वार्तिकों पर लिखा गया है, तो भी अपने लक्ष्य का विस्तार करके पतञ्जलि ने पाणिनि के उन सूत्रों पर सम्भाव्य आक्षेपों को भी अपने विवेचन के घेरे में समेट लिया है, जो कात्यायन की दृष्टि से चूक गये थे। उन्होंने इन सम्भाव्य आक्षेपों का निराकरण कर दिया है या आचार्य की भूल को स्वीकार करके उसमें आवश्यक संशोधन कर दिया है। यदि सूत्रों के विरुद्ध सम्भाव्य आक्षेपों का समाधान समीचीन प्रतीत नहीं हुआ, तो भाष्यकार ने स्वयं उनका समाधान कर दिया है, अथवा कात्यायन की युक्तियों को अपनी युक्तियों से पुष्ट करके सूत्र को निरापद करने की चेष्टा की है अथवा कात्यायन द्वारा उठायी गयी आपत्तियों के विषय में उनके द्वारा दिये गये समाधानों या निराकृतियों से सन्तुष्ट न होने की अवस्था में अपने तर्कों से उन आपत्तियों तथा आक्षेपों का निराकरण भाष्यकार स्वयं कर देते हैं, अथवा कात्यायन

---

[1] यथा—**न धातुलोप आर्धधातुके** (१, १, ४) का प्रत्याख्यान, **नामन्त्रिते समानाधिकरणे** (८, १, ७३) के साथ लगे हुए **सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने** में अन्त में **बहुवचनम्** लगाकर **सामान्यवचनं** का प्रत्याख्यान ; **उपसर्गादनोत्परः** (८, ४, २८) में **अनोत्परः** को निरस्त करके **बहुलम्** पद की योजना प्रभृति अनेक उदाहरण हैं।

[2] कात्यायन एण्ड पतञ्जलि, पृ० ५१।

[3] वही, पतञ्जलि ने १६८९ पा० सूत्रों पर विचार किया है। इनमें से १२२८ पर केवल कात्यायन के तथा २६ पर अन्य आचार्यों के वार्तिकों की समीक्षा की गयी है। ४३५ ऐसे सूत्रों पर भी भाष्य लिखा है, जिन पर वार्तिक उपलब्ध नहीं थे। ३६ सूत्रों पर कात्यायन की आलोचना को भ्रान्त माना है।

द्वारा दिये गये सुझावों तथा समाधानों को व्यर्थ समझ कर भाष्यकार उनको निरस्त करके अपनी नवीन व्यवस्था देकर विषय का परिष्कार कर देते हैं, अथवा वार्तिककार के वार्तिकों को ही व्यर्थ या अपर्याप्त या सूत्रकार के आशय के विपरीत सिद्ध करके वार्तिकों का प्रत्याख्यान कर देते हैं। दूसरी ओर ऐसे उदाहरण भी पाये जाते है जहां इन्होंने कात्यायन द्वारा पाणिनि के सूत्रों के पक्ष में दिये गये समाधानों को ही असमीचीन मान कर सूत्रविरोधी आक्षेपों की समीचीनता एवं संगति सिद्ध करने का प्रयास किया है।

इस प्रकार जहां पतञ्जलि ने पाणिनि की कात्यायन के प्रखर प्रहारों से रक्षा की है, वहां अनेक अवस्थाओं में स्वयं सूत्रों की इतनी तीव्र तथा घातक आलोचना की है कि सम्भवत: पाणिनि को कात्यायन की अपेक्षा पतञ्जलि के हाथों अधिक हानि उठानी पड़ी है[1]।

पतञ्जलि का महाभाष्य ८५ आह्निकों में विभक्त है अर्थात् सम्पूर्ण महाभाष्य का पारायण ८५ दिनों में करने की व्यवस्था है। महाभाष्यकार ने सम्पूर्ण महाभाष्य का प्रवचन अपने अत्यन्त योग्य शिष्यों को ८५ दिनों में किया था, ऐसी परम्परागत प्रसिद्धि है। इन ८५ आह्निकों के अन्तर्गत इस धुरंधर विद्वान् ने न केवल पाणिनीय सूत्रों के गूढगम्भीर रहस्यों का ही उद्घाटन किया है, अपितु उन पर किये जाने वाले समस्त सम्भाव्य आक्षेपों का युक्तियुक्त तथा तर्क-संगत समाधान वार्तिकों की समालोचना के माध्यम से किया है। इन्होंने गूढातिगूढ दार्शनिक विषयों का अत्यन्त सरल, सरस तथा रोचक संवादात्मक शैली में प्रतिपादन करके व्याकरणदर्शन को शास्त्र की पदवी पर प्रतिष्ठापित किया है। व्याकरण-सदृश नीरस विषय को भी सरल, सरस भाषा में प्रस्तुत करने का श्रेय पतञ्जलि को ही प्राप्त है। इनकी भाषा गम्भीर, प्रभावशाली किन्तु प्राञ्जल, परिष्कृत तथा मुहावरेदार है, जिसके माध्यम से अत्यन्त गहन विषयों का भी रोचक ढंग से प्रश्नोत्तर के रूप में समझा कर प्रतिपादन किया गया है। दैनिक जीवन से गृहीत उदाहरणों के कारण विचार मूर्तरूप में दृष्टि के समक्ष नाचने लगते हैं। अत्यन्त तीखे तर्क ऐसी मधुर शिष्टता से प्रस्तुत किये गये हैं कि हृत्तल को गहराईयों तक पैठ कर भी चुभते नहीं हैं।

अपने कथ्य की सम्प्रेषणीयता को अधिक द्रुतगति प्रदान करने के लिए इन्होंने अनेक उपायों का प्रयोग किया है। प्रस्तुत विषय की समालोचना तथा सूत्रों के परिष्कारार्थ कहीं नवीन पूरक वचन देकर, कहीं ज्ञापक देकर, कहीं योग-विभाग करके, तो कहीं लोक में प्रचलित प्रयोग का आश्रय लेकर सूत्र के क्षेत्र की उचित सीमाएं बांध दी हैं या उसका प्रत्याख्यान ही कर दिया है।

---

[1] द्र० कीलहार्न एफ : 'कात्यायन एण्ड पतञ्जलि', पृ० ५१-५२।

महाभाष्य में केवल व्याकरण के रहस्यों का ही मार्मिक उद्घाटन नहीं किया गया, अपितु समसामयिक सामाजिक एवं धार्मिक चेतना को भी साग्रह उघाड कर हमारे सम्मुख विग्रह प्रदान कर के खड़ा कर दिया गया है। परम्परा-प्राप्त तथा समसामयिक साहित्यिक गतिविधियों पर जितना प्रखर प्रकाश पतञ्जलि की पैनी प्रतिभा एवं सूक्ष्मेक्षिका के तेजोमय ज्योतिःपुञ्ज से पड़ पाया है, उतना किसी भी अन्य स्रोत से सम्भव नहीं हो सका। इन्हों ने अनेक प्राचीन काव्यांशों को उद्धृत किया है, जिनसे उस समय की काव्य-प्रतिभा की चमत्कृति हमारे समक्ष विद्युल्लहरी के समान कौंध जाती है। वार्तिककार कात्यायन वररुचि के नाम से सम्बद्ध 'वाररुच काव्य' की प्रथम सूचना का स्रोत भी महाभाष्यकार की चतुरस्र चेतना ही सिद्ध हुई है[1]।

इन काव्यांशों से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उन से पूर्व काव्य-साहित्य-रचना का केवल प्रचलन ही नहीं था, अपितु दीर्घकालीन काव्यपरम्परा बद्धमूल हो चुकी थी, जिसमें स्तोत्र-काव्य, गीतिकाव्य, तथा नीतिकाव्य का विकास प्रमाणित होता है। विविध प्रकार के रसों की सत्ता की मान्यता सुदृढ़ आधार पर सुप्रतिष्ठित हो चुकी थी। पतञ्जलि ने उस समय प्रचलित मुहावरों, कहावतों तथा न्यायों के उदाहरण भी हमारे लिए सुरक्षित कर दिये हैं। विविध छन्दों में निबद्ध २६० पद्यों या पद्यांशों के उद्धरण महाभाष्य में उपलब्ध होते हैं, जिनमें से कुछ स्वयं भाष्यकार-विरचित भी हो सकते हैं[2]। पतञ्जलि ने अनेकों नाटकों का भी उल्लेख किया है। इस प्रसंग में उनके द्वारा प्रयुक्त 'ग्रन्थिक' तथा 'शौभिक' पद विवादास्पद बन चुके हैं[3]।

व्याकरण को दर्शन के प्रतिष्ठित सिंहासन पर प्रतिष्ठापित करने का श्रेय भी पतञ्जलि को ही प्राप्त है। यद्यपि उनसे पूर्व व्याडि ने शब्द और अर्थ तथा उनके सम्बन्धों की नित्यता पर विचार किया था, परन्तु व्याकरण को दार्शनिक पीठिका पर आसीन करने की प्रेरणा भी भाष्यकार को सम्भवतः व्याडि की प्रौढ़ रचना 'संग्रह' से प्राप्त हुई थी, तो भी वर्तमान उपलभ्य सामग्री के आधार पर तो व्याकरण-दर्शन को सुदृढ़ आधार प्रदान करने का सेहरा पतञ्जलि के ही सिर पर बांधा जायेगा।

---

[1] टि० गणपति शास्त्री, 'वाररुच संग्रह', भूमिका, पृ० १।

[2] बैजनाथ पुरी, इण्डिया इन दि टाइम ऑफ पतञ्जलि, पृ० २१३-१४।

[3] हिल्लेब्राण्ट, ज़ॅड० डि० एम० जी०, भाग १, पृ० २७७; ल्यूडर्स, एस० बी०, ए० डब्ल्यु०, १९१६, पृ० ६९८; कीथ, बी० एस० ओ० एस०, भाग ५४, पृ० २७ से; संस्कृत ड्रामा, पृ० ३१ से।

शब्द के स्वरूप, स्वभाव तथा विविध प्रकार, अर्थ के स्वरूप, प्रकृति तथा प्रक्रिया, शब्द तथा अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध, स्फोटवाद तथा स्फोट के विभिन्न प्रकार तथा इसका दार्शनिक औचित्य प्रभृति विषयों पर सर्वप्रथम पतञ्जलि के विचार ही हमारे मन:स्थल को आलोकित करते हैं। अन्वय-व्यतिरेक के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी यहां किया गया है[1]।

इन सब दार्शनिक संकेतों के रहते भी पतञ्जलि की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मौलिक देन व्याकरणदर्शन की प्रतिष्ठापना है। यद्यपि इनसे पूर्व व्याडि ने अपने महान् ग्रन्थ 'संग्रह' में शब्द की नित्यता-अनित्यता पर विचार किया था, जिसकी चर्चा स्वयं भाष्यकार ने की है, तो भी इसके दार्शनिक विवेचन की प्रक्रिया हम तक नहीं पहुँची। पतञ्जलि ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अपने विशिष्ट ढंग पर किया है। शब्द ध्वनि के रूप में तो कार्य है, किन्तु स्फोटरूप में नित्य है। श्रोत्रग्राह्य शब्द या ध्वनि स्फोट या नित्यशब्द की अभिव्यञ्जक होती है। उच्चारण से पूर्व शब्द की अव्यक्तावस्था ही स्फोट कहलाती है और वही उसकी नित्यावस्था है। अतः वास्तव में शब्द नित्य है और अर्थ इस नित्यशब्द का ही होता है। इस स्फोट या नित्यशब्द की न उत्पत्ति होती है न विनाश। उस अवस्था में वर्ण भी कूटस्थ, अविचाली, उत्पत्ति (उपजन) तथा विनाश (अपाय) के विकारों से रहित होते हैं[2]। श्रोत्र द्वारा उपलभ्य, बुद्धि द्वारा निर्ग्राह्य, प्रयोग द्वारा अभिव्यज्य शब्द आकाश का गुण माना जाता है। आकाश नित्य है, अतः उसका गुण शब्द भी नित्य है। आकाश एक है, अतः वास्तव में शब्द भी एक है। आकाशदेशों के अनेक होने के कारण वर्ण भी अनेक हैं तथा शब्द भी अनेक रूप धारण कर लेते हैं[3]। शब्द का यह विविध भाव व्याडि ने भी व्यक्त किया था तथा पाणिनि ने भी इन दोनों अवस्थाओं को मानकर ही सूत्ररचना की थी।

व्यावहारिक दृष्टि से शब्द को पुनः चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—**जातिशब्द, क्रियाशब्द, गुणशब्द** तथा **यदृच्छाशब्द**। इनमें से डित्थादि यदृच्छा-शब्दों का पृथक् वर्गीकरण न भी माना जाये, तो भी तीन प्रकार के शब्द तो सर्वमान्य हैं ही। **यदृच्छाशब्दों** का कुछ लोग क्रियाशब्दों में अन्तर्भाव कर लेते हैं। ऐसे ही शब्दों को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मान कर पाणिनि ने उणादि प्रत्ययों की कल्पना करके मूल ग्रन्थ में इनकी व्युत्पत्ति की चेष्टा नहीं की। भाष्यकार ने भी ऐसा ही माना है। शब्द या स्फोट को नित्य मानने के कारण ही उन्होंने अक्षर को

---

[1] म० भाष्य ३, २, ८४ ।

[2] नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः ।

[3] श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः, एकञ्च पुनराकाशम्, आकाशदेशा अपि बहवः यावता बहवस्तस्मादान्यभाष्यमकारस्य । आह्निक १, पृ० ४२ ।

'नष्ट न होने वाला' या 'व्याप्त होने वाला' कहा है। इसी नित्यता तथा व्यापकता के कारण शब्द को ब्रह्म की संज्ञा दी गयी है। इस शब्दब्रह्म से ही समस्त वाक्-समाम्नाय समुद्भूत हुआ है। इसी के ज्ञान से परब्रह्म की प्राप्ति होती है[1] तथा वेदरूपी पुण्यफल की उपलब्धि होती है[2]। इस लिए कहा गया है कि एक शब्द का भी सम्यग् ज्ञान तथा सुष्ठु प्रयोग स्वर्गलोक में सभी कामनाओं को पूर्ण करता है।

वस्तुतः पतञ्जलि द्वारा वर्णित शब्द या स्फोट के सभी लक्षण ब्रह्म के लक्षणों के हू-ब-हू समान हैं। न्याय-सिद्धान्त के विरुद्ध पतञ्जलि ने शब्द को नित्य माना है तथा इसमें एकत्व, अखण्डत्व तथा नित्यत्व ये तीनों लक्षणों का समावेश कर दिया है। स्फोट ही वास्तविक शब्द है, ध्वनि तो इसका अभिव्यञ्जक गुण है[3]। स्फोट अपरिवर्तनशील व एकरस है। ह्रस्वत्व, दीर्घत्व प्रभृति केवल ध्वनियों में पाये जाते हैं।

व्यावहारिक दृष्टि से अविभाज्य स्फोट को भी दो भागों में विभक्त किया जाता है—आभ्यन्तर तथा बाह्य। मुख्यवाचकता या अर्थ का सम्बन्ध आभ्यन्तर-स्फोट से ही है, श्रोत्रनिर्ग्राह्य बाह्यस्फोट का अर्थ के साथ ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है। भाषाविषयक सभी प्रकार के अनुसन्धान बाह्यस्फोट से ही सम्बद्ध किये जाते हैं, किन्तु इसके प्राणभूत आभ्यन्तरस्फोट की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। जाति और व्यक्ति के वाचक शब्दभेद भी बाह्यस्फोट के ही होते हैं। आभ्यन्तर-स्फोट के अखण्ड तथा नित्य होने के कारण वाक्य में शब्द-बहुत्व, शब्दक्रम तथा पौर्वापर्य का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इन सबका सीधा सम्बन्ध बाह्यस्फोट के साथ है।

स्फोट वर्ण नित्य है। वर्ण उत्पन्न नहीं होते, अपितु उच्चारण-प्रक्रिया द्वारा अभिव्यक्त होते हैं, ध्वनिरूप वर्ण का नाश होता है, इस प्रसंग में वाणी को एकैक-वर्णवर्तिनी कहा गया है, क्योंकि वह आगे के वर्ण का उच्चारण करते समय पूर्वगत वर्ण को त्याग देती है और वह नष्ट हो जाता है। उच्चारण द्रुत, विलम्बित तथा मध्य वृत्तियों के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं। उच्चारण-प्रक्रिया से उत्पन्न होने वाली ध्वनि नित्यशब्द को अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार स्फोट शब्द है और ध्वनि शब्द का गुण। तीनों अवस्थाओं में स्फोट समान होता है, अन्तर केवल

---

[1] 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति'।

[2] 'सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक् समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः (आह्निक २, पृ० ९१)।

[3] एवं तर्हि स्फोटः शब्दो ध्वनिः शब्दगुणः…… ।

उसकी ध्वनि में होता है। ध्वनिभेद से द्रुत, विलम्बित और मध्य वृत्तियों से शब्द में भी भेद प्रतीत होता है।

वर्ण सार्थक भी होते हैं, निरर्थक भी। एक वर्ण वाले धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय तथा निपात सार्थक माने जाते हैं। शब्दों में वर्ण-व्यत्यय के कारण अर्थ में परिवर्तन देखा जाता है। कूप, सूप, यूप के अर्थ में अन्तर क्, स् तथा य् के अन्तर के कारण ही हुआ है। वर्णलोप से भी अर्थभेद होता ही है। वृक्ष और ऋक्ष के अर्थभेद का कारण व् के अपाय के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? दूसरी ओर अनर्थक वर्ण भो देखे जाते हैं। इसी अर्थाभाव के कारण इन वर्णों के व्यत्यय, अपाय, उपजन और विकार से शब्दार्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कृत्, कस् तथा हिंस् धातुओं से बने 'तर्कु', 'सिकता' और 'सिंह' में वर्ण व्यत्यय, 'घ्नन्ति' में वर्णापाय, 'लविता' में वर्णागम और 'घातक' में वर्ण-विकार से अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

केवल शब्द ही नहीं, शब्द और उसके अर्थ का सम्बन्ध भी भाष्यकार की सम्मति में नित्य ही है। शब्द में अर्थाभिधान की शक्ति स्वाभाविक होती है[1]।

भाष्यकार के मतानुसार पद चार अर्थों का अभिधायक होता है—आकृति, द्रव्य, गुण तथा क्रिया। आकृति पद से जाति का अभिप्राय है। यह द्रव्य या व्यक्ति के छिन्न या भिन्न हो जाने पर भी छिन्न या भिन्न नहीं होती, स्थिर बनी रहती है[2]।

इस विषय में यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि जाति नित्य है, तो भी उसकी आकृति या स्वरूप परिवर्तनशील है, यथा, मृत्तिका या सुवर्ण का नाश नहीं होता, किन्तु इनके आकार बदलते रहते हैं। गुण और क्रिया द्रव्य में रहते हैं, तो प्रश्न उठता है कि जाति तथा द्रव्य (व्यक्ति) में पदार्थ किसे माना जाये? इस विषय में प्राचीन वैयाकरणों में मतभेद था। व्याडि द्रव्याभिधानवादी थे[3]। उनके अनुसार गौपद से गोविशेष का बोध होता है। आकृति को पदार्थ मानने से गोजाति का बोध होता है, जो व्यावहारिक नहीं है। हम गोजाति को न बांध सकते हैं, न मार ही सकते हैं। एक जाति के अनेक व्यक्तियों में वैरूप्य भी देखा जाता है। जाति उस प्रकार के सभी व्यक्तियों के समूह की अभिधायक होती है, एक व्यक्ति की नहीं। उसका आश्रय उसका अभिव्यञ्जक होता है। अतः एक भी गौ की उत्पत्ति या नाश पर गोजाति की उत्पत्ति तथा नाश अनिवार्य होना चाहिये, जो असम्भव है।

आचार्य वाजप्यायन आकृत्यभिधानवादी थे। उनके मतानुसार गोशब्द से गोव्यक्ति का बोध नहीं होता, अपितु गोसमूह का बोध होता है। इसी लिए जब कहा

---

[1] 'स्वाभाविकमर्थाभिधानम्', म० भा०, पा० १, २, ६४; वा० ३६।

[2] यर्त्तहि तद्भिन्नेष्वभिन्नछिन्नेष्वछिन्नसामान्यभूतं स शब्दः, नेत्याह, आकृतिर्हि सा।

[3] द्रव्याभिधानं व्याडिराचार्यो न्याय्यं मन्यते—द्रव्यमभिधीयते इति (पा० १,२,६४; वा० ४५)।

जाता है, 'गोहत्या नहीं करनी चाहिये' तो किसी विशेष गौ की हत्या का निषेध न होकर किसी भी गौ की हत्या का निषेध अभीष्ट होता है। इस के अतिरिक्त शब्द व्यक्ति-विशेष का बोध करा कर क्षीणशक्ति हो जाने के कारण अन्य व्यक्तियों का बोध कराने में असमर्थ हो जायेगा[1]।

दोनों पक्षों की सविस्तर आलोचना करने के उपरान्त पतञ्जलि ने अपना मत व्यक्त किया है कि शब्द द्रव्य एवं आकृति दोनों का बोध कराता है तथा **'सम्पन्नो यवः'** तथा **'सम्पन्ना यवाः'** दोनों प्रयोग साधु सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था वृत्ति, अन्वय-व्यतिरेक, संज्ञासंज्ञी, कालविभाग, क्रिया, जाति, गुण प्रभृति विषयों पर भी पतञ्जलि ने मौलिक विचार व्यक्त किये हैं। उनके वचन अपनी प्रामाणिकता तथा गम्भीरता के कारण आप्तकोटि में गिने जाने लगे हैं। यहां तक कि महाभाष्य-विरोधी ही नहीं अपितु महाभाष्यानुक्त वचन तक को अप्रामाणिक माना जाने लगा। काशिका में मुनित्रय द्वारा अनुक्त, किन्तु काव्यादि में प्रयुक्त नवीन शब्दों या प्रयोगों को कैयट प्रभृति टीकाकारों ने अप्रामाणिक घोषित कर दिया, जो शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से अनुचित ही कहा जायेगा।

पतञ्जलि और यास्क

पतञ्जलि के प्रखर पाण्डित्य तथा अप्रतिम प्रतिभा का प्रभाव उत्तरवर्ती समस्त व्याकरण-शास्त्र पर ही नहीं, अपितु संस्कृत-साहित्य के अन्य क्षेत्रों पर भी स्पष्ट लक्षित होता है। जहां कहीं शब्दप्रयोग या शब्दसाधुत्व का प्रसंग आता है, वहां पतञ्जलि द्वारा अननुमोदित ही नहीं, अपितु अचर्चित शब्द-प्रयोग भी सदा-सदा के लिए हेय घोषित कर दिया गया। किन्तु हमने देखा है कि पतञ्जलि भी अपने पूर्वगत वैयाकरणों, दार्शनिकों तथा साहित्य-स्रष्टाओं के ऋणी रहे हैं। इसी प्रसंग में 'शब्द निर्वचन' के सर्वातिशायी तथा 'व्याकरण के कात्स्र्न्य' निरुक्त के स्रष्टा यास्क की कृति की छाप पतञ्जलि पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

पाणिनि ने शब्द को 'तिङन्त' तथा 'सुबन्त' इन वर्गों में विभक्त किया था। किन्तु पतञ्जलि ने यास्क का अनुकरण करते हुए चार प्रकार के शब्दों की चर्चा की है। शब्दों की व्युत्पत्तियों के लिए पतञ्जलि यास्क के निर्वचनों को आधार मानते हैं तथा अनेकत्र किसी शाब्दिक-प्रसंग अथवा तथ्य को दृष्टिगोचर कराने के लिए दोनों ने एक से ही वेदवाक्यों को उद्धृत किया है। बहुत से शब्दों के विश्लेषण के विषय में दोनों सहमत हैं, यथा—

---

[1] पा० १, २, ६४; वा० ३५ से ४०।

१. **आस्यमर—**

अस्यतेः, आस्यन्दत एनदन्नम् (निरु० १, ९)।

आस्यन्त्यनेन वर्णान् (म० भा० भाग १, पृ० २१५)।

२. **जारः—रात्रेर्जरयिता** (निरुक्त ३, १६)।

जरयन्तीति जाराः, जीर्यन्ते तैर्जाराः (म० भा० ३-२२८)।

३. **तर्कुः—आद्यन्तविपर्ययः** (√कृत्>कर्तुः>तर्कुः) (निरु० २,१)।

कृतेस्तर्कुः (म० भा० १, १२०)।

४. **दूढ्यम्—दुर्धियम्, पापधियम्** (निरु० ५, २)।

दुस्+ध्यः (धी, ६, १ वचन) (म० भा० ५, २६२)।

कई स्थितियों में वे शब्द के अर्थपक्ष के सम्बन्ध में तो सहमत हैं, किन्तु व्युत्पत्तिपक्ष में मतभेद रखते हैं, यथा—

अद्य—'अस्मिन् द्यवि, द्युरित्यह्नो नामधेयम् (निरु० १, ६) म० भा० के समय में 'द्यु' स्वतन्त्र शब्द के रूप में नहीं माना जाता था और समस्त पद के अन्त में 'दिन' के अर्थ में उत्पन्न हो गया था। अतः **अद्य, सद्यः, परेद्यवि, अन्येद्युः, पूर्वेद्युः, उभयेद्युः** सभी को अव्युत्पन्न शब्द मानकर सबको एक ही सूत्र में बांध दिया गया था (पा० ५, ३, २२)।

पतञ्जलि ने **अद्य** की व्युत्पत्ति 'अ (इदं)+द्य>अद्य मानी है (४, ३६६)।

विंशति—द्वि+दशत् (निरु० ३, १०)(>**द्विर्दशति>विंशति**) पतञ्जलि ने 'शति' को 'दश'— वाचक प्रत्यय मानकर **त्रिंशत्, चत्वारिंशत्** के समान व्युत्पत्ति की है (**स्वार्थे शतिच्**—म० भा० ४, २७०) कात्यायन इसे रूढ शब्द मानते हैं।

अनेक बार यास्क एक ही शब्द की अनेक निरुक्तियां अर्थभेद के अनुसार भिन्न-भिन्न करते हैं, जो व्युत्पत्ति की दृष्टि से शिथिल होती हैं। पतञ्जलि उनमें से व्युत्पत्ति एवं व्याकरण की दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त निर्वचन को चुन लेते हैं, यथा—

१. **अपत्यम्—अपतनं भवति, नानेन पततीति वा** (निरु० ३, १)।

अपतनादपत्यम्—(म० भा० ४, २७५)।

२. **कच्छपः—कच्छं पाति, कच्छेन पातीति वा, कच्छेन पिबतीति वा** (निरु० ४, १८)।

कच्छेन पिबति (म० भा० ३, १६२)।

३. **तितउ—°ततवद्वा, तुन्नवद् वा, तिलमात्रतुन्नमिति वा** (निरु० ४, ९)।
तितउ परिपवनं भवति ततवद् वा तुन्नवद् वा (म० भा० १, ४२)।

यहां तो पतञ्जलि ने बिना उल्लेख किये यास्क को शब्दशः उद्धृत कर दिया है, किन्तु अन्तिम निर्वचन को स्वीकार नहीं किया।

यज्ञः—यज्ञः कस्मात् प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः। याच्ञ्यो भवतीति वा, यजुर्भिरुन्नो भवतीति वा, बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवो, यजूंषि एनं नयन्तीति वा (निरु० ३, १९)।

यहां यास्क ने **√यज्**, **√याच्**, **यजुस्+√उन्दी-क्लेदने** तथा **अजिन** एवं **यजुस् +√नी** ये पांच निरुक्तियां की हैं, किन्तु पतञ्जलि ने केवल **√यज्-नङ्** ही स्वीकार की है (म० भा० २, ४)।

लक्ष्मीः—लक्ष्मीर्लाभाद् वा लक्षणाद् वा, (लप्स्यमानाद् वा), लाञ्छनाद् वा, लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणो लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणो, लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः (निरु० ४, १०)।

यहां यास्क ने अनेक धातुओं से लक्ष्मी शब्द को सम्बद्ध किया है, यथा—**√लभ्**, **√लक्ष्**, **√लप्स्**, **√लाञ्छ**, **√लष्**, **√लग्** तथा **लज्ज्**। किन्तु पतञ्जलि ने केवल **लक्षणाद् भासनात्** से ही लक्ष्मी की व्युत्पत्ति की है (म० भा० १,४३)।

कई अवस्थाओं में दोनों ने एक ही धातु को शब्द का मूल मान कर भी उसमें गणभेद से भेद कर दिया है।

अर्क—√अर्च्—पूजायाम् (भ्वादि) **अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति** (निरु० ५, ४)। किन्तु पतञ्जलि ने इसे चुरादिगणीय **√अर्च्** से सम्बद्ध किया है—**अर्चयतेरर्कः** (म० भा० १, ४५४)।

घृत—√घृ-सेचने (जुहोत्यादि), **जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः** (निरुक्त ७, २४)।

पतञ्जलि ने यहां **√घृ भ्वादि** का ग्रहण किया है।

घरतिरस्मा अविशेषेणोपदिष्टः स घृतं घृणा धर्म इत्येवंविषयः (पा० ७, १, ९६ पर म० भा०)[1]।

---

[1] **'तुनो निवृत्त्यर्थमिति चेत्सिद्धं यथाऽन्यत्रापि'** पर भाष्य तथा द्र० कैयट—**गृ धृ सेचने इति भौवादिकः, जिघर्त्तीत्येतत्तु घृ क्षरणदीप्त्योरित्यस्य बहुलं छन्दसि इत्यभ्यासस्येत्वे कृते रूपम्**।

धातुपाठ के अनुसार भौवादिक √घृ का अर्थ सेचन है। जुहोत्यादिगण के √घृ का अर्थ दीप्ति तथा क्षरण होता है। अतः प्रतीत होता है कि यास्क के पाठ में कुछ व्यत्यास तथा अर्थ-संक्रमण हो गया है

कहीं-कहीं धात्वर्थ में भेद पाया जाता है, यथा ‘स्त्री’-विषयक निर्वचन किया गया है, **स्त्रियः स्त्यायतेरपत्रपणकर्मणः** (निरु० ३, २१)। यहां √**स्त्या** का अर्थ ‘लज्जाना’ किया गया है, किन्तु पतञ्जलि ने इस की व्युत्पत्ति √**स्त्या-संघीभावे** से इस प्रकार की है—**स्त्यायत्यस्यां गर्भः** (म० भा० २, ९८)।

किन्तु कुछ ऐसी व्युत्पत्तियां भी महाभाष्यकार ने की हैं, जिनकी ओर यास्क ने कोई सङ्केत नहीं किया। यथा—

रश्मि—यास्क ने इसे √**यम्** से जोड़ा है (निरु० १, १५)। किन्तु पतञ्जलि ने इसकी व्युत्पत्ति √**रश्** से की है। √**रश्** धातुपाठ में नहीं पढ़ा गया (पा० ७, ९६ पर म० भा०)[1]।

लोष्ट—इसी प्रकार यास्क ने लोष्ट का निर्वचन √**रुज्-भङ्गेः** से किया है—**कूलं रुजतेर्विपरीताल्लोष्टोऽविपर्ययेण** (निरु० ६, १)[2]।

किन्तु पतञ्जलि ने धातुपाठ में अपठित धातु √**लुश्** से सम्बद्ध किया है (पा० ७, १, ९६ पर म० भा०)।

कभी-कभी दोनों आचार्यों ने एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न स्रोतों से सम्बद्ध किया है, यथा—

अक्षि—**अक्षि चष्टेः, अनक्तेरित्याग्रायणः** (निरु० १, ९)। यास्क ने इसे √**चक्ष्** से जोड़ा है, तो आग्रायण ने, √**अञ्ज्** से, किन्तु पतञ्जलि ने इसको √**अशु** व्याप्तौ से सम्बद्ध किया है, **अश्नोतेरयमौणादिकः करणसाधनः सि प्रत्ययः। अश्नुतेऽनेनेति अक्षि** (म० भा० ३, १८९)।

काकुदम्—कोकुवा + √धा—जिह्वा कोकुवा साऽस्मिन् धीयते (निरु० ५, २६)[3]।

देव—यास्क ने देव शब्द के अर्थपरक चार निर्वचन किये हैं—√दा—देना, √दीप्—प्रकाशित करना, √द्युत्—चमकाना, √द्यौ—आकाश

---

[1] **‘रशिरस्मा अविशेषेणोपदिष्टः, स राशिः, रश्मिः, रशना इत्येतद्विषयः’**। द्र० ईटि० या०, वर्मा, पृ० १२१।

[2] द्र० दुर्गाचार्य—**‘लोष्टः पुनरस्यैव धातोरविपर्ययेण’**।

[3] वि० स्वामिनाथन ने '**काकुद्**' को √**कू—शब्दे** से जोड़ा है, जो ठीक नहीं है। यास्क ने √कू को **कोकुवा (जिह्वा)** से सम्बद्ध किया है, न कि **काकुद** (द्र० निरुक्त एण्ड पतञ्जलि *AIOC*, 21, p. 185-209.

> (दिव्) (निरु० ७, १५)। पतञ्जलि ने इनमें से केवल √दिव् को देव से जोड़ा है, किन्तु उसे ऐश्वर्यार्थक धातु माना है—**दिवेरैश्वर्यकर्मणो देव:** (म० भा० ४, २७५), यद्यपि √दिव् का यह अर्थ धातुपाठ में नहीं दिया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि पतञ्जलि ने यास्क के निर्वचन-शास्त्र का पूरा-पूरा लाभ उठाया है, तो भी उन्होंने आंख मूँद कर अंधानुकरण नहीं किया, अपितु अपनी स्वतन्त्र निर्णायक बुद्धि के सहारे उचित-अनुचित का निश्चय करके शब्दों का विश्लेषण किया है। इसी स्वतन्त्र प्रवृत्ति के फलस्वरूप इन्होंने यास्क के इस सिद्धान्त को उठाकर ताक पर रख दिया कि सभी शब्द आख्यातज हैं और अपने वैयाकरण-सम्प्रदाय की परम्परा के अनुरूप ही[1] सभी शब्दों को आख्यातज मानने से इनकार कर दिया और पाणिनि के विचारानुरूप ही कुछ शब्दों को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मानकर उन्हें उणादियों में डाल दिया।

दूसरे यास्क ने डित्थ आदि **यदृच्छा-शब्दों** के स्थान पर अनुकरण-शब्दों को मान्यता प्रदान की है। पतञ्जलि ने **यदृच्छा-शब्दों** को भी वैकल्पिक मान्यता प्रदान की है और यास्क का अन्धानुकरण न करके व्याकरण-सम्प्रदाय की परम्परा को अक्षुण्ण रखा है।

पतञ्जलि के महाभाष्य की व्याख्यान-विधि के विषय में एक विशेषता की ओर हमारा ध्यान पॉल थीमे ने आकृष्ट किया है कि पतञ्जलि की व्याख्या किसी एक विचार पर केन्द्रित न होकर प्रतिपाद्य की समस्त सम्भावनाओं को अपनी विचार-परिधि में समाहित किये रहती है। समस्त वैचारिक-प्रक्रिया पूर्णरूपेण बौद्धिक ऊहापोह तथा निरपेक्ष्य सम्भावनाओं पर आधृत है। बहुत बार पतञ्जलि जब किसी एक समस्या पर विविध कोणों से दृष्टिपात करते हैं, तो अकस्मात् ही एक विचार-बिन्दु से दूसरे पर जा पहुंचते हैं तथा विचार को किसी एक विशिष्ट समाधान पर केन्द्रित किये बिना विविध समाधानों की सम्भावनाओं को प्रस्तुत करते हुए आगे बढ़ जाते हैं। उत्तरवर्ती वैयाकरणों की मान्यतानुसार आचार्य प्रत्येक समस्या का समाधान करते हुए सिद्धान्तपक्ष का प्रतिपादन करते ही हैं। इसी कारण अनेक समस्याओं के सम्बन्ध में आचार्य के अन्तिम निर्णय (सिद्धान्त) के विषय में विवाद उठ खड़े हुए हैं[2] कि आचार्य के तद्विषयक अन्तिम वचन सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं या नहीं।

---

[1] **न सर्वाणीति गार्ग्यों वैयाकरणानाञ्चैके** (निरु० १, १२)।

[2] पा० ६, १, ११५ के प्रसंग में पतञ्जलि अपने अभीष्ट विविध पक्षों पर विचार करके समस्या को मध्य में ही छोड़ कर चल दिये हैं। द्र० Paul Theime, *Pāṇini and the Pāṇiniyas*, *JAOS* 76, p. 12.

पतञ्जलि केवल अस्पष्ट विषयों को ही परिष्कारार्थ उठाते हैं। महाभाष्य को आत्मसात् करने के लिए हमें सूत्रपाठ के पौर्वापर्य तथा सूत्रों के पारस्परिक सम्बन्धों को आत्मसात् करना अत्यन्त आवश्यक है, न ही कात्यायन और न ही पतञ्जलि ने स्वयं को परम्परागत रूढ़ियों या व्याख्याओं के बन्धनों की सीमाओं से निबद्ध माना है। वह प्रत्येक विषय को अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसने तथा विविध ऊहापोहों, तर्क-वितर्कों की छलनी में छानने के उपरान्त ही उसके परिष्कार की घोषणा करते हैं। वह अपने बौद्धिक-श्रम से बचने के लिए किसी पूर्वाचार्य अथवा वचन का आश्रय कभी नहीं लेते, न ही किसी की प्रामाणिकता को तब तक स्वीकार ही करते हैं, जब तक वह उनकी अपनी कसौटी पर खरा नहीं उतरता। वह प्रत्येक प्रस्ताव, आक्षेप या सिद्धान्त को उसके अपने गुणदोषों के आधार पर स्वीकारते या नकारते हैं।

कात्यायन तथा पतञ्जलि अपने प्रखर पाण्डित्य तथा पैनी दृष्टि के बावजूद भी पाणिनि के सूत्रों के मूलपाठ को हम तक नहीं पहुंचा सके। कीलहार्न ने दर्शाया है कि ५८ स्थल ऐसे हैं जहां कात्यायन या पतञ्जलि या दोनों के पास मूलसूत्र पाठ से भिन्न सूत्रपाठ पहुंचा था और यह पाठ-परिवर्तन कात्यायन से भी पूर्व आरम्भ हो चुका था[1]। यथा, कात्यायन का सूत्रपाठ **नान्तःपादं व्यपरे** (पा० ६, १, ११५) है, किन्तु पतञ्जलि के समक्ष यही सूत्र **प्रकृत्यान्तःपादं व्यपरे** इस रूप में था और निश्चय है कि यह पाठभेद कात्यायन तथा पतञ्जलि के मध्यवर्ती काल में हो गया था। अथ० प्रा० (३, ५४, ह्विट्ने) में पाठ 'प्रकृत्या ··· ··· ' है, जो पाणिनि तथा कात्यायन से अर्वाचीन है, किन्तु पतञ्जलि से प्राचीन है[2]। पतञ्जलि भी **नान्तः** ··· ··· पाठ स्वीकार करते प्रतीत होते हैं, किन्तु पा० ६, १, १२७ ; १२९ पर लिखते हुए वे **प्रकृत्याः** ·· पाठ स्वीकार करते हैं। अन्य कई उदाहरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

वास्तव में महाभाष्य का प्रचार भी कई बार उत्सन्न हो गया था, यह परम्परा अत्यन्त प्रसिद्ध है। भर्तृहरि तथा कल्हण के निर्देशों से प्रतीत होता है कि चन्द्राचार्य ने लुप्तप्रचार महाभाष्य का पुनरुद्धार काश्मीर नरेश महाराज अभिमन्यु की आज्ञा से किया था[3]। विक्रम की अष्टमशती में म० भा० दोबारा उछिन्न हो गया था, तो काश्मीर के ही महाराज जयापीड ने 'क्षीर' नामक वैयाकरण के

---

[1] एफ्० कीलहार्न, इण्डि० एण्टि०, १६, पृ० १७८-१८४ ; पॉल थीमे, पाणिनि एण्ड पाणिनीयस्, जे० ए० ओ० एस०, ७६ (१९५६), पृ० ११।

[2] पॉल थीमे, पा० वे०, पृ० ८५ से : जे० ए० ओ० एस०, ७६, पृ० २४।

[3] वाक्य० २, ८-९, राजतरंगिणी, तरंग १, श्लोक, १७६।

द्वारा पुनः इसका प्रचार-प्रसार कराया था[1]। सम्भवतः इसी प्रचाराभाव के कारण ही म० भा० के पाठ में बहुत अव्यवस्था हो गयी। भर्तृहरि, कैय्यट तथा नागेश ने अनेक स्थलों पर पाठभेद उद्‌धृत किये हैं। नागेश ने तो अनेकों अपपाठों की ओर भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। अनेक स्थलों पर तो पूर्वापर पाठ का व्यत्यास भी हो गया है[2]।

संस्कृत-व्याकरण के इतने महिमाशाली एवं धुरन्धर विद्वान् के जीवन के विषय में हमें कुछ भी प्रामाणिक ज्ञान न होना अत्यन्त आश्चर्यकर है। परम्परा ने इन्हें शेष का अवतार मानकर इनके जीवन के चारों ओर अनेक दन्तकथाओं का ताना-वाना बुन डाला है। एक दन्तकथा के अनुसार यह गोनर्द देश के वासी थे इसलिए इन्हें गोनर्दीय की संज्ञा से अभिहित किया जाता है और इनकी माता का नाम गोणिका प्रसिद्ध है।

यद्यपि स्वयं महाभाष्य में गोनर्दीय का मत चार बार उद्धृत किया गया है,[3] तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह शब्द पतञ्जलि का अभिधायक है। इसी प्रकार गोणिकापुत्र का भी उल्लेख किया गया है[4] तथा कैय्यट ने इसे भाष्यकार माना है। वात्स्यायन के कामसूत्र में पांच बार गोनर्दीय तथा आठ बार गोणिकापुत्र का मत उद्‌धृत किया गया है। वहां यह दोनों व्यक्ति एक नहीं जान पड़ते[5] राजेन्द्रलाल मित्र[6] तथा कीलहार्न[7] ने गोनर्दीय तथा गोणिकापुत्र को पतञ्जलि से भिन्न सिद्ध किया है। वैयाकरण पतञ्जलि का कामशास्त्रज्ञ होने का कोई और प्रमाण नहीं मिलता। पतञ्जलि के कई अन्य अभिधान भी प्रसिद्ध हैं। कैयट[8] ने नागनाथ, चरक के टीकाकार चक्रपाणि ने अहिपति,[9] भोजराज ने योगसूत्रवृत्ति में 'पाणिभृत्' संज्ञाओं से स्मरण किया है। यद्यपि इन सभी के पीछे इनके शेषावतार होने की मान्यता निहित है। भर्तृहरि,[10] तथा स्कन्दस्वामी[11]

---

१. राजतरंगिणी, ४, ८८-८९।

२. द्र० मीमांसक, वही, पृ० १५१-१५२।

३. म० भा० १, १, २१ ; १, १, २९ ; ३, १, ९२ ; ७, १, १०२।

४. कैयट १, २, २९ भा० ; नागेश १, ४, ५२ भा०।

५. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, पतञ्जलिकालीन भारत, पृ० ५२।

६. जे० ए० एस० बी०, खण्ड ५२, पृ० २४१।

७. इण्डि० एण्टि०, खण्ड १४, पृ० ४०।

८. म० भा० ४, २, २३।

९. **मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः।**

१०. महाभाष्य दीपिका।

११. निरुक्त ३, १४।

ने इन्हें 'चूर्णिकार' की संज्ञा दी है। परम्परा इन्हें योगसूत्र तथा चरकसंहिता का कर्ता भी मानती है। लीविख़ एवं चक्रवर्ती[1] ने योगसूत्रकार तथा भाष्यकार को एक माना है, किन्तु रेणु (Renou) ने इन्हें पृथक्-पृथक् व्यक्ति मानने का आग्रह किया है। दूसरी ओर लासेन तथा गार्वे महाभाष्यकार तथा योगसूत्रकार पतञ्जलि को एक ही व्यक्ति मानते हैं। अतः इस विषय में कोई निर्णायक मत व्यक्त करने लिए अभी और गहराई से विचार करने की आवश्यकता है।

इसी प्रकार पतञ्जलि का निवास-स्थान भी विवादास्पद है। यदि 'गोनर्दीय' शब्द से वस्तुतः पतञ्जलि का बोध माना जाय तो गोनर्द प्रदेश की खोज का प्रश्न उठता है। डा० भण्डारकर ने वर्तमान गोंडा को ही गोनर्द का भ्रष्टरूप माना है। यह स्थान उतरप्रदेश में अवध के पश्चिमोत्तर में है। वेबर इसे पाटलीपुत्र के पूर्व में मानते हैं, तो कनिंघम इसे गौड शब्द से जोड़ते हैं[2]। वैयाकरणों की परम्परा इसे प्राच्यदेश मानती चली आयी है। पतञ्जलि ने कात्यायन को दाक्षिणात्य कहा है, अतः अनुमान किया जाता है कि वह स्वयं उत्तरभारत वासी थे। आन्तरिक साक्ष्य के आधार पर प्रतीत होता है कि वह वाहीक, कुरुपाञ्चाल, विशेषतः मथुरा एवं स्रुघ्न से परिचित थे। स्रुघ्न वर्तमान जगाधरी के पास खुदाई में निकला 'सुघ' नामक स्थान माना जाता है, किन्तु वह पाटलीपुत्र से भी कम परिचित प्रतीत नहीं होते। डा० अग्निहोत्री ने वाहीक प्रदेश को पूर्वी पञ्जाब से सम्बद्ध करने का प्रयास किया है और इसे 'गोनर्द' मानने का सुझाव दिया है[3]। किन्तु मैं समझता हूं कि बाहीक शब्द से पश्चिमी पञ्जाब, विशेषतः सिन्ध के पश्चिमी तटवर्ती क्षेत्र का बोध होता है। बौद्ध-साहित्य में गोनर्द प्रदेश उज्जयिनी—विदिशा-क्षेत्र में अवस्थित था[4]। किन्तु इस विषय में अभी तक निर्णायक रूप में कुछ कह सकना सम्भव नहीं है।

पतञ्जलि के काल के विषय में कोई विवाद नहीं है। वह १५० ई० पू० के आस-पास पुष्यमित्र शुंग के समकालिक थे और उन्होंने पुष्यमित्र के अश्वमेघ यज्ञ में भाग लिया प्रतीत होता है। उनका प्रसिद्ध वचन **पुष्यमित्रं याजयामः** इसी ओर संकेत करता है। रामायण-महाभारत के पात्रों, कंसवध, बलिबन्ध जैसी कहानियों तथा उन पर आधृत नाटकों, वासुदेव भक्ति से सम्बद्ध संकेत, जातक-कथाओं का प्रचलन, महाभाष्य में बौधायन, वासिष्ठ धर्मशास्त्र, आपस्तम्ब आदि धर्मसूत्रों के उद्धरण, विविध छन्दोबद्ध काव्यों के प्रचुर उद्धरण, ब्राह्मणों तथा श्रमणों के संघर्ष के संकेत, यज्ञों का पुनः प्रचलन, मौर्यों की दुर्बल एवं दरिद्रतापूर्ण अवस्था का

---

१. इण्डि० हिस्टा० क्वा० भाग २, पृ० २६५।

२. एन० ज्याग्रा०, ४०८ तथा आर्कि० सर्वे, खण्ड १, पृ० ३२७ ;

३. पतञ्जलिकालीन भारत, पृ० ५५।

४. डिक्शनरी ऑफ पालि प्रापर नेम्स, अग्निहोत्री द्वारा उद्धृत, पृ० ५५।

उल्लेख, शिव-स्कन्द, कुवेर, विशाख, बलराम प्रभृति नवीन देवी-देवताओं का उदय, पुष्यमित्र सभा, चन्द्रगुप्त सभा का स्पष्ट उल्लेख, पाटलिपुत्र के वैभव की बार-बार चर्चा, तथा उसकी गंगा तट के स्थान पर शोण तट पर स्थिति, पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख (जिसकी चर्चा कालिदास ने स्वरचित 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में भी की है), यवन आक्रान्ता मिनाण्डर द्वारा 'माध्यमिका' (चित्तौड़) तथा साकेत पर आक्रमणों के उल्लेख पतञ्जलि के काल का निश्चयात्मक निर्णय करने में प्रमाण हैं[1]। इन सब प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि पतञ्जलि का समय पुष्यमित्र शुंग के समकालिक था। पुष्यमित्र का राज्यकाल १८५ ई० पू० से १४९ ई० पू० तक निश्चित किया गया है। अतः पतञ्जलि का काल भी १७५-१५० ई० पू० निश्चित है[2]।

संस्करण :—(१) कैयटकृत व्याख्या सहित, तिमिरनाशक यन्त्रालय, काशी, (१८८९)।
(२) एफ्० कीलहार्न सम्पा०, ३ भाग, १९०९।
(३) गाइगर (Geiger) सम्पा०, कैयट कृत प्रदीप सहित।
(४) प्रदीप-उद्योत सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०८।
(५) प्रदीप-उद्योत सहित, ३ भाग, १९०१।
(६) प्रदीप-उद्योत सहित, ६ भाग, गुरुप्रसादशास्त्री सम्पा०, काशी, १९३८-३९।
(७) प्रदीप-उद्योत-तत्त्वालोक सहित, नवाह्निक, गिरिधर शर्मा, सम्पा०।
(८) प्रदीप-उद्योत सहित, गुरुकुल झज्झर।
(९) प्रदीप-उद्योत—छाया (वैद्यनाथ कृत ४७ पृष्ठ तक), १९६७, मोतीलाल बनारसीदास।
(१०) प्रदीप-उद्योत (नवाह्निक)—हिन्दी अनुवाद, वाराणसी।
(११) ,, ,, (१-४ आह्निक) हिन्दी अनुवाद सहित, पूना।
(१२) ,, ,, मराठी अनुवाद सहित।
(१३) भर्तृहरि कृत 'महाभाष्यदीपिका सहित', ए० बी० ओ० आइ०, भाग ४३-५०, वि० स्वामिनाथन सम्पा० (पूना)।

---

[1] द्र० पतञ्जलिकालीन भारत, पृ० ५६-५८; बैजनाथपुरी, इण्डिया इन द टाइम्स ऑफ पतञ्जलि।

[2] पतञ्जलिकालीन भारत, ५९-६६; पुरी वही, पृ० १५-१६; ४-१२।

पतञ्जलि के महाभाष्य की समस्याएं

वार्तिकों के प्रति पतञ्जलि का व्यवहार भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रकट होता है—

(१) वार्तिक का उदाहरण देने के पश्चात् ये प्राय: चुप हो जाते हैं, किन्तु यदि वार्तिक से मतभेद व्यक्त नहीं करते हैं, तो उसका आशय यह होता है कि वह प्रयोग कात्यायन के समय से इनके समय तक लोक में प्रचलित था।

(२) शब्द प्रयोग के अर्थोद्घाटक अनेक उदाहरण अथवा प्रत्युदाहरण इस तथ्य के द्योतक होते हैं कि उस समय तक उस प्रयोग का लोक में पर्याप्त प्रचलन था।

यद्यपि पतञ्जलि के उदाहरण किसी शब्द के लोक में प्रचलन के प्रमाण का मुख्य हेतु हैं, तो भी इन उदाहरणों के सम्बन्ध में उनकी भिन्न-भिन्न भावनाएं व्यक्त होती हैं, यथा—**केलिमर** प्रत्यय (पा० ३, १, ९६, वा० १) का स्वरान्त धातु के साथ कोई उदाहरण नहीं दिया गया।

प्रत्युदाहरण अनिवार्यरूपेण नहीं दिये गये। यथा पा० ३, १, १०३, वा० १; ३, १, १३७, वा० १; ३, १, १३८ वा० १; २; ३, १, १४९, वा० १ इत्यादि।

कई स्थलों पर यद्यपि वार्तिक का निर्देश वैदिक-प्रयोग की ओर नहीं होता, तो भी उसका लौकिक उदाहरण नहीं दिया गया। यथा, पा० ३, १, ११२, वा० ४; ३, १, ११४, वा० ३; ३, २, १५, वा० ४; ३, २, ४९, वा० १; ३, २, ६१, वा० १। इससे यही व्यक्त होता है कि ये रूप उस समय लोक में अधिक प्रचलित नहीं रह गये थे। वार्तिक में सोपसर्ग प्रयोग की शर्त न होने पर भी पतञ्जलि सोपसर्ग रूपों के उदाहरणों के शौक़ीन प्रतीत होते हैं, यथा—**अपलाप्य, अवदाभ्य** (पा० ३, १, १२४, वा० ३); **उष्ट्रप्रणाय:** (पा० ३, २, १, वा० ४); **आखूत्थः** (पा० ३, २, ४, वा० १)।

कहीं-कहीं पतञ्जलि के उदाहरण भ्रान्तिजनक भी हो गये हैं, यथा, पा० ३, २, ७८, वा० १—**णिन्विधौसाधुकारिण्युपसंख्यानम्, साधुकारी, साधुदायी** (पतञ्जलि)। यहां पा०, कात्यायन तथा पतञ्जलि तीनों ने **साधुकारी** का प्रयोग किया है (पा० ३, २, १३४), किन्तु पतञ्जलि ने एक उदाहरण **साधुदायी** देकर यह भ्रम उत्पन्न कर दिया कि वा० में प्रयुक्त **साधुकारी** शब्द में **साधु** शब्द का उपपद में होना अनिवार्य है, जबकि वा० का आशय सुष्ठु, भली प्रकार से चतुराई से काम करने वाला है। यहां **सुष्ठुकारी** अथवा **सुष्ठुदायी** उदाहरण भी हो सकता है। पा० के सूत्र (३, २, ७८) का आशय 'ताच्छील्य' अथवा 'आदत'

पर बल देने का **है**। कात्यायन के वार्तिक में 'आदत' तथा **साधुता** दोनों पर बल दिया गया है, अर्थात् **साधुकारी** वह **है** जो आदत से ही **सुष्ठुकारी है**। जबकि पतञ्जलि के दोनों उदाहरणों में समान **साधु** शब्द के उपपद होने के कारण **साधुता** पर ही अधिक बल प्रतीत होता हैं, जो भ्रामक है।

कई स्थलों पर अतिसंक्षिप्त विवरण दिया गया है, यथा—पा० ३, १, १०३, वा० १ ; ३, २, १३, वा० १ ; ३, २, २४, वा० १।

अनेक उदाहरण ऐसे हैं, जिनसे यह स्पष्ट नहीं होता कि ये **प्रयोग केवल** वैयाकरणों द्वारा रूपसिद्धि के लिए कल्पित कर लिये गये हैं, अथवा लोक में प्रचलित थे, यथा, **महाकुम्भकार=महाकुम्भं करोति इति**, न कि **महान्तं कुम्भं करोति**[1] । **आनढ्यम्भविष्णुः** (पा० ३, २, ५६-५७) पा० ने **आढ्यम्भविष्णु** प्रभृति सात समस्त पदों का विधान किया है, सम्भव **है** कात्यायन से परवर्ती किसी व्याख्याकार ने अन्तोदात्त **अनाढ्यम्भविष्णु** रूप का प्रयोग किया होगा, **जिसके अनुकरण** पर पतञ्जलि ने भी इसका उपयोग किया प्रतीत होता है[2] । **श्राद्धभोजी** (पा० ३, २, ८०) **के** सन्दर्भ **में अश्राद्धभोजी** शब्द **की साधुता के** विषय में चर्चा चलायी गयी है। किन्तु जब **श्राद्ध** में भोजन करने के व्रत **(व्रते)** की सत्ता ही नहीं सुनी गयी तो **अश्राद्धभोजी** शब्द कैसे बन सकता है। सम्भवतः यह लोक में प्रयुक्त न होकर केवल वैयाकरणों के सम्प्रदाय में प्रचलित हो गया प्रतीत होता है[3] ।

किसी समय ह्विट्ने ने यह मत व्यक्त किया था कि पाणिनीय-व्याकरण का अध्ययन एक बात **है** और संस्कृत-भाषा का अध्ययन सर्वथा भिन्न अन्य बात है[4] तथा प्रतिपादित किया था कि हिन्दू-व्याकरण-शास्त्र का विषय एक ऐसी विचित्र भाषा **है**, जिसे हम वैयाकरणों की भाषा कह सकते हैं और जो एक ओर पूर्वश्रेण्य संस्कृत से भिन्न थी, तो दूसरी ओर श्रेण्य-संस्कृत से भी पृथक् थी और भारतीय भाषाओं के सामान्य इतिहास में या तो दोनों के मध्य में अवस्थित थी, या दोनों से तटस्थ एक किनारे पर खड़ी थी[5] ।

किन्तु आज ह्विट्ने के इस विचार से कोई भी सहमत नहीं हो सकता। न ही हम इस बात को मान सकते हैं कि वैयाकरणों की भाषा तथा वास्तविक

---

[1] See Laddu, S. D., *Loc. cit.*, p. 177-178.

[2] *Ibid.*, p. 220.

[3] वही, पृ० २३५।

[4] W. D. Whitney, *The Study of Sanskrit Grammar and the Study of Sanskrit (Am. Jph.*, (1884) V, p. 297.

[5] वही, पृ० २८२।

संस्कृत में परस्पर बड़ा विरोध पाया जाता है[१]। आज यह स्पष्ट हो चुका है कि संस्कृत-वैयाकरणों के विचाराधीन संस्कृत-भाषा एक जीती-जागती बोलचाल की माध्यम-भाषा थी और इस विषय में यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध हो चुके हैं[२]।

कीलहार्न के अनुसार तथाकथित वैयाकरणों की बोली ह्विट्ने द्वारा उल्लिखित ब्राह्मणकालीन भाषा से आश्चर्यजनक मेल खाती है[३]। पाणिनि के नियम बोलचाल की भाषा के अतिरिक्त किसी भी अन्य बोली के सन्दर्भ में सर्वथा व्यर्थ हैं, विशेषतः, जब वह अपने विचाराधीन माध्यम के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग करते हैं[४]। पाणिनि की कृति का मुख्य स्रोत उसकी अपनी तथा समसामयिक लोगों की जीती-जागती भाषा ही थी[५]। अतः इस बात की घोषणा सर्वथा न्यायिक है कि पाणिनि की रचना ऐसी उत्तम संग्राहक थी, जिसमें यथार्थ तत्त्वों का तो संग्रह कर लिया गया है, किन्तु अयथार्थ पदार्थों का परित्याग कर दिया गया है[६]।

उन्होंने अपनी 'भाषा' में से एक ओर वैदिक-भाषा के प्राचीन प्रयोगों को और दूसरी ओर जनसामान्य में प्रचलित 'अशिष्ट' प्रयोगों को पृथक् करके 'शिष्ट' प्रयोगों को अपने विचार का विषय बनाया था[७]।

उन्होंने तथा उनके अनुयायियों ने अपने समक्ष कुछेक सुविचारित तथा सुनिश्चित सिद्धान्तों के आधारस्तम्भों की स्थापना की थी, जिन पर पाणिनीय-व्याकरण के विशाल एवं वैभवशाली प्रासाद का निर्माण किया गया।

१. शब्द साधुत्व तथा शास्त्रान्विति के लिए शिष्ट प्रयोग को ही आधार माना गया है। इसके अतिरिक्त शब्द असाधु तथा शास्त्रानन्वित माने गये हैं। शब्द को नित्य माना गया है।

२. यह शिष्ट प्रयोग भी स्थान तथा समय के अनुसार प्रयोज्य तथा अप्रयोज्य होता है। वही शब्द एक समय में एक स्थान पर साधु माना जाता है।

---

[१] वही, पृ० २८८।

[२] Rason, E. J., *In What Degree was Sanskrit a Spoken Language*, *JRAS* (1904), p. 443 : See Laddu, S. D , *Evolution of Sanskrit Language, from Pāṇini to Patanjali*, Poona, 1974, p. 4.

[३] *Reviw of Roots* by Whitney, *IA* (1886), XV, p. 87,

[४] Keith, A. B. *HSL*, 1928, p. 9.

[५] Burrow, T., *The Sanskrit Language*, p. 50, also p. 44.

[६] Thieme, Paul, *Pāṇini and the Veda*, *IC*., (1936) II, P. 745.

[७] Ghatage, A. M., *Historical Linguistics and Indo-Aryan Languages*, University of Bombay, 1963, P. 107.

अन्य समय तथा स्थान पर वही असाधु घोषित किया जा सकता है। भाषा के सतत परिवर्तन-शील पदार्थ होने के कारण इसमें सदा एकरूपता बनी नहीं रह सकती[1]। यही नहीं, एक ही समय में एक साधु-शब्द अन्य स्थान पर 'असाधु' और 'अप्रयोज्य माना जा सकता है।

शब्द का प्रयोगक्षेत्र विस्तृत एवं विशाल होने के कारण विशेष अर्थों में विशिष्ट शब्दों के प्रयोग को खोजने के लिए समस्त साहित्य, देश और काल के विस्तृत क्षेत्र को सूक्ष्मेक्षिका से देखना होगा। यह कहीं भी उपलब्ध हो सकता है[2]।

३. शब्द-प्रयोग सामाजिक पर्यावरण के अन्तर्गत ही फलता, फूलता तथा पनपता है। यह सामाजिक-प्रक्रिया के अनुरूप ही अर्थों का ग्रहण तथा परित्याग करता है। अतः इसकी व्याख्या परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही की जा सकती है। अतः कात्यायन तथा पतञ्जलि दोनों ने ही सदा इस तथ्य को अपने समक्ष प्रस्तुत रखा है।

कई बार शब्द प्रयोग में तो प्रचलित होता है, किन्तु पाणिनि की प्रक्रिया से इसकी व्युत्पत्ति अथवा सिद्धि सम्भव नहीं होती। उस अवस्था में कात्यायन तथा पतञ्जलि दोनों ही पा० सूत्रों में ऐसे परिवर्तन अथवा संशोधन का सुझाव देते हैं कि शब्द-सिद्धि भी हो जाये और मूल-सूत्र में कुछ अधिक परिवर्तन भी न करना पड़े[3] अथवा प्रत्येक सूत्र की नवीन तथा निपुण व्याख्या के आश्रय से शब्द-सिद्धि कर ली गयी है[4]।

पतञ्जलि का मुख्य उद्देश्य तो येन-केन प्रकारेण शब्द-सिद्धि प्रक्रिया को पूर्ण तथा दोषरहित बना देना रहा है[5]।

---

[1] **अप्रयोगः प्रयोगान्यत्वात्**—पस्पशा० वा० ३ तथा इस पर पतञ्जलि।

[2] **उपलब्धौ यत्नः क्रियतां, महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः…सर्वे देशान्तरे।** (पतञ्जलि)

[3] **सूत्रं तर्हि भिद्यते, यथान्यासमेवास्तु।** (पतञ्जलि)

[4] तु० **सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद्वृत्तौ यच्च वार्तिके।**
सूत्रं योनिरिहार्थानां सर्वं सूत्रे प्रतिष्ठितम्॥ (तन्त्रवार्तिक २, ३, १६)
तथा दुर्गसिंहकृत **कातन्त्रपरिभाषासूत्रवृत्ति** (आरम्भ) तथा C.K. Rajo, *Survey of Sanskrit Literature*, p. 245.

[5] Vide, Joshi, S. D., Roodbergen, J. A. F., व्या० म० भाष्य, अव्ययीभाव-तत्पुरुषाह्निक, Intro., p. X. (Poona), 1969.

कीलहार्न के शब्दों में पतञ्जलि का उद्देश्य अष्टाध्यायी के सूत्रों के क्षेत्र को इतना विस्तृत कर देना है कि जहां प्रथम दृष्टि में वे अप्रासंगिक प्रतीत होते हों, वहां उन्हें इस रीति से प्रवृत्त करना होता है कि नवीन सूत्र की आवश्यकता न रहे[1]।

इस प्रसङ्ग में पतञ्जलि का योगदान विशेष है। वे पाणिनीय सूत्रों की प्रामाणिकता को इतना अकाट्य बना देते हैं तथा उनका क्षेत्र इतना विस्तृत कर देते हैं कि वे भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान सभी प्रकार के भाषाविषयक परिवर्तनों की व्याख्या करने में समर्थ हो गये हैं। उन्होंने पाणिनि को सदा-सदा के लिए प्रामाणिक तथा अखण्डनीय बना दिया है[2]। कात्यायन तथा पतञ्जलि दोनों के प्रयत्नों से सूत्रों में वार्तिकों के रूप में वृद्धि तथा पुनर्व्याख्या के कारण इनके कार्यक्षेत्र का इतना अधिक विस्तार हो गया है कि श्रेण्य-संस्कृत की सर्वथा नवीन उद्भावनाओं को भी इनमें समाहित कर लिया गया है और तो और कुछेक उन रूपों को भी इन नवीन उद्भावनाओं के घेरे में समेट लिया गया, जिन्हें प्राचीनों ने शिष्ट प्रयोग न होने ने कारण अपने क्षेत्र से बहिष्कृत कर रखा था[3]। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ये सब रूप पाणिनि के दृष्टिदोष के परिणाम हैं, क्योंकि कात्यायन द्वारा प्रतिपादित वार्तिकों के अपवाद दैनिक जीवन से सम्बद्ध प्रतिदिन प्रयोग में आने वाले ऐसे शब्द भी हैं कि इस प्रसङ्ग में पाणिनि के दृष्टिदोष की कल्पना भी सर्वथा मूर्खतापूर्ण होगी[4]।

यह तो भाषा के सतत विकास का प्रतिफल है कि कात्यायन और पतञ्जलि को पाणिनीय अष्टाध्यायी में परिवर्धन तथा सूत्रों का पुनरन्वाख्यान करना पड़ा। इसी के परिणाम स्वरूप—**यथोत्तरं हि मुनित्रयस्य प्रामाण्यम्** का सिद्धान्त स्वीकार करना पड़ा। नागेश ने कारण भी स्पष्ट कह ही दिया—**उत्तरोत्तरस्य बहुलक्ष्यदर्शित्वात्**। किन्तु इस प्रसङ्ग में हमें ध्यान में रखना चाहिए कि उनके समक्ष भाषा के सतत विकास का सिद्धान्त साक्षात् अवस्थित नहीं था क्योंकि यह विचारधारा अत्यन्त नवीन है।

---

[1] *I. A.* XVI (1887) p. 244.

[2] K. M. K. Sharma, *An Important Aspect of Pāṇinian Technique of Interpretation, I. C.* VIII (1941) p. 445 ; also, Chaturvedi, S. P., गतद्विशताब्दी में संस्कृत-व्याकरण का विकास, ना० प्र० प० १९४४, पृ० ३०३-३०९ ; तु० कैयट—**नित्यानां शब्दानां यथाकथञ्चिदन्वाख्यानं कर्तव्यमिति मन्यते (पृ० १४१)।**

[3] Ghatage, A. M., *Historical Linguistics and Indo-Aryan Languages* p. 106.

[4] Devasthali, G. V., *The Aim of the Varttikas of Kātyāyana, B. V. XX-XXI*, p. 52-63; See also R. G. Bhandarkar, J. BBRAS XVI, p. 273 (=Collected Works, Vol. IV, p. 272).

चतुर्विश अध्याय

भर्तृहरि

महाभाष्य की उपलब्ध तथा ज्ञात टीकाओं में भर्तृहरिकृत **'महाभाष्य दीपिका'** सर्वप्राचीन तथा सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है।

भर्तृहरि के नाम के अनेक व्यक्ति हो गये हैं। भर्तृहरि के नाम से अनेक रचनाएं सम्बद्ध की जाती हैं, जिनकी तालिका निम्नलिखित है—

(१) **महाभाष्य-दीपिका**। (२) **वाक्यपदीय**—तीन काण्ड। (३) **वाक्यपदीय**, काण्ड १, २ की **स्वोपज्ञ टीका**। (४) **भट्टिकाव्य**। (५) **भागवृत्ति**। (६) **शतकत्रय**। (७) **शब्दधातुसमीक्षा**। (८) **मीमांसाभाष्य**। (९) **वेदान्तसूत्रवृत्ति**। (१०) **षष्ठीश्रावी**। किन्तु इनमें से सर्वप्रसिद्ध **वाक्यपदीयकार** भर्तृहरि के व्यक्तित्व तथा रचनाओं के विषय में विज्ञजनों में पर्याप्त विप्रतिपत्ति पायी जाती है।

इनमें से **महाभाष्य-दीपिका**, **वाक्यपदीय** तथा उसकी **स्वोपज्ञटीका** सर्वसम्मति से एक ही व्यक्ति की कृतियां मान ली गयी हैं, क्योंकि इनमें परस्पर अनेकविध साम्य लक्षित होता है[1]। **भट्टिकाव्य** की व्याख्या **जयमंगलाकार** जयमंगल, **वैजयन्तीकार** कन्दर्प शर्मा, **भट्टिचन्द्रिका** का रचयिता विद्याविनोद, **मुग्धबोधिनीकार** भरतमल्लिक तथा मल्लिनाथ—सभी ने **भट्टिकाव्य** के कर्ता को भर्तृहरि के नाम से अभिहित किया है। इसी प्रकार पुरुषोत्तमदेव-रचित **भाषावृत्ति** के व्याख्याकार सृष्टिधराचार्य ने अष्टाध्यायी की व्याख्या **भागवृत्ति** को भी भर्तृहरिकृत ही माना है। **पञ्चपादी उणादिवृत्तिकार** श्वेतवनवासी ने भी भट्टिकाव्य को भर्तृहरि-कृत माना है[2]।

भट्टिकाव्य की रचना वलभी के राजा श्रीधरसेन के काल में हुई है[3], किन्तु यह श्रीधरसेन कौन हैं, यह निश्चय करना कठिन है, क्योंकि उसी राजवंश में इस नाम के चार राजा हो गये हैं, जिनका राज्यकाल सन् ४९३ से ६४८ तक

---

१. मीमांसक, व्या० शा० भाग १, पृ० ३७० (तृ० सं०)।

२. वही, भाग २, पृ० ४४३-४५।

३. भट्टि० २२, ३५।

माना जाता है। यह भट्टिस्वामी **वाक्यपदीयकार** भर्तृहरि नहीं हो सकता, जिनका काल तृतीय शताब्दी से पांचवीं शती तक आंका गया है । इसकी चर्चा आगे करेंगे ।

भागवृत्ति—अष्टाध्यायी की एक प्राचीन वृत्ति का नाम भागवृत्ति है। इसके रचयिता का नाम सृष्टिधराचार्य ने भर्तृहरि लिखा है, किन्तु **कातन्त्र परिशिष्ट** के कर्ता श्रीपतिदत्त ने इनका नाम विमलमति रखा है[1], किन्तु साथ ही साथ यह भी ज्ञातव्य है कि भागवृत्ति की रचना **काशिका** के बाद हुई है, क्योंकि इसमें **काशिका** का खण्डन किया गया है[2] । जहां काशिकाकार ने महाभाष्य को एकान्त प्रमाण न मानकर प्राचीन वृत्तिकारों को मान्यता प्रदान की है, वहां **भागवृत्तिकार** महाभाष्य को एकान्त प्रमाण मानता है ।

भागवृत्तिकार तथा भट्टिकाव्यकार में भी अन्तर है, क्योंकि काशिका के समान ही भट्टिकाव्य में भी म० भाष्य की अनेक स्थलों पर अवहेलना की गयी है तथा पुरुषोत्तमदेव ने **भाषावृत्ति** में भागवृत्ति का खण्डन करते हुए भट्टिकाव्य का प्रमाण प्रस्तुत किया है[3] ।

भागवृत्तिकार तथा भाष्यदीपिकाकार को दुर्घटवृत्तिकार शरणदेव[४] तथा न्यास की व्याख्या **तन्त्रप्रदीप** के कर्ता मैत्रेयरक्षित[५] ने स्पष्ट ही पृथक्-पृथक् व्यक्ति माना है। इसी प्रकार सीरदेव[६] तथा पुरुषोत्तमदेव[७] ने भी इनके परस्पर वैमत्य को दर्शाया है ।

शतकत्रय—यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध तीन शतकों का कर्ता कौन-सा भर्तृहरि है, तो भी सोमानन्द स्वरचित **शिवदृष्टि** में तथा उसकी व्याख्या में उत्पलाचार्य निम्न-लिखित श्लोक को भर्तृहरि-विरचित **शब्दधातुसमीक्षा** से उद्धृत करके उसकी कटु आलोचना करते हैं कि उसने वैयाकरण होते हुए अध्यात्म-ज्ञान के क्षेत्र में व्यर्थ टांग अड़ाने का असफल प्रयास किया है ।

---

१. सन्धिसूत्र १४२ ।
२. भागवृत्ति संकलन ५, १, ३२ ; ५, २, १३ ; ६, ३, ८४ ।
३. भाषावृत्ति २, ४, ७४ ।
४. दुर्घटवृत्ति, पृ० १६ ; ११७ ।
५. तन्त्रप्रदीप ८, ३, ११ ।
६. परिभाषावृत्ति, पृ० १२ ।
७. ज्ञापक-समुच्चय, पृ० ९९ ।

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ।।

यही पद्य नीतिशतक के आरम्भ में भी पाया जाता है। अतः यद्यपि कोसाम्बी[1] ने इसे सन्देहास्पद मान कर द्वितीय वर्ग (२५६) में रखा है, तो भी सोमानन्द तथा उत्पलाचार्य के साक्ष्य पर इसे भर्तृहरि की रचना मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इससे प्रकट होता है कि शब्दधातुसमीक्षाकार भर्तृहरि ही नीतिशतक का भी कर्ता है और वाक्यपदीय का भी[2]।

वर्धमानसूरि ने स्वरचित **गणरत्नमहोदधि**[3] में एक श्लोक को उद्धृत करके नीतिशतक के ही एक श्लोक **यां चिन्तयामि** ··· की ओर संकेत किया प्रतीत होता है[4]। इससे भी उपर्युक्त विचार की पुष्टि होती है।

शब्दधातुसमीक्षा—उपर्युक्त साक्ष्य के अनुसार सोमानन्द तथा उसके शिष्य एवं शिवदृष्टि के व्याख्याकार उत्पलाचार्य उसी भर्तृहरि की रचना **शब्दधातुसमीक्षा** से परिचित थे, जिसने वाक्यपदीय की रचना की थी, क्योंकि उन्होंने स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि भर्तृहरि ने न केवल वा० प० में ही, अपितु शब्दधातुसमीक्षा में भी अध्यात्मज्ञान के क्षेत्र में घुसपैठ करके **पश्यन्ती** का प्रतिपादन करने का प्रयास किया है[5]। यद्यपि शब्दधातुसमीक्षा इस समय उपलभ्य नहीं है, तो भी सोमानन्द के कथन से प्रतीत होता है कि इसका प्रतिपाद्य **शब्दाद्वैत** था।

महाभाष्यटीका (दीपिका)—भर्तृहरि की इस व्याख्या के उद्धरण व्याकरण के अनेक ग्रन्थों में पाये जाते हैं, किन्तु सम्प्रति इस रचना का एक त्रुटित अंशमात्र केवल एक हस्तलेख के रूप में उपलभ्य है, जिसे खोज निकालने का श्रेय डा० कीलहार्न को है।

इत्सिंग ने अपने भारतयात्रा-विवरण में **दीपिका** का परिमाण २५००० श्लोक लिखा है, किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि यह टीका सम्पूर्ण भाष्य

---

[1] डी०डी० कोसाम्बी, *Epigrams Attributed to Bhartṛhari*, 1948.

[2] के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर, भर्तृहरि, पृ० १३।

[3] पृ० १२०—**हरिराकुमारमखिलाभिधानवित्** ···।

[4] मीमांसक, व्या० शा० १, पृ० ३७३ ; यह श्लोक निर्णयसागर से प्रकाशित नीति० में नहीं है।

[5] भर्तृहरि० पृ० ९-१०।

पर थी या कुछ भाग पर। कैयट ने **प्रदीप** में, वर्धमानसूरि ने **गणरत्नमहोदधि** में, शरणदेव ने **दुर्घटवृत्ति** में, अन्नंभट्ट ने **उद्योतन** में, नागोजिभट्ट ने **उद्योत** में तथा वैद्यनाथ ने **छाया** में इस **दीपिका** से जो उद्धरण इस भाग से दिये हैं, वे सभी वर्तमान रचना में पाये जाते हैं। इससे इसकी वास्तविकता में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

वर्धमानसूरि[1] एवं हेलाराज[2] के उल्लेखों से प्रकट होता है कि यह टीका महाभाष्य की त्रिपादी पर थी। वर्तमान अंश—महाभाष्य पा० १, १, ५३ तक—की व्याख्या का परिमाण ५७०० श्लोकात्मक है। इसी अनुपात से २५००० श्लोकात्मक रचना तीन से अधिक नहीं हो सकती। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि सप्तमशती में भी इस व्याख्या का कुछ ही अंश उपलभ्य था। किन्तु, क्योंकि पुरुषोत्तमदेव ने **भाषावृत्ति** में पा० १, २, ४५ १, ३, २१, तथा ३, १, १६ पर, लीलाशुकमुनि ने **दैवम्** की व्याख्या **पुरुषकार** में पा० ३, २, १८८ पर, शरणदेव ने **दुर्घटवृत्ति** में पा० ७, ३, ३४ पर, मैत्रेयरक्षित ने **तन्त्रप्रदीप** में पा० ८, ३, २१ पर, सीरदेव ने **परिभाषावृत्ति** में तथा पुरुषोत्तमदेव ने **ज्ञापकसमुच्चय** में सम्भवत: पा० ८, ४, ११ पर म० भा० की इस टीका को उद्धृत किया है[3]। अत: प्रतीत होता है कि भर्तृहरि ने सम्पूर्ण म० भा० पर टीका लिखी थी[4]। क्योंकि भर्तृहरि द्वारा अष्टाध्यायी पर लिखी गयी किसी 'वृत्ति' का उल्लेख किसी भी प्राचीन ग्रन्थकार ने नहीं किया।

म० भाष्यदीपिका वस्तुत: म० भाष्य की एक विस्तृत, प्रौढ तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याख्या है, जो लेखक की प्रगाढ़ विद्वत्ता तथा व्याकरण एवं वैदिक-साहित्य के गम्भीर अध्ययन पर प्रकाश डालती है। इसकी प्रभावक विशेषता महाभाष्य के सन्दर्भों की विविध व्याख्याओं का संकलन है, जिन्हें **अत्रानेकं दर्शनम्, अन्ये मन्यन्ते, केचिदाहुः, अपरे वर्णयन्ति** प्रभृति वाक्यों से समाविष्ट किया गया है[5]। इसमें यत्र-तत्र महाभाष्य के पाठान्तरों का भी उल्लेख किया गया है। यह टीका महाभाष्य की शब्दश: व्याख्या नहीं, अपितु कुछ चुने हुए स्थलों पर लेखक के विचारों तथा कुछ विस्तृत टिप्पणियों का संग्रह है। पतञ्जलि के समान ही भर्तृहरि के टिप्पण भी सामान्य

---

[1] १. **भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णयोः कर्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च।**

[2] २. **त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी त्रिपदी कृता** ··· (प्रकीर्णकाण्ड की व्याख्या के अन्त में)।

[3] ३. मीमांसक, वही १, पृ० ३७६-३७८।

[4] ४. मीमांसक. वही, पृ० ३७८, भर्तृहरि, पृ० ५।

[5] ५. V. Swaminathan, *Bhartṛhari's Authorship of the Com. on M. Bhā.*, *A. L. B. XXVII*, Pt. 1-4, p. 59 f.

भाषाविज्ञान को महत्त्वपूर्ण देन है, जो आज भी अत्यन्त मूल्यवान् तथा सटीक माने जाते हैं[1]।

वाक्यपदीय—भर्तृहरि की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान् कृति **वाक्यपदीय** है, जिसकी रचना विद्वान् लेखक ने महाभाष्य के गहन अध्ययन तथा अपने गुरु वसुरात द्वारा उपदिष्ट व्याकरणागम के आधार पर की है। यह ग्रन्थरत्न तीन भागों में विभक्त है— **आगमकाण्ड**, **वाक्यकाण्ड** तथा **प्रकीर्ण काण्ड**। किन्तु इन तीनों काण्डों को प्राय: **वाक्यपदीय** नाम से अभिहित करने की परिपाटी पड़ गयी है। इत्सिग को इस वात्र्यपदीय का ज्ञान था। उसने यह भी सूचित किया है कि भर्तृहरि ने स्वयं ही इसकी व्याख्या भी की थी।

इत्सिग ने इसे **वाक्य-उपदेश** (Vākya discourse) की संज्ञा दी है तथा **प्रकीर्णकाण्ड** को 'पे-इन' का नाम दिया है, जो प्रकीर्ण के प्राकृत रूप 'पइण्ण' का ही प्रतिरूप है। उसने इसे स्वतन्त्र रचना के रूप में वैसे ही ग्रहण किया है, जैसे कुछ-एक भारतीय लेखकों ने माना है। वर्धमान ने भर्तृहरि को **वाक्यपदीय** तथा **प्रकीर्ण** का कर्ता कहा है[2]। हेलाराज ने प्रथम दो काण्डों पर भर्तृहरि की व्याख्या (अनुपलब्ध) को **वाक्यपदीय** की व्याख्या कहा है, किन्तु वह इस तथ्य से परिचित था कि **प्रकीर्णकाण्ड** प्रथम दो काण्डों का ही भाग है।

इत्सिग के अनुसार वाक्यपदीय का परिमाण ७०० श्लोकात्मक है[3], किन्तु यह परिमाण सन्देहास्पद है। उसने प्रकीर्णकाण्ड का परिमाण ३००० श्लोक कहा है, जबकि हमारे पास वर्तमान रचना का परिमाण केवल १३२० श्लोक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पुण्यराज के साक्ष्यानुसार उसके समय में भी इस ग्रन्थ का कुछ

---

१. यद्यपि नागेश ने 'प्रदीपोद्द्योत' और भट्टोजि ने श० कौ० में इस 'दीपिका' के प्रकाश से पूर्ण लाभ उठाया है, किन्तु इसका नामोल्लेख तक नहीं किया और इस प्रकार सामान्य कृतज्ञता-प्रकाशनरूपी शिष्टाचार का भी निर्वाह नहीं किया। इसी प्रकार न्यास और पदमञ्जरी के भी अनेक मत और व्याख्यान-दीपिका पर आधृत हैं। इसका प्रकाशन के० वि० अभ्यङ्कर तथा वि० पि० लिमये ने भण्डारकर प्राच्य संस्थान, पुणे, से किया है। एक अन्य संस्करण वि० स्वामिनाथन ने हि० वि० वि०, काशी, से प्रकाशित किया है।

२. गणरत्न०, जे० एग्लिग सं०, पृ० २—**भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णकयो: कर्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च।** प्रकीर्ण० ३, १, ५४ पर हेलाराज।

३. *J. Takakusu, A Record of the Buddhisht Religion as Practised in India and Malay Archapelego*, Oxford, 1896, p. 180.

भाग लुप्त हो चुका था। **वाक्यपदीय** का भी कुछ भाग लुप्त हो चुका है। स्वयं भर्तृहरि ने वाक्य० २, ७६ की स्वोपज्ञ व्याख्या में **लक्षणसमुद्देश** की चर्चा की है, जो इस समय उपलब्ध नहीं है। यह पुण्यराज के समय से पूर्व ही नष्ट हो चुका था[1]। पुण्यराज ने एक **बाधासमुद्देश** का उल्लेख किया है[2], जो सम्प्रति अनुपलभ्य है। इसी प्रकार भट्टोजि ने श० कौ० (पृ० ५२७) में प्रकीर्णकाण्ड के नाम से कारिकाएं उद्धृत की हैं, जो सम्प्रति अनुपलभ्य हैं।

वा० प० में कुल १९६६ कारिकाएं हैं। जैसा कि इसके नाम से विदित होता है, इसमें वाक्य तथा पद के स्वरूप तथा महत्त्व पर इतना विस्तारपूर्वक विचार किया गया है कि अन्ततोगत्वा अनेक विषयों एवं सन्दर्भों को इसके अन्तर्गत लपेट लिया गया है, स्वयं वा० प० के अनुसार इसमें आठ विषयों का प्रतिपादन किया गया है, यथा—दो प्रकार के अर्थ—विश्लेषण से परिज्ञेय तथा स्थितलक्षण, प्रतिपाद्य— प्रतिपादकरूप दो प्रकार के शब्द, दो प्रकार के सम्बन्ध—कारणता तथा अर्थ-प्रतिपादकता, दो प्रकार के फल—धर्म तथा अर्थज्ञान (प्रत्यय)[3]। इन्हीं आठ के अन्तर्गत समस्त व्याकरण-शास्त्र का सार निहित है[4]।

वा० प० के तीन काण्ड हैं—१. ब्रह्मकाण्ड (आगमकाण्ड) २. वाक्यकाण्ड ३. पदकाण्ड या प्रकीर्णकाण्ड। आगमकाण्ड में आगम या आप्तवचन के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। आगम को तर्क से ऊपर माना गया है, विशेषतः शब्दस्वरूप की प्रतिपत्ति में तो तर्क का स्थान गौण है ही, क्योंकि यह शब्दस्वरूप का ज्ञान पाणिनि प्रभृति की अक्षुण्ण परम्परा से प्राप्त हो सकता है, क्योंकि शिष्ट प्रयोग ही शब्द के साधुत्व-असाधुत्व का नियामक है।

इस काण्ड में शब्दब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है और इसमें शब्दब्रह्मज्ञान के प्रयोजनों का निर्णय किया गया है, जो धर्म तथा प्रत्यय कहे गये हैं। धर्म से स्वर्ग[5] या भर्तृहरि के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति होती है अथवा अभ्युदय तथा निःश्रेयस्, दोनों मिलते हैं। निःश्रेयस की चर्चा इस प्रसंग में अनेकबार को

---

[1] वाक्य० २, ७७-८३ की व्याख्या, लाहौर सं०, पृ० ४६।

[2] वही, पृ० ५०; प्रो० साधुराम का यह विचार कि लक्षण० तथा बाधा० किसी मीमांसा ग्रन्थ के विषय हैं (जे० जी० जे० आर० आइ० १३, पृ० ७१ से)—ठीक नहीं है। द्र० अय्यर, भर्तृहरि, पृ० ८।

[3] वा० प० १, पृ० ६४, १, १-६।

[4] वही, पृ० २, १-२ पर पद्धति। हेलाराज, वा० प० ३, भाग १, पृ० १,११।

[5] पतञ्जलि, पा० ६, १, ८४।

गयी है। व्याकरण में पारंगत व्यक्ति ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है[1]। ऋग्० ४,५८,३ की व्याख्या करते समय पतञ्जलि ने पहले ही शब्दब्रह्म के साथ साम्य प्राप्त करने की बात कह दी थी। भर्तृहरि ने इस **साम्य** पद की व्याख्या **सायुज्य** पद से की और इस प्रकार स्वर्ग से एक पद आगे बढ़ कर **मोक्ष** तक जा पहुँचे।

इतना ही नहीं कि शब्दतत्त्व को आत्मसात् करके व्यक्ति शब्दब्रह्म को पा लेता है। शब्दब्रह्म समस्त चराचर जगत् का मूल कारण भी कह दिया गया है। आगम का अनुसरण करके ही व्यक्ति दिव्यज्योति के दर्शन कर सकता है, तर्क के सहारे नहीं। इसके बाद 'शब्द' के विषय में चर्चा करते हुए भर्तृहरि ने **स्फोट-सिद्धान्त** का प्रतिपादन किया है। **स्फोट** शब्द का वह सूक्ष्मरूप है, जो **नाद-ध्वनि** से भिन्न है, किन्तु समस्त ध्वनि **स्फोट** पर आश्रित है।

इस **स्फोटतत्त्व** को व्याख्या करते हुए भर्तृहरि ने प्राचीन आचार्यों की एतद्विषयक विविध विचारधाराओं को प्रस्तुत करके अपने विचार व्यक्त किये हैं। इस प्रसंग में **अपरे**, **एकेषाम्**, **अन्येषाम्** सदृश सामान्य विचारों के अतिरिक्त **पुराणगाः**, **एकत्ववादिनः**, **नानात्ववादिनः**, **अभिव्यक्तिवादिनः** प्रभृति अनेकों विशिष्ट विचारधाराओं के अनुयायियों के सिद्धान्तों से भी अवगत कराया गया है।

इसी प्रसंग में ध्वनि, नाद, प्राकृतध्वनि, वैकृतध्वनि, वर्ण, पद, वाक्य, वृत्तिभेद, ग्राहक, ग्राह्य, व्यञ्जक, व्यङ्ग्य, प्रकाशक, प्रकाश्य, प्रचय, अपचय, कम्प प्रभृति शब्दों के अर्थभेदों पर भी प्रकाश डाला गया है। इन्होंने ध्वनि के द्वारा स्फोट की अभिव्यक्ति के प्रकार पर प्रकाश डालते हुए इस विषय में बुद्धि तथा प्राण के योगदान को भी स्पष्ट किया है।

किन्तु भर्तृहरि के एतद्विषयक विचारों एवं मान्यताओं के विषय में आधुनिक व्याख्याताओं तथा आलोचकों में परस्पर विप्रतिपत्ति पायी जाती है। डा० अय्यर के अनुसार पश्चात्-कालिक कैयट प्रभृति वैयाकरणों के समान ही भर्तृहरि का 'स्फोट' भी अर्थप्रतिबद्ध है तथा वर्णातिरिक्त एक निरवयव सत्ता है[2]। किन्तु डा० एस० डी० जोशी की मान्यतानुसार न केवल पतञ्जलि अपितु भर्तृहरि भी उच्चार्यमाण ध्वनियों से अभिव्यक्त स्फोटसमूह को अर्थबोधक मानते हैं। एक-एक ध्वनि से अभिव्यक्त स्फोट आवश्यक रूप से अर्थपूर्ण इकाई नहीं है।

---

[1] तद् व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते (वा० प० १, २२)।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते (वा० प० १, १२३-१३१)।

[2] भर्तृहरि, पृ० १६०।

डा० जोशी के निष्कर्षानुसार पतञ्जलि तथा भर्तृहरि का स्फोट ध्वनिव्यङ्ग्य वर्णमात्र है, अर्थपूर्ण सत्ता नहीं[१] ।

दूसरी ओर डॉ० कुञ्जुन्नीराज ने पतञ्जलि और भर्तृहरि की स्फोटविषयक मान्यताओं में भेद पाया है। इनके अनुसार पतञ्जलि का स्फोट प्राकृतध्वनि से अभिन्न है और वैकृतध्वनि से अभिव्यक्त होता है। नित्य होते हुए भी वे इसे कालकलित मानते हैं। इनकी दृष्टि में यह भाषाविज्ञान की Phoneme जैसी सत्ता है और इस प्रकार पतञ्जलि का स्फोट एक निरवयव और अर्थपूर्ण इकाई नहीं है,[२] जैसी कि उत्तरवर्ती स्फोटवादियों की मान्यता है[३] ।

इसके विरुद्ध भर्तृहरि का स्फोट एक अर्थपूर्ण इकाई है तथा वैकृतध्वनियों से अभिव्यक्त हुई प्राकृतध्वनियों से व्यक्त होता है[४]। इस प्रकार इनके अनुसार भर्तृहरि पतञ्जलि से आगे बढ़ गये हैं।

इन्होंने ही कालातीत, निरवयव, अर्थपूर्ण इकाई की कल्पना करके इसे स्फोट का नाम दिया तथा उसका सर्वप्रथम एक पूर्ण एवं स्पष्ट विवरण प्रस्तुत किया।

किन्तु डा० राज के विवरण से प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में भर्तृहरि का स्फोट भी वास्तव में प्राकृत ध्वनियों का संघातमात्र ही है[५]। इस मान्यता में एक विस्पष्ट दोष यह है कि वे प्राकृतध्वनियों को स्फोट का व्यञ्जक भी कहते हैं और साथ ही उस स्फोट को प्राकृतध्वनियों का संघात भी मानते हैं। स्फोट को स्वरूपत: प्राकृतध्वनियों का संघात मानने पर ये प्राकृतध्वनियां स्फोट के घटक अवयव ही हो सकती हैं, उसके व्यञ्जक हेतु नहीं। भर्तृहरि की प्राकृतध्वनि उनके स्फोट की व्यञ्जक है, उसका घटक अवयव नहीं[६]। पतञ्जलि का

---

१. स्फोटनिर्णय (*Sphoṭa Nirṇaya*), पृ० ३७ ; ४० ; ३६। डॉ० जोशी के अनुसार पतञ्जलि के किसी भी कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि वे अर्थ के वाचक शब्द को स्फोट मानते हैं (वही, पृ० ९०)। पतञ्जलि का अर्थवान् शब्द निरवयव स्फोट न होकर 'संघात' रूप है (वही पृ० ४)।

२. *Indian Theories of Meaning*, p. 100-103.

३. *Op. cit.*, p. 108-109.

४. *Op. cit.*, p. 120.

५. डा० वीरेन्द्र शास्त्री, वाक्यपदीय, सम्बन्धसमुद्देश, एक विवेचनात्मक अध्ययन पृ० ४७ वि० वि० बि० आइ० एस० तथा आई० एस०, पञ्जाब विश्वविद्यालय, होशियारपुर, १९७७।

६. वही, पृ० ४८।

स्फोट ध्वनिव्यतिरिक्त एक निरवयव तथा अर्थ-पूर्ण इकाई है। वाक्यपदीय से भर्तृहरि का भी यही मन्तव्य निश्चित होता है और यही बाद के कैयट, भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट, नागेश प्रभृति वैयाकरणों को भी अभिप्रेत है[1]।

नैयायिक तथा मीमांसक वर्ण को ही शब्द की मूल इकाई मानते हैं इन्हीं से पद और पदों से वाक्य बनते हैं, जिन्हें वर्णों का ही समूह कहा जा सकता है, जिसमें तात्त्विक-वस्तु वर्ण ही है। वे ही पद और वाक्यरूप में संहत होकर अर्थ का अभिधान करते हैं। इसके विपरीत स्फोटवादी वैयाकरण इन वर्णों को 'असत्य' मानते हैं, किन्तु असत्य होते हुए भी वे सत्य स्फोटरूप शब्द की अभिव्यक्ति के लिए अपरिहार्य हैं[2]। वैयाकरणों के लिए वाक्य ही सत्य है, जो तत्त्वतः सर्वथा निर्भाग और निष्क्रम होता हुआ भी ध्वनियों से अभिव्यक्त होने के कारण उनसे उपरक्त हुआ उपलब्ध होता है। ध्वनियों का यह उपराग उस निर्भाग तथा निष्क्रम शब्दतत्त्व को सभाग और सक्रम प्रदर्शित करता है। यह शब्दतत्त्व का अपना धर्म नहीं। यह उसकी व्यञ्जक ध्वनियों का धर्म है, जो उसमें आरोपित हो जाता है[3]। भर्तृहरि के अनुसार यह ध्वनिधर्म स्फोट में ऐसे ही प्रतीत होता है, जैसे लहरियों के कम्पन से जल में चन्द्र का प्रतिबिम्ब प्रतीत होता हैं[4]। वस्तुतः वाचक शब्द सर्वथा निरवयव और निष्क्रम है, वह वाक्यात्मक है, वही सत्य है। वाक्य में पद और पदों में वर्ण कल्पित हैं, किन्तु वाक्यात्मक स्फोट की उपलब्धि के लिए अनिवार्य हैं।

भर्तृहरि के अनुसार उच्चार्यमाण शब्द की प्रत्येक ध्वनि सम्पूर्ण स्फोट को व्यक्त करती है एवं उत्तरोतर ध्वनियों के उच्चारण से पुष्ट होता हुआ वह स्फोट अन्त्य-ध्वनि के साथ-साथ ही अभिव्यक्त होकर इन्द्रिय तथा मन के द्वारा निर्गृहीत होकर प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रकार अन्तिम ध्वनि से हुई स्फोट की अभिव्यक्ति, जो कि स्वयं भी सम्पूर्ण स्फोट को अभिव्यञ्जक होती है, वह सम्पूर्ण स्फोट की परिच्छित्ति के ग्रहण से स्पष्ट हो जाती है। पूर्व-पूर्व ध्वनियों से अभिव्यक्त अस्पष्ट स्फोट से उत्पन्न संस्कार, अन्तिम ध्वनि से स्फोट के अभिव्यक्ति-काल तक उद्बुद्ध होकर, बुद्धि में इतनी योग्यता का आधान कर देते हैं कि अन्तिम अभिव्यक्ति में स्फोट पूर्णरूपेण स्पष्ट होकर ग्रहण का विषय बन जाता है। इसी प्रसंग में भर्तृहरि ने व्यञ्जक ध्वनियों का एक विशेषण

---

१. वीरेन्द्र०, वही, पृ० ४८।

२. वा० प० १, ७३; वीरेन्द्र०, वही, पृ० ७८।

३. वा० प० १, ४८।

४. वा० प० १, ४९।

'प्रयत्न-विशेषसाध्या' दिया है, अर्थात् ये ध्वनियां प्रयत्न विशेष से उत्पन्न होने वाली हैं।

उनकी मान्यता है कि वर्ण, पद और वाक्यरूप स्फोटों की व्यञ्जक-ध्वनियां परस्पर अत्यन्त भिन्न होती हैं[1], क्योंकि उनके प्रयत्न भिन्न-भिन्न होते हैं। 'गो' शब्द विषयक प्रयत्न से उत्पन्न 'ग्' ध्वनि गवयशब्द-विषयक प्रयत्न से उत्पन्न 'ग्' ध्वनि से भिन्न होती है। प्रयत्नभेद से ध्वनिभेद का होना स्वाभाविक ही है। अतः इससे अभिव्यक्त स्फोटों में भी परस्पर भिन्नता होगी ही। फलतः 'रसः' शब्द के उच्चारण के लिए अपनाया गया प्रयत्न 'सरः' शब्द के उच्चारणार्थ अपनाए गये प्रयत्न से भिन्न होने के कारण 'रसः' का 'र' 'सरः' के 'र' से भिन्न है। एक ओर जहां स्फोट तथा ध्वनियों में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध होता है, वहां दूसरी ओर अर्थ तथा स्फोट में वाच्यवाचक सम्बन्ध होता है। ध्वनियां केवल स्फोट को अभिव्यक्त करती हैं, जो वक्ता तथा श्रोता दोनों में पहले से विद्यमान होता है।

स्फोट-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए भर्तृहरि ने नैयायिकों तथा मीमांसकों एवं अन्य दार्शनिकों के विचारों का युक्तियुक्त खण्डन करने का प्रयास किया है तथा स्फोटवाद को दार्शनिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रथम गम्भीर प्रयत्न किया है, जिसमें इन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

इस प्रकार भर्तृहरि ने मूल रचना तथा स्वोपज्ञवृत्ति में वा० प० को व्याकरणदर्शन के रूप में कल्पित एवं प्रतिष्ठापित किया है, तथा इसके व्याख्याकारों हेलाराज, पुण्यराज तथा वृषभदेव ने इस ग्रन्थरत्न का इसी रूप में समादर किया है एवं उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने भी इसे इसी दृष्टि से देखा है। किन्तु कुछेक आधुनिक आलोचकों ने इसे सामान्य भाषाविज्ञान के सिद्धातों के प्रतिपादक के रूप में ग्रहण किया है, एवं इन व्याख्याओं के अवमूल्यन का प्रयास किया है और इस प्रयास में वे भर्तृहरि के विचारों के साथ बलात्कार करने के अपराधी सिद्ध हुए हैं। इनमें डॉ० सत्यकाम वर्मा[2] तथा डॉ० एम० ब्यार्दो[3] प्रमुख हैं। डॉ० गौरीनाथ शास्त्री[4] ने भी व्याख्याओं के कुछ-एक विचारों का प्रतिक्षेप किया है

---

[1] वा० प० १, ८८।

[2] भाषातत्त्व और वाक्यपदीय।

[3] *Theorie de la Connaissance et Philosophie de la Parole dans le brahamisme Classique ; Vākya-Padīya, Brahamakāṇḍa avec la Vṛtti de Harivṛṣabha, Traduction, Introduction, Notes.*

[4] Dr. Gaurīnātha Śāstrī, *The Philosophy of Word and Meaning.*

तथा व्याख्याकारों के विचारों को अपेक्षाकृत पश्चात्कालिक तथा कारिकाओं की विचारधारा से भिन्न घोषित किया है। तो भी इन सभी ने अपनी व्याख्याओं में इन व्याख्याओं से भरपूर सहायता ली है तथा अपनी कृतियों में पुण्यराज, हेलाराज तथा हरिवृषभ के वचनों को बहुशः उद्धृत किया है। भर्तृहरि को हृदयङ्गम करने के लिए इन व्याख्याओं का गहन अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। इस तथ्य का उद्घाटन स्वयं डा० के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर ने किया है[1]।

व्याख्याएं—(१) **वृत्ति**—यद्यपि हस्तलेखों में हरिवृषभ के नाम से उल्लिखित है, वस्तुतः स्वयं भर्तृहरि-विरचित है। यह तथ्य एक हस्तलेख की पुष्पिका में लिखे लेखक के नाम 'भर्तृहरिवृषभ' से इंगित होता है, क्योंकि केवल कारिकाओं के हस्तलेखों में यही नाम लिखा मिलता है। इसके अतिरिक्त मण्डनमिश्र-विरचित स्फोटसिद्धि के अनेकानेक सङ्केतों से भी यही प्रमाणित होता है[2]।

सोमानन्द (नवीं शती) ने 'शिवदृष्टि' नामक रचना में जहां वैयाकरणों के शब्दाद्वैत-सिद्धान्त का खण्डन करते हुए वा० प० के साथ-साथ वृत्ति को भी भर्तृहरिकृत रचना मान कर उद्धृत किया है। यही तथ्य सोमानन्द के शिष्य तथा शिवदृष्टि के व्याख्याकार उत्पलाचार्य के लेख से भी प्रमाणित होता है[3]। अभिनवगुप्ताचार्य ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी' में 'तत्रभवान् भर्तृहरिः' के नाम से वृत्ति को अनेक बार उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त सोमानन्द तथा उत्पलाचार्य की शिष्य-परम्परा के अन्तर्गत आते हैं[4]।

अभिनवगुप्त के व्याकरण के गुरु तथा वा० प० के प्रथम दो काण्डों के व्याख्याकार हेलाराज ने **वृत्ति** को अनेक बार उद्धृत किया है, जो वा० प० के प्रथम दो काण्डों पर ही उपलभ्य है।

पुण्यराज—(११वीं-१२वीं शती) ने भी वा० प० के प्रथम दो काण्डों पर व्याख्या लिखी थी, किन्तु सम्प्रति द्वितीय काण्ड पर ही यह उपलभ्य है। वा० प० प्रथमकाण्ड की वृषभदेवकृत व्याख्या को बनारस संस्कृत ग्रन्थमाला (१८८७) में भूल से पुण्यराज की व्याख्या के नाम से प्रकाशित किया गया था[5]। इन्होंने तो भर्तृहरि

---

[1] भर्तृहरि, पृ० ५१-५५।

[2] भर्तृहरि, पृ० १९-२०।

[3] वही, पृ० २१-२२।

[4] वही, पृ० २२-२३।

[5] वही, पृ० २३-२४।

को 'टीकाकार' तथा 'वृत्ति' को उनकी 'टीका' के नाम से अभिहित किया है[१]। वा० प० तथा इसकी वृत्ति के व्याख्याता वृषभदेव ने तो इन दोनों रचनाओं को एक ही कृति मानकर उन दोनों पर पद्धति की रचना की है[२]।

इसके अतिरिक्त भर्तृहरि-विरचित **महाभाष्यदीपिका** तथा इस 'वृत्ति' में अनेक समानान्तर वाक्यांश इन दोनों के एक कर्ता की ओर स्पष्ट इंगित करते हैं[३]। यह सब होते हुए भी कुछ ऐसे साक्ष्य भी प्राप्त होते हैं, जिनसे यह संकेत प्राप्त होता है कि कारिकाओं तथा वृत्ति के कर्ता भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। कारिकाओं की व्याख्या में वृत्तिकार अन्य व्याख्याओं की ओर **अपर** आह, **केचित्** प्रभृति शब्दों से संकेत करते हैं[४]। कहीं-कहीं **महाभाष्यदीपिका** तथा **वृत्ति** की लेखनशैली में इतना अन्तर है कि दोनों एक ही व्यक्ति की कृतियां प्रतीत नहीं होतीं[५]। डा० एम० ब्यार्दो ने कारिकाओं तथा वृत्ति में वैचारिक भेदों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि वृत्तिकार हरिवृषभ कारिकाकार भर्तृहरि से पश्चाद्भावी है तथा इसने अनेक स्थलों पर उसे समझने में भूल की है[६]। किन्तु डा० के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर, डा० ब्यार्दो द्वारा उठाये गये प्रश्नों तथा 'प्रतिक्षेपों' का समाधान करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जब तक अधिक पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये जाते, हमें परम्परा का परित्याग नहीं करना चाहिये और कारिकाकार एवं वृत्तिकार को एक ही व्यक्ति मानना चाहिये और वह व्यक्ति भर्तृहरि ही है[७]। पुण्यराज ने वा० प० के द्वितीय काण्ड की व्याख्या में सूचित किया है कि उनका नामान्तर **राजानक शूरवर्मा** भी था। इन्होंने अपने गुरु का नाम 'शशाङ्कशिष्य' बताया है, जिनके विषय में पं० चारुदेव शास्त्री ने अनुमान लगाया है कि यह प्रसिद्ध काश्मीरी विद्वान् शशाङ्कधर का शिष्य सहदेव हो सकता है[८], जिसने वामनकृत काव्यालङ्कार पर टीका लिखी थी।

---

१. वही, पृ० २४-२५।

२. वही, पृ० २६।

३. वही, पृ० २७-२९।

४. वही, पृ० २९-३०।

५. वही, पृ० ३२।

६. *Vakya Padiya, Brahmakaṇḍa ;* quoted by K. A. S. Iyer, *Bhartṛhari,* p. 33-34.

७. वही, पृ० ३४-३६।

८. वा० प०, प्रथमकाण्ड, उपोद्घात, पृ० १३।

(२) **हेलाराज**-विरचित व्याख्या 'प्रकाश' केवल तृतीय काण्ड पर उपलब्ध होती है, यद्यपि इस तथ्य की ओर उसने स्वयं संकेत किया है कि उसने प्रथम दो काण्डों पर भी वृत्ति पर आधृत परम्परा के अनुसार एक 'प्रबन्ध' लिखा था तथा अनेक स्थलों पर 'ब्रह्मकाण्ड' पर विरचित 'शब्दप्रभा' में व्यक्त किये गये विचारों की ओर निर्देश किए हैं,[1] किन्तु सम्प्रति यह व्याख्या अनुपलभ्य है ।

हेलाराज ने अपनी तीन अन्य रचनाओं का भी उल्लेख किया है, जो सम्प्रति अप्राप्य हैं—**क्रियाविवेक, अद्वयसिद्धि** तथा **वार्तिकोन्मेष** । यह अन्तिम रचना कात्यायनकृत वार्तिकों का व्याख्यान प्रतीत होती है ।

हेलाराज की व्याख्या 'प्रकाश' अत्यन्त वैदुष्यपूर्ण कृति है, जो न केवल व्याकरण के दार्शनिक भाषा-वैज्ञानिक पक्ष का ही पाण्डित्यपूर्ण उद्घाटन करती है, अपितु प्रक्रिया-पक्ष पर भी प्रकाश डालती है । इस व्याख्या में इन्होंने कारिकाओं का शब्दशः व्याख्यान नहीं किया, अपितु प्रत्येक कारिका के प्रतिपाद्य का स्वतन्त्र निरूपण किया है । ये अन्य व्याख्याकारों के विचारों की भी चर्चा करते हैं ।

इन्होंने अपनी रचना की भूमिका में ही सूचित किया है कि वह काश्मीर के राजा मुक्तापीड के मन्त्री लक्ष्मण के वंशज भूतिराज के पुत्र थे । अभिनवगुप्त ने भूतिराज तथा उसके पुत्र इन्दुराज को गुरु के रूप में नमस्कार किया है[2] । सम्भव है इन्दुराज हेलाराज का भ्राता हो, तथा अभिनवगुप्त, जिसने **प्रकीर्णक-विवरण** नामक व्याकरण ग्रन्थ की भी रचना की थी, हेलाराजकृत **प्रकीर्णक-प्रकाश** से परिचित हो । अतः हेलाराज अभिनवगुप्त से एक पीढ़ी पूर्व दशमशती के आरम्भ में विराजमान थे[3] ।

कैयटकृत प्रदीप तथा हेलाराज की वा० प० तृतीय काण्ड की व्याख्या में कुछ एक समानान्तर वाक्य पाये जाते हैं । इस बात की अधिक सम्भावना है कि कैयट ने ही हेलाराज की नकल की हो । अतः कैयट का काल ११वीं शती का प्रथम चरण माना जाता है, अतः हेलाराज का काल दसवीं शती का आरम्भ हो सकता है, तो भी इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है ।

(३) **वृषभदेव कृत पद्धति**— कारिकाओं तथा वृत्ति दोनों की व्याख्या करने वाली एकमात्र प्राचीन टीका है । यह पद्धति द्वितीय

---

[1] वही, पृ० ३६-३७ ।

[2] तन्त्रालोक १, पृ० २८ ; ३, पृ० १९४ ; १२, पृ० १९६ ।

[3] अय्यर, भर्तृहरि, पृ० ३९-४० ।

> काण्ड की कारिकाओं तथा उनकी वृत्ति पर उपलभ्य नहीं है। वृषभदेव कारिकाओं तथा वृत्ति को सम्मिलित रूप में ही '**वाक्यपदीय**' मानते हैं। इनकी सूचनानुसार वा० प० पर अनेक व्याख्याएं लिखी गयीं थीं, जिनमें एक भी हम तक नहीं पहुँच पायी। न ही इन्होंने उनके उद्धरणों द्वारा उनसे हमारा परिचय ही कराया है।

वृषभदेव ने अपनी व्याख्या के आरम्भ में सूचित किया है कि उनके पिता का नाम देवयशस् था, जो राजा विष्णुगुप्तदेव की सेवा में थे। किन्तु इस राजा के विषय में भी सम्यग् ज्ञान के अभाव में उनके काल के विषय में निश्चय नहीं किया जा सकता[1]।

भर्तृहरि का काल

भर्तृहरि के काल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। चीनी यात्री इत्सिंग के साक्ष्य के आधार पर कुछ विद्वान् काशिकाकार जयादित्य का काल ६५० ई० स्वीकार करते हैं, अन्य लोग इस विषय में वैमत्य प्रकट करते हैं। इत्सिंग ने जयादित्य-प्रणीत एक **वृत्तिसूत्र** नामक रचना का उल्लेख किया है[2], साथ ही यह लिखा है कि वृत्तिसूत्र पर पतञ्जलि ने एक टीका लिखी थी। किन्तु **समर्थः पदविधिः** (पा० २, १, २)—सूत्र के भाष्य से प्रतीत होता है कि यह सूत्रवृत्ति काशिका से सर्वथा भिन्न रचना है। अतः यह समझना संगत नहीं है कि इत्सिंग **सूत्रवृत्ति** शब्द से काशिका की ओर सङ्केत करता है।

साथ ही इत्सिंग ने एक विद्वान् का भी नामोल्लेख किया है, जिसकी मृत्यु ६४५ ई० में हुई थी। इस आधार पर भर्तृहरि का काल सप्तमशती में निर्धारित करने का प्रयास किया गया है, क्योंकि काशिकाकार ने ६५० ई० में भर्तृहरि की रचना वाक्यपदीय का नाम-निर्देशपूर्वक उल्लेख किया है (पा० ४,३,८८)। अतः वह काशिकाकार से पूर्ववर्ती ठहरते हैं[3]। किन्तु कुन्हनराज

---

१. द्र० अय्यर, भर्तृहरि, पृ० ४४-४५।

२. I Tsing : *A Record of the Buddhist Religion*, *Tr*. J. Takakusu, p. 176.

३. के० बी० पाठक, ए० बी० ओ० आर० आई० १२, पृ० २४७-४८ ; ३८९ ; एस० ए० वेल्वल्कर, सिस्टमस०, पृ० ३५, टि० २ ; के० बी० अभ्यङ्कर, डि० सं० ग्रा० पृ० २६९; विण्टरनित्स, हि० इ० लि०, भाग ३, खण्ड २, पृ० ४३६; सुभद्र झा कृत हिन्दी अनु०।

ने इस हरि शब्द से हरिस्वामी ग्रहण करना उचित मानकर इत्सिंग को भ्रान्त सिद्ध करने का प्रयास किया है, तथा भर्तृहरि को ५०० ई० रखा है[१]। युधिष्ठिर मीमांसक ने ३४३ ई० (४०० वि०)[२] तथा साधुराम ने ३०० ई०[३] में इनका काल निर्धारित किया है। डा० एच० आर० रंगस्वामी अयङ्गार का कथन है कि भर्तृहरि पञ्चमशती से पश्चात् कभी भी नहीं हो सकते[४], कारण कि मल्लवादि-विरचित 'न्यायचक्र' पर सिंहसूरिगणि-प्रणीत टीका में वसुरात को भर्तृहरि का उपाध्याय कहा गया है। सिंहसूरिगणि का स्थितिकाल ६०० ई० निश्चित है। अत: भर्तृहरि ६०० ई० से पूर्ववर्ती हैं। दिङ्नाग-विरचित **प्रमाणसमुच्चय** नामक तिब्बती भाषा में उपलभ्य ग्रन्थ के पञ्चम अध्याय में **अपोह** के सम्बन्ध में ऐसी दो कारिकाएं उद्धृत की गई हैं, जो वाक्यपदीय (२, १५८ : १५५) में विपर्यस्त क्रम से पायी जाती हैं[५]। इस विषय में भर्तृहरि को ही उत्तमर्ण माना गया है[६]। दिङ्नाग का स्थितिकाल पञ्चमशती के मध्य तक माना जा सकता है, क्योंकि वसुबन्धु का काल चतुर्थशती का अन्त निर्धारित किया गया है और दिङ्नाग ने वसुबन्धु का शिष्यत्व उनकी वृद्धावस्था में ग्रहण किया होगा[७]। इसके अतिरिक्त **त्रैकाल्यपरीक्षा** नामक ग्रन्थ में भी भर्तृहरि की कारिकाएं उद्धृत हैं। इस समस्त साक्ष्य के आधार पर डा० के० ए० एस० अय्यर महोदय ने भर्तृहरि का काल ४५०-५१० ई० के मध्य निर्धारित किया है। किन्तु प्रो० साधुराम के तर्कों के आधार पर भर्तृहरि तृतीय शती ई० मानना अधिक संगत प्रतीत होता है[८]।

वाक्यपदीय के संस्करण

(१) वाक्यपदीयम्—पुण्यराजकृत प्रकाशाख्य व्याख्या सहित, पं० गंगाधर शास्त्री द्वारा सम्पादित, चौखम्बा, वाराणसी, १८८७।

---

[१] सी० कुन्हनराज, 'इत्सिग एण्ड भर्तृहरिस् वाक्यपदीय'; कृष्णस्वामी अय्यङ्गार स्मृति ग्रन्थ, पृ० २८५-२९८, १९३६।

[२] सं० व्या० शा० इ०, भाग १, पृ० ३७० (तृ० सं०)।

[३] जे० जी० जे० आर० आई०, भाग ९, पृ० १३५, १५१।

[४] जे० बी० बी० आर० ए० एस०, भाग २६, पृ० १४७-४९।

[५] रंगस्वामी अयंगार का निर्दिष्ट लेख, पृ० १४८ टि०।

[६] वही, पृ० १४९ तथा के० ए० एस० अय्यर, भर्तृहरि, अध्याय १, पृ० २।

[७] श्चेरबात्संकी, बुद्धिस्ट लॉजिक, भाग १, पृ० ३१-३२, इस विषय में द्र० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० ५७४, टि०; (४८० ई०); एस० एन० दासगुप्त, हि० इ० फिला०, भाग १, पृ० १२० ; फ्रौवॉलनर का मत के० ए० एस० अय्यर द्वारा उद्धृत।

[८] जे० जी० जे० आर० आई०, भाग १, पृ० १३५-१५१।

(२) वाक्य०, प्रथम काण्ड—स्वोपज्ञ व्याख्या (वृत्ति) सहित, पं० चारुदेव शास्त्री—सम्पा०, लाहौर, १९३४ ।

(३) ब्रह्मकाण्ड—पं० सूर्यनारायण शुक्ल—सम्पा०, वाराणसी, १९४१ ।

(४) ब्रह्मकाण्ड—पं० सूर्यनारायण-कृत 'भावप्रदीप' संस्कृत व्याख्या तथा हिन्दी अनुवाद सहित, वाराणसी, १९६१ ।

(५) तृतीय काण्ड (समुद्देश ८-१३)—हेलाराजकृत 'प्रकीर्णप्रकाश' व्याख्या सहित, साम्ब शिवशास्त्री सम्पा०, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़ १९३५ ।

(६) तृतीय काण्ड—समुद्देश, रविवर्मा द्वारा सम्पा०, ट्रावणकोर वि० वि० द्वारा प्रकाशित, १९४२ ।

(७) द्वितीय काण्ड—बनारस सं० सीरीज़, चौखम्बा, वाराणसी ।

(८) तृतीय काण्ड—(४-८ खण्ड)—कालसमुद्देश से वृत्तिसमुद्देश पर्यन्त, वही, (हेलाराजकृत व्याख्या सहित) ।

(९) ब्रह्मकाण्ड—स्वोपज्ञवृत्ति, पुण्यराजकृत विवरण तथा रघुनाथ शास्त्रीकृत अम्बाकर्त्री टीका सहित, सरस्वती भवन, वाराणसी, १९६३ ।

(१०-११) द्वितीय काण्ड, १९६८, तृतीय काण्ड—वही ।

(१२) प्रथम काण्ड—हरिवृषभ (वृषभदेव) कृत वृत्ति तथा पद्धति-सहित, के० ए० सुब्रह्मण्यम्—सम्पा०, डेक्कन कालेज, पूना १९६६ ।

(१३) तृतीय काण्ड, भाग १, हेलाराज कृत 'प्रकीर्ण प्रकाश' । सहित, के० ए० सुब्रह्मण्यम्—सम्पा०, डेक्कन कालेज, पूना, १९६३ ।

(१४) तृतीय काण्ड, भाग २, वही ।

(१५) वाक्यपदीयम्—के० वी० अभ्यङ्कर तथा वी०पी० लिमये—सम्पा०, वि०वि० पूना, १९६५ ।

(१६) प्रथम तथा द्वितीय काण्ड-आंग्लानुवाद, टिप्पणियों सहित, के० आर० पिल्लै ।

(१७) ब्रह्मकाण्ड—सत्यकाम वर्मा द्वारा संस्कृत व्याख्या, अंग्रेजी-हिन्दी अनुवाद सहित, मुंशीराम मनोहरलाल, १९७०, दिल्ली ।

(१९) ब्रह्मकाण्ड—Madileine Biardeau कृत फ्रांसीसी अनुवाद, पेरिस, १९६४ ।

पञ्चविंश अध्याय

महाभाष्य की व्याख्याएं

कैयट

महाभाष्य के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार एवं 'प्रदीप' नाम की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याख्या के कर्ता कैयट हैं। कैयट ने अपनी व्याख्या के आरम्भ में अपने विषय में कुछ परिचय प्रदान किया है। अपने इष्टदेव नारायण तथा विद्या की देवी सरस्वती को प्रणाम करके अपने गुरु महेश्वर के चरणों में नमस्कार किया है। इनके पिता का नाम जैयट था। यद्यपि मम्मट कृत काव्यप्रकाश की 'सुधासागरी' टीका में भीमसेन ने कैयट तथा उव्वट को मम्मट का अनुज कहा है, तो भी उव्वट ने वा० सं० भाष्य के अन्त में अपने पिता का नाम 'वज्रट' लिखा है तथा कैयट ने अपने पिता का नाम 'जैयट' लिखा है, अतः भीमसेन का वचन अप्रामाणिक है।

उनके एक शिष्य का नाम उद्योतकर था। इस तथ्य का उद्घाटन चन्द्रसागरसूरि ने **हेमबृहद्वृत्ति** की **आनन्दबोधिनी** टीका में किया है[1]। कैयट, जैसा कि नाम से ही प्रकट होता है और काशी की पण्डित-मण्डली में प्रसिद्धि से प्रतीत होता है, काश्मीरवासी थे।

संस्कृत के अन्य लेखकों के समान ही कैयट ने भी अपने विषय में कुछ सूचित नहीं किया, अतः उसके काल के विषय में बाह्य-साक्ष्य के आधार पर निर्णय करना पड़ता हैं। यथा—

१, मैत्रेयरक्षित ने **तन्त्रप्रदीप** (१, २, २) में नामनिर्देश-पूर्वक कैयट का उल्लेख किया है[2]।

२. मैत्रेयरक्षित का काल (सं० ११४२-११७५ वि० = १०८८-१११८ ई०) है। इन्होंने अपनी रचनाओं तथा **तन्त्रप्रदीप** तथा **धातुप्रदीप** में धर्मकीर्ति-रचित **रूपावतार** को उद्धृत किया है। धर्मकीर्ति का काल सन् ११४० (१०८७—मीमांसक)[3] अथवा अधिक से अधिक १२वीं

---

[1] हैमबृहद्वृत्ति, भाग १, पृ० १८८, २१०।

[2] मीमांसक, वही, पृ० ३९३ (तृ० सं०) पर उद्धृत।

[3] वही, पृ० ५२४।

शती का मध्य[1] माना गया है। धर्मकीर्ति ने हरदत्तरचित **पदमञ्जरी** का उल्लेख किया है। **पदमञ्जरी** का काल एकादश शती के अन्त[2] तथा द्वादश के मध्य के बीच माना जाता है[3]। हरदत्त तथा कैयट की रचनाओं की तुलना करने पर प्रतीत होता है कि हरदत्त ने नामनिर्देश के बिना ही कई स्थलों पर कैयट को उद्धृत किया है,[4] और कई स्थलों पर **अन्ये … आहुः, आह च, अपर आह** शब्दों से कैयट को उद्धृत किया है। अतः कैयट हरदत्त से प्राचीन है। यदि दोनों के बीच एक पीढ़ी का भी अन्तर माना जाये, तो भी कैयट का काल १०९० वि० (1033 ई०) के आसपास ठहरता है[5]।

कैयट ने अपनी व्याख्या के आरम्भ में सूचित किया है कि उनकी रचना 'भर्तृहरिनिबद्ध साररूपग्रन्थसेतु' के आधार पर रची गयी है। इसका अभिप्राय भर्तृहरि-विरचित **वाक्यपदीय** तथा **प्रकीर्णकाण्ड** से है, क्योंकि कैयट ने भर्तृहरि-कृत **महाभाष्यदीपिका** नामक **भाष्यटीका** को कहीं भी उद्धृत नहीं किया, केवल एक बार इसकी ओर सङ्केतमात्र किया है, जबकि **वाक्यपदीय** और **प्रकीर्णकाण्ड** के सैंकड़ों उद्धरण महाभाष्यप्रदीप में उद्धृत हैं।

सम्प्रति महाभाष्य के गूढार्थों को समझने एवं आत्मसात् करने का सर्वश्रेष्ठ साधन **प्रदीप** ही है, जिसमें पतञ्जलि के भावों को संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित शैली में समझाया गया है। इसकी सहायता के बिना महाभाष्य की सरल भाषा में निबद्ध गूढातिगूढ विचारों का तलस्पर्शी ज्ञान सम्भव नहीं है। कैयट के पाण्डित्य का लोहा परवर्ती सभी वैयाकरणों ने नतमस्तक होकर माना है।

प्रदीप वास्तव में एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या ही नहीं, अपितु एक आलोचनात्मक कृति भी है, जिसमें प्राचीन परम्परा से प्राप्त वैदुष्य की चकाचौंध कर देने वाली चमचमाहट पग-पग पर दृष्टिगोचर होती है। कैयट ने अनेक स्थलों पर काशिका में सूत्ररूपेण समाविष्ट वार्तिकों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया

---

[1] बं० कं० सं० ग्रा० भाग १, पृ० २६२।

[2] मीमांसक, वही, पृ० ५१६।

[3] बं० कं० सं० ग्रा०, पृ० १८३।

[4] मीमांसक, वही, पृ० ३९४।

[5] मीमांसक, वही, पृ० ३९६; बं० कं०, सं० ग्रा० १, पृ० १८३। उधर कैयट ने अनेक बार जिनेन्द्रबुद्धि-विरचित **न्यास** का निर्देश **केचित्** शब्द से किया है। न्यासकार का काल ७२५-७५० ई० माना गया है।

है, यथा—**वृद्धस्य च पूजायाम्** (का० ४, १, १६६)[1], **यूनश्च कुत्सायाम्** (का० ४, १, १६७)[2], **अचिशीर्षः** (का० ६,१,६२)[3], **नित्यमाम्रेडिते डाचि** (का० ६,१,१००)[4] **अडभ्यासव्यवायेऽपि** (का० ६, १, १३६)[5], **आत्मनश्च पूरणे** (का० ६, ३, ६)[6] प्रभृति।

यद्यपि कैयट ने पग-पग पर पतञ्जलि के चरण-चिन्हों पर चलने का प्रयास किया है और उसकी रचना के गूढार्थों के बन्द कपाटों को उसकी अपनी कुञ्जियों से ही उद्घाटित करने की चेष्टा की है, तो भी इन्होंने भाष्यकार का अन्धानुकरण नहीं किया तथा विशेष स्थलों पर अपनी उद्भावनाओं को प्रस्तुत करने का प्रशस्य साहस किया है। यथा, प्रारम्भ में ही कात्यायन के वार्तिक **रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्** की व्याख्या में इन्होंने कात्यायन तथा पतञ्जलि दोनों के विचारों के विरुद्ध अपनी सम्मति व्यक्त की है कि **आगम प्रयोजन** न होकर शास्त्र का प्रवर्तक है। **प्रयोजन** शब्द से **फल** तथा **प्रवर्तक** दोनों अर्थों का ग्रहण किया जाता है। भट्टोजिदीक्षित ने कैयट के इस विचार का समर्थन किया है तथा प्रतिपादित किया है कि **आगम प्रवर्तक** है, जबकि शेष चारों **फल** हैं[7]। कैयट हमें सम्भवतः म० भाष्य से पूर्ववर्ती वृत्तिकारों के मतों से सूचित करते हैं। उनमें एक कुणि की चर्चा तो स्वयं भाष्यकार ने ही की है[8]। अन्य दो के मतों का उल्लेख कैयट ने नामनिर्देश के बिना किया है[9]। इस प्रकार कैयट ने न केवल व्याकरण की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने का ही सफल प्रयास किया है, अपितु अनेक परम्परा-प्राप्त विचारसरणियों से भी हमें अवगत कराया है।

यह सब कुछ होते हुए भी प्रदीपकार ने पतञ्जलि के अनेकों वचनों के गूढार्थ का उद्घाटन करने के लिए कल्पना का आश्रय भी लिया है, जिसकी आलोचना उद्योतकार नागेश भट्ट ने की है।

---

[1] कैयट, म० भा० ४, १, १६३ वा० ३।

[2] कैयट, म० भा० ४, १, १६२ वा० २।

[3] कैयट, म० भा० ६, १, ६१ वा० ३।

[4] कैयट, म० भा० ६, १, ९९ वा० ११।

[5] वही, ६, १, १३५ वा० ५-६।

[6] वही, ६, ३, ५, वा० १।

[7] **'तत्र आगमः प्रवर्तकः, रक्षोहालघ्वसन्देहा फलानीति विवेका' श० कौ०, चौखम्बा,** भाग १, पृ० ११, १३।

[8] म० भाष्य, १, १, ७५ तथा कैयट—**भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमशिश्रियत्।**

[9] म० भा० १, १, ३९।

पतञ्जलि के द्वारा निबद्ध प्रथम परिभाषा[1] की व्याख्या में कैयट ने **व्याख्यान** शब्द का अभिप्राय **न्याय** अथवा **आगम** समझा है[2] और आगम से **उपदेशपरम्परा** को ग्रहण किया है, जिसके अन्तर्गत काशिकाकार जयादित्य तथा न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि भी आ जाते हैं, जिन्होंने अनेक स्थलों पर महाभाष्य के विरुद्ध भी लिखा है। नागेश ने कैयट की इस मान्यता को मानने से इनकार कर दिया है। तो भी कैयट ही एक ऐसी कुञ्जी है, जिसके बिना महाभाष्य का अर्थोद्घाटन नहीं हो सकता।

प्रदीप की व्याख्याएं

(१) चिन्तामणि-रचित **महाभाष्य कैयट-प्रकाश** (१५वीं शती)।

(२) शेषनागनाथ-कृत **महाभाष्यप्रदीपोद्द्योतन** । यह शेषवीरेश्वर के अनुज तथा शिष्य थे, जो पण्डितराज जगन्नाथ के गुरु थे। इनका काल १६वीं शती ई० का आरम्भ माना गया है।

(३) मल्लय यज्वा (१४७० ई० के आसपास) द्वारा रचित टिप्पणी।

(४) रामचन्द्र सरस्वती द्वारा विरचित **विवरण** नामक लघुवृत्ति (१५वीं शती)।

(५) ईश्वरानन्द सरस्वती-विरचित **विवरण** नामक बृहती टीका (१५वीं शती)।

(६) अन्नम्भट्ट-कृत **प्रदीपोद्द्योतन** (१४९०-१५४५ ई०)। यह राघव सोमयाजी के वंशज तथा तिरुमल के पुत्र थे। यह मीमांसा न्याय-सुधा की 'राणकोज्जीवनी' टीका, ब्रह्मसूत्र व्याख्या, अष्टाध्यायी की मिताक्षरा वृत्ति तथा तर्क-संग्रह प्रभृति अनेकों ग्रन्थों के कर्ता प्रकाण्ड पण्डित थे।

(७) नारायण-कृत **प्रदीपविवरण** (१५०० ई० से पूर्व)।

(८) रामसेवक-कृत **महाभाष्यप्रदीपव्याख्या** (१५००-१६५०)।

(९) नारायण शास्त्री-कृत **महाभाष्य-प्रदीप-व्याख्या** (१६५०-१७००)।

(१०) वैद्यनाथ पायगुण्डे-रचित **प्रदीपोद्द्योत-छाया** (१६००-१६७५) यह व्याख्या वास्तव में नागेशकृत **प्रदीपोद्द्योत** पर है। किन्तु कैयट

---

[1] **व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् ।**

[2] **न्यायावागमाद्वा शब्दशक्तिरनुसरणीया ।**

की व्याख्या का भी व्याख्यान करती चलती है और केवल नवाह्निक तक उपलब्ध होती है। किन्तु व्याख्या पाण्डित्यपूर्ण और विशद है।

(११) नागेशभट्टविरचित **प्रदीपोद्द्योत**, इसका विवरण आगे दिया जा रहा है।

नागेश (या नागोजि) भट्ट

कैयट-कृत महाभाष्य 'प्रदीप' पर सर्वश्रेष्ठ व्याख्या **विवरण** या **उद्द्योत** के लेखक नागेश (या नागोजि) भट्ट थे। ये महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम शिवभट्ट तथा माता का सीतादेवी था। यह भट्टोजि दीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित के शिष्य थे तथा वैद्यनाथ पायगुण्डे के गुरु थे। नागेश भट्ट व्याकरण, साहित्य, अलंकार, धर्मशास्त्र, सांख्य, योग, मीमांसा आदि अनेक विषयों के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने **महाभाष्य प्रदीपोद्द्योत, लघु-शब्देन्दुशेखर, बृहच्छब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर, लघु-मञ्जूषा, परमलघुमञ्जूषा, स्फोटवाद** तथा **महाभाष्य-प्रत्याख्यान-संग्रह** नाम व्याकरण ग्रन्थों की रचना की है। इनमें **उद्द्योत, लघुशब्देन्दुशेखर** (या **शेखर**) तथा **परिभाषेन्दुशेखर** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा प्रामाणिक रचनाएं हैं।

इनके काल के विषय में सुनिश्चिय-पूर्वक कुछ कह सकना कठिन है, किन्तु भानुदत्त-कृत **रसमञ्जरी** पर नागेश की टीका के एक हस्तलेख[1] का काल १७६९ वि० है। उधर उनके शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे के पुत्र बालशर्मा ने हेनरी कोलब्रुक (सन् १७८३-१८१५) की आज्ञा से मन्नुदेव की सहायता से **धर्मशास्त्रसंग्रह** की रचना की थी। अतः नागेशभट्ट का स्थितिकाल सन् १६६३ तथा १७५३ के मध्य में हो सकता है[2]।

प्रदीपोद्द्योत के द्वारा नागेश ने न केवल कैयट की व्याख्या का ही अर्थोद्घाटन किया है, अपितु महाभाष्य के रहस्यों की गहराइयों तक पहुंचने का सफल प्रयास किया है तथा अपने किसी भी पूर्ववर्ती वैयाकरण से कहीं अधिक सूक्ष्मता तथा गम्भीरतापूर्वक पतञ्जलि के भाव को हृदयंगम करने का प्रयत्न किया है। इन्होंने अष्टाध्यायी को पूर्वाचार्यों द्वारा कृत कई कृत्रिम सूत्रार्थों से मुक्त करने में सफलता-प्राप्त की है तथा पतञ्जलि को समझने के लिए नवीन तथा अधिक सूक्ष्म-दृष्टि

---

[1] इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय, लन्दन, सं० १२२२।

[2] मीमांसक, वही, भाग १ (तृ० सं०) पृ० ४२७।

प्रदान की है[1]। पा० की आधुनिक ऐतिहासिक आलोचनापद्धति को आत्मसात् करने का नवीन मार्ग भी नागोजि ने ही प्रशस्त किया है। अनेक स्थलों पर कैयट की आलोचना अत्यन्त वैदुष्यपूर्ण बौद्धिक कुशाग्रता तथा विशिष्ट सिद्धान्तों पर आश्रित प्रखर पाण्डित्य के आधार पर की है। उनकी मुख्य धारणा यह रही है कि पाणिनि को हृदयंगम करने के लिए महाभाष्य में पूरी सामग्री निहित है, हमें पतञ्जलि के समर्थन के बिना पाणिनि के विषय में काल्पनिक उड़ानें भरने का कोई अधिकार नहीं है, हमें पाणिनीय व्याकरण के अन्धकारपूर्ण स्थलों को महाभाष्य के प्रकाशपुञ्ज से आलोकित करने का प्रयास करना चाहिये। न ही पतञ्जलि के वचनों को तोड़-मरोड़ कर अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए उनमें गूढार्थों की कल्पना करना ही श्रेयस्कर है। उनके अभिधेयार्थ को तह तक पहुंचने का प्रयास ही समीचीन मार्ग है।

यह सब होते हुए भी कभी-कभी स्वयं नागोजि भी अपने इस प्रशस्त मार्ग से भटक गये प्रतीत होते हैं। पा० १, ३, ३ पर वार्तिक की व्याख्या करते समय यदि कैयट की **द्वन्द्वसमास, हल्-ल्** की कल्पना समीचीन नहीं, तो नागोजि द्वारा **एकशेष** का अर्थ **तन्त्रोच्चारण** करना भी उतना ही काल्पनिक तथा आपत्तिजनक है[2]।

तो भी नागोजि ने अपने भाष्य-प्रामाण्य के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने का प्रयास अपने तीन ग्रन्थों—उद्द्योत, लघु० शे० तथा परि० शे० में सर्वत्र किया है। वस्तुतः इन रचनाओं का मुख्य उद्देश्य ही महाभाष्य का प्रामाण्य प्रतिष्ठापित करना है। प्रथम परिभाषा **व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति र्नहि सन्देहादलक्षणम्** की व्याख्या करते हुए कैयट ने व्याख्यान का अर्थ 'न्याय' या 'आगम' मानकर आगम से 'उपदेशपरम्परा' ग्रहण किया है, किन्तु नागोजि ने महाभाष्य की विरोधी उपदेशपरम्परा को प्रथम स्थान देने से इनकार कर दिया है। न ही वे भाष्य द्वारा अननुमोदित व्यक्तिगत तथाकथित 'तर्कसंगत युक्ति' को मान्यता प्रदान करने को प्रस्तुत हैं। इस विषय में भी भाष्य ही अन्तिम शरण है। उन्होंने ऐसी परिभाषाओं को भी मान्यता प्रदान करने से इनकार कर दिया है, जिनका मूलाधार भाष्य में स्पष्ट प्रतिपादित या इंगित नहीं है। इसी कारण उन्होंने प्रत्येक ऐसे ज्ञापक या व्यवस्थित विभाषा का

---

[1] Paul Thieme, *Nagoji Bhatta—The Interpretation of the Learned*, *Belvelkar Com. Vol.*, p. 47.

[2] वही, पृ० ५३।

प्रत्याख्यान कर दिया है, जिसका आधार पतञ्जलि के वचनों में उपलब्ध नहीं होता[१]। फिर भी पाणिनि की अष्टाध्यायी को सभी समस्याओं को अपनी इन न्यायसंगत मान्यताओं के सहारे पर सुलझाने में असमर्थ होकर नगोजि भट्ट को भी भाष्य के रहस्यपूर्ण एवं गूढ वचनों को समझाने के लिए कैयट के समान ही कूट-उपायों का आश्रय लेना पड़ा है। एक स्थान पर तो वह जान-बूझ कर कैयट की व्याख्या का प्रत्याख्यान किये बिना ही अपने अभीष्ट अर्थों को कैयट पर आरोपित करते दृष्टिगोचर होते हैं[२]।

नागोजि यह भी मानते हैं कि पाणिनि की व्याख्या करने में पतञ्जलि की स्थिति पश्चात्कालिक व्याख्याकारों से सर्वथा भिन्न थी, क्योंकि इन व्याख्याताओं के समय में संस्कृत एक प्रचलित जीवित भाषा का स्थान खो चुकी थी, अतः उन्हें साधु (शिष्ट) प्रयोग के लिए लोक के स्थान पर वैयाकरण का मुख ताकना पड़ता है, जबकि पतञ्जलि के समक्ष संस्कृत एक जीती-जागती लोक-भाषा थी, और वह स्वयं ऐसे शिष्ट पुरुष थे, जिनके मुख से निकले शब्द ही 'साधु' माने जाते थे।

शेषनारायण

प्रसिद्ध शेषवंश के शेषनारायण ने महाभाष्य पर **सूक्तिरत्नाकर** नाम्नी एक प्रौढ़ व्याख्या लिखी है, जो अप्रकाशित है, किन्तु जिस के हस्तलेख प्रचुर मात्रा में उपलभ्य हैं। इसका रचनाकाल १५वीं शती के उत्तरार्ध से लेकर १६वीं शती के आरम्भ तक हो सकता है[३]। इसका सर्वप्राचीन हस्तलेख सन् १६१८ का लिखा हुआ इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय, लन्दन, में विद्यमान है[४]। इनके पिता का नाम वासुदेव दीक्षित तथा पितामह का नाम अनन्त दीक्षित था। ऑफ्रेख्त ने इनके पिता का नाम कृष्णसूरि लिखा है, जो ठीक नहीं। इसी प्रकार कृष्णमाचार्य ने इन्हें शेषकृष्ण का पुत्र तथा शेषवीरेश्वर का भाई लिखा है[५], जो अशुद्ध है।

नीलकण्ठ वाजपेयी

नीलकण्ठ वाजपेयी ने महाभाष्य की 'भाष्यतत्त्वविवेक' नाम की व्याख्या लिखी है। इन्होंने सिद्धान्त-कौमुदी पर **सुखबोधिनी** नाम की व्याख्या भी लिखी है, जिसके आरम्भ में इन्होंने सूचित किया है कि इनके पिता का नाम

---

[१] Paul Thieme, *loc. cit.*, p. 57,

[२] म० भा० १, पृ० ३५, १, १६ से (कीलहार्न सं०)।

[३] द्र० मीमांसक, वही, पृ० ४१० (तृ० सं०)।

[४] सूचीपत्र, भाग १, खण्ड २, ग्रन्थाङ्क ५९०।

[५] हि० क्ला० सं० पृ० ६५४।

वरदेश्वर तथा पितामह का रामचन्द्र था। वरदेश्वर ने काशी में अप्पयदीक्षित से तन्त्रविद्या का अध्ययन किया था। नीलकण्ठ ने तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती से भी विद्या ग्रहण की थी। ज्ञानेन्द्रसरस्वती और भट्टोजिदीक्षित प्राय: समकालिक थे। अत: नीलकण्ठ का काल १५४० से १६२० ई० के मध्य में माना जा सकता है। नीलकण्ठ ने व्याकरण-विषयक अन्य ग्रन्थों की भी रचना की है, यथा—

१. पाणिनीय दीपिका २. परिभाषावृत्ति
३. तत्त्वबोधिनी गूढार्थदीपिका।

शिवरामेन्द्र सरस्वती

शिवरामेन्द्र सरस्वती-विरचित **महाभाष्यरत्नाकर** नाम्नी व्याख्या अत्यन्त सरल तथा छात्रोपयोगी है। इनके काल के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इसका हस्तलेख सरस्वतीभवन पुस्तकालय, वाराणसी, में सुरक्षित है।

इनके अतिरिक्त महाभाष्य पर अन्य भी व्याख्याएं उपलभ्य हैं, जो अभी तक अप्रकाशित हैं।

षड्विंश अध्याय

अष्टाध्यायी के वृत्तिकार

वार्तिकों के अतिरिक्त अष्टाध्यायी पर अनेक व्याख्यात्मक वृत्तियां भी लिखी गयी हैं। प्राचीनकाल से ही सूत्रग्रन्थों पर पदच्छेद, पदार्थ, समासविग्रह, अनुवृत्ति, वाक्ययोजना, उदाहरण, प्रत्युदाहरण, पूर्वपक्ष तथा समाधानरूपी व्याख्याएं लिखी जाती रही हैं। इन्हीं लघुव्याख्याओं को वृत्तिपद से अभिहित करते थे[1]।

महाभाष्य से इस प्रकार की कम से कम पांच वृत्तियों की सत्ता सिद्ध होती है, जो उससे पूर्व विद्यमान थीं। तदनन्तर भी अनेकों वृत्तियां लिखी गयी हैं।

हमें विदित है कि पाणिनि के सूत्रपाठ के लिए **वृत्तिसूत्र** पद का प्रयोग स्वयं महाभाष्यकार ने किया है[2]। चीनी यात्री इत्सिंग ने भी इस पद का प्रयोग किया है, किन्तु **वृत्तिसूत्र** से **वृत्तियुक्तसूत्रग्रन्थ** अभिप्रेत होने के कारण इत्सिंग का अभिप्राय किस ग्रन्थ से था, हम निश्चितरूपेण नहीं कह सकते, किन्तु इत्सिंग ने जब जयादित्य-विरचित **वृत्तिसूत्र** का नामनिर्देश किया है, तो उसका आशय काशिका से हो सकता है, जो उस समय सम्भवतः इसी नाम से प्रसिद्ध होगी। 'काशिका' नाम बाद में पड़ा होगा (बं० कं० सं० ग्रा० १७४)। तो भी इतना निश्चित है कि पाणिनीय सूत्रों पर वृत्तियां होने के कारण अष्टाध्यायी की **वृत्तिसूत्र** संज्ञा थी।

भर्तृहरि ने वार्तिकों के लिए **भाष्यसूत्र** पद का प्रयोग इसीलिए किया है कि वार्तिकों पर भाष्य लिखा गया था, वृत्तियां नहीं लिखी गयी थीं, जबकि पाणिनीय सूत्रों पर वृत्तियां लिखी गयीं, सीधे भाष्य नहीं लिखे गये।

पतञ्जलि ने **वृत्ति** का अर्थ **शास्त्रप्रवृत्ति** किया है। अतः वृत्तिसूत्र पद का अर्थ 'सुप्' आदि वृत्तियों की शास्त्रप्रवृत्तियों के बोधकसूत्र होगा।[3]

---

[1] द्र० पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।
पूर्वपक्षसमाधानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम्॥
(भाषावृत्ति पर सृष्टिधर-रचित विवृति, पृ० १६)

[2] म० भा० २, १, १।

[3] मीमांसक, वही, पृ० २२२-२३।

महाभाष्य से पूर्ववर्ती तथा परवर्ती अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों तथा उनकी रचनाओं के विषय में हमें बहुत कम ज्ञान है, तथापि जितना कुछ विदित है, उसका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है—

श्वोभूति की वृत्ति का उल्लेख जिनेन्द्रबुद्धि ने अपने न्यास (का० ७, २, ११) में किया है— **केचित्तु श्वोभूति-व्याडिप्रभृतयः 'श्युकः किति' इत्यत्र द्विककारनिर्देशेन हेतुना चर्त्वभूतो गकारः प्रश्लिष्ट इत्येवमाचक्षते ।**

यद्यपि श्वोभूति के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं, तो भी महाभाष्य १, १, ५६ पर **श्वोभूति** का उल्लेख किया गया है। अतः वह पतञ्जलि से पूर्ववर्ती वैयाकरण थे। एक मतानुसार यह पाणिनि के शिष्य थे।

व्याडि—न्यासकार के उक्त वचन में ही व्याडि का उल्लेख किये जाने के कारण यह भी अष्टाध्यायी के वृत्तिकार प्रतीत होते हैं। इसके विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं।

कुणि—भर्तृहरि,[1] कैयट[2] तथा हरदत्त[3] प्रभृति ने कुणिकृत **अष्टाध्यायीवृत्ति** का उल्लेख किया है।

माथुर—पतञ्जलि (४, ३, १०१) ने एक **माधुरी (माथुरी ?)** वृत्ति का उल्लेख किया है, जिसके विषय में यह सूचना भी दी है कि यह माथुर द्वारा प्रोक्त थी, कृत नहीं थी[4]। माथुरीवृत्ति का उल्लेख काशिका (४, ३, १०१) में भी किया गया है। पुरुषोत्तमदेव ने **भाषावृत्ति** (१, २, ५७) में भी **माथुरीवृत्ति** की चर्चा की है। इस वृत्ति के विषय में एक सुझाव यह दिया गया है कि सम्भवतः मथुरा में रची जाने के कारण इसका नाम **माथुरी** उसी प्रकार रखा गया हो, जैसे 'काशिका' का नाम काशी में रची जाने के कारण रखा गया प्रतीत होता है[5]।

माथुरीवृत्ति के विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि इसके अनुसार पा० १, २, ५८ से १, २, ७३ तक १६ सूत्र **अशिष्य** हैं। चन्द्राचार्य ने पा० १, २, ५३ से १, २, ७३ तक के विषयों को **अशिष्य** मान कर इन्हें अपने व्याकरण में समाविष्ट नहीं किया। इससे प्रतीत होता है कि चन्द्रगोमी के सामने **माथुरी वृत्ति** विद्यमान

---

[1] महाभाष्यदीपिका १, १, ३८ ।

[2] म० भा० १, १, ७५ पर प्रदीप ।

[3] पदमञ्जरी, भाग १, पृ० १४५ ।

[4] **यत्तेन प्रोक्तं न च तेन कृतम्**, माथुरीवृत्तिः ।

[5] कालीचरण शास्त्री, बं० कं० सं० ग्रा० १, पृ० १५९-१६० ।

थी और उन्होंने इसका अनुसरण किया है। पतञ्जलि ने भी जाति और व्यक्ति दोनों को पदार्थ मानकर पा० १, २, ५८-७३ सूत्रों का प्रत्याख्यान किया है, अतः सम्भव है कि पतञ्जलि भी इस विषय में माथुरी से प्रभावित हुए हों[1]।

चुल्लि भट्टि—जिनेन्द्रबुद्धि ने न्यास में काशिका के प्रथम श्लोक की व्याख्या करते हुए चुल्लिभट्टि की वृत्ति का उल्लेख किया है—**वृत्तिः पाणिनीयसूत्राणां विवरणं चुल्लिभट्टिनिर्लूरा (नल्लूरा)-दिविरचितः।**

इससे प्रकट होता है कि अष्टाध्यायी पर चुल्लिभट्टि तथा नल्लूर (निर्लूर) विरचित दो वृत्तियां काशिकाकार को ज्ञात थीं। चुल्लिभट्टि का उल्लेख **हरिनामामृत** (सूत्र १४७०) की वृत्ति में भी किया गया है।

नल्लूर (या निर्लूर—मीमांसक) का उल्लेख चुल्लिभट्टि के साथ ही जिनेन्द्रबुद्धि ने किया है। काशिका के व्याख्याकार विद्यासागर मुनि ने भी इस वृत्ति का उल्लेख किया है। कातन्त्र परिशिष्ट में श्रीपतिदत्त ने भी 'निर्लूरवृत्ति' का उल्लेख किया है[2]। पुरुषोत्तमदेव ने स्वरचित 'ज्ञापक समुच्चय' में **नैर्लूरी वृत्ति**[3] का निर्देश किया है।

इन सूचनाओं से पता चलता है कि निर्लूर (नल्लूर) की वृत्ति काशिका से प्राचीन है।

काशिका

उपरिवर्णित वृत्तियों में से इस समय एक भी उपलभ्य नहीं हैं। काशिका से उत्तरवर्ती ३० वृत्तियों का पता चला है[4], किन्तु इनमें से सात वृत्तियां प्रकाशित हो चुकी हैं। यथा—पुरुषोत्तमदेव की **भाषावृत्ति**, भट्टोजिदीक्षित का **शब्दकौस्तुभ**, अन्नंभट्टकृत **मिताक्षरा**, विश्वेश्वर सूरिरचित **व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि**, ओरम्भट्टकृत **व्याकरणदीपिका**, तथा स्वामी दयानन्दकृत **भाष्य**। किन्तु इनमें एक भी काशिका के समान पूर्ण अथवा वैशिष्ट्यान्वित नहीं है। काशिका इतनी वैदुष्यपूर्ण, इष्टियों, वार्तिकों तथा गणपाठों से युक्त, सूत्रों के गूढार्थ के विवरण से प्रतिमण्डित, उदाहरण-प्रत्युदाहरणों से सुशोभित, प्राचीन वृत्तिकारों के विचारों की आलोचक, अष्टाध्यायी के सूत्रों के मर्म की विस्पष्ट उद्घाटक ऐसी अद्वितीय रचना है कि अन्य सभी वृत्तियां इसके समक्ष प्रभावहीन होकर रह गयी हैं।

---

[1] मीमांसक, वही, १, पृ० ४४२।

[2] न्यास की भूमिका, पृ० ९।

[3] राजशाही संस्करण, पृ० ८७।

[4] मीमांसक, व्या० शा० १, पृ० ४६९-५०३।

ऐसी पाण्डित्यमण्डित विद्वज्जन-हृदयहारिणी कृति के कर्ता भी विवादास्पद विषय बने हुए हैं। यद्यपि इत्सिंग ने जयादित्य-विरचित एक **वृत्तिसूत्र** की चर्चा की है, तो भी विद्वानों की सुविचारित एवं सुदृढ़ परम्परागत विचारधारा के अनुसार काशिका किसी एक व्यक्ति की कृति नहीं, अपितु जयादित्य तथा वामन दो वैयाकरणों के परिश्रम का परिणाम है। किन्तु यह निश्चय नहीं किया जा सका कि इस रचना की सृष्टि में किसका कितना योगदान है[1]।

इत्सिंग के प्रयोग **वृत्तिसूत्र** से बेल्वल्कर,[2] तथा आई० एस० पवाटे[3] ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इससे इत्सिंग का अभिप्राय काशिकावृत्ति की ओर था ही नहीं। उसका आशय पतञ्जलि कृत **वृत्तिसूत्र** की टीका से है। किन्तु हमारे पास ऐसे बहिरंग तथा अन्तरंग प्रमाण हैं, जिन से जयादित्य तथा वामन दोनों का इस रचना में योगदान निश्चित किया जा सकता है।

भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधराचार्य ने काशिका को जयादित्य की कृति माना है[4]। **भाषावृत्ति** में प्रथम पांच अध्यायों से जयादित्य के नाम से काशिका को उद्धृत किया गया है और अन्तिम तीन अध्यायों से वामन के नाम से[5]।

डा० वेबर,[6] मॉनियर विलियम्स,[7] वामन को काशिकाकार के रूप में स्वीकार करते हैं। डा० कीलहार्न ने भट्टोजि के साक्ष्य के आधार पर काशिका को इन दोनों की रचना माना है[8]। प्रो० श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती[9] तथा प्रो० विन्टरनित्स[10] ने भी इसे दोनों की सम्मिलित रचना स्वीकार किया है।

युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार इन दोनों ने पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण वृत्तियों की रचना की थी, जो उत्तरवर्तीकाल में किसी कारण-वश परस्पर मिलजुल

---

[1] Takakusu's *Buddhist Practices in India*. I-tsing, p. 176, note 3; इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि इत्सिग ने वामन का कहीं नामोल्लेख तक नहीं किया।

[2] ए० के० बेल्वल्कर, सिस्टम्स०, पृ० ३५, टि० २।

[3] Structure of *Aṣṭadhyayī*, Intro. p. 9; 1969.

[4] भाषावृत्त्यर्थ० के आरम्भ में।

[5] द्र० मीमांसक, व्या० शा०, १, पृ० ४५९-६०।

[6] हि० इ० लिट्०, पृ० १२६, टि० २३९ (१८८२)।

[7] *Indian Wisdom*, p. 168, (1893), London.

[8] F. Kielhorn, *Katyayana and Patañjali*, p. 12, 1963.

[9] *Nyasa* (ed.), pt. I, p. 47, fn. 1.

[10] हि० इण्डि० लिट्० खण्ड ३, भाग २, पृ० ४३३।

गयीं। यह सम्मिश्रण जिनेन्द्रबुद्धि की **काशिकाविवरणपञ्जिका** की रचना से पूर्व हो चुका था, क्योंकि यह व्याख्या इस सम्मिलित काशिका पर ही है। यही तथ्य हरदत्त-विरचित **पदमञ्जरी** से भी प्रकट होता है[1]।

इस प्रसंग में पा० २, १, ६८ तथा ६, २, २ एवं ६, २, ३३ तथा २, २, १२ एवं ६, २, ४५ और २, १, ३६ की वृत्तियों की परस्पर तुलना करने पर प्रकट होता है कि द्वितीय अध्याय तथा षष्ठ अध्याय की वृत्तियों के रचयिता भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं[2]। कहीं-कहीं कुछ स्थलों की वृत्तियां परस्पर विरोधी भी हैं और न्यास तथा पदमञ्जरी में कुछ विरुद्ध वचनों का समाधान उनके कर्तृभेद के कारण बतलाकर किया गया है[3]। इतना होने पर भी यह निश्चय करना कठिन है कि कौन-सा भाग किसकी कृति है। इस विषय में भी मतभेद बहुत पुराना है।

हरिदीक्षित ने प्रौढ़मनोरमा की टीका **शब्दरत्न** में किन्हीं के मत में अध्याय १, २, ५, ६ जयादित्यकृत माने गये हैं। पुरुषोत्तमदेव ने प्रथम पांच अध्यायों को जयादित्य-रचित और अन्तिम तीन को वामनकृत माना है।

गोपीचन्द्र के एक उदाहरण से पा० ८, ३, ९८ की वर्तमान टीका जयादित्य-कृत प्रतीत होती है[4]। कीलहार्न ने सि० कौ० के प्रामाण्य के आधार पर पा० ३, २, १३९ से अगले भाग को वामनकृत स्वीकार किया है[5]। किन्तु आजकल के आलोचकों में प्रो० बेल्वल्कर[6] ने विन्टरनित्स,[7] दिनेशचन्द्र,[8] कीथ,[9] युधिष्ठिर मीमांसक,[10] बलदेव उपाध्याय,[11] सत्यकाम वर्मा[12] के मतानुसार ही जयादित्य को प्रथम पांच अध्यायों तथा वामन को अन्तिम तीन अध्यायों का कर्ता मानते हुए भी

---

[1] वही, पृ० ४६४-६६।

[2] रघुवीर वेदालंकार, काशिका का समालोचनात्मक अध्ययन, पृ० २७-२८।

[3] वही, पृ० २९-३२।

[4] चान्द्रव्याकरण १, २३३ पर; चान्द्रव्याकरण ६, ४, ८९, भाग २ पृ० ३७७, पर उद्धृत सम्पादक की टिप्पणी।

[5] *Katyāyana and Patañjali*, p. 12.

[6] सिस्टम्स, पृ० ३०।

[7] हि० इण्डि० लिट्, खण्ड ३, भाग २, पृ० ४३३।

[8] परिभाषावृत्ति (सम्पा०), उपोद्घात, पृ० २।

[9] हि० सं० लिट्, पृ० ४३०।

[10] मीमांसक, वही पृ० ४५९-४६०।

[11] सं० शास्त्रों का इतिहास, पृ० ४८२।

[12] सं० व्या० उद्भव, पृ० २६३।

यह विचार व्यक्त किया है कि वामन ने जयादित्य के तुरन्त बाद तथा जिनेन्द्र-बुद्धि से पूर्व ही इसे पूर्ण किया है। अतः प्रथम पांच अध्याय जयादित्यकृत माने जाते हैं और अन्तिम तीन वामन के।

काशिका का काल

चीनी यात्री इत्सिंग के साक्ष्यानुसार जयादित्य की मृत्यु सन् ६६१ के आसपास हुई थी[1], किन्तु मैक्समूलर तथा डा० काणे[2] ने इस सूचना को सन्दिग्ध एवं अप्रामाणिक माना है।

काशिका में पा० ४, ३, ८८ के उदाहरण में **वाक्यपदीय** ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है, जो भर्तृहरि की प्रसिद्ध रचना है। यद्यपि भर्तृहरि के काल के विषय में सभी विद्वान् सहमत नहीं हैं, तो भी डा० के० एस० अय्यर ने स्वरचित **भर्तृहरि** तथा स्वसम्पादित **वाक्यपदीय** में ४५० ई० के आस-पास माना है[3] तथा प्रो० साधुराम ने ३०० ई० माना है[4]। उधर का०पा० ३, २, ४२ पर **प्रमाण-समुच्चय** का भी उल्लेख किया गया है। यह रचना बौद्धदार्शनिक दिङ्नाग की कृति है, जिसने स्वरचित **त्रैकाल्य-परीक्षा** में वा० प० की कारिकाओं को उद्धृत किया है। भर्तृहरि का काल ३००-४५० ई० के बीच में हो सकता है। यदि ४५० ई० भी मान लिया जाये, तो भी दिङ्नाग का काल ४८०-५४० ई० हो सकता है[5]। इस अवस्था में काशिका की पूर्वसीमा ५४० ई० माननी होगी।

काशिका ने पा० १, ३, २३ पर भारवि का एक पद्यांश **संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः**[6] उद्धृत किया है। भारवि का काल कीथ के अनुसार ५००-५५० ई० है[7]। मीमांसक ने महाराज दुर्विनीत के काल (५३९-५६९) के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला है[8]। दुर्विनीत ने किरात के १५ वें सर्ग पर टीका लिखी थी। यह काल पूर्वोक्त पूर्वी सीमा से मेल खाता है। भट्टिकाव्य में अनेक प्रयोग काशिका

---

[1] इत्सिंग की भारत यात्रा, पृ० २६२ ; २७०, टि० २।

[2] जे० बी० बी० आर० ए० एस०, खण्ड २३, पृ० ४४।

[3] भर्तृहरि; पृ० २ ; वा० प०, पृ० २।

[4] जे० जी० जे० आर० आई०, खण्ड १५, सन् १९५२, पृ० १३५-५१।

[5] अय्यर, वाक्यपदीय, पृ० २।

[6] किरात० ३, १४।

[7] हि० सं० लिट्०, पृ० १०९।

[8] व्या०शा० १, ४६० (तृ० सं०)।

की मान्यताओं के विपरीत पाये जाते हैं,[1] जो इस के भट्टिकाव्य से उत्तरवर्ती होने के संकेत हैं। भट्टिकाव्य ६४० ई० के बाद का नहीं है[2], अतः काशिका ६५० ई० से उत्तरकालिक नहीं हो सकती। दूसरी ओर काशिका शिशुपालबध से पूर्ववर्ती मानी जाती है[3]। माघ की पूर्वसीमा ६७५ ई० निश्चित की गयी है, यह काशिका की उत्तरसीमा है।

काशिका की व्याख्या न्यास के काल के विषय में बहुत विप्रतिपत्ति है। हेतुबिन्दु की टीका में अर्चंट ने न्यासकार की ओर सङ्केत किया प्रतीत होता है। अर्चट का काल सप्तमशती है। अतः न्यासकार का काल इससे पूर्व होना चाहिये। दिनेशचन्द्र के मत में न्यासकार का काल ८००-८५० ई० है, तो श्रीशचन्द्र के अनुसार ७२५-७५० ई० है। आर० नरसिंहम् तथा पवाटे के अनुसार ४५० ई० है, तो काणे के मत में ६०० ई० है। यदि हम न्यासकार को ६५० ई० के आसपास भी मान लें, तो काशिका का काल ५५०-६५० ई० होना चाहिये, जो इत्सिंग की सूचनानुसार भी ठीक बैठता है[4]।

यद्यपि काशिकाकार को अधिकांश विद्वानों ने बौद्ध-धर्मावलम्बी माना है, तो भी हाल ही में इन्हें वैदिक-धर्मी सिद्ध करने के प्रयास भी किये गये हैं[5]।

काशिकाकार ने अपनी रचना में बहुधा पतञ्जलि के विचारों का समर्थन किया है, तो भी उनका अन्धानुकरण नहीं किया। उन्होंने कहीं पर पतञ्जलि का पक्ष लिया है, तो कहीं पर कात्यायन का और कहीं-कहीं पाणिनीय सूत्रों की स्वतन्त्र व्याख्या करते हुए उसे ही पाणिनि का वास्तविक अभिप्राय माना है। अनेक स्थलों पर काशिका में पतञ्जलि के वचनों की वर्णानुपूर्वी तक समान पायी जाती है। अन्यत्र **इत्याह** तथा **उच्यते** कहकर भाष्य की पंक्तियों को उद्धृत किया गया है। अनेक स्थलों पर भाष्य में पक्ष-विपक्ष के विचारों का आलोडन कर अपना निष्कर्ष दिया गया है। काशिका में उस निष्कर्ष को अपने शब्दों में व्यक्त कर दिया गया है। कहीं-कहीं भाष्यकार किसी एक समस्या के लिए कई समाधान प्रस्तुत करते हैं, तो काशिकाकार उनमें अपने मनपसन्द समाधान को ग्रहण कर लेते हैं। अनेकत्र काशिका में भाष्य के विचारों का संक्षेपीकरण कर लिया गया है, जिससे भाष्य का आशय स्पष्ट व्यक्त हो जाता है।

---

[1] काध्ययन०, पृ० ४३।

[2] कीथ, हि० सं० लिट्०, पृ० ११६; विन्टरनित्स, हि० इण्डि० लिट्०, तृतीय खण्ड, भाग १, पृ० ७९।

[3] काध्ययन०, पृ० ४४-४५।

[4] काध्ययन०, पृ० ४६-४८।

[5] वही, पृ० ४८-५६।

जहां काशिकाकार महाभाष्य से सहमत नहीं हो पाते, वहां वे अन्य प्राचीन व्याख्याओं को आधार मानकर भाष्य के मत का निराकरण कर देते हैं और कहीं-कहीं उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने काशिका के मत को स्वीकार भी किया है।

यद्यपि पतञ्जलि तथा काशिकाकार दोनों ही पाणिनि में अगाध श्रद्धा रखते हैं, तो भी भाष्यकार ने कुछेक सूत्रों को अनावश्यक, अतः **अशिष्य** घोषित किया है, किन्तु काशिकाकार ने पाणिनि को प्रमाण मानकर उनके सूत्रों के औचित्य को सिद्ध करने का प्रयास किया है। यही भाष्य और वृत्ति का मुख्य अन्तर है। इतना ही नहीं, वृत्तिकार ने वार्त्तिककार के अनेक वार्त्तिकों का भी विरोध किया है[1]।

काशिकाकार ने अपनी वृत्ति में ३९८३ सूत्रों की व्याख्या की है। विद्वानों के अनुसार इस वृत्ति में पाणिनीय तन्त्र की अपेक्षा कुछ सूत्र सर्वथा नवीन ही नहीं, अपितु कुछ परिवर्तित भी हैं। इस परिवर्धन-परिवर्तन का मुख्य कारण कुछ सूत्रों का नवीन प्रणयन तथा कुछ वार्तिकों का सूत्रपाठ में प्रक्षेप है। इस विषय में न्यासकार सर्वथा मौन है, किन्तु कैयट, हरदत्तमिश्र, भट्टोजिदीक्षित, नागेश, ज्ञानेन्द्रसरस्वती तथा स्वामी दयानन्द ने स्थान-स्थान पर पाणिनीय सूत्रों में काशिकाकार द्वारा किये प्रक्षेपों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। कैयट ने नौ सूत्रों को अपाणिनीय घोषित किया है[2] तथा सात सूत्रों को अपाणिनीय मानते हुए उनमें वार्तिकों का प्रक्षेप स्वीकार किया है[3]। हरदत्त मिश्र ने आठ सूत्रों को अपाणिनीय घोषित किया है[4] तथा लगभग इतने ही सूत्रों में वार्तिकों का प्रक्षेप माना है[5]। आधुनिक आलोचकों में से गोल्डस्टुकर ने तीन-चार सूत्रों को ही अपाणिनीय माना है[6]। कीलहार्न ने दस सूत्रों को अपाणिनीय स्वीकार किया है[7] वेल्वल्कर[8] तथा पल्सुले[9] ने केवल पांच सूत्रों का प्रक्षेप स्वीकार किया है। इस

---

[1] विस्तारार्थ द्र०, काध्ययन, पृ० ५९-९४।

[2] पा० ४, १, १६६-१६७ ; ४, ३, १३२ ; ५, १, ३६ ; ६, १, ६२ ; ६, १, १०० ; ६, १, १३६ ; १५०, ६, ३, ४०।

[3] पा० १, ३, २६; ३, ३, १२१; ४, १, १५; ४, २, २१; ५, ४, ५० ; ६, ३, ८३ ; ८, १, ६७।

[4] पदमञ्जरी ४, १, १६७ ; ४, ३, १३२-१३३ ; ५, १, ३६ ; ६, १, १०० ; ६, ३, ६ ; ६, १, १५० ; ६, ४, ३०।

[5] पदमञ्जरी—३, १, ९५ ; ३, १, १२१ ; ४, २, २ ; ४, ४, १७ ; ५, २, १०१ ; ६, ३, ८३ ; ८, ३, ११८।

[6] *Pāṇini*, p. 31।

[7] *I.A*, XVI, p. 179।

[8] सिस्टम्स, पृ० २९।

[9] *ABORI* XXX, 135-144।

प्रकार इस विषय में पर्याप्त वैमत्य पाया जाता है, जो प्राचीनकाल से चला आ रहा है[1]।

भाष्यकार ने लगभग चौंतीस सूत्रों का योग-विभाग किया है। काशिका में इनमें से केवल सात सूत्रों की पृथक्-पृथक् सूत्रों के रूप में व्याख्या की गयी है। कीलहार्न के विचार में का० पा० में नौ सूत्रों का योग-विभाग किया गया है[2]। काशिका में कुछ ऐसे सूत्रों का भी योगविभाग किया गया है, जो या तो भाष्य में अनुपलब्ध हैं[3], या वहां उनका योगविभाग नहीं किया गया[4]। किन्तु प्रतीत होता है कि स्वयं काशिकाकार ने योग-विभाग नहीं किया, अपितु उसे परम्परा से ऐसा ही पाठ प्राप्त हुआ था[5]। न ही इन्होंने परम्परा-प्राप्त सूत्रपाठ में कोई परिवर्तन ही किया है। कुछ लोगों ने यह आरोप लगाया है कि काशिकाकार ने चान्द्रव्याकरण के प्रभाव में आकर पाणिनीय सूत्रपाठ में परिवर्तन किये हैं। इनमें प्रमुख डा० कीलहार्न[6], प्रो० बेल्वल्कर[7], डा० पवाटे[8] तथा डा० पॉल थीमे हैं[9]। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल[10], डा० कपिलदेव[11] की भी यही सम्मति है।

किन्तु डा० रघुवीर विद्यालंकार ने सप्रमाण दर्शाया है कि सूत्रपाठ में जो भेद परिलक्षित होते हैं या वार्तिक सूत्ररूप में पाये जाते हैं, वे सभी चान्द्र-व्याकरण से प्रभावित होकर नहीं किये गये, अपितु ये परिवर्तन-परिवर्धन काशिकाकार को वैयाकरण-परम्परा से ही प्राप्त हुए थे[12] तथा यह विचार व्यक्त किया है कि ये

---

[1] द्र० काध्ययन, पृ० ९५-१०२।

[2] *I. A.* Vol. XVI, p. 179-181।

[3] का० पा० ५, ४, ७५।

[4] का० पा० ५, १, १२५।

[5] काध्ययन १०६-१०७।

[6] *The Candra Vyākaraṇa and the Kāśikā Vṛtti, I. A.* Vol. XV, p. 183-185।

[7] सिस्टम्स० पृ० ३७-३८।

[8] *Structure of Aṣṭādhyāyī, Intro.* p. 10-11।

[9] *Pāṇini and Pāṇinīyas, JAOS*, Vol. 76, Jan-March 1956, p. 18।

[10] जैनेन्द्र व्याकरण की भूमिका, पृ० ८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५६।

[11] संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि, पृ० ५५ तथा ९९, प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, सं० २०१८।

[12] काध्ययन, पृ० ११०-११६।

परिवर्तन प्राचीन वार्तिककारों ने किये प्रतीत होते हैं तथा कुछ-एक सूत्रों में स्वयं भाष्यकार ने भी परिष्कार किया है। युधिष्ठिर मीमांसक ने इस पाठभेद का एक समाधान यह भी प्रस्तुत किया है कि स्वयं पाणिनि ने ही अपने सूत्रों का अनेक बार प्रवचन किया था, जिसके आधार पर उनके शिष्यों में पूर्वपाणिनीय तथा उत्तरपाणिनीय का भेद हो गया। इन पाठों में से ही प्राच्यपाठ पर काशिकावृत्ति आधृत है[1]। काशिका में पठित वार्तिकों की समस्या अत्यन्त जटिल है। यद्यपि वार्तिकों के अनेक सङ्कलन प्रकाशित भी हुए हैं तथा उन पर अनेक दृष्टियों से शोध-प्रबन्ध भी लिखे जा चुके हैं, तो भी वे सभी कार्य महाभाष्य के वार्तिकों से सम्बद्ध हैं। काशिका में पठित वार्तिकों पर विचार नहीं किया गया[2]।

इस विषय में कठिनाई यह है कि कात्यायनकृत वार्तिकों को जानने का भाष्य के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है। अन्य प्राचीन आचार्यों के भी अनेक वार्तिक भाष्य में बिना नामनिर्देश के पढ़े गये हैं। भाष्यकार ने स्वयं भी कतिपय वार्तिकों की रचना की है। काशिका में भाष्यकार के अनेक वचनों को भी भाष्यकार का नाम लिये बिना वार्तिकरूप में पढ़ दिया गया है। कात्यायन के वार्तिकों में कहीं-कहीं भाष्यकार ने संशोधन कर दिया है। काशिकाकार ने प्रायः ऐसे संशोधित वार्तिकों को ही स्वीकार कर लिया है, मूल कात्यायनीय वार्तिकों को नहीं। अतः कात्यायन के वार्तिकों तथा पतञ्जलि के वचनों में भेद करना कठिन हो गया है।

इसके अतिरिक्त कुछ सूत्रों पर कात्यायन का कोई वार्तिक नहीं है, किन्तु उसी शैली में भाष्यकार के वचन उपलब्ध होते हैं। इनमें परस्पर भेद करना कठिन है। यद्यपि प्रो० कीलहार्न ने भाष्यवचनों को वार्तिकों से पृथक् करने का प्रयास किया है, तो भी यह समस्या जटिल बनी हुई है।

भाष्य तथा काशिका के वार्तिकों में भेद भी उपलब्ध होता है। इस भेद का कारण यह है कि भाष्य में **भारद्वाजीयाः** तथा **सौनागाः** प्रभृति अनेक वार्तिकों को पढ़ा गया है। वार्तिकों के विभिन्न अध्येताओं के कारण काशिका से पूर्व ही इनमें अनेक पाठभेद उत्पन्न हो चुके थे। अतः पाठभेदों का काशिका में पठित वार्तिकों पर प्रभाव पड़ना सर्वथा स्वाभाविक था। काशिका के विभिन्न संस्करणों के विभिन्न सम्पादकों के द्वारा भी पाठभेद कर दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त स्वयं काशिकाकार ने भी अनेक वार्तिकों में संशोधन किया है। अतः वार्तिकों की समस्या जटिल से जटिलतर होती गयी है।

---

[1] काध्ययन, पृ० ११६-११९।

[2] वही० पृ० १२४-१२९।

इतना ही नहीं, काशिकाकार ने जहां भाष्यकार द्वारा निर्दिष्ट अनेक वार्तिकों का परित्याग कर दिया है, वहां अनेक नवीन वार्तिकों का समावेश भी किया है, जिसने नवीन समस्याएं खड़ी कर दी हैं[१]।

इष्टियां—वार्तिकों के समान ही काशिकाकार ने अनेक इष्टियां भी जहाँ एक ओर महाभाष्य से ग्रहण की हैं, वहां दूसरी ओर चान्द्र-व्याकरण के आधार पर कुछ इष्टियों का निर्माण किया है और कुछ इष्टियां स्वयं काशिकाकार की भी हैं। कुछ इष्टियां तो कात्यायन से भी पूर्वकालिक हैं, कुछ कात्यायनकृत इष्टियों का भी सङ्केत भाष्य तथा काशिका से प्राप्त होता है। काशिका में अनेक ऐसी इष्टियां पठित हैं, जिनका मूल भाष्य में उपलब्ध नहीं होता, किन्तु जिनको उनके महत्त्व के कारण उत्तरवर्ती वैयाकरण स्वीकार करते हैं[२]।

काशिका पर अन्य व्याकरणों का प्रभाव

स्वयं काशिकाकार के अनुसार इन्होंने वृत्ति (चूर्णि या कुणि वृत्ति) भाष्य, **धातुपारायण** तथा **नामपारायण** नामक ग्रन्थों की सहायता से अपने ग्रन्थ की रचना की है, डा० लीबिख़ को पूर्णचन्द्रकृत धातुओं की व्याख्यारूप **धातुपारायण** नामक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ था[३]। **नामपारायण** गणपाठ के शब्दों की व्याख्या का ग्रन्थ था, जिसकी ओर न्यासकार[४] तथा पदमञ्जरीकार[५] ने सङ्केत किया है। पुरुषोत्तमदेव[६], सायण[७] तथा सर्वानन्द[८] ने पारायणिकों के मतों का उल्लेख किया है। इनमें कुछ अपाणिनीय रचनाएं भी थीं।

काशिका में कई सूत्रों की व्याख्या पर कातन्त्र-व्याकरण का प्रभाव लक्षित होता है[९]।

---

[१] वार्तिकों के प्रश्न पर द्र० काध्ययन, पृ० १२४-१७२।

[२] वही०, पृ० १७२-२१०।

[३] *I. A.*, April, 1916, p. 103.

[४] न्यास, भाग १, पृ० २।

[५] पदमञ्जरी, भाग १, पृ० ४।

[६] परि० वृ० पृ० ६१।

[७] धा० वृ० पृ० १७३; ३४६; ३६७ (प्राच्यभारती)।

[८] अमरटीकासर्वस्व, भाग १, पृ० ४, में पूर्णचन्द्र का उल्लेख है।

[९] काध्ययन, पृ० २४५-२४७।

डा० कीलहार्न[1] तथा बेल्वल्कर[2] प्रभृति आलोचकों ने न केवल चान्द्र-व्याकरण का काशिका पर प्रभाव ही स्वीकार किया है, अपितु चन्द्रगोमी द्वारा पाणिनीय व्याकरण में किये समस्त संशोधनों को काशिका द्वारा स्वीकार किये जाने की बात भी कही है। यहां तक कि डा० रघुवीर विद्यालंकार ने चान्द्रवृत्ति का भी काशिका पर प्रभाव सिद्ध करने का प्रयास किया है[3]। अनेक सूत्रों की व्याख्या में काशिकाकार ने भाष्य के विरुद्ध जाकर भी चान्द्रव्याकरण की व्याख्या को स्वीकार किया है। चन्द्रगोमी द्वारा सूत्रों के प्रतिपाद्य तथ्य को काशिकाकार ने संक्षेप में अपनी भाषा में काशिका में समाविष्ट करके उसे अधिक उपयोगी बनाने का यत्न किया है[4]। काशिका के अनेक वार्तिकों तथा इष्टियों पर भी चान्द्र-व्याकरण का प्रभाव देखा जा सकता है। चान्द्र के आधार पर काशिका में कात्यायन के वार्तिकों में नवीन शब्द जोड़ कर उन शब्दों की सिद्धि करने की चेष्टा की गयी है, जो वार्तिकों से सिद्ध नहीं हो सकते थे। इसी प्रभाव के अन्तर्गत काशिकाकार ने वार्तिकों तथा इष्टियों का निर्माण भी किया है[5] तथा कुछ श्लोक-वार्तिकों एवं गणपाठों को भी चान्द्रव्याकरण से ग्रहण कर लिया है[6]।

सतत वर्धमान तथा परिवर्तनशील संस्कृत-भाषा में नवीन शब्दों की सिद्धि का प्रयास पाणिनि से भी पूर्वभावी वैयाकरणों ने आरम्भ कर दिया था। पाणिनि ने इस प्रयत्न को पूर्णता प्रदान की। तदनन्तर कात्यायन ने अपने वार्तिकों द्वारा इसमें नवीन शब्दों की सिद्धि का नवीन मार्ग खोल कर इस व्याकरण को समयानुरूप नवीनता प्रदान की। पतञ्जलि ने इसकी व्याख्या ही नहीं की, अपितु जिन प्रयोगों की साधुता पाणिनि तथा कात्यायन द्वारा सिद्ध नहीं हो रही थी उनका भी अनुशासनात्मक पद्धति से भाष्य में समावेश कर दिया और इसी उद्देश्य से कात्यायन के वार्तिकों में अनेक संशोधन प्रस्तुत किये तथा कुछ सूत्रों पर वार्तिक उपलब्ध न होने पर सूत्रों की शब्द-रचना में उचित परिवर्तनों-परिवर्धनों द्वारा नवीन शब्दों की सिद्धि का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

इसी परम्परा के अन्तर्गत काशिकाकार ने भी उसमें संशोधन, परिवर्तन तथा परिवर्धन करने का प्रयास किया है,[7] किन्तु इन्होंने न तो अष्टाध्यायी पर

---

[1] *I. A.* Vol. XV, p. 183-185.

[2] सिस्टम्स०, पृ० ३७; ५८।

[3] काध्ययन, पृ० २५०-२५२।

[4] वही, पृ० २६०।

[5] वही, पृ० २६९।

[6] वही, पृ० २६९-२७५।

[7] वा० श० अग्रवाल, जैनेन्द्र व्याकरण, भूमिका, पृ० ७।

वार्तिकों की रचना की और न ही नवीन व्याकरण रचने की चेष्टा की, अपितु पाणिनीय अनुशासन के अन्तर्गत रहकर ही कात्यायन के वार्तिकों को अस्वीकार करके पतञ्जलि द्वारा संशोधित वार्तिकों को ही स्वीकार किया है। इस शब्द-सिद्धि तथा व्याकरण को आधुनिक बनाने के उद्देय से ही इन्होंने पाणिनीयेतर कातन्त्र तथा चान्द्र व्याकरण का भी आश्रय लिया है। इतना ही नहीं, अपितु अपनी निजी स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति का भी उपयोग किया है। इसके लिए अनेकों वार्तिकों तथा इष्टियों का निर्माण भी किया है, एवं सूत्रार्थ करते समय अनेक नवीन तथ्यों का उद्घाटन भी किया है।

गणपाठ के विषय में काशिका का विशेष योगदान रहा है तथा परम्परा से प्राप्त भ्रष्ट गणपाठ का यत्नपूर्वक संशोधन किया है और इस प्रकार अन्य गणपाठों की अपेक्षा शुद्ध गणपाठ प्रस्तुत किया है। **काशिकाकार** ने पूर्ववर्ती वृत्तियों, भाष्य, **धातुपारायण, नामपारायण** आदि ग्रन्थों का सार अपनी वृत्ति में समाविष्ट कर दिया है। **भाषावृत्ति** प्रभृति अन्य वृत्तियों में इस प्रकार के सारसंग्रह का प्रयास नहीं किया गया, केवल उदाहरण देते हुए सामान्य व्याख्या ही की गयी है।

इसके अतिरिक्त इस वृत्ति में प्राचीन आचार्यों के अनेक विषयों पर मतमतान्तरों का प्रतिपादन भी किया गया है। इस प्रयत्न में काशिकाकार ने लगभग १२५ स्थानों पर 'केचित्', 'इतरे' प्रभृति शब्दों द्वारा प्राचीन आचार्यों के मत व्यक्त किये हैं, जिनमें से कुछ तो पाणिनि से भी पूर्वभावी हैं। अपने उदाहरणों तथा प्रत्युदाहरणों में इन्होंने तात्कालिकी सामाजिकी परिस्थिति पर भी विशेष प्रकाश डाला है तथा ऐसी नवीन जानकारी प्रदान की है, जो अन्य किसी भी स्रोत से प्राप्त नहीं हो सकती[1]। अपनी इन विशेषताओं के कारण ही काशिका ने अपने से प्राचीन-अर्वाचीन सभी वृत्तियों को सदा के लिए पराभूत कर दिया।

जिस प्रकार काशिकाकार ने पूर्ववर्ती वैयाकरणों का प्रभाव स्वीकार किया है, उसी प्रकार इन्होंने अपने उत्तरवर्ती वैयाकरणों को प्रभावित भी किया है। जिन तथ्यों को काशिकाकार ने चन्द्रगोमी प्रभृति प्राचीन वैयाकरणों से ग्रहण किया हैं, उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने उनमें से अधिकांश को आत्मसात् कर लिया है। इनके अतिरिक्त काशिकाकार ने अपने स्वतन्त्र चिन्तन से पाणिनीय व्याकरण को अनेक ऐसे नवीन शब्दों की सिद्धि के साधन उपलब्ध कराये हैं, जिन से पूर्ववर्ती वैयाकरण अपरिचित थे।

---

[1] सिस्टम्स०, पृ० ३७।

काशिकाकार ने अनेक ऐसी समस्याओं के भी समाधान प्रस्तुत किये हैं, जिनके विषय में वार्तिककार तथा भाष्यकार सर्वथा मौन हैं। अनेक नवीन शब्दों की सिद्धि के लिए नवीन वार्तिकों तथा इष्टियों की परिकल्पना काशिकाकार की विशिष्ट मौलिक देन है[1]।

काशिका के अभाव में पाणिनि का व्याकरण अनेक दिशाओं में अस्पष्ट तथा अपूर्ण रह जाता, क्योंकि भाष्य में भी सभी सूत्रों को स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया गया। स्वल्प परिवर्तनों के विद्यमान रहते भी पाणिनीय सूत्रों तथा उनकी व्याख्या को अक्षुण्ण रखने का श्रेय काशिका को है।

उदाहरणों के विषय में भी काशिका का विशिष्ट महत्त्व है। महाभाष्य में अष्टाध्यायी के सूत्रों के उदाहरण दिये गये हैं, किन्तु वहां न तो सभी सूत्रों की व्याख्या ही की गयी है और न ही सभी व्याख्यात सूत्रों पर सर्वत्र उदाहरण ही दिये गये हैं। अतः काशिका ही ऐसी रचना है, जिसमें समस्त सूत्रों के उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

काशिका में कुछ उदाहरण भाष्य की अपेक्षा परिवर्तित-परिवर्धित रूप में भी दिये गये हैं तथा कई अवस्थाओं में अधिक उपयोगी भी हैं, यथा भाष्य ३, २, १०८ पर दिये गये उदाहरण **उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्** से केवल इतना ही प्रकट होता है कि कौत्स पाणिनि के शिष्य थे, किन्तु काशिका के उदाहरण **उपशुश्रुवान् कौत्सः पाणिनिम्** से यह भी स्पष्ट होता है कि कौत्स ने पाणिनि से अध्ययन किया था।

काशिका ने परम्परा से हट कर समकालिक अर्थों को प्रकट करने वाले उदाहरण दिये हैं या पुराने मुहावरों पर नवीन अर्थों का आरोप किया है। यथा—पा० २, १, २६ पर भाष्य में **खट्वारुढ** शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण ब्रह्मचर्यावधि की समाप्ति से पूर्व ही गृहस्थाश्रम स्वीकार करने वाले छात्र के लिए किया गया है, जबकि काशिका में यह नवीन अर्थ में किसी भी 'कुपथगामी' व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसे उत्तरवर्ती वैयाकरणों, **न्यास**, **पदमञ्जरी**, **'प्रसाद'** व्याख्याकार विट्ठल[2] तथा **'हृदयहारिणी'**[3] ने इन्हीं अर्थों को स्वीकार किया है।

इसी प्रकार काशिकाकार नेवीन तथा उपयुक्त उदाहरणों द्वारा न केवल शब्दों के परिवर्तित अर्थों पर ही प्रकाश डाला है, अपितु समकालिक समाज,

---

[1] काध्ययन०, पृ० २९३-३१५।

[2] प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या, प्रसाद, पृ० ४९२।

[3] २, ३, ३७।

धर्म, संस्थाओं, राज्यप्रणाली, नगरों, ग्रामों आदि के विषय में भी सूचित किया है[1]।

व्याख्याएं—(१) जिनेन्द्रबुद्धि नामक बौद्ध-वैयाकरण ने काशिका पर **न्यास** नामक व्याख्या लिखी है। इसका रचनाकाल ६००-६५० ई० में माना जाता है[2]। **काशिका विवरण पञ्जिका** (=न्यास) की भूमिका में इसे ७५०-७५५ ई० में माना है। कीथ ने इसे ७०० ई० में रखा है।

यह काशिका की अत्यन्त प्रामाणिक तथा विस्तृत व्याख्या **है**, जो भर्तृहरिकृत **भाष्यदीपका** के आधार पर रची गयी है, यद्यपि टीकाकार ने इसका उल्लेख कहीं भी नहीं किया। इसमें केवल अनिवार्य तथा मूल को आत्मसात् करने के सहायक प्रसंगों की ही व्याख्या की गयी है, किन्तु कोई भी आवश्यक सूत्र या सूत्रविषयक उदाहरण इनकी पैनी दृष्टि से छूट नहीं पाया है। इसमें पाण्डित्यप्रदर्शन, या साम्प्रदायिकताजन्य सङ्कीर्णता की गन्ध भी नहीं है। **न्यास** पर मैत्रेयरक्षित ने **तन्त्रप्रदीप** नाम्नी व्याख्या लिखी है[3]।

काशिका पर एक टीका **महान्यास** की रचना भी की गयी थी।

(२) हरदत्तमिश्र-विरचित '**पदमञ्जरी**' काशिका की द्वितीय प्रामाणिक व्याख्या है, जिसने **न्यास** को आधार माना है, किन्तु स्थान-स्थान पर अपनी व्यापक विद्वत्ता तथा सर्वग्राहिणी बुद्धि के चमत्कारिक वैभव का प्रदर्शन भी किया है, जिससे स्पष्ट आभास मिलता है कि इन्होंने महाभाष्य का तलस्पर्शी अध्ययन तथा व्याकरण के गूढ़तम रहस्यों के उद्घाटन की शक्ति का उपार्जन किया है। इन्होंने महाभाष्य पर भी एक व्याख्या '**महापदमञ्जरी**' नाम से लिखी थी, जिसकी सूचना स्वयं इन्होंने '**पदमञ्जरी**' (का० पा० १, १, २०) में दी है।

यह द्रविड भाषाभाषी दाक्षिणात्य पण्डित थे, जिनका काल १०५० के आस-पास माना जाता है। इन्होंने आश्व० गृ०, गौ० ध०, आप० ध०, आप० गृ० आदि सूत्रों पर भी व्याख्याएं लिखी हैं। रंगनाथ यज्वा ने इस पर **मञ्जरीमरकन्द** व्याख्या लिखी है।

---

[1] काध्ययन, पृ० ३१६-३४५।

[2] काध्ययन, पृ० ४५-४७।

[3] अन्य व्याख्याओं के लिये द्र० मीमांसक, वही, पृ० ३६६ से।

संस्करण :— १. बालशास्त्री, सम्पा०, चौखम्बा, वाराणसी, सं० १८७६ ।
२. पं० कृपाराम शर्मा, सम्पा०, तिमिरनाशक प्रेस, वाराणसी, सन् १९९० ।
३. अनन्तशास्त्री फड़के, सम्पा०, चौखम्बा, वाराणसी ।
४. शोभितमिश्र, सम्पा०, वाराणसी, सन् १९५३ ।
५. स्वामी द्वारिकाप्रसाद, सम्पा०, न्यास-पदमञ्जरी-सहित, वाराणसी, १९६५ ।
६. पं० नारायण मिश्र, सम्पा०, चौखम्बा, वाराणसी, १९६९ ।
७. डा० आर्येन्द्र शर्मा, उस्मानिया वि०वि०, हैदराबाद, १९७० ।

मैत्रेयरक्षित

मैत्रेयरक्षित (११००) नामक बौद्ध-वैयाकरण ने काशिका की व्याख्या **'न्यास'** पर एक विस्तृत व्याख्या **'तन्त्रप्रदीप'**, **धातुवृत्ति** तथा **'दुर्घटवृत्ति'** की रचना की है। सीरदेव ने सङ्केत किया है कि इन्होंने म० भाष्य पर कोई टीका रची थी। **'तन्त्रप्रदीप'** में इन्होंने व्याकरण की अत्यन्त जटिल समस्याओं को वैदुष्यपूर्ण ढँग से सुलझाने का प्रयास किया है। इसी कारण उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने इन्हें आदरपूर्वक उद्धृत किया है। इस पर तीन व्याख्याएं भी लिखी जा चुकी हैं।

धातुप्रदीप में इन्होंने पाणिनीय **धातुपाठ** की व्याख्या की है और १९३८ धातुओं पर विचार किया है। इनके अपने लेख से प्रतीत होता है कि इन्होंने **धातुप्रदीप** की रचना **तन्त्रप्रदीप** की रचना के पश्चात् की थी[1]। वह **धातुपारायण**, **नामपारायण**, पाणिनीय, जैन (क्षपणक), कातन्त्र तथा चान्द्र-व्याकरणों में पारंगत होने का स्वयं दावा करते हैं[2] तथा उन्होंने **धातुप्रदीप**-रूपी रत्न को महाभाष्यरूपी समुद्र से निकाल कर विद्वानों के हितार्थ प्रस्तुत किया है। **धातुप्रदीप** का उल्लेख सायण ने स्वरचित **धातुवृत्ति** में स्थान-स्थान पर किया है। शरणदेव ने भी अपनी **दुर्घटवृत्ति** में मैत्रेयरक्षित के **धातुप्रदीप** को अनेकबार उद्धृत किया है[3]।

---

[1] धा० प्र०, पृ० १।

[2] वही, पृ० १५५-५६ (वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी सं०)।

[3] द्र० १, १, ५ ; १, ३, ७८ ; २, ४, ५२ ; ६, ४, ९२ ; ७, २, ३६ (टी० गणपति शास्त्री सं०)।

उज्ज्वलदत्त के साक्ष्य के अनुसार मैत्रेयरक्षित ने एक **दुर्घटवृत्ति** का भी निर्माण किया था[1]। सम्भवतः यह **दुर्घटवृत्ति** पुरुषोत्तमदेव तथा शरणदेव की **दुर्घटवृत्तियों** की उत्प्रेरक रही है। मैत्रेयरक्षित की विपुल विद्वत्ता की अपने समय में इतनी धाक थी कि शरणदेव ने इन्हें ७७ बार अपनी **दुर्घटवृत्ति** में उद्धृत किया है और सीरदेव ने स्वरचित **परिभाषावृत्ति** में ७४ बार[2]। **तन्त्रप्रदीप** अप्रकाशित है।

शरणदेव

दुर्घटवृत्ति

शरणदेव ने अष्टाध्यायी के विशेष सूत्रों पर संस्कृत के दुरूह पदों की सिद्धि के लिए एक 'दुर्घट' नाम की वृत्ति लिखी है। इन्होंने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में इस रचना का काल स्वयं १०९५ शक (सन् ११७३) लिखा है।

इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें शतशः दुःसाध्य प्राचीन प्रयोगों की सिद्धि के निर्देश दिये गये हैं। मैत्रेयरक्षित तथा पुरुषोत्तमदेव ने भी इसी प्रकार की रचनाएं की थीं, किन्तु सम्प्रति केवल यही ग्रन्थ उपलब्ध है, जो इस प्रकार की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास करता है।

यद्यपि '**शब्दकौस्तुभ**' प्रभृति अनेक अर्वाचीन ग्रन्थों में इसका खण्डन किया गया है, तो भी कुछ-एक दुःसाध्य प्रयोगों की सिद्धि के हेतु जिस शैली को इस ग्रन्थ में अपनाया गया है, अर्वाचीन ग्रन्थकार भी प्रायः उसी का अनुसरण करते देखे जाते हैं।

इसकी एक और विशेषता यह है कि इसमें अनेकों प्राचीन ग्रन्थों के वचन उद्धृत किये गये हैं, जिनमें से कई एक ऐसे भी हैं, जिनका उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

'**दुर्घटवृत्ति**' में ४९४ सूत्रों के विषय में प्रश्न उठाकर उनका समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार यहां १०४५ शब्दों की सिद्धि की समस्याओं का समाधान यथाकथञ्चित् करने का प्रयास किया गया है[3]। इस सिद्धिक्रम में अनेक अवस्थाओं में शरणदेव को द्रविड़प्राणायाम करना पड़ा है और कुछ अवस्थाओं में तो जब व्याकरण-विषयक सभी उपाय असफल हो जाते हैं, तो लाचार होकर

---

[1] उणादिसूत्रवृत्ति, १, ५७ ; ३, १६० ; ४, १—इति दुर्घटे रक्षितः।

[2] कालीचरण, बं० कं० सं० ग्रा० भाग १, पृ० २०९।

[3] वही, पृ० २२४।

उन्हें 'प्रामादिक' प्रयोग घोषित कर दिया गया है। इन्होंने अपनी रचना में ५४ लेखकों तथा ७३ ग्रन्थों का निर्देश किया है, जिनमें से अनेकों के नामों से हम आज भी अपरिचित हैं। इन्होंने जिनेन्द्रबुद्धि तथा मैत्रेयरक्षित को अनेक बार उद्धृत किया है एवं ये काशिका को अपनी रचना का आधार बना कर चले हैं। बौद्ध होने के कारण इन्होंने अष्टाध्यायी के वैदिक-प्रक्रिया से सम्बन्धित षष्ठ अध्याय के द्वितीय पाद को अछूता छोड़ दिया है। इस प्रकार इन्होंने न तो इस कृति में अष्टाध्यायी पर क्रम से व्याख्या ही लिखी है, न ही महाभाष्य का अनुसरण ही किया है।

विमलमति

भागवृत्ति

काशिका के अनन्तर अष्टाध्यायी पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वृत्ति 'भागवृत्ति' है। यह इस समय अनुपलभ्य है, किन्तु इसके १९८ उद्धरण **पदमञ्जरी, भाषावृत्ति, दुर्घटवृत्ति** तथा **अमरटीकासर्वस्व** प्रभृति अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इसकी रचना भर्तृहरि या विमलमति नामक किसी बंगीय वैयाकरण ने की थी[1]। यह भर्तृहरि निश्चय ही वाक्यपदीयकार से भिन्न है तथा वलभी के राजा श्रीधरसेन का कृपापात्र था[2], जिसका राज्यकाल ६४५ से ६४८ तक प्रमाणित है। **न्यास** के सम्पादक ने इसे काशिका से पूर्वभावी माना है, क्योंकि इसमें स्थान-स्थान पर काशिका का खण्डन किया गया है, अतः यह काशिका के अनन्तर ही हो सकता है[3]।

'**काशिका**' तथा '**भागवृत्ति**' में परस्पर बहुत अन्तर है। जहां काशिकाकार महाभाष्य के विरुद्ध अन्य प्राचीन वृत्तियों के मतों का भी अनुसरण करता है, वहां **भागवृत्तिकार** महाभाष्य का अनन्य अनुयायी है। इसी लिए यह वैयाकरण-सम्प्रदाय में अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग भी कर डालता है।

इस ग्रन्थ का महत्त्व तथा लोकप्रियता इसी से सिद्ध होती है कि अब तक इसके ३७ ग्रन्थों में उद्धृत उद्धरण प्रमाणित हो चुके हैं, जिनमें सर्वप्राचीन कैयटकृत **महाभाष्यप्रदीप**' है[4]।

---

[1] एस० पी० भट्टाचार्य ने इस के रचयिता का नाम 'इन्दु' कहा है (ए० आइ० ओ० सी०, १९४३-४४, बनारस)।

[2] भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधर चक्रवर्ती, भाषावृत्त्यर्थविति, पृ० ८, १, ६७।

[3] द्र० मीमांसक, वही, पृ० ४७१, टि० १.।

[4] मीमांसक, वही, पृ० ४७२-७३।

इस पर किसी श्रीधर की व्याख्या का उल्लेख कृष्णलीलाशुक मुनि ने **'दैवम्'** की व्याख्या **'पुरुषकार'** में किया है[1]। इससे विदित होता है कि श्रीधर १३वीं शती से पूर्वभावी विद्वान् थे।

पुरुषोत्तमदेव

भाषावृत्ति

पुरुषोत्तमदेव द्वारा अष्टाध्यायी पर **'भाषावृत्ति'** नाम्नी एक लघुवृत्ति लिखी गयी है, जिस में केवल लौकिक शब्दों की सिद्धि से सम्बद्ध सूत्रों का ही व्याख्यान किया गया है। इसी लिए इसका नाम **'भाषावृत्ति'** रखा गया है। उन्होंने यह रचना बंगदेश के प्रसिद्ध राजा लक्ष्मणसेन के आदेशानुसार रची, ऐसी सूचना **'भाषावृत्ति'** के व्याख्याकार सृष्टिधर ने दी है[2]। लक्ष्मणसेन सन् ११७९ के आसपास सिंहासनारूढ हुए। इसके अतिरिक्त इन्होंने स्वरचित **'ज्ञापकसमुच्चय'** में मैत्रेयरक्षित को उद्धृत किया है, जिनका काल १०८८ ई० तथा ११२० ई० के मध्य में है, तथा शरणदेव (११७३ ई०—) ने इन्हें उद्धृत किया है। अतः इनका रचनाकाल बारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में प्रतीत होता है। इस विषय में ज्ञातव्य है कि लक्ष्मणसेन के राज्यरोहण का काल विवादास्पद है।

सर्वानन्द ने स्वरचित **'अमरटीकासर्वस्व'** में सूचित किया है कि पुरुषोत्तमदेव ने एक **'दुर्घटवृत्ति'** भी लिखी थी। दूसरे, शरणदेव ने स्वरचित **'दुर्घटवृत्ति'** में पुरुषोत्तमदेव के नाम से ऐसे अनेक वचन उद्धृत किये हैं, जो भाषावृत्ति में उपलब्ध नहीं होते, अतः प्रतीत होता है कि इन वचनों का स्रोत पुरुषोत्तमदेव-कृत **'दुर्घटवृत्ति'** ही है। पुरुषोत्तमदेव ने महाभाष्य पर एक लघुवृत्ति **'प्राणपणा'**[3] की भी रचना की थी, जो सम्भवतः मैत्रेयरक्षित द्वारा रचित इसी प्रकार की वृत्ति पर आधृत थी[4], जिस के कुछ उद्धरण सीरदेव ने स्वरचित **'परिभाषावृत्ति'** में दिये हैं। **'भाषावृत्ति'** की व्याख्या **'भाषावृत्त्यर्थविवृति'** के कर्ता सृष्टिधर ने अपनी व्याख्या में अनेक ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है। इस विवृति में अनेक अशुद्धियां पायी जाती हैं[5]। इसकी रचना १४वीं शती में हुई प्रतीत होती है।

---

१. 'दैवम्' पृ० १२, १४, ६०, मीमांसक सं०।

२. द्र० भाषावृत्त्यर्थविवृति के आरम्भ में।

३. डी० सी० भट्टाचार्य द्वारा सम्पा० 'परिभाषावृत्तिः',—'ज्ञापकसमुच्चयः',—'कारकचक्रम्' पृ० १२० से।

४. द्र० मीमांसक, वही, पृ० ३९८-९९ तथा बं० कं० सं० ग्रा० १, पृ० २२१।

५. मीमांसक, वही, पृ० ४८२।

पुरुषोत्तमदेव ने **'परिभाषावृत्ति'** की भी रचना की है। हम जानते हैं कि परिभाषाओं पर विचार करने वालों में सर्वप्रथम वैयाकरण व्याडि प्रसिद्ध हैं, किन्तु व्याडिकृत **'परिभाषापाठ'** बहुत प्राचीनकाल में ही लुप्त हो गया था। यद्यपि व्याडि के नाम से प्रचलित **परिभाषापाठ** आज भी विद्यमान माना जाता है, तो भी यह सन्देहास्पद है कि यह वास्तव में व्याडि की कृति है।

तदनन्तर सर्वप्रसिद्ध **परिभाषावृत्ति** पुरुषोत्तमदेव की ही है। यह सरल किन्तु सारगर्भित कृति है। यद्यपि हरदत्त ने स्वरचित **'पदमञ्जरी'** में स्वरचित **परिभाषाप्रकरण** नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है[1], तो भी न तो यह रचना अन्यत्र कहीं उल्लिखित ही है, न ही उपलभ्य ही है, अतः इसके विषय में कुछ भी कहना असम्भव है।

पुरुषोत्तमदेवकृत **परिभाषावृत्ति** को **ललितावृत्ति** या **लघुवृत्ति** भी कहते हैं। यह वृत्ति व्याडिकृत **'परिभाषापाठ'** पर होने के कारण अपना विशेष महत्त्व रखती है। अपनी रचना **'ज्ञापकसमुच्चय'** के आरम्भ में इस वृत्ति को 'वृद्धसम्मता' कहा है, किन्तु यह अनतिविस्तृत तथा प्रारम्भिक रचना होने के कारण सीरदेव तथा नागेश की प्रौढ कृतियों के समक्ष नगण्य हो जाने के कारण अब अपना महत्त्व खो बैठी है।

जैसा कि ऊपर कहा गया हैं, इसका परिभाषाक्रम व्याडीय **परिभाषापाठ** के अनुसार होने के कारण वर्तमान परि० पाठ से भिन्न है। इसमें सौ से कुछ अधिक परिभाषाओं की संक्षिप्त व्याख्या की गयी है।

पुरुषोत्तमदेव का **ज्ञापकसमुच्चय** अपने प्रकार की अद्वितीय रचना है, जिसमें अष्टाध्यायी में अनर्थक प्रतीत होने वाले शब्दों या अक्षरों को किसी न किसी कार्य का ज्ञापक मानकर संगृहीत कर लिया गया है[2]।

इस संग्रह में लेखक ने तत्तत्सूत्रों से ज्ञापित होने वाले विविध नियमों का विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया है। अधिकांश परिभाषाएं इसी प्रकार के ऊहापोह की परिणाम-जन्य हैं।

लेखक ने इस **'ज्ञापकसमुच्चय'** में पाणिनीय सूत्रों में निहित प्रायः ४०० ज्ञापकों में से लगभग २०० ज्ञाप्यों को खोज निकाला है। इनमें से कुछेक ज्ञापकों की शब्दावलि परिभाषाओं से मिलती है।

---

१. द्र० पा० ६, १, ३७—**न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्** पर पदमञ्जरी।

२. तु० **तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं, किं पुनरियता सूत्रेण** (म० भा० १, १, १); इसीलिये कहा गया है, **व्यर्थं सद् ज्ञापयति**।

यह **ज्ञापकसमुच्चय** वस्तुतः पुरुषोत्तमदेव की निजी उद्भावना का फल है। यह उद्भावना सर्वथा नवीन एवं अद्वितीय मौलिक सूझ-बूझ का परिणाम है। तो भी न तो यह प्रसिद्ध ही हो सका, न लोकप्रिय ही। शरणदेव ने इन ग्रन्थों का पांच बार निर्देश किया है।

पुरुषोत्तमदेव की एक अन्य रचना **कारकचक्र** भी है—जो बालकों को कारकों तथा विभक्तियों के प्रयोगों का बोध कराने के उद्देश्य से लिखी गयी है।

अप्पयदीक्षित

सूत्र प्रकाश

संस्कृत-साहित्य, अलंकार-शास्त्र, वेदान्त, मीमांसा प्रभृति अनेक विषयों के उद्भट विद्वान् अप्पयदीक्षित की चतुरस्र प्रतिभा ने पाणिनीय सूत्रों को भी अछूता नहीं छोड़ा। अष्टाध्यायी पर इन्होंने **सूत्रप्रकाश** नाम्नी व्याख्या लिखी है। इनके पिता का नाम रङ्गराज अध्वरी तथा आचार्य दीक्षित था। कुछ लोग इन्हें **'नारायणाचार्य'** के नाम से स्मरण करते हैं। यह भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न हुए थे तथा अपने समय के शैवमत के प्रमुख आचार्य तथा श्रीकण्ठसिद्धान्त के प्रतिष्ठापक थे। इनके भ्राता अच्चान दीक्षित के पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित के **शिवलीलार्णव** नामक काव्य से ज्ञात होता है कि यह ७२ वर्ष की आयु तक जीवित रहे तथा विविध विषयों के १०० ग्रन्थों के निर्माता थे[१]। इनका जन्म १५५४ ई० में हुआ माना जाता है[२]।

विश्वेश्वरसूरि

व्याकरण सुधानिधि

विश्वेश्वरसूरि ने अष्टाध्यायी पर भट्टोजि के **शब्दकौस्तुभ** के आदर्श पर एक अतिविस्तृत व्याख्या **व्याकरणसुधानिधि** लिखी है। यह प्रथम तीन अध्यायों पर उपलब्ध है। शेष अध्यायों के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था तथा वे सम्भवतः पर्वतीय थे। यह ३२-३४ वर्ष की आयु में ही स्वर्ग सिधार गये थे। इनका काल १५४३-१५९३ ई० के बीच माना गया है[३]। इन्होंने **तर्ककौतूहल, अलंकारकौस्तुभ, रुक्मिणी-परिणय, आर्यासप्तशती, रसमञ्जरी-टीका** की भी रचना की है।

---

१. हि० क्ला० सं०, पृ० २२६ (शिवलीलार्णव १, ६) ; मीमांसक, व्या० शा० १, पृ० ४६१।

२. हि० क्ला० सं०, पृ० २२५, टि० ५ ; किन्तु द्र० मीमांसक, वही, पृ० ४९१-४९४ जिन्होंने इन्हें सं० १५७५-१६५० (सन् १५१८-१५९३) के बीच माना है, पृ० ४९४।

३. वही, पृ० ४९५।

अन्नम्भट्ट

मिताक्षरा

१६०० ई० के आसपास अन्नम्भट्ट ने अष्टाध्यायी पर **मिताक्षरा** नाम्नी टीका की रचना की थी, जो संक्षिप्त है, किन्तु इस पर भर्तृहरि-विरचित **दीपिका** का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता हैं। इसमें सम्पूर्ण अष्टाध्यायी की व्याख्या की गयी है। कैयट की महाभाष्य की व्याख्या **प्रदीप** की अन्नम्भट्ट-विरचित **प्रदीपोद्द्योतन** व्याख्या की चर्चा हम यथास्थान कर चुके हैं। यह तैलंग ब्राह्मण थे।

ओरम्भट्ट

दीपिका

ओरम्भट्ट ने स्वरचित **दीपिका** में वृत्ति, उदाहरण तथा पंक्तियां मुख्यत: भट्टोजि-विरचित **सिद्धान्तकौमुदी** से उद्धृत की हैं। किन्तु अनेक स्थलों पर इन्होंने वृत्ति-परम्परा का निर्वाह किया है, तथा इनका यह प्रयत्न रहा है कि भाष्योक्त तथा वृत्ति-प्रोक्त व्याख्यानों को एकत्र समेट लिया जाए। इनका काल १८५० ई० के आसपास है।

सप्तविंश अध्याय

पा० व्याकरण के प्रक्रिया ग्रन्थकार

धर्मकीर्ति

रूपावतार

पाणिनीय-व्याकरण के अनन्तर कातन्त्र आदि लघु व्याकरण-प्रकरणानुसार लिखे गये। इसकी प्रक्रियानुसार रचना से प्रकरण-प्रकरण के समझने में सरलता रहती है। अष्टाध्यायी-क्रम से अध्ययन में जब तक सम्पूर्ण सूत्रक्रम कण्ठाग्र न हो, तब तक किसी भी विषय का ज्ञान सम्भव नहीं है। इसलिये बंगादि प्राच्य प्रान्तों में आज भी पाणिनीयेतर व्याकरण-तन्त्रों का प्रचलन विद्यमान है। इसी लिए मध्ययुग में जब पाणिनीय-पद्धति का परित्याग करके लोग प्रक्रियानुसारी व्याकरणों का अध्ययन करने लगे, तब पाणिनीय-वैयाकरणों ने भी प्रक्रिया-पद्धति का आविष्कार किया[1]।

इन प्रक्रियानुसारी ग्रन्थों में सर्वप्राचीन ग्रन्थ बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति रचित **'रूपावतार'** इस समय उपलब्ध है, जिसमें पाणिनीय अष्टाध्यायी के प्रत्येक प्रकरण से उपयोगी सूत्रों का सङ्कलन किया गया है। यद्यपि चान्द्रव्याकरण, सरस्वती-कण्ठाभरण प्रभृति की रचना भी इसी प्रकार इसके पूर्व हो चुकी थी, तो भी उनमें विषयों की प्रधानता है, रूपसिद्धि की नहीं। **'रूपावतार'** में रूपसिद्धि पर बल दिया गया है। यद्यपि **'प्रक्रियाकौमुदी'** या उसकी विट्ठलकृत टीका में इसकी चर्चा नहीं की गयी, तो भी यही रचना **'प्रक्रिया कौमुदी'** की प्रेरणात्मक स्रोत कही जा सकती है। इसका रचना-काल १०९० ई० के आस-पास है[2]। यह धर्मकीर्ति न्यायबिन्दुकार से भिन्न है।

---

[1] एक दूसरी विचारधारा के अनुसार कातन्त्र-व्याकरण, ऐन्द्र-व्याकरण तथा प्रातिशाख्यों की परम्परा में विकसित हुआ और पाणिनीय-व्याकरण, शाकटायन, आपिशलि प्रभृति की परम्परा में पनपा (द्र० सत्यकाम, सं० व्या० का उद्भव और विकास, पृ० ३३५-३३७, देहली, १९७१)।

[2] मीमांसक ने इसका काल सं० १०४० लिखा है, जो ठीक नहीं (द्र० पृ० ३७९)। रङ्गाचार्य ने इन्हें दसवीं शती का माना है (रूपावतार, भूमिका)। राव बहादुर, एम० रंगाचार्य ने इसे दो खण्डों में मद्रास से प्रकाशित किया है।

रामचन्द्र

प्रक्रियाकौमुदी

सम्भवतः **'रूपावतार'** से प्रेरणा प्राप्त करके रामचन्द्र ने चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में **'प्रक्रिया-कौमुदी'** की रचना की[1]। किन्तु जहां **'रूपावतार'** में रूपसिद्धि की प्रधानता है, वहां **प्रक्रिया-कौमुदी** में प्रक्रिया का प्राधान्य है। यहां धातु और शब्द की प्रधानता न होकर सूत्र और उसकी वृत्ति का प्राधान्य है। इसमें केवल उपयोगी सूत्रों का ही समावेश किया गया है, जिनकी संख्या २४७० है[2], किन्तु सूत्रक्रम में अन्तर नहीं किया गया और सूत्र की वृत्ति, उदाहरण, प्रत्युदाहरण आदि के विषय में काशिका का अनुकरण किया गया है।

इन्हीं के भतीजे और शिष्य श्री कृष्ण ने इस पर **'प्रक्रियाप्रकाश'** नाम की टीका लिखी और इनके पौत्र विट्ठल ने **प्रक्रियाप्रसाद** नाम की दूसरी टीका लिखी, जो सुलभ और सरल है। अन्य भी कई टीकाएँ उपलब्ध हैं[3]।

भट्टोजिदीक्षित

सिद्धान्तकौमुदी

पाणिनीय-व्याकरण की प्रक्रियाशैली की व्याख्याओं में सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वांगपूर्ण मूर्धन्य व्याख्या **'सिद्धान्तकौमुदी'** के कर्ता भट्टोजिदीक्षित के पिता का नाम लक्ष्मीधर था। उनके भ्राता रंगोजि थे। उनके पुत्र भानुजिदीक्षित तथा वीरेश्वरदीक्षित थे, वीरेश्वर के पुत्र हरिदीक्षित थे। रंगोजि के पुत्र प्रसिद्ध कौण्डभट्ट थे, जिन्हों ने **'वैयाकरणभूषणसार'** की रचना की थी, तथा हरिदीक्षित ने **प्रौढमनोरमा** की व्याख्या **'शब्दरत्न'** को लिखा। यही हरिदीक्षित महाभाष्य के कैयटकृत व्याख्यान **'भाष्यप्रदीप'** के व्याख्याता एवं **'परिभाषेन्दुशेखर'** के निर्माता नागेशभट्ट के गुरु थे। भट्टोजिदीक्षित की शिक्षा शेषश्रीकृष्ण की देखरेख में हुई। शेषश्रीकृष्ण के पुत्र शेषवीरेश्वर थे, जो पण्डितराज जगन्नाथ के गुरु थे। गृह्यसूत्रों का अध्ययन भट्टोजि ने अप्पयदीक्षित से किया था। भट्टोजि का काल सन् १६२० से १६६० के मध्य निर्धारित किया गया है। यद्यपि इस विषय में कोई एक निर्णायक मत स्थिर नहीं किया जा सका[4]।

---

[1] आद्याप्रसाद मिश्र **'प्रक्रियाकौमुदीविमर्शः'** १९६६, वाराणसी, पृ० १६, किन्तु मीमांसक, वही, पृ० ३८२ (१४२३ ई०)।

[2] आद्या०, वही, पृ० २४।

[3] मीमांसक, वही, पृ० ३८२-३८६।

[4] काणे, हि० सं० पो०, पृ० ३१२ ; बेल्वल्कर के अनुसार यह १६००-१६५० के बीच में हुए हैं। अन्य लोग इन्हें १५८० तक पीछे ले जाते हैं। मीमांसक ने मत व्यक्त किया है कि इनका काल सन् १५१२ से १५९३ तक होना चाहिये (सं० व्या० शा०, भाग १, पृ० ४८७, तृ० सं०)। दीक्षित के काल के विषय में विस्तारपूर्वक विवेचनार्थ, द्र० महेशचन्द्र शर्मा, का० सि० तुल०, पृ० ५१-६०।

भट्टोजि ने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की है—

'शब्दकौस्तुभ', 'वैयाकरणभूषणकारिका', 'वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी', एवं **'प्रौढमनोरमा'** ।

व्याकरणों के इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने अन्य विषयों पर भी रचनाएं की हैं, यथा **'तत्त्वकौस्तुभ'**, **'दायभाग'**, **'तर्कामृत' 'गोत्रप्रवरनिर्णय'**, **'वेदभाष्यसार'** प्रभृति। इन्होंने छोटे-बड़े ३२ ग्रन्थों की रचना की थी[1] ।

(१) **शब्दकौस्तुभ**—यह अष्टाध्यायी पर वृत्ति के रूप में लिखा गया है। इसमें व्याकरणदर्शन पर भी कुछ विचार व्यक्त किये गये हैं। यह ग्रन्थ अधूरा ही प्राप्त हुआ है, जिसमें आठ अध्यायों में से केवल प्रथम दो अध्यायों, तृतीय के दो खण्ड तथा चतुर्थ अध्याय पर व्याख्या प्राप्य है। शेष ग्रन्थ लुप्त हो गया है। इस बात का सङ्केत है कि यह ग्रन्थ षष्ठ अध्याय तक अवश्य लिखा गया था[2] । इस रचना में म० भाष्य का अनुसरण किया गया है। भट्टोजि ने स्वयं लिखा है—

फणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभमुद्धरे (मंगल श्लोक)।

इसमें शब्दब्रह्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, जिस विषय में दीक्षित ने भर्तृहरि का अनुसरण किया है। इस ग्रन्थ में इन्होंने बोपदेव, कैयट, हरदत्त तथा क्षीरस्वामी के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके संस्कृत-व्याकरण-दर्शन का पुनरवेक्षण करते हुए एतद्विषयक इतिहास प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया है। कैयट के पश्चात् इस विषय में दीक्षित का यह प्रथम प्रयत्न कहा जा सकता है।

व्याकरण-दर्शन पर दीक्षित के विचार संक्षिप्त, सारगर्भित तथा आधिकारिकरूप से व्यक्त किये गये हैं।

इसमें स्फोटवाद का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। स्फोटवाद का बीज पतञ्जलि ने महाभाष्य में बोया था, जो भर्तृहरि के काल में अंकुरित हुआ। तत्पश्चात् स्फोटवाद का प्रतिपादन मण्डनमिश्र तथा भरतमिश्र के **स्फोटसिद्धि** नामक ग्रन्थों में किया गया था। भरतमिश्र तथा भट्टोजि के मध्य स्फोट-विषयक छह ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। भाषा की उत्पत्ति, साधु-असाधु प्रयोग,

---

[1] द्र० भट्टोजिदीक्षित, सूर्यकान्त बाली, पृ० ११ ।

[2] मीमांसक, वही, १, पृ० ४८८; द्र० प्रौढमनोरमा, पा० ६,४,४८; भट्टोजि०, पृ० १९ ।

शब्द तथा अर्थ पर विचार, पद-वाक्य सम्बन्ध, स्फोट, धातु, प्रातिपदिक, कारक, समास, निपात, लकार प्रभृति विषयों पर इस रचना में विचार किया गया है।

शब्द-विषयक वैशेषिक तथा मीमांसा के विचारों का खण्डन किया गया है। दीक्षित के अनुसार प्रकृति-प्रत्यय भाषा के अर्थों के निर्णायक न होकर हमारी कल्पनामात्र हैं। स्फोट के आठ पक्षों का वर्णन, शब्दशक्ति पर विचार, इस ग्रन्थ के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य हैं। शब्दब्रह्म के विषय में दीक्षित ने कोई मौलिक विचार प्रस्तुत नहीं किये। इस विषय में यह पतञ्जलि से आगे नहीं बढ़ सके, केवल तकनीकी पक्ष का संक्षिप्त प्रतिपादन किया है।

(२) **वैयाकरणभूषणकारिका** में उपरिलिखित शब्दकौस्तुभ का सार कारिका-रूप में निबद्ध किया गया है।

(३) **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** की रचना करके दीक्षित ने पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन को नवीन मोड़ दे दिया है। इसमें इन्होंने अष्टाध्यायी के सूत्रों की नवीन क्रमव्यवस्था निर्धारित की है, जो अष्टाध्यायी की क्रम-व्यवस्था से सर्वथा स्वतन्त्र एवं विषयप्रधान व्यवस्था है।

यह क्रम-व्यवस्था दीक्षित की मौलिक देन नहीं है, न वृत्ति ही सर्वथा मौलिक है, क्योंकि इससे पूर्व विषय-प्रधान प्रक्रिया की क्रमव्यवस्था का सूत्रपात दीक्षित से चार सौ वर्ष पूर्व हो चुका था तथा यह कातन्त्र-हैम-मुग्धबोध व्याकरणों से पाणिनीय-परम्परा में भी स्वीकार कर ली गयी थी। धर्मकीर्ति-रचित **रूपावतार** (११५० के आसपास), अज्ञातकर्तृक **प्रक्रियारत्न**, विमलसरस्वती-कृत **रूपमाला** (१४वीं शती के आसपास) तथा रामचन्द्र-विरचित **प्रक्रियाकौमुदी** दीक्षित से पूर्व पाणिनीय-व्याकरण के क्षेत्र में पदार्पण कर चुकी थीं। इनमें से सर्वाधिक प्रसिद्धि तथा व्यापक प्रचार **प्रक्रियाकौमुदी** ने ही दीक्षित से पूर्व प्राप्त किया था। इसका रचनाकाल १४वीं शती के अन्त में माना जाता है।

इन प्रक्रियाग्रन्थों में सर्वप्रथम वैदिकी-प्रक्रिया तथा स्वरप्रक्रिया को पृथक् किया गया। यह पृथक्करण हैम-व्याकरण के व्यापक प्रभाव के कारण किया गया। इसी व्यापक प्रभाव तथा व्याकरण की जटिलता के परिहार की तीव्र इच्छा के फलस्वरूप भट्टोजि के समकालिक नारायणभट्ट ने भी **प्रक्रियासर्वस्व** की रचना की। यद्यपि **रूपावतार** में २६६४ सूत्रों की व्याख्या गयी थी और **प्रक्रियाकौमुदी** में २४७० सूत्रों का समावेश है, तो भी प्रक्रियाकौमुदी के विषयवार विभाजन, अध्यायों की व्यवस्था, सूत्रक्रम, उदाहरणों, प्रत्युदाहरणों तथा वृत्ति की सरलता एवं संक्षेप ने दीक्षित पर प्रभूत प्रभाव डाला, जिसने दीक्षित को इस नवीन शैली को अपनाने के लिए प्रवृत्त किया। जहां अन्य प्रक्रिया-ग्रन्थकारों

ने वैदिकी-प्रक्रिया तथा स्वर-प्रक्रिया का परिहार कर दिया था, वहां भट्टोजि ने **सिद्धान्तकौमुदी** में पाणिनि के सभी सूत्रों का समावेश करके उनकी व्याख्या की है। इसी कारण इसका प्रचार बहुत अधिक हुआ, यहां तक कि आजकल के व्याकरण के विद्यार्थियों का यही एकमात्र सम्बल रह गया है।

इसके दो भाग है—पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में सुबन्त, समास तथा तद्धित का विवरण दिया गया है, उत्तरार्ध में तिङन्त के अन्तर्गत गणानुसार धातुओं की रूपसिद्धि, णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त एवं यङ्लुगन्त प्रक्रियाओं एवं दो भागों में विभक्त कृदन्त-प्रकरण एवं उणादियों पर विचार किया गया है। तदनन्तर वैदिकी-प्रक्रिया, स्वरप्रक्रिया, एवं फिट्सूत्रों पर वृत्ति है। अन्त में लिंगानुशासन की व्याख्या की गयी है। इस प्रकार सूत्र, धातु, गण, उणादि, लिंगानुशासन—इन पांच पाणिनीय रचनाओं के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में ८०० वार्तिकों, ३० से अधिक परिभाषाओं, तथा लगभग १०० फिट्सूत्रों का समावेश किया गया है, तथा इसे व्याकरण के महाकोष का रूप प्रदान किया गया है।

यह एक ऐसी सर्वग्राह्य रचना है, जिसमें **यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्** के सिद्धान्त को स्वीकार करके महाभाष्य के अनुकूल विचारों का प्रतिपादन किया गया है। अतः जहां प्रक्रियाग्रन्थकारों, विशेषतः **प्रक्रियाकौमुदी**कार रामचन्द्र ने अपनी रचनाओं में अपाणिनीय सूत्रों का भी समावेश किया, वहां भट्टोजि ने पूर्णरूपेण पाणिनीय सूत्रों पर व्याख्या की है। भट्टोजि ने यदि फिट्सूत्रों सदृश अपाणिनीय सूत्रों को अपनाया भी है, तो भी उन्हें पृथक् रखकर उनकी निजी सत्ता बनाये रखी है। ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टोजि को आरम्भ में उत्तरकृदन्त की समाप्ति तक ही वृत्ति अभीष्ट थी[1]। वैदिक प्रकरण के समावेश का विचार बाद में उदित हुआ।

सिद्धान्तकौमुदी में सूत्रक्रम **प्रक्रियाकौमुदी** के अनुकरण पर ही रखा गया है। उदाहरण भी **प्रक्रिया०** के अनुकरण पर ही हैं। सुबन्त को आरम्भ में तथा तिङन्त को बाद में रखने का क्रम भी **प्रक्रिया०** के अनुसार ही है, किन्तु सि० कौ० की वृत्तियां मुख्यतया काशिका का अनुसरण करती हैं, **प्रक्रिया०** का नहीं। वैदिक-विभाग में प्रक्रिया का अभाव है, जबकि 'स्वर' विभाग में 'प्रक्रिया' को अपना लिया गया है। अपनी वृत्ति में भट्टोजि ने विशेष-विशेष स्थलों पर पूर्वाचार्यों की आलोचना करते हुए अपने विचारों का तर्कसंगत प्रतिपादन करके ग्रन्थ की गरिमा में चार चांद लगा दिये हैं। स्थान-स्थान पर फक्किकाओं में इन्होंने निजी विचारों का युक्तियुक्त प्रतिपादन किया है। इस प्रकार सि० कौ० केवल पाणिनीय सूत्रों में क्रमपरिवर्तन न करके पाणिनीय वैयाकरणों के विभिन्न मतमतान्तरों एवं विचारसरणियों का आलोचनात्मक संग्रह भी है, जिसमें प्रक्रिया-व्यवस्था पूर्णता को

---

[1] द्र० इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे॥ (सि०कौ० उत्तरकृदन्त के अन्त में)

प्राप्त होकर व्याकरण के विभिन्न विषयों पर छाये तमस्तोम को छिन-भिन्न करती हुई वैयाकरणों के हृदयों को अपनी छटा से आलोकित करती है ।

अपनी वृत्ति में भट्टोजि ने पञ्चलक्षणव्याख्यान[1] के सभी अंगों को स्पष्ट नहीं किया । पदच्छेद, पदार्थोक्ति, विग्रह, वाक्य-योजना, पूर्वपक्ष-समाधान इन पांच अङ्गों में से वृत्ति के विस्तार के परिहारार्थ पूर्वपक्ष-समाधान करने की चेष्टा को, श० कौ० में कुछ दूर तक करने के उपरान्त वहां भी त्याग दिया, तो सि० कौ० में तो इस प्रकार के ऊहापोह का अवसर ही नहीं था । इस प्रकार के तर्कवितर्क तथा खण्डन-मण्डन सि० कौ० की व्याख्या **प्रौढमनोरमा** के लिए सुरक्षित रख छोड़े हैं । कौस्तुभ में भी अन्य वैयाकरणों के विचारों का खण्डन किया गया है ।

धातुपाठ में जहां पा० की परम्परा से प्राप्त धातुओं को स्वीकार किया गया है, वहां इसके पाठभेदों का निर्देश भी कर दिया गया है[2] ।

इसी प्रकार जहां दीक्षित ने सर्वप्राचीन पाणिनीय गणपाठ को स्वीकार किया है[3], वहां यह भी सत्य है कि इन्होंने अनेक गणपाठों के अध्ययन के पश्चात् ही अपना गणपाठ निश्चित किया है[4] । इस प्रसंग में इन्होंने शाकटायन, हेमचन्द्र तथा **गणरत्नमहोदधि** को अपने गणपाठ का आधार माना है[5] । साथ ही साथ इन्होंने '**काशिका**' तथा '**प्रक्रियाकौमुदी**' के गणपाठों की आलोचना भी की है ।

दीक्षित महोदय ने अपनी वृत्ति के लिए 'पञ्चपादी उणादियों' को आधार माना है । तथा इनकी आधिकारिक व्याख्या की है, किन्तु इस व्याख्या में दीक्षित जी की विद्वत्ता बहुत ऊंची नहीं उठ सकी । उणादिसूत्रों की संख्या ७४८ है तथा इनमें कुछ-एक गणसूत्र भी हैं ।

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि जहां पतञ्जलि, कैयट, श्वेतवनवासी, नागेशभट्ट, एवं वासुदेव दीक्षित ने उणादिसूत्रपाठ को शाकटायनकृत माना है, वहां नारायणभट्ट ने स्वरचित '**प्रक्रियासर्वस्व**' में इसे पाणिनिप्रोक्त घोषित किया है[6] । कुछ-एक आधुनिक इतिहासकार भी इसे पाणिनीय ही समझते हैं ।

---

[1] द्र० पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना ।
पूर्वपक्षसमाधानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम् ॥

[2] द्र० 'दशगणपाठो दिङ्मात्रप्रदर्शनार्थः । तेनान्येऽपि शिष्टप्रयुक्ता धातवः संग्राह्याः' (श० कौ०, पा० १, ३, १) ।

[3] कपिलदेव शास्त्री, संस्कृत व्याकरण में गणपाठ, पृ० ४२ ।

[4] एस० एम० अयाचित, गणपाठ०, सूर्यकान्त बाली द्वारा उद्धृत, पृ० ९८ ।

[5] बाली, वही, पृ० ९८ ।

[6] बाली, वही, पृ० ९९ ।

लिंगानुशासन को कुछ लोग अपाणिनीय मानते हैं,[1] तो कुछ पाणिनीय[2]। दीक्षित ने लिंगानुशासन पर दो वृत्तियां लिखी हैं, एक श० कौ० में और द्वितीय, सि० कौ० के अन्त में। इनमें से कौस्तुभ के अन्तर्गत वृत्ति अधिक विस्तृत है। इन्होंने अपनी वृत्ति की पुष्टि के लिए कोश तथा साहित्य से उद्धरण दिये हैं।

म० भाष्य के ४००० वार्तिकों में से सि० कौ० में केवल ८०४ वार्तिक ही समाविष्ट हैं[3]। इस वार्तिक-चयन के पीछे सम्भवत: दो कारण हो सकते हैं। प्रथम यह कि दीक्षित ने केवल कात्यायनीय वार्तिकों को ही संगृहीत करने की चेष्टा की होगी, किन्तु कात्यायन के वार्तिकों का निश्चय-पूर्वक चयन सर्वथा असम्भव है, द्वितीय, शब्दसिद्धि में सहायक वार्तिक ही सि० कौ० में संगृहीत हो सकते हैं। शेष का परित्याग कर दिया गया है। किन्तु समीक्षण से पता चलता है कि कुछ-एक ऐसे वार्तिक भी यहां संगृहीत हैं, जिनका शब्दसिद्धि में कोई योगदान नहीं और ऐसे अनेक वार्तिकों का यहां समावेश नहीं किया गया, जो शब्दसिद्धि में सहायक सिद्ध होते हैं[4]।

इसके अतिरिक्त सि० कौ० में वार्तिकपाठ में यथेष्ट परिवर्तन कर दिया गया है, यथा—'**ठक्प्रकरणे शकलकर्दमाभ्यामुपसंख्यानम्**' (वा० पा० ४,२,२) में से '**ठक्प्रकरणे**' निकाल दिया गया है। सम्भवत: इसलिए कि इसका आशय इन शब्दों के बिना भी समझ में आ सकता है। ऐसे ही वहीं '**नील्या अन्**' पढ़ा गया है। किन्तु इस प्रकार का परिवर्तन केवल वार्तिकों में किया गया है, अन्यत्र सूत्रों में पाठपरिवर्तन नहीं पाया जाता। सम्भवत: यह पाठपरिवर्तन बहुत कुछ काशिका के समय ही हो गया था, यथा उपर्युक्त उदाहरण में ही '**काशिका**' में ही '**ठक्प्रकरणे**' शब्द लुप्त है।

व्याख्याएं

सिद्धान्तकौमुदी को भट्टोजि के जीवनकाल में ही बहुत विरोध का सामना करना पड़ा था। अतः उन विरोधी आलोचकों को मुँहतोड़ उत्तर देने के आशय से स्वयं भट्टोजि ने सि० कौ० पर एक व्याख्या लिखी, जिसका नाम '**प्रौढमनोरमा**' है। इसमें मुख्यरूप से रामचन्द्र-कृत '**प्रक्रियाकौमुदी**' के अपाणिनीय विचारों का खण्डन किया गया है।

---

[1] कीथ, सं० सा० इ० पृ० ५१३।

[2] मीमांसक, वही, भाग २ पृ० २५५ ; बाली, वही, पृ० १०१।

[3] बाली, वही, पृ० १०४, टि १।

[4] बाली, वही, पृ० १०४।

यह लगातार अनवरत चलने वाली व्याख्या के रूप में न होकर महत्त्वपूर्ण भागों पर लिखी गयी है। तद्धित एवं कृदन्त प्रकरणों में से बहुत से भाग पर व्याख्या नहीं लिखी गयी। इसी प्रकार ८७ फिट्सूत्रों में से केवल ८ पर विचार किया गया है।

इस व्याख्या में यद्यपि प्राचीन वैयाकरणों के वचनों के प्रचुर उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं, तो भी पतञ्जलि ही इस व्याख्या का मुख्य आधार है और म० भा० को पदे-पदे उद्धृत किया गया है। अनेक स्थलों पर भट्टोजि ने म० भा० से भिन्न विचार व्यक्त करके स्वतन्त्र विचारसरणि को भी अपनाया है। कैयट, हरदत्त के अतिरिक्त वामन तथा माधव को भी उद्धृत किया गया है। यत्र-तत्र भर्तृहरि की कारिकाओं से भी उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं।

यह एक तर्कवितर्क एवं ऊहापोह-प्रधान रचना है, जहां सूत्रार्थ तथा सूत्र-रचना से सम्बद्ध सभी सन्देहों का निवारण करने का वैदुष्यपूर्ण प्रयास किया गया हैं। सि० कौ० में उठाये गये फक्किका-सम्बन्धी प्रश्नों का समाधान यहां किया गया है। इस व्याख्या में विविध स्रोतों से व्याकरण-सम्बन्धी अनेकों समस्याओं के समाधान प्रस्तुत किये गये हैं। मौलिकता तथा स्वकीय उद्भावनाओं का प्रतिपादन स्वल्प ही पाया जाता है। साहित्य में प्रयुक्त तथा अन्य व्याकरणों में व्युत्पादित अपाणिनीय शब्दों की व्युत्पत्ति का विरोध करके भट्टोजि ने संस्कृत-भाषा के ऐतिहासिक स्वरूप को स्थिर रखने का प्रयास किया।

जहां कहीं पाणिनीय सूत्रों अथवा वार्तिकों के सहारे शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं हो सकती, वहां परिभाषाओं के बल पर नवीन व्युत्पत्ति का प्रयास किया गया है। ऐसे १०० शब्दों की व्युत्पत्तियां यहां दी गयी हैं।

दीक्षित जी की एक और कृति **'वैयाकरणभूषणकारिका'** के नाम से प्रसिद्ध है, जिसे प्रायः कौस्तुभ का सार कहने की परिपाटी है, किन्तु वास्तव में यह कौस्तुभ का सारमात्र नहीं है, क्योंकि **'शब्द'** विषयक चर्चा वहां नहीं की गयी, जबकि **'संख्या'** सदृश नवीन विषयों का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु इसमें मौलिकता का अभाव है। वै० भू० का० में मुख्यतः दार्शनिक विषयों पर विचार व्यक्त किये गये हैं, जो भर्तृहरि के वाक्यपदीय तथा महाभाष्य पर आधृत हैं।

इसी ग्रन्थ पर व्याख्यान के रूप में कौण्डभट्ट ने **'बृहद्वैयाकरणभूषण'** तथा **'वैयाकरण भूषणसार'** नामक दो रचनाओं का निर्माण किया। दोनों पर भट्टोजि का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। भट्टोजि की वै० भू० का० का प्रभाव नागेश-विरचित **'लघुमञ्जूषा'** पर भी पड़ा है। दीक्षित ने अपने ग्रन्थ द्वारा व्याकरण-दर्शन को व्यवस्थित करने का प्रयास किया है।

प्रौढमनोरमा पर भट्टोजि के पौत्र हरिदीक्षित ने **बृहच्छब्दरत्न** तथा **लघुशब्दरत्न** नाम की दो व्याख्याएं लिखी हैं। कुछ-एक विद्वानों के अनुसार **'लघुशब्दरत्न'** की रचना वास्तव में हरिदीक्षित के शिष्य नागेशभट्ट ने की थी, किन्तु इसे अपने गुरु के नाम से प्रचारित कर दिया था। **'लघुशब्दरत्न'** का प्रकाशन हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, से हो चुका है[1]। **'लघुशब्दरत्न'** पर **'ज्योत्स्ना'** नाम्नी व्याख्या जगन्नाथ ने लिखी थी, दूसरी **'भावप्रकाशिका'** की रचना नागेशभट्ट के शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे ने की थी।

पण्डितराज जगन्नाथ ने **'प्रौढमनोरमाकुचमर्दिनी'** नामक रचना में प्रौढमनोरमा पर तीव्र आक्षेप किये हैं, जो स्पष्ट ही विद्वेष की भावना से प्रेरित हैं। जगन्नाथ ने इसी दुर्भावना से प्रेरित होकर भट्टोजिकृत शब्दकौस्तुभ का भी खण्डन किया है, जिसका नाम **'कौस्तुभखण्डन'** है।

प्रौढमनोरमा का खण्डन चक्रपाणिदत्त ने भी स्वरचित **'प्रौढमनोरमाखण्डन'** नामक रचना में किया है और रामचन्द्र-रचित **'प्रक्रियाकौमुदी'**, विट्ठलरचित **'प्रसाद'** एवं शेषकृष्णकृत **'प्रकाश'** के मतों का समर्थन किया है, जिनका खण्डन दीक्षित ने किया था। चक्रपाणिदत्त जगन्नाथ के गुरु शेषवीरेश्वर के शिष्य थे, जबकि भट्टोजि शेषवीरेश्वर के पिता शेषकृष्ण के शिष्य थे। चक्रपाणिदत्त की इस कृति का संङ्केत जगन्नाथ ने अपनी रचना **'कुचमर्दिनी'** में नामनिर्देश के बिना किया प्रतीत होता है[2]।

जगन्नाथ ने अपने से पूर्ववर्ती एक अन्य **'प्रौढमनोरमाखण्डन'** नामक ग्रन्थ की ओर सङ्केत किया है, जिसकी रचना उनके गुरु शेषवीरेश्वर के पुत्र ने की थी[3], किन्तु इस पुत्र का नामनिर्देश नहीं किया गया।

२. प्रौढमनोरमा के अनन्तर सि० कौ० को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याख्या **'तत्त्वबोधिनी'** की रचना वामेन्द्र सरस्वती के शिष्य तथा **'महाभाष्य-तत्त्वविवेक'** के कर्ता नीलकण्ठ वाजपेयी के गुरु ज्ञानेन्द्रसरस्वती ने की है। इसमें स्वरप्रक्रिया तथा वैदिकप्रक्रिया पर व्याख्या नहीं की गयी, जिनकी व्याख्या जयकृष्ण ने **'सुबोधिनी'** नाम से की है। इस विषय में यह ज्ञातव्य है कि सि० कौ० की **'तत्त्वबोधिनी'** नामक व्याख्या का आधार मुख्यतया प्रौढमनोरमा ही है।

---

[1] ये दोनों ग्रन्थरत्न प्रौढमनोरमा-सहित ब० हि० वि० वि० से सीताराम शास्त्री द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं (द्र० भूमिका, पृ० ३०-३९)।

[2] कालीचरण शास्त्री, बं० कं० सं० ग्रा०, १, पृ० २८३।

[3] मीमांसक, वही, पृ० ४०-४१।

३. नीलकण्ठ वाजपेयी ने **तत्त्वबोधिनी** पर भी **गूढार्थदीपिका** तथा सि० कौ० पर **सुखबोधिनी** की रचना की थी, जिसका नामान्तर **वैयाकरण-सिद्धान्त-रहस्य** भी था।

४. सि० कौ० पर एक अन्य महत्त्वपूर्ण एवं सुबोध व्याख्या '**बालमनोरमा**' की रचना वासुदेवदीक्षित (या 'वाजपेयी'—मीमांसक) ने सं० १७४०-१८०० (१६८३-१७४३ ई०) के बीच की थी। यह सरल किन्तु विस्तृत टीका छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। यह चोल देश के भोंसले राजा शाहजी, शरभजी एवं तुकोजी नामक तीन राजाओं के मन्त्री आनन्दराय के अध्वर्यु थे। '**बालमनोरमा**' की रचना अन्तिम राजा तुकोजी के काल में की गयी थी।

५. कृष्णमित्र ने सिद्धान्तकौमुदी पर '**रत्नार्णव**' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसने शब्दकौस्तुभ पर भी '**भावप्रदीप**' टीका की रचना की थी। सांख्य पर '**तत्त्वमीमांसा**' नामक निबन्ध भी इसी कृष्णमित्र ने लिखा है[1]।

६. तिरुमल द्वादशाह याजी ने सि० कौ० पर '**सुमनोरमा**' टीका लिखी है। इनका काल अनुमानतः १६५० ई० के आसपास है।

७. दाराशिकोह से सम्बद्ध रामानन्द ने '**तत्त्वदीपिका**' तथा रामकृष्णभट्ट ने '**रत्नाकर**' नाम की व्याख्या भी लिखी।

८. नागेशभट्ट ने सि०कौ० पर दो व्याख्याएं लिखी हैं—'**बृहच्छब्देन्दुशेखर**' तथा '**लघुशब्देन्दुशेखर**'। **लघुशब्देन्दुशेखर** पर अनेक टीकाएं लिखी गयी हैं। इनकी रचनाशैली तथा वैदुष्यपूर्ण प्रतिपादन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ये आलोचनात्मक तथा उच्चस्तर के तर्कवितर्क से पूर्ण प्रौढ रचनाएं हैं। इनका प्रतिपादित मत किसी भी व्याकरण-सम्बन्धी समस्या का अन्तिम समाधान माना जाता है। इनका काल सत्रहवीं-अठारहवीं शती के बीच माना गया है।

सि० कौ० पर अन्य भी छोटी-मोटी टीकाएं लिखी गयी हैं।

सिद्धान्तकौमुदी की शैली

हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रकरणानुसार व्याकरण-शास्त्र के अध्ययनार्थ रूपावतार प्रभृति रूपसिद्धि-प्रधान प्रक्रियाग्रन्थों की परम्परा में ही भट्टोजि-

---

[1] सांख्यदर्शन का इतिहास, उदयवीर शास्त्री, पृ० ३१८।

दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी की रचना की। सिद्धान्तकौमुदी से पूर्ववर्ती प्रक्रिया-ग्रन्थों के सम्मुख कई ऐसी समस्याएं थीं, जिनका पूरा समाधान करने में वे असमर्थ रहे थे। यथा, किस प्रकार प्रकरणों का सन्निवेशक्रम निर्धारित किया जाये, किस प्रकार स्वल्प प्रयत्न से महान् शब्दराशि का ज्ञान कराया जाये, कैसे सूत्रों का संघटन तथा क्रम-निर्धारण किया जाये, किस प्रकार सूत्रों की पुनरुक्ति का परिहार भी हो सके तथा सूत्रों का प्रकरणानुसार सुस्पष्ट उपयोग भी किया जा सके, कौन से सूत्रों का ग्रहण किया जाये, किन का परित्याग, प्रभृति अनेक समस्याएं उनके सम्मुख थीं। इस समस्या के समाधानहेतु पाणिनीयेतर वैयाकरणों ने पहल की है, तथा सरलातिसरल उपायों से व्याकरण-शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन को सरल सुबोध तथा व्यावहारिकरूप देने का प्रयास किया है। इन्होंने पूर्व-गामी सभी वैयाकरणों की व्याख्याओं पर विचार कर उनके गुण-दोषों को सम्मुख रख कर ही महाभाष्यानुसारी विषय-प्रतिपादन किया है। इन्होंने तिङन्त-सुबन्त को वाक्य मानकर सम्पूर्ण ग्रन्थ का दो भागों में विभाजन किया है। सुबन्तों के बोधार्थ पूर्वार्ध में क्रमशः संज्ञा-सन्धि-स्वादि, स्त्री-प्रत्यय, कारक, समास, तद्धित, प्रभृति विषयों का प्रतिपादन किया है। तिङन्तों के परिज्ञानार्थ भ्वादिदशगण, ण्यन्त, तिङन्त-प्रक्रिया, उणादि प्रकरण-सहित कृत्-प्रत्यय, इन विषयों का उत्तरार्ध में समावेश करके अन्त में वैदिकी-प्रक्रिया फिट्-सूत्रों सहित स्वर-प्रक्रिया, लिंगानुशासन तथा गणपाठ इन विषयों का सन्निवेश करके ग्रन्थ को पूर्णता प्रदान की है। यद्यपि इस प्रकार का विभाजन **प्रक्रिया०** में किया गया है, तो भी दीक्षित ने इस विभाजन को कुछेक प्रकरणों में परिवर्तन करके, नवीन रूप प्रदान किया है तथा **प्रक्रियाकौमुदी** में अगृहीत उणादिसूत्र, लिंगानुशासन, गणपाठ, प्रभृति विषयों का समावेश यहां किया गया है।

यद्यपि दीक्षित महोदय ने लौकिक शब्दों की सिद्धि के प्रसंग में वैदिक शब्दों की सिद्धि प्रायः नहीं की, तो भी कहीं-कहीं बोपदेव प्रभृति शाब्दिकों के मत के अनुसार लोक में भी वैदिक प्रकरण के सद्भाव के कारण कुछेक वैदिक सूत्रों का वैदिक प्रकरण के बाहर भी सन्निवेश किया है[1]। **सिद्धान्तकौमुदी में** अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों की व्याख्या की गयी है। **काशिकावृत्ति** की अपेक्षा **सिद्धान्तकौमुदी** में तीन सूत्रों का पाठान्तर भी अधिक दर्शाया गया है[2]। **रूपावतार** तथा **प्रक्रियाकौमुदी**, दोनों ही ग्रन्थों में, शब्दरूपसिद्धि के सौकर्य के लिए कई सूत्रों की एक से अधिक व्याख्या देकर पुनरावृत्ति नहीं की गयी है।

---

[1] यथा सूत्र सं० १८८९, १९६१, २००७, २८६९ प्रभृति।

[2] (क) १५५७ आकर्षात् ष्ठल्; आकषादिति पाठान्तरम्। (ख) १८६४, 'आकषादिभ्यः' इति रेफरहितो मुख्यः पाठः। (ग) १८६८, 'शस्येन' इति पाठान्तरम्।

कई स्थलों पर **सिद्धान्तकौमुदी** पर काशिका, **रूपावतार** अथवा **प्रक्रियाकौमुदी** का प्रभाव लक्षित होता है। इसी कारण परम्परा-प्राप्त व्याख्यान से भिन्न प्रकार की व्याख्या की गयी है[1]। पाणिनि के अनेक सूत्रों का अर्थ-बोध वृत्ति के बिना भी हो जाता है, ऐसे स्थलों पर दीक्षित जो ने वृत्ति नहीं भी लिखी है, यथा—

नीचैरनुदात्तः (पा० १, २, ३०) **स्पष्टम्। अर्वाङ्।**

झलां जश् झशि (पा० २, ३, १) **स्पष्टम्।**

उत्सादिभ्योऽञ् (पा० ४, १, ८६)। **औत्सः।**

प्रक्रियाकौमुदी में भी इसी प्रकार अनेक सूत्रों की वृत्ति नहीं लिखी गयी। जहाँ कहीं प्रकरणवशात् अथवा अनुवृत्ति के कारण सूत्रार्थ स्पष्ट हो जाता है, वहां भी दीक्षित जी ने वृत्ति लिखना उचित नहीं समझा, यथा—

शोणात्प्राचाम् (४, १, ४३) **शोणी। शोणा।**

भक्ष्येण मिश्रीकरणम् (पा० २, १, ३५) **गुडेन धाना गुडधानाः।**

व्याख्यासौकर्यार्थ **सिद्धान्तकौमुदी** में अनेक सूत्रों की क्रमानुसार पृथक्-पृथक् निष्पत्ति करके सबके अन्त में एकत्र ही वृत्ति लिखने की परिपाटी भी अपनायी गयी, यथा—

दंशसञ्जस्वञ्जां शपि (पा० ६, ४, २५), **रञ्जेश्च** (पा० ६, ४, २६) **एषां शपि न लोपः।**

यद्यपि भट्टोजि ने सूत्रार्थ करते समय व्याघ्रभूति[2], चान्द्र[3], दुर्ग[4], वामन[5], शाकटायन[6], न्यासकार[7], हरदत्त[8], कैयट[9], प्रभृति[10] वैयाकरणों का नामतः निर्देश

---

[1] महेश शर्मा, का० सि० कौ० तुलना०, पृ० ७४।

[2] सि० कौ० २५४२—विद्लृ लाभे, व्याघ्रभूत्यादिमते सेट्कोऽयम्।

[3] सि० कौ० २५४७—चान्द्रमते परस्मैपदी।

[4] सि० कौ० २३४३—अयं दुर्गंतावपीति दुर्गः।

[5] सि० कौ० १७७—इह ऋक्पाद एव गृह्यते इति वामनः।

[6] सि० कौ० २२७४—शाकटायनस्तु कथादीनां सर्वेषां पुकमाह।

[7] सि०कौ० २३२९— अयं सोपदेशोऽपि इति न्यासकारः।

[8] सि० कौ० २३८७—अवादिकोऽयमिति हरदत्तादयः।

[9] सि०कौ० २१७ —उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति इति कैयटः।

[10] द्र० डा० महेशचन्द्र शर्मा, पूर्वोक्त, पृ० ७१-७८।

किया है, तो भी शर्व वर्मा, जयादित्य, धर्मकीर्ति प्रभृति बहुत से वैयाकरणों का नामोल्लेख नहीं भी किया।

इस प्रकार **भाष्य, वार्तिक, काशिका, प्रक्रियाकौमुदी** आदि ग्रन्थों का सार प्रस्तुत करके अन्य मतों का उपन्यास करते हुए उनके समय में समुदित अनेकों शब्दों का संग्रह करके भट्टोजि ने संस्कृत व्याकरण-शास्त्र को परमोपकारी ग्रन्थरत्न प्रदान किया है।

संस्करण—छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी होने के कारण इस ग्रन्थ के देश भर में अनेकानेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, तो भी प्रसिद्ध संस्करणों का अतिसंक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. अच्युतानन्द-कृत 'सुधा' टिप्पणी-सहित, पण्डित पुस्तकालय, वाराणसी।

२. ज्ञानेन्द्रसरस्वती-कृत **तत्त्वबोधिनी**, जयकृष्ण-कृत 'सुबोधिनी', भैरवमिश्र-कृत 'चन्द्रकला'-सहित, पं० शिवदत्त-सम्पा०, वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९०९ ; १९५९।

३. वासुदेव लक्ष्मण शर्मा पणशीकर तथा दिनकर शास्त्री गाडगिल सम्पा०, **तत्त्वबोधिनी**-सहित, नि० सा० प्रेस, बम्बई, १९०९ ; पणशीकरसम्पा० १९२९।

४. बैजनाथ जोशी-कृत **तत्त्वबोधिनी**-सहित, गणेश यन्त्रालय, वाराणसी।

५. मीमांसक गिरिधरकृत **लीलावती**-सहित, क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय सम्पा०, कलकत्ता।

६. वासुदेवदीक्षित-कृत **बालमनोरमा**-सहित, बालमनोरमा प्रेस, मद्रास।

७. **तत्त्वबोधिनी** तथा **बालमनोरमा**-सहित, पं० परमेश्वरानन्द-सम्पा०, मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, दिल्ली।

८. **तत्त्वबोधिनी, बाल°**, तथा **शेखर**-सहित, पं० गुरुप्रसाद-सम्पा०, भार्गव पुस्तकालय, वाराणसी।

९. सभापति मिश्रकृत 'लक्ष्मी' व्याख्यासहित, दो भाग, मोतीलाल०, दिल्ली, वाराणसी।

१०. श्रीशचन्द्र वसुकृत आंग्लानुवाद, पाणिनि ऑफिस, प्रयाग, १९०५-७; द्वि० सं० मोतीलाल०, १९६२।

११. शरद्रञ्जन राय-कृत, संस्कृत भाष्य तथा आंग्लानुवाद, टिप्पणियाँ, कलकत्ता, १९५४-६१।

अष्टाध्यायीक्रम तथा प्रक्रियाक्रम की तुलना

अष्टाध्यायी तथा प्रक्रियाग्रन्थों की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का वर्णन कर चुके हैं। इन दो शैलियों के समर्थक विद्वानों ने अपने-अपने पक्ष का समर्थन तथा दूसरे में दोष दर्शाने का प्रयास किया है। किन्तु दोनों शैलियों के अपने-अपने गुणदोषों पर विचार करने के पश्चात् हम इस विवाद को व्यर्थ समझते हैं। दोनों ही के अपने-अपने प्रशंसनीय पक्ष हैं।

पाणिनीय-व्याकरण के प्रतिपादन की दो पद्धतियां मानी जाती हैं—'विश्लेषणात्मक पद्धति' तथा 'संश्लेषणात्मक पद्धति'। व्याकरण-शास्त्र में इन्हें क्रमशः 'यथोद्देशपक्ष' तथा 'कार्यकालपक्ष' कहा जाता है[1]। **यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्** तथा **कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्**—ये दो परिभाषाएं भी इसी तथ्य की ओर सङ्केत करती प्रतीत होती हैं। पाणिनीय सूत्रों को किसी प्रकरण में किसी उद्देश में किस लिए पढ़ा गया है। उन सूत्रों के अर्थ करने के लिए किन सूत्रों को अनुवृत्ति का अधिकार अपेक्षित है, यह जानने के लिए 'विश्लेषणात्मक पद्धति' उपयुक्त है। दूसरी ओर शब्दसिद्धि के लिए बहुत से सूत्रों की एकवाक्यता तथा एक प्रकरण से सम्बन्ध की स्थापना के लिए 'संश्लेषणात्मक पद्धति' या कार्यकालपक्ष लाभकारी है।

पाणिनीय-व्याकरण में **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (पा० १, ४, २), **असिद्धवदत्राभात्** (पा० ६, ४, २२), **पूर्वत्रासिद्धम्** (पा० ८, २, १) प्रभृति सूत्रों को आत्मसात् करने के लिए सूत्रपाठ-क्रम का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। प्रक्रियाक्रम में अधिकार, अधिकारस्था **भसंज्ञा** तथा **पदसंज्ञा** के क्षेत्रों का परिज्ञानक्रम न हो सकने के कारण पाणिनि के एतद्विषयक सूत्रनिर्माण के अन्तराशय को समझ सकना असम्भव है। पाणिनि ने 'इत्संज्ञाप्रकरण' को (१, ३, २) से (१, ३, ९) तक के सूत्रों में समाहित कर दिया है। इसी प्रकार णत्व-षत्व-कित्व-पित्व-प्रगृह्यसंज्ञा-आत्मनेपदी प्रक्रिया-एक संज्ञाधिकार-एकदेशाधिकार प्रभृति प्रकरण अष्टाध्यायी में यथास्थान एकत्र ही रखे गये हैं। प्रक्रियाक्रम से पठित व्याकरण छात्रों को शीघ्र ही विस्मृत हो जाता है और सूत्रपाठ के क्रम से अधीत व्याकरण के पूर्वापर सूत्र-संस्कार यथावत् बने रहते हैं। प्रक्रियाक्रम से अधीत व्याकरण के पूर्वापर सूत्रों की वृत्ति को स्मरण किये बिना सूत्रार्थ का बोध नहीं हो सकता। सूत्रपाठ-क्रम से अधीत सूत्रों का अर्थ अनुवृत्ति आदि की सहायता से टीकाकार की वृत्ति को स्मरण किये बिना भी स्मृति-पटल पर अंकित रहता है।

---

[1] Vide, S.D. Joshi, *Two Methods of Interpreting Pāṇini*, "*Journal of University of Poona*, (*Humanity Section*), No. 23, 1966, p. 53 ff.

अष्टाध्यायीक्रम में लौकिकी-प्रक्रिया तथा वैदिकी-प्रक्रिया का भेद नहीं किया गया है। स्वर-वैदिक सूत्रों के अर्थ तथा उदाहरण तत्-तत् सूत्र के स्थल पर दिये जाते हैं, किन्तु प्रक्रियाक्रम में वैदिकसूत्रों तथा स्वरसूत्रों को लौकिक-सूत्रों से पृथक् अन्त में सन्निवेश किये जाने की परिपाटी है, जिनकी छात्र प्रायः अवहेलना कर देते हैं और इस प्रकार उनका पाणिनीय-व्याकरण का ज्ञान अधूरा रह जाता है। **परबलीयस्त्व** की स्थापना के लिए पाणिनि ने सपादसप्ताध्यायी की दृष्टि से त्रिपादियों को असिद्ध सिद्ध करने के लिए एक विशेष सूत्रक्रम अपनाया है। प्रक्रियाक्रम में अपने-अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए उपयुक्त सूत्रों को प्रयोग-सिद्धिस्थल पर स्थापित करना पड़ता है, किन्तु जब विभिन्न अध्यायों में बिखरे हुए सूत्र विभिन्न प्रकरणों में निर्दिष्ट करने पड़ते हैं तब छात्रों को प्रकरणानुरूप अर्थ का परिज्ञान नहीं हो सकता, किन्तु कार्यकालपक्ष के अनुयायी प्रक्रियाक्रम के समर्थक वैयाकरण अपने पक्ष में ये तर्क प्रस्तुत करते हैं कि यदि अष्टाध्यायीक्रम के अनुसार अध्ययन किया जाये, तो एक प्रयोग की सिद्धि के लिए विभिन्न स्थलों पर बिखरे हुए सूत्रों का एक स्थल पर संकलन करना कठिन कार्य है। अनुवृत्ति तथा अधिकार का ध्यान रखते हुए एक विषय से सम्बद्ध उत्सर्ग तथा अपवादविषयक सूत्रों का अष्टाध्यायीक्रम से ज्ञान शब्द-साधन में अधिक उपयोगी नहीं हो सकता। इसके विरुद्ध यदि तत्तत् लक्ष्य के संस्कारकों, एक प्रयोग से सम्बद्ध सभी सूत्रों का सङ्कलन तत्-तत् प्रयोगसिद्धि-स्थल पर ही कर दिया जाये, तो शब्दव्युत्पत्ति में सौकार्य हो जाता है।

प्रयोग-सिद्धि के लिए पाणिनि के व्याकरण में कहीं तो **ज्ञापक**, कहीं **योग-विभाग**, कहीं **व्याख्यान**, कहीं **पदानुकर्षण**, कहीं **मण्डूकप्लुति**, कहीं **परिगणन**, कहीं **भाष्य का अनुसरण**, कहीं **वार्तिक का अनुगमन** तथा कहीं **गणपाठ** आदि का आश्रय लेकर चलना पड़ता है। अष्टाध्यायी में समास-विधायक सूत्र तो द्वितीय अध्याय में प्रतिपादित हैं, जबकि समस्तपद में पूर्वपद-उत्तरपदों को निमित्त मानकर विधीयमान कार्यों के प्रवर्तक सूत्र षष्ठ अध्याय के तृतीय पाद में प्रतिपादित हैं। इस समास से सम्बद्ध सूत्र अष्टाध्यायी में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं, जिन्हें सन्निहित रूप में स्मरण रखना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसी प्रकार **आर्धधातुक** की परिभाषा ३, ४, ११४ में की गयी है, जबकि उसकी चर्चा १, १, ४ में ही कर दी गयी है। उसका उपयोग १, १, २८ में ही कर दिया गया है[1]। इन सूत्रों को हृदयंगम करने के लिए प्रचण्ड स्मरण-शक्ति की अपेक्षा है[2]। इसके अतिरिक्त पाणिनीय सूत्रों में विषय का व्युत्क्रम भी अनेक स्थलों पर

---

[1] इस विषय में द्र० अष्टाध्यायी प्रकरण।

[2] पॉल थीमे, 'इण्डियन्-कल्चर' भाग ४, पृ० १९८-१९९।

किया गया है, जिस कारण सूत्रों को आत्मसात् करके प्रयोग-सिद्धि करना पर्याप्त कठिन कार्य है[१]। इस विषय में कैयट का मत अवधेय है कि जो व्यक्ति पाणिनीयक्रम से अष्टाध्यायी का अध्ययन करता है, वह सूत्रों के सामान्य अर्थों को ही समझ पाता है[२]।

इस प्रकार दोनों अध्ययन-पद्धतियों के अपने-अपने गुण-दोष हैं, किन्तु इनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं पाया जाता।

नारायण भट्ट

प्रक्रिया-सर्वस्व

केरल देशवाशी श्रीनारायण भट्ट अथवा नारायण भट्टतिरि ने **प्रक्रिया-सर्वस्व** की रचना १६०७ ई० में की थी[३]। इस प्रकार नारायण और भट्टोजि दोनों का काल लगभग समान ही है, जो **प्रक्रियासर्वस्व** के टीकाकार केरल वर्मदेव के इस सङ्केत से मेल खाता है कि भट्टोजि नारायण से मिलने के लिए चले, तो मार्ग में ही उन्हें उनकी मृत्यु की सूचना मिली और वह वापस लौट गये[४]। समसामयिक होते हुए भी दोनों की रचनाएं एक-दूसरे के प्रभाव से सर्वथा अछूती हैं, अन्यथा कम से कम भट्टोजि, जिन्होंने अपने उपजीव्य ग्रन्थ **प्रक्रिया-कौमुदी** तक का खण्डन किया है, **प्रक्रियासर्वस्व** का उल्लेख अवश्य करते। नारायण यद्यपि अपने समय के उद्भट विद्वान थे, तो भो अत्यन्त विनम्र स्वभाव के थे। उन्होंने **प्रक्रियाकौमुदी** का आभार माना है। इस ग्रन्थ में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों की व्याख्या की गयी है, किन्तु इसका विषयक्रम सि० कौ० से भिन्न है। संज्ञा, परिभाषा, सन्धि, सुबन्त, कृदन्त, तद्धित, समास, सभी प्रत्यय पूरे करके तिङन्त का आरम्भ आत्मनेपदादि प्रक्रिया से किया गया है। उसके उपरान्त तिङ्, लकारार्थ, सन्नन्त, यङन्त, यङ्लुक् का विवरण दिया गया है। विषय-विभाजन के अनुसार ग्रन्थ बीस काण्डों में विभक्त है, जिसके अन्त में नामधातु परिभाषा (न्याय) धातुपाठ, उणादि तथा छान्दस-प्रकरण दिये गये हैं। यह

---

[१] द्र० मरे फाऊलर, जे० ए० ओ० एस०, ८५ (१९६५) पृ० ४४-४७।

[२] प्रदीप, महाभा० पा० १, १, ११।

[३] सी० कुन्हनराज, भूमिका : **अपाणिनीयप्रामाणिकता** के सम्पादक पं० ई० बी० शर्मा के अनुसार यह रचना १६१८-१९ में की गयी थी। प्रक्रियासर्वस्व के सम्पादक साम्बशास्त्री के अनुसार नारायण का काल सन् १५६० से १६७६ तक माना गया है।

[४] कुछ लोग इस घटना के विषय में कहते हैं कि नारायण भट्टोजि से मिलने चले थे और भट्टोजि की मृत्यु का समाचार सुनकर लौट आये थे। इससे उनको समसामयिक समझने में कोई बाधा नहीं पड़ती।

विभाजन अधिक वास्तविक है, क्योंकि कृदन्त का सम्बन्ध सुबन्त से अधिक है न कि तिङन्त से। इसकी विशेषता यह भी है कि इसमें सूत्रों के सामान्य अर्थ समझा कर उदाहरणों से विषयों को स्पष्ट कर दिया गया है। वार्तिकों का क्रम म० भाष्य के प्रसंग से भिन्न प्रसंग में रखा है।

व्याख्या का अधिकांश भाग पद्य में है, जिसमें अन्य व्याकरणों के मतों का भी प्रतिपादन किया गया है, किन्तु कुछ सूत्रों का पाठ **काशिका** तथा **म० भाष्य** से भिन्न है, जिस भेद का निर्देश बहुधा कर दिया गया है। इसमें उदाहरण सर्वाधिक मात्रा में दिये गये हैं, जिनमें से बहुत से चान्द्र तथा भोज-व्याकरणों से लिये गये हैं। इन सब विशेषताओं के कारण यह पा० सूत्रों की सरल तथा स्पष्ट व्याख्या है, जिसमें अन्य पाणिनीयेतर वैयाकरणों के मतों के भी दिग्दर्शन हो जाते हैं। इस पर तीन टीकाएं उपलब्ध होती हैं, एक केरल वर्मदेव की है, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। दूसरी दो के कर्त्ताओं के नाम अज्ञात हैं। केरल वर्मदेव का काल सन् १८४० से १९१४ तक माना जाता है।

अष्टाविंश अध्याय

व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थकार

व्याकरण की शब्द-सिद्धि एवं शुद्ध-प्रक्रिया विषयों के अतिरिक्त व्याकरण के दार्शनिक पक्ष पर पर्याप्त ऊहापोह किया गया है। व्याकरण-दर्शन के अन्तर्गत अनेक विषयों पर विचार किया गया है, यथा पदमीमांसा, वाक्यमीमांसा, शब्द-शक्ति, शब्द का नित्यत्व, क्रिया, काल, लिंग, प्रभृति। इन विषयों का दार्शनिक विवेचन कब आरम्भ हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यास्क का शब्द-नित्यत्वानित्यत्व विचार (नि० १, १) इस दिशा में यह सङ्केत अवश्य करता है कि व्याकरण-शास्त्र के दार्शनिक पक्ष पर ऊहापोह उस समय तक काफी विकसित अवस्था में पहुंच चुका था। इस सम्बन्ध में यास्क ने आचार्य औदुम्बरायण का यह विचार हम तक पहुंचाया है कि शब्द इन्द्रियनियत है। **इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः**[1]। **स्फोटसिद्धि** के लेखक भरतमिश्र के लेख से प्रतीत होता है कि आचार्य औदुम्बरायण शब्द के स्फोटस्वरूप अर्थात् नित्यत्व के प्रतिपादक थे, किन्तु यास्क के वचन से वह शब्द के अनित्यत्व के पोषक प्रतीत होते हैं। इस विषय में यास्क को अधिक प्रामाणिक मानना चाहिये[2]।

आचार्य व्याडि शब्द को नित्य भी मानते थे और कार्य भी[3]। हरदत्त के अनुसार स्फोटवाद के प्रवर्तक आचार्य स्फोटायन थे, किन्तु इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन पतञ्जलि और उनके व्याख्याकार भर्तृहरि की है। पतञ्जलि ने सर्वप्रथम स्पष्ट शब्दों में शब्द की नित्यता का प्रतिपादन किया है। यद्यपि इस विषय में उन्होंने प्राचीन आचार्य व्याडि के विचार को ही आधार माना है; तो भी इस समय व्याडि का ग्रन्थ हमारे सम्मुख न होने के कारण हम उनके प्रतिपादक तर्कों से अनभिज्ञ हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि व्याडि ने शब्द की सूक्ष्मता पर गम्भीर विचार किया था। दूसरे, वाजप्यायन ने भी शब्द के विषय में अपने विचार व्यक्त किये थे। जहां व्याडि ने शब्दार्थ को द्रव्य माना था, वहां वाजप्यायन ने इसे **जाति** घोषित किया था। शब्द, अर्थ, उनके सम्बन्ध, व्युत्पत्ति तथा अव्युत्पत्ति पक्ष, स्फोट के स्वरूप तथा उसके मूलकारण चित्त का

---

[1] निरुक्त १, १।

[2] Cf. *Audumbarāyaṇa's Theory of Language*, J. Brough, *BSOAS* No. 16।

[3] महाभाष्य १, १, १।

परस्पर सम्बन्ध, वाक्य तथा उसका स्वरूप, क्रिया, काल, दिन प्रभृति अनेक विषयों के बीज महाभाष्य में विद्यमान हैं[1] । कैयट ने भी इस बात की पुष्टि की है कि पतञ्जलि के अनुसार ज्ञान (चित्) ही शब्दरूप में परिणत हो जाता है[2] । महाभाष्य ने शब्द के स्वरूप के विषय में न्याय-वैशेषिक पक्ष का खण्डन और स्फोट के सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन किया है, जिसका परिष्करण, उपबृंहण एवं स्पष्टीकरण भर्तृहरि ने वा० प० में किया है। भर्तृहरि के व्याकरण-दर्शन-सम्बन्धी विचारों का दिग्दर्शन हम वा० प० के प्रकरण में कर चुके हैं। भर्तृहरि की तो समग्र पृष्ठभूमि ही दार्शनिक कही जा सकती है। उनकी प्रतिभा का परिपाक ही दर्शन के चरम-लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति में होता है। शब्द-ब्रह्म की प्राप्ति ही परब्रह्म की प्राप्ति में परिणत हो जाती है। शुद्ध व्याकरण के विषयों का प्रतिपादन करते हुए उनके समक्ष अन्तिम लक्ष्य यही रहा है। यही विचार उनकी कृति में सूत्रवत् अनुस्यूत है। जाति, द्रव्य, साधन या क्रिया, दिव्य अथवा काल, किसी का भी विवेचन करते हुए वह इसे ब्रह्म से सम्बद्ध कर ही देते हैं। उनके अनुसार अनादि, अनन्त, परम सत्य, परब्रह्म, शब्द-तत्त्वात्मक है और इसी से समस्त व्याकृत जगत् तथा ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई है। वह तत्त्व एक होते हुए भी अपनी शक्तियों से अनेक रूपों में अभिव्यक्त होता है, इसकी शक्तियों में काल सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वही तत्त्व भोक्ता, भोग्य और भोग तीनों रूपों में अभिव्यक्त होता है[3] । शब्द-जन्य सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञान की चर्चा भी आप ने की है और इस विषय में वह नैयायिकों से वैमत्य रखते हैं। प्रत्येक ज्ञान शब्दानुस्यूत है। शब्द और चैतन्य वास्तव में एक ही हैं। काश्मीर शैवमत के आचार्य सोमानन्द, अभिनवगुप्त तथा उत्पल आदि पर भर्तृहरि के इन विचारों का प्रभूत प्रभाव पड़ा है[4] । इनमें से अभिनवगुप्त ने तो सम्भवतः अपने 'प्रकीर्णकविवरण' नामक ग्रन्थ की रचना ही वा० प० के तृतीय प्रकीर्ण-काण्ड के आधार पर की थी। यह सम्प्रति अनुपलभ्य है। सोमानन्द तथा उत्पलाचार्य ने भर्तृहरि की दर्शन के क्षेत्र में अतिक्रमण की अनधिकार चेष्टा की जमकर आलोचना की है।

---

१. **कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना ।**
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने । (वाक्य०, काण्ड २, श्लोक ४२५)

२. **'ज्ञानस्य शब्दरूपापत्तिरिति दर्शनमत्र भाष्यकारस्य' । तथा चोक्तम्—'वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते' ।**
कैश्चिद्दर्शनभेदो हि प्रवादेष्वस्थितिः ॥ (पा० १, ४, २९ पर भाष्यप्रदीप)

३. वाक्य० १,१-४ ।

४. See K. A. Subramania Ayer, *Bhartṛhari—A Critical Study*, Poona, 1969, p. 106-108.

शब्दब्रह्म की नाना शक्तियों में से 'काल' परमोत्कृष्ट तथा कर्तृ-शक्ति कही गयी है। यह विभु तथा स्वतन्त्र शक्ति है। यह सृष्टि का निमित्त-कारण है। वर्तमान, अनागत तथा अतीत ये तीनों काल की शक्तियां हैं। भर्तृहरि के अनुसार यह सृष्टि शब्द-ब्रह्म का विवर्त है[1] और अविद्या के कारण ही नाना-रूपात्मक प्रतीत होती है। उनके अनुसार मोक्ष के दस प्राप्ति-विकल्प हैं[2]। उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति के नाना सोपानों की चर्चा भी की है[3] और व्याकरण को मोक्ष का प्रवेशद्वार माना है—**यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः** तथा **तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्**[4]। वह मोक्ष तक पहुँचने का प्रथम सोपान है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी इन चार वाग्रूपों का भी प्रतिपादन किया गया है और पश्यन्ती को प्रतिभा की संज्ञा दी गयी है, जो सर्वविध भेदों की प्रकृति है। **स्फोट** की विशद व्याख्या भर्तृहरि ने की है, जिसके आधार पर ही शब्दार्थ तथा वाक्यार्थ के अधिगमन की व्याख्या की जा सकती है। शब्द की नित्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जा सकता है, जिसे माने बिना समस्त शब्द-व्यवहार की व्याख्या अशक्य ही नहीं असम्भव हो जाती है। "परा" सूक्ष्म होने के कारण सर्वजन-संवेद्य नहीं हो सकती। 'पश्यन्ती' का प्रत्यक्ष केवल योगियों को हो सकता है। 'मध्यमा' में शब्द और अर्थ का तादात्म्य होने पर सर्वसाधारण बोध होने लगता है। यहीं पर शब्दार्थों का परस्पर सङ्केतग्रह भी होने लगता है, जिस कारण बधिर-मूक को भी स्थूल 'वैखरी' के बिना अर्थागम सम्भव हो सकता है। 'वैखरी' स्थूल इन्द्रियों द्वारा उच्चारित वाणी को कहते हैं, जो शब्द, व्यवहार का साधन है।

स्फोटवादियों के अनुसार पद को वक्तव्य की इकाई नहीं माना जा सकता। वाक्य में पृथक् अर्थ-वाहकता सम्भव है। यह वाक्य अविभाज्य है। जिस पूर्व-पूर्व वर्णों के ज्ञान से युक्त साहित्यावगाहिनी बुद्धि में अभिन्न एक नित्य वस्तु-सत्ता समुल्लसित होती है तथा मणि, कृपाण, दर्पण आदि में मुख के समान भिन्न प्रयत्न-भेद से विभिन्न प्रकार की ध्वनियों में एक ही निरवयव स्फोट भी नाना वर्णों के रूप में सावयव और अनेक प्रतीत होता है—

यथा मणिकृपाणादौ मुखमेकमनेकधा ।
तथैव ध्वनिषु स्फोटः एक एव विभाव्यते ॥ (वाक्य०)

---

[1] वही, पृ० १२८-१३५।

[2] वाक्य० १, ५ पर स्वोपज्ञवृत्ति।

[3] वा० प० १, १४।

[4] वा० प० १, १२।

भर्तृहरि ने अपने विरोधी पक्ष के मीमांसकों, नैयायिकों, बौद्धों तथा अन्य मतावलम्बियों की शंकाओं का युक्तियुक्त उत्तर देकर स्फोटवाद की स्थापना की है।

इसके बाद **मण्डनमिश्र** ने **स्फोटसिद्धि** नाम की एक प्रौढ़ रचना का का निर्माण किया। यद्यपि इसमें कुल ३६ कारिकाएं हैं, तो भी उनकी अपनी व्याख्या से ग्रन्थ का गौरव बढ़ गया है। यह शंकराचार्य के समकालीन थे और बाद में सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए, अतः इनका काल अष्टम शताब्दी का अन्तिम भाग तथा नवम शती का पूर्वार्ध माना जाता है।

इनके ग्रन्थ पर ऋषिपुत्र परमेश्वर की उत्कृष्ट व्याख्या **गोपालिका** भी उपलब्ध है, जिसमें एक **निरुक्तवार्तिक** के ६ वचन उद्धृत किये गये हैं। इसका काल सौलहवीं शताब्दी माना गया है। एक **'स्फोटसिद्धि'** भरतमिश्र-विरचित, त्रिवेन्द्रम् से १९३७ ई० में प्रकाशित हुई है, जिसमें भगवान् औदुम्बरायण के स्फोटवाद का उल्लेख किया गया है[1] तथा शबरस्वामी पर आक्षेप किये गये हैं[2]। तथा अपने पक्ष में भगवान् उपवर्ष का उद्धरण दिया है।

भरतमिश्र-विरचित **स्फोटसिद्धि** में तीन परिच्छेद हैं—प्रत्यक्ष परिच्छेद, अर्थ परिच्छेद तथा आगम परिच्छेद।

अज्ञातकर्तृक **स्फोटसिद्धिन्यायविचार**[3] तथा शेषकृष्ण-विरचित **स्फोटतत्त्वनिरूपण**[4] प्रभृति अन्य कई ग्रन्थ इस विषय पर लिखे गये हैं।

कौण्डभट्टकृत वैयाकरण-भूषण (सार)

भट्टोजिदीक्षित के भ्रातुष्पुत्र तथा रंगोजि के पुत्र कौण्डभट्ट ने अपने गुरु भट्टोजि के ग्रन्थ **शब्दकौस्तुभ** पर आधृत व्याकरणदर्शन के एक श्रेष्ठ ग्रन्थरत्न की रचना की है, जिसका नाम **वैयाकरणभूषण** है तथा उसी के संक्षेप **वैयाकरणभूषणसार** की भी रचना की। मीमांसक का यह विचार समीचीन नहीं कि **वैयाकरणभूषण** की रचना भट्टोजिदीक्षित ने की थी,[5] क्योंकि **न्याय-**

---

[1] पृ० १।

[2] पृ० २८।

[3] त्रिवेन्द्रम् से गणपति शास्त्री द्वारा १९१७ में प्रकाशित।

[4] गुजराती प्रिंटिंग प्रेस द्वारा प्रकाशित।

[5] सं० व्या० शा०, भाग २, पृ० ४१७ वस्तुतः दीक्षित की रचना का नाम **'वैयाकरणभूषणकारिका'** है।

पदार्थदीपिका (या **पदार्थदीपिका**) में **तर्करत्न** तथा **वैयाकरणभूषण** का उल्लेख किया गया है[1]। **वैयाकरणभूषणसार** का रचनाकाल सन् १६५० ई० से पूर्व है। इसमें उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती अनेक प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थों का नामत: उल्लेख किया है, यथा—अप्पयदीक्षित,[2] नृसिंहाश्रम[3] भट्टोजिदीक्षितकृत **मनोरमा**, **शब्दकौस्तुभ** तथा **सि० कौ०**[4]।

भट्टोजि ने स्वरचित **शब्दकौस्तुभ का सार** ७० कारिकाओं में निबद्ध किया है। उन्हीं पर कौण्डभट्ट ने **वैयाकरणभूषणसार** की रचना की। इन ७० कारिकाओं में १४ विषयों का सन्निवेश किया गया है—

धात्वर्थ:, लकारार्थ:, सुबर्थ:, नामार्थ:, समासशक्ति:, शब्दशक्ति:, नञर्थ:, निपातार्थ:, भावप्रत्ययार्थ:, देवताप्रत्ययार्थ:, अभेदैकत्वसंख्या, संख्याविवक्षा, क्त्वाप्रत्ययादीनामर्था: तथा **स्फोटनिर्णय:**।

इन विषयों पर वेदान्तियों, नैयायिकों तथा मीमांसकों के सिद्धान्तों की विवेचना करके वैयाकरणपक्ष की प्रतिष्ठापना की गयी है। वैयाकरणभूषण की रचना तो विशिष्ट विद्वानों के लिए की गयी है, किन्तु **वैयाकरणभूषणसार** विद्यार्थियों तथा अल्पमेधस् जिज्ञासुओं के लिए है और यही अधिक लोकप्रिय भी हुआ है। इस पर हरिदीक्षित की टीका **काशिका**,[5] की रचना सन् १७९८ ई० में की गयी थी। भट्टोजि के शिष्य वनमाली मिश्र-विरचित **वैयाकरणमत्तोन्मज्जिनी** एक संक्षिप्त टीका है, जिसका रचनाकाल १६४० ई० के आसपास है। भैरवमिश्र-कृत **परीक्षा** भी प्रसिद्ध व्याख्या है, जो १८२४ के आसपास रची गयी होगी। हरिवल्लभ-विरचित **दर्पण** भी एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या है, जिसका उल्लेख उपरिवर्णित 'काशिका' टीका में किया गया है, अत: **दर्पण** का रचनाकाल १७५० ई० के आसपास होना चाहिये।

वैद्यनाथ पायगुण्डे के शिष्य मन्नुदेव की **कान्ति** नामक टीका कोलब्रुक के समय में (१७८३-१८८५ ई०) में कभी लिखी गयी थी।

नागेश भट्ट (१६७५-१७७५), महाराष्ट्री ब्राह्मण थे और भट्टोजि के पौत्र हरिदीक्षित के शिष्य थे। उनके पिता का नाम शिवभट्ट था और उपनाम 'काले' था। इनका सम्मान प्रयाग के पास 'शृंगवेरपुर' के

---

१. न्यायपदार्थदीपिका, पृ० ३२, काशी० सं० ; तर्करत्न, का पृ० ५१ पर।

२. वै० भू०, के० पी० त्रिवेदी सम्पा०, १९१५, पृ० २३२।

३. वही, पृ० ७७-७८ ; १६५।

४. वही, पृ० १।

५. सम्पा० के० पी० त्रिवेदी, १९१५।

राजाराम ने किया था। इन्होंने **'वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा'** नामक दार्शनिक-ग्रन्थ की रचना १७०८ ई० से पूर्व ही की थी, क्योंकि इनका एक हस्तलेख इसी सन् का सिन्धिया ओरियण्टल इन्स्टिच्यूट, उज्जैन में सुरक्षित है। मञ्जूषा के तीन संस्करण लिखे गये हैं। (१) **गुरुमञ्जूषा**, (२) **लघुमञ्जूषा**, (३) **परमलघुमञ्जूषा**। अन्तिम दो ग्रन्थ ही प्रख्यात तथा प्रचलित हैं। नागेश के शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे ने **लघुमञ्जूषा** पर 'कला' नाम्नी टीका लिखी है, जिसमें **गुरुमञ्जूषा** का उल्लेख किया है।

मञ्जूषा में वाक्यपदीय के सभी विषयों का संग्रह किया गया है। इनमें काव्यशास्त्रियों तथा वैयाकरणों, दोनों के समसामयिक विचारों को दृष्टि में रखकर व्याकरणविषयों का विवेचन किया गया है। जगदीश तर्कालङ्कार भट्टाचार्य की **शब्दशक्ति-प्रकाशिका** में व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि यह न्यायशास्त्र का ग्रन्थ है, तो भी व्याकरण में प्रतिपादित शब्दशक्ति से सम्बद्ध विचारों का दार्शनिक अध्ययन बड़ी खूबी से किया गया है। यह बंगाली थे और शब्दशक्ति की रचना सन् १६५३ में की थी। इसकी दो टीकाएं कृष्णकान्त विद्यावागीश (१६६६) तथा रामभद्र सिद्धान्तवागीश की (सुबोधिनी) प्रसिद्ध हैं। कृष्णकान्त की टीका से यह प्राचीन है।

ऊनत्रिंश अध्याय

पाणिनीयेतर व्याकरण

कौत्स-व्याकरण

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पा० ३, २, १०८ की व्याख्या करते हुए उदाहरण दिया है—**उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्,** जिससे संकेत मिलता है कि कौत्स नामक किसी व्यक्ति ने पाणिनि की शिष्यता स्वीकार की थी और सम्भवतः वैयाकरण के रूप में उभरा था। क्योंकि हाल ही में डा० एस० एम० कात्रे ने ग्वालियर के एक हस्तलेख की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, जो चार अध्यायों तथा १६ पादों में लिखित **कौत्स-व्याकरण** का कहा जाता है[1]। यह अथर्ववेद के प्रातिशाख्य **शौनकीय-चतुरध्यायिका** से बहुत मिलता जुलता है। इसमें अनेक छोटे-बड़े गद्य-पद्यात्मक वचन पाये जाते हैं, जिनकी संख्या वर्तमान भाग में चार है।

डा० कात्रे के मत में चतुरध्यायिका को शौनक की कृति नहीं माना जा सकता, क्योंकि ह्विट्ने के बर्लिन हस्तलेख में केवल अन्तिम अध्याय की पुष्पिका में ही **शौनकीय-चतुरध्यायिका** शीर्षक लिखा गया है। चतुर० ११८ में शौनक का मत इस प्रकार उद्धृत किया गया है—**प्रथमान्तानि तृतीयान्तानीति शौनकस्य प्रतिज्ञानं न वृत्तिः**। अर्थात् शौनक के मतानुसार पदान्त में वर्गों के प्रथमवर्ण तृतीय में परिणत हो जाते हैं, यद्यपि प्रयोग में ऐसा नहीं किया जाता। ऋक्-प्रातिशाख्य (शौनककृत) में यही नियम गार्ग्य के नाम से प्रतिपादित है[2], शाकटायन के अनुसार प्रथम ही रहता है[3]।

चतुरध्यायिका में शौनक के नाम से यह नियम पठित होने के कारण डा० कात्रे ने इसे शौनककृत मानने में सन्देह व्यक्त किया है, जबकि डा० ह्विट्ने ने चतुर० (१, ८) की टिप्पणी में ऋक्० प्रा० को शौनक की कृति मानने में झिझक व्यक्त की थी और कहा था कि ऋक्० प्रा० के अपने मतानुसार तो पदान्त अघोष वर्ण सदा सघोष ही हो जाने चाहियें।

---

[1] *N. I. A.* I, p. 382-396 (1938-39).

[2] ऋक्० प्रा० १, १५; तु० वही २, १०।

[3] वही १, १६।

वैसे डा० कात्रे के मतानुसार वर्तमान कौत्स पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित कौत्स ही होना चाहिये, क्योंकि इसके अनेकों सूत्र पाणिनीय अष्टाध्यायी के नियमों के समान ही हैं[1]। यद्यपि यास्क ने निरुक्त में कौत्स की चर्चा की है, तो भी उसका वर्तमान व्याकरण के कर्ता से समीकरण ठीक नहीं हैं। कौत्स गोत्र नाम होने कारण उस पूर्ववर्ती कौत्स का उत्तरवर्ती वंशज हो सकता है।

निरुक्त में उल्लिखित 'कौत्स' के अतिरिक्त आप० ध० सू० (१, १९, ४; १, २८, १), आश्व० श्रौ० सू० (१, २, ३; १, १, १८; १९; ७, १, १९), ला० श्रौ० सू० (१०, २९) तथा हेमाद्रि, परिशिष्ट खण्ड (२, २५) में भी कौत्स के मतों को भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में उद्धृत किया गया है, ये सभी कौत्स एक थे या भिन्न-भिन्न ? इस विषय में कुछ भी कहना कठिन है।

कातन्त्र-व्याकरण

हम ने देखा है कि पाणिनि के बाद भी व्याकरणशास्त्र का लगातार विकास होता रहा। कात्यायन के वार्तिक तथा पतञ्जलि की इष्टियां इस तथ्य के ज्वलन्त प्रमाण हैं। भाषा गतिशील है, अतः यह सतत विकसित होती रहती है। पतञ्जलि तक तो संस्कृत भाषा साहित्यिक तथा शिष्ट थी। बाद में यह पाण्डित्य-पूर्ण विवेचन, दार्शनिक विचार-विमर्श तथा धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रतिपादन का माध्यम बन कर रह गयी, अतः विकास की गति धीमी होती गयी। इस भाषा में नित्य नवीन प्रयोगों का समावेश होता ही रहा, जिनकी व्याख्या पाणिनीय व्याकरण नहीं कर सका। अतः जब पतञ्जलि के बाद पाणिनीय व्याकरण की नवीन उद्भावनायें अवरुद्ध हो गयीं, तो कातन्त्र प्रभृति अन्य व्याकरण-शास्त्रों का उद्भव होना स्वाभाविक था। विशेषता यह रही कि जहां पाणिनीय वैयाकरण 'लक्षणैकचक्षुष्क' होकर रह गये थे, वहां पाणिनीयेतर वैयाकरण 'लक्ष्यैकचक्षुष्क' बन कर सामने आये।

दूसरे, पाणिनि से पूर्व भी व्याकरण की दो धाराएं प्रवाहित होती थीं, एक ऐन्द्र-प्रातिशाख्य-धारा, दूसरी शाकटायन-आपिशलि प्रभृति के द्वारा प्रवर्तित धारा। पाणिनि ने द्वितीय सरणि का अनुसरण किया। प्रथम धारा भी इसके समानान्तर ही प्रवाहित होती रही। प्राच्य प्रदेशों में इसी का अधिक प्रभाव बना रहा[2]।

---

[1] *N. I. A.* I, p. 386-387.

[2] अभ्यङ्कर, डि० सं० ग्रा०।

पाणिनि की परम्परा से बहिर्भूत व्याकरण-सम्प्रदायों में **कातन्त्र-सम्प्रदाय** सर्वप्राचीन है, जिसे कालाप और कौमार भी कहते हैं[१]। महाभाष्य के अनुसार 'अद्यतनी', 'श्वस्तनी', 'भविष्यन्ती', 'परोक्षा' संज्ञाएं प्राचीन आचार्यों द्वारा व्यवहृत होती थीं। ये संज्ञाएं कातन्त्र में प्रयुक्त होने के कारण यह व्याकरण-सम्प्रदाय उसी प्राचीन परम्परा का पोषक प्रमाणित होता है, किन्तु इसके रचना-काल का ठीक-ठीक पता नहीं, केवल अनुमान लगाया जा सकता है। कथा-सरित्सागर के अनुसार कातन्त्र की रचना सातवाहन नृपति को पढ़ाने के उद्देश्य से की गयी थी। सातवाहन का काल द्वितीय शती ई० पू० का माना जाता है, अतः इसका रचनाकाल इसी समय के आस-पास होना चाहिये। दूसरे, शूद्रक-विरचित 'पद्मपराभृतकभाण' में कातन्त्र के अत्यन्त लोकप्रिय होने का उल्लेख है। शूद्रक का काल प्रथम शताब्दी ई० मानने के प्रमाण अधिक प्रबल हैं। अतः कातन्त्र का काल प्रथम शती ई० पू० से पूर्व है, किन्तु इसे पाणिनि से पूर्व नहीं माना जा सकता; न ही भाष्य में 'कलापक' शब्द से इसका ग्रहण सम्भव है। इसका रचना-काल द्वितीय शताब्दी ई० पू० माना जा सकता है[२]।

इसके कर्त्ता का नाम शर्ववर्मा है। तिब्बती सूत्रों के अनुसार इनका नाम वररुचि शर्ववर्मा था, जिन्होंने एक प्राचीन पंद्रहपादी व्याकरण का संक्षेप किया था। कातन्त्र की रचना-पद्धति पाणिनीय रचना-पद्धति से भिन्न है। इसमें केवल लौकिक शब्दों की ही सिद्धि के नियम बताये गये हैं, कुछ-एक वैदिक-शब्दों की सिद्धि की गई है। वे शब्द शर्ववर्मा की दृष्टि में लौकिक माने जाते हैं। इसमें केवल तीन अध्याय हैं—सन्धि, नाम तथा आख्यात। इनमें सन्धि के अन्तर्गत पांच, नाम में छह तथा आख्यात में आठ पाद हैं। सम्प्रति उपलभ्यमान कातन्त्र-व्याकरण में कृदन्त नाम का चतुर्थ अध्याय भी है जो वररुचि कात्यायन

---

[१] कालाप व्याकरण से तुलना करने पर दोनों में इतना साम्य है कि एक को दूसरे का भिन्न संस्करण मान सकते हैं, किन्तु दुर्गसिंह-प्रणीत कातन्त्रोणादिसूत्रवृत्ति तथा कलापोणादिसूत्रवृत्ति की तुलना करने पर दोनों में महान् भेद दृष्टिगोचर होता है। कातन्त्रोणादिवृत्ति चार पादों में विभक्त है, तो कलापोणादिसूत्र पांच पादों में विभाजित है। वस्तुतः कातन्त्रोणादिसूत्रों के चार पादों को कलाप० में पांच पादों में तोड़ दिया गया है। कलाप० का चतुर्थ पाद कातन्त्र० के ४, २२ पर समाप्त हो जाता है। कलाप० के कई सूत्र कातन्त्र० में नहीं पाये जाते तथा इसके कई सूत्र कलाप० में नहीं हैं? द्र० *A. I. O. C.* XXIV, p. 275.

[२] द्र० सत्यकाम वर्मा, सं० व्या० उद्भव०, पृ० ३४४; किन्तु अभ्यङ्कर, डि० सं० ग्रा० पृ० १०६।

[३] मीमांसक प्रभा० दि० सं० पृ० ५११।

द्वारा प्रणीत माना जाता है[1]। कातन्त्र के **कर्तृकर्मणोः कृति, 'नित्यम्' न निष्ठादिषु**[2] सूत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य शर्ववर्मा ने कृत्-प्रत्ययों का निर्धारण तो किया था, किन्तु उनका अनुशासन नहीं किया था। ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर वर्तमान कातन्त्र-व्याकरण दुर्गसिंह द्वारा प्रतिसंस्कृत माना जा सकता है[3]। इस व्याकरण में अव्यय, उपसर्ग, कारक, काल आदि की परिभाषाएं नहीं की गयीं, क्योंकि ये लोकसिद्ध हैं। कहीं पर पूर्वसूत्रों से जिन शब्दों का अधिकार चला आ रहा है, उस अधिकार की समाप्ति की सूचना पुनः पाठ से की गयी है। यथा—**एदोत्परः पदान्ते लोपमकारः** (१, २, ४०) सूत्र में पूर्व सूत्र से चले आ रहे पदान्त के अधिकार के रहने पर पुनः पदान्त ग्रहण अग्रिम सूत्र में पदान्त अधिकार की निवृत्त्यर्थं किया गया है। अनेक अप्रसिद्ध एवं अपाणिनीय शब्दों की सिद्धियां व्याख्याकारों ने दिखाने का प्रयास किया है; यथा—**कुरवोऽऽत्महितं मन्त्रं सभायाञ्चक्रिरे मिथः** (का० वृ० टी० १,५,६८) **पितरस्तर्पयामास'** (वही २, १, ६६) को व्याकरण-सम्मत सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। अर्थ-लाघवार्थ अनेक शब्दों की सिद्धि के लिए सूत्र नहीं रचे गये, किन्तु उनकी सिद्धि सूत्र-पठित 'वा' 'अपि' जैसे शब्दों के बल पर कर ली गयी है। का० धा० पाठ में नौ ही गण माने गये हैं। जुहोत्यादि को उणादि के अन्तर्हित मान लिया गया है। षट्पादी उणादि प्रकरण में उण् प्रभृति २९४ प्रत्ययों का प्रयोग किया गया है। गणपाठ भी उपलब्ध है, किन्तु लिंगानुशासन की रचना के विषय में कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। अध्यायों तथा विषयों के क्रम से प्रमाणित होता है कि उत्तरवर्ती पाणिनीय प्रक्रिया-ग्रन्थों की रचना की भी मूल प्रेरणा कातन्त्र से प्राप्त हुई और इस प्रकार के सर्वप्रथम ग्रन्थ **रूपावतार** ने कातन्त्र को ही आधार माना है।

कातन्त्र-व्याकरण के अनुसार शब्दरूपों का वर्णन गरुडपुराण में किया गया है[4]। अग्निपुराण के ग्यारह अध्यायों में वर्णित व्याकरण-प्रकरण भी कातन्त्र से प्रभावित है[5]। कातन्त्र के सूत्रों की संख्या १४१२ है[6]। बौद्ध पण्डित इसे मध्य एशिया तक ले गये थे, जहां से ग्रन्थविशेष प्राप्त हुए हैं। इसका कारण यह था

---

[1] द्र० दुर्गवृत्ति कृत प्रकरण आरम्भ 'कात्यायनेन ते सृष्टा'।

[2] बलदेव उपाध्याय, सं० शा० इ० पृ० ५६७।

[3] वही।

[4] अध्याय २०३-२०४।

[5] अध्याय ३४९-३५९।

[6] द्र० एग्लिग का संस्करण १८७४-१८७८; दुर्गवृत्ति सहित, कलकत्ता; अभ्यङ्कर, डि० सं० ग्रा० पृ० १०६।

कि कात्यायन-विरचित पालिव्याकरण पर भी कातन्त्र का प्रभूत प्रभाव है। कातन्त्र परिशिष्ट की रचना श्रीपति दत्त ने की थी, जिसका काल अज्ञात है, किन्तु सम्भवतः ११वीं शती से पूर्व का है।

टीकाएं :—इस पर अनेक व्याख्याएं लिखी गयी हैं। सर्वप्राचीन तथा सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्या दुर्गसिंह-विरचित **दुर्घटवृति है**। दुर्गसिंह ने भारवि तथा मयूर के पद्यों से उदाहरण लिये हैं[1] तथा काशिका ने दुर्गसिंह के मत का उल्लेखपूर्वक खण्डन किया है। इनका काल लगभग ५०० और ६५० ई० के मध्य में ६०० ई० के लगभग मानना सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है। **दुर्घटवृत्ति** पर एक अन्य दुर्गसिंह ने टीका लिखी है। इसका काल नवीं शती ई० के आसपास है। विद्वानों ने इन दोनों को एक ही व्यक्ति मानने की भूल की है[2]। त्रिलोचन दास (११००) कृत **'पञ्जिका'**, वर्धमान-रचित **'विस्तार'** (११वीं शती), महादेव-विरचित **'शब्दसिद्धिवृत्ति'** (१२८० ई०), मेरुतुङ्गसूरिविरचित **'बालबोध'** (सन् १३८७), भावसेनत्रैविद्यकृत **'रूपमालावृत्ति'**, मोक्षेश्वरकृत **'आख्यानवृत्ति'**, तथा पृथ्वीचन्द्र सूरि-कृत 'वृत्ति', सुषेण विद्याभूषण-कृत **'कलापचन्द्र'**, हरिरामकृत **'व्याख्यासार'**, जगद्धर भट्ट काश्मीरीकृत **'बालबोधिनी'** (सन १२९० के आसपास) प्रभृति उपलभ्य हैं। अल्बेरुनी के अनुसार काबुल के राजा आनन्दपाल के गुरु उग्रभूति ने **'शिष्यहितान्यास'** नामक वृत्ति लिखी थी। कारकों पर **कातन्त्रप्रदीप या 'विद्यासागर'** तथा धातुओं पर कुलचन्द्रकृत **'व्याख्या'** उपलभ्य हैं।

चन्द्रगोमी-विरचित

चान्द्रव्याकरण

ऐसा प्रतीत होता है कि पतञ्जलि के उत्तरकाल में संस्कृत व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन अवनति के गर्त में जा गिरा और जैसा कि भर्तृहरि के वाक्यपदीय से विदित होता है, बैजि, सौभव तथा हर्यक्ष-सदृश शुष्क तार्किकों का बोलबाला होने लगा[3]। व्याकरणशास्त्र में मौलिक रचना के स्थान पर 'त्रिमुनि

---

[1] किरात १, ८; सूर्यशतक, श्लोक २।

[2] विण्टरनित्स ने दोनों दुर्गसिंहों में भेद न करके इस टीका को भी दौर्गसिंही कह दिया है। हि० इण्ड० लि०, भाग ३, पृ० ४४० ; सूर्यकान्त, सं० वाङ्० इ० १९७२, पृ० ३२७ ; कीथ, सं० सा० इ० हिन्दी, पृ० ५११।

[3] वाक्य०, द्वितीय काण्ड, ४८४-४९०।

व्याकरण' पर आलोचनात्मक टीका-टिप्पणियों का युग कम से कम चार सौ वर्ष तक चलता रहा। महाभाष्य की सर्वथा उपेक्षा होने लगी और 'संग्रह' सरीखा ग्रन्थरत्न लुप्त हो गया। 'व्याकरण-आगम' की सर्वथा अवहेलना होने के कारण इस की परम्परा को गहरा आघात लगा। परिणाम-स्वरूप महाभाष्य दक्षिण में ग्रन्थमात्र के रूप में रह गया। इसी बीच 'व्याकरणागम' का उद्धार करने का बीडा एक वैयाकरण चन्द्राचार्य या चन्द्रगोमी[1] तथा उनके शिष्यों ने उठाया तथा इसका प्रचार तथा प्रसार किया। चन्द्रगोमी ने न केवल महाभाष्य का उद्धार ही किया, अपितु स्वयं भी नवीन व्याकरण की रचना की, जो संस्कृत जगत् में **'चान्द्रव्याकरण'** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह व्याकरण शुद्ध 'त्रिमुनि व्याकरण'— पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलिकृत सूत्रों, वार्तिकों एवं भाष्य पर आधृत है तथा चार-चार पादात्मक छह अध्यायों तथा ३०९९ सूत्रों में निबद्ध है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें पारिभाषिक संज्ञाओं का प्रयोग नहीं किया गया[2] और न ही स्वर-वैदिकी-प्रक्रिया की चर्चा की गयी है, किन्तु १४ शिवसूत्रों में से १३ सूत्रों को यहां समाविष्ट किया गया है—हयवरट् तथा लण् को एक ही सूत्र 'हयवरटलण्' में समाहित कर लिया है।

इन्होंने अपने व्याकरण में महाभाष्य को बहुत मान्यता प्रदान की है। इन्होंने प्रायः पतञ्जलि द्वारा निर्धारित सूत्रपाठ को अपने व्याकरण में स्थान दिया है[3] तथा जिन सूत्रों या सूत्रांशों का पतञ्जलि ने प्रत्याख्यान कर दिया है, उनका इन्होंने भी अपने व्याकरण में समावेश नहीं किया, यथा एकशेष प्रकरण। इतना होने पर भी अनेक स्थानों पर चन्द्राचार्य ने पतञ्जलि के व्याख्यान का अनुसरण न करके अन्य वैयाकरणों के व्याख्यानों को स्वीकार किया है[4]।

हमने ऊपर लिखा है कि चान्द्र० के छह अध्याय हैं तथा इसके अन्त में स्पष्ट लिखा है **'समाप्तं चेदं चान्द्रव्याकरणं शुभम्'**, तथापि मीमांसक महोदय ने चान्द्रवृत्ति के कुछेक वचनों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है[5], जिनसे सङ्केत मिलता है कि इस ग्रन्थ में स्वरप्रक्रिया का भी किसी समय समावेश था।

---

[1] राजतरंगिणी I. १७५ में कल्हण।

[2] **'चन्द्रोपज्ञम् असंज्ञकं व्याकरणम्'**—चन्द्रवृत्ति, लीबिख़ सं०, पृ० १३४, २, २, ६८ पर।

[3] तु० **'तुमो लुक् चेच्छायाम्'** (चान्द्र० १, १, २२); महा० भा० १, १, ७ **'तुमुनन्ताद्वा तस्य लुग्वचनम्**।

[4] **'रङ्कोः प्राणिनि वा'**, चान्द्र० ३, २, ९ की तुलना महाभाष्य ४, २, १०० से करें।

[5] वही, पृ० ५७३-७४।

यथा—'**तव्यस्य वा स्वरितत्वं वक्ष्यामः**'[1] '**जनिवधोरिगुपान्तानां च स्वरं वक्ष्यामः**'[2] । '**ओदनाट्ठट्**' की व्याख्या में कहा गया है—**स्वरं तु वक्ष्यामः**[3] । '**अनौ वस इति प्रतिषेधान्नाद्युदात्तत्वम्**'[4] ।

चान्द्र (१, १, १४५) की वृत्ति में तो स्पष्ट ही अष्टम अध्याय का उल्लेख किया गया है । 'स्वरविशेषमष्टमे वक्ष्यामः' । अन्त में चान्द्रपरिभाषापाठ में परिभाषा ८६ में भी स्वरविधि की ओर सङ्केत किया गया है—'**स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्**' । इन सभी प्रमाणों से प्रकट होता है कि इस व्याकरण में मूलतः अष्ट अध्याय थे, जो बाद में स्वरवैदिक-प्रक्रिया के प्रति जनसाधारण की उपेक्षावृत्ति के कारण नष्ट हो गये । प्रतीत होता है कि ये अन्तिम दो अध्याय १२वीं शती के भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव से पूर्व ही नष्ट हो चुके थे, क्योंकि उन्होंने चन्द्रगोमी को 'भाषा सूत्रकार' की संज्ञा से अभिहित किया है[5] । चान्द्र-व्याकरण के गणपाठ, धातुपाठ तथा उणादि सूत्रपाठ भी प्रकाशित हो चुके हैं । उणादि में केवल तीन पाद हैं, जिनमें कुल ३२८ सूत्र हैं । धातुपाठ के दस गणों में कुल ११७४ धातु-पठित हैं, जो पा० धा० पाठ से अधिक भिन्न नहीं हैं, केवल संख्या में कम हैं ।

चन्द्रगोमी का काल ५०० ई० से पूर्व है, क्योंकि राजतरंगिणी में कल्हण की सूचनानुसार चन्द्राचार्य काश्मीर के राजा अभिमन्यु के निर्देश पर ही महाभाष्य के उद्धार में प्रवृत्त हुए थे तथा नवीन व्याकरण की रचना की थी[6] ।

यद्यपि महाराज अभिमन्यु का काल अद्ययावत् विवादास्पद बना हुआ है, उसे ४२३ ई० पू० से लेकर ५०० ई० तक विभिन्न कालों में माना जाता है[7] ।

अतः इस काल-निर्णयार्थ एक अन्य दृष्टिकोण से विचार अपेक्षित है । भर्तृहरि ने चन्द्राचार्य को महाभाष्य का उद्धारक माना है, भर्तृहरि के काल के विषय में भी पर्याप्त ऊहापोह हो चुका है और अन्तिम प्रयास के फलस्वरूप भर्तृहरि पर अपने विस्तृत तथा दीर्घकालीन गहन अध्ययन के आधार पर

---

[1] चान्द्रवृत्ति १, १, १०५ ।

[2] चान्द्रवृत्ति १, १, १०८ ।

[3] चान्द्रवृत्ति ३, ४, ६८ ।

[4] चान्द्रवृत्ति १, १, १३४ ।

[5] भाषावृत्ति ७, ३, ९४ ।

[6] राजतरंगिणी, १, १७४, १७६ ।

[7] बिल्फोर्ड ४२३ ई० पू०, बोहत्लिंक १०० ई० पू०, प्रिंसिप ७३ वर्ष ई० पू०, लासेन ४० वर्ष ईसवीय, तथा स्टाईन ४००-५०० ई० ।

डा० के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर ने भर्तृहरि का काल पञ्चम शती ई० के पूर्व ही निर्धारित किया है[1]। इस कारण चन्द्राचार्य का काल ४०० ई० से पश्चात् नहीं हो सकता। यदि महाभाष्य की रचना १५० ई० पू० में हुई थी, तो उसके अध्ययन-अध्यापन के लुप्त होने में ५०० वर्षों का समय पर्याप्त माना जा सकता है। चन्द्रगोमी बंगदेशवासी थे।

डा० बेल्वल्कर ने चन्द्रगोमी-विरचित **शिष्यलेखा** नामक कविता तथा **लोकानन्द** नामक नाटक का भी उल्लेख किया है[2]।

व्याख्याएं—(१) यद्यपि प्रसिद्धि के अनुसार चान्द्र-व्याकरण पर लगभग १५ वृत्तियां लिखी गयी थीं, तो भी इस समय केवल एक वृत्ति उपलब्ध है, जो आचार्य धर्मदास की कृति कही जाती है तथा रोमन अक्षरों में प्रकाशित हो चुकी है[3], किन्तु पं० मीमांसक महोदय के मतानुसार यह रचना स्वयं चन्द्रगोमी की स्वोपज्ञ-वृत्ति है, क्योंकि अनेक आचार्यों ने इसे चन्द्र के नाम से उद्धृत किया है[4]।

(२) एक वृत्ति कश्यपभिक्षु ने भी सं० १२५७ (१२०० ई०) के लगभग चान्द्र सूत्रों पर लिखी थी। यह लङ्का में बहुत विख्यात है[5]। कश्यप के नाम से चान्द्र-व्याकरण के अनुरूप एक लघु-व्याकरण **बालावबोध** भी प्रसिद्ध है[6], जो **लघुकौमुदी** के समान है।

संस्करण :—राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत चान्द्रसूत्रों का एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित हुआ है, जोधपुर, १९६७।

जैनेन्द्र व्याकरण

आचार्य देवनन्दी, अपर-नाम पूज्यपाद अथवा जिनेन्द्रबुद्धि ने जैनेन्द्र-संज्ञक व्याकरण की रचना की है[7]। जैनेन्द्रबुद्धि या जिनेन्द्र द्वारा प्रणीत होने के

---

१. भर्तृहरि, पृ० २, १३, १४।

२. सिस्टम्स०, पैरा ४५।

३. डा० ब्रूनो लीबिख़ ने तिब्बती भाषा से अनुवाद किया है तथा लाइपज़िग से प्रकाशित कराया है, द्र० सिस्टम्स०, पैरा ४२।

४. मीमांसक, वही, पृ० ५७६-७७।

५. कीथ, सं० सा० इ०, पृ० ४३१।

६. सिस्टम्स०, पैरा ४६।

७. द्र० श्रवण बेलगोल का शिलालेख, श्लोक २-३।

कारण इसे 'जैनेन्द्र' कहते हैं। इस व्याकरण के दो पाठ उपलब्ध होते हैं, और दोनों के ऊपर टीकाएं भी प्राप्य हैं। लघुपाठ लगभग ३००० (तीन सहस्र) सूत्रों का है और बृहत्पाठ तीन सहस्र सात सौ सूत्रों का।

औदीच्य लघुपाठ में ५ अध्याय, २ पाद और ३०३६ सूत्र हैं, जिनमें पाणिनि की अष्टाध्यायी को अन्तर्हित कर लिया गया है। इस पाठ की अभयनन्दी-कृत **'महावृत्ति'** में बहुत से वार्तिक मिलते हैं और यही संस्करण देवनन्दी की मूल रचना प्रतीत होती है[1]। इसकी विशेषता एकशेष का अभाव है[2], यद्यपि पाणिनि पर महाभाष्य से प्राचीन **'माधुरी वृत्ति'** के अनुसार पाणिनि ने भी एकशेष को 'अशिष्य' माना था[3]। दूसरे, इसमें अल्पाक्षर संज्ञाओं का बाहुल्य है। एप् (गुण), दः (आत्मेनपद) दि (प्रगृह्य) बम् (बहुव्रीहि) बम् (तत्पुरुष), षम् (तत्पुरुष), हः (अव्ययीभाव) इस प्रकार की संज्ञाओं की भरमार के कारण यह व्याकरण अधिक जटिल हो गया है। जैन व्या० का मूल आधार पा० व्या० होने के कारण यहां भी पा० व्या० के समान पूर्वत्रासिद्धम् (५, ३, २७) सूत्र है, जो आरम्भ के साढ़े पांच अध्यायों के प्रति लगभग अन्तिम २ पादों को असिद्ध घोषित करता है। पा० सूत्रों के अतिरिक्त कात्यायन के वार्तिकों तथा पतञ्जलि की इष्टियों के सहारे नये शब्दों की सिद्धि के लिए नवीन सूत्रों का निर्माण किया गया है। देवनन्दी कर्णाटक के निवासी थे, **कर्णाटक-कवि-चरित्र** के कर्ता के अनुसार गंगवंशीय राजा दुर्विनीत (सन् ४८२-५१२) पूज्यपाद देवनन्दी के शिष्य थे[4]। **'दर्शनसार'** नामक प्राकृतग्रन्थ के अनुसार पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दी ने विक्रम के मरणोपरान्त ५२६ ई० वर्ष में मदुरा में द्रविड-संघ की स्थापना की थी, इसमें भी पूर्व प्रमाण की पुष्टि होती है।

देवनन्दी ने सिद्धसेन (५, १, ७) तथा समन्तभद्र (५, ४, ४०) के मतों का उल्लेख किया है। जिनरत्न गणि ने **विशेषावश्यक** भाष्य की रचना ६६६ वि० (६१० ई०) में की थी, जिसमें सिद्धसेन के मत की आलोचना की गयी है। अतः सिद्धसेन का समय अनुमानतः पञ्चम शती का आरम्भ माना जा सकता है और देवनन्दी का पञ्चम शती का अन्त। समन्तभद्र उसके समकालिक थे, क्योंकि समन्त ने उनके ग्रन्थ **सर्वार्थसिद्धि** के मंगल श्लोक पर **'आप्तमीमांसा'** की रचना की है।

देवनन्दी ने अपने व्याकरण पर **'जैनेन्द्र'** नामक न्यास की रचना की थी, जो अनुपलभ्य है, जैनेन्द्र-व्याकरण की अनेक व्याख्याएं उपलब्ध हैं, जिनमें अभयनन्दी-

---

[1] द्र० मीमांसक, वही, प्रथम भाग, द्वि० सं० पृ० ५३२-३३।

[2] **देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम्**, जैन० वृ० १, ४, ९७।

[3] द्र० भाषावृत्ति (१, २, ५७)।

[4] नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ११६।

रचित 'महावृत्ति' सर्वोत्तम है। इसमें कात्यायन के वार्तिकों का भी सङ्कलन किया गया है। म० भाष्य तथा काशिका के गहन अध्ययन के फलस्वरूप यह पाणिनीय व्याकरण की पूर्ण सामग्री को प्रस्तुत करती है। बहुत से उदाहरण इनके अपने अध्ययन के परिणाम-स्वरूप है, जिनमें जैन-सम्प्रदाय-विषयक सामग्री प्रचुरमात्रा में एकत्र कर दी गयी हैं। उदाहरण के रूप में शिशुपालवध में प्रयुक्त 'प्रति चस्करे' के प्रस्तुत करने के कारण यह शिशु० (७०० ई०) से उत्तरवर्ती ठहरता है। भट्ट अकलङ्कदेव की प्रसिद्ध रचना 'तत्त्वार्थ वार्तिक' का उल्लेख करने के कारण यह ७५० ई० के बाद का है। प्रभाचन्द्रकृत 'शब्दाम्भोजभास्करन्यास' के तृतीय अध्याय में अभयनन्दी को प्रणाम किया है। इसका रचनाकाल १०७५ ई० के आसपास है। अतः अभयनन्दी का काल अष्टम शती और नवम शती का आरम्भ ठहरता है।

शब्दाम्भोज० 'महावृत्ति' से भी बड़ा ग्रन्थ है, किन्तु सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं होता। इसका रचनाकाल १०२५-१०७५ ई० माना जाता है। श्रुतकीर्ति (११वीं शती) की रचना 'पञ्चमवस्तु' भी प्रक्रियाग्रन्थ है। यही औदीच्य संस्करण पूज्यपाद-विरचित मूलरचना है, जिसमें एकशेष समास को मान्यता नहीं दी गयी है न कि दाक्षिणात्य संस्करण, जैसा कि दाक्षिणात्य संस्करण के सम्पादक पं० श्रीलाल शास्त्री ने सिद्ध करने का प्रयास किया है[1]।

जैनेन्द्र-बृहत्पाठ (दाक्षिणात्य)

देवनन्दी के सूत्रों से संस्कृत के समस्त प्रयोगों की सिद्धि न देखकर गुणनन्दी ने जैनेन्द्र-व्याकरण का प्रतिसंस्कार किया और उसका नाम **शब्दार्णव** पड़ा। जैन-सम्प्रदाय में अनेक गुणनन्दी हुए हैं। **शब्दार्णवकार** सम्भवतः श्रवणबेलगोल के ४२, ४३ और ४७ शिलालेख में उल्लिखित गुणनन्दी हो सकते हैं। कर्णाटक कविचरित्र में गुणनन्दी के प्रशिष्य और देवेन्द्र के शिष्य पम्प का जन्मकाल सं० ९५९ (सन् ९०२) लिखा है। अतः गुणनन्दी का काल ८५० ई० होना चाहिये। यह व्याकरण शाकटायन व्या० से प्रभावित है, जो अमोघवर्ष के शासन-काल में रचा गया था। इसलिए भी उपर्युक्त काल संगत ही है। इसकी दो टीकाएं उपलभ्य हैं— 'शब्दार्णव-चन्द्रिका', जो सोमदेवसूरिकृत है (त्रयोदश शती का पूर्वार्ध), दूसरी "शब्दार्णव-प्रक्रिया" है, जिसके कर्त्ता का पता नहीं, किन्तु यह गुणनन्दी-रचित नहीं हो सकती, जैसा कि प्रकाशक ने दर्शाने का प्रयास किया है। पं० श्रीलाल ने इसे ही जैनेन्द्र-व्याकरण के रचयिता पूज्यपाद की मूलकृति सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु जैसे कि ऊपर कह चुके हैं, इसका प्रतिसंस्कर्ता

---

[1] द्र० मीमांसक, वही।

गुणनन्दी है[1], जिसने मूल जैनेन्द्र-व्याकरण में अनेक परिवर्तन-परिवर्धन करके इसे पूर्णता प्रदान करने का प्रयास किया।

जैन-शाकटायन

जैसा कि पार्श्वनाथचरित्र के कर्त्ता वादिराज सूरि के लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है[2], जैन-शाकटायन के कर्ता का नाम पाल्यकीर्ति था। पाल्यकीर्ति यापनीय सम्प्रदाय के आचार्य थे, जो अब लुप्त हो चुका है। इस व्याकरण में इन्होंने जैनेन्द्र-व्याकरण की त्रुटियों को पूरा करने का प्रयास किया है। इसमें चार अध्याय हैं, जिनमें ३२३६ सूत्र हैं। इसमें पाणिनीय तन्त्र का पूरा उपयोग किया गया है। इसमें वार्तिकों और इष्टियों के पृथक् पाठ की आवश्यकता नहीं रही, सब कुछ सूत्रों में ही कह दिया गया है। इसके व्याख्याकार यज्ञवर्मा के अनुसार **यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्**, जिससे इसकी पूर्णता तथा सर्वाङ्गीणता सिद्ध होती है। इसके पाठ उणादि तथा लिंगानुशासन सभी कुछ हैं। अपने सूत्रों की शाकटायन ने स्वयं व्याख्या की है, जिसे **अमोघवृत्ति** कहा जाता है, जिसका परिमाण १८००० श्लोकात्मक है। राजा अमोघवर्ष प्रथम के राज्यकाल में रचित होने के कारण इसका नाम **अमोघा** पड़ा है। अमोघवर्ष राष्ट्रकूट वंश के प्रख्यात राजा थे, जिनका राज्यारोहणकाल ८७६ वि० माना जाता है। सन् ९२४ के एक शिलालेख से इनका शासनकाल दशमशती वि० के प्रथम चरण तक तो प्रमाणित होता ही है। अतः पाल्यकीर्ति शाकटायन का काल लगभग ८१० से ८७० ई० तक माना जा सकता है। गणरत्नमहोदधि के कर्त्ता वर्धमान ने शाकटायन के नाम से अनेक ऐसे उदाहरण दिये हैं, जो **अमोघवृत्ति** में उपलब्ध होते हैं। शाकटायन व्याकरण की एक विशेषता यह भी है कि इसमें लिंग और समासान्त प्रकरण को समास प्रकरण में और एकशेष को द्वन्द्वान्तर्गत पढ़कर प्रक्रियानुसारी रचना की नींव रख दी है। **अमोघावृत्ति** पर आचार्य प्रभाचन्द्र ने **न्यास** नामक टीका की रचना की। यह प्रभाचन्द्र तथा जैनेन्द्र-व्याकरण पर **शब्दाम्भोज-भास्कर-न्यास** के कर्त्ता प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं या पृथक्-पृथक्, यह निश्चय नहीं हो सका। शाकटायन के न्यास के केवल दो अध्याय उपलब्ध हैं। १३ वीं शती के श्रीकृष्णलीलाशुकमुनि ने दैवम् की पुरुषकार टीका में **शाकटायन न्यास** को उद्धृत किया है[3]। दूसरे न्यास का रचना-काल १३ वीं शताब्दी से पूर्व प्रमाणित होता है। यज्ञवर्मा ने अमोघवृत्ति का संक्षेप करके **चिन्तामणि** नामक टीका की रचना की, जिसे **लघीयसी** भी कहते हैं। चिन्तामणि पर अजित सेनाचार्य-कृत **मणि-प्रकाशिका** टीका है।

---

[1] द्र० मीमांसक, वही।

[2] मीमांसक, सं० वा० शा०, प्रथम भाग, (द्वि० सं०) पृ० ५४७-४८।

[3] **शाकटायनन्यासे तुणोपदेशो वाऽयम्** पृ० ६६।

अभयचन्द्राचार्य ने सिद्धान्तकौमुदी के ढंग की रचना **प्रक्रिया-संग्रह** नाम से लिखी, जिसमें समस्त सूत्रों की व्याख्या नहीं है। भावसेन त्रैविद्यदेव की 'शाकटायन टीका' तथा दयापाल मुनि द्वारा रचित **रूपसिद्धि**, दोनों प्रक्रियानुसारी टीकाएं हैं। दयापाल का काल ११ वीं शती वि० का मध्य अथवा दशवीं शती ई० का आरम्भ हो सकता है।

सरस्वती-कण्ठाभरण

धारानरेश परमारवंशीय महाराज भोज ने ११वीं शती में व्याकरण के ग्रन्थ **सरस्वतीकण्ठाभरण** की रचना की है। यह अत्यन्त विस्तृत एवं विशाल रचना है। धातु-पाठ को छोड़कर इन्होंने वार्तिकों, इष्टियों, गणपाठ तथा उणादि-प्रत्ययों का एकत्र सङ्कलन करके सूत्रों में ही सन्निविष्ट कर दिया है, जिनकी संख्या स्वभावतः पा० सूत्रों से डेढ़ गुणी हो गयी है।

अपने शब्दानुशासन को इन्होंने पा० तथा चान्द्र दोनों पर आधृत किया है तथा इस पर स्वोपज्ञ वृत्तियां लिखी थीं, जो अब उपलभ्य नहीं हैं। सरस्वती० के आठ अध्याय हैं, जिनमें ६४३१ सूत्र हैं तथा परिभाषा, लिंगानुशासन तथा उणादि का भी समावेश है। आदि के सात अध्यायों में लौकिक शब्दों का विवेचन है और अष्टम में वैदिक शब्दों का अन्वाख्यान है।

पाणिनीय वर्ण-समाम्नाय का पाठ करके प्रथम पाद में धातु, प्रातिपदिक, प्रकृति, प्रत्यय, प्रभृति अस्सी संज्ञाओं का वर्णन है। द्वितीय पाद को परिभाषा-पाठ कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें अनेक परिभाषाएं सूत्ररूप में पढ़ी गयी हैं। तृतीय पाद में 'सन्' आदि प्रत्ययों को गिनाकर शप् आदि विकरणों तथा अण् आदि कुछ कृत्-प्रत्ययों को दिया गया है। चतुर्थ पाद में भी कृत्-प्रत्ययों का ही उपदेश किया गया है। द्वितीय अध्याय में तीन पादों में उणादियों का प्रतिपादन है। चतुर्थ पाद में पुनः कृत्प्रत्ययों को ही गिनाया गया है। तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में कुछ आदेश तथा विभक्तियों की प्रयोग-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय पाद में अव्ययीभाव तथा तत्पुरुष समास का, तृतीय पाद में बहुव्रीहि एवं द्वन्द्व समास का निरूपण किया गया है। चतुर्थ पाद में स्त्री-प्रत्ययों का विवरण दिया गया है। चतुर्थ तथा पञ्चम अध्यायों में तद्धित-प्रत्ययों का अनुशासन किया गया है। षष्ठ अध्याय में द्वित्व, रूढ शब्दों का निपातन, अलुक् प्रकरण तथा अनेक आदेशों, प्रकृति कार्यों तथा इडादि आगमों का निर्देश किया गया है। सप्तम अध्याय में वृद्धि, दीर्घ प्रभृति

कार्य, गुण, प्लुत, पदद्वित्व तथा अन्य प्रकीर्ण विषयों का निरूपण किया गया है। अष्टम के प्रथम दो पादों में वैदिक शब्दों की सिद्धि तथा अन्तिम दो में स्वर-संचार पर विचार किया गया है।

तृतीय पाद में स्वरविवेचन के अन्तर्गत फिट्सूत्रों का भी समावेश किया गया है। हम ऊपर कह चुके हैं कि भोज ने सरस्वती० पर स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना की थी। इसके अतिरिक्त दण्डनाथ नारायण भट्ट (१२वीं शती) ने **हृदयहारिणी** नाम्नी लघु वृत्ति की रचना की है। दण्डनाथ का नाम देवराजयज्वा की निघण्टु-व्याख्या में लिया गया है। देवराज सायण से पूर्ववर्त्ती हैं। अतः उनका काल १४ वीं शती का पूर्वार्ध माना जाता है। अतः दण्डनाथ यज्वा से प्राचीन हैं। हृदयहारिणी-सहित **सरस्वती-कण्ठाभरण** साम्बशास्त्री द्वारा सम्पादित होकर त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित हो चुका है। प्रक्रियाकौमुदी पर 'प्रसाद' के रचयिता विट्ठल ने अपने ग्रन्थ में सरस्वती० के किसी प्रक्रिया ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जिसका नाम **पदसिंधुसेतु** था। केरलीय नारायण भट्ट ने स्वरचित **प्रक्रिया-सर्वस्व** में सरस्वती० के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की है।

यद्यपि भोज ने इस रचना में प्रत्यय, आगम प्रभृति बहुधा पाणिनि के ही ग्रहण कर लिये हैं, तो भी अष्टाध्यायी के सूत्रक्रम तथा सूत्रों के स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया है। कहीं पूर्णरूपेण, कहीं अंशतः और कहीं कुछ परिवर्तन करके पाणिनीय-सूत्रों का उपयोग किया ही गया है। सूत्रों की एक बड़ी संख्या भोज की निजी उद्भावना का परिणाम है। इसमें सन्देह नहीं कि भोज की इस विषय में मौलिक धारणा पाणिनि की अष्टाध्यायी के सदृश ही एक नवीन किन्तु सर्वांग-पूर्ण व्याकरण लिखने की थी, जो पाणिनीय-व्याकरण से अधिक सरल तथा बोधगम्य हो।

इसमें शिवसूत्रों को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया गया है। सूत्रों के अन्तर्गत वार्तिकों, उणादि सूत्रों, गणपाठ, परिभाषा, फिट्-सूत्रों एवं महाभाष्य तथा काशिका प्रभृति ग्रन्थों में प्रतिपादित उपयोगी विचारों तथा परिवर्धित सामग्री का समावेश करने का पूर्ण प्रयास किया है[1]। परिणामस्वरूप इसमें पा० के ७५० उणादि-सूत्रों के मुकाबले में ७९४ उणादिसूत्र पढ़े गये हैं। ५५० के लगभग वार्तिकों, १५० के आसपास गणसूत्रों तथा उनके गणों की परिभाषाओं तथा धातुपाठों को भी समाविष्ट किया गया है। ८७ फिट्सूत्रों को भी इसमें ग्रहण कर लिया गया है।

सिद्ध-हैमशब्दानुशासन

जैन आचार्य हेमचन्द्र ने व्याकरण का एक प्रौढ़ ग्रन्थ **सिद्ध-हैमशब्दानुशासन** के नाम से लिखा। यह व्याकरण संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का

---

[1] टी० आर० चिन्तामणि, भूमिका, पृ० १६ (स० कण्ठा०)।

है। आरम्भिक ७ अध्यायों के २८ पादों में संस्कृत भाषा का व्याकरण है, जिसमें ३५६६ सूत्र हैं और १००६ उणादि सूत्र हैं। आठवें अध्याय में प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची तथा अपभ्रंश आदि का व्याकरण है, जिसमें १११९ सूत्र हैं। इसके इस नाम का भी कारण है। यह ग्रन्थ इनके आश्रयदाता जयसिंह सिद्धराज के आदेश से लिखा गया था। इसलिए इसमें सिद्ध शब्द का समावेश किया है। इसका रचना काल ११९४ कहा जाता है[1]। इस रचना का प्रेरणा-स्रोत भोजकृत **सरस्वती-कण्ठाभरण** ही है तथा रचनाक्रम कातन्त्र के समान प्रकरणानुसारी है। यह अत्यन्त विस्तृत तथा सर्वाङ्गपूर्ण पञ्चांगी रचना है। सूत्रपाठ, धातुपाठ, उणादि सूत्र, गणपाठ तथा लिंगानुशासन—सभी अंगों से विभूषित होने के कारण ही इसका नाम पञ्चांगी व्याकरण है। इस पर इनकी वृत्ति भी उपलभ्य है और इस समस्त विशाल रचना का परिमाण सवा लाख श्लोकात्मक कहा जाता है। यद्यपि यह रचना कातन्त्रानुसारी है, तो भी जैनशाकटायन का विशेष प्रभाव लक्षित होता है, किन्तु सभी प्राचीन जैन अथवा जैनेतर वैयाकरणों से कुछ न कुछ ग्रहण करने की छाप है। यद्यपि हेमचन्द्र ने चारों खिलों—धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र तथा लिंगानुशासन पर स्वोपज्ञ वृत्तियां लिखी हैं, तो भी उणादि वृत्ति विशेष महत्त्वशालिनी है। इतनी प्रामाणिकता तथा विस्तृत स्वोपज्ञ वृत्तियों के रहते हुए भी इस व्याकरण पर अनेक व्याख्याएं लिखी गयी हैं। हेमचन्द्र ने उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए २८ सर्गात्मक ऐतिहासिक द्वयाश्रय महाकाव्य की भी रचना भट्टिकाव्य के अनुकरण पर की है, जिसके बीस सर्गों में संस्कृत व्याकरण के तथा अन्तिम आठ सर्गों में प्राकृत-व्याकरण के उदाहरण संकलित किये गये हैं। इनके धातुपाठ में नौ गण हैं। जुहोत्यादि को अदादि के अन्तर्भूत मान लिया गया है और १९८० धातु हैं, जिनमें अनेक नवीन धातुओं की भी कल्पना की गयी है, यथा—फक्क निम्नषे, जिम् भोजने, पूली तृषोच्चये, मुटन् आक्षेपे, मर्दने। इनके रोचक उदाहरण हैं—कर्ज व्यथने, कुत्सिण् आक्षेपे, कूणिप् संकोचने, प्रभृति भी नवीन धातुओं के निदर्शन हैं, जिनसे बहुत से प्रान्तीय भाषाओं में प्रचलित शब्दों की सिद्धि सम्भव हो गयी है। धातुपाठ का नाम हैमधातुपारायण है। गणपाठ पर भी हेमचन्द्र की दो वृत्तियां उपलभ्य हैं, लघुवृत्ति और बृहद्वृत्ति। उणादि सत्रों के द्वारा भी अनेक प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों की सिद्धि की गयी है, यथा—कर्कर (क्षुद्राश्मा)=कांकर या कंकड; गार्गरी (महाकुम्भ)= गागर, दवरी (गुण)=डोरा।

---

[1] चन्द्रसागर सूरि, हेमबृहद्वृत्ति, भाग १, भूमिका पृ० 'कौ'; मीमांसक का अनुमान है कि इसकी रचना सं० ११९६-११९९ के मध्य में हुई होगी—सं० व्या० शा०, भाग १ (द्वितीय सं०) पृ० ५६६।

हैमलिङ्गानुशासन भी पा० लिंगानुशासन से कहीं अधिक विस्तृत तथा विशद है। इसमें बहुत से अप्रसिद्ध, अज्ञात तथा अप्रयुक्त शब्दों का संकलन अमरकोष की शैली पर किया गया है[1]।

इन वृत्तियों के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने ९० सहस्र श्लोक परिमाण का महाशब्दार्णव-न्यास या बृहन्न्यास नाम का विवरण भी लिखा था, जिसके तीन अध्याय तीन भागों में श्रीविजयलावण्य सूरि द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं[2]। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक व्याख्याएं लिखी गयी हैं[3]।

सारस्वतव्याकरण

पाणिनीय-तन्त्र से बहिर्भूत किन्तु पाणिनीय-तन्त्र से अत्यन्त संक्षिप्त **सारस्वत-व्याकरण** के कर्त्ता के विषय में विद्वानों में पर्याप्त विवाद है। यद्यपि इसके रचयिता अनुभूतिस्वरूप कहे जाते हैं, तो भी क्षेमेन्द्र ने स्व-रचित सारस्वत-प्रक्रिया के अन्त में इसे नरेन्द्राचार्य-विरचित घोषित किया है— **इति श्रीनरेन्द्राचार्यकृत-सारस्वते-क्षेमेन्द्रटिप्पणं समाप्तम्** ।' अमरभारती नामक एक अन्य टीकाकार ने इसे 'नरेन्द्र नगरी' के नाम से स्मरण किया है। विट्ठल ने स्वरचित प्रक्रियाकौमुदी में नरेन्द्रसूरि या नरेन्द्राचार्य का अनेक बार उल्लेख किया है। एक और वैयाकरण नरेन्द्रसेन भी प्रसिद्ध हैं, जिनका काल ९७५ शकाब्द (१०५३ ई०) है[4]।

मीमांसक इन तीनों को एक ही व्यक्ति के विभिन्न अभिधान समझते हैं, किन्तु इस अभेदोपचार के पोषक प्रमाण का सर्वथा अभाव है। नरेन्द्र नगरी ने अनुभूतिस्वरूप को अपना गुरु घोषित किया है और साथ ही यह भी स्पष्ट उल्लेख कर दिया है कि अनुभूतिस्वरूप को सरस्वती ने केवल सात सौ सूत्र प्रदान किये थे[5]। अर्थात् मूलतः इसमें केवल सात सौ सूत्र ही थे, किन्तु इसमें १२७४ सूत्र उपलब्ध होते हैं। तो क्या इस सूत्र-वृद्धि का दायित्व नरेन्द्रनगरी पर है, इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता, जबकि अन्य इनको ही मूल लेखक मानते हैं[6]। हम दूसरे मत से सहमत हैं। अनुभूतिस्वरूपाचार्य वेदान्त के उद्भट विद्वान् थे। उन्होंने माण्डूक्यकारिका के शाङ्कर-भाष्य पर, आनन्दबोध की **न्यायदीपावली** तथा **प्रमाणरत्नमाला** पर टीकाएं तथा ब्रह्मसूत्रों पर **प्रकटार्थविवरण** नामक व्याख्यान

---

[1] विशेषार्थ द्र० नेमिचन्द्र शास्त्री-विरचित—'आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन' एक अध्ययन (चौखम्बा, वाराणसी, १९६२)।

[2] वेल्वल्कर ने इसका लेखक अज्ञातनामा लिखा है।

[3] द्र० सिस्टम्स० तथा मीमांसक, सं० व्या० भाग १, (द्वि० सं०), पृ० ५६७।

[4] मीमांसक, सं० व्या० प्रथमभाग (द्वि० सं०) पृ० ५७०।

[5] **सूत्र सप्तशती यस्मै ददौ साक्षात् सरस्वती ।**
अनुभूतिस्वरूपाय तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ (बलदेव, सं० शा० इ० पृ० ५९४)।

[6] बलदेव, वही।

भी लिखा है। इन्हीं के एक शिष्य जनार्दन द्वारा रचित **तत्त्वालोक** पर नरेन्द्रनगरी ने **तत्वप्रकाशिका** नाम की उत्कृष्ट व्याख्या की रचना की है। इन्होंने अनुभूतिस्वरूप को गुरु के रूप में प्रणाम किया है। सम्भव है इन्होंने सारस्वत-व्याकरण का भी प्रतिसंस्कार किया हो, यदि यह उद्भावना ठीक हो, तो अनुभूतिस्वरूपाचार्य का समय तो प्रायः निश्चित कर लिया जा सकता है। अनुभूतिस्वरूप आनन्दबोध के ग्रन्थों के व्याख्याकार हैं। आनन्दबोध के **न्यायमकरन्द** का उल्लेख चाण्डुपण्डित ने अपनी नैषध की टीका (वि० १३५३) में किया है। आनन्दबोध ने प्रकाशात्मा के शब्दनिर्णय पर न्यासदीपिका लिखी है। प्रकाशात्मा की आलोचना रामानुज (१०२७-११३७) ने बहुशः की है। अतः प्रकाशात्मा १०५० से उत्तरवर्त्ती नहीं हो सकते[1]। आनन्दबोध का काल ११वीं या १२वीं शती का आरम्भ माना जाता है[2] और अनुभूतिस्वरूप का काल ११५० ई० से १२५० तक मानने में कोई असंगति नहीं है। सारस्वत-व्याकरण तीन वृत्तियों में विभक्त है। प्रथमवृत्ति में संज्ञा, सन्धि, सुबन्त, स्त्री-प्रत्यय, कारक, समास और तद्धित प्रकरणों का उपदेश है। द्वितीय वृत्ति में अर्थक्रम से अण् आदि कृत्प्रत्ययों का निरूपण है। इस व्याकरण में कुल १२७४ सूत्र हैं। इनकी रचना-पद्धति पाणिनि की पद्धति से भिन्न है और इसकी प्रक्रिया में संक्षिप्त करने के मोह के कारण लाघव के स्थान पर गौरव हो गया है।

सारस्वत-व्याकरण के धातुपाठ एवं गणपाठ दोनों उपलब्ध होते हैं। सारस्वत-गणपाठ में कुछ वैचित्र्य पाये जाते हैं। पाणिनि के कई-एक गणों को मिलाकर एक गण में समावेश कर लिया है, यथा स्वरादि और चादि का एक गण में समावेश किया गया है। कहीं-कहीं पा० के गणों में परिवर्तन कर दिया गया है, यथा गौरादि को नदादि में बदला गया है। कहीं-कहीं पाणिनि के विशाल सूत्रों में पठित शब्दों का भी गणों में निर्देश कर लिया गया है, यथा इन्द्रवरुण भवशर्व……का निर्देश 'इन्द्रादि' से। कहीं-कहीं पूर्वाचार्यों द्वारा निर्धारित गणों की उपेक्षा भी की गयी है। सारस्वत उणादि सूत्र भी उपलब्ध होते हैं। कुछ लोग इन्हें सिद्धान्तचन्द्रिकाकार रामाश्रम-प्रोक्त मानते हैं। सारस्वत-व्याकरण की व्याख्या-सम्पत्ति विशाल है। क्षेमेन्द्र की चर्चा पहले हो चुकी है। यह क्षेमेन्द्र हरिभद्र या हरिभट्ट के पुत्र कृष्णशर्मा का शिष्य था, अतः यह काश्मीरी कवि से नितान्त भिन्न है। दूसरे व्याख्याकार पुञ्जराज हैं, जिनकी रचना **सारस्वत-प्रक्रिया-टीका** उपलभ्य है।

---

[1] दासगुप्त ने प्रकाशात्मा का काल १२०० ई० निर्धारित किया है, जो सर्वथा असंगत हैं। अभ्यङ्कर ने इसे १३वीं शती में माना है (डि० सं० आ०)। सूर्यकान्त ने इसे १४वीं शती में माना है, जो अधिक अर्वाचीन है। (द० स० वाङ्० द्व० १९७२) पृ० ३२७।

[2] दासगुप्त, हि० इ० फिला० भाग २, पृ० ११६, त्रिपाठी के अनुसार यह समय १२०० हैं (आनन्दज्ञान रचित तर्कसंग्रह की भूमिका)।

यह मालवा के सुल्तान गियासुद्दीन खिलजी (१४७५-१५०१ ई०) के मन्त्री जीवन के पुत्र थे। अतः इनका काल १४७२ से १५२० ई० तक माना जाता है। विमल सरस्वती के शिष्य अमरभारती (१४९७ ई० से पूर्व) द्वारा रचित सुबोधिनी भी मिलती है।

वासुदेवभट्ट का **सारस्वत-प्रसाद** एक विस्तृत व्याख्यान है। भट्ट धनेश्वर (१५२०-२५) का **सारस्वत-प्रदीप** या **क्षेमेन्द्र-खण्डन** एक प्रौढ़ रचना है, जिसमें रामचन्द्राचार्य की **प्रक्रियाकौमुदी** तथा **प्रक्रियाप्रसाद** का उल्लेख किया गया है। रामचन्द्राश्रम अथवा रामाश्रम ने मूल-सारस्वत को पाणिनीय व्याकरण के अनुसार बनाने के प्रयास में **सिद्धान्त-चन्द्रिका** या **सारस्वत-चन्द्रिका** की रचना की, जिसमें सूत्रों की संख्या २२३७ है। इसमें १५ परिभाषाओं का परिभाषा-प्रकरण भी सम्मिलित है। जहां प्रक्रिया में केवल ३३ उणादि सूत्र हैं, वहां इसमें ३८१ हैं, जो पांच पादों में विभक्त हैं। यह व्याकरण मूल से इतना भिन्न है कि इसे नवीन सम्प्रदाय ही मान लिया गया है। इस पर लोकेश्वर की **तत्त्वदीपिका** है, जिसका रचनाकाल १७४१ वि० (१६८४ ई०) है। अतः चन्द्रिका का रचनाकाल इससे पूर्व ही होना चाहिये। यह टीका बड़ी विस्तृत है, इसमें लघुभाष्य का सङ्केत तथा खण्डन किया गया है। यह सारस्वती-प्रक्रिया पर रघुनाथकृत महाभाष्यानुसारी भाष्य है। यह वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हो चुका है।

चन्द्रिका की दूसरी व्याख्या सदानन्दगणिकृत **सुबोधिनी** है। इसका रचनाकाल सं० १७९९ (१७४२ ई०) है। सदानन्द ने पतञ्जलि, पराशर, हरदत्त, भट्टि प्रभृति के साथ-साथ लघुभाष्य का भी नामतः उल्लेख किया है। इससे रघुनाथ का काल भट्टोजि से अर्वाचीन है, किन्तु इन्हें भट्टोजि का शिष्य सिद्ध करने के लिये पुष्ट प्रमाण अपेक्षित है[1]। **सिद्धान्त-चन्द्रिका** पर चान्द्रकीर्ति ने एक अत्यन्त विस्तृत टिप्पणी की रचना की है। इसमें अव्यय-प्रकरण की व्याख्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उणादि की व्याख्या विशद तथा महत्त्वपूर्ण है। सारस्वत-व्याकरण के अन्य व्याख्याकार भी हैं।

मुग्धबोध

संस्कृत व्याकरण को नवीन रूप देने के हेतु प्रसिद्ध वैयाकरण तथा अन्य शास्त्रों के धुरन्धर विद्वान् बोपदेव ने १३वीं शती के उत्तरार्ध में यादव नरेश महादेव (१२६०—१२७१) तथा रामचन्द्र (१२७१-१३०९) के राज्यकाल में धर्माध्यक्ष हेमाद्रि की छत्रछाया में **मुग्धबोध** नामक व्याकरण की रचना की थी। इनके पिता का नाम केशव था, जो उद्भट वैद्य थे, जिन्होंने सिद्ध-मन्त्र नामक

---

[1] बेल्वल्कर ने 'सिस्टमस०' में ऐसा ही माना है।

वैद्यक के ग्रन्थ की रचना की, जिस पर बोपदेव ने भी **प्रकाशिका** नाम्नी व्याख्या का निर्माण किया है। बोपदेव ने पद्यबद्ध धातुपाठ **कविकल्पद्रुम** की स्वोपज्ञ व्याख्या **कविकामधेनु**-सहित रचना की। यह व्याकरण विशेषतया बंगाल में बहुत प्रिय हुआ। इस पर अनेकानेक व्याख्यानों की रचना की गई। इसके परिशिष्टों तथा व्याख्या की रचना नन्दकिशोर भट्ट ने १३९८ ई० में की। वासुदेव सार्वभौम के पुत्र दुर्गादास विद्यावागीश की टीका अत्यन्त प्रसिद्ध हुई है। अन्य टीकाएं भी उपलभ्य हैं। इसका धातुपाठ दस लकारों के अनुसार न होकर धातुओं के वर्णानुसार विभिन्न वर्गों में विभक्त हुआ है। इसमें कुल ३६१ अनुष्टुप् श्लोक हैं। इसके धा० पा० में अनुबन्धों का विशेष महत्त्व है। मुख्य पाठ में पठित धातुओं के अतिरिक्त इसमें परिगणित ४२ सौत्र धातु हैं, जो किसी अन्य व्याकरणों के सौत्र धातुओं से अधिक हैं। इस धा० पा० में विशेषता, इस प्रकार सामग्री तथा अर्थ-बाहुल्य है, जिसके लिए इन्होंने क्षीरतरंगिणी का विशेष आश्रय लिया है। इसके गणपाठ में कुछ गणों के अतिरिक्त अनेक पाणिनीयगण ज्यों के त्यों ग्रहण कर लिये जाते हैं। किन्तु दुर्गादास और राम तर्कवागीश ने अपनी व्याख्याओं में प्राय: सभी पाणिनीय गणों को विस्तार-पूर्वक दर्शाया है। बोपदेव के व्याकरण से सम्बद्ध एक परिभाषा-वृत्ति भी उपलब्ध होती है, जिसमें संगृहीत परिभाषाओं के सङ्कलन-कर्त्ता का नाम नहीं है। एक परिभाषा-वृत्ति रामचन्द्र विद्याभूषण ने सं० १७४५ (१६८८ ई०) में लिखी थी।

क्रुमदीश्वर या जौमर व्याकरण

क्रुमदीश्वर ने **संक्षिप्तसार** नामक व्याकरण बालबोधार्थ लिखा, जिसका मुख्य भाग तो संस्कृत भाषा से सम्बद्ध है और अन्तिम परिच्छेद में प्राकृत का व्याकरण है, और इस विषय में उन्होंने हेमचन्द्र का अनुकरण किया है। इसमें सात पादों में पाणिनि की सामग्री को ही नये रूप से व्यवस्थित किया गया है। इनकी स्वोपज्ञ-वृत्ति का नाम **रसवती** है। इनका रचना काल १२५० के लगभग है।

जुमरनन्दी ने रसवती का परिष्कार किया, जो इतना सफल सिद्ध हुआ है कि व्याकरण का नाम ही "जौमर" पड़ गया। जुमरनन्दी के विषय में इसके अतिरिक्त कोई सूचना नहीं है कि वह कहीं के महाराजाधिराज थे। गोपीचन्द (१४५० ई० के आसपास) इसके टीकाकार तथा परिशिष्टकार थे। इस व्याकरण के सूत्रपाठ उणादिपाठ तथा परिभाषापाठ पर इन्होंने व्याख्याएं लिखी हैं।

पीताम्बर शर्मा (१५००-१५२५ के लगभग) ने संक्षिप्तसार के भी **संक्षिप्तसारसंग्रह** की रचना की। इनके मत का उल्लेख भट्ट धनेश्वर ने स्वरचित **सारस्वतप्रदीप** में किया है।

जौमर के गणपाठ में अनेक प्रधानभूत गणों का ही संग्रह किया गया है।

सुपद्म-व्याकरण

दामोदरदत्त के पुत्र सुपद्मनाभ दत्त ने **सुपद्म** नामक संक्षिप्त व्याकरण की रचना १४वीं शती के अन्तिम चरण में की। इन्होंने पाणिनीय-प्रक्रिया को रूपान्तर प्रदान किया है तथा पा० परिभाषाओं का आश्रय लिया है—इनकी व्याकरण सम्बन्धी रचनाएं ये हैं—

(१) **सुपद्मपञ्जिका** : व्याकरण पर स्वोपज्ञवृत्ति। (२) **प्रयोग-दीपिका**। (३) **धातुकौमुदी**। (४) **उणादिवृत्ति**। (५) **परिभाषावृत्ति**। (६) **यङ्-लुग्-वृत्ति**।

सौपद्म-सम्प्रदाय के गणपाठ का निर्धारण किसी काशीश्वर ने किया था तथा इस पर रमाकान्त ने वृत्ति लिखी थी तथा गणेश्वर के पुत्र पद्मनाभ दत्त ने **पृषोदरादि-वृत्ति** नामक एक पृथक् रचना की थी[1]।

---

[1] सिस्टम्स०, पृ० १११।

वेदाङ्ग

छन्दःशास्त्र

त्रिंश अध्याय

छन्दःशास्त्र

वेदार्थ के सहायक षडङ्गों में छन्दःशास्त्र का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वेदाध्ययन के लिए न केवल यह उपकारक साधन ही माना जाता है, अपितु स्वतन्त्र विद्यास्थान भी[1]। यज्ञ-याग के सम्यक् निर्वाह में छन्दों का ज्ञान अत्यन्त उपयोगी माना जाता था। छन्दों का ज्ञान इतना प्राचीन है कि गायत्री से लेकर जगती-पर्यन्त सातों छन्दों का स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद[2] में ही मिलता है। इनमें चार-चार अक्षरों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, इसका स्पष्ट प्रतिपादन अथर्ववेद[3] में किया गया है। छन्दों के साथ स्तोमों के सम्बन्ध की चर्चा भी अथर्ववेद में की गयी है[4]। अक्षर-गणना के आधार पर छन्दों का निर्धारण ब्राह्मण-ग्रन्थों में होने लगा था[5]। प्रगाथ छन्दों का यज्ञ में प्रयोग भी बहुत प्राचीन है[6]। अग्निचयन में वेदी की असंख्य इष्टिकाएं छन्दों के रूप में कल्पित की गयी हैं, जिनमें से मा, प्रमा, प्रतिमा तथा अस्त्रीवय सहित १२ छन्दों का उल्लेख (वा० सं० १४, १८ में) हो गया है। (द्र० तै० आर० ४, ५—मा, प्रमा, प्रतिमा, समा, विमा, उन्मा)। छन्दों का मुख्य कार्य मन्त्रों का परिमाण बतलाना है। ऋग्वेद में ही कहा गया है—**गायत्रेण प्रतिमिमीते अर्कम्**[7] गायत्र छन्द से प्रत्येक स्तोम को मापा जाता है ऋग्वेद ही सात छन्दों के अक्षरात्मक रूप से भी परिचित था[8]। वैदिक देवतावाद में छन्दों का बड़ा महत्त्व है। छन्द यज्ञ में देवताओं के साझीदार हैं[9]। विभिन्न छन्दों के लिए विभिन्न पशुओं

---

१. **पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥** (पा० स्मृ० १, ३)

२. ऋग्० १०, १३०, ४-५।

३. ऋग्० ८, ९, १९।

४. ऋग्० ८, ९, २०।

५. ऐ० ब्रा० १, ५।

६. ऐ० ब्रा० ३, १६; ४, १०; शां० ब्रा० १५, २, ४; जै० ब्रा० १७४; ता० ब्रा० ४, ३, ७; गो० ब्रा० २, ३, २१ आदि।

७. ऋग्० १, १६४, २४।

८. वही।

९. **स एष यज्ञस्तायमानो देवेभ्यस्तायते ··· ··· छन्दोभ्यः।** (श० ब्रा० १, ३, २, ६)

की बलि का विधान है[1] । एक विशेष इष्टि—गायत्रीष्टि में गायत्री तथा ओंकार के लिए नवकपाल पुरोडाश प्रदान करने का विधान है[2] । छन्दों को 'देविका'[3] देव्यः[4] तथा देवताओं के देवता[5] कहा गया है। यहां तक कि प्रजापति स्वयं छन्द बन गये[6], विविध छन्द प्रजापति के अंग हैं[7] । छन्दों के द्वारा ही देवताओं ने स्वर्गलोक को प्राप्त किया[8] । इनका प्रधान कार्य सभी दिशाओं में रक्षा करना है[9] । ये सभी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं[10] तथा शक्ति प्रदान करते हैं[11] । ये असुरों के विरुद्ध देवताओं का पक्ष लेकर उन्हें विजय दिलाते हैं[12] । इन सब तथा अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों के कारण छन्दों का यज्ञ में बहुत महत्त्व है। आर्यों के सामाजिक संगठन के अनुरूप ही छन्दों को जाति-प्रथा के अन्तर्गत विभिन्न जातियों में विभक्त किया गया है। गायत्री ब्राह्मण है, तो त्रिष्टुभ् क्षत्रिय (तै० सं० ५, १, ४, ५) । गायत्री प्रजापति के मुख से उत्पन्न हुई हैं, तो त्रिष्टुभ् बांहों से और अनुष्टुभ् चरणों से (तै० सं० ७, १, १, ४-६)। छन्दों के कार्यों के अन्तर्गत मुख्य ये हैं—रक्षा (वा० सं० १०, १०-१४); संग्रह (तै० सं० १, ७, ५, ४ ; १, ५, ९, ७); इच्छापूर्ति (तै० सं० ३, ४, ९, १-५) ; शक्तिप्रदान (तै० सं० ४,४,१२,३ ; ३,३, ७, १-२ ; श० ब्रा० ८, ५, २, १) ; उन्नयन (श० ब्रा० ५, ९, ३, १० ; ६,५,४,७) देवताओं की विजय कराना (श० ब्रा० १, ४, १, ३४ ; १, ६, ४, २); सृष्टि की उत्पत्ति में सहायता देना (श० ब्रा० ६, ५, २, ४; तु० वा० सं० ११, ५८) तथा देवताओं तक आहुति पहुँचाना (श० ब्रा० ४, ४, ३, १ ; १०१, ३)। ऐ० ब्रा० (३, २५ ; २७) में इन्हें 'साध्या देवाः' कहा गया है।

वेदार्थ को समझने में भी छन्दों को उपयोगी माना गया है। सायण ने ऋग्भाष्यभूमिका में षडङ्ग प्रकरण के आरम्भ में लिखा है—**अतिगम्भीरस्य वेदस्य अर्थावबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि** अर्थात् 'अतिगम्भीर वेद के अर्थों

---

[1] वा० सं० २४, १२ ।

[2] श० ब्रा० ३, ४, १, १५ ।

[3] तै० सं० ३, ४, ९, १ ।

[4] श० ब्रा० ९, ५, १, ३९ ।

[5] वही, ३, ४, १, १५ ।

[6] वही, ८, २, ३, ९ ।

[7] वही, १०, ३, १, १ ।

[8] वही, ३, ९, ३, १० ।

[9] वा० सं० १०, १०-१४ ।

[10] तै० सं० ३, ४, ९, १-५ ।

[11] वही, ४, ४, १२, ३ ।

[12] श० ब्रा० १, ४, १, ३४ ।

को समझाने के लिये शिक्षादि छः अङ्ग प्रवृत्त हुए'। इन षडङ्गों में छन्दःशास्त्र भी अति प्रचीनकाल से गिनाया जाता रहा है[1]। इस परम्परागत विचार के रहते हुए भी जहां अन्य वेदाङ्गों का बड़े विस्तार से अध्ययन-अध्यापन होता रहा है, वहां छन्दःशास्त्र की सदा उपेक्षा की गयी है। स्कन्दस्वामी ने तो अपने ऋग्वेदभाष्य के आरम्भ में ही लिख दिया है—**तत्रार्षदेवतयोरर्थावबोधने उपयुज्यमानत्वात् ते दर्शयिष्यते, न छन्दः अनुपयुज्यमानत्वात्**। अर्थात् ऋषि और देवता के मन्त्रार्थ ज्ञान में उपयोगी होने के कारण उन दोनों को दर्शाया जाएगा, छन्दों को नहीं, क्योंकि इनका इस विषय में कोई उपयोग नहीं। सायण ने भी वेदार्थ समझाने में छन्दों का कहीं उपयोग नहीं किया।

केवल यज्ञ-याग में छन्दों के उपयोग का निदर्शन किया है, वह भी अदृष्टार्थ ही है। उनके ज्ञान के अभाव में दोष होता है। जयतीर्थ ने मध्व-रचित ऋग्भाष्य की व्याख्या में स्कन्दस्वामी के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए वेदार्थ में छन्दोज्ञान का उपयोग माना है,[2] किन्तु व्याख्या में इस मन्तव्य को कहीं कार्यान्वित नहीं किया। मीमांसा-शास्त्र के अनुसार ऋक् का लक्षण ही यह है कि जिसमें अर्थ के अनुरोध से पाद की व्यवस्था हो[3]। इसी बात को वेंकट माधव ने भी स्वीकार किया है[4] और माधव भट्ट ने भी[5]। इसमें सन्देह नहीं कि वेदार्थ-बोध में पाद-व्यवस्था सहायक होती है[6]। इसलिए छन्द समेत षडङ्गों के ज्ञान की आवश्यकता पर इतना अधिक बल दिया गया है कि जो इनके ज्ञान से रहित ब्राह्मण से यज्ञ कराता है या अध्यापन कराता है, वह घोर पाप का भागी होता है[7]।

छन्दःशास्त्र की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की जाती है। निरुक्त का निर्वचन है, **छन्दांसि छादनात्**[8]। यहां छन्द **√छदि-संवरणे** से सम्बद्ध है। इस निर्वचन

---

[1] बौ० ध० सू० २, १४, २ ; गौ० ध० सू० १५, २८ ; गो० ब्रा० १, २, २७ ; निरु० १, २० में वेदाङ्गों के वेदार्थ में उपयोग का उल्लेख है।

[2] पत्रा १३ क।

[3] मीमांसासूक्त ३, १, ३५।

[4] वेमा० ८, १४।

[5] ऋग्० १, २५, १९ पर।

[6] द्र० मीमांसक, वै० छ० मी० प्र० ६२-८ ; २४४-२४६।

[7] **यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दो दैवतब्राह्मणेन याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं वर्द्धति गर्तें वा पतति प्र वा मीयते पापीयान् भवति।** ऋक्० सं०, आरम्भ में, अविद ब्रा० १, १ ; दुर्गाचार्य निरुक्त भाष्य, उपोद्०।

[8] निरु० ७, १२।

का मूल ब्राह्मणों में सुरक्षित है[1]। क्षीरस्वामी ने अमर० (३, २, २०) की टीका में लिखा है—**छन्दयति=आह्लादयते इति छन्दः** और यही सर्वाधिक संगत व्युत्पत्ति है। छन्दःशास्त्र के अनेक नाम परम्परा में प्रसिद्ध हैं, यथा—छन्दोविचिति, छन्दोमान, छन्दोभाषा, छन्दसां लक्षण, छन्दसां विचय, छन्दोऽनुशासन, छन्दो विवृति तथा वृत्त, पिंगल इन सब नामों के प्रयोग स्थलों का निर्देश मीमांसक जी ने किया है[2]।

यद्यपि ब्राह्मणों में छन्दों का न केवल महत्त्व ही वर्णित है, अपितु अक्षर-गणना पद्धति के अनुसार उनकी संख्या तथा छन्दों के निर्णय के प्रकार का भी विकास हो चुका था तथा ऐसे सामान्य नियम भी निर्धारित हो चुके थे कि एक दो अक्षरों की न्यूनता या अधिकता से छन्दों में भेद नहीं होता[3], तो भी शतशः स्थलों पर ब्राह्मणों के किये गये छन्दोनिर्देश वास्तविक अक्षर-गणना से मेल नहीं खाते, यथा—ऐ० ब्रा०[4] में **सुतासो मधुमत्तमाः** (ऋ० ९, १०१, ४) आदि मन्त्रों का छन्द अनुष्टुप् कहा गया है। अनुष्टुप् के ३२ अक्षर होते हैं, किन्तु इन मन्त्रों में से एक (ऋक्० ९, १०१, १०) के २९ अक्षर हैं। यहां पर एक दो अक्षरों की न्यूनता-अधिकता वाला उपर्युक्त नियम भी लागू नहीं होता। अतः शङ्कुमति उष्णिक् कहना चाहिये[5] या ३ पाद की भुरिक् परोष्णिक् (८+८+१३)।

यदि इस में **अस्मभ्यम्** में इय भाव करके **अस्मभियम्** पढ़ कर एक+अक्षर की वृद्धि करके अनुष्टुप् पक्ष भी लें, तो भी इसी ब्राह्मण के अनुसार **नदं वः ओदतीनाम्** (ऋक्० ८, ६९, २) में २७ (७+७+६+७) अक्षर होते हुए भी यह अनुष्टुप् छन्दस्क है[6]। इसमें व्यूह आदि भी सहायक नहीं हो सकते।

त्रिष्टुप् छन्द के चार पाद और ४४ अक्षर होते हैं, किन्तु किसी ब्राह्मण-वचन के अनुसार बहुत अक्षरों को न्यूनता रहने पर भी विराड्रूपा (११+११+

---

[1] **देवा ह वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयी विद्यां प्राविशन्, ते छन्दोभिश्च्छादयन्**—(छां० उप० १, ४, २; तै० सं० ५, ६, ६, १)।

[2] वै० छन्दोमीमांसा, अध्याय ४ तथा सिद्धेश्वर वर्मा, *The Vedic Concept of Metres*, *AIOC* XVI, Pt. II, p. 10-19.

[3] त० ब्रा० **रकाराक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्**, ऐ० ब्रा० १, ६ तथा द्र० श० ब्रा० १३, २, ३, ३; कौ० ब्रा० २७, १।

[4] ऐ० ब्रा० ६, ३६।

[5] द्र० पिं० सू० ३, ५५।

[6] ऐ० ब्रा० ४, ४ में—**प्र प्र वस्त्रिष्टुभमिषम्** । ऋग्० ८, ६९, १—**इति प्रज्ञाता अनुष्टुभः शंसति**। तु० ऋक्० प्रा० १६, ३२ जहां इसे अक्षरसंख्या से उष्णिक् ही माना गया है।

११+८=४१) या विराड् स्थाना (९+१०+११+११) त्रिष्टुप् के अक्षरों की पूर्ति (अक्षर-सम्पद्) नहीं करनी चाहिये[1]। इसलिए ऋक् प्रा०[2] में **क्रीडन्तो रश्म आयुवः** (ऋग्० ५, १९, ५) को भी त्रिराड्रूपा त्रिष्टुप् मान लिया गया है। यद्यपि इसमें कुल ३९ अक्षर हैं (८+११+१०+११)। इस विषय में ऋक्० प्रा० ने निश्चय ही ब्राह्मण का अनुकरण किया है।

आश्वलायन श्रौ० सू०[3] का वचन है—**आगन्म महा** (ऋग्० ७, १२, १), **अतारिष्म** (ऋग्० ७, ७३, १) तथा **इळे द्यावा पृथिवी** (ऋग्० १, ११२, १) **इति जागतम्** अर्थात् ये मन्त्र जगती के छन्द वाले हैं। जगती के ४८ अक्षर होते हैं, किन्तु **इळे द्यावा पृथिवी** में कुल ४५ (११+११+११+१२) अक्षर हैं। किन्तु इय-भाव से इसके दो अक्षर बढ़ाये जा सकते हैं (**अथर्व्यम्**, **अथर्वियम्** तथा **अश्व्यम्**, **अश्वियम्**), अतः इसे गौण रूप से जगती माना जा सकता है।

ऋग्० सं० में इसे जगती ही माना गया है, किन्तु उपर्युक्त सूक्त ७, १२ तथा ७, ७३ में श्रौतसूत्र के विरुद्ध ऋग्० सर्वा० तथा ऋग्० सं० में इनको त्रिष्टुप् माना गया है, और ऋग्० ७, ७३, ३ में तो त्रिष्टुप् भी नहीं बनता, क्योंकि उसके चारों पादों में १०-१० अक्षर=५० है इसमें क्षैप्र आदि सन्धि भी नहीं, जिसमें व्यूहन या इय-आदि भाव किया जा सके।

इसी प्रकार आश्व० श्रौ०[4] में ऋग्० २, ५७ तथा १०, ६८ को ककुप् कहा गया है, जो उष्णिक् का एक भेद है[5]। किन्तु कात्यायन ने इनमें क्रमशः जगती और त्रिष्टुप् छन्द माने हैं। श्रौ० सू० ब्राह्मणों का ही अनुकरण करते हैं, अतः सिद्ध होता है कि ब्राह्मणों में छन्दों के विषय में बहुत से निर्णय अवास्तविक हैं। ऐ० ब्रा०[6] में कहा गया है—

"प्र प्र वस्त्रिष्टुभमिषम्, अर्चत प्रार्चत, यो व्यतीरं फणाय इति प्रज्ञाता अनुष्टुभः शंसति।" अर्थात् 'प्र प्र वस्त्रिष्टुभमिषम्' (ऋग्० ८, ६९, १) 'अर्चत प्रार्चत' (ऋग्० ८, ६९, ८) तथा 'यो व्यतीरं फणायन्' (ऋग्० ८, ६९, १३) इन प्रसिद्ध अनुष्टुप् छन्दों वाले तृचों का शंसन करे। उनमें से प्रथम तृच की

---

[1] उव्वट द्वारा ऋक्० प्रा० १६, ६९ पर उद्धृत।

[2] ऋक्० प्रा० १६, ६९।

[3] आश्व० श्रौ० सू० ४, १५।

[4] आश्व० श्रौ० सू० ६, १।

[5] सायण ऋग्० १, ५७ की भूमिका (४०) ४, ४।

[6] ऐत० ब्रा० १, ३, ८।

द्वितीय ऋक् (८, ६९, २) में कुल २७ अक्षर हैं, जबकि अनुष्टुप् में ३२ होने चाहियें। ऐ० आर०[1] में इसकी अनुष्टुप्ता की उपपत्ति इस प्रकार लगायी गयी है।

'नदं व ओदिती नामिती इ उष्णिग् अक्षरैर्भवति अनुष्टप् पादैः।' अर्थानदं व ओदितीनाम् यह ऋक् अक्षरसंख्या से उष्णिक् तथा पादसंख्या से अनुष्टुप् है। इस द्विविध सिद्धान्त का आश्रय शौनक के ऋक्प्रा० में लिया गया है[2]। इस कृत्रिमता की ओर सायण का भी ध्यान गया[3]। इस प्रकार कृत्रिम छन्दों की कल्पना का मुख्य कारण यज्ञ-याग की अत्यधिक प्रधानता तथा वृद्धि है। जब कर्मकाण्ड इतना विस्तृत और विशाल हो गया कि उसके अनुरूप छन्दों वाले मन्त्रों की न्यूनता का अनुभव होने लगा, तो पहले तो अनेक श्रौत मन्त्रों की कल्पना की गयी और बाद में संहिताओं के मन्त्रों में ही कृत्रिम एवं गौण छन्दों की कल्पना की जाने लगी। निरुक्तकार यास्क ने इस प्रक्रिया की ओर स्पष्ट सङ्केत किये हैं। यथा—

'तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दाशतयीषु विधने, यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने विनियुज्यते' अर्थात् ऋग्वेद में जातवेदस् वाला तथा गायत्री छन्द वाला तृच् एक ही है। जो भी अग्नि देवता वाला (गायत्रीछन्दस्क) मन्त्र है, उसका विनियोग जातवेदस् देवता वाले मन्त्रों के स्थान पर किया जाता है। इसी प्रकार वैश्वदेव गायत्र तृच भी ऋग्वेद में एक ही है। अतः जो भी बहुदेवता वाला (गायत्री छन्दस्क) मन्त्र हो, वह वैश्वदेव मन्त्रों के स्थान पर विनियुक्त होता है। शाकपूणि के मतानुसार "विश्व" शब्द से युक्त मन्त्र इन स्थलों में विनियुक्त होता है[4]। ब्राह्मणों के इन छन्दः सम्बन्धी विचारों का क्रमवद्ध सर्वप्राचीन विवरण ऋक् प्रातिशाख्य के अन्त में दिये गये छन्दः प्रकरण में मिलता है, जो कात्यायनकृत ऋक् सर्वानुक्रमणी से प्राचीन है। इसकी चर्चा आगे की जायेगी।

ऋक्प्रा० के इस प्रकरण से प्रतीत होता कि इससे पूर्व भी अनेक आचार्यों ने अपने विचार व्यक्त किये थे। पिंगलछन्दःसूत्र में निम्नलिखित आचार्यों का नामतः उल्लेख किया गया है (१) तण्डी (३, ३४) ; (२) क्रोष्टुकि (३, २९) ; (३) यास्क (३, ३०) ; (४) सैतव (५, ८) ; (५) काश्यप (७, ९) ; (६) रात (७, ३३) ; (७) माण्डव्य (७, ३४)।

पिंगलछन्दःसूत्र के टीकाकार यादवप्रकाश ने अपनी टीका के अन्त में लिखा है।

---

[1] द्र० ऋक् प्रा० १६, ३२।

[2] ऐ० ब्रा० आ० ४, ४—पूर्वोक्तरीत्या कृत्रिमा अनुष्टुभः शस्त्वा पश्चात् स्वतः-सिद्धानामनुष्टुभा शंसनं द्रष्टव्यम्।

[3] निरुक्त ७, १०।

[4] निरुक्त १२, ४०।

छन्दो ज्ञानमिदं भवाद् भगवतो लेभे सुराणां गुरुः
तस्माद् दुश्च्यवनोऽसुरं गुरमांडव्यनामा ततः ।
माण्डव्यादपि सैतवस्तत् ऋषिर्यास्कस्ततः पिंगलः
तस्येदं यशसः गुरोर्भुवि घृतं प्राप्यस्मादाद्यैः क्रमात् ॥[1]

इसके अनुसार परम्परा इस प्रकार है—

भगवान् शिव, बृहस्पति, इन्द्र, शुक्र, माण्डव्य, सैतव, यास्क, पिंगल। किन्तु इसी में एक और परम्परा भी लिखी है, जो इस प्रकार है—

शिव, जुह, सनत्कुमार, बृहस्पति, इन्द्र, पतञ्जलि (निदानसूत्रकार), पिंगल—

अतः इन तथाकथित परम्पराओं से कोई परिणाम नहीं निकाला जा सकता। वैदिक छन्दःशास्त्र के विषय में उपलब्ध सामग्री इन ग्रन्थों में सुरक्षित है। ऋक्प्रातिशाख्य (१६-१८ पटल) ऋक्सर्वानुक्रमणी, निदान, निदानसूत्र, पिंगलछन्दःसूत्र, उपनिदानसूत्र, वेङ्कटमाधवकृत छन्दोऽनुक्रमणी, जयदेवकृत जयदेवछन्दः।

---

[1] यादव प्रकाश की टीका अमुद्रित है। यह श्लोक युधिष्ठिर मीमांसककृत वैछमी प्र० ५० पर उद्धृत है।

एकत्रिंश अध्याय

ऋक्-प्रातिशाख्य

ऋक्प्रातिशाख्य में वैदिक छन्दों के उदाहरण तथा लक्षण विस्तार से दिये गये हैं, किन्तु ऋक्प्रातिशाख्य ने भी ब्राह्मणों का ही अनुकरण किया है, अतः इनमें अनेक स्थलों पर ऐसे छन्दों का निर्देश किया है, जो वास्तविकता से कोसों दूर है, यथा विराड्रूपा त्रिष्टुप् के विषय में हम देख चुके हैं[1]। इस लक्षण वाले छन्द का स्वयं शौनक ने कोई उदाहरण नहीं दिया और उवट ने ब्राह्मण-वचन को उद्धृत करके अपने निर्णय की पुष्टि की है, तो भी ब्राह्मणोक्त सिद्धान्त को तो शौनक ने भी स्वीकार किया ही है[2]। इस मन्त्र[3] को कात्यायन ने भी विराड्रूपा त्रिष्टुप् ही कहा है। वेंकट माधव ने अपनी **छन्दोऽनुक्रमणी** में इस छन्द का उदाहरण यह न देकर ऋग् ३, २१, ४ को उद्धृत किया है, जो सर्वथा संगत है। यह स्पष्ट है कि ऋक्प्रातिशाख्य ने अपनी छन्दो-विषयक सामग्री ब्राह्मणों से ग्रहण की है, किन्तु इससे पूर्व अनेक आचार्य इस विषय पर अपने विचार व्यक्त कर चुके थे। उनमें से शौनक के द्वारा यास्क का नामतः उल्लेख महत्त्वपूर्ण है[4]। क्योंकि छन्दों के विषय में किसी अन्य प्रातिशाख्य में चर्चा नहीं की गयी और न ही छन्दःप्रातिशाख्य की चर्चा के विषय में। अतः ऋक्प्रातिशाख्य के इस भाग को प्रक्षिप्त माना जाता[5] है। इसे यदि प्रक्षिप्त मान भी लिया जाये, तो भी यह प्रक्षेप कात्यायन-कृत ऋक् सर्वानुक्रमणी से पहले का है, क्योंकि जहां कहीं शौनक और कात्यायन में विरोध पाया जाता है, वहां कात्यायन का पक्ष अधिक संगत है और शब्दसंहिता में स्वीकृत किया गया है।

शौनक ने **उपेदमुपपर्चनम्** (ऋक् ६,२८,८) तथा **अहार्षं त्वा विदम्** (ऋक् १०, १६१,५) में बृहती छन्द माना है, यद्यपि इनमें ३२ अक्षर हैं। बृहती के ३६ अक्षर पूरे करने के लिए उन्होंने प्रत्येक पाद में व्यूह के द्वारा ९,९ अक्षरों की सम्पत्ति करने

---

१. द्र० टि० २७, २८।

२. ऋक्प्रा० १६, ६९ **त्रिष्टुम्नाक्षरसम्पदा**।

३. ऋग्० ५, १९, ५।

४. ऋक्प्रा० १७,४२ तथा १६,२५; १८,५७ जहाँ **एके** और **केचिद्** शब्दों द्वारा पूर्वाचार्यों के मतों की चर्चा की गयी है।

५. द्र० ऋक्प्रातिशाख्य प्रकरण।

का विधान किया है[१], किन्तु कात्यायन ने इन दोनों मन्त्रों में अनुष्टुप् माना है[२] और वर्तमान संहिता में इस पक्ष को ही मान्यता दी गयी है। बहुत से ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें पाद की समाप्ति के विषय में मतभेद होने के कारण छन्द के विषय में मतभेद हो गया है। ऋक्प्रा० में स्पष्ट लिखा है कि ऋग्वेद में 'उ' के अतिरिक्त अन्य कोई पद पाद के आदि में अनुदात्त नहीं है[३], किन्तु इसी में इस सामान्य नियम में ९ अपवाद स्वीकार किये गये हैं, यथा—क्रिया तथा आमन्त्रित (सम्बोधन) अनुदात्त पदों को पाद के आदि में माना हैं[४], किन्तु **यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्**[५] इस लक्षण के अनुसार यदि पाद की व्यवस्था की जाये, तो यह अपवाद भी नियमित हो सकते हैं, जैसा कि निदानसूत्रकार पतञ्जलि ने अनेक स्थलों पर पर किया है[६]। कई स्थलों पर कात्यायन ने भी इस विषय में शौनक से वैमत्य प्रकट कर पाद के आदि में अनुदात्त पद नहीं आने दिया। यथा—

अभीष्टगद्यगीभिर्गृणन्तोऽग्ने दाशेम, प्रतेदिवो न स्तनयन्ति शुष्मा:।
(ऋग्० ४, १०, ४)

इसमें पञ्चाक्षर पांच पाद वाला पद पंक्तिछन्द मानने पर सर्वानुदात्त **स्तनयन्ति** पाद के आरम्भ में रहता है। किन्तु निदानसूत्र के नियमानुसार अष्टाक्षर पाद का ह्रास और वृद्धि मानने पर यही मन्त्र त्रिपाद भुरिग्गायत्री (८+७+११) छन्द बन जाता है और **स्तनयन्ति** पद पाद के आरम्भ में नहीं रहता। कात्यायन ने व्यूह करके २७ अक्षर मान कर पक्षान्तर में इसे ही उष्णिक् कहा है[७]। इस अवस्था में भी **स्तनयन्ति** पद पदादि में नहीं आता।

---

१. **दयोश्चोपेदमा हार्षं सर्वे व्यूहे नवाक्षरा:** (ऋक्प्रा० १६, ५१)।

२. ऋक्सूर्वा० ६, २८, पृ० ३५ पर वेमाच्छ० में इस प्रसंग में एक अन्य उदाहरण दिया गया है—**तन्त्वा वय पितो** (ऋग्० १, १८७, ११), जिसमें ३४ अक्षर हैं और व्यूह द्वारा **पादसम्पद्** की जा सकती है। कात्यायन ने **तन्त्वा** में अनुष्टुप् या बृहती का विकल्प किया है (ऋक्सर्वा० १, १८७)। वर्तमान संहिता में यह विकल्प स्थिर रखा गया है।

३. ऋक्प्रा० १७, २७ ; तु० पा० ८, १, १८।

४. **इयक्षसि** (ऋ० ८, ४६, १७) ; **स्तनयन्ति, रोचते, रोचत** (ऋ० ४, १०, ४-६) ; **ऋतावृधौ** (ऋ० १, २, ८) ; **अधायि** (ऋ० ७, ३४, १४) ; **त्रिधत्** (ऋ० ७, ३४, १७) ; **हुवे** (७, ५६, १०) ; **मरुत:** (ऋग्० ७, ५६, १०) ; **वृत्रहन्** (ऋक्० ८, ३७, १-६) ; **राजसि** (ऋग्० ८, ३७, ३) ; द्र० ऋक्प्रा० (१७, २९-३६)।

५. २१, १, ३५ मीमांसासूत्र।

६. निदानसू० प्र० १-२ तथा उस पर तातप्रसाद की टीका, जहाँ शौनक के मत में ऋक्प्रा० का स्पष्ट खण्डन किया गया है।

७. ऋग्सर्वा० ४, १०।

इसी प्रकार ऋग्० ४, १०, ५ में व्यूह करके शौनक ने (५+५+५+५+५+६) ३१ अक्षरों का महापद पंक्ति को अनुष्टुप् का भेद माना है, जिसमें **रोचते** पद पदादि में आता है, किन्तु यदि इसे ही (१०+१०+१०) अक्षरों का त्रिपाद् विराट् अनुष्टुप्[1] माना जाये, तो **रोचते** पद पदादि में नहीं रहता। शौनक ने इन तीन मन्त्रों में ५-५ अक्षरों के चार-चार पाद माने हैं—**अवीन्मनो अग्निर्हव्यान्नमोभि, प्रेष्ठो अस्मा अधायि स्तोमाः** (७, ३४, १४)। **मानोऽहिर्बुध्न्यां रिषेधान्मा यज्ञो अस्य स्त्रिधदृतायोः** (७, ३४, १७)। **प्रिया वो नाम हुवे तुराणामा यत् तृपन्महतो वावशानाः** (७, ५६, १०)।

इस कारण प्रथम मन्त्र में **अधायि**, द्वितीय में **स्त्रिधत्** तृतीय में **हुवे** तथा **मरुतः** ये चारों अनुदात्त पद पाद के आदि में आ जाते हैं, जो ठीक नहीं।

कात्यायन ने इन मन्त्रों का द्विपदा विराट्छन्द माना है। १०-१० पादाक्षरों का द्विपदा विराट् मानने पर इन पदों में से कोई भी पाद के आदि में नहीं आता और यही पक्ष ऋग्वेद संहिता में स्वीकृत किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कात्यायन ने ऋक्प्रा० में सन्निविष्ट छन्दःप्रकरण में अनेक सुधार करके अपनी धाक जमायी है और प्रातिशाख्य के वचनों के विरोध में अपने पक्ष को स्थापित किया है।

अतः ऋक्प्रातिशाख्य का छन्दःप्रकरण कात्यायन की ऋक्सर्वानुक्रमणी से प्राचीन है और यास्क से अर्वाचीन है। यह यास्क कौन सा यास्क है, इस विषय में कुछ कहना कठिन है। 'पिंगलछन्दःसूत्र तथा गार्ग्य के उपनिदानसूत्रों में भी यास्क का नाम आया है। वैसे छन्दःशास्त्र की नींव ऋक्प्रातिशाख्य में सन्निविष्ट छन्दःप्रकरण से बहुत पहले पड़ चुकी थी, इसमें सन्देह नहीं। पाणिनि के गणपाठ (४, ३, ३७) में 'छन्दोविचिति', 'छन्दोमान' तथा 'छन्दोभाषा' पद पढ़े गये हैं, जो व्याख्यातव्य माने जाते थे। वैसे वेद के षड् अङ्गों का उल्लेख बौधायन धर्मसूत्र तथा गौतमधर्मसूत्र तथा गोपथ ब्राह्मण में आया है। ऋक्प्रा० के अनुसार ऋग्वेद में गायत्री से लेकर अतिधृति पर्यन्त १४ छन्द पाये जाते हैं—शेषकृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति तथा उत्कृति नामक अतिछन्द दाशतयी में नहीं मिलते थे। **सुभेषज** में उपलब्ध हैं[2]। सुभेषज का का अर्थ यहाँ स्पष्ट है। इन २१ छन्दों के अतिरिक्त—यहाँ **मा, प्रमा, प्रतिमा, उपमा** और **समा** नाम के पांच प्राग्गायत्री छन्दों का भी उल्लेख किया है[3]।

---

[1] ऋग्प्रा० १६, ४२।

[2] १६, ८७-८८।

[3] १७, १९; तु० वा० सं० १४,१८—माछन्दः प्रमाछन्दः प्रतिमाछन्दो अस्त्रीवयपश्छन्दः उष्णिक्छन्दो बृहतीछन्दोऽनुष्टुप्छन्दो विराट्छन्दो गायत्रीछन्दस्त्रिष्टुप्छन्दो जगतीछन्दः।

ये छन्द चार अक्षरों से आरम्भ होते हैं और चार-चार की उत्तरोत्तर वृद्धि से समा के २० अक्षर हैं। किन्तु इन प्राग्-गायत्री छन्दों का प्रयोग भी कहीं होता है या नहीं, इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। अन्य ग्रन्थों में इन पाँचों छन्दों के नाम अलग-अलग दिये गये हैं[1]। पिङ्गल ने इनका उल्लेख नहीं किया। अतः प्रतीत होता है कि वे इनको वेद में प्रयुक्त नहीं मानते थे। वेंकट माधव ने भी इन छन्दों का संकेतमात्र किया है, ब्यौरा नहीं दिया।

इन छब्बीस छन्दों में दो-दो अक्षरों के न्यून होने पर उनका नाम विराट् रखा गया है। वैसे इनके स्वतन्त्र नाम भी रखे गये हैं यथा—

	अक्षर संख्या	**नाम**	**अक्षर संख्या**	**नाम**
प्राग् गायत्री (क)	२	हर्षीका	६	सर्षीका
	१०	मर्षीका	१४	सर्वमात्रा
	१८	विराट् कामा[2]		
गायत्री आदि (ख)	२२	राट् (ताराट्)	२६	विराट्
	३०	स्वराट्	३४	सम्राट्
	३८	स्ववशिनी[3]	५२	परमेष्ठी
	४६	प्रतिष्ठा		
अतिजगती आदि (ग)	५०	प्रत्न	५४	अमृत
	५८	वृषा	६२	शुक्र
	६६	जीव	७०	पयः
	७४	तृप्त[4]		
कृति आदि (घ)	७८	अर्णः	८२	अंश
	८६	अम्भः[5]	९०	अम्बु
	९४	वारि	९८	आपः
	१०२	उदक		

ब्राह्मणों में ही यह सामान्य सिद्धान्त स्थिर कर दिया गया था कि छन्दों के निश्चित अक्षरों में एक या दो अक्षरों की न्यूनता या अधिकता से छन्दों में भेद नहीं होता। वहां कहा है—**न वा एकाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्,**[6]

---

[1] द्र० मीमांसक, वै० छ० मी० पृ० ८६।

[2] ऋक्प्रा० १७, २०।

[3] १७, ५। [4] वही। [5] वही।

[6] ऐ०ब्रा० १, ६ ; २, ३७ ; इसी प्रकार श० ब्रा० १३, २, ३, ३ ; कौ० ब्रा० २७, १।

तो भी एक छन्द का दूसरे से भेद करने के लिए इन न्यूनाधिक अक्षरों वाले छन्दों का नामकरण आवश्यक था। अतः एकाक्षर न्यून वाले छन्दों से पूर्व **निचृत** विशेषण लगाया जाता है, यथा—**निचृद् गायत्री**, **निचृद् अनुष्टुप्**। एकाक्षर अधिक होने पर **भुरिक्** विशेषण लगाया जाता है और दो अक्षर अधिक होने पर **स्वराट्**, यथा—**भुरिग् गायत्री**, **स्वराड् गायत्री**[1]।

त्रिपाद उष्णिक् अनुष्टुप् और बृहती में यदि मध्य का पद छोटा हो, तो उन्हें **पिपीलिकामध्या** का विशेषण दिया जाता है[2]। यदि त्रिपाद् गायत्री के प्रथम तथा अन्तिम पादों में ७-७ अक्षर हों और मध्य में १० अक्षर हों, तो उसे 'यवमध्य' का विशेषण दिया जाता है[3]। ८+८+१२+८+८=४४ इस प्रकार के त्रिष्टुप् को **'यवमध्या त्रिष्टुप्'** कहा गया है[4]।

पादबद्ध मन्त्रों के अक्षरों में यदि विहित पादाक्षर संख्या पूरी नहीं होती, तो उस संख्या की पूर्ति के लिये उस पाद में किसी संधि को तोड़ कर दो स्वतन्त्र अक्षरों का निर्माण किया जाता है—इसे **व्यूहन** कहते हैं और उस पूर्ति को **सम्पत्ति** या **सम्पद्** कहते हैं। ऋक्प्रा० में उस पाद की सम्पद् के लिए एकाक्षरीभाव, सवर्ण दीर्घ, गुण-वृद्धि, पूर्वरूप सन्धियों के व्यूहन तथा क्षैप्रवर्ण (य-व) के संयोगों को तत्सदृश स्वरों से व्यवधान-युक्त (इय्-उव्) भाव करने का विधान है,[5] यथा—**'सास्माकेभिरेतरी न शूषैः'** (ऋग् ६, १२, ४)। इस त्रिष्टुप् के चरण में ११ के स्थान पर १० अक्षर हैं। इस न्यूनता की सम्पत्ति के लिये **सा अस्माकेभिः** इस प्रकार सन्धिविच्छेद ('व्यूह') करना चाहिये। इसी प्रकार गुण-वृद्धि तथा पूर्वरूप सन्धियों का भी व्यूहन किया जा सकता है।

गुण-वृद्धि—**वायवा याहि दर्शते मे सोमा अरङ्कृताः** (ऋक् १, २, २)। इस गायत्री छन्द के दूसरे पाद में सात अक्षर हैं, दर्शते मे का व्यूह करके दर्शत+इमे—इस प्रकार पढ़कर **पादसम्पद्** करनी चाहिये। पूर्वरूप—**स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव** (ऋग् १, १ ९) इस गायत्री छन्द के भी द्वितीय पाद में सात अक्षर हैं, जिसकी सम्पद् **सूनवे अग्ने** इस प्रकार व्यूह करके की जाती है क्षैप्रसंधि का व्यूह—**य** के स्थान पर **इय्** और **व** के स्थान पर **उव्** करके सम्पद् की जाती है, यथा=**त्र्यम्बकं यजामहे** (७, ५९, १२) इस अनुष्टुप् के चरण के सात अक्षर हैं आठ करने के लिए=**त्र्यम्बकं** का **त्रियम्बकं** इस प्रकार व्यूह करना चाहिये। दूसरे

---

[1] ऋक्प्रा० १७, २-३।

[2] १६, ३४; ३९; ५२।

[3] १६, २७।

[4] १६, ७२।

[5] ११, २२-२३।

मत के अनुसार **त्रि-अम्बकम्** इस प्रकार व्यूह भी हो सकता है[1] और **गोर्न पर्व विरदा तिरश्चा** (ऋग्० १, ६१, १२) में सन्धि के अभाव में भी 'पर्व' को **परुव** पढ़कर सम्पद् करने का सङ्केत है[2] । **कात्यायन** ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में यही पक्ष स्वीकार किया है । वैदिक छन्दों के दो मुख्य भेद हैं—**पादाक्षरगणनानुसारी तथा केवल-अक्षरगणनानुसारी** । ऋक्प्रा० में अक्षरगणनानुसारी छन्दों के अवान्तर भेद ये हैं—

> (क) दैव, आसुर, प्राजापत्य, आर्ष (ख) याजुष, साम्न, आर्च, ब्राह्म । ये दैव, आदि छन्द केवल **गायत्री** आदि प्रथम सप्तक के ही यहां दर्शाये गये हैं ।

दैवी-गायत्री एकक्षरा होती है और एक-एक अक्षर की उत्तरोत्तर वृद्धि से दैवी जगती ७ अक्षरों की मानी जाती है ।

आसुरी-गायत्री १५ अक्षरों की होती है तथा एक-एक अक्षर के उत्तरोत्तर वृद्धि से दैवी जगती ७ अक्षरों की मानी जाती है । आसुरी गायत्री १५ अक्षरों की होती है तथा एक-एक अक्षर के उत्तरोत्तर ह्रास से आसुरी जगती ९ अक्षरों की रह जाती है । प्राजापत्या गायत्री ८ अक्षरों की होती है और चार-चार अक्षरों की उत्तरोत्तर वृद्धि से प्राजापत्या जगती के ३२ अक्षर होते हैं ।

आर्षी गायत्री २४ अक्षरों की होती है और चार-चार अक्षरों की उत्तरोत्तर वृद्धि से आर्षी-जगती ४८ अक्षरों की होती है[3] ।

> (ख) **याजुषी-गायत्री** के ६ अक्षरों में क्रमशः एक-एक अक्षर की वृद्धि करके याजुषी जगती के १२ अक्षर माने गये हैं ।

साम्नी-गायत्री के १२ अक्षरों में क्रमशः २-२ अक्षरों की वृद्धि करके साम्नी जगती के २४ अक्षर बनते हैं ।

आर्ची-गायत्री के १८ अक्षरों में ३-३ अक्षरों की वृद्धि करके आर्ची जगती के ३६ अक्षर होते हैं ।

ब्राह्मी-गायत्री के ऊपर के तीनों छन्दों के अक्षरों का योग ३६ अक्षर होता है । इनमें ६-६ अक्षरों की वृद्धि से ब्राह्मी-जगती के ७२ अक्षर होते हैं[4] ।

---

[1] उवट, ऋक्प्रा० १७, २३ पर ।

[2] वही ।

[3] ऋक्प्रा० १६, १-९ ।

[4] ऋक्प्रा० १६, १०-१३ ।

ऋक् प्रा० में ये सब गिना कर भी उदाहरण केवल आर्ष-छन्दों के ही दिये गये हैं। ब्राह्मणों में आर्ष-छन्दों के अतिरिक्त केवल दैव और आसुर छन्दों का ही वर्णन मिलता है[1] और ये भेद भी केवल गायत्री, आदि प्रथम सप्तक के ही पाये जाते हैं।

गायत्री के अनेक भेद दर्शाये गये हैं। गायत्री एकपदा, द्विपदा, त्रिपदा, चतुष्पदा तथा पञ्चपदा भी होती है। यास्क के मत में सम्पूर्ण ऋग्वेद के दस मण्डलों में केवल एक ही एकपदा गायत्री है। वह भी दस अक्षरों की **विराड् गायत्री** है[2]। अन्य आचार्यों के मत में अन्य **एकपदा गायत्री** छन्द केवल पूर्वगामी ऋचाओं के अन्त्यभाग हैं। अन्य आचार्य पांच अन्य ऋचाओं को भी **एकपदा गायत्री** मानते हैं[3]। द्विपदा गायत्री में ११-१२ अक्षरों के दो ही पाद होते हैं[4]। इसके उदाहरणस्वरूप ऋग्० ८, ४६, १३ को उद्धृत किया गया है, जो मैक्समूलर के संस्करण में यूँ छपा है।

स नो वाजेष्वविता पुरुवसुः पुरस्थाता। मघवा वृत्रहा भुवत्॥ प्रातिशाख्य के निर्देशानुसार **पुरस्थाता** पर पाद समाप्त करने से दोनों पादों में १२-१२ अक्षर नहीं बनते। अतः पूर्वपाद **पुरुवसुः** पर समाप्त होना चाहिये[5]। पूर्वपाद में **ष्व** में व्यूह करके पादसम्पद् करनी चाहिये।

उष्णिक् छन्द के भी अनेक भेद किये हैं। चतुष्पाद उष्णिक् में प्रत्येकपाद में ७-७ अक्षर होते हैं[6]। इसके उदाहरणभूत दो मन्त्रों (ऋग्० ८, ६९, २; १०, २६, ४) के विषय में लिखा है कि ये अक्षर-गणना से तो उष्णिक्छन्दस्क हैं, परन्तु पादों की गणना से अनुष्टुप्। इस प्रकार अनिश्चय की स्थिति तो बहुत आ सकती है। अनेक अवस्थाओं में पाद समान होने पर भी दो छन्दों के बीच निश्चय करना कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था में शौनक ने व्यवस्था दी है कि निर्णय सूक्त के अधिकांश छन्दों के आधार पर किया जाना चाहिये। सामान्य त्रिष्टुप् में ४४ अक्षर होते हैं, किन्तु **उपजगती त्रिष्टुप्** में ४६ अक्षर होते हैं। **जागतप्राय** मन्त्रों में यह जागत कहलाएगा और त्रिष्टुप्प्राय मन्त्रों में त्रैष्टुभ्[7]।

---

[1] मीमांसक, वै० छन्द०, पृ० ११५;

[2] ऋग् १०, २०, १; ऋक्प्रा० १७, ४२।

[3] ऋक्प्रा० १७,४३, इन दो सूत्रों पर विवादार्थ द्र० मंगलदेव शास्त्री, ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, भाग ३, आंग्लानुवाद, टि० पृ० २८४-२५१।

[4] १६, २६।

[5] द्र० मीमांसक, वै० छन्द० पृ० १२७।

[6] ऋक्प्रा० १६, ३२।

[7] ऋक्प्रा० १६, ६५।

छन्दों की पहचान के विषय में छन्दःशास्त्रियों में इतना मतभेद है कि निर्णय अत्यन्त कठिन हो जाता है। **बृहती** के चारों पादों के ९-९ अक्षर होने चाहिएं । उदाहरण में दिये मन्त्रों (ऋक्० ६, २८, ८; १०, १६१, ५) में ३१-३१ अक्षर हैं । अतः प्रत्येक पाद में व्यूह करके ९-९ अक्षर पूरे कर लेने चाहियें— **सर्वे व्यूहे नवाक्षराः**[1], जबकि कात्यायन ने ऋक्-सर्वानुक्रमणी में इन दोनों को अनुष्टुप् मानकर विवाद ही समाप्त कर दिया है। प्रचलित शाकल संहिता में कात्यायन का निर्देश मान लिया गया है। विष्टार बृहती के उदाहरण में (ऋग्० १, १२०, ७) ८+१०+१०+८ (=३६) अक्षरों की की पूर्ति के लिए प्रथम तथा तृतीय पाद में व्यूह करना पड़ता है[2]। किन्तु तृतीय पाद में व्यूहन-योग्य कोई अक्षर ही नहीं । **विराड् ऊर्ध्व बृहती**[3] के उदाहरणभूत मन्त्र (ऋग्० ९, ११०, ४) में **प्रथमपाद** में दो अक्षरों की पूर्ति व्यूह से करनी पड़ती है। जबकि उसी सूक्त में अन्य ऐसे मन्त्र हैं, जिनमें व्यूहन की आवश्यकता नहीं पड़ती[4]। इससे प्रतीत होता है कि शौनक ने परम्परा से प्राप्त उदाहरण लिख दिया है[5], कई उदाहरण ऐसे भी दिये गये हैं, जो संगत प्रतीत नहीं होते, यथा गायत्री पदपंक्ति[6] का उदाहरण यह दिया गया है—

घृतं न पूतं तनुररेपाः शुचि हिरण्यम् ।
तत्ते रुक्मो न रोचत स्वधावः ॥ (ऋग्० ४, १०, ६)

इसमें पांच-पांच अक्षरों के पांच पादों के स्थान पर अन्तिम पाद में छह अक्षर हैं। दूसरे, **रोचत** को पादादि में नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह अनुदात्तपद है।

जिस छन्द में १२+१२ (=२४) अक्षरों के दो पाद हों, उसे द्विपदा गायत्री कहा गया है[7]। इस छन्द का निर्देश केवल ऋक्प्रा० में ही किया गया है[8]। इसका उदाहरण यह मन्त्र दिया है—

---

[1] ऋक्प्रा० १६, ५१ ।

[2] ऋक्प्रा० १६, ४९ ।

[3] ऋक्प्रा० १६, ४७ ।

[4] ऋग्० ९, ११०, ९ ।

[5] मीमांसक, वही, पृ० १४४; शाकलसंहिता में ९,११०, ४-९ सभी की संज्ञा 'ऊर्ध्वबृहती' है, जो ऋक्सर्वानु० में कात्यायन ने दी है ।

[6] ऋक्० प्रा० १६, १९ ; पदपंक्ति गायत्री में पांच पाद और २५ अक्षर होने चाहियें। (५+५+५+५+५=२५) ; पिंगल, गार्ग्य तथा पतञ्जलि ने पदपंक्ति छन्द को पंक्ति के अन्तर्गत पढ़ा है (पिसू० ३. ४६) ।

[7] ऋक्प्रा० १६, २६ । [8] मीमांसक, वैछमी०, पृ० १२७ ।

स नो वाजेष्वविता पुरूवसुः पुरःस्थाता मघवा वृत्रहा भुवत् ।
(ऋक्० ८, ४६, १३)

यहां प्रथम पाद में बारह अक्षरों की पूर्ति 'ष्व' में व्यूह करके करनी पड़ती है[1]।

चतुष्पाद् **उष्णिक्** के उदाहरण में **नदं व ओदतीनाम्** (ऋ०ग्० ८, ६९, २) तथा **मंसीमहि** (ऋग्० १०, २६, ४) ये मन्त्र उद्धृत हैं। इनके विषय में लिखा है कि अक्षरसंख्या से ये दोनों उष्णिक् छन्दस्क हैं, किन्तु पादसंख्या की दृष्टि से **अनुष्टुप्**[2]। इससे यह ध्वनित होता है कि ऋक्प्रा० उष्णिक् में चारपाद नहीं मानता था[3]।

विराड् ऊर्ध्वबृहती में १२-१२ अक्षरों के तीन पाद होने चाहिएं। इसके उदाहरणस्वरूप—**अजीजनो अमृत मर्त्येष्वां** (ऋग्० ९, ११०, ४) मन्त्र दिया गया है, जिसके प्रथमपाद की अक्षरपूर्ति दो अक्षरों के व्यूह से करनी पड़ती है, जबकि इसी सूक्त में एक अन्य मन्त्र ऐसा है, जिसमें व्यूह की आवश्यकता नहीं पड़ती[4]। इससे प्रतीत होता है कि ऋक्प्रा० का उदाहरण परम्परागत ग्रन्थों से लिया गया है[5]। इसी प्रकार **विराड्रूपा त्रिष्टुप्**[6] तथा **विराट्स्थाना**[7] त्रिष्टुभ् में अक्षरों की पूर्ति न करने का सिद्धान्त भी किसी ब्राह्मण-वचन के आधार पर स्वीकार कर लिया गया है। फलस्वरूप ३९ अक्षरों (९+९+१०+११) वाला छन्द भी **त्रिष्टुप्** मान लिया गया है, किन्तु उदाहरण नहीं दिया गया। इसी प्रकार (९+१०+११+११=४१) ४१ अक्षरों वाले **विराट्स्थाना त्रिष्टुप्** छन्द का भी उदाहरण नहीं दिया गया। **त्रिष्टुप्** के एक और भेद **पुरस्ताज्ज्योति** (८+१२+१२+१२=४४) का भी उदाहरण नहीं दिया गया[8]। **महापंक्ति जगती** (८×६=४८)[9] या **षट्पदा जगती**[10] के जो उदाहरण दिये हैं, उनमें ऋग्० ८, ३७, २-६ तक की सभी ऋचाओं में सर्वानुदात्त पद 'बृत्रहन्' पांचवें पाद के

---

[1] मैक्समूलर के संस्करण में इस मन्त्र में **पुरस्थाता** पद के बाद पूर्णविराम है, जो प्राति० के इस वचन के विरुद्ध है, क्योंकि बारह-बारह अक्षरों के दो पाद नहीं बनते।

[2] १६, ३१।

[3] वैछमी०, पृ० १३३।

[4] ऋग्० ९, ११०, ९।

[5] ऋक्प्रा० १६, ४७-४८।

[6] १६, ६९।

[7] १६, ६७।

[8] १६, ७०, उवट ने भी इसका उदाहरण नहीं दिया।

[9] १६, ७५।

[10] पिं० सू० ३, ४९।

आरम्भ में आता है, जो व्याकरण के नियम के विरुद्ध है[1]। इसी ने आगे चलकर[2] ९, ३७, १-६ तक के मन्त्रों में पांचवें पाद के आरम्भ में सर्वानुदात्त पद स्वीकार किया है, किन्तु कात्यायन ने प्रथम मन्त्र में **अतिजगती** छन्द मान कर पाद-विभाग **माध्यन्दिनस्य सवनस्य** के स्थान पर **माध्यन्दिनस्य सवनस्ये वृत्रहन्** यहां तक किया है, जिससे उपर्युक्त दोष का परिहार हो जाता है। अन्य मन्त्रों में कात्यायन ने भी महापंक्ति ही स्वीकार की है।

द्वितीय सप्तक– **अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति** तथा **अतिधृति** नामक अतिछन्दों के नामों तथा अक्षरसंख्या की चर्चा ऋक्प्राति० में की गयी है[3] और संक्षेप में एक-एक उदाहरण भी दे दिया गया है[4]। इनकी पादसंख्या तथा अक्षरसंख्या का और विस्तार से वर्णन शौनक के नाम से प्रसिद्ध रचना **पाद विधान**, वेङ्कट माधव की छन्दोऽनुक्रमणी तथा षड्गुरुशिष्य विरचित ऋक्सर्वानुक्रमणी की टीका **वेदार्थदीपिका** में किया गया है, किन्तु इस वर्णन का आधार पादविधान ही है, किन्तु इन छन्दों के भेदों-प्रभेदों की चर्चा कहीं भी नहीं की गई है, इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

छन्द	**पाद-संख्या**	**अक्षर-संख्या**
अतिजगती	५	(१२+१२+१२+८+८)=५२।
अतिशक्वरी	५	(१६+१६+१२+८+८)=६०।
अत्यष्टि	७	(१२+१२+८+८+८+१२+८)=६८।
अतिधृति	८	(१२+१२+८+८+८+१२+८+८)७६।
शक्वरी	७	(७×८)=५६।
अष्टि	५	(१६+१६+१६+८+८)=६४।
धृति	७	(१२+१२+८+८+८+१६+८)=७२।

तृतीय सप्तक—(**कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, सङ्कृति, अभिकृति** तथा **उत्कृति**) के उदाहरण ऋग्वेद की शाकलसंहिता में उपलब्ध नहीं होते, यह हम पहले कह चुके हैं,[5] किन्तु **पिंगलछन्दःसूत्र** के सम्पादक पं० केदारनाथ ने न केवल इन छन्दों को याजुष मन्त्रों में खोज निकाला है, अपितु

---

[1] ऋक्प्रा० १६, ७८ ; द्र० पा० ८, १, १८—**अनुदात्तं सर्वमपादादौ**।

[2] ऋक्प्रा० १७, ३६ ; द्र० उवट १७, २४ पर।

[3] १६, ८०-८६।

[4] १६, ९१ मीमांसक ने इन उदाहरणों का उबट के नाम से उल्लेख किया है, वैछमी०, पृ० १७१, १७८, जो ठीक नहीं हैं।

[5] ऋक्प्रा० १६, ८७-८८।

इन उदाहरणों को हलायुध की टीका में प्रक्षेप करने का भी दुःसाहस किया है[1]। ऋक्प्रा० के छन्दःप्रकरण की एक विशेषता प्रगाथ छन्दों का विवरण है। जब किसी याज्ञिक क्रिया की सिद्धि के लिये या किसी अन्य कारण से दो-तीन छन्दों का समुदाय बनाया जाता है, तब उस छन्दःसमुदाय को प्रगाथ कहते हैं[2]। इसे शब्द का मुख्यतः प्रयोग सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों में किया गया है।

प्रगाथों के नामकरण शौनकीय ऋक् प्रा० में तीन प्रकार से किये गये प्रतीत होते हैं—

१. प्रथम छन्द के अनुसार, यथा—**बृहती+सतोबृहती=बार्हत**[3]।
२. अन्तिम छन्द के अनुसार, यथा—**बृहती+विपरीता=विपरीतान्ता**[4]।
३. उभय छन्दों के अनुसार, यथा—**गायत्री+ककुभ्=गायत्रकाकुभ्**[5] अथवा **कुकुप्+पंक्ति=पाङ्क्तकाकुभ**[6]।

ऋक्प्रा० में २३ प्रगाथों का वर्णन उपलब्ध होता है, जिनमें लक्षण तथा उदाहरण दोनों दिये गये हैं। प्रगाथ किन्हीं भी दो छन्दों के मन्त्रों को मिला कर बनाया जा सकता है। यह मन्त्र एक सूक्त के भी हो सकते हैं और भिन्न सूक्तों के भी हो सकते हैं, यथा—बार्हत प्रगाथ के एक भेद में एक ही सूक्त के दो मन्त्र मिलाये गये हैं, १, ८४, १९; २०[7] और बृहती+जगती से मिले हुए **बार्हत** में ५, ५६, ९; ५, ५७,[8] मन्त्रों को मिलाया गया है।

ऋक् प्रा० में प्रगाथों को संज्ञाएं इस प्रकार रखो गई है कि उनमें सम्मिलित छन्दों का ज्ञान नाम से नहीं हो सकता। यथा—

बृहती+सतोबृहती=बार्हत (१८, १)।
बृहती+जगती=बार्हत (१८, ११)।

---

[1] पिंगलछन्दःसूत्र, निर्णयसागर, बम्बई, सन् १९५७।
[2] प्रगथ्यते संमेल्यते छन्दसा छन्दः इति प्रगाथः—षड्गुरुशिष्य, ऋक्सं० परिभाषा ११,१ पर।
[3] ऋक्प्रा० १८, ४।
[4] ऋक्प्रा० १८, १५।
[5] १८, ६।
[6] १८, ८।
[7] १८, १।
[8] ऋक्प्रा० १८, ११; पर उबट द्वारा प्रदत्त उदाहरण।

बृहती + अतिजगती = बार्हत (१८, १२)।
बृहती + यवमध्या (त्रिष्टुप्) = बार्हत (१८, १३)।
त्रिष्टुप् + जगती = त्रैष्टुभजागत (१८, २६)।
त्रिष्टप् + जगती = जगत्युत्तरत्रैष्टुभ (१८, २९)।

इनमें पूर्व के चार प्रगाथों में नामतः भेद करना असम्भव है और उत्तर के दो प्रगाथों में वस्तुतः क्या भेद है, यह जानना कठिन है।

छन्दों के देवताओं का उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है। यथा—

अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता सम्बभूव।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत् ॥
विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टबिह भागो अह्नः।
विश्वान् देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः[1] ॥

अर्थात् अग्नि से गायत्री का घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया, उष्णिहा(क्) से सविता का सम्बन्ध जुड़ गया, उक्थों (स्मृतियों) से देदीप्यमान सोम अनुष्टुप् से मिल गया, बृहस्पति की वाणी की सहायक बृहती बनी, विराट् ने मित्र और वरुण में आश्रय लिया, इस (यज्ञ के) सवन का त्रिष्टुप् छन्द इन्द्र का भाग बना, विश्वेदेवों में जगती ने प्रवेश किया, इस (यज्ञ) से मनुष्य ऋषि बन गये।

ऋक्प्रा०[2] में छन्दों के देवताओं का विवरण इन्हीं दो ऋचाओं के आधार पर दिया गया है। किन्तु **पंक्ति छन्द** वसुओं का है। **अतिछन्द** प्रजापति के हैं, **विच्छन्द** (?) वायु देवता के हैं, द्विपदा का देवता पुरुष है तथा एकपदा का ब्रह्म।

छन्दों के रंगों का उल्लेख भी यहां किया गया है[3]—

गायत्री का श्वेत, **उष्णिक्** का कृष्ण-शुक्ल, **अनुष्टुप्** का लाल-भूरा (पिशङ्ग), **बृहती** का कृष्ण, **विराट्** का नीला, (पंक्ति तथा अनुष्टुप्—उवट, १५)

---

[1] ऋग्० १०, १३०, ४-५।

[2] १७, ६-१२ ; तु० बृ० दे० ८, १०५-१०९ ; इस प्रसंग में विच्छन्द (१७, १०) से क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं है। उपनिदान सूत्र में गार्ग्य का वचन है—
विच्छन्दः स्वक्षरपरिमाणाः सङ्कृतिप्रभृत्यूर्ध्वं विज्ञेयाः। (अध्याय, ६, पृ० १६) विच्छन्दों में अक्षरपरिमाण सङ्कृति आदि से आगे जानने चाहियें। क्या १०४ अक्षरों से अधिक अक्षरों वाले छन्द यहां अभिप्रेत हैं।

[3] ऋक्प्रा० १७, १४-१८।

त्रिष्टुप् का रक्त, **जगती** का स्वर्ण, **पंक्ति** का अरुण, **अतिछन्दों** का श्याम ('शुकवर्ण'—उवट), **विच्छन्दों** का गौर ('सिद्धार्थवर्ण'—उवट), **द्विपदा** का कपिल, **एकपदा** का नकुलवर्ण है। द्वयक्षर ऊन (**विराट्**) का पृश्नि, **निचृत्** का गहरा भूरा (श्याव), **भुरिक्** का बुन्दियाला (पृषत्) वर्ण है।

ऋक्सर्वानुक्रमणी

कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध ऋक्सर्वानुक्रमणी में जहाँ ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त का प्रतीक, ऋक्संख्या, ऋषि तथा देवता का निर्देश किया गया है, वहां प्रत्येक सूक्त अथवा उसके भागों के छन्दों का पूर्ण विवरण दिया गया है। जैसा कि अनुक्रमणी के विषय में बता चुके हैं, यह मौलिक रचना नहीं, अपितु पूर्वगत तत्तद् विषय के ग्रन्थों पर आधृत सूचियों का संग्रह है। जैसे कि ऋक्प्रातिशाख्य के छन्दःप्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है, ऋक्सर्वानुक्रमणी निश्चय ही ऋक्प्रा० के इस प्रकरण से बाद की रचना है और अधिकतर ऋक्प्रा० द्वारा निर्दिष्ट छन्दों का अनुकरण करती है, किन्तु कहीं-कहीं उससे भिन्न मत भी व्यक्त करती है और वर्तमान शाकलसंहिता में प्रातिशाख्य के विरुद्ध इसी का मत स्वीकार किया जाता है। इसमें छन्द का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः[1] कात्यायन ने ऋग्वेद में गायत्री से लेकर अतिधृति-पर्यन्त कुल चौदह छन्द माने हैं। इन्होंने शौनकीय प्रातिशाख्य के छन्दःप्रकरण का अनुसरण किया है और उसी के समान ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों का अनुसरण करते हुए शतशः गौण और अवास्तिक छन्दों का प्रतिपादन किया है[2], यथा—

विद्वांसाविद् दुरः पृच्छेदविद्वान् इत्थापरो अचेताः ।
नू चिन्नु मर्ते अक्रौ[3] ॥

इस मन्त्र में २५ (८+१०+७) अक्षर हैं। कात्यायन ने इसे उष्णिक् का एक भेद ककुप् माना है[4], किन्तु यह वास्तव में भुरिग्गायत्री है, उष्णिक् नहीं। इसमें कोई व्यूहनीय सन्धि भी नहीं, जिससे ८+१२+८ अक्षरों वाला

---

[1] ऋक्सू० २, ६।

[2] वैछमी०, पृ० २४०।

[3] ऋग्० १, १२०, २।

[4] ·········द्वितीया ककुप् (१, १२०)।

ककुप् छन्द बन सके[1], ऋक्प्रा०[2] तथा वैमाच्छ०[3] में इसे **भुरिग्गायत्री** ही माना गया है।

इसी प्रकार ३९ अक्षरों वाले ऋग्० ८, ४८, १० का छन्द त्रिष्टुप् माना है, जबकि अपने बनाये नियमानुसार इसे **निचृद् विराट् पंक्ति** कहना चाहिये था[4]। इसी प्रकार ऋग्० ८, ४८, ५ में ४६ अक्षर हैं। प्रकरणानुसार इसे **स्वराट् त्रिष्टुप्** कहना चाहिये था, किन्तु इसे **जगती** बताया है। ऐसे और भी बहुत से उदाहरण हैं।

कात्यायन ने व्यूहन (सन्धिच्छेद) का सिद्धान्त स्वीकार किया है[5]। इस विषय में शौनक क्षैप्रवर्ण संयोग में क्षैप्र वर्ण से पूर्व स्वसदृश स्वर (इ, उ) से व्यवधान करता है तो कात्यायन व्यूह करता है।

त्र्यम्बकं यजामहे (ऋग्० ७, ५९, १२) में आठ अक्षरों के स्थान पर सात हैं। पादसम्पद् के लिये शौनक **त्रियम्बकं** पढ़ता है, तो कात्यायन **त्रि अम्बकम्**[6]। शौनक से अन्य विषयों में भी इसके अनेक मतभेद हैं, जिनकी चर्चा हम ऋक्प्रा० के छन्द:प्रकरण में कर चुके हैं। संशय की अवस्था में छन्दों का निश्चय उस सूक्त के देवता से होता है[7]। **तव स्वादिष्ठा** (ऋग्० ४, १०, ५) और **शिवा नः सख्या** (ऋग्० ४, १०, ८) इन **उष्णिक्** और **अनुष्टुप्** छन्दों वाले मन्त्रों के बीच **घृतं न पूतम्** (ऋग्० ४, १०, ६, ७) आदि ये २६ अक्षरों वाली दो ऋचाओं का छन्द अग्नि देवता-विषयक होने के कारण स्वराड् गायत्री होना चाहिये, न कि विराट् उष्णिक्। कात्यायन ने इन्हें **पदापंक्ति** या **उष्णिक्** कहा है। अनेक स्थलों पर कात्यायन का छन्दोनिर्णय शौनकीय निर्णय से अधिक संगत तथा शास्त्रानुकूल है—यह हम पहले देख चुके हैं।

ऋक्स में दैव आदि छन्दों की चर्चा नहीं की गयी। न ही मा, प्रभा प्रभृति प्राग् गायत्री छन्दों का ही उल्लेख किया गया है। गायत्री का एक भेद **'ह्रसीयसी गायत्री'** है, जिस में ६+६+७=१९ अक्षर होते हैं। इसे ऋक्प्रा० में 'अति

---

[1] **द्वितीयमुष्णिक्……त्रिपदान्त्यो द्वादशक: । … … मध्यश्चेत् ककुप्** (ऋक्स० ५,१-३); ऋक्प्रा० १६, ३०।

[2] १६, २०।

[3] पृ० ३०।

[4] ऋक्स०, परि० ९, १-३।

[5] **पादपूरणार्थं तु क्षैप्रसंयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेत्।**

[6] पिङ्गल इस विषय में इय, उव भाव का विधान करता है (३, २)।

[7] ऋक प्रा० १७, ६ पर उवट; पिं० सू० ३, ६२।

निचृत्' कहा गया है। उष्णिक् के अन्तर्गत **'ककुम्न्यङ्कुशिराः'** (११+१२+४=२७) का उल्लेख है, जिसे ऋक्प्रा०[1] में **'न्यङ्कुशिरा निचृत्ककुप्'** का नाम दिया गया है। ककुब् उष्णिक के विषय में ऊपर चर्चा कर चुके हैं। शौनक ने **'उपेदमुपर्चनम्'**[2] (ऋग्० ६, २८, ८) तथा **'आहार्षं त्वा'** (ऋग्० १०, १६१, ५) को **बृहती** कहा है, किन्तु कात्यायन ने दोनों को **अनुष्टुप्** माना है, क्योंकि दोनों में ३१-३१ अक्षर हैं। **जगती** छन्द के अन्तर्गत **'महापङ्क्ति'** नामक छन्द (ऋग्० ८, ३७, २-७) का लिखा गया है। इस सूक्त में १-६ तक के मन्त्रों के उतरार्ध एक से हैं, किन्तु प्रथम मन्त्र को तो **'अतिजगती'** कहा गया है, अन्यों को **'महापङ्क्ति'**, इसका कारण समझ में नहीं आया[3]।

अतिजगती से लेकर **अतिधृति** तक के द्वितीय सप्तक के छन्दों की पादसंख्या तथा अक्षरसंख्या का षड्गुरुशिष्य का वर्णन शौनकीय पादविधान पर आधृत है[4]। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि ऋग्० २, २२, ४ के विषय में कात्यायन ने लिखा है –**'अष्ट्याद्यातिशाक्वरमन्त्याष्टिर्वा'**। अर्थात् इस सूक्त में प्रथम मन्त्र का छन्द अष्टि है, शेष का अतिशक्वरी ; अन्तिम का **अतिशक्वरी है या अष्टि**। इस मन्त्र के छह पादों में ६१ (१५+७+७+९+११+१२) अक्षर हैं। अतः यह न तो पांच पादों वाली **अतिशक्वरी** ही है न ही ६४ अक्षरों वाली **अष्टि**। हो सकता है कि १, २, ५ पादों में व्यूह द्वारा पादसम्पद् करके ६४ अक्षर की अष्टि मान ली गयी हो और केवल अक्षर गणना के आधार पर पादसंख्या की अवहेलना करके **अतिशक्वरी**[5]। कात्यायन ने **बार्हत, काकुभ, महाबार्हत, विपरीतोत्तर** और **आनुष्टुभ** इन पांच प्रगाथों का वर्णन किया है।

---

१. ऋक्प्रा० १६, ३३।

२. १६, ५१।

३. द्र० वैछमी०, पृ० १६५।

४. मीमांसक, वैछमी० पृ० १७०।

५. वही, पृ० १७६, तु० ऋक्प्रा० **'अक्षराण्येव सर्वत्र निमित्तं बलवत्तरम्'** (१७, २१)। ऋक्स० १, १२०, ६ –**'षष्ट्यक्षरैरुष्णिक्'**—(ऋग्० १, १२०) की छठी ऋचा अक्षरसंख्या से उष्णिक् है। इस पर षड्गुरुशिष्य की टिप्पणी है—**'षष्ट्युगष्टाशित्यक्षरसंख्ययोष्णिक् त्वं सम्पादनीयं**, न तु पादभेदात्'।

द्वात्रिंश अध्याय

निदानसूत्र

सामदेव की कौथुमीशाखा से सम्बद्ध श्रौतसूत्र का नाम **निदानसूत्र** है। इसके प्रथम सात खण्डों में छन्दों का विवरण दिया गया है और इस प्रकरण का नाम **छन्दोविचिति** रखा गया है। इस निदानसूत्र के कर्ता का नाम पतञ्जलि प्रसिद्ध है। यद्यपि निदानसूत्र के सम्पादक के अनुसार कर्ता का यह नाम सर्वथा सुनिश्चित नहीं है, तो भी अन्य विद्वान् इसे पतञ्जलि की कृति मानते हैं[1] और क्योंकि वैयाकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि के सम्मुख निदानसूत्र उपस्थित था[2], अत: यह तृतीय शती ई० पू० से अर्वाचीन नहीं हो सकता।

छन्दोविचिति में अनेक प्रचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख किया गया है, यथा पाञ्चाला: (पृ० ३); बह्वृचा: (पृ० ३), एके (पृ० १, २, ५) इत्यादि। जहां पिंगल ने २१ वैदिक छन्दों का विवरण प्रस्तुत किया है, वहां निदानसूत्र में पतञ्जलि ने २६ छन्दों के भेद-प्रभेदों को चर्चा की है। प्राग्गायत्री पांच छन्दों के नाम भी इसमें ऋक्प्राति० के नामों से भिन्न हैं। यहां उनको क्रमशः **कृति, प्रकृति, सङ्कृति, अभिकृति** तथा **आकृति** की संज्ञा दी गयी है[3]। द्वितीय सप्तक के **अतिजगती** प्रभृति छन्दों की संज्ञा यहां क्रमश: **विधृति, शक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि,** अंह: **(मेहना), सरित्,** और **सम्पा** है। तृतीय सप्तक के **कृति** प्रभृति छन्दों को यहां क्रमश: **सिन्धु, सलिल, अम्भस्, गगन, अर्णव, आप:** तथा **समुद्र** कहा गया है। प्राग्गायत्री तथा प्रथम सप्तक के दो-दो अक्षरों से न्यून विराट्-छन्दों के नाम तो ऋक्प्रा० के नामों के समान ही हैं, किन्तु द्वितीय सप्तक के नामों में कुछ भेद है। ६२ अक्षरों वाले **विराड् अष्टि** को ऋक्प्रा० में **शुक्र** कहा गया है, तो निदानसूत्र में **जीव**। ऋक्प्रा० के **जीव** को **तृप्त, पय:** को **रस,** तथा **तृप्त** को **शुक्र** की संज्ञा दी गयी है। तृतीय सप्तक में कोई भेद नहीं है। निदानसूत्र में उपर्युक्त २६ छन्दों को **कृत** तथा एकाक्षर न्यून होने पर **भेता** संज्ञा

---

[1] निदानसूत्र, उपोद्धात, पृ० २८; **अथ भगवान् छन्दोविचितिकार: पतञ्जलि:…… ।** (निदानसूत्र, पेत्ताशास्त्री या हृषीकेश शर्मा कृत व्याख्या)। **पतञ्जलिकृत निदानसूत्रे छन्दोविचिति: समाप्ता**—बड़ौदा का हस्तलेख, निदान० उपोद्० पृ० २५ पर उद्धृत।

[2] प्रभुदयाल अग्निहोत्री, पतञ्जलिकालीन भारत, पृ० ४६५, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९६३।

[3] नि० सू० पृ० ८।

दी गयी है। २ अक्षर वाले **हर्षीका** से लेकर १०२ अक्षर वाले **उदक** संज्ञक छन्द पर्यन्त सभी को **द्वापर** तथा उनमें एकाक्षर की न्यूनता होने पर **कलि** नाम से स्मरण किया गया है। एक और विषय में भी पतञ्जलि ने नवीनता दिखायी है। जहां अन्य छन्दःशास्त्री तथा ब्राह्मणग्रन्थ केवल प्रथम सप्तक के छन्दों के ही दैव, आसुर, प्राजापत्य तथा आर्ष चार भेद करते हैं, वहां निदानसूत्र में ये भेद द्वितीय सप्तक (**अतिजगती** आदि) के भी माने गये हैं।

इन छन्दों की अक्षरसंख्याओं के सम्मिश्रण से एक ऐसा वृत्त बनता है, जिसके पूर्व अर्धभाग में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है और उत्तरार्ध में क्रमशः ह्रास होता है। इस प्रकार पूरे वृत्त के २८ विभाग बनते हैं[1]। याजुष आदि द्वितीय चतुष्क के छन्दों की यहां चर्चा नहीं की गयी। जहां तक विशेष छन्दों का सम्बन्ध है, निदानसूत्र में **वर्धमाना गायत्री** (६+७+८) के उदाहरणभूत मन्त्र **त्वमग्ने यज्ञानां** (ऋग्० ६, १६, १) में 'होता' पद का 'यज्ञानां' के साथ अन्वय करके इस के छन्द में क्रमशः ८+५+८ अक्षर माने गये हैं। जिससे ऋक्प्रा० में **पथ्याबृहती** (८+८+१२+८) कहा गया है, उसे ही यहां **स्कन्धोग्रीवी** का नाम दिया गया है। **द्विपदा पंक्ति** (१२×८=२०), **एकपदा** (११) तथा **द्विपदा त्रिष्टुप्** (११+११=२२), **विष्टारपंक्ति जगती** या **प्रवृद्धपदा जगती** (६×८=४८), **द्विपदा** (१२+१२) तथा **एकपदा जगती** (१२) तथा **ज्योतिष्मती जगती**, जिसका अन्तिमपाद ८ अक्षर का होता है, यहां निर्दिष्ट तो हैं, किन्तु इनके उदाहरण नहीं मिलते[2]। छन्दों में पाद का निर्णय कैसे किया जाये, इस विषय पर भी निसू० में महत्त्वपूर्ण निर्देश दिये गये हैं। इस विषय में हमने देखा है कि ऋक्प्रा० के अनुसार प्रायः (बाहुल्य), अर्थ तथा वृत्त ये तीन हेतु पाद के ज्ञान में सहायक होते हैं। इनमें परस्पर विरोध की अवस्था में पूर्व-पूर्व बलवान् होता है[3]। इसके विरुद्ध निदानसूत्र में अर्थ को प्राधान्य दिया गया है। अतः यहां पादों के नियत अक्षरों का अभिक्रमण (वृद्धि) तथा प्रतिक्रमण (ह्रास) करने का विधान किया गया है—

> **अष्टाक्षर आपञ्चाक्षरतायाः प्रतिक्रामति—विश्वेषां हित इति। आ चतुरक्षरताया इत्येके। आदशाक्षरताया अभिक्रामति वयं तदस्य सम्भृतं वसु इति।**

'अष्टाक्षरपाद पांच अक्षर तक छोटा हो जाता है, यथा—**विश्वेषां हितः**' (ऋग्० ६, १६, १) में अष्टाक्षर गायत्र पाद पांच अक्षर का ही है। कुछेक के मत में उसका चार अक्षर पर्यन्त ह्रास हो जाता है। वही अष्टाक्षर पाद दश अक्षर तक बढ जाता है, यथा—**वयं तदस्य** (ऋग्० ८, ४०, ६) में।

---

[1] द्र० वैछमी०, पृ० ११६।

[2] द्र० वैछमी०, पृ० १५०, १५९, १६६।

[3] ऋक्प्रा० १७, २५ ; २६।

इसी प्रकार एकादशाक्षर तथा द्वादशाक्षर पाद की वृद्धितथा ह्रास का भी विधान किया है और यह विधान अर्थ को प्रधान मान कर किया गया है[1]। शेष विषयों में निसू० अन्य वैदिक छन्दःशास्त्रों से प्रायः समानता रखता है।

पिंगलछन्दःसूत्र (शास्त्र)

पिंगल छन्दःसूत्र या शास्त्र आठ अध्यायों में विभक्त हैं। इनमें से तीन अध्यायों और सात सूत्रों में वैदिक छन्दों का विवरण दिया गया है, शेष अध्यायों में लौकिक छन्दों का। इन आठ अध्यायों में सूत्रसंख्या इस प्रकार है—१५+१६+६६+५३+४४+४४+३६+३४, जिनका कुल योग ३०८ होता है[2]। इस प्रकार वैदिक छन्दों का वर्णन १०४ सूत्रों में किया गया है तथा लौकिक छन्दों का २०४ सूत्रों में। इतने छोटे आकार के इस ग्रन्थ में छन्दों का शास्त्रीय विवेचन अत्यन्त प्रौढ़ रीति से किया गया है।

लौकिक छन्दों के उद्भव, विकास तथा शास्त्रीय विवेचन का इतिहास अन्धकार के गहन गर्त में विलीन है, तो भी इतना ज्ञातव्य है कि वैयाकरण पतञ्जलि को अनेक पद्य-काव्यों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के काव्य-साहित्य का ज्ञान था, जिनमें यवक्रीत, प्रियंगु तथा ययाति की कथाएं, वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी की आख्यायिकाएं, कंसवध, बलिबन्ध प्रभृति नाटक गिनाये जा सकते हैं। महाभाष्य में ४० ऐसे पद्यांश उद्धृत हैं, जो कि **मालती**, **प्रहर्षिणी**, **वसन्ततिलका**, **प्रमिताक्षरा**, **इन्द्रवज्रा** तथा **उपेन्द्रवज्रा** जैसे श्रुति-मधुर छन्दों में उपनिबद्ध हैं। इनका संबन्ध स्तुति, नीति तथा शृंगार जैसे विषयों से है। इसी महाभाष्य में २६० पद्य ऐसे उद्धृत हैं, जो व्याकरण के विषय का प्रतिपादन करते हैं और जिनमें **श्लोक**, **आर्या**, **वक्त्रा**, **जगती** तथा **विद्युन्माला**, **इन्द्रवज्रा**, **उपेन्द्रवज्रा**, **वंशस्थविल**, **दोधक** तथा **तोटक** जैसे आलङ्कारिक छन्दों का प्रयोग किया गया है[3]। पाणिनि ने ही **बृहती**, **विष्टारबृहती** और **विष्टारपंक्ति** छन्दों की ओर सङ्केत किया है[4]।

---

[1] द्र० इस पर तात प्रसाद की व्याख्या ··· ··· **अर्थवशेन पादव्यवस्था इति न्यायविद:।** यह टीका अभी तक अप्रकाशित है। इन उद्धरणों के लिए मैं मीमांसक जी का ऋणी हूं। वैछमी०, पृ० ७२, २१०।

[2] पं० सीताराम भट्टाचार्यसम्पादित हलायुधवृत्ति-सहित पिंगलछन्द:सूत्र, कलकत्ता, १८३६ शाके; निर्णयसागर प्रैस, बम्बई के संस्करण में छठे अध्याय में ४३ सूत्र होने के कारण कुल सूत्र ३०७ होते हैं। यादव प्रकाश के अनुसार यह संख्या २८८ है तथा भास्करराय के अनुसार ३००, बलदेव उपाध्याय, सं० शा० इ०, १९६९, वाराणसी, पृ० २८८, टि० २।

[3] द्र० सुशीलकुमार दे, हि० सं० लि० भाग १, पृ० १२-१२।

[4] ५, ४, ६ ; ८, ३, ९४।

कात्यायन के **भ्राज** श्लोकों तथा **जालूक** श्लोक की चर्चा महाभाष्यकार ने की है। इस से यही सिद्ध होता है कि पतञ्जलि के समय तक लौकिक काव्य-रचना तथा छन्दःशास्त्र का अनुशीलन दोनों इतने विशाल तथा प्रौढ़ हो चुके थे कि काव्यों में वैदिक छन्दों से बहुत आगे बढ़ कर अनेक प्रकार के ऐसे हृदयहारी छन्दों का प्रयोग होने लगा था, जो बाद के कवियों की रचनाओं में प्रायः पाये जाते हैं। यह हम ऊपर देख ही चुके हैं कि छन्दःशास्त्र का विकास पाणिनि से पूर्व ही हो चुका था और इस पर व्याख्यान ग्रन्थ भी लिखे जा चुके थे[1]।

स्वयं पिंगल ने सात पूर्वाचार्यों के छन्दःशास्त्र-सम्बन्धी विचार व्यक्त किये हैं। वे हैं—तण्डी, क्रौष्टुकि, यास्क, सैतव, काश्यप, रात तथा माण्डव्य। इनमें से सैतव, काश्यप, रात और माण्डव्य का उल्लेख लौकिक छन्दों के सन्दर्भ में किया गया है, जिससे इस विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन आचार्यों की सम्मतियां वर्णवृत्तों से ही सम्बन्ध रखती हैं, मात्रावृत्तों से नहीं। संभवतः उनके समय तक मात्रावृत्तों का विकास नहीं हुआ था। षड्गुरुशिष्य द्वारा उल्लिखित परम्परा के अनुसार पिंगल पाणिनि के अनुज थे, किन्तु इसकी पुष्टि अन्य किसी स्रोत से नहीं हो सकी। अग्निपुराण में छन्दोविषयक विवरण स्वयं पुराणकार के अनुसार 'पिङ्गलोक्त' विवरण पर आधृत है[2]। अग्निपुराण अपने वर्तमान रूप में लगभग ७०० ई० की रचना मानी जाती है, क्योंकि इसका काव्य-विवेचन[3] दण्डी के काव्यादर्श पर आधृत है[4]। वामनपुराण[5] में भी इनका नाम बड़े आदर से लिया गया है।

---

[1] पा० ४, ३, ७३ गणपाठ; इस गण में छन्दोविचिति, छन्दोमान तथा छन्दोभाषा यह तीन पद पढ़े गये हैं। इनमें से छन्दोभाषा पद ग्रन्थविशेष का वाचक प्रतीत होता है। केशव ने स्वरचित ऋग्वेद कल्पद्रुम के उपोद्घात में इस नाम के एक ग्रन्थ का उद्धरण दिया है, यथा—**छन्दोभाषायाम्**—

वक्तव्यं छन्द आदौ तु ततश्चार्षं: प्रकीर्तित:।
देवता विनियोगश्च तैत्तिरीयकपाठकैः॥

(मीमांसक, वैछमी०, पृ० ४०)

[2] **छन्दो वक्ष्ये मूलजैस्तैः पिंगलोक्तं यथाक्रमम्** (अग्नि पु० ३२८, १)।

[3] अ० ३३७; अ० ३४३-३४७।

[4] बलदेव उपाध्याय, पुराणविमर्श, पृ० ५५२, वाराणसी, सन् १९६५; रामचन्द्र हाजरा इसे ८०० ई० से प्राचीन मानने को तय्यार नहीं, पुराणिक रिकार्ड्स, पृ० १३८।

[5] १४, २५।

डा० वेबर ने पहले तो पिं० सू० को वैदिकसूत्रकाल अर्थात् ५०० ई० पू० के आस-पास रखने का प्रस्ताव किया था और इसके दूसरे तीसरे अध्यायों को शेष की अपेक्षा पूर्वकालीन माना था, किन्तु बाद में भरतनाटयशास्त्र के प्रकाश में आने पर उसके छन्दःप्रकरण को पिं० सू० से कम विकसित देख कर उन्होंने पिं० सू० को भरतनाटयशास्त्र के पश्चात्कालिक कह कर इसका काल ४००-७०० ई० के मध्य में निर्धारित किया। किन्तु वैदिक छन्दों का पिं० सू० तथा शांखायन श्रौतसूत्र में निरूपण ऋक् प्रा०, निदानसूत्र तथा ऋक्सर्वानुक्रमणी के निरूपण से कहीं अधिक हीन कोटि का है, जबकि लौकिक छन्दों का निरूपण बहुत उत्तम तथा उत्कृष्ट कोटि का है। अतः प्रतीत होता है कि दोनों भागों के कर्ता भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे[1]। डा० मनोमोहन घोष के विवेचन के अनुसार पिं० सू० के अध्याय १ तथा ४-८ (चतुर्थ के आरम्भ के ७ सूत्रों को छोड़कर) एक इकाई बनाते हैं तथा अध्याय २ और ३ ग्रन्थ के अविच्छेद्य अङ्ग नहीं हैं। वास्तव में द्वितीय तथा तृतीय अध्याय ही पिंगल-कृत छन्दोवेदांग का मूल रूप हैं तथा चतुर्थ अध्याय के प्रथम सात सूत्र बाद के प्रक्षेप हैं, किन्तु अवशिष्ट सूत्रों से फिर भी कहीं अधिक प्राचीन हैं[2]। अध्याय १ तथा ४-८ के कर्ता ने अपने ग्रन्थ को प्राचीनतर तथा अधिक प्रामाणिक सिद्ध करने लिए द्वितीय-तृतीय अध्यायों को भी उसमें जोड़ लिया[3]। द्वितीय अध्याय का आरम्भिक सूत्र है **छन्दः**, जिससे सिद्ध होता है कि वैदिक छन्दों का आरम्भ यहीं से होता है। इसी प्रकार **पादः**[4] का उल्लेख तो तृतीय अध्याय के आरम्भ में है, किन्तु इसकी परिभाषा चतुर्थ अध्याय[5] में की गयी है। इन सभी बातों से प्रतीत होता है कि द्वितीय-तृतीय अध्याय ही पिंगल की कृति है। पिं० सू० के वैदिक छन्दःप्रकरण का ध्यानपूर्वक विवेचन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें वैदिक छन्दों का विवरण ऋक्प्रातिशाख्य, निदानसूत्र तथा ऋक्सर्वानुक्रमणी के विवरण की अपेक्षा छन्दःशास्त्र की अत्यन्त अविकसित तथा आरम्भिक अवस्था को प्रस्तुत करता है। अतः यह ऋक्प्रा० के छन्दःप्रकरण से कहीं प्राचीन है। कात्यायन का स्थितिकाल ७०० ई० पू० के लगभग माना जा सकता है। ऋक्प्रा० का छन्दःप्रकरण उससे अवश्य प्राचीन है। अतः पिंगल का काल ८०० ई० के आसपास होना चाहिये।

---

[1] द्र० मनोमोहन घोष, इ० हि० क्वा०, भाग ७, १९३१, पृ० ७२७-७३४।

[2] पिं० सू० के तृतीय अध्याय के अन्त में छन्दों के ऋषियों, देवताओं, स्वरों तथा वर्णों का उल्लेख वैदिक छन्दःप्रकरण की समाप्ति का सङ्केत है।

[3] मनोमोहन घोष, वही।

[4] पिं० सू० ३, १।

[5] पिं० सू० ४, ११।

पिंगल द्वारा संख्यानिर्देश के लिए वसु, ऋतु आदि शब्दों के प्रयोग के कारण वेबर ने इसे बहुत बाद की रचना माना है, किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि ऐ० ब्रा०[1] में ८ वसुओं, ११ रुद्रों तथा १२ आदित्यों का उल्लेख किया गया है अतः प्रतीत होता है कि संख्याओं के लिए शब्दों का प्रयोग बहुत पहले सम्भव हो गया था[2]।

इन्हीं संख्या-वाचक शब्दों को लेकर हाल में ही पुनः पिंगल को वेबर के निर्दिष्ट काल ४००-७०० ई० में प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया गया है[3] और यह तर्क दिया गया है कि गुप्तकाल से पहले ऋतुओं की ६ संख्या निरूढ़ नहीं हो पायी थी, क्योंकि शक-कुषाणों के ब्राह्मी शिलालेखों में भी वर्ष में ३ ऋतुएं कही गयी हैं। किन्तु यह तर्क युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। आज भी मोटे रूप में सर्दी-गर्मी तथा वर्षा तीन ही ऋतुएं कहने का रिवाज है, अधिक से अधिक वसन्त को और सम्मिलित कर लिया जाता है। हेमन्त और शिशिर का पार्थक्य तो आज भी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, न ही शरद् के आगमन को कोई विशेष महत्त्व दिया जाता है। अतः पिंसू० का वैदिक भाग तो ८०० ई० पू० के आस-पास मानना ही युक्तिसंगत है।

लौकिक छन्दों के प्रकरण को भी हम भरत के नाट्यशास्त्र के पश्चात्कालीन नहीं मान सकते, क्योंकि भरत ने मगण-भगण आदि अष्टगणों का प्रयोग पिंगल-सम्मत पद्धति के अनुसार ही किया है[4]। जहां कहीं ऋक्प्रा० तथा पिंसू० में परस्पर मतभेद है, वहां संहिता ने या तो सर्वानुक्रमणी का साथ दिया है या ऋक्प्रा० का। यदि पिंसू० सर्वानु० के बाद का होता, तो यह कभी भी सर्वानु० तथा ऋक्प्रा० सम्मत संहिता में प्रतिपादित छन्दों के विरुद्ध नहीं जा सकता था, यह आगे स्पष्ट होगा। पिंगल के अनुसार वैदिक छन्दों की संख्या २१ है, जिनमें **गायत्री** से **अतिधृति** तक चौदह छन्दों को कात्यायन ने स्वीकार किया है। **कृति** से लेकर **अभिकृति** पर्यन्त सात छन्दों का पिंगल ने विवरण दिया है, किन्तु **मा**, **प्रमा** प्रभृति पांच प्राग्गायत्री छन्दों का उल्लेख नहीं किया। ऋक्प्रा० के समान ही पिंगल ने भी **निचृत्**, **विराट्**, **स्वराट्**, **भुरिक्**, **शङ्कुमती**, **पिपीलिकामध्या**,

---

[1] ऐ० ब्रा० ३, २२; १५।

[2] मनोमोहनघोष, वही।

[3] डी० सी० सरकार, इण्डियन कल्चर, भाग ६, पृ० ११०-११२।

[4] नाट्यशास्त्र, १५, ८४-८८।

यवमध्या प्रभृति संज्ञाओं या उन्हीं अर्थों में प्रयोग किया है[1], किन्तु यहां **'भुरिक्'** विशेषण उन सभी छन्दों के लिए प्रयोक्तव्य है, जिनमें एक अक्षर अधिक हो, किसी विशेष छन्दोभेद का स्वतन्त्र नाम **'भुरिग्गायत्री'** नहीं है। इसी प्रकार अन्य भी विशेषण ही हैं। यहां पाद-सम्पद् के लिए इय-उव भाव की कल्पना का विधान किया गया है[2]। **'तत्सवितुः वरेण्यम्'**[3] में एक अक्षर की पूर्ति के लिए **'वरेणियम्'** तथा **'दिवं गच्छ स्वःपते'**[4] में **'सुवः पते'** पढ़ना चाहिये। दैवादि छन्द भी केवल प्रथम सप्तक के ही दर्शाये गये हैं। इसी प्रकार याजुष आदि भेदों का भी केवल प्रथम सप्तक में उल्लेख किया गया है। अनेक स्थलों पर इसमें ऋक्प्रा० प्रभृति से भेद भी स्पष्ट प्रकट होते हैं। **'दुहीयन्मित्रधितये'**[5] को पिंसू०[6] में **त्रिपाद् विराड् गायत्री'** (११+११+११=३३) कहा गया है, जबकि ऋक्प्रा०[7] में **विराड् अनुष्टुप्**। **'घृतं न पूतं'**[8] को यहां **पंक्ति** का एक भेद **पदपंक्ति** माना गया है[9], जबकि ऋक्प्रा०[10] में इसे **भुरिक् पदपंक्ति** कहकर गायत्री का एक भेद कहा गया है। मुद्रित सं० में छन्द गायत्री का भेद माना गया है।

द्विपाद् विराड् गायत्री (१२+८=२०)[11] का ऋक्प्रा० में उल्लेख नहीं है, जबकि कात्यायन ने इसे मान्यता दी है। ऋक्प्रा०[12] ने **बृहती** के प्रसंग में (८+१२+८+८) ३६ अक्षरों वाले छन्द के तीन नाम दिये हैं—**न्यङ्कुसारिणी**, **स्कन्धोग्रीवी** तथा **उरोबृहती**। इस विषय में पिंगल ने विशेष सूचना यह दी है कि इसे क्रौष्टुकि तो **स्कन्धोग्रीवी** कहते है और यास्क **उरोबृहती**[13]। ऋक्प्रा०[14]

---

[1] मनोमोहनघोष का यह कथन असत्य है कि **'पिपीलिकामध्या'** का उल्लेख ऋक्प्रा० में नहीं किया गया और यास्क ने यह नाम (निरुक्त ७, ८, ९) पिंगल से लिया प्रतीत होता है (इ० हि० क्वा०, ७, पृ० ७३०-३१), पिंसू, ३, ५५-६०।

[2] 'इयादिपूरणः' ३, २।

[3] ऋग्० ३, ६२, १०।

[4] वा० सं० १२, ४।

[5] ऋग्० १, १२०, ९।

[6] ३, १७।

[7] १६, ४२ मुद्रित ऋक्सं० में त्रिपाद् विराड् गायत्री ही है।

[8] ऋग्० ४, १०, ६।

[9] ३, ४६।

[10] १६, १९ ; तु० पिंसू० ३, ४७ पर हलायुध तथा ऋक्प्रा० १६, १८ पर उवट।

[11] पिंसू० ३, १६।

[12] १६, ४६।

[13] ३, २८-३०।

[14] १६, ७०।

के **ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्** (१२+८+१२+१२ या १२+१२+८+१२) को यहां जगती के एक भेद **मध्येज्योति** की संज्ञा दी गयी है[1]। ऋक्प्रा०[2] के **विराड्रूपा त्रिष्टुप्** को यहां[3] **पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्** (८+११+११+११=४१) ऋक्प्रा०[4] में जिसे **उपरिष्टाज्ज्योतिः त्रिष्टुप्** कहा गया है, उसे ही पिसू०[5] में **उपरि० जगती** की संज्ञा दी गयी है। मुद्रित संहिता में इस उपरि० त्रिष्टुप् ही माना गया है। ऐसे **पुरस्ताज्ज्योतिः त्रिष्टुप्**[6] को **पुरस्ताज्ज्योतिः जगती**[7] तथा **मध्ये ज्योति त्रिष्टुप्** को **मध्ये जगती** इत्यादि संज्ञाएं दी गयी हैं। इस मतभेद में शाकल संहिता सर्वत्र ऋक्प्रा० के पक्ष को पुष्ट करती है। ऋक्प्रा० में **महापङ्क्ति**[8] तथा **महासतोबृहती**[9] दो ऐसे छन्द हैं, जिनका उल्लेख पिसू० में नहीं किया गया। पिसू० में देवताओं का भी उल्लेख किया गया है[10]। जहां ऋग्वेद[11] में मित्रावरुण को विराट्छन्द का देवता माना है, वहां पिंगल ने पंक्ति का। लगता है पिंगल ने **विराट्** का ही अर्थ **पंक्ति** किया है—**पंक्तिर्वै परमा विराट्**[12]। गायत्री आदि सात छन्दों के स्वरों (३, ६४) तथा वर्णों (३, ६५-६६) का भी यहां उल्लेख किया गया है।

पिङ्गल के टीकाकार

(१) पिङ्गल के टीकाकारों में सर्वप्रसिद्ध भट्टहलायुध हैं, जिन की वृत्ति का नाम मृतसञ्जीवनी है। स्वरचित ग्रन्थ 'कविरहस्य' में दिये गये परिचय के अनुसार राष्ट्रकूट-वंशीय राजा कृष्णराज अकालवर्ष द्वितीय (९४५-९६६ ई०) तथा खुडिगदेव जो कृष्णराज

---

१. पिसू० ३, ५३ पर हलायुध।

२. १६, ६९।

३. पिसू० ३, ५२ मीमांसक ने इसे जयदेव के नाम से लिखा है, जो ठीक नहीं (वैछमी०, पृ० १५७)। हलायुध ने **क्रीडन्तो रश्म आ भुवः** (ऋग्० ५, १९, ५) का उदाहरण दिया है जो ऋक्प्रा० १६, ६९ पर उवट ने दिया है।

४. १६, ७०।

५. ३, ५४।

६. ऋक्प्रा० १६, ७०।

७. पिसू० ३, ५२; उदाहरण नहीं दिया।

८. १६, ६५।

९. १६, ७७।

१०. ३, ६३।

११. १०, १३० ४-५।

१२. ताण्ड्यब्रा० २४, १०, २।

का वैमात्रेय भ्राता था और जिसने ९६६-९७१ ई० तक राज्य किया— दोनों ही हलायुध के आश्रयदाता थे[1] । तत्पश्चात् वे धारानरेश वाक्पतिराज मुञ्ज के आश्रय में चले गये[2] । इनकी यह वृत्ति अत्यन्त प्रामाणिक, सर्वप्रिय तथा सर्वप्राचीन व्याख्या है, जो पिङ्गलछन्द:सूत्र के अर्थों का स्पष्ट प्रतिपादन करती है। इसका वैदिक छन्दों का विवेचन प्रामाणिक होते हुए भी संक्षिप्त है।

(२) **यादवप्रकाश**—यह व्याख्या अभी तक अप्रकाशित है, किन्तु इस के हस्तलेख उपलब्ध हैं। इसका नाम 'पिङ्गलनागछन्दोविचितिभाष्य' है। यादवप्रकाश, जिनके नाम पर यह भाष्य प्रसिद्ध है, विशिष्टाद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक रामानुजाचार्य के गुरु के रूप में विख्यात हैं । रामानुज का स्थितिकाल १०१७—११३७ ई० तक माना जाता है।

अत: यादवप्रकाश का समय दशमशती के अन्तिम चरण से लेकर ग्यारहवीं शती के पूर्वार्ध तक मानना सर्वथा संगत है । इन्होंने वैजयन्तीकोष की भी रचना की है, जिसमें वैदिक शब्दों का भी संकलन किया गया है। यह कोष प्रकाशित है तथा विद्वत्समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

इनकी तीसरी रचना 'यतिधर्मसमुच्चय' है, जो अभी तक अप्रकाशित है। पिङ्गलसूत्रभाष्य का वैदिक छन्द:प्रकरण अत्यन्त प्रामाणिक तथा इतना विस्तृत है कि इसके सामने षड्गुरुशिष्य की सर्वानुक्रमणी पर टीका तुच्छ प्रतीत होती है। वैदिक छन्दों का विवेचन इतना सूक्ष्म तथा सांगोपांग है कि वह प्रातिशाख्यों में भी उपलब्ध नहीं होता है।

लौकिक छन्दों के उदाहरण इन्होंने स्वरचित पद्यों से दिये हैं और इस विषय में भी यह पिङ्गल के पूरक सिद्ध होते हैं। नवीन छन्दों की उद्भावना करके उनके लक्षण पिङ्गल की ही शैली में सूत्ररूप में दिये हैं[3] ।

---

[1] खुडिगराज का उल्लेख हलायुध ने अपनी वृत्ति में ७, १७ तथा ७, २० पर किया है।

[2] द्र० ४, १९ का उदाहरण—

ब्रह्मक्षत्रकुलीन: समस्तसामन्तनुतचरण: ।
सकलसुकृतैकपुञ्ज: श्रीमान् मुञ्जश्चिरं जयति ॥

तथा ४, २०; ५, ३५; ५, ३९; ७, ५; ८, १२ ।

[3] बलदेव उपाध्याय, संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ० ४९०-९१, वाराणसी, १९६९ ।

(३) पिङ्गल के तीसरे व्याख्याकार भास्करराय हैं। ये महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे और अधिकतर काशी में रहते थे। इनका स्थिति-समय लगभग १६८०—१७४५ ई० माना जा सकता है[१]। इनकी अपनी दी हुई सूचना के अनुसार इनकी छन्दोविषयक रचनाएं चार हैं—

छन्दःकौस्तुभ (१६९७ ई०), वृत्तरत्नाकर की 'मृतजीवनी' व्याख्या (१७०० ई०), 'वृत्तचन्द्रोदय' (१७३० ई०) तथा **पिङ्गल सूत्रभाष्य-राज** (१७३७ ई०)। इनके अतिरिक्त **वादकुतूहलादि** आठ अन्य रचनाओं की भी सूचना दी है। पिङ्गलछन्दःसूत्र के 'भाष्यराज' में इन्होंने वैदिक छन्दों के विषय में **यादवप्रकाश** जैसी प्रौढ़ता तथा गम्भीरता का परिचय नहीं दिया। यद्यपि यह उनके भाष्य से न केवल परिचित ही थे, अपितु कई अंशों में उनके ऋणी भी हैं। **भाष्यराज**' इतनी प्रसिद्धि प्राप्त नहीं कर सका[२]।

उपनिदानसूत्र

सामवेद के छन्दों का विवरण उपनिदानसूत्र में दिया गया है। यद्यपि मुख्यतः यह सामवेद से सम्बद्ध है और पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक के छन्दों के विषय में विचार करता है, तो भी इसमें इनमें न पाये जाने वाले विविध छन्दों पर भी सामान्यतः प्रकाश डाला गया है। इस छन्दोरचना के नाम भी अनेक हैं यथा—छन्दोविचयः, सामनगानां छन्दः, छन्दःपरिशिष्ट तथा छन्दोगपरिशिष्ट।

इसके कर्ता के विषय में सुनिश्चित जानकारी नहीं है, तो भी यह गार्ग्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अन्त में लिखा है—'**इत्याह भगवान् गार्ग्यो गार्ग्यः**'। इस गार्ग्य के देशकाल तथा इतिवृत्त के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इन्होंने स्व-उपजीव्य छन्दःशास्त्रियों का उल्लेख एक श्लोक में किया है—

ब्राह्मणात् तण्डिनश्चैव पिङ्गलाच्च महात्मनः।
निदानादुक्थशास्त्राच्च छन्दसां ज्ञानमुद्धृतम्॥

अर्थात् तण्डिकृत ब्राह्मण, पिङ्गल, निदानसूत्र तथा उक्थशास्त्र से छन्दों का ज्ञान उद्धृत किया है।

---

[१] वही, पृ० ४९२।

[२] विशेष जानकारी के लिए द्र० शिवप्रसाद भट्टाचार्य, जे० ए० सो०, कलकत्ता, भाग ४, १९६२, संख्या ३-४, पृ० १७९-१९०।

अतः यह निदानसूत्र और पिङ्गलछन्दःसूत्र दोनों से अर्वाचीन है। इन्होंने **'पाञ्चालाः'** (पृ० १) तथा **'यास्क'** (पृ० २) का भी विशेष उल्लेख किया है। **'उक्थशास्त्र'** से कौन सा ग्रन्थ अभिप्रेत है, यह हम नहीं जानते। यजुःसर्वानुक्रमणी की व्याख्या में देवयाज्ञिक ने इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। देवयाज्ञिक सायण से अर्वाचीन हैं, क्योंकि उन्होंने सायण को उद्धृत किया है[1]।

अनुक्रमणीशैली में विरचित यह ग्रन्थ दो पटलों तथा आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्यायों में वैदिक छन्दों का सामान्य परिचय दिया गया है। प्रथम अध्याय में सात आर्ष छन्दों तथा उनके भेदों की चर्चा की गयी है। दूसरे अध्याय में दोषपूर्ण छन्दों तथा अतिछन्दों पर विचार किया गया है। **सन्देहास्पद** छन्दों के विषय में निर्णायक हेतुओं का उल्लेख भी यहीं किया गया है। तृतीय अध्याय में दैव, आसुर, प्राजापत्य तथा याजुष, साम्न, आर्च तथा ब्राह्मछन्दों का विवरण दिया गया है। दैवादि तथा याजुषादि भेद केवल गायत्र्यादि प्रथम सप्तक के ही माने गये हैं। चतुर्थ तथा पञ्चम अध्यायों में सामवेद के पूर्वार्चिक एवं छठे अध्याय में आरण्यकाण्ड तथा महानाम्न्यार्चिक, सप्तम अध्याय में उत्तरार्चिक के छन्दों पर क्रमशः विचार किया गया है। उत्तरार्चिकसम्बन्धी छन्दों के केवल अपवादों की चर्चा की गयी है। अष्टम अध्याय में छन्दों के वर्णों तथा देवताओं का उल्लेख है। यहां आरण्यक आदि अध्यायों के छन्दों को **रहस्यछन्दों** की संज्ञा दी गयी है[2]।

यद्यपि यह रचना निदानसूत्र पर आधृत कही जाती है, तो भी प्राग्गायत्री छन्दों के नाम यहां उससे भिन्न रखे गये हैं, यथा—उक्ता, अत्युक्ता, मध्या, प्रतिष्ठा तथा सुप्रतिष्ठा[3]। भरतनाट्यशास्त्र में यही नाम पाये जाते हैं[4]। **(द्विपाद्) स्वराड्-गायत्री** (९+९=१८) **द्विपाद् विराड्गायत्री** (१०+१०=२०), **एकपदा गायत्री** (८ अक्षर) **महाबृहती** (१२+१२+१२=३६), **विराट्पंक्ति** (१०+१०+१०=३०), **(द्विपदा) विराट्पंक्ति** (१२+८=२०), **पुरस्ताज्ज्योतिः त्रिष्टुप्** (११+८+८+८+८=४३), **मध्येज्योतिः** (८+८+११+८+८) **त्रिष्टुप्**—ये सभी छन्द निसू० से भिन्न हैं। इन में से **विराट् पंक्ति (द्विपदा)**, **विराट् पंक्ति**, **पुरस्ताज्ज्योतिः त्रिष्टुप्** के उदाहरण नहीं दिये गये। ये केवल पिंगल की नकल पर लिख दिये गये हैं।

---

[1] द्र० मंगलदेवशास्त्री, उ० नि० सू० की भूमिका।

[2] **'अथ रहस्यछन्दांसि'**—द्वितीय पटल का आरम्भ। कैलैण्ड के अनुसार **'रहस्य'** का अर्थ यहां **'आरण्यक'** है, पञ्च० ब्रा०, उपोद्घात, पृ० ६।

[3] उपनिसू० पृ० ६।

[4] भरत० १४, ४६।

छन्दों के देवताओं के विषय में मतभेद की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। इस विषय में गार्ग्य ने पिंगल और शौनक दोनों के मतों का सम्मिश्रण करके दोनों पक्षों के समन्वय का प्रयास किया है और लिखा है **'अग्निर्गायत्र्याः,………पङ्क्तीनां मित्रावरुणौ वसवो वा"**[1]।

निदानसूत्र के समान ही उपनिदानसूत्र ने भी अतिछन्दों के अन्तर्गत द्वितीय तथा तृतीय दोनों सप्तकों का ग्रहण किया है। **विच्छन्दों** के विषय में चर्चा करते हुए गार्ग्य ने लिखा है—

"विच्छन्दःस्वक्षरपरिमाणाः सङ्कृतिप्रभृत्यूर्ध्वं विज्ञेयाः"[2]

अर्थात् **विच्छन्दों** के अक्षर-परिमाण **सङ्कृति** आदि से आगे जानने चाहियें। अर्थात् १०४ अक्षरों से अधिक अक्षरों वाले छन्दों को **विच्छन्द** कहते हैं। किन्तु वे छन्द कौन से हैं और उनके उदाहरण क्या हैं? इस प्रश्न का समाधान किसी ने नहीं किया।

जयदेवछन्दः

जयदेवछन्दः के कर्ता जयदेव जैन आचार्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि भट्टहलायुध ने इनके मत का खण्डन 'श्वेत पट' नाम से किया है[3]। अभिनव गुप्त ने इनके मत का उल्लेख अभिनवभारती में किया है[4]। वृत्तरत्नाकर के टीकाकार सुल्हण (रचनाकाल, ११९० ई०, १२४६ सं०) ने भी 'श्वेतपट' के नाम से इनके मत का खण्डन किया है। जैन ग्रन्थकार जयकीर्ति, नमिसाधु तथा हेमचन्द्र इन्हें आदरपूर्वक उद्धृत करते हैं। इनके टीकाकार अभिधामातृकावृत्तिकार मुकुलभट्ट के पुत्र हर्षट हैं। मम्मट ने काव्यप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में मुकुलभट्ट के मत का खण्डन किया है, अतः हर्षट का समय ९५० ई० के आसपास माना जा सकता है। इस कारण जयदेव का समय ८५० ई० से अर्वाचीन नहीं हो सकता। जयदेव ने अपनी रचना के लिए पिंगलछन्दःसूत्र को आदर्श माना है। **जयदेवछन्दः** भी आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्यायों में वैदिक छन्दों का विवरण प्रस्तुत किया गया है और शेष पांच में लौकिक छन्दों का। इन की रचना वृत्तशैली में है, जो लक्षण तथा लक्ष्य का एक साथ समन्वय प्रस्तुत करती है।

---

[1] उनिसू०, पृ० २१-२२।

[2] अध्याय ६, पृ० १६ ; तु० ऋक्प्रा० १७, १०।

[3] पिं० सू० १, १० तथा ५, ८ पर।

[4] अभिनव०, १४, ८३-८४ (बड़ौदा)।

वैदिक छन्दों के विवरण में इन्होंने पिंगल के समान ही **प्राग्गायत्री** छन्दों का उल्लेख नहीं किया। **अतिछन्दों** (अति जगती से उत्कृति तक) के नाम भी पिंगलानुसारी हैं। पिंगल के अनुसार ही जयदेव ने पादसम्पत्ति के लिए इय, उव की कल्पना का निर्देश दिया है और उसी के समान इयादिभाव के स्थान का सङ्केत नहीं किया, किन्तु इसके टीकाकार हर्षट ने यह स्पष्ट कर कर दिया है कि इय, उव भाव की कल्पना क्यों करनी चाहिये। वह लिखता है—

यथा क्वचिद्यागे चतुर्विंशत्यक्षरया गायत्र्या स्तोत्रे कर्त्तव्ये त्रयोविंशत्यक्षरया तन्न कृतं स्यात् इत्याशङ्क्याह—आर्षं पादमियादिना[1]।" अर्थात् किसी याग में जहां २४ अक्षर वाली गायत्री से स्तोत्र करना चाहिये, वहां २३ अक्षरों वाली (गायत्री) से वह नहीं किया जा सकता, अतः इयादि द्वारा २४ अक्षरों की पूर्ति के लिए **आर्षं पादम्** सूत्र बनाया।

इस सङ्केत से ब्राह्मणों में दिये गये काल्पनिक छन्दों के मूल कारण पर प्रकाश पड़ता है। पिंगलसूत्र के समान ही इसमें भी दैव-आसुर आदि तथा याजुष आदि छन्दोभेद केवल गायत्री आदि प्रथम सप्तक के ही माने गये हैं, अन्य छन्दों के नहीं। जयदेव ने **पुरस्ताज्ज्योतिः त्रिष्टुप्** (८+११+११+११=४१), **मध्येज्योतिः त्रिष्टुप्** (११+११+८+११=४१) तथा **उपरिष्टाज्ज्योतिः त्रिष्टुप्** (११+११+११+८=४१) के लक्षण दिये हैं, किन्तु उदाहरण नहीं दिये। ऐसे ही **पुरस्ताज्ज्योतिः जगती** (८+१२+१२+१२=४४), **मध्येज्योतिः जगती** (१२+१२+८+१२=४४) तथा **उपरिष्टाज्ज्योतिः जगती** (१२+१२+१२+८=४४) के भी उदाहरण नहीं दिये गये।

वेङ्कटमाधवकृत छन्दोऽनुक्रमणी

वेङ्कटमाधव रचित ऋगर्थदीपिका में ऋग्वेद के प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में कारिकाओं के रूप में भाष्यकार द्वारा, स्वर, आख्यात, उपसर्ग, समास, ऋषि, छन्द, देवता प्रभृति अनेक विषयों पर अपने विचार व्यक्त किये गये हैं। पूरे ऋग्वेद में बिखरे हुए विचारों का एक संग्रह डा० कुन्हनराज ने मद्रास विश्वविद्यालय से **ऋक्सर्वानुक्रमणी** के नाम से प्रकाशित किया था, उसी के अन्तर्गत ऋग्वेद के षष्ठ अष्टक के आठों अध्यायों के आरम्भ में व्यक्त किये गये छन्दोविषयक विचारों के संग्रह को **छन्दोऽनुक्रमणी** का नाम दे दिया गया है। वास्तव में इसे अनुक्रमणी कहना असंगत है। हम वैदिक भाष्यकारों के प्रकरण में दिखा चुके हैं कि वेङ्कटमाधव का स्थितिकाल दशमी शताब्दी ई० में हो सकता है।

---

[1] जयदेव छन्दः, ३, १, २, ३।

अपने इस छन्दःप्रकरण की रचना में वेङ्कटमाधव ने ऋक्प्रा०, बृहद्देवता तथा निदानसूत्र का आश्रय तो लिया ही है[1], ऋक्सर्वानुक्रमणी को भी आधार बनाया होगा, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। वेङ्कट ने ऋचाओं के पादविभाग को प्रायः अर्थानुरूप करने का सिद्धान्त स्वीकार किया है[2]।

पांच प्राग्गायत्री छन्दों का वेङ्कट ने केवल उल्लेखमात्र किया है, उनका वर्णन नहीं किया[3]।

वेङ्कट ने मुख्य छन्द सात ही माने हैं[4]। द्वितीय सप्तक के अतिच्छन्दों के लक्षण और उदाहरण देकर इन्होंने चौदह छन्दों की स्थिति संहिता में स्वीकार की है, अन्य छन्द दूसरे वेदों में हैं[5], इस संख्या के विषय में तीन या चार छन्दों को मानने वालों के मतों का भी उल्लेख यहां कर दिया गया है[6]। यद्यपि मुख्यरूप से वेङ्कट की कृति का आधार ऋक्प्रा० आदि प्राचीन रचनाएं रही हैं और इन्होंने अधिकांश स्थलों पर उन्हीं के शब्दों को ज्यों को त्यों उठाकर रख दिया है, यथा, व्यूह के विषय में वेङ्कट ने[7] ऋक्प्रा०[8] को अक्षरशः उद्धृत कर दिया है, और क्षैप्रवर्णों के व्यूह के विषय में इन्होंने **ऋक्सर्वानुक्रमणी** के विरुद्ध ऋक्प्रा० का पक्ष स्वीकार किया है, तो भी उनका अन्धानुकरण नहीं किया। **विराड्रूपा त्रिष्टुप्** के लक्षण में ऋक्प्रा० के मत में अष्टाक्षर पाद कहीं भी हो सकता है। उदाहरणभूत ऋचा[9] में केवल ३९ अक्षर होते हैं तथा इसमें कोई ऐसी सन्धि नहीं, जिसके व्यूह से पादसम्पद् की जा सके। वेङ्कट ने लक्षण में ही स्पष्ट कर दिया है कि अष्टाक्षर पाद चतुर्थ ही होना चाहिये और पूर्व के तीन पाद ग्यारह-ग्यारह अक्षरों के[10]। ऋक्प्रा० के उदाहरण से असन्तुष्ट होकर ही इन्होंने अन्य

---

[1] **प्रातिशाख्ये निदाने च मा प्रमा प्रतिमाबयः। नानाविधानि छन्दांसि** ··· ··· (ऋग्० ६ अष्टक, ५ अध्याय, पर १३ कारिका) तथा **पातञ्जले निदाने तु द्वौ प्रगाथौ प्रदर्शितौ** (अष्टक ६, अध्याय ६, पर का० ९)। वि० वै० शोध संस्थान, होशियारपुर, सं० ऋग्वेद।

[2] **तत्रर्चामवसानानि प्रायेणार्थानुरूपतः** (ऋग्० अ० ६, अ० ८ पर का० २); **पादे पादे समाप्यन्ते प्रायेणार्था अवान्तराः** (ऋग्० अ० ६; अ० ८ पर, का० १५)।

[3] द्र० ऊपर टि० १।

[4] वेमाछ० ६, १, २; ९।

[5] वेमाछ० ६, ५, ९।

[6] वही, ६, १, ५-८।

[7] वेमाछ० ६, ७, २।

[8] ऋक्प्रा० १७, २२-२३।

[9] **क्रीडन्नोरश्म आ भुवः** (ऋग्० ५, १९, ५)।

[10] **पादश्चतुर्थश्च तथाष्टकः स्यात्** (वेमाछ०, ६, ४, ७)।

उदाहरण दिया है[1], जिसमें ४० अक्षर हैं और **श्चोतन्त्यध्रिगो** में व्यूह करके ४१ अक्षर पूरे किये जा सकते हैं। इन्होंने कहीं-कहीं प्राचीन आचार्यों का व्यर्थ विरोध भी किया है। **यवमध्या त्रिष्टुप्** (८+८+१२+८+८) के ऋक्प्रा० के उदाहरण[2] में तृतीय पाद में एक ही अक्षर की कमी रहती है, जो व्यूह से पूरी की जा सकती है।

किन्तु वेंकट के उदाहरण[3] में तृतीयपाद में दस अक्षर होते हैं और प्रथम में सात, जिसमें व्यूह करना पड़ता है। इनके द्वितीय सप्तक के **अतिछन्दों** के पादों तथा अक्षरों की संख्या का आधार शौनक के नाम से प्रसिद्ध पादविधान है। यह वेमाछ० तथा पादविधान की तुलना से स्पष्ट हो जाता है। पादविधान में **अतिधृति** में आठ पाद तथा ७६ अक्षर माने गये हैं (१२+१२+८+८+८+१२+८+८), किन्तु वेङ्कट माधव ने इसमें भी सात पाद तथा ७२ अक्षर माने हैं (१२+१६+८+८+८+१२+८)[4]। **अतिधृति** के अक्षर सर्वत्र ७६ माने गये हैं, यहां ७२ कैसे माने गये, यह चिन्त्य है।

किन्तु पादविधान तथा वेमाछ० में अतिधृति का उदाहरण एक ही है[5], जिसमें कुल ६८ अक्षर हैं, जिनको व्यूह के द्वारा ७२ बनाया जा सकता है। कात्यायन ने भी इसे अतिधृति ही माना है। इस उलझन को सुलझाया नहीं जा सका।

ऋक्प्रा० के समान ही इसने जगती के तीन ही भेद माने हैं—**जगती**, **महासतोबृहती**, **महापंक्ति**[6]।

ऋक्प्रा० (१७, २५-२६) के समान ही वेङ्कट ने भी छन्दों के पादनिर्णय के प्रायः, अर्थ और वृत्त—ये तीन ही हेतु दिये हैं। इनमें विरोध होने पर पूर्व-पूर्व हेतु बलवान् होता है[7]।

इन्होंने **ऋक्सर्वानुक्रमणी** के समान ही केवल पांच प्रगाथ माने हैं, किन्तु नामों में भेद कर दिया है। इनके अनुसार **बार्ह**, **काकुभ**, **महाबृहती मुख**, **यवमध्यान्त** और आनुष्टुभ ये पांच प्रगाथ हैं (द्र० वेमाछ ३, ६, ६)।

---

[1] **तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो** (ऋग्० ३, २१, ४)।

[2] ऋग्० ३, ४८, ७ ; ऋक्प्रा० १६, ७२।

[3] ऋग्० १, १०५, ८; वेमाछ०, ६, ४, १४।

[4] वेमाछ०, ६, ५, ८।

[5] ऋग्० १, १२७, ६; ऋक्प्रा० १६, ८६ पर उवट ने भी यही उदाहरण दिया है।

[6] वेमाछ० ६, ४, १७-२०, युधिष्ठिर मीमांसक ने वैछमी०, पृ० १६२ पर **उपजगती** का एक उदाहरण (ऋग्० १, ६४, २) वेङ्कट के नाम से लिखा है, वेङ्कट ने तो '**उपजगती**' का नाम भी नहीं लिया। वहां इस मन्त्र के विषय में केवल इतना कहा है कि क्योंकि यह जागत सूक्तों में है, अतः यहां जगती कही जाती है (वेमाछ० ६, ४, २-३); जिस **उपजगती** की चर्चा **जगती** के अन्तर्गत की गयी है, उसे ऋक्प्रा० में **त्रिष्टुप्** का भेद माना गया है (ऋक्प्रा० १६,६५), वहां भी सूक्तानुरोध से व्यवस्था की गयी है।

[7] वैमाछ० ६, ७, ११।

त्रयस्त्रिंश अध्याय

वैदिक छन्दों के विषय में आधुनिक विचार

पाश्चात्य विद्वानों ने जहां वैदिक साहित्य के अन्य पक्षों पर गम्भीरता तथा विस्तार से विचार किया है; वहां छन्दों के विषय को भी अछूता नहीं छोड़ा। ग्रासमान ने सन् १८७३ में अपने वैदिक कोष Worterbuch Zum Ṛgveda में बहुत सी वैदिक ऋचाओं से छन्दों की त्रुटियों को पूरा करने के प्रयास में अनेकों स्थलों पर व्यूह आदि के द्वारा अक्षर-सम्पद् करने की चेष्टा की। यथा 'इन्द्र' के स्थान पर 'इन्दर' तथा षष्ठी बहुवचन में—'आम्' के स्थान पर—अअम् पढ़ने का सुझाव महत्त्वपूर्ण है।

इस विषय में दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न वैदिक संहिता में स्वरों की मात्रा से सम्बद्ध है। संहिता में अनेकों स्थलों पर पदान्त स्वर दीर्घ पाये जाते हैं, किन्तु पदपाठ में उनको नियमपूर्वक ह्रस्व दर्शाया गया है। सांहितिक दीर्घीकरण के प्रश्न पर थियोडोर बेन्फे तथा जे० ज़ुबाती ने सर्वाधिक पूर्णता से विचार किया है। बेन्फे ने अक्षरों की मात्रा के विषय (Quantitatsverschiedenheiten) पर सन् १८७४ से सन् १८८० तक सात वर्षों तक अनेक लेख लिखे, किन्तु अपने परिणामों को अन्तिम रूप न दे सके। उनका विचार था कि ये स्वर आरम्भ में दीर्घ ही थे, किन्तु समय के साथ-साथ घिस कर ह्रस्व हो गये। उनकी सम्मति में ये दीर्घ स्वर ऐसे स्थलों पर प्रयुक्त हुए हैं, जहां छन्द की दृष्टि से ह्रस्व स्वर भी समानरूप से अथवा अधिक स्वीकार्य हो सकते हैं। जे० ज़ुबाती (J, Zubaty) ने इस विषय पर अन्य दृष्टिकोण से दस वर्ष बाद (१८८८-९१) पुनः विचार किया। उनकी दृष्टि में इन सभी स्थलों पर ऋषियों को ह्रस्व या दीर्घ स्वर प्रयोग करने की इसलिए छूट थी कि इन स्वरों की मात्रा 'अनिश्चित' थी, और इनका प्रयोग ऋषियों की छन्दोविषयक आवश्यकताओं तथा अभिरुचियों पर निर्भर था। उन्होंने अपने समय में प्रचलित इस विचार का भी खण्डन किया कि ऋषियों को प्रत्येक पाद का तृतीय अक्षर ह्रस्व अभीष्ट था।

यद्यपि ज़ुबाती की कृति अत्यन्त पूर्ण तथा व्यवस्थित थी, किन्तु इसका प्रकाशन पूरा न हो सका।

सन् १९०५ में ई० वॅर्नान आर्नल्ड ने अपनी कृति "*Vedic Metre in its Historical Development*" में ऋग्वेद के छन्दों के आधार पर ऋक्संहिता को

पुनर्व्यवस्थित करने का प्रयास किया तथा ऋचाओं को अपने काल्पनिक काल-क्रम के अनुसार विभाजित करने का प्रयत्न किया तथा ऋग्वेदीय छन्दों की त्रुटियों को व्यूह आदि के द्वारा दूर करके अपनी दृष्टि से निर्दोष संहिता की व्यवस्था की चेष्टा की। इस कार्य में उनको कहां तक सफलता मिली, इस विषय में स्वयं उनको भी सन्देह बना ही रहा। वास्तव में छन्दों या अन्य किसी भी आधार पर सूक्तों के कालक्रम को आंकने की चेष्टा व्यर्थ है। जब सम्पूर्ण संहिता की अन्तिम व्यवस्था के काल के विषय में भी विद्वानों में परस्पर अपरिहार्य मतभेद पाया जाता है, तो सूक्तों के व्यक्तिशः काल-निर्णय की चेष्टा तो और भी कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलने का प्रयास है। फिर भी आर्नल्ड के परिश्रम तथा सूझ-बूझ की सर्वथा प्रशंसा ही की जायेगी।

पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में ऋग्वेद में असंख्य अनियमित छन्दों की सत्ता इस बात का अचूक प्रमाण है कि वैदिक संहिता अपने मूलरूप में हम तक नहीं पहुंची। इस दोषपूर्ण संहिता को शुद्ध किये बिना तो ऋग्वेद केवल गद्यात्मक कृति रह जाती है[1]। यह मानना भूल है कि जहां-तहां अनियमित छन्दों की त्रुटियों को व्यूह आदि के द्वारा दूर करके उन्हें नियमित रूप देकर हम इस गद्य को पद्य में परिवर्तित कर सकते हैं।

संहिता में पाये जाने वाले वास्तविक छन्दों के प्रकाश में हमें अपने प्रचलित तथा मान्य छन्दों के नियमों में पर्याप्त परिवर्तन, परिवर्धन तथा संशोधन करना होगा। अन्यथा ऋग्० २, ११ की बीस ऋचाओं में नियमित त्रिष्टुप् से नियमित रूप से चार-चार अक्षरों की कमी की व्याख्या नहीं की जा सकती[2]।

इस विषय में यह समझना भी आवश्यक है कि वैदिक ऋषि अपने भावों की अभिव्यक्ति के माध्यम में लगातार परिवर्तन, संशोधन तथा विकास करते रहे हैं। अवेस्ता के प्राचीन भागों से तुलना करने पर प्रकट होता है कि प्राचीनतम वैदिककाल में पाद का परिमाण अक्षरों की मात्राओं की ओर ध्यान दिये बिना केवल अक्षरसंख्या पर ही निर्भर करता था। स्वयं ऋग्वेद में भी सभी छन्दों के पाद के आरम्भिक तथा अन्तिम अक्षर लयनिरपेक्ष होते हैं, जबकि अन्य सभी भागों में लयप्रवणता स्पष्ट झलकती है[3]। वैदिक छन्दों में रगण (मध्यगुरु) प्रधान पादों का प्रयोग निश्चय ही लय को दृष्टि में रख कर

---

[1] आर्नल्ड, वैदिक मीटर, द्वितीय संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, १९६७, पृ० ३।

[2] वही।

[3] वही, पृ० २०।

किया गया है[1] और यदि महाकाव्यों का अनुष्टुप् छन्द ऋग्वेद के अनुष्टुप् पर आधृत माना जाता है, तो यह परिवर्तन भी लय को ध्यान में रख कर ही किया गया है[2]। अनेक स्थलों पर **त्रिष्टुप्** पाद तथा **जगती** पाद का मिश्रण भी दृष्टिगोचर होता है, जिससे ऋषियों की छन्दों में विविधता लाने की प्रवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। इसी लयप्रवणता के कारण ही बाद में प्रगाथ छन्दों का उदय हुआ, जिनमें से **बृहती—सतोबृहती प्रगाथ** की ऋग्वेद की सर्वश्रेष्ठ श्रुतिमधुर रचनाओं में गणना की जाती है[3]।

इसी विकासक्रम में दशाक्षरपाद के छन्द, **द्विपदा विराट्** या **अक्षरपङ्क्ति** की चर्चा की जा सकती है, जो ऋग्वेद के सर्वाधिक परिमार्जित छन्दों में गिना जा सकता है[4]। यद्यपि ऋग्वेदीय छन्दों का विकासक्रम अस्पष्ट तथा अनिश्चित है, तो भी प्रवृत्तियों की विविधता तथा रचना के लचीलेपन की दृष्टि से कलापूर्ण शिल्प के रूप में ये आधुनिक यूरोपीय छन्दों से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं[5]।

वैदिक छन्दों के पाद प्रायः अष्टाक्षर या एकादश-द्वादश अक्षरों के होते हैं। ऋचाओं में अष्टाक्षर तथा द्वादशाक्षर पादों का मिश्रण भी होता है। इस प्रकार के मिश्रण के बाद के साहित्य में अभाव होने के कारण इसे ऋग्वेद के प्राचीन भागों का द्योतक मान सकते हैं[6]। ऋग्वेदीय छन्दों में लयसम्बन्धी कोई नियम नहीं है, और ऋचा में प्रायः प्रत्येक पाद स्वतन्त्र होता है। प्रायः सभी छन्दों में पाद के दूसरे, चौथे, छठे प्रभृति सम-अक्षर बहुधा दीर्घ होते हैं और अन्तिम भाग में अधिकतर ह्रस्व अक्षर रखने की प्रवृत्ति पायी जाती है[7]। अष्टाक्षर पाद में चार-चार अक्षरों के दो भाग होते हैं, जिन में यति का सर्वथा अभाव होता है तथा पञ्चम और सप्तम अक्षर सदा ही ह्रस्व होते हैं, कहीं-कहीं षष्ठ अक्षर भी ह्रस्व दृष्टिगोचर होता है, और यदि द्वितीय अक्षर ह्रस्व हो, तो तृतीय अक्षर अवश्य ही दीर्घ होता है। कभी-कभी १, ३, ५ जैसे विषम अक्षर दीर्घ भी देखे जाते हैं— ऐसे गायत्री छन्द को Trochaic गायत्री का नाम दिया जाता है[8], यथा—

उक्थं चन । शस्यमानम् । अगोर् अरिर् । आ चिकेत न गायत्रम् । गीयमानम् । ८, २, १४ ।

---

[1] वही, पृ० २०।

[2] वही।

[3] वही।

[4] वही।

[5] वही, पृ० २१।

[6] वही, पृ० ९।

[7] वही, पृ० १०।

[8] वही, पृ० १०।

इस गायत्री ऋचा में Trochaic स्वरावरोह सभी पादों में पाया जाता है। बहुत से गायत्री सूक्तों में प्रथम मन्त्र में एकपाद अधिक पाया जाता है[1], अथवा तृचों के प्रथम मन्त्रों में एकपाद अधिक होता है[2]। अन्यत्र गायत्री सूक्तों के अन्तिम मन्त्र में एक पाद अधिक होता है[3]। ऋग्वेद में अष्टाक्षरीय पादों की संख्या १५००० के लगभग है। आमतौर पर इन पादों का स्वरूप ⏓—⏓—। ⏑—⏑⏓ यह होता है। इस प्रकार के गायत्रीपाद ऋग्वेद के सभी भागों में पाये जाते हैं Trochaic गायत्री में स्वरावरोह में Trochaic पाद (—⏑—⏑) प्रायः पाये जाते हैं। कालक्रम में गायत्री अनुष्टुप् के बाद का विकास है[4]।

अनुष्टुप् छन्द चार पाद का होता है। अथर्ववेदीय विशेषताओं से युक्त ऋग्वेदीय मन्त्रों के अनुष्टुप् छन्दों के पादों में कुछेक विशेषताएं पायी जाती हैं। इनमें दो अर्धर्चों की रचना इस प्रकार होती है कि प्रत्येक अर्धर्च के प्रथम पाद का सप्तम अक्षर दीर्घ होता है और द्वितीय पाद का ह्रस्व। ऐसे ही प्रत्येक अर्धर्च के द्वितीय पाद का तृतीय अक्षर प्रायः दीर्घ होता है। यथा—

वायुरस्मा। उपामन्थत्। पिनष्टि स्मा। कुनन्नमा केशी विष। स्य पात्रेण। यद्रुद्रेणा। पिबत्सह[5]।

इस प्रकार के अनुष्टुप् को गाथाकालीन (epic) अनुष्टुप् का नाम दिया जाता है। अनुष्टुप् सूक्तों के अन्तिम मन्त्रों में बहुत्र एक पाद अधिक दीखता है[6]।

परवर्ती ऋग्वेदीय मन्त्रों में अनुष्टुप् पाद के तीन रूप प्रकट होते हैं—(१) जहां अनुष्टुप् पङ्क्ति अथवा महापङ्क्ति से मिश्रित है। (२) जहां अनुष्टुप् सूक्त के एक दो मन्त्र गायत्री, त्रिष्टुप् या जगती के साथ संश्लिष्ट हैं। (३) दीर्घ सूक्तों में सर्वथा असम्पृक्त। इन अनुष्टुपों में भी गायत्री छन्दों को विशेषताएं पायी जाती हैं। प्रथम दो वर्गों के प्रथम-तृतीय पादों के अन्त में Iambic (⏑—⏑—) लय पायी जाती है। द्वितीय वर्ग में गाथाई रूप (⏑——⏑) अधिक है। तृतीय वर्ग में (———⏓) ऐसे पादों की बहुलता है[7] और गाथाई

---

[1] ऋग्० ३, २४, १ (अनुष्टुप्)।

[2] ऋग्० ५, २८, ४-६ ; ८२, १-३।

[3] ऋग्० १, ४३, ९ ; ९०, ९ ; ६, १६, २७ (सर्वत्र अनुष्टुप्)।

[4] वेदिक मीटर; पृ० १७१।

[5] ऋग्० १०, १३६, ७।

[6] यथा—ऋग्० ५, ९, ७ ; १०, ४, ७ ; (सर्वत्र पङ्क्ति) ५, १९, ५ (विराड्रूपा) द्र० ऋक्प्रा० १६, ६९ ; ५, ८६, ६—विराट्पूर्वा, ऋक्प्रा० १६, ६८।

[7] आर्नल्ड, वही, पृ० १६६।

पाद (⏓— — ⏑) अधिक हैं। प्राचीन वैदिक मन्त्रों में Iambic अवरोह सम-पादों में अधिक है, विषम में कम[१]। अत्रि ऋषि के अनुष्टुप् सूक्तों को वास्तव में ऋग्वेद की सर्वप्राचीन रचनाएं मानना चाहिये[२], क्योंकि इन्हीं सूक्तों में सन्धिच्छेद (hiatus) सर्वाधिक है। दशम मण्डल के विमद ऋषि के मिश्र छन्दों (८, १२ अक्षरीय पाद) के सूक्तों की लय तथा शब्दकोष दोनों ही **अत्रि-अनुष्टुप्** से प्रायः मिलते हैं, तथा इन सूक्तों के द्वादशाक्षरीय पादों की लय भी सर्वप्राचीन द्वादश-अक्षरीय पादों की लय से मेल खाती है। अतः हम कल्पना कर सकते हैं कि दशम मण्डल में बहुत से ऐसे सूक्त हैं, जो वंशमण्डलों में केवल इसलिए स्थान न पा सके कि इनके छन्द उन से भिन्न थे[३]।

त्रिष्टुप्-जगती छन्द—त्रिष्टुप् छन्दों के प्रायः दो भाग होते हैं, जो ४+७ या ६+५ अक्षरों के होते हैं। यह विभाजन यति पर निर्भर करता है। यति पहले आ जाये, तो प्रथम भाग छोटा हो जाता है, बाद में आये, तो दीर्घ। जगती छन्द के पाद के द्वितीय भाग में सदा ही अधिक अक्षर पाये जाते हैं, तथा सभी अवस्थाओं में द्वितीय भाग के प्रारम्भ में दो अक्षर ह्रस्व होते हैं। यदि यति पहले आ जाये, तो इन त्रिमित (trimeter) छन्दों की लय द्विमित (dimeter) पादों की लय के समान होती है, किन्तु यदि यति बाद में आये, तो Iambic लय (⏑ —) का पूर्ण निर्वाह किया जाता है और यदि चतुर्थ अक्षर ह्रस्व है, तो पञ्चम अक्षर अवश्य ही दीर्घ होता है[४]। त्रिमितछन्दों के मध्यम पाद में यति के अनन्तर दो ह्रस्व अक्षरों के प्रति आग्रह के कारण Iambic लय का भङ्ग हो जाता है। इसमें शेष अक्षर प्रायः दीर्घ ही होते हैं। अतः सर्वाधिक व्यवस्थितरूप यह मिलता है (||⏑⏑—) तथा (—||⏑⏑)। कभी-कभी इस मध्यम पाद में Iambic लय का भंग नहीं भी होता। उस अवस्था में इस का रूप इन दो में से एक हो जाता है (||⏑—⏑ या ⏑||—⏑)। ऐसे सूक्तों को Iambic **त्रिष्टुप्** कह सकते हैं। ये सप्तम मण्डल में अधिक हैं।

त्रिमित पाद के अवरोह में द्विमित पाद के अवरोह की विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं। **त्रिष्टुप्** पाद में नौवां अक्षर तथा **जगतीपाद** में ग्यारहवां अक्षर नियमित रूप से ह्रस्व होता है तथा आठवां और दसवां नियमितरूपेण गुरु। किन्तु कभी-कभी इनमें से एक या दोनों ही ह्रस्व होते हैं। आठवें और दसवें अक्षरों को ह्रस्व रखने की प्रवृत्ति बराबर कम होती दिखायी देती है[५]। **दश-अक्षरीय**

---

[१] वही, पृ० १७०।

[२] वही, पृ० १७०।

[३] वही, पृ० १७१।

[४] वही, पृ० १२।

[५] वही, पृ० १२-१३।

पाद **त्रिष्टुप्-पादों** के समानान्तर होते हैं। इनमें यति से अव्यवहित पूर्व या अनन्तर एक अक्षर कम हो जाता है। **विराट्स्थाना** इसी प्रकार का छन्द है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में एक ही ऐसा सूक्त है[1], जिसमें आधी ऋचाएं **त्रिष्टुप्** छन्द की हैं। **द्विपदाविराट्** में यति छठे अक्षर पर होती है, सप्तम तटस्थ होता है। इस प्रकार दोनों भाग इतने समान होते हैं कि हम इसे पांच-पांच अक्षरों के चार पादों का **अक्षरपंक्ति** छन्द भी कह सकते हैं। ये दश-अक्षरीय पाद वाले छन्द भी ऋग्वेद के अतिप्राचीन भाग में पाये जाते हैं। त्रिमित **पादों** में मिश्रण पाया जाता है। एक ही ऋचा में **त्रिष्टुप्** तथा **जगती-पाद** दोनों साथ-साथ देखे जाते हैं तथा **त्रिष्टुप्-जगती-ऋचाएं** एक ही सूक्त में साथ-साथ उपलब्ध होती हैं। **जगती सूक्तों** के अन्त में **त्रिष्टुप्** की एक-दो ऋचाओं का पाया जाना साधारण सी बात है, किन्तु **त्रिष्टुप्** सूक्तों में **जगती** ऋचा का पाया जाना ऋग्वेद में अपवाद ही है[2]। अथर्ववेद में तथा बाद की रचनाओं में यह अत्यन्त सामान्य बात है।

बहुत से सूक्तों के अन्त में टेक के रूप में **गायत्री** तथा **त्रिष्टुप्** छन्दों में ऋचाएं पायी जाती हैं। **त्रिष्टुप्** छन्द प्रायः **जगती** छन्दों के अन्त में पाये जाते हैं तथा मुख्यरूप में वंशमण्डलों में हैं, यथा— **'प्रातर्मक्षू'**[3], **'तन्नोमित्रः'**[4], **'विद्यामेषाम्'**[5], **'बृहद्देवम्'**[6]। दो अधिक सूक्तों में समान ऋचाएं ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पायी जाती हैं और उन सूक्तों की समानता की सूचक हैं[7]।

ऋग्वेद के सैंकड़ों मन्त्रों के छन्दों में अक्षरों की न्यूनता पायी जाती है, जिनकी पूर्ति के लिए व्यूह करना पड़ता है। व्यूह वहां किया जाना चाहिये जहां—

(१) विशेष शब्द रूप या पद में व्यूह करने से अधिकांश स्थलों पर छन्दःसम्पत् हो सके, यथा—

(क) य, व वाले सभी शब्द, जिनमें य, व के बाद स्वरित स्वर है—

स्व॑र् > सु॒अर् ; आध्यैं > आ॒धिए॑ ।

---

[1] वही, पृ० २, ११।

[2] वही, पृ० १५।

[3] ऋग्० १, ५८-६४।

[4] ऋग्० १, ९४-११५।

[5] ऋग्० १, १६५-१९०।

[6] द्वितीय मण्डल में बहुत ; ९, ८६, ४८।

[7] आर्नल्ड, वही, पृ० ५७।

(ख) वे संज्ञा शब्द, जिनमें अच् के बाद -य प्रत्यय लगता है—
युज्यं > युजिअ ; सूर्यं > सूरिअं ।

(ग) त्वम् > तुअम् ; त्व > तुअ ; त्वा > तुआ ।

(घ) इकारान्त पदों का तृ० एक०, षष्ठी-सप्त० द्वि०—
शम्यां > शमिंआ, हर्योः > हरिंओः ।

(ङ) —वन्, —मन् में अन्त होने वाले नामों के रूप, धामन् > धाम्ना ।

(२) ऐसे कुछ-एक अल्पसंख्यक स्थलों पर छन्दःपूर्ति में समर्थ हों, जहां इन्हें आकस्मिक अनियमितता नहीं कहा जा सकता, यथा—

(क) **पान्तु > प अन्तु ; नेषि > नयिषि ; ज्येष्ठ > जयिष्ठ ।**

(ख) सभी ष० बहु० के **आम् > अअम् ।**

(ग) गुरु अक्षरों के पश्चात् **—भ्याम् > भिआम् ; —भ्यः > भिअः ।**

(घ) लिङ् सम्बन्धी—या प्रत्यय, **अश्याम् > अशिआम ।**

(ङ) नामों की विभक्तियां**—यै,—याः,—याम्**
भूम्याः > भूमिआः ; पृथिव्याम् > पृथिविआम्; देवहूत्यै > देवहूतिऐ

(च) रकारान्त शब्द—**इन्द्र > इन्दर ; रुद्र > रुदर ; मन्त्र > मन्तर ।**

(छ) चतुरक्षरीय शब्द—**नासत्या > नासतिआ** या **न असत्या ; आदित्य > अ अदित्य** या **आदिति अ ।**

इनमें से इन्द्र > इन्दर का प्रयोग प्रायः दशाक्षर पादों की यति के अनन्तर होता था, किन्तु बाद में इस छन्द के लुप्त हो जाने पर भी इसी स्थिति में इसका प्रयोग रूढ़ हो गया ।

वैदिक छन्दों में लघु-गुरु अक्षरों के प्रयोग के विषय में भी कुछ नियम दृष्टिगोचर होते हैं । ह्रस्व अक्षरों का प्रयोग प्रायः निम्न स्थलों पर होता था—

(१) द्विमित पादों में पञ्चम तथा सप्तम अक्षर में तथा त्रिमित पादों में नवम तथा एकादश अक्षर में ।

(२) यति के अनन्तर द्वितीय अक्षर में । कभी-कभी यति के ठीक बाद प्रथम अक्षर में ही ह्रस्व रखा जाता था ।

दीर्घ अक्षरों का प्रयोग प्रायः इन स्थलों पर होता था—

(१) द्विमित पाद के छठे अक्षर में, त्रिमित पाद के अष्टम तथा दशम अक्षर में ।

(२) यदि इन पादों में से किसी में भी तृतीय अक्षर ह्रस्व हो, तो द्वितीय अक्षर गुरु होता था।

(३) इन स्थितियों के सिवा कभी-कभी द्वितीय तथा चतुर्थ अक्षर में तथा त्रिमित पादों में यति के पहले आने पर सप्तम अक्षर में गुरु होता था।

संहिता में प्रायः पदान्त में अक्षर दीर्घ पाये जाते हैं, किन्तु पदपाठ में इनको ह्रस्व दिखाया जाता है। इनमें से कई स्थलों पर तो छन्दोनियम के अनुसार दीर्घ अक्षर अपेक्षित होते हैं, किन्तु ऐसे अक्षरों के अभाव में ऋषि ह्रस्व अक्षरों का प्रयोग कर देते हैं और फिर छन्दःपूर्ति के लिए कृत्रिम दीर्घता का आश्रय लेना पड़ता है। किन्तु यह कहना कठिन है कि ऋषि पदान्त में ही क्यों अशक्त हो जाते हैं[1]। बेन्फे के मत में इसका ऐतिहासिक समाधान यह था कि वस्तुतः ये ह्रस्व अक्षर मूलतः दीर्घ थे, किन्तु समय के साथ ह्रस्व होते गये। किन्तु कुछ ऐसे स्वर भी हैं, जो संहिता में पदान्त में सदा दीर्घ होते हैं और पदपाठ में सदा ह्रस्व। इसका कारण यह बताया जाता है कि संहिता ने कुछ अंशों में तथा पदपाठ ने सर्वथा इन स्वरों की मात्रा को सुरक्षित रखने में असावधानी की है[2], किन्तु इस समस्या का सर्वोचित समाधान यह है कि ह्रस्व और दीर्घ स्वरों का प्रयोग ऋषियों को लयविषयक अभिरुचि पर निर्भर करता था और पदपाठ अपने समय के उच्चारण को प्रकट करता है[3]।

पदान्त में दीर्घ स्वर नियमपूर्वक इन स्थलों पर पाये जाते हैं—

(१) लिट्, उ० एक ; बहु० ; म० बहु०।

बिभया हि तुआ (त्वा) वतः[4]।

तं वाजं चित्रम् ऋभवो ददा नः[5]।

(२) लोट्, म० एक०, (स्व)—**मा नो रयिमुप मा स्वा (स्व) नृवन्तम्**[6]।

---

[1] आर्नल्ड, वही, उपोद्घात, पृ० ११-१२।

[2] वही, पृ० १३।

[3] वही, पृ० ६।

[4] ऋग्० ८, ४५, ३५।

[5] ऋग्० ४, ३६, ९।

[6] ऋग्० ८, ५३, ५।

(३) -त्य, -या (-आया) प्रत्ययों से सम्बद्ध स्वर ।

स प्रवोढ़्न् परिगत्या दभीतेः[1] **।**

त उत्स्नाया (स्नाय) रयिमभि प्रतस्थुः[2] **।**

(४) सप्तमी (-तरी), तृतीया (-ई, -उई),—**एना (सर्वनाम)**

वि तां दुह्रे अर्यमा कर्तरी सचाँ[3] **।**

जठरे सोमं तनुई (तन्वी) सहो महः[4] **।**

सुअर्वती (स्वर्वती) रप एना जयेम[5] **।**

(५) निपात (Adverbs)—अथा, अच्छा, एना, एवा, किला, घा, नू, पुरुधा, अश्वधा, विश्वहा (विश्वाहा), स्मा ।

स यज्ञानामथा हिषः[6] **।**

तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ते[7] **।**

याहि सूनो सहसो यस्य नूचित्[8] **।**

(६) लोट् म० एक० (अकरान्त)-**भवा** ।

(७) म० बहु०, **-था -थना**, -ता, **-तना** ।

(८) नं० बहु० -आ, **अद्भुता** ।

(९) मक्षू, मिथू—दोनों अव्यय सदा दीर्घ होते हैं ।

(१०) लोट्, म० एक०—धि, -हि प्राय ह्रस्व हैं, किन्तु श्रुधी, शृणुधी, शृणुही नियमपूर्वक तथा कृधी, जही प्रायः दीर्घ होते हैं ।

---

१. ऋग्० २, १५, ४ ।

२. ऋग्० २, १५, ५ ।

३. ऋग्० १, १३९, ७ ।

४. ऋग्० २, १६, २ ।

५. ऋग्० ५, २, ११ ।

६. ऋग्० ३, १३, ३ ।

७. ऋग्० ४, ५०, ८ ।

८. ऋग्० ६, ४४, १८ ।

वेदाङ्ग

अनुक्रमणियां तथा परिशिष्ट ग्रन्थ

चतुस्त्रिंश अध्याय

ऋग्वेद के मन्त्रों का वर्गीकरण

बृहद्देवताकार शौनक ने ऋग्वेद के मन्त्रों को ३६ वर्गों में विभक्त किया है[१]। फिर भी प्रयोगतः अनेक वर्ग और भी किये जा सकते हैं[२]। इन सभी वर्गों का सम्बन्ध सूक्त या मन्त्र के देवता से है[३], क्योंकि इन सभी मन्त्रों में किसी न किसी रूप में देवता की स्तुति ही निहित है[४]। इनमें स्तुति देवता के नाम, रूप, कर्म अथवा अन्य देवता के साथ सम्बन्ध का वर्णन करके की जाती है, किन्तु 'आशीर्वचन' स्वर्ग, दीर्घायु, धन तथा पुत्रादि की प्राप्ति की प्रार्थना का नाम है[५]। अर्थतः दोनों समान हैं[६]। 'प्रशंसा' किसो दानी की की जाती है[७]। इसी प्रकार अन्य भावनाएं भी मन्त्रों में व्यक्त की गयी हैं। इनमें से स्तुति, आशिष्, आचिख्यासा, परिदेवना, निन्दा और प्रशंसा के उदाहरण निरुक्त[८] में भी दिये गये हैं।

विविध कामनाओं से प्रेरित होकर ऋषियों ने मन्त्रों के दर्शन किये[९]। अतः ऋषियों के अभिप्राय को जाने बिना मन्त्रों का अर्थ जानना असम्भव

---

१. स्तुति, प्रशंसा, निन्दा, संशय, परिदेवना, स्पृहा, आशिष्, कत्थना, याञ्चा, प्रश्न, प्रैष, प्रवह्लिका (पहेली), नियोग, अनुयोग, श्लाघा, विलपित (विलाप), अचिख्यासा (वर्णनेच्छा), संलाप, पवित्राख्यान, आहनस्या (कामुक मन्त्र) नमस्कार, प्रतिराध, संकल्प, प्रलाप, पवित्रवाक्य, प्रतिषेध, उपदेश, प्रमाद, अपह्नव, उपप्रैष (आमन्त्रण), सञ्ज्वर (उद्विग्नता), विस्मय, आक्रोश (दुर्वचन), अभिष्टव, क्षेप (भर्त्सना), शाप (बृहद्देवता १, ३५-३९ ; ४८-५८)।

२. बृ० दे० १, ५९।

३. वही० १, ६०।

४. वही।

५. बृ० दे० १, ७ ; तु० ऋग्विधान १, १, ६।

६. वही० १, १०।

७. वही० १, ४८।

८. वही० ७, ३।

९. निरुक्त० ७, ३ ; माधव, सर्वानुक्रमणी, ऋग्० ५, १, २९ ; ऋग्विधान १, १, ५ ; बृ० दे० १, ३।

है। किन्तु यह अभिप्राय जानना ही सबसे कठिन कार्य है, क्योंकि न तो हमें उन परिस्थितियों का ज्ञान है, जिनमें इन मन्त्रों की रचना हुई, न ही हमें पूर्णतः विश्वसनीय और सर्वथा निर्दोष परम्परा ही प्राप्त हुई है। मन्त्रों के देवताओं और ऋषियों तक के विषय में विविध आचार्यों में मतभेद पाया जाता है[१]। वैदिक और प्रत्यग् वैदिक साहित्य के विषय में अनेक प्रकार की सूचनाएँ प्राप्त होती हैं[२]। इसके अतिरिक्त एक ही मन्त्र के अनेक अर्थ और अभिप्राय भी सम्भव हैं। शौनक ने ऋग् १०, १६१ को **राजयक्ष्महणं सूक्तं** कहा है, जबकि यास्क इसे **इन्द्राग्नी** की स्तुति मानता है। शौनकीय सर्वानुक्रमणी तथा आर्षानुक्रमणी के अनुसार इसका ऋषि **प्राजापत्य राजयक्ष्मनाशन** है[३]। मन्त्र-विनियोग भी इस विषय में सहायक नहीं हो सकता। क्योंकि विनियोग और मन्त्र में परस्पर विसंवाद पाया जाता है[४] और शौनक के मत में प्रयोग अधिक महत्त्वपूर्ण है[५] तथा कार्य प्रधान है और मन्त्र गौण है[६]। ऐ० ब्रा०[७] में ऋग्वेद ६, ४७, १-५ का इन्द्र के **अनुवानीय** मन्त्रों के रूप में विधान किया गया है, जबकि शौनक ने इनको सोम-सम्बन्धी (**सौम्यः**) माना है[८], या फिर इन्द्र की स्तुति यहां प्रधान है, सोम का स्तवन प्रसंगवश किया गया है (**निपातभाक्**)[९]। अतः इस विषय में प्रयोग भी कोई सर्वथा अभ्रान्त मार्गदर्शक नहीं हो सकता। किन्तु जब यह कहा जाता है कि मन्त्र तो केवल अभिधायक है, विधायक नहीं,[१०] तो सन्देह हो जाता है कि कहीं अर्वाचीन याज्ञिकों ने अनुष्ठान की आवश्यकता के अनुसार मन्त्रों को ढालने का प्रयास न किया हो[११]।

---

१. द्र० बृ० दे० ८, ११ ; ६४-६५।

२. Die Sagenstoffe des Ṛgveda, Pt. I, p. 23.

३. बृ० दे० ८, ६४-६५ तथा उस पर मैकडानल।

४. बृ० दे० ५, ९५।

५. बृ० दे० ५, ९४—**प्रयोगो बलवत्तरः**।

६. वही० ५, ९६।

७. ऐ० ब्रा० १३, ४।

८. बृ० दे० ५, १०९।

९. वही० ५, ११० ; तु० निरुक्त ७, ४।

१०. बृ० दे० ५, ९४।

११. विमानचन्द्र भट्टाचार्य, *Classification of Ṛgvedic Mantras acc. to Bṛhad Devatā, Our Heritage*, Vol. II, Pt. 2, p. 340 ; द्र० बृ० दे० ६, १७ ; जहाँ ऐ० ब्रा० २४, १ में ऋग्० ७, ९०, १ में 'व्यत्यय' करके इन्द्रवायू के स्थान पर केवल 'वायु' का प्राधान्य माना गया है।

न ही हम देवता के आधार पर मन्त्रों का वर्गीकरण कर सकते हैं, क्योंकि असंख्य मन्त्रों में देवता के विषय में मतैक्य नहीं पाया जाता। शाकपूणि, गालव, यास्क और शौनक ऋग्० ५, ४२, १४ के देवता के विषय में सहमत नहीं हैं[1]। न ही 'लिंग' से देवता की कोई पहचान हो सकती है[2]। अतः हमें आचार्यों के 'आदेश' का ही आश्रय लेना पड़ता है[3]। इतनी बाधाएं होते हुए भी शौनक ने मन्त्रों का अनेक वर्गों में विभाजन किया है।

कुछ मन्त्र **भाववृत्त** कहे गये हैं। इनमें पदार्थोत्पत्ति, जन्म तथा सृष्टि के सम्बन्ध में स्पष्ट या प्रार्थना के रूप में चर्चा की जाती है, यथा—ऋग्० १०, १२९; १०, १९०, १०, ८५, ६-१३; ३५। इस वर्ग के अन्तर्गत वे मन्त्र भी आ जाते हैं, जिनमें **आत्मस्तव** पाया जाता है और उनको **आत्मनो भाववृत्तानि** कहा जाता है। इनका देवता और ऋषि एक ही होता है[4]। इनमें उत्तम पुरुष का प्रयोग होता है। सपत्नीबाधनार्थ एक आभिचारिक (औपनिषद) सूक्त (ऋग् १०, १४५) को **औपनिषद भाववृत्त** का नाम दिया गया है[5]।

कुछ सूक्तों को **शान्ति, पावन** और **स्वस्त्ययन** सूक्त कहा जाता है[6]। इनमें अन्तर इतना कम है कि इनमें परस्पर भेद करना कठिन है, ये तीनों प्रकार के मन्त्र एक ही सूक्त में साथ-साथ भी पाये जा सकते हैं[7]। कुछ सूक्त **नाराशंसी** कहलाते हैं। इनमें राजाओं के कृत्यों तथा दानादि की स्तुति की जाती है[8]। दूसरे वे सूक्त भी नाराशंसी कहलाते हैं, जिनमें प्रत्येक ऋचा में देवता की स्तुति की गयी हो[9]।

दानस्तुति उस सूक्त या मन्त्र को कहते हैं, जिसमें केवल राजा के द्वारा दिये गये उपहारों का स्तवन किया गया हो[10]। **दक्षिणास्तुति सूक्त दानस्तुति सूक्तों**

---

[1] बृ० दे० ५, ३९।

[2] बृ० दे० ३, ३९।

[3] वही०, माधव, अनु० ७, ३, ३।

[4] बृ० दे० २, ८२-८४, ८६-८७।

[5] बृ०दे० ८, ५६ और उस पर मैकडानल की टिप्पणी, भाग २, पृष्ठ ३०८।

[6] बृ० दे० ८, ८७।

[7] यथा ऋग्० १०, १८५; बृ० दे० ८, ८७; तु० ऋग्विधान ४, १३, ३; सायणभाष्य ऋग्० १०, १८५।

[8] बृ० दे० ३, १५४; ऋग्० १०, १२५, २: सायणभाष्य द्र०।

[9] बृ० दे० ७, १३९।

[10] बृ० दे० ६, ४५, ९२; ऋग्० ८, ५, ३७-३९, ८, ६८, १५-१९; नाराशंसी और

से भिन्न होते हैं, यथा—ऋग्० १०, १०७, ८-११ **ऋत्विक्स्तुति** में पुरोहित की स्तुति रहती है[१] । **यजमानस्याशिषः** में यजमान के कल्याणार्थ प्रार्थना की जाती है[२] ।

संवादसूक्त वे होते हैं, जिनमें दो या अधिक व्यक्तियों में परस्पर वार्तालाप किया गया हो । यद्यपि ऐतिहासिक सूक्तों में भी संलाप होता है, परन्तु शौनक इतिहास और संवाद में अन्तर करता है । ऋग् १०, ९५ में यद्यपि उर्वशी-पुरूरवा में संलाप होता है और यास्क इसे **संवादसूक्त** कहता है, तो भी शौनक इसे **इतिहास** ही मानता है[३] । इसी प्रकार ऋग्० १०, १०२ को शाकटायन **इतिहास** मानता है, यास्क 'द्रुवण की स्तुति' और शौनक इसे **वैश्वदेव सूक्त** समझता है[४] ।

संवादसूक्तों में भी कौन किस मन्त्र का वक्ता है, इस विषय में मतैक्य नहीं पाया जाता । संवाद, सम्प्रवाद तथा परमसंवाद समानार्थक शब्द हैं । शौनक संवादसूक्तों को **आख्यान** भी कहता है ।

कुछ सूक्तों को **वैश्वदेवसूक्त** की संज्ञा दी गयी है । इनमें देवताओं की अपने-अपने गुणकर्म के अनुसार पृथक्-पृथक् स्तुति की जाती है[५] । शौनक के मत में **वैश्वदेव** सूक्त तीन प्रकार के हैं—१. **सूर्य-संस्तव** से सम्प्रयुक्त । २. **विश्वलिंग**, जिनमें देवताओं के समस्त गुणों की स्तुति की जाती है[६] । ३. **पृथक्स्तुति**, जिनमें बहुत से देवताओं की पृथक्-पृथक् स्तुति की जाती है[७] ।

इस प्रकार **'वैश्वदेव'** सूक्तों का लक्षण केवल **विश्वलिंग** सूक्तों पर घटता है । **पृथक् स्तुति** और **विश्वलिंग सूक्तों** में अन्तर यह है कि पहले में तो केवल देवताबहुत्व के दर्शन होते हैं, जबकि दूसरे में स्तूयमान देवताओं के सभी गुणों और कृत्यों का उल्लेख रहता है[८] ।

दानस्तुति में अन्तर के लिए द्र० ब्लूमफील्ड, *Hymns of the Atharvaveda, S B E* XLIII ; P. 668 f .

[१] बृ० दे० ८, १० ; ऋग्० १०, १०१ ।

[२] बृ० दे० ८, ८० ; ऋग्० १०, १८२ ।

[३] बृ० दे० ७, १५३ ।

[४] वही ८, ११ ।

[५] बृ० दे० ६, ७०-७१ । ऋग्० ८, २९ ।

[६] वही, ३, ४१ ।

[७] वही, ३, ४२ ।

[८] विमानचन्द्र, उपर्युक्त, पृ० ३५० ।

यास्क के मत में देवताबहुत्व वाले (**बहुदैवतम्**=शौनकोक्त **पृथक्स्तुति**) सूक्त को **वैश्वदेव** कहना चाहिये, जबकि शाकपूणि के मतानुसार 'विश्व' शब्द युक्त सूक्त ही **वैश्वदेव सूक्त है**, किन्तु यह लक्षण व्यापक नहीं है (अनत्यन्तगतः)[1]।

भैषज्य सूक्त वे हैं, जिनमें किसी विशेष रोग अथवा अनिष्ट को दूर करने की क्षमता है[2]।

विश्वभैषज्य सूक्तों में किसी भी रोग अथवा अनिष्ट को दूर करने का सामर्थ्य होता है[3]। ये दोनों प्रकार के सूक्त गृह्य अनुष्ठानों से सम्बद्ध हो सकते हैं। **प्रायश्चित्तार्थ सूक्तों** का किसी अपराध, अपशकुन या अनिष्ट आदि के दुष्परिणाम के निवारणार्थ प्रयोग होता है[4]। **भैषज्य** मन्त्र तो उपशामक हैं और **प्रायश्चित्तार्थ** मन्त्र निवारक। **गुह्य सूक्त** रहस्यात्मक होते हैं। **महानाम्नी** मन्त्र, जिनमें इन्द्र की स्तुति है, 'गुह्य' कहलाते हैं[5]। इनमें से **भैषज्य**, **शान्ति**, **पावन**, **स्वस्त्ययन** तथा **प्रायश्चित्तीय** सूक्तों का सम्बन्ध कर्मकाण्ड से हो सकता है, किन्तु **नाराशंसी**, **आख्यान**, **इतिहास** तथा **संवादसूक्तों** का यज्ञ में विनियोग नहीं किया जा सकता। **दानस्तुतियों** का प्रयोग केवल यज्ञ में प्राचीन राजाओं की दानशीलता की स्तुति के लिए किया जा सकता है, किन्तु **वैश्वदेव सूक्तों** के विषय में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनमें से किनका निर्माण मूलतः याज्ञिक प्रयोग के लिए किया गया था और किनका नहीं। **गुह्यसूक्तों** के उद्देश्य के विषय में भी कोई सुनिश्चित मत स्थिर नहीं किया जा सकता। **भाववृत्तसूक्त** प्रायः किसी अनुष्ठान में प्रयुक्त नहीं होते, किन्तु कुछेक का कर्मकाण्ड में प्रयोग किया जा सकता है।

ऋत्विक्स्तुति तथा यजमान

यजमानस्याशिषः का मूल निश्चितरूप से कर्मकाण्ड में निहित है[6]। कर्मकाण्ड से ही सम्बद्ध भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुति में कहे गये गद्यात्मक मन्त्रों के ११ वर्ग और भी हैं, जिनको **निविद्** कहा जाता है। इनमें प्रत्येक वर्ग में १२ से ३० तक पद हैं, जिनकी कुल संख्या १७५ है। इनकी एक विशेषता यह है कि ये स्वरहीन हैं तथा इनके ऋषियों का भी पता नहीं। प्रत्येक वर्ग के आरम्भ में देवताओं का

---

[1] निरुक्त १२, ४०।

[2] बृ० दे० ८, ६४; ऋग्० १०, १६१—'यक्ष्मनाशनम्'।

[3] वही, ८, ५०; ऋग्० १०, १३७।

[4] वही, ८, ६९; ऋग्० १०, १६५; सा० भा० तथा आश्व० गृ० सू० ३, ७।

[5] वही, ८, ९८; तु० ऐ० ब्रा० २२, २ तथा १६, ४; कौ० ब्रा० २३, २; आश्व० श्रौ० सू० ६, २, ६ तथा आगे; ऐ० आर० ४।

[6] विमानचन्द्र भट्टाचार्य, उपर्युक्त, पृ० ३५७।

निर्देश रहता है[१]। अग्निसम्बन्धी निविदों के अतिरिक्त सभी **निविदों** में देवताओं का सोमपान के लिए आवाहन किया जाता है। अग्नि मनुष्यों और देवताओं का मध्यस्थ है। इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में भी अनेक बार हुआ है। कुत्स ने अग्नि द्वारा **निविद्** की शक्ति से संसार की उत्पत्ति तथा पृथिवी, आकाश और जल के धारण की बात कही है[२]। **निविद्** का कर्मकाण्डीय पारिभाषिक अर्थ भी ऋग्वेद में ही लक्षित होता है[३]। खिलानुक्रमणी में इनको 'यजुष् मन्त्र' कहा गया है[४]। दुर्गाचार्य के अनुसार **निविदों, पुरोरुचों** तथा **प्रैषों** के ऋषि विश्वामित्र हैं[५]; किन्तु विश्वामित्र के तृतीय मण्डल में एक भी **निविद्** नहीं है। सोमयाग में **निविद्** पढ़ने वाले होता के लिए विशेष दक्षिणा का विधान है। **निविदों** की भाषा ऋग्वेद के प्राचीनतम भागों की भाषा से भी प्राचीन है। प्रतीत होता है कि निविदों ने ब्राह्मणों के गद्य का आदर्श प्रस्तुत किया था[६]। इन अतिप्राचीन मन्त्रों से प्रकट होता है कि उस समय कर्मकाण्ड बहुत सादा और सरल था और केवल एक ही अग्नि का प्रयोग होता था। निविदों में इन देवताओं की स्तुति की गयी है—अग्नि, इन्द्र, सवितृ, द्यावापृथिवी, विश्वेदेवाः और मरुतः।

बृहद्देवता

ऋग्वेद के सहायक ग्रन्थों में से शौनक कृत **बृहद्देवता** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके दो संस्करण उपलब्ध होते हैं—एक छोटा दूसरा बड़ा। बड़ा संस्करण ही मौलिक रचना माना जाता है[७]। सर्वानुक्रमणी मुख्यरूप से इसी बड़े संस्करण पर आधृत है, यद्यपि कुछेक अंश छोटे संस्करण से भी ग्रहण किये गये हैं। इसके अतिरिक्त नीतिमञ्जरी, सायण प्रभृति के बाह्य साक्ष्य भी बड़े संस्करण की मौलिकता की पुष्टि करते हैं[८]। **बृहद्देवता** का **नैघण्टुक, निरुक्त, सर्वानुक्रमणी, आर्षानुक्रमणी** तथा **ऋग्विधान** के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, ऋग्वेद के अतिरिक्त मै० सं०, कौ० ब्रा० तथा ऐ० ब्रा० और महाभारत से भी इसका निकट का

---

[१] तु० बृ० दे० ८, १०४।

[२] ऋग्वेद, १, ९६, २।

[३] १, १७५, ६ ; द्र० सुरेन्द्र प्रसाद नियोगी, *A Critical Study of the Nivide p. 6.*

[४] Scheftalowitz, *Die Apokryphen des Ṛgveda, p. 53,* 1902.

[५] निरुक्तवृत्ति, ७, २४, ७।

[६] नियोगी, वही, पृ० १८।

[७] मैकडॉनल, ए० ए०, बृ० दे०, उपोद्घात, पृ० १८-१९।

[८] वही, पृ० २१।

सम्बन्ध है[1], किन्तु **निरुक्त** और **सर्वानुक्रमणी** इसके सर्वाधिक निकटस्थ हैं। **निरुक्त** के अनेक सन्दर्भ शब्दशः इसमें उद्धृत हैं और **सर्वानुक्रमणी बृहद्देवता** की ऋणी है, क्योंकि उसकी रचना इसी के आधार पर हुई है। **बृहद्देवता** के १५ अनुष्टुप् पाद अक्षरशः सर्वानु० में सूत्रों में उपनिबद्ध हैं तथा लगभग ७५ अन्य ऐसे हैं, जिनमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर दिया गया है। दस सूत्र **बृहद्देवता** के अर्ध श्लोकों पर आश्रित हैं और एक पूर्ण श्लोक को सर्वानु० में परिवर्तितरूप में ग्रहण कर लिया गया है[2]। इसके अतिरिक्त सर्वानु० की रचनाशैली भी बृ० दे० पर आधृत है। शौनकीय **अनुवाकानुक्रमणी** से भी बृ० दे० का ½ श्लोक और १ पाद समानता रखते हैं। **आर्षानु०** से इसके ३½ श्लोकों की समानताहै और **ऋग्विधान** से अढ़ाई श्लोकों की[3]। अनेक स्थलों पर इन दोनों रचनाओं के साथ बृ० दे० की शब्दगत समानता पायी जाती है।

बृ० दे० के आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में पाँच-पाँच श्लोकों के लगभग तीस वर्ग हैं, किन्तु यह विभाजन किसी विशेष सिद्धान्त पर आधृत प्रतीत नहीं होता, न इसके आठ अध्यायों का क्रम ही ऋग्वेद के आठ अष्टकों से पूर्ण मेल खाता है। कई बार एक कथा के मध्य में ही विभाजन-रेखा डालकर नवीन अध्याय (सप्तम) या नवीन वर्ग (अष्टम अध्याय का सप्तम) का प्रारम्भ कर दिया जाता है।

बृ० दे० का आरम्भ दीर्घ उपोद्घात से होता है, जिसमें वैदिक देवताओं के वर्गीकरण तथा संख्या, उनके प्रतिनिधि के रूप में प्रजापति तथा तीन प्रधान देवताओं अग्नि, इन्द्रवायू तथा आदित्य की चर्चा की गयी है। इस उपोद्घात के अन्तिम सात वर्गों में भाषा के विविध अंगों, शब्दव्युत्पत्ति तथा यास्क की शब्दनिरुक्ति के दोषों से सम्बद्ध व्याकरण-विषयक परिचर्चा की गयी है। ग्रन्थ का मुख्य भाग द्वितीय अध्याय के छब्बीसवें वर्ग से आरम्भ होता है, जिसमें ऋग्वेद के मन्त्रों तथा सूक्तों के देवताओं का क्रमिक उल्लेख तथा सूक्तों के 'दर्शन' की पृष्ठभूमि से सम्बद्ध कथाओं का वर्णन किया गया है। ये कथाएं प्रायः ३०० श्लोकों में निबद्ध हैं और महाकाव्य-शैली में वर्णित कथाओं का सर्वप्राचीन संग्रह है, जिनका महाभारत की कुछ कथाओं से निकटस्थ संबन्ध है। ज़ीग ने इनको इन कथाओं का मूल स्रोत माना है[4], किन्तु यह विचार इस लिए ठीक नहीं माना जा

---

[1] वही।

[2] वही।

[3] वही, पृ० २२।

[4] डा० ज़ीग, दि ज़ागेन्स्तोफे देज़ ऋग्वेव उन्द दि इन्दिशे इतिहासत्रादिशन, पृ० १५०, स्तुतगार्त, १९०२।

सकता कि महाभारत की रचना अपेक्षाकृत अर्वाचीन है और बृ०दे० के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर इनको प्रक्षिप्त सिद्ध नहीं किया जा सकता[1]। इसके अतिरिक्त इसमें देवताओं से सम्बद्ध ऋषियों (२, १२९-१३१ ; ३, ५५-५७), स्त्री ऋषियों (२, ८२-८४=आर्षानु० १०, १००-१०२), विविध देवताओं के अश्वों (४, १४०-१४२), **आप्रीसूक्तों** (२, १५८—३, ३२), **वैश्वदेव सूक्तों** (२, १३२-१३४ ; ३, ४१-५८) नाना कर्मकाण्डीय मन्त्रों तथा स्वरों की अधिष्ठात्री देवताओं पर प्रकाश डाला गया है (८, ९४-१३९)। विषय की दृष्टि से मन्त्रों का वर्गीकरण (१, ४६-५९) तथा प्रथम मण्डल के सूक्तों (१, ७४-१६४) के ऋषियों के क्रम का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। शाकल शाखा में ऋषियों का क्रम गोतम, कुत्स, कक्षीवान्, परुच्छेप और दीर्घतमस् है, किन्तु बृ० दे० में यह क्रम गोतम, कक्षीवान्, परुच्छेप, कुत्स और दीर्घतमस् बताया गया है (३, १२५)[9]। अनुवाकानु० (२१) के अनुसार यह क्रम बाष्कल संहिता का है[2]। अतः प्रतीत होता है कि बृ० दे० बाष्कलशाखीय ग्रन्थ है।

औफ़ेख़्त द्वारा प्रकाशित[3] पच्चीस तथा मैक्समूलर द्वारा प्रकाशित[4] बत्तीस **खिल सूक्तों** में बृ० दे० को केवल सात[5] का पता है। इनके अतिरिक्त तीस अन्य **खिलों** का उल्लेख यहाँ पाया जाता है, जो औफ़ेख़्त के संस्करण में नहीं पाये जाते। बृ० दे० पर आधृत सर्वानु० में इन सैंतीस **खिलों** का उल्लेख नहीं किया गया। इसमें[6] केवल अष्टम मण्डल के **खिल सूक्तों** का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त इस में[7] कश्यप ऋषि के सहस्र सूक्तों का उल्लेख किया गया है, जो निश्चय ही बृ० दे०[8] पर आधृत हैं। इन ३७ **खिलों** में सम्भवतः बृ० दे० द्वारा अनुसृत बाष्कल संहिता के अधिक मन्त्रों का संग्रह किया गया है[9]। औफ़ेख़्त द्वारा अनुल्लिखित ३० **खिलसूक्तों** में से प्रायः बीस सूक्त अन्यत्र वैदिक साहित्य में

---

१. मैक्डानल, बृ० दे० उपोद्घात, पृ० २९।

२. See Kuhn, *Indische Studies*, I, p. 115 ; Oldenberg, *Prolegomena*, p. 496.

३. ऋग्वेद, द्वि० सं०, भाग २, पृ० ६७२-६८८।

४. ऋग्वेद, द्वि० सं० भाग ४, पृ० ५१९-५४१।

५. औफ़ेख़्त, ७, ८, १८, २०, २२, २३, २५।

६. ऋग्० १, ९९ पर।

७. सर्वानु० १, ऋग्० १, ९९ पर।

८. बृ० दे० ३, १३०।

९. तु० बृ० दे० ३, १२५ ; अनुवाकानु० २१ ; द्र० मैकडानल, बृ० दे० भाग २ उपोद्घात, पृ० ३०, टि० ८।

प्रतीकों अथवा सामान्य संकेतों द्वारा प्रमाणित होते हैं, किन्तु शेष का अभी तक कुछ पता नहीं चल सका[१]। मैकडानल के पास एक हस्तलेख में ८९ **खिलसूक्तों** की तालिका थी[२], जिसके पाँच अध्याय थे, जो वर्गों में विभक्त थे। उनमें सूक्तों के प्रतीकों, ऋषियों, देवताओं तथा छन्दों का निर्देश किया गया था[३]। बृ० दे० में उद्धृत अनेकों मन्त्रों के मूल का पता नहीं चलता। सम्भव है ये **खिलसूक्तों** से लिये गये हों[४]।

बृ० दे० में अनेक पूर्वाचार्यों तथा प्राचीन वैदिक ग्रन्थों का निर्देश किया गया है; जिनमें से यास्क सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। न केवल शौनक ने यास्क की निर्वचन-पद्धति को स्वीकार ही किया है और उसके देवता-विषयक विचारों को अपनाया ही है, अपितु उसके निर्वचनों की आलोचना भी की है (बृ० दे० २, १११-११४), जो अधिकांश असंगत या अनावश्यक है।[५]

अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त ऐ० ब्रा० (५, ३ ; २५, ११० ; ६, १७, १०८, ११७ आदि) आश्वलायन (४, १३९) भाल्लवि ब्राह्मण (५, २३), श्रुतिः (५, १५९) तथा 'निदान' (५, २३) के विचारों का उल्लेख किया गया है। इनमें से 'निदान' का उद्धरण प्रकाशित निदानसूत्र में नहीं मिलता[६]। अनेकों पश्चात्कालिक ग्रन्थकारों ने बृ० दे० से उद्धरण दिये हैं, जिनमें नीतिमञ्जरी, षड्गुरुशिष्य तथा सायण प्रमुख हैं। नीतिमञ्जरी में बृ० दे० में वर्णित ४२ कथाओं में से ३५-३६ कथाओं का उपयोग किया गया है, जिनके कारण बृ० दे० के पाठों को शुद्ध करने में बहुत सहायता मिली है[७]। बृ० दे० की अधिकांश रचना अनुष्टुप् छन्द में की गयी है, किन्तु इसमें त्रिष्टुप् छन्दों का सम्मिश्रण भी पाया जाता है। इन छन्दों में अनेक प्रकार के दोष परिलक्षित होते हैं[८]।

नियमित सन्धियों के अतिरिक्त नामों, सर्वनामों तथा धातुओं के त्रुटिपूर्ण रूपों की भी कमी नहीं है—समासों विशेषतः देवता-छन्दों से बनाये गये

---

[१] मैकडानल, वही, पृ० ३०-३१।

[२] यह इनको डा० एच्० बैंजेल द्वारा दी गयी थी ; द्र० बृ० दे० उपोद्० पृ० ३१-३२।

[३] विस्तारार्थ द्र० मैकडानल, वही।

[४] वही, पृ० ३२।

[५] द्र० मैकडानल, बृ० दे०, वही, टिप्पणी ; सिद्धेश्वर वर्मा, ईटिमॉलोजीज़ ऑफ़ यास्क, पृ० १५३-१५४ ; होशियारपुर १९५३।

[६] Sieg. *Sagenstoffe*, p. 65.

[७] मैकडानल, बृ० दे० उपोद्० पृ० १७।

[८] मैकडानल, वही, पृ० २६।

विशेषण प्राय: दूषित हैं यथा ऐन्द्रासोम (६, २७) सोमापौष्ण (४, ९१) प्रभृति, जो सर्वानुक्रमणी में भी पाये जाते हैं। **चतसृभिः** के स्थान पर **चतुर्भिः**, **पत्न्यः** के स्थान पर **पत्नयः** (२, ८, ९-१२) और **पत्नीः** (८, १२८) का प्रयोग किया गया है। धातुओं में आगमरहित रूप बहुधा प्रयुक्त हुए हैं, यथा **सीदत्** (४, ११३), **बोधयत्** (४, ११५), **शामयत्** (४, ५३) ; **अपाहन्** के स्थान पर **अपाहनत्** का अनियमित रूप प्रयुक्त हुआ है (४, ११४) ; **नमस्कृत्वा** (१११) तथा **संगृहीत्वा** (२, ४७), **आनीत्वा** (५, १८) जैसे अशिष्ट प्रयोग भी किये गये हैं।

शब्दकोष में ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो अन्यत्र नहीं पाये जाते। कुन्त्य और प्रतिपूर्वक, **विशोकय** (७, ३६) तो सर्वानु० (१०, ३३) में भी ले लिया गया है।

रचनाकाल—ऊपर के विवरण से सिद्ध होता है कि बृ० दे० निरुक्त से अर्वाचीन और सर्वानु० से प्राचीन है। सर्वानुक्रमणी तथा का० श्रौ० सू० दोनों एक ही कात्यायन की कृतियाँ हैं। सर्वानु० की रचना-शैली में वैदिक प्रयोगों की अनेक विशेषताएँ तथा पाणिनि के व्याकरण के विरुद्ध रूपों के प्रयोग सिद्ध करते हैं कि इनका रचयिता वैयाकरण कात्यायन नहीं हो सकता। अत: सर्वानु० निश्चय ही पूर्वपाणिनिकाल की रचना है[1]। अत: बृ० दे० पाणिनि से कम से कम सौ वर्ष पहले की रचना होनी चाहिये। ऋग्विधान में प्रयुक्त (३, १५, १) **हृद्यम्** का 'वशीकरण मन्त्र' के अर्थ में प्रयोग पाणिनि ने किया है (पा० ४, ४, ९६)। अत: ऋग्विधान अवश्य ही पाणिनि से प्राचीन है। ऋग्विधान भी मूलत: शौनक की कृति है। बृ०दे० ऋग्विधान व सामविधान ब्राह्मण जैसी रचनाओं के समकालीन हैं, जो ब्राह्मणकाल के अन्तिम छोर की कृतियाँ हैं[2] पाणिनि का काल पाँचवीं शती ई० पू० से अर्वाचीन नहीं हो सकता[3]। और भण्डारकर, गोल्डस्टुकर, वैल्वल्कर और पाठक इसे सातवीं शती ई० पू० मानते हैं, तो भी सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन छठी शताब्दी के अन्त से इधर नहीं रखा जा सकता और बृ० दे० सर्वानु० का उपजीव्य ग्रन्थ है, अत: बृ० दे० का काल कम से कम आठवीं शताब्दी ई० पू० होना चाहिये।

---

[1] मैकडानल, बृ० दे० १, पृ० २२।

[2] ए० बी० कीथ, सै० सं०, उपोद्० पृ० १६७।

[3] वासुदेव शरण अग्रवाल, इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ४७५।

यद्यपि बृ० दे० में जहाँ-तहाँ श्लोकों का प्रक्षेप किया गया है, तो भी कुल मिलाकर इसका पाठ अन्य किसी भी सहायक वैदिक ग्रन्थ से अधिक शुद्ध और प्रामाणिक है। बृ० दे० की प्राचीनता का एक प्रमाण इसका दैवत दृष्टिकोण भी है, जो सर्वथा अग्नि, इन्द्र, वायु तथा सूर्य से सम्बद्ध है। इनमें भी इन्द्र प्रधान है। इससे भी प्राचीन कुछ शौनक के नाम से प्रसिद्ध देवतानुक्रमणी के दस उद्धरण षड्गुरुशिष्य ने सर्वानुक्रमणी में दिये हैं[1]। बृ० दे० में ही शौनक का नाम अन्य आचार्यों के साथ पन्द्रह बार उल्लिखित है। एक-दो बार तो आचार्य शौनक (२, १३६ ; ६, ९) और 'शौनक आदि आचार्यों द्वारा' (**शौनकादिभिराचार्यैः** ५, ३९) का प्रयोग किया गया है। अतः मैकडानल के अनुसार प्रथम तो एक ही विषय पर दो ग्रन्थों की रचना और दूसरे शौनक के प्रति इतने आदरभाव से प्रकट होता है कि बृ० दे० शौनक की अपनी रचना न होकर उसके किसी शिष्य की कृति है[2]। किन्तु क्योंकि देवतानुक्रमणी इस समय उपलब्ध नहीं, अतः उसके कर्त्ता के विषय में निर्णय नहीं किया जा सकता, दूसरे इस प्रकार का स्वविषयक उल्लेख अथवा अपनी सम्मति प्रकट करने की परिपाटी प्राचीन काल से प्रचलित है। अतः इस विषय में संदेह उचित नहीं।

संस्करण :—१. *Bṛhad Devatā, Text with critical Notes* by Rajendra Lal Mitra, in B. I. Calcutta, 1889-1892.

२. *B. D., Intro. Text, Notes, and Appendices* in 2 Vols, by A. A. Macdonell, *H. O. S.* Vol. V, VI, I ed. 1904.

३. Ibid II ed. (Reprint), Motilal Banarsi Das, Delhi—Varanasi, 1965.

---

[1] मैकडानल, बृ० दे० उपोद्० पृ० २३।

[2] वही, पृ० २४।

पञ्चत्रिंश अध्याय

कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी

ऋग्वेदसम्बन्धी अनेक अनुक्रमणियों में से एक **सर्वानुक्रमणी** भी है, जिस पर षड्गुरुशिष्य ने 'वेदार्थदीपिका' नामक टीका सं० १२४४ वि० (=सन् ११८७ ई०) में समाप्त की थी। इसमें उसने लेखक का परम्परागत नाम कात्यायन घोषित किया है। यह सर्वानुक्रमणी अपने से पूर्वरचित अनेक अनुक्रमणियों पर आधृत है और उन सभी का सार प्रस्तुत करती है। इसकी रचना सूत्रशैली में की गयी है और इसका सम्बन्ध शाकल शाखीय ऋग्वेद संहिता से है। आरम्भ में ही ग्रन्थकर्ता ने अपने प्रतिपाद्य विषयों का निर्धारण कर दिया है, जिनके ज्ञान के बिना वेदाध्ययन करने वाला व्यक्ति अनिष्ट को प्राप्त होता है। तदनन्तर ऋषि और देवता की परिभाषा तथा ऋग्वेद में प्रतिपादित देवताओं की संख्या प्रभृति, निरुक्त तथा बृहद्देवता के द्वारा निर्दिष्ट मतानुसार ही दी गयी है। तदनन्तर ऋग्वेद के छन्दों का विवरण दिया गया है,[1] जो वाजसनेयी अनुक्रमणी में दिये गये विवरण से शब्दश: मिलता है[2]। यह सब विवरण 'द्वादशकाण्डी परिभाषा' के अन्तर्गत है।

ग्रन्थ के मुख्य भाग में ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त का प्रतीक, ऋक्संख्या, ऋषि, देवता तथा सूक्त या उसके भागों के छन्दों का पूर्ण विवरण दिया गया है। कहीं-कहीं सूक्तरचना से सम्बद्ध इतिहास का भी संकेत किया गया है। कहीं-कहीं अन्य ग्रन्थों से उद्धरण भी दिये गये हैं। उपोद्घात में ही आर्षेय ब्रा० को उद्धृत किया गया है और द्वितीय काण्ड में, 'शाट्यायनक' और 'ताण्डक' को ऋग्वेद ७, ३२ के विवरणों में उद्धृत किया गया है।

जैसा कि षड्गुरुशिष्य ने अपनी टीका में दर्शाया है, सर्वानु० न केवल पूर्वरचित अनुक्रमणियों पर ही आश्रित है, अपितु बृ० दे० पर भी[3]। इसका रचयिता कात्यायन निस्सन्देह श्रौतसूत्र तथा वाजसेनयी प्रातिशाख्य का कर्त्ता कात्यायन ही है[4]। सर्वानुक्रमणी की रचना-शैली में वैदिक प्रयोगों की अनेक

---

[1] द्र० वेबर, इण्डिशे स्टुडियन्, भाग ८, पृ० १०७-१४४।

[2] द्र० वेबर सं० वाज० सं० परिशिष्ट।

[3] मैकडानल, बृ० दे०, उपोद्घात, पृ० २२-२३।

[4] वही ; किन्तु काशिकर श्रौतसूत्रकार तथा सर्वानुक्रमणीकार में शताब्दियों का अन्तर मानते हैं (सर्वे० पृ० ७७)।

विशेषताएं तथा पाणिनीय व्याकरण के विरुद्ध प्रयोग सिद्ध करते हैं कि कात्यायन पूर्वपाणिनि-काल के थे[1]। पाणिनि का काल कम से कम पांचवीं शताब्दी ई० पू० तो अवश्य है[2]। अतः सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन छठी ई० पू० से अर्वाचीन कभी नहीं हो सकते[3]।

कात्यायन की अनुक्रमणी के अतिरिक्त शौनक द्वारा रचित अनुक्रमणियाँ भी प्रसिद्ध हैं[4], जिनमें से कुछ उपलब्ध हैं, शेष अप्राप्य हैं—

(१) **आर्षानुक्रमणी**—इसमें सूक्तों के ऋषियों का ३२० श्लोकों में विवरण दिया गया है।

(२) **छन्दोऽनुक्रमणी**—इसमें लगभग ३०० श्लोकों में ऋग्वेद के सूक्तों तथा मन्त्रों में प्रयुक्त छन्दों का ब्योरा है। प्रत्येक मण्डल के अन्त में प्रत्येक छन्द में रचित ऋचाओं की संख्या गिनायी गयी है।

(३) **देवतानुक्रमणी**—यह अनुपलब्ध है। इसके दस उद्धरण षड्गुरुशिष्य ने 'वेदार्थप्रदीपिका' में दिये हैं[5]। यह गद्यपद्यमयी रचना थी। इसकी विषयवस्तु बृहद्देवता के समान ही थी, किन्तु ग्रन्थ आकार में उससे छोटा था। यह रचना बृ० देवता से प्राचीन है।

(४) **सूक्तानुक्रमणी**—यह भी अप्राप्य है। षड्गुरुशिष्य ने भी इसे उद्धृत नहीं किया। सम्भवतः इसमें सूक्तों के प्रतीक दिये गये होंगे।

(५) **अनुवाकानुक्रमणी**—इसमें ऋग्वेद के अनुवाकों के प्रतीक दिये गये हैं तथा प्रत्येक मण्डल में सूक्तों की संख्या देकर शाकल संहिता के कुल सूक्तों का योग १०१७ दिया गया है, जिनमें बाष्कल संहिता के आठ अतिरिक्त सूक्तों को जड़ोकर दोनों शाखाओं के सूक्तों का कुल योग १०२५ बनता है[6] तथा अनुवाकों की संख्या केवल शाकलसंहिता में ही ८५ है[7]। ऋचाओं की कुल संख्या १०५८१$\frac{१}{४}$ कही गयी है, जिनमें ऋग्० १०,२०,१

---

[1] मैकडानल, वही।

[2] वासुदेवशरण अग्रवाल, इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ४७५ ; किन्तु भण्डारकर, गोल्डस्टुकर, बेल्वेल्कर तथा पाठक इसका काल सातवीं शती ई० पू० मानते हैं, जिन से हम सहमत हैं।

[3] द्र० बृ० दे०, उपरि०।

[4] षड्गुरुशिष्य, सर्वानु० टीका।

[5] मैकडानल सम्पा०, उपोद्० पृ० ६ तथा २०६।

[6] अनुवाका० श्लोक ३६।

[7] अनुवाका० ४३७।

को पाद ऋचा माना गया है[1]। इसमें दस आप्रीसूक्तों के प्रतीक भी दिये गये हैं। यह अनुक्रमणी शैशिरीय शाखाओं से सम्बद्ध है,[2] मेयर[3] का यह विचार अप्रमाणित है[4] कि इसके कुछ श्लोक (३७-४६) प्रक्षिप्त हैं। अनुवाकानु० से एक उद्धरण आप० ध० सू०[5] में दिया गया है और आ० ध० सू० का रचनाकाल ६०० ई० पू० से अर्वाचीन नहीं हैं[6]। अत: अनुवाकानु० का रचनाकाल कम से कम ७०० ई० पू० होना चाहिये और यही शौनक का काल है[7]। एक विचार के अनुसार अनुवाकानु० आर्षानु० से बहुत प्राचीन रचना है[8]।

(६) **पादानुक्रमणी अथवा पादविधानानु० (षड्गुरु०)**—इसमें ऋचाओं के पादों का विवरण था तथा 'अतिच्छन्द:' छन्दों के विषय में जानकारी दी गयी थी[9]।

(७) **छन्द:संख्या**—यह एक प्रकार से छन्दोऽनुक्रमणी के परिशिष्ट के रूप में है। इसमें कुल ११ श्लोक हैं। छन्दोऽनुक्रमणी में सम्पूर्ण ऋग्वेद में प्रयुक्त समस्त छन्दों की संख्या का उल्लेख नहीं किया गया। वह कमी यहाँ पूरी कर दी गयी है, किन्तु इसमें दो त्रुटियां दृष्टिगोचर होती हैं—एक तो 'पंक्ति' छन्दों की कुल संख्या ३१२ कही गयी है, जो कि वास्तव में २४८ है तथा १२७ द्विपदा ऋचाओं के स्थान पर केवल १७ कही गयी हैं। इस प्रकार ऋग्वेद की ऋचाओं की संख्या में अन्तर पड़ता है[10]।

इस प्रकार बृहद्देवता, जिसे षड्गुरुशिष्य ने अनुक्रमणी का नाम दिया है,[11] और ऋक्प्रातिशाख्य समेत शौनक की कुल नौ रचनाओं की प्रसिद्धि परम्परा-सिद्ध है। षड्गुरुशिष्य के कथनानुसार शौनक ने दस ग्रन्थों की रचना की

---

[1] वही, ४३।

[2] वही०, पृ० ९।

[3] ऋग्विधान, प्रस्तावना, पृ० २६।

[4] मैकडानल, सर्वानु०, प्रस्तावना, पृ० १५।

[5] १, ३, ११, ६।

[6] द्र० आप० गृ० सूत्र प्रकरण में भिन्न मतों के लिये बूह्लर, एस० बी० ई० भाग २।

[7] द्र० मैकडानल, सर्वानु० प्रस्तावना, पृ० ८।

[8] चि० गं० काशिकर, ऋग्वेद, पूना, भाग ४, पृ० ९०७।

[9] मैकडानल, सर्वानु०, प्रस्तावना, पृ० ६।

[10] ऋक् संख्या प्रकरण।

[11] ऋग्वेद १०, ७१ पर वेदार्थ०।

थी। किन्तु दसवीं रचना को उसने अपने शिष्य आश्वलायन की रचना के पक्ष में नष्ट कर दिया था[1], जो एक स्मार्त सूत्र था।

अनुक्रमणियों के विषय में इस विवरण का प्रधान स्रोत **वेदार्थ दीपिकाकार षड्गुरुशिष्य** है, जिसने १३वीं शताब्दी वि० (१२वीं शती ई० के अन्त) में सर्वानुक्रमणी पर अपनी व्याख्या समाप्त की थी। यह एक उद्भट विद्वान् तथा मौलिक मनीषी थे, जिन्होंने वेद और व्याकरण के विषय में विशेष दक्षता प्राप्त की थी। इनके वास्तविक नाम का पता नहीं है। सात ग्रन्थों को छः गुरुओं से अध्ययन करने के कारण इनका नाम षड्गुरुशिष्य पड़ गया[2]। इन्होंने अपनी व्याख्या में विशाल वैदिक साहित्य के गहन अध्ययन का परिचय दिया है और शौनकीय अनुक्रमणियों—विशेषतः बृहद्देवता को बहुधा उद्धृत करने के अतिरिक्त ऐ० ब्रा०, ऐ० आर०, आश्व० श्रौ० सू०, आश्व० गृ० सू० तथा भगवद्गीता से बहुत से उद्धरण दिये हैं। इन्होंने **पिङ्गलछन्दःसूत्र** तथा **छन्दोविचिति** का भी उल्लेख किया है[3]। इनकी व्याख्या केवल दुरूह स्थलों का स्पष्टीकरण ही नहीं करती, अपितु वैदिक मन्त्रों तथा ऋषियों से सम्बद्ध अनेक कथाओं का वर्णन भी मुख्यतः बृ० दे० के आधार पर करती है। इन्होंने पाणिनि के सूत्रों की भी पद्यात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है,[4] सर्वानु० के सूत्रों की रचना पद्धति पर भी प्रकाश डाला है। छन्दों के विषय में अपनी व्याख्या में इन्होंने अनेक छन्दों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए **ऋक्प्रातिशाख्य** की शैली पर उनका स्पष्टीकरण किया है।

अनुक्रमणियों की इस लम्बी तालिका का अन्त यहीं नहीं हो जाता। ऋग्वेद के भाष्यकार **माधवभट्ट** की **दो अनुक्रमणियां-आख्यातानुक्रमणी** और **नामानुक्रमणी**, माधवभट्ट-कृत ऋग्वेदानुक्रमणी के परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं[5], इन अनुक्रमणियों में माधवभट्ट ने ऋग्वेद के पर्यायवाचक धातुओं तथा नामों की तालिकाएं दी हैं, आख्यातानु० में २६६ पद्य हैं। इसमें प्रशंसावाचक ६३ धातु, पूजावाचक ४४ तथा शुद्धक्रिया के पर्यायवाचक ८१ धातु गिनाये गये हैं। इसी प्रकार नामानुक्रमणी में पृथ्वी के ३८ पर्याय तथा जल के १२० पर्याय गिनाये

---

[1] तु० मेयर, ऋग्विधान, प्रस्तावना, पृ० २, टि० ४; मैक्समूलर, हि० एं० सं० लिट०, पृ० २३५।

[2] सर्वानु० १६-१७।

[3] ऋग्० १०, १९१ पर व्याख्या।

[4] ऋग्० २, ११ की व्याख्या में।

[5] सी० के० राज सम्पा०।

गये हैं, किन्तु ये १२० केवल शुद्ध जल के वाचक नहीं हैं, अपितु जल के सभी पक्षों तथा रूपों को व्यक्त करते हैं। यथा, **ऊर्मयः**, **वनम्**, **समुद्रम्**, **स्रोतः**, **नद्यः** सभी जल के अन्तर्गत मान लिये गये हैं। माधव ने अपनी अन्य अनुक्रमणियों का भी उल्लेख किया है । यथा—**निपातानु०**, **गूढार्थपदगोचरानु०**, **विभक्त्यर्थप्रदर्शिनी०**, **स्वरार्थानु०**, **समयानुक्रमणिका**—इसमें प्रकृति, प्रत्यय, सन्धि, आगम आदि पर आश्रित अर्थभेदों का विवरण दिया गया है और शाकल्य के पदपाठ के अनुकरण पर रची गयी है। **आर्षानु०**, **छन्दोऽनुक्रमणी**, **देवतानु०**, **इतिहासानु०** तथा **मन्त्रार्थप्रदर्शिनी**, जो ऋग्वेद की व्याख्या ही है। इन १२ अनुक्रमणियों में से इन पाँच का उल्लेख देवराज यज्वा ने अपने निघण्टु भाष्य में किया है—**नामानु०**, **आख्यातानु०**, **स्वरानु०**, **निपातानु०** तथा **निर्वचनानु०** । माधवभट्ट की अनुक्रमणियां ऋग्वेद भाष्य से पूर्व रची गयी हैं। इस समय **निर्वचनानु०**, **छन्दोऽनु०**, तथा **स्वरानु०** जैसी महत्त्वपूर्ण अनुक्रमणियां अप्राप्य हैं ।

डा० कुन्हनराज ने माधवभट्ट तथा वेङ्कटमाधव के भाष्यों की तुलना करके दर्शाया है कि दोनों माधव सर्वथा भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं[1] । वेङ्कट माधव ने स्वरचित **ऋगर्थदीपिका** में स्वरचित अनुक्रमणियों की चर्चा कहीं भी नहीं की। ऐसी चर्चा होती भी व्यर्थ। देवराज द्वारा उद्धृत उद्धरण माधवभट्ट के भाष्य में पाये जाते हैं, जिसे बारहवीं अनुक्रमणी की संज्ञा दी गयी है,[2] किन्तु वेङ्कटमाधवकृत अनुक्रमणी में नहीं पाये जाते। वे भाष्यांग के रूप में अवश्य उपलभ्य हैं।

वेदाचार्य-कृत सुदर्शनमीमांसा में दिया गया उद्धरण भी इसी माधवभट्ट की नामानु० (१, ४५) में उपलब्ध होता है[3]। डा० लक्ष्मणसरूप के अनुसार वेङ्कट माधव ने अपने भाष्य में एक अन्य माधव का उल्लेख किया है, जो सम्भवतः '**ऋगर्थदीपिका**' के दो अध्यायों का कर्ता हो सकता है, किन्तु डा० कुन्हनराज ने इस सम्भावना का निषेध करते हुए कहा है कि ऋग्० (८, ४, ८) में वेङ्कटमाधव ने अपनी सम्मति प्रथमपुरुष में की है, जो उनके लिए नवीन बात नहीं है। अन्यत्र भी उन्होंने अपनी सम्मति प्रथमपुरुष में की है, यथा—'माधवस्तत्र वदति' (ऋग्० ३,१,१७) तथा 'माधवस्य तत्र मतम्' (ऋग्० ५, ४, २)। डा० कुन्हनराज की सम्मति में जिस दूसरे माधव की ओर लक्ष्मणसरूप ने संकेत किया है और जिसका पिता वेङ्कट था, वही माधव है, जो वेङ्कट का पिता था[4]। दादा के नाम पर पौत्र का नाम रखने का व्यापक रिवाज था।

---

[1] ऋगनु०, वेङ्कट, उपोद्घात, पृ० २१।

[2] नामानु०, १, ३५२ ; कुन्हनराज, वही पृ० २२।

[3] कुन्हनराज, वही, पृ० २५।

[4] वही, पृ० २३।

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि माधवभट्ट की सत्ता वेङ्कट माधव से भिन्न थी और उसका काल ६०० से १००० ई० तक कहीं भी हो सकता है। यद्यपि इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना असम्भव है।

इन कारिकाओं की अभी तक कोई व्याख्या उपलब्ध नहीं हो सकी।

जयदेव शर्मा ने इन अनुक्रमणियों के उपोद्घात के रूप में लिखी गयी कारिकाओं को, वेङ्कटमाधवकृत मानकर वेङ्कटमाधवकृत ऋग्वेद के भाष्य में उपलभ्यमान आठ अष्टकों के ६४ अध्यायों में प्रत्येक के आरम्भ में ऋग्वेद से सम्बद्ध विविध विषयों पर लिखी गयी तथाकथित अनुक्रमणियों के साथ ही हिन्दी व्याख्या की रचना की है और इन दो अनुक्रमणियों को भी वेङ्कट माधवकृत ही कल्पित कर लिया है, जो सर्वथा असमीचीन है। इन कारिकाओं की व्याख्या करने का सङ्कल्प भी किया है।

शौनकीय चरणव्यूह

वैदिक परिशिष्टों में चरणव्यूह का विशेष महत्त्व है। यद्यपि शौनक के नाम से प्रसिद्ध कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी के भाष्य वेदार्थदीपिका के कर्ता षड्गुरुशिष्य द्वारा सूचित[1], दस रचनाओं में चरणव्यूह का नाम नहीं गिनाया गया, तो भी पारस्करगृह्य सूत्र के टीकाकार रामकृष्ण ने इसे भी शौनकोक्त ही ठहराया है, तथा सम्वत् १६१३ में विरचित महिदास की व्याख्या में भी इसे शौनककृत ही घोषित किया गया है[2]।

शौनक की दस रचनाएं इस प्रकार हैं—

(१) **आर्षानुक्रमणी**, (२) **छन्दोऽनुक्रमणी**, (३) **देवताऽनुक्रमणी**, (४) **अनुवाकानुक्रमणी**, (५) **सूक्तानुक्रमणी**, (६) **ऋग्विधान**, (७) **पादविधान**, (८) **बृहद्देवता**, (९) **ऋक्प्रातिशाख्य**, (१०) **शौनकस्मृति**।

इनके अतिरिक्त शौनक के नाम से प्रसिद्ध अन्य रचनाएं भी हैं, यथा, शौनकगृह्यसूत्र, शौनकगृह्यपरिशिष्ट, शौनकीय शिक्षा, ऐतरेय आरण्यक का पञ्चम अध्याय, तथा वाजसनेयिसंहिता के इकत्तीसवें अध्याय (पुरुषसूक्त) की व्याख्या। परम्परा के अनुसार शौनक के शिष्यों में आश्वलायन, व्याडि तथा कात्यायन प्रसिद्ध हैं।

---

[1] द्र० सर्वानु०, षड्गुरुभा०, मैकडानल सम्पा०, ऑक्स० १८८६।

[2] द्र० हरिदास ग्रन्थमाला काशी में प्रकाशित महिदास-कृत व्याख्या सहित चरणव्यूह का अन्त। सी० वी० वैद्य (हि० सं० लिट्०, प्रथम खण्ड पृ० १८२-८३) के अनुसार इसके रचयिता कात्यायन हैं।

चरणव्यूह के एक से अधिक संस्करण उपलब्ध होते हैं। एक राधाकान्त देवविरचित शब्दकल्पद्रुम में मुद्रित किया गया है, जिसमें वाजसनेयियों की १५ के स्थान पर १७ शाखाओं का उल्लेख किया गया है। जब कि अन्य पाण्डुलिपियों तथा प्रतिज्ञापरिशिष्ट एवं विष्णुपुराण तक में १५ शाखाओं की पुष्टि की गयी है। अतः प्रतीत होता है कि **चरणव्यूह** की रचना के समय इन दो शाखाओं की सत्ता ज्ञात नहीं थी। इनमें एक कात्यायनीय शाखा है, जिस की संहिता का एक वचन श्रीपतिरचित श्रीकरवेदान्तभाष्य (१, २, ७) में उद्धृत है तथा कात्यायनीय शतपथ ब्राह्मण की पाण्डुलिपि की सूचना पं० भगवत्दत्त द्वारा दी गयी है। अतः अब इसे **सौत्रशाखा** कहना संगत नहीं रहा[1]। ऐसा प्रतीत होता है कि इस **चरणव्यूह** की रचना उस समय हुई थी, जबकि अनेक पुरातन संहिताएं तथा ब्राह्मण या तो लुप्त हो गये थे या अन्य शाखाओं में लीन हो गये थे। अतः पुरातन संहिता-चरणों तथा ब्राह्मण-चरणों के विषय में इसकी सूचनाएं सर्वथा प्रामाणिक नहीं मानी जा सकतीं, तो भी यही एक ऐसी रचना है, जिसमें सर्वप्रथम उस समय उपलब्ध समस्त वैदिक शाखाओं तथा चरणों का विस्तृत वर्णन देने का मुख्य प्रयास किया गया है, तो भी इस का विवरण अधूरा ही कहा जायेगा, क्योंकि विष्णु पुराण (३, ४) तथा विशेषतया वायुपुराण (नवम अध्याय) में इससे कहीं अधिक विवरण प्रस्तुत किया गया है[2]। इसके दो संस्करणों में से दीर्घसंस्करण पर महिदास का भाष्य है। दीर्घसंस्करण में चरणों की १२ शाखाएं गिनायी गयी हैं, जबकि ह्रस्व में दस—इसमें **पाताण्डनीयों** तथा **औपमन्यवों** की चर्चा नहीं की गयी है। दूसरी ओर दीर्घसंस्करणों में मैत्रायणीयों की छह शाखाएं परिगणित हैं, जबकि ह्रस्व संस्करण में सात हैं, इसमें **श्यामाः** अधिक है, तथा **छागलेयाः** के स्थान पर **चाकेयाः** तथा **हारिद्रवेयाः** के स्थान पर **हारिद्रवीयाः** पठित हैं। यही पाठ कातीय चरणव्यूह में भी पाया जाता है। ह्रस्व संस्करण में दो श्लोक **त्रिगुणं पठ्यते साम** तथा **मन्त्रब्राह्मणकल्पानां** नहीं पाये जाते।

चरणव्यूह में ऋग्वेद की पाँच शाखाएं कही गयी हैं—'आश्वलायनी, शाङ्खायनी, शाकला, वाष्कला तथा माण्डूकायना।

समस्त ऋग्वेद के अध्ययन का विवरण इस प्रकार दिया गया है—२००६ वर्ग, १०१७ सूक्त हैं। वसिष्ठों के पाठ के १५२५१४ अक्षर हैं। ये लोग

---

[1] वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० १७७-७८; मैक्समूलर को इस शाखा का ज्ञान नहीं था। अतः उसने इसे सौत्रशाखा ही माना था। (हि० ए० सं० लिट्०, पृ० २५१-२५२)।

[2] वेबर, एच० आई० एल० (भारतीय सं० १९६१) पृ० १४२, तथा १५४।

[3] विस्तारार्थ द्र० ओरियेण्टल कॉलेज मैगजीन, नवम्बर १९३२ पृ० २६-५१, वसिष्ठ, एम० ए० का लेख।

ऋग्० ३, ५३, २१-२४ (३ अष्टक, ३ अध्याय २३ वर्ग) का पाठ नहीं करते, क्योंकि इसमें विश्वामित्र द्वारा वसिष्ठ की निन्दा की गयी है। शाकलों की संहिता की पदसंख्या १५३७९२ बतायी गयी है, जो बालखिल्य सूक्तों की पदसंख्या सहित हैं। बालखिल्यों में ११ सूक्त, १८ वर्ग, १२०७ पद हैं। अतः बालखिल्य-सहित शाकल संहिता में २०२४ वर्ग, १०२८ सूक्त, १०५५२ ऋचाएं, १५३७९२ पद होते हैं। किन्तु आगे चल कर ऋचाओं की संख्या १०५८०¼ कही गयी है, जो वर्तमान संहिता से मेल नहीं खाती। महिदास ने इसकी उत्पत्ति इस प्रकार दर्शायी है कि कुल १०४९६ ऋचाएं हैं, उनमें नैमित्तिक द्विपिदा की ७० संख्या जोड़ने पर १०५६६ ऋचाएं होती हैं। **संज्ञान** सूक्त की १४ पूर्ण ऋचाएं तथा **भद्रं नो अपि वातय मनः** (ऋग्० १०, २०, १) एक पाद जोड़कर संख्या १०५८०¼ हो जाती है,[1] किन्तु स्वयं महिदास ने कात्यायनीय सर्वानुक्रमणी के साक्ष्यानुसार मन्त्रसंख्या १०५५२ बालखिल्य सहित स्वीकार की है और बालखिल्यों के बिना १०४७२। साथ ही यह भी कह दिया है कि यह संख्या नित्य-नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं के सहित है[2]। उसने कुछ श्लोक भी उद्धृत किये हैं, जिनमें प्रतिवर्ग मन्त्र संख्या बतायी गयी है। उनके अनुसार कुल वर्ग २०१० हैं और ऋक्संख्या १०४१९। यह संख्या **संज्ञानसूक्त** की ऋचाओं के सहित है। सम्भवतः यह भेद शाखाभेद के कारण है[3]।

वाजसनेयों के पन्द्रह भेदों के नामों के विषय में भी कातीय चरणव्यूह-प्रोक्त नामों से पर्याप्त भेद पाया जाता है। शौनक ने इनके अन्तर्भूत 'अद्धा' और 'बौधायन' दो नाम ऐसे दिये हैं, जो अन्यत्र नहीं मिलते। वहां यजुः संख्या ८८८८ निर्दिष्ट है, इसे शौनक ने ८८२८ बताया है।

कातीय चरणव्यूह में राणायनीयों की सात शाखाएं गिनायी गयी हैं, किन्तु यहाँ नौ कही गयी हैं। इनके नामों के विषय में भी पर्याप्त भेद है। जहाँ कात्यायन ने जैमिनीयों को कौथुमों का एक भेद माना है वहां शौनक ने इसे राणायनीयों की शाखा स्वीकार किया है। शौनक ने सामवेदियों के कुल १५ भेद स्वीकार किये हैं, किन्तु इसका व्याख्याकार महिदास भी इनके नामों की उत्पत्ति नहीं दर्शा पाया। वह भी सामवेदतर्पण में परिगणित १३ नामों का निर्देश करके मौन रह गया है। ये नाम भी कातीय नामों से भिन्न हैं।

जैमिनीयसंहिता को केवल नाम-निर्देश करके छोड़ दिया गया है। इसी प्रकार अथर्ववेद की शाखाओं के नामों के सम्बन्ध में दोनों वैदिक परम्पराओं में

---

[1] चरणव्यूह पृ० २१-२२।

[2] पृ० १७।

[3] द्र० ऋग्वेद की ऋक्-संख्या, युद्धिष्ठिर मीमांसक-कृत।

बहुत अन्तर हैं। **पैप्पला: (??), पैप्पलादा:, शौनकाः, दान्ताः, प्रदान्ताः, औताः, जाबालाः, ब्रह्मपलाशा, कुनखीवेददर्शी (?) चारणविद्याः**। इनमें से दान्त, प्रदान्त, औत, कुनखीवेददर्शी तथा ब्रह्मपलाश नामक शाखाओं का समर्थन अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। **पैप्पला:** स्पष्ट ही **पैप्पलादा:** होना चाहिये। कातीय चरणव्यूह के नामों में से **शौकायना:** तथा कुमुदादिन: के अतिरिक्त शेष नाम स्वल्प पाठभेद से सायण के अथर्वभाष्य में निर्दिष्ट नामों से मिलते हैं। महिदास के भाष्य तथा उसके चरणव्यूह की परम्परा निश्चितरूप से दूषित प्रतीत होती है। यहाँ आथर्वणिक कल्पों के नाम भी विचित्र हैं, जिनमें से विधान कल्प, विधिविधानकल्प अन्यत्र नहीं पाये जाते। यहाँ वैतान (वितान) और आङ्गिरस कल्पों के नाम नहीं दिये गये।

अन्त में चारों वेदों के वर्ण, स्वभाव, आकार, प्रमाण, छन्द प्रभृति का विवरण दिया गया है। वेदाध्ययन की फलश्रुति के साथ चरणव्यूह की समाप्ति होती है।

वेङ्कटमाधवकृत

ऋग्वेद-अनुक्रमणी

वेङ्कटसूनु माधवभट्ट ने स्वरचित ऋग्वेदभाष्य—'ऋगर्थदीपिका' के प्राय: प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में विविध वैदिक समस्याओं पर प्रकाश डाला है, जो उस अध्याय से कोई सीधा सम्बन्ध न रखते हुए भी वेदाध्यायी की शक्ति तथा व्युत्पत्ति में वृद्धि करने के लिए अत्यन्त उपयोगी तथा आवश्यक है।

इस बिखरी सामग्री को एकत्र करके ऋग्वेदानुक्रमणी 'ऋगर्थदीपिका' के नाम से प्रकाशित किया गया है। यद्यपि माधव के नाम से १२ अनुक्रमणियां प्रसिद्ध हैं, तो भी ऋग्वेदभाष्य के प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में आठ ही अनुक्रमणियां पायी जाती हैं। १२ अनुक्रमणियों के नाम ये हैं—**आख्यातानुक्रमणी**, **नामानुक्रमणी** **निपातानुक्रमणी, गूढार्थपदानुक्रमणी, विभक्त्यर्थानुक्रमणी, स्वरानुक्रमणी, समयानुक्रमणी, आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, इतिहासानुक्रमणी** तथा **मन्त्रार्थानुक्रमणी**।

किन्तु अध्यायों के आरम्भ में निम्नलिखित आठ अनुक्रमणियों के नाम तथा क्रम इस प्रकार हैं—

स्वरानुक्रमणी, आख्यातानुक्रमणी, निपातानुक्रमणी, शब्दाकृत्यनुक्रमणी, आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी तथा **मन्त्रार्थानुक्रमणी**।

यद्यपि इन्हें अनुक्रमणियां कहा जाता है, तो भी ये वास्तविक रूप में अनुक्रमणियां न होकर विविध विषयों पर भाष्यकार के सुविचारित व्याख्यान

मात्र हैं, जो वेद के अनेक विवादास्पद विषयों पर प्रकाश डालते हैं। वास्तव में अनुक्रमणियां दो ही हैं। **आख्यातानुक्रमणी** तथा **नामानुक्रमणी**, जो मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'माधवभट्ट की ऋग्वेदानुक्रमणी' नाम ग्रन्थ के चतुर्थ परिशिष्ट में सङ्कलित की गयी हैं। वहां शाकल्य का पदपाठ भी अनुक्रमणी के नाम से प्रकाशित हुआ है। बारहवां ग्रन्थ स्वयं माधवकृत ऋग्वेदभाष्य है, जिसे अनुक्रमणी नहीं कहा जा सकता।

इस माधवभट्ट का उल्लेख देवराज यज्वा ने अपने निघण्टुभाष्य में किया है, यद्यपि कुछ विद्वानों ने इस निष्कर्ष को स्वीकार नहीं किया[1]। एक मत के अनुसार सायण ने भी इसे उद्धृत किया है[2]। स्वयं इन्होंने स्कन्दस्वामी तथा किसी माधव को उद्धृत किया है[3]। अतः इनका काल दशमी—ग्यारहवीं शताब्दियों के बीच कहीं भी हो सकता है[4]। इन अनुक्रमणियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) स्वरानुक्रमणी में सर्वप्रथम तिङन्तों के स्वर पर पाणिनीय व्याकरण के अनुसार ही स्वर-सन्धान के नियमों का प्रतिपादन सोदाहरण किया गया है। मध्ये-मध्ये शङ्काएं उठा कर उनका यथोचित समाधान किया गया है, यथा वाक्य के आदि में तिङक्षर उदात्त क्यों होता है और अन्यत्र सर्वानुदात्त क्यों होता है, एवं क्या इन दोनों अवस्थाओं में कुछ अर्थभेद भी होता है या नहीं?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि उदात्तवान् तिङन्तपद श्रोता पर ऐसा आघात करता है कि वह वक्ता की ओर अभिमुख हो जाता है। जब उदात्त करने वाले पदों से पूर्व ही श्रोता को आघात लग जाता है, तो वाक्य के मध्य या अन्त में क्रियापद सर्वानुदात्त हो जाता है। ऋषि लोग प्रत्येक पाद पर विराम करके विशेष अर्थ को कहते हैं। अतः श्रोता का पुनः उद्बोधन करने के लिए पाद के आदि में उदात्तवान् तिङन्त पद का प्रयोग करते हैं[5]।

एक और प्रश्न उठाया गया है कि उदात्त क्रियापद वाक्य के मध्य में भी देखा जाता है, तो वहां निघात क्यों नहीं होता, यथा—

---

१. द्र० इसी इतिहास के प्रथम खण्ड के अन्तर्गत **वेदभाष्यकार** प्रकरण के अन्तर्गत **वेङ्कटमाधव**।

२. ऋग्० भा० १, ८६, १; किन्तु द्र० उपर्युक्त 'वेङ्कट माधव' प्रकरण।

३. अष्टक ६, अध्याय ७; अष्टक ८, अध्याय ४।

४. लक्ष्मणसरूप, इण्डिसिज०, पृ० ३४-३५ तथा साम्बशिव शास्त्री स्कन्दस्वामीभाष्य भूमिका; पृ० ७।

५. स्वरानु० कारिका ६-१०।

मा नु॒: शंसो॒ अर॑रुषो० (ऋग् १, १८, ३)

इन्द्र॒ सोमं॒ पिब॑ ऋतुना (ऋग् १, १५, १)

यहां शंस॑: एवं पिब॑ दोनों क्रियापद सोदात्त हैं, निघात क्यों नहीं हुआ ?

इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि जिस तिङन्तपद में वाक्य का अर्थ समाप्त होता है, वह सर्वानुदात्त हो जाता है, जिसमें नहीं होता, वह सोदात्त होता है[1]।

इसी प्रकार आमन्त्रित पदों, समासों, समास में स्वर-व्यत्यास, अवग्रह-रहित पदों के अर्थों, सर्वानुदात्त शब्दों के अर्थों, अन्वादेश तथा शब्दरूप एवं स्वर के भेद होने पर अर्थभेद सदृश विषयों पर एक-एक अध्याय में विचार किया गया है। इसी प्रकार अनुक्रमणी में आठ-आठ अध्यायों का समावेश किया गया है।

(२) आख्यातानुक्रमणी में विभिन्न लकारों का विभिन्न अर्थों में वैदिक प्रयोगों पर सोदाहरण प्रकाश डाला गया है।

यथा, प्रथम अध्याय में वर्तमान, वर्तमान सामीप्य, भूतकाल, भविष्यत्-काल के द्योतनार्थ लट् लकार के प्रयोग,[2] द्वितीय अध्याय में लिट् का अद्यतन भूत, भविष्यत् तथा सामान्य भूत-काल के अर्थों में प्रयोग दर्शाये गये हैं[3]। इसी प्रकार तृतीय अध्याय में लङ् तथा लुङ्, चतुर्थ में लिङ्, पञ्चम में लोट् तथा लेट्, षष्ठ में लृट् तथा लुट्, सप्तम में क्रिया-रहित वाक्यों में क्रिया के अध्याहार के विषय में चर्चा की गयी है। कहीं-कहीं केवल उपसर्ग का प्रयोग होता है, क्रिया का अध्याहार सम्भाव्य अर्थानुसार किया जाता है। इसी प्रकार यद् आदि के योग में सर्वानुदात्त तिङन्त पद के आने पर मध्य में क्रियापद के अध्याहार का निर्देश किया गया है, यथा—

यद्दिवो हरिवः स्थातरुग्र निरव्रताँ अधमो रोदस्योः।

इसमें **यद्दिवः प्र अधमः** में **अधमः** क्रिया पद का अध्याहार किया जाता है[4]।

अष्टम अध्याय में आत्मनेपद-परस्मैपद प्रयोगों का विवेचन किया गया है। पा० के अनेक सूत्रों के अनुसार निर्देश करते हुए भी वैदिक भाषा में अनेक वैकल्पिक प्रयोगों तथा अपवादों की चर्चा की गयी है। इसी प्रसंग में कहा गया है कि फल के कर्तृगामी होते हुए भी अनेकत्र आत्मनेपद नहीं भी होता। इसके

---

[1] वही, कारिका १३-१४।

[2] द्र० पा० ३, ४, ६ पर काशिका।

[3] तु० पा० वही : तथा ३, २, १०५।

[4] आख्याता०, ७, ५-६।

तीन कारण हैं— (१) विवक्षा (२) उपपद का योग (३) प्रतीति[1]। इन दोनों पदों के सूक्ष्मभेद को गुरुमुख से ही सीखा जा सकता है[2]।

(३) **निपातानुक्रमणी** में २० उपसर्ग तथा ऋचाओं में प्रयुक्त १३० निपात गिनाये गये हैं। इनमें कई निपात सर्वथा अनर्थक भी होते हैं और केवल पादपूरणार्थ प्रयुक्त होते हैं, किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहीं-कहीं पादपूरण की अपेक्षा न होते हुए भी इनका व्यर्थ प्रयोग भी किया जाता है। इसके कारण का विवेचन करते हुए माधव कहते हैं कि वहां वाक्यार्थ में स्फुटता और उत्कर्ष आदि गुणों के सञ्चारार्थ इनका प्रयोग किया जाता है[3]। जहां ये गुण स्पष्ट हैं, वहां तो निपात सार्थक होते हैं, किन्तु जहां स्पष्ट नहीं होते, वहां ये पादपूर्ति या वाक्यपूर्ति के लिए होते हैं[4]।

द्वितीय अध्याय में संगत निपातों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। तृतीय अध्याय में निपातों के भिन्न-भिन्न प्रयोगों का विवरण है। तदनन्तर नञ् के विविध अर्थों में प्रयोगों का ब्योरा दिया गया है। चतुर्थ अध्याय में **च, ऊह,** अंग निपातों के विविध प्रसंगों में अर्थों पर विचार किया गया है।

पञ्चम अध्याय में हि के योग में तिङन्तों पर विचार किया गया है षष्ठ अध्याय में निपातों के सम्बन्ध में कुछ विशेष तथ्यों तथा सप्तम-अष्टम में उपसर्गों पर विशेष विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

(४) चतुर्थ अष्टक में **शब्दावृत्ति नामक** अनुक्रमणी दी गयी है तथा इस तथ्य पर प्रकाश डाला गया है कि परुच्छेप ऋषिदृष्ट सूक्तों[5] में शब्दावृत्ति का बाहुल्य पाया जाता है, जो प्रायेण पादपूर्ति के लिए होती है[6], अर्थभेद के लिए नहीं[7]।

द्वितीय अध्याय में समास-सम्बन्धी शब्दावृत्ति तथा तृतीय में वीप्सा तथा नित्यता[8] (अर्थात् किसी क्रिया को लगातार करते चला जाना) के द्योतनार्थ

---

[1] वही, ८, ९।

[2] वही, १२।

[3] वही, १७।

[4] वही १८।

[5] ऋग्० १, १२७-१३९।

[6] शब्दावृत्त्यनु०, १, ६; १३।

[7] वही, १, २४।

[8] आभीक्ष्ण्यं (नित्यता) क्रियाधर्मः, वीप्सा च प्रयोक्तृधर्मः।

शब्दावृत्ति पर विचार किया गया है । नित्यता, यथा—**पचति पचति, लुनीहि लुनीहि, स्मारं स्मारं रोदिति** । वीप्सा यथा— **ग्रामो ग्रामो रमणीयः** ।

उपसर्गों में द्विरुक्ति देखी जाती है, यथा **प्र प्र यज्ञं पृणीतन** (ऋग्० ५,५,५)[1] ।

चतुर्थ-पञ्चम अध्यायों में अपूरणार्थक पदों की आवृत्ति का विवरण दिया गया है । षष्ठ अध्याय में समान पाद में पूरक पदों की चर्चा की गयी है। सप्तम में मत्वर्थीय पादपूरकों तथा अष्टम में आवृत्त ऋचाओं, अर्ध-ऋचाओं, तथा पादों के सम्बन्ध में विचार किया गया है ।

(५) पञ्चम अष्टक में **आर्षानुक्रमणी** सन्निविष्ट है, जिसमें ऋषियों के प्रथम-द्वितीय अध्यायों में ऋषियों के नामों-गोत्रों पर विचार किया गया है । तृतीय अध्याय में **अमित ऋषियों** के अन्तर्गत **मित ऋषियों** के आ जाने के कारणों का विवरण प्रस्तुत किया गया है । यद्यपि ये दोनों संज्ञाएं बृ० दे० तथा सर्वानु० में उपलब्ध नहीं होतीं, तो भी स्कन्द स्वामी ने अपने भाष्य (ऋग्० ६, ४८, १) में इनका प्रयोग किया है, जो किसी अनु० से ही उद्धृत हैं । एक ही कुल के ऋषि **अमितर्षि** कहलाते हैं और उनके बीच में कुलान्तर के समाविष्ट ऋषि **मितर्षि** कहे जाते हैं । यथा गृत्समददृष्ट सूक्तों (ऋग्० २, १-३ तथा ८, २६) के बीच में सोमाहुतिदृष्ट सूक्त (४-७) समाविष्ट हैं । इस व्यवधान का कारण यह कहा जाता है कि गृत्समददृष्ट अग्निसूक्त (२, १-३) क्रमशः जगती (२,१-२) तथा त्रिष्टुप् (२, ३) छन्दों में निबद्ध है । तत्पश्चात् सोमाहुति ने भी अग्नि की ही स्तुति में त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् तथा गायत्री छन्दोनिबद्ध चार सूक्तों के दर्शन किये । तदनन्तर पुनः गृत्समद के ही अग्नि की स्तुति में गायत्री तथा त्रिष्टुप् छन्दों में सूक्त समाविष्ट हैं। यहां देवता और छन्दों का क्रम अविच्छिन्न रहता है । इसी प्रकार कहीं द्विदैवत्य सूक्तों (४, ४१ तथा ४, ४५) के ऋषि वामदेव हैं। इनके बीच में त्रसदस्यु-दृष्ट सूक्त (५, ४२) तथा पुरुमीढ तथा अजमीढ नामक ऋषियों द्वारा दृष्ट दो सूक्त भी द्विदैवत्य सूक्त ही हैं। अतः उनका मध्य में समावेश उचित ही है ।

इस प्रकार गोत्रप्रवर्त्तक **अमित ऋषि** के सूक्तों के बीच में उसके कुल के **मित ऋषियों** के सूक्त छन्द, देवता, मन्त्रसंख्या, अर्थ, जन्मक्रम तथा अनुवाक आदि के विराम के अनुसार आते रहते हैं[2] ।

---

[1] द्विरुक्ति के सम्बन्ध में द्र० पा० ८, १, ४; ५; ७, ८; ९; १०; ११; १२ तथा इस पर वार्तिक १३ ; १४ ; १५ ।

[2] आर्षानु० ३, ३१ ।

चतुर्थ अध्याय में विचार का विषय एक ही सूक्त के अनेक ऋषियों की समस्या है। कुछ विद्वानों के अनुसार कई ऋषियों ने संघ बना कर तपस्या करके एक ही सूक्त के एक-साथ दर्शन किये, किन्तु माधव को यह समाधान मान्य नहीं है। जहां तो सूक्त में विभिन्न ऋषियों के नाम पठित हैं, वहां तो ऐसा मानना सम्भव है, किन्तु सर्वत्र नहीं। (ऋग्० ८, ३७) **में मत्स्य साम्मद, मान्य मैत्रावरुणि** तथा बहुत से **जालनद्ध मत्स्यों** को ऋषि माना जाता है, किन्तु **उत त्वामदिते मह्यहं** (ऋग्० ८,६७,१०) में एकवचन के निर्देश के कारण एक ही प्रधान ऋषि होना चाहिये[1], अन्य गौण माने जाने चाहियें[2]। कहीं-कहीं किसी का भी नाम निर्देश नहीं होता, वहां निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है[3]। कहीं-कहीं सभी निर्दिष्ट ऋषियों के नाम सूक्त के किसी न किसी मन्त्र में उल्लिखित होते हैं[4]। ऐसी अवस्था में भी प्रधान तथा गौण ऋषि मानने चाहियें, इसका संकेत स्वयं ऋग्वेद में दिया गया है—

ऋज्राश्वः प्रष्टिभिरम्बरीषः सहदेवो भयमानः, सुराधाः (१, १००, १७) इस मन्त्र में ऋज्राश्व, अम्बरीष, सहदेव, भयमान, सुराधस् पांच भाई हैं, जिनमें ऋज्राश्व सर्वप्रथम प्रधान रूप में पठित हैं।

माधव ने कई विद्वानों के इस मत को स्वीकार नहीं किया कि इस प्रकार अनेक ऋषियों वाले सूक्तों में एक मन्त्र को ऋषि ने देखा होता है, तो अन्य को दूसरे ने। इन का तर्क यह है कि **पवस्व विश्वचर्षणे** (ऋग्० ९, ६६) **के वैखानस** ऋषि हैं तथा **आ यदिन्द्रश्च दद्वहे** (ऋग्० ८, ३४, १६-१८) इन तीन मन्त्रों के द्रष्टा आंगिरसकुल के **सहस्रवसुरोचिषः** ऋषि माने जाते हैं। यह सब कैसे सम्भव है। अतः इसका निर्णय वृद्ध गुरुओं पर ही छोड़ना उचित है[5]। इस विषय में कठिनाई यह है कि अनेक ऐसे मन्त्र हैं, जो विभिन्न शाखाओं में भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा दृष्ट माने गये हैं, यथा, काठकसंहिता के अनेक मन्त्र वाजसनेयी संहिता में पाये जाते हैं, किन्तु उनके मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नाम भिन्न-भिन्न हैं। अतः प्रतीत होता है कि आर्षानुक्रमणियों से पूर्व इस सम्बन्ध में कोई अत्यन्त सुदृढ़ एवं सर्वथा प्रामाणिक परम्परा नहीं रही है।

---

[1] वही, ४, १।

[2] वही, ४, ५-११।

[3] ऋग्० ८, १४, १९, वही, ४, १३।

[4] ऋग्० ५, ४४, १०, १२, १३।

[5] माधव, वही, ४, १८।

पञ्चम अध्याय में ऋग्वेद संहिता के अष्टक आदि विभागों की चर्चा की गयी है, तथा मन्त्रों, सूक्तों, अनुवाकों की संख्या भी दी गयी है।

षष्ठ अध्याय में सूक्तविच्छेद का कारण बताया गया है। ऐसे भी उदाहरण हैं कि एक ही ऋचा ऋक्संहिता में ही अनेकत्र पठित है तथा सर्वत्र भिन्न ऋषियों द्वारा दृष्ट मानी गयी है। माधव ने इस समस्या का यह समाधान प्रस्तुत किया है कि कहीं-कहीं कोई ऋषि आत्मदृष्ट मन्त्रों में अन्यदृष्ट मन्त्रों का समावेश कर लेते हैं[१]।

कहीं-कहीं पर ऋषि-परस्पर प्रीति के कारण भी एक-दूसरे की ऋचाओं को अपनी रचनाओं में समाविष्ट कर लेते हैं। यथा—तृतीय मण्डल की अन्तिम तीन ऋचाएं जमदग्नि-दृष्ट बतलायी गयी हैं, जबकि इस सूक्त की पूर्वगत ऋचाएं विश्वामित्र द्वारा दृष्ट हैं। इस का कारण यह बताया गया है कि जमदग्नि और विश्वामित्र दोनों एक आसन पर बैठने से परस्पर मित्र बन गये थे[२]।

द्विपदा ऋचाओं के सूक्त के द्रष्टा बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु, विप्रबन्धु परस्पर भाई थे। शांखायन ब्राह्मण के अनुसार इन सभी ने इन स्वदृष्ट ऋचाओं को एकत्र करके एक सूक्त बना दिया है[३]। विभिन्न क्रियाओं से सम्बद्ध होने पर भी सूक्तभेद हो जाता है[४]। कवित्व के अनुरोध से भी एक ही आशय को ऋषियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया है। कामनाभेद तथा दर्शनकाल के भेद से भी सूक्तभेद देखा जाता है[५]।

सप्तम अध्याय में ऋषि और आर्षेय विषय पर विचार किया गया है, जिसके अन्तर्गत ऋषित्वप्राप्ति, ऋषिगोत्र तथा एक ही कुल के ऋषियों के मन्त्रों का भिन्न-भिन्न मण्डलों में समावेश प्रभृति अनेक विषयों का विवेचन किया गया है। यथा—वसिष्ठ के पुत्र गौरिवीति के मन्त्र अत्रिकुल के ऋषियों द्वारा दृष्ट पञ्चम मण्डलान्तर्गत देखे जाते हैं, जबकि वसिष्ठ कुल के ऋषियों के मन्त्र सप्तम मण्डल में समाविष्ट हैं। यह कैसे हुआ ? इसका कारण यह बताया गया है कि अत्रिवंश की ऋषिका विश्ववारा के साथ वसिष्ठकुल के गौरिवीति का विवाह हुआ था, अतः विश्ववारा के मन्त्रों (ऋग् ५, ५८) के तुरन्त बाद गौरिवीति का

---

[१] वही, ६, ६।

[२] वही, ६, ८९।

[३] वही, ६, १०-१२; जै० ब्रा० ३, १६८-१७०।

[४] वही, ६, १९-२५।

[५] वही, २६-३०।

सूक्त रख दिया गया है, जिसके अनन्तर पुनः बभ्रु आत्रेय का सूक्त रखा गया है[1]। इसी प्रकार अत्रियों के मण्डल में धरुण आंगिरस का सूक्त (५, २५) इसलिए आ गया है कि धरुण ने अत्रि की चिकित्सा की थी[2]। कई विद्वानों के अनुसार बहुत से ऋषियों ने मातृकुल में रहते हुए वहां के ऋषियों के साथ उसी प्रकार के मन्त्रों का दर्शन किया है। अतः मातृकुल के ऋषियों के साथ उनके सूक्त पाये जाते हैं[3]। इसी प्रकार ऋषियों से सम्बद्ध कुछ और बातों का विवरण दिया गया है। अष्टम अध्याय में पिता और पुत्र ऋषिदृष्ट सूक्तों की क्रमव्यवस्था पर विचार किया गया है, यथा, अर्चनानस् पिता के सूक्त श्यावाश्व पुत्र के सूक्तों से पश्चात् संकलित हैं[4]। इसका कारण यह है कि क्योंकि श्यावाश्व द्वारा दृष्टसूक्तों की संख्या अधिक है, अतः वे पूर्व-संकलित हैं, अल्पसंख्यक अर्चनानस्दृष्ट सूक्त बाद में रखे गये हैं। एक और प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि विद्वानों के अनुसार सभी ऋषियों ने संहिता में समाविष्ट सूक्तक्रम को इसी रूप में देखा था[5]।

(६) **षष्ठ अष्टक** में ऋग्वेदछन्दोऽनुक्रमणी के विविध विषयों पर विचार किया गया है।

(७) **सप्तम अष्टक** में देवतानुक्रमणी में देवताओं से सम्बद्ध अनेक विषयों पर विचार व्यक्त किये गये हैं, तथा कहा गया है कि ऋषियों के देवता प्रत्यक्ष होते थे। माधव ने विचार व्यक्त किया है कि द्युलोक में दधिक्रावन् नाम का अश्वाकृति कोई देव था, जिससे अश्वों की उत्पत्ति हुई। इसीलिए निघ० में अश्व को देवताओं में गिनाया गया है[6]। प्रयाजों तथा अनुयाजों[7] के देवताओं पर भी विचार किया गया है। आप्रीसूक्तों में जिस किसी भी देवता की स्तुति की गयी है, समिद् आदि की स्तुतियों में भी उसी का वर्णन किया गया है[8]।

षष्ठ अध्याय में देवताओं के यज्ञों के साथ सम्बन्धों का विवरण दिया गया है। सप्तम अध्याय में वसु आदि देवताओं के विषय में विचार किया गया

---

[1] वही, ७, १०-११।

[2] वही, ७, १२-१३।

[3] वही, ७, १४।

[4] द्र० ऋग्० ५, ५२-६१ श्यावाश्वदृष्ट हैं तो ऋग्० ५, ६३-६४ अर्चनानस्-दृष्ट।

[5] वही ८, २०।

[6] वही ७, ४, २; निघ० ५, ३।

[7] वही ७, ५, ८-९।

[8] वही, ७, ५, ७।

है। अष्टम अध्याय में आत्मा के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये गये हैं। इनके मत में **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः** (ऋग्० १, १६४, ४६) प्रभृति ऋचा तथा **विश्वतश्चक्षुर्विश्वतोमुखम्** प्रभृति ऋचाओं को आत्मपरक नहीं माना, अपितु इनमें प्रजापति का वर्णन है, जिसने सृष्टि के अनेक कार्यों में व्यापृत होकर अनेक रूप धारण किये थे[1]। न ही ये **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते** (ऋग्० ६,४७,१८) को आत्मपरक स्वीकार करते हैं, न ही शौनक तथा कात्यायन ऐसा मानते हैं[2]। दुग्ध में घृतवत् तथा अरणियों में अग्निवत् निगूढ़ सर्वत्र व्यापक आत्मा को अपरिपक्व अन्तःकरण वाले मनुष्य देखने में असमर्थ होते हैं[3]।

(८) **अष्टम अष्टक** में मन्त्रार्थानुक्रमणी के अन्तर्गत प्रथम अध्याय में वेदार्थ के विषय पर विचार करते हुए मन्त्रों की अस्पष्टता तथा दुरूहता पर प्रकाश डाला गया है। इस दुरूहता के कई कारण है, यथा **वैश्वदेव सूक्तों** में देवताओं के मिश्रित वर्णन **समुद्रादूर्मिः** (ऋग्० ४, ५८, १) सदृश सूक्तों में अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग तथा देवता की अस्पष्टता, देवता ज्ञान का अभाव, निरुक्त, व्याकरण आदि शास्त्रों में परिश्रम का अभाव, ब्राह्मण ग्रन्थों के सम्यग् अध्ययन का अभाव; जो व्यक्ति शाटचायन, ताण्डच, शतपथ, ऐतरेय, पैप्पलाद तथा तैत्तिरीय ब्राह्मणों का पण्डित हो, वेद का पण्डित हो सकता है[4]। भाल्लवेय (भाल्लवक), मैत्रायणीय तथा चरकशाखोय ब्राह्मण माधव ने भी गुरुमुख से नहीं सुना था[5]।

द्वितीय अध्याय में वेदार्थ में ब्राह्मण ग्रन्थों के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय में वेदभाष्य के अधिकारी की चर्चा है। एक विचित्र बात यहां कही गयी है कि ऋग्० १, ९९ के अनन्तर तथा सूक्तसंख्या १, १०० के पूर्व मरीचि के पुत्र कश्यप ऋषि ने त्रिष्टुप् छन्द के १००१ सूक्तों का साक्षात् किया था। इसकी चर्चा शौनक के बृ० दे० (३, १३०) में कुछेक हस्तलेखों में की गयी प्रतीत होती है, किन्तु माधव इस पाठ को प्रामाणिक मानते हैं। ये सूक्त **जातवेदस्**-देवताक थे। एक मतानुसार इन सूक्तों में द्वयृच सूक्त से लेकर एक-एक ऋचा की वृद्धि प्रतिसूक्त होती थी और अन्तिम सूक्त में १००० ऋचाएं थीं तथा कुल मिलाकर पांच लाख चार सौ निन्यानवें ऋचाएं थीं, किन्तु आश्वलायन ने स्वयं उन

---

[1] वही, ७, ८, ३-४।

[2] वही, ७, ८, ९; बृ०दे० ५, ११०—**इन्द्रः प्रधानतो वाऽत्र स्तुतःसोमो निपातभाक्।**

[3] वही, ७, ८, १२ : तथा ९-११।

[4] वही, ८, १, १०-१२।

[5] वही, १३।

ऋचाओं को नहीं देखा था[1]। कात्यायन ने भी स्वरचित सर्वानु० में इसकी चर्चा की है, किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वे सूक्त एक-एक ऋचा वाले थे या १००१ सूक्त थे। बृ० दे० के वचन से प्रतीत होता है कि शाकपूणि इन सूक्तों से परिचित थे। स्कन्दस्वामी ने भी इनकी सत्ताविषयक परम्परा का उल्लेख किया है तथा शौनक के नाम से एक कारिका उद्धृत की है, जो वर्तमान बृ० दे० में नहीं पायी जाती, किन्तु छन्दोऽनुक्रमणी में इसका उल्लेख है। सर्वानु० के वृत्तिकार षड्गुरुशिष्य ने इसे **खिलसूक्त** की संज्ञा दी है, जो अब अनुपलभ्य है[2]।

चतुर्थ अध्याय में ऋग्भाष्य भूमिकारूप में माधव ने कुछ बातें कहीं हैं।

पञ्चम अध्याय में कौत्स द्वारा उठाये गये मन्त्रों के अनर्थकवाद की चर्चा करके उस का निराकरण किया गया है।

षष्ठ अध्याय में मन्त्रों के ब्राह्मणग्रन्थोक्त अर्थों पर विचार किया गया है।

सप्तम अध्याय में मन्त्रार्थज्ञान की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है।

अष्टम अध्याय में वेदोक्त पदार्थ की अन्य शास्त्रोक्त पदार्थ से विशेषताओं की चर्चा की गयी है।

यद्यपि ये आठों प्रकार की अनुक्रमणियां वेङ्कटमाधव के भाष्य 'ऋगर्थदीपिका' के प्रत्येक अष्टक के अन्तर्गत प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में दी गयी हैं, तो भी इन का पृथक् प्रकाशन भी हो चुका है।

एक संस्करण तो डॉ० कुन्हनराज द्वारा मद्रास विश्वविद्यालय से सन् १९३१ में प्रकाशित किया गया है, जिस के अन्त में विस्तृत पाठभेद, टिप्पणियां तथा उद्धृत वेदमन्त्रों की सूची दी गयी है। अन्त में माधवभट्ट (वेङ्कट माधव से भिन्न) द्वारा विरचित उपोद्घात सहित आख्यातानुक्रमणी तथा नामानुक्रमणी भी जोड़ दी गयी है।

द्वितीय संस्करण हिन्दी व्याख्या सहित पं० जयदेव शर्मा द्वारा स्वाध्याय मण्डल, औंध, से सं० १९९८ (सन् १९४१) प्रकाशित किया गया है, जिस में वेङ्कटमाधव तथा माधवभट्ट में भेद करने का कोई प्रयास नहीं किया गया तथा उपोद्घात सहित माधवभट्ट के नाम से प्रसिद्ध आख्यातानुक्रमणी तथा नामानुक्रमणी

---

[1] वही, ८, ३, १०—११।

[2] विस्तृत विवेचनार्थ द्र० ऋग्वेदानु०, जयदेवशर्मा कृत हिन्दी अनुवाद, प्रथम भाग, पृ० १५६-१५८।

भी वेङ्कटमाधव-कृत ही मान ली गयी हैं तथा इस समेत १२ अनुक्रमणियों का कर्ता भी उसे ही समझ लिया गया है,[1] जो अधिकांश विद्वानों को मान्य नहीं है। इस के द्वितीय भाग में आख्यातानुक्रमणी तथा नामानुक्रमणी के विषय में विवेचन करने का वचन दिया गया है। किन्तु यह भाग मुझे मिल नहीं सका, अतः उस के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

परिशिष्ट साहित्य

परिशिष्ट अथवा पूरक रचनाएं प्राचीन संस्कृत साहित्य का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, ये रचनाएं तीन प्रकार की हैं। कुछ तो सर्वथा स्वतन्त्र कृतियाँ हैं, कुछ मूल रचनाओं में सम्मिलित है तथा कुछ ऐसी भी है, जिनके वास्तविक स्वरूप के विषय में कुछ भी निर्णय करना कठिन है।

परिशिष्ट रचनाएं बहुत प्राचीन भी हैं और नवीन भी। ऋग्वेदस्य खिल सूक्त इसी प्रकार समय के साथ संगृहीत होते रहे और अन्त में संहिता के अन्त में जोड़ दिये गये। माध्यन्दिन तथा काण्व संहिताओं के कुछ भाग परिशिष्ट माने जाते हैं। सामवेद-सम्बन्धी **ऊह गान** तथा ऊह्य गान भी उत्तरकालीन परिवर्धित अंश ही है। अथर्ववेद के ७४ परिशिष्ट हैं, जिनमें अभिचार कर्म तथा गृह्य कर्म प्रतिपादित हैं। ब्राह्मण साहित्य में भी परिशिष्ट हैं। शतपथ ब्राह्मण के १४ में से पाँच काण्डों को उत्तरकालीन परिवर्धन माना जाता है। श्रौतसूत्रों में बौधायन श्रौतसूत्र के द्वैध; **कर्मान्त, प्रायश्चित्त** तथा कुछ और भाग परिशिष्ट ही हैं। इस सूत्र के २३वें प्रश्न की १९वीं कण्डिका परिवर्धित है, क्योंकि (१) बहुत से हस्तलेखों में यह उपलभ्य नहीं है, (२) १८वीं कण्डिका के अन्तिम शब्दों को दुहराया गया है, जिससे पता चलता है कि यही अन्तिम कण्डिका थी, (३) बोधायन और शालोकि के जो मत यहां प्रस्तुत किये गये हैं, वे अन्यत्र प्रतिपादित मतों से भिन्न हैं, (४) भव स्वामी ने इस पर अपना विवरण नहीं लिखा। श्रौतसूत्रों से सम्बद्ध **हौत्र सूत्र** भी परिशिष्ट ही हैं।

गृह्य सूत्रों के भी परिशिष्ट हैं। आश्वलायन गृह्य तथा श्रौत दोनों से सम्बम्द्ध एक परिशिष्ट कुछ समय पूर्व के० पी० ऐथल ने प्रकाशित किया है (बि० इण्डि०, निर्णयसागर प्रेस, आनन्दाश्रम से छपे से भिन्न)। बौधायन गृह्यसूत्र के अन्त में भी एक **शेष सूत्र** है, सत्याषाढ़ और शांखायन गृह्यसूत्रों (शां० गृ० अध्याय ५-६; १ अध्याय २६वीं कण्डिका) में भी परिशिष्ट पाये जाते हैं। गो० गृ० का गोभिल संग्रह परिशिष्ट, तथा छान्दोग्य परिशिष्ट या **कर्म प्रदीप,**

---

[1] द्र. जयदेवशर्मा कृत संस्करण, उपोद्घात, पृ० ८।

द्राह्यायण गृह्यसूत्र कै दो प्रपाठक (कैलैण्ड, पञ्च० ब्रा० भूमिका, पृ० ९), वैखानस गृह्यसूत्र (वैखा० श्रौ० सू०, कैलैण्ड भूमिका, पृ० २९) गौ० ध० सू०, यास्ककृत निरुक्त (१३वां १वां अध्याय) सभी के परिशिष्ट इस प्रकार की रचनाओं का महत्त्व प्रकट करते हैं।

किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ये सभी परिशिष्ट अर्वाचीन हैं। इनमें बहुत से मूल रचना के समसामयिक भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, बौ० श्रौ० सू० के **कर्मान्त** की सभी विधियां उत्तरकालिक नहीं कही जा सकतीं। यही बात उन सभी प्राचीन सूत्रों के परिशिष्टों के विषय में भी कही जा सकती हैं, जो वैज्ञानिक या व्यवस्थित ढंग से नहीं रचे गये,[1] मूल में प्रतिपादित विषयों का उपबृंहण किया गया है, या वे जिनमें सर्वथा नवीन विषयों का समावेश किया गया है। का० श्रौ० सू० के परिशिष्ट **यूप लक्षण**, **छाग लक्षण** प्रभृति तो मूल में प्रतिपादित विषयों का उपबृंहण करते हैं, जबकि **आपस्तम्ब हौत्र परिशिष्ट** सर्वथा नवीन विषयों का प्रतिपादन करता है, तो भी हौत्र, प्रवर, शुल्ब तथा प्रायश्चित्त सम्बन्धी परिशिष्टों को नवीन कल्पना समझना उचित नहीं है, क्योंकि इनके विषय उतने ही प्राचीन हैं, जितने कि स्वयं श्रौतसूत्र। यह सम्भव है कि इनको सूत्ररूप बाद में प्रदान किया गया हो[2]।

सर्वथा नवीन कृत्यों के प्रतिपादक परिशिष्ट भी हैं, जो ऐसे कर्मों का विधान करते हैं, जो धीरे-धीरे समाज में बद्धमूल हो चुके थे, किन्तु जिनका मूलसूत्र में विधान नहीं किया गया था। बौ० श्रौ० सू० में ही ऐसे कृत्यों का उल्लेख किया गया है, जिनके लिए तैत्तिरीय शाखा में न तो कोई मन्त्र है, न ब्राह्मण में विधान है। सूत्रकारों ने ऐसे बद्धमूल कृत्यों का समावेश अपने सूत्रों में कर लिया, जिनके लिए उस शाखा में कोई प्रामाणिक वचन नहीं भी था[3]। कात्यायन श्रौतसूत्र के मूल्याध्याय परिशिष्ट में उन दक्षिणाओं के प्रतिनिधि बताये गये हैं, जिनका देना असम्भव हो गया था।

ऋग्वेद के खिलसूक्त

शाकलशाखा के परम्परागत **सिद्ध** मन्त्रों के अतिरिक्त परम्परागत ही **परिशिष्ट** मन्त्रों को **खिलानि** कहा जाता है। इन मन्त्रों को किसी भी ऋग्वेदीय

---

[1] काशीकर, भार० श्रौ० सू०, भाग १, भूमिका, पृ० ८७।

[2] वही०।

[3] वही. पृ० ८८।

शाखा से सम्बद्ध न कर सकने के कारण ही इनको परिशिष्ट के रूप में संहिता के अन्त में रखने की परिपाटी है। खिलों की संख्या के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना कठिन है। मैक्समूलर के ऋग्वेद के संस्करण[1] में ३२ खिलों को प्रकाशित किया है, जिसमें से कुछेक सस्वर हैं और कुछ बिना स्वर के। थि० ऑफ़ेख्त के संस्करण[2] में २५ हैं, जिनमें कुछेक मैक्समूलर के संस्करण से भिन्न हैं। बम्बई संस्करण[3] में राजाराम शास्त्री ने बहुत से सूक्त **परिशिष्ट** के नाम से प्रकाशित किये। इसी प्रकार अन्य संस्करणों में भी खिलों को प्रकाशित किया गया[4]। इन संस्करणों में संहिता में खिलों के स्थान का निर्देश कर दिया गया है। इन सब से महत्त्वपूर्ण तथा विस्तृत खिलसंग्रह को डा० बूह्लर ने १८७७ ई० में कश्मीर से खोज निकाला था, जिसको डा० जे० शेफ्तेलोवित्स ने 'एपोक्रिफेन डेस ऋग्वेद' के नाम से प्रकाशित किया[5]। इसमें सभी खिल पांच अध्यायों में विभक्त हैं, प्रत्येक अध्याय पुनः वर्गों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में एक खिलानुक्रमणी दी गयी है। इसमें दी गयी सूचनायें ब्राह्मणों, ऋक्प्रातिशाख्य, बृहद्देवता, ऋग्विधान, श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों की सूचनाओं से मेल खाती हैं। इन खिलों को ऋग्वेद के पूना संस्करण में सन् १९४६ में प्रकाशित किया गया है।

खिल शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम शौनककृत अनुवाकानुक्रमणी तथा आर्षानुक्रमणी में किया गया है। यद्यपि इनको संहिता के मूलभाग में स्थान नहीं दिया गया, तो भी सांहितिक सूक्तों में इनकी स्थिति परम्परा से निर्धारित कर दी हुई है।

ये खिल वैदिक-काल के हैं, जिनका उल्लेख ब्राह्मणों में हो चुका है। यथा—**नकुल सूक्त**, **कुन्ताप**, **बालखिल्य** और कर्मकाण्ड में इनका विनियोग निर्धारित है। इनमें कई तो ऋग्वेद के प्राचीनतम काल को स्पर्श करते हैं। यथा—**पुरोरुच्**, **निविद्**, **प्रैष**[6] और बहुत से सूक्त ऋग्वेद के अन्तिम कांठे से सम्बन्धित कहे जा सकते हैं। यथा—**महानाम्नी**, **बालखिल्य**, **कुन्ताप**। कई ऐसे हैं, जिनसे यजुर्वेदीय सूक्तों का ज्ञान प्रकट होता है, यथा, **सुभेषज सूत्र**। इनमें बहुत से सूक्त तो ब्राह्मणकालीन कर्मकाण्ड के स्थिरीकरण से पूर्वकालिक हैं। कुछ ऐसे हैं, जिनका

---

[1] द्वितीय सं० १८९०-९२, आक्सफोर्ड।

[2] द्वितीय सं०, बॉन, १८७७।

[3] १८१०-१२।

[4] निर्णयसागर सं०, १८९१; सातवलेकर के सं०, औंध, १९४०, में ३६ खिल हैं।

[5] बॉन से १९०६ ई० में (Apokryphen des Rgveda).

[6] चि०ग० काशीकर, ऋग्वेद, पूना, भाग ४, पृ० ९०१।

कर्मकाण्ड से सीधा सम्बन्ध है। यथा—**मेधासूक्त** का सम्बन्ध उपनयन संस्कार से से है, **सुभेषज सूक्त** से गोपथ ब्राह्मण[१] परिचित है। **श्रीसूक्त** का सम्बन्ध श्री तथा लक्ष्मी की पूजा से है।

इनमें बहुत से सूक्त या पदकार शाकल्य से प्राचीन हैं तथा उनके समय में पवित्र माने जाते हैं[२], फिर भी इन का पदपाठ नहीं लिखा गया। इस का कारण यह हो सकता है कि ये खिलसूक्त अन्य शाखाओं से सम्बन्धित थे, जिनके मन्त्रों की संख्या में ही अन्तर नहीं था, अपितु उनके क्रम में भी अन्तर था।

खिलसूक्तों के पञ्चम अध्याय में **पुरोरुचों, निविदों** तथा **प्रैषों** का ऋग्वेद में कोई विशेष स्थान निर्दिष्ट नहीं है। ये सभी ऋग्वेद के सर्वप्राचीन समय की रचनाएं हैं। **निविद्** तो ऋग्वेद के भी कुछेक सूक्तों से प्राचीन हैं,[३] क्योंकि स्वयं ऋग्वेद में निविद् शब्द का प्रयोग इन्हीं गद्य रचनाओं के लिए किया गया है। **प्रैषों** को अतिप्राचीन काल से ही ऋग्वेद का परिशिष्ट माना जाता रहा है[४]।

पुरोरुचों का भी रचनाकाल **निविदों** और **प्रैषों** का ही समसामयिक है[५]। हिल्लेब्राण्ट तथा शैफ्तेलोवित्स का यह विचार मान्य नहीं हो सकता कि कर्मकाण्डीय मन्त्रों की रचना सांहितिक मन्त्रों की रचना से सर्वथा स्वतन्त्र थी और जिन खिल सूक्तों को ऋग्वेद संहिता में स्थान नहीं मिला, वे अवश्य ही कर्मकाण्ड से सम्बद्ध थे, क्योंकि बहुत से अतिप्राचीन खिलसूक्त ऐसे भी हैं, जो यद्यपि ब्राह्मणों, श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में कर्मकाण्ड से सम्बद्ध कर दिये गये हैं, तो भी उन का एतदर्थ प्रयोग गौण ही है।

यद्यपि बहुत से खिल मन्त्रों के प्रतीक को उद्धृत करने की परिपाटी पुरानी है, तो भी अनेक ऐसे सूक्त भी हैं, जिनको आश्वलायन तथा शांखायन सूत्रों में सम्पूर्ण उद्धृत किया गया है[६]। इससे यही परिणाम निकलता है कि सभी

---

[१] ५, २१।

[२] गेल्डनर के विचार में तो शाकल्य याज्ञवल्क्य तथा आरुणि के समसामयिक थे, किन्तु कीथ इस विचार से सहमत नहीं हैं। वह पदकार को और अर्वाचीन मानने में ओल्डनबर्ग के तर्कों से सहमत हैं (Hymnen des Ṛgveda, Band 1 p. 384 ff) *J.R.A.S.* 1907, p. 226.

[३] शेफ्तेलोवित्स, *Z.D.M.G.*, 73, p. 30-51.

[४] ऋग्वेदप्रा० १, ५७, बृ० दे० ८, १०३ ; निरुक्त ८, २२।

[५] द्र० वही, *Z.D.M.G.*, 74, p. 204-207।

[६] यथा, २, १५; ३, १७ ; ४, १४।

खिलसूक्तों की मान्यता समान नहीं थी, किन्तु किसी न किसी शाखा ने इन खिलसूक्तों को भी मान्यता प्रदान की होगी, तो भी शाकलशाखा ने इनको पवित्र मानकर अपनी संहिता में सुरक्षित रखा है। इसी कारण अतिप्राचीन काल में इनको खिल न कहकर ऋचाओं की ही संज्ञा दी गयी है।

यद्यपि **खिलानुक्रमणी** में निर्दिष्ट सभी खिलों की सत्ता आरण्यकों के काल में थी और इन में से बहुत से उद्धरण भी दिये गये हैं, तो भी **खिलसंज्ञा** का उल्लेख उस समय कहीं नहीं मिलता[१]। अनुवाकानुक्रमणी[२] तथा आर्षानुक्रमणी, जो शौनक के नाम से प्रसिद्ध है, **खिल** शब्द का प्रयोग करती हैं। आर्षानुक्रमणी में तो **खिल** सूक्तों के ऋषि का नाम गौतम वामदेव कहा गया है[३]।

धर्मशास्त्र काल में खिलसूक्तों की पवित्रता उतनी नहीं मानी गयी[४]। षड्गुरुशिष्य को भी बारहवीं शती में **खिलों** के विषय में अधिक ज्ञान नहीं था[५]। बाद में तो लोगों ने उन लोक-प्रचलित सूक्तों को भी खिलों के अन्तर्गत मानना आरम्भ कर दिया, जिनमें अर्वाचीन लोकधर्मों (नागपूजा, दुर्गापूजा) से सम्बद्ध मन्त्र निहित थे। परिणामस्वरूप कई प्राचीन **खिलसूक्त** भी आधुनिक सूक्तों की मिलावट से अछूते नहीं रह सके[६]।

आश्वलायनमन्त्रसंहिता

श्रौत तथा गृह्यकर्मों में विनियुक्त वेदमन्त्रों का निर्देश सूत्रों में प्रायः प्रतीक-रूपेण किया जाता है। मन्त्रसंहिताओं में इन प्रतीक-निर्दिष्ट मन्त्रों का सम्पूर्ण पाठ प्रस्तुत करके उनका यज्ञ में प्रयोग सुगम कर दिया गया है।

आश्वलायनगृह्य तथा श्रौतसूत्रों में प्रतीक-निर्दिष्ट मन्त्रों का समग्रपाठ आश्वलायन मंत्रपाठ में किया गया है। आश्वलायन मन्त्रसंहिता के नाम से अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

(१) **आश्वलायन शाखोक्त मन्त्र संहिता**[७]—इसमें आश्वलायन गृह्यसूत्र में प्रतीक-निर्दिष्ट मन्त्रों का समग्र पाठ में दिये गये मंत्रों का भी संग्रह

---

१. द्र० ऋग्वेद, पूना सं०, भाग ४, पृ० ९०६।

२. श्लोक ७, १७; ३६, ३९।

३. आर्षानु० १०, १०२।

४. तु० मनु० ३, २३२।

५. तु० सर्वानु० १, ९९।

६. २, १; ६; १२।१४; ३, १०; १२; १७; ४, २०।

७. मैक्समूलर, एच० एं० एस० एल० पृ० ४७४।

नहीं किया है। इसमें ऐसे विषयों के सम्बद्ध मन्त्रों का भी संग्रह किया है जो आश्व० गृ० सू० के बहुत बाद में कर्मकाण्ड में प्रविष्ट हुए। यथा—**नवग्रहमन्त्राः, सर्वतोभद्रमण्डलदेवतामन्त्राः।**

(२) पूना से प्रकाशित **आश्व० मन्त्रसंहिता** सन् (१८८४)। इसमें भी गृह्यसूत्रों में निर्दिष्ट गृह्यकर्मों से पश्चात्कालीन कर्मों से सम्बद्ध मन्त्रों का सङ्कलन है।

(३) ऑफ़ेख़्त द्वारा उल्लिखित **गृह्यमन्त्रसंहिता**[1]— इसमें ऋग्वेदियों द्वारा उन गृह्यकर्मों में प्रयुक्त मन्त्रों का संग्रह है, जिनका उदय बहुत पीछे हुआ।

(४) **ऋग्वेदस्य मन्त्रसंहिता**[2]— यह भी अर्वाचीन रचना है।

(५) **आश्वलायन संहिता**—इण्डिया आफिस पुस्तकालय में से सुरक्षित हस्तलेख। यह एक ऐसी रचना है, जिसमें आश्व० श्रौत तथा गृह्यसूत्रों में प्रतीकेन निर्दिष्ट सभी ऋग्वेद मंत्रों का समग्र पाठ दिया गया है। इसमें ऋग्वेद के कुछ-एक खिलसूक्तों के पाठ मैक्समूलर के संस्करण में दिये गये **खिलसूक्तों** से भिन्न हैं[3], जो श्रौत तथा गृह्यसूत्रों के पाठालोचन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस रचना के समग्र पाठ में पठित ऋग्वेदीय मन्त्रों का क्रम संहितानुसारी है तथा संहिता स्थल-निर्देश अष्टकों तथा अध्यायों से किया गया है। ऐसा विभाजन अपेक्षाकृत अर्वाचीन काल का द्योतक है[4]।

आश्वलायन गृह्यपरिशिष्ट

आश्वलायन गृह्यपरिशिष्ट के नाम से दो कृतियां प्रसिद्ध हैं। एक तो आश्व० गृ० सूत्र के अन्त में कई बार मुद्रित हो चुकी हैं, द्वितीय, १९६४ ई० में के० पी० ऐथल ने अड्यार लाईब्रेरी से प्रकाशित की है। हम यहां इसी द्वितीय रचना की चर्चा करेंगे।

यद्यपि परम्परा के अनुसार शौनक ने स्वरचित सूत्रों को नष्ट कर दिया था और उनके स्थान पर अपने शिष्य आश्वलायन की रचनाओं को प्रचारित-प्रसारित किया था, तो भी शौनक के नाम से प्रसिद्ध अनेकानेक उद्धरण धर्मशास्त्रों में उपलब्ध होते हैं, जिनके स्रोत का पता नहीं चलता। तो भी इससे इतना अवश्य

---

[1] कैटालागस० भाग १, पृ० ५६ (१८९१)।

[2] आर० जी० भण्डारकर द्वारा संगृहीत सं० हस्तलेख, भाग १ (१८९३), बम्बई।

[3] तथा औफ़ेख़्त सं०, तथा Die Apokryfen des Ṛgveda by Dr. Scheftalowitz के पाठों से भी ये पाठ भिन्न हैं।

[4] द्र० वी० एम० आप्टे, ए० बी० ओ० आर० आई०, भाग २० (१९३८-३९), पृ० २५०।

प्रतीत होता है कि शौनक का भी कोई न कोई सूत्र प्रसिद्ध रहा है। यह भी विचित्र बात है कि शौनक के नाम से उद्धृत गद्य उद्धरणों में से अधिकांश या तो आश्वलायन के श्रौत और गृह्यसूत्रों में खोजे जा सकते हैं या इस परिशिष्ट में।[1] अतः यह सम्भव है कि एक ही रचना दोनों के नाम से प्रसिद्ध हो गयी हो। वैसे आश्व० सूत्रों के सर्वप्राचीन व्याख्याता देवस्वामी के अनुसार श्रौतसूत्र तो शौनक की रचना है और गृह्यसूत्र आश्वलायन की[2], किन्तु इसकी पुष्टि के लिये और प्रमाणों की अपेक्षा है। प्रस्तुत रचना में से सात वचन तो शौनक के नाम से उद्धृत किये गये हैं और पचास से ऊपर आश्वलायन के नाम से। अतः हम अनुमान लगा सकते हैं कि यह रचना आश्वलायन अथवा उनकी परम्परा में किसी आचार्य की कृति हो सकती है।[3]

आश्व० श्रौ० सू० की व्याख्या में गार्ग्यनारायण ने वहां वारीति **पवित्रेष्टि** को प्रक्षिप्त माना है, जिसके कारण सूत्र में असंगतियां उत्पन्न हुई हैं, जो इस परिशिष्ट में वारीति पवित्रेष्टि से दूर की जा सकती हैं[4]। अतः यह रचना प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण है। इसका महत्त्व इससे भी सिद्ध होता है कि कम से कम दसवीं शती के उपरान्त अनेकों स्मृतिव्याख्याताओं तथा धर्मशास्त्रनिबन्धकारों ने अनेकों गद्य-पद्यमय वचनों को अनेकबार उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त इसमें प्रतिपादित विषयों तथा कृत्यों का विधान उत्तरवर्ती अनेकों आचार्यों ने किया है, जिनके लिए इस शाखा में अन्य कोई स्रोत उपलभ्य नहीं है।

इस रचना से अनेकों उद्धरण धर्मशास्त्रों तथा निबन्धों में दिये गये हैं, किन्तु उनके अर्थों के विषय में सर्वत्र समानता नहीं पायी जाती, न ही सर्वत्र पाठ एक-सा पाया जाता है, जिससे प्रतीत होता है कि लेखकों में से बहुतों को इसका सीधा परिचय नहीं था। इसीलिए इसके नाम भी अनेक प्रसिद्ध हो गये हैं—यहां तक कि एक ही लेखक एक ही पृष्ठ पर इसे **शौनकीय परिशिष्ट** भी कहते हैं और **बह्वृच परिशिष्ट** भी। बहुत से उद्धरणों का पाठ मनमाने ढंग से परिवर्तित कर दिया गया।

इसी नाम से एक और परिशिष्ट भी प्रसिद्ध है, जिसके उद्धरण भी निबन्धकारों ने प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किये हैं और अनेक अवस्थाओं में इन दोनों परिशिष्टों में कोई अन्तर नहीं किया है। आधुनिक लेखक—चाहे

---

[1] ऐथल, आश्व० गृ० परि, भूमिका, पृ० १२।

[2] पूर्वे द्वादशाध्यायाः शौनकस्य कृतिः, अमी चत्वार आश्वलायनस्य कृतिः (आश्व० गृ० भाष्य, पृ० २ अड्यार संस्करण)।

[3] ऐथल, वही पृ० १३।

[4] ऐथल, वही, पृ० ६-९।

भारतीय हों या अभारतीय—कृत्यों से सम्बद्ध और गृह्यसूत्र में अनुपलभ्य जानकारी के विषय में इस दूसरे परिशिष्ट का ही प्रयोग करते हैं[1]।

केवल कैलेण्ड ने इससे भिन्न एक अन्य परिशिष्ट की सत्ता की ओर संकेत किया था[2]। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से इन दोनों में कोई समानता नहीं है। यह परिशिष्ट केवल गद्य में है तथा प्रयोग या पद्यादि के रूप में लिखा गया है तथा केवल गृह्यविषयों का प्रतिपादन करता है। जबकि प्रस्तुत गृह्यपरिशिष्ट श्रौत और गृह्य दोनों विषयों का प्रतिपादक है। प्रस्तुत आश्व० परि० में ३० विषयों का तथा इस दूसरे गृह्यपरि० में केवल सात विषयों का व्याख्यान किया गया है।

आश्व० परि० के ३० विषय ३० कण्डिकाओं या खण्डों में प्रतिपादित हैं। इन में ६ तो केवल पद्य में हैं, १४ गद्य में हैं तथा १० गद्यपद्यात्मक हैं। पद्यों की संख्या प्राय: ८० है। इस परिशिष्ट में विषय-व्यवस्था अथवा क्रम का अभाव पाया जाता है।

संक्षेप में विषय ये हैं—

श्राद्ध में ब्राह्मण निमन्त्रण, अंगुष्ठग्रहण, आभ्युदायिक श्राद्ध, होमविधि, विवाहगर्भाधान, पुंसवन, वेदारम्भ, अग्निपरिग्रहण, पवित्रेष्टि, अन्त्येष्टि, त्रिविधश्राद्ध, सपिण्डीकरण, पिण्डदान वृषोत्सर्ग गृहातिथ्यकल्प, वापीकूपतडाग यज्ञ (वारुणविधि), अरणीनाश का प्रायश्चित्त।

व्याख्या—अभी तक इस की कोई व्याख्या प्रकाश में नहीं आयी।

संस्करण—के. पी. ऐथल द्वारा अड्यार से प्रकाशित, सन् १९६४।

आश्वलायन गृह्यपरिशिष्ट

इस नाम के दो परिशिष्ट प्रसिद्ध हैं, एक की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, जिसका कर्ता आश्वलायन माना गया है[3]। एक अन्य परिशिष्ट भी इसी नाम से प्रसिद्ध है, जिसके कर्ता के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है[4] तो भी नवीन निबन्धकारों ने इससे प्रचुर उद्धरण दिये हैं। किन्तु विज्ञानेश्वर, लक्ष्मीधर, अपरार्क वेवण भट्ट, हेमाद्रि तथा माधवाचार्य जैसे प्राचीन आचार्यों ने इसको उद्धृत नहीं किया।

---

१. द्र० हिल्लेब्राण्ट, रिच्वल लिट्० ; काणे, हि० ध० शा०।

२. आल्टि० आहनेन (Altindischr Ahnencult) पृ० १३८।

प्र० के० पी० ऐथल, आश्व० गृ० परि०, भूमिका, पृ० १३।

४. आश्व० गृ० सू० के अन्त में बि० इण्डिका के अन्तर्गत सन् १८६९ में प्रकाशित हुआ था, फिर निर्णयसागर बम्बई से १८९४ में, आनन्द०, पूना, १९३६ में।

प्रयोग पारिजात के कर्ता नृसिंह ने सर्वप्रथम इसे उद्धृत किया प्रतीत होता है[१], जिसने प्रथम परिशिष्ट को **गृह्य परिशिष्टान्तर** कह कर उद्धृत किया है। अर्वाचीन लेखकों ने इन दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं किया है। आधुनिक विद्वानों ने गृह्य तथा धर्मसूत्रों के विषय पर लिखते हुए इसी आलोच्य रचना को ही आधार माना है। पूर्वोक्त आश्वलायनीय रचना का प्रकाशन कुछ ही वर्ष पूर्व हुआ है। केवल कैलैण्ड ने श्राद्ध के विवरण[२] में कल्पना की थी कि आश्वलायनीय परम्परा में एक अन्य परिशिष्ट होना चाहिए, जिसे हेमाद्रि प्रभृति उद्धृत करते हैं। यह गृह्य परिशिष्ट गद्यात्मक रचना है और गृह्यसूत्र के समान ही इसमें चार अध्याय हैं, किन्तु गृह्यसूत्र से कम से कम तीन गुणा विस्तृत है। भाषा-शैली तथा रचना-पद्धति में यह परिशिष्ट न होकर गृह्यकर्मों की **पद्धति** या **प्रयोग** कहा जा सकता है तथा कर्मकाण्ड में सहायक है। यद्यपि इसके आरम्भ में इसे श्रौत तथा गृह्य दोनों से सम्बद्ध घोषित किया गया है, तो भी यह श्रौत विषयक **पवित्रेष्टि** का ही विवरण प्रस्तुत करता है, न ही यह पूर्वोक्त परिशिष्ट से परिचित प्रतीत होता है, जिसके ३० विषयों में से इसमें केवल सात विषयों का प्रतिपादन किया गया है। यह रचना अपेक्षाकृत अर्वाचीनकालिक कृति है। इस रचना में वर्णित विषयों में **वैवाहिक होम**, **चतुर्थी कर्म**, **नामकरण**, **गर्भलम्भन**, **अनवलेभन**, **गृह्याग्नि**, **वृषोत्सर्ग**, **अन्त्येष्टि**, **श्राद्ध**, **गृह्यायामातिथ्यकल्पनम्**, **वापी**, **कूप**, **तडाग**, **यज्ञ** का विवरण सम्मिलित हैं, इनमें से कुछेक कर्म, यथा, वृषोत्सर्ग गृह्यातिथ्य तथा वापी-कूप-तडाग, यज्ञ, आश्व० गृ० सू० में प्रस्तुत नहीं किये गये और केवल यहीं प्रतिपादित हैं, किन्तु अन्य विषयों का प्रतिपादन मूल सूत्र में किया गया है। इस रचना में कोई मौलिकता दृष्टिगोचर नहीं होती। जिन नवीन विषयों का प्रतिपादन भी किया गया है, वे भी अन्य ग्रन्थों से ही लिये गये हैं। यथा **चतुर्थी कर्म**, **गर्भलम्भन** तथा **अनवलेभन** का प्रतिपादन मुख्यतया शां० गृ० सूत्र (१, १८-२१) के आधार पर किया गया है। उन्नीसवीं कण्डिका जिसमें उस व्यक्ति का पुतला बनाने की चर्चा की गयी है, जिसका शव उपलब्ध न हो सका हो। कौषी० गृ० सू० (५, ५-६) का पद्यात्मक संस्करण मात्र है (तु० शां० श्रौ० सू० ५, १५, ९-२२) **गृहातिथ्य** कर्म (आग्निवेश्य गृ० सू० २, ५, १) से प्रायः शब्दशः मेल खाता है। इस प्रकार इस रचना की मौलिक देन कुछ भी नहीं है।

---

[१] प्रयोग पारिजात (मैसूर) पृ० १०६२।

[२] Altindisher Ahnencult, Leiden, 1893, p. 138.

षट्त्रिंश अध्याय

ऋग्वेदमंत्रसंहिता

ऋग्वेदीय गृह्यकर्म में विनियुक्त मन्त्रों का संग्रह इसमें किया गया है ।

स्वस्तिवाचन, नान्दी श्राद्ध, उत्सर्जन, स्थालीपाक, उपाकर्म-सम्बन्धी मन्त्रों के अतिरिक्त **पर्जन्य सूक्तों, शान्तिसूक्तों, रात्रिसूक्तों, रक्षोघ्नसूक्तों, शिवसंकल्प मन्त्रों, श्रीसूक्त, विष्णु सूक्तों, सरस्वतीसूक्त, रूपसूक्तों** का भी संकलन किया गया है । इनमें शिवसंकल्प के ६ मन्त्र (वा० सं० ३४, १-६) सिद्ध करते हैं कि यह मिश्र संकलन है । इन नाना प्रकार के मन्त्रों के नाना विनियोगों का विधान पाया जाता है ।

इनके अतिरिक्त शुद्ध गृह्यकर्मों तथा संस्कारों से सम्बद्ध मन्त्रों का भी संकलन यहां किया गया है । **गर्भाधान मन्त्र, इष्टि प्रायश्चित्त** आदि में प्रयोक्तव्य मन्त्र **पुंसवन, जातकर्म, चूड़ाकर्म, उपनयन, मेधाभरण, समावर्तन** संस्कारों के अतिरिक्त देवपूजा सम्बन्धी, **देवसंज्ञक मन्त्र, गायत्रीय मन्त्र, पुष्पमन्त्र, विवाहमन्त्र, आयुपदान्त मन्त्र, बृहस्पतिमन्त्र, औषधिसूक्त, देवीसूक्त, व्रतशान्त्यर्चा** में विनियोज्य मन्त्र, **श्रद्धासूक्त,** हिरण्यकेशीय **नवग्रहमन्त्र,** ब्राह्मणखण्ड, वैवाहिक गृह्यसूत्रखण्ड, श्राद्धोक्तखण्ड, प्रकीर्णमन्त्र, अन्त्येष्टि प्रयुक्त मन्त्र, निरुक्तरखण्ड प्रभृति अनेक प्रकार के विषय इसमें संकलित हैं । निश्चय ही यह अपेक्षाकृत अर्वाचीन संग्रह रचना है ।

संस्करण—निर्णय सागर प्रैस, बम्बई से प्रकाशित ।

ऋग्विधान

अथर्ववेदीय अभिचारमन्त्रों के आधार पर जादू-टोनों या अभिचारकर्म के प्रादुर्भाव को अपेक्षाकृत अर्वाचीन प्रवृत्ति का सूचक समझना भूल होगी । ऋग्वेद में भी ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जो विशुद्ध धार्मिक भावना से भिन्न जादुई या अभिचार भावना को व्यक्त करते हैं, जिनमें इन्द्र प्रभृति दैवी शक्तियों से लोगों अथवा शत्रुओं से मुक्ति दिलाने की प्रार्थना ही नहीं की जाती, अपितु मन्त्रबल से उन्हें समन्वित क्रियाकलाप के द्वारा बाध्य करने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है । यह क्रियाकलाप अवश्य ही श्रौतसूत्रों में वर्णित सोमयाग सम्बन्धी कर्मकाण्ड से बहुत भिन्न है ।

ऋग्विधान इसी प्रकार की क्रियाओं में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का संग्रह है, जिसका प्रथम विदेशीय संस्करण रूडोल्फ मेयर द्वारा सन् १८७८ में बेरोलिनी से प्रकाशित किया गया था और जे० गोण्डा द्वारा इसका सटिप्पण आँग्लानुवाद १९५१ में यूट्रिच विश्वविद्यालय से प्रकाशित किया गया।

श्लोकबद्ध यह रचना उन लोगों के लिये सारसंग्रह का काम देती है, जो धर्माभिचारमिश्रित कर्मकाण्ड के द्वारा धन-सम्पत्ति, लौकिक लाभ, सन्तान या विजय, स्वर्गीय सुख—यहां तक कि मुक्ति भी प्राप्त करने के इच्छुक हैं। इसमें प्रतिपादित क्रियाकलाप की सहायता से अनेक प्रकार के दूषणों, राक्षस पिशाचों, भय तथा रोगों, अकाल मृत्यु, व्यक्तियों तथा अपशकुनों के दुष्परिणामों से छुटकारा पाया जा सकता है। शत्रु तथा प्रेयसी को वश में करने तथा अनेक प्रकार के धार्मिक कृत्यों को सफल बनाने के उपाय भी इसमें वर्णित हैं। इस प्रकार अनेक फलों को प्राप्त करने के लिए विधेय कर्मों तथा विनियोज्य मन्त्रों की तालिका के रूप में इस छोटी-सी रचना का प्रतिपाद्य बड़ा विस्तृत है। ऋग्वेद से संगृहीत इन मन्त्रों का क्रम भी संहितानुसारी ही है। किन्तु न तो विशेष निमित्तों के लिए चुने गये सूक्त ही सम्पूर्ण रूप में किसी विनियोग में विहित हैं और न ही सभी सूक्तों अथवा मन्त्रों को विनियोज्य मानकर उपयोग में लाया गया है। ऋग्विधान के रचयिता ने अपने समक्ष कुछ प्राप्तव्यों का लक्ष्य रखकर तदर्थ उपयोगी मन्त्रों का चयन किया है[1]।

शौनक की यह रचना उनकी दूसरी रचना बृहद्देवता से बहुत अंशों में समानता रखती है तथा इसी प्रकार की रचनाओं से भी बहुत कुछ मिलती जुलती है, यथा—सामविधान ब्राह्मण एवं अथर्वपरिशिष्टों से इसके अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं तथा गृह्यसूत्रों के समविषयक भागों के क्रियाकलाप भी अनेक अंशों में इसके समानान्तर ही नहीं, अपितु तत्रत्य वचोविन्यास एवं शब्दकोष भी ऋग्विधान के शब्दप्रयोग के उपजीवी हैं[2]। अतः स्पष्ट है कि ऋग्विधान के केन्द्रीय विषय का उद्भव उन लोगों के समाज में हुआ, जो उपर्युक्त रचनाओं में प्रतिपादित विषयों के अध्ययन में संलग्न थे[3]।

ऋग्विधान के अन्य विषयों का सम्बन्ध स्मृति साहित्य से है, जिसमें मानवधर्मशास्त्र प्रमुख है[4]।

---

१. जे० गोण्डा, ऋग्विधान, आंग्लानुवाद, पृ० ४।

२. वही पृ० ४-५।

३. वही, पृ० ५।

४. वही।

इसके कुछ भागों पर वैष्णव सम्प्रदाय का प्रभाव प्रतीत होता है और कुछ श्लोक तान्त्रिक सिद्धान्तों का स्मरण कराते हैं[१]।

अतः वैखानस सूत्रों के समान ऋग्विधान वैदिक सिद्धान्तों तथा परम्पराओं के पौराणिक विश्वासों तथा कर्मकाण्डीय विचारधारा के सम्मिश्रित रूप को प्रकट करता है[२]।

यह रचना यद्यपि दीर्घकालीन विकासोन्मुख विचारधारा को ,प्रस्तुत करती है, तो भी डा० मेयर के समान इसमें बहुत अधिक कूट अथवा प्रक्षिप्त श्लोकों की कल्पना करना उचित नहीं है। पश्चात्कालीन उपबृंहण को प्रक्षेप मानने के स्थान पर समय के अनुकूल विचारधारा का विकास मानना अधिक संगत प्रतीत होता है[३]।

रचनाकाल—ऋग्विधान मूलतः शौनक की रचना है। बृ० दे० से इसके २½ श्लोक मिलते हैं[४] तथा अनेक स्थलों पर इन दोनों रचनाओं में शब्दगत समानता भी पायी जाती है[५]। इसी प्रकार सामविधान ब्राह्मण, जो ब्राह्मण काल के अन्तिम छोर को स्पर्श करता है, से भी ऋग्विधान का शब्दसाम्य पाया जाता है[६]। बृ० दे० का काल अष्टम शती ई० पू० के आसपास कूता गया है[७]। इसके अतिरिक्त पाणिनि (४, ४, ९६) ने 'हृद्य' शब्द का प्रयोग वशीकरण मन्त्र के अर्थ में ऋग्विधान (३, १५, ३), जे० गोण्डा के अनुवाद-अनुसार (३, १५, ५) से ग्रहण किया है[८]। इस प्रकार यह पाणिनि से प्राचीन है तथा बृ० दे० के समकालीन है। अतः इसका रचनाकाल अष्टम शताब्दी ई० पू० सिद्ध होता है।

विषय विवेचन—इस रचना के तीन अध्याय हैं। आरम्भ में कर्ता के कर्त्तव्यों तथा व्रतों का विधान है। कृच्छ्र व्रतों में **प्राजापत्य, अतिकृच्छ्र, सान्तपन, महासान्तपन, शिशुसान्तपन**, तप्त, **यति** तथा **पराकृकृच्छ्रों**[९]

---

[१] वही।

[२] वही।

[३] वही, पृ० ५-६।

[४] मैंकडानल, बृ० दे० उपोद्० पृ० २२।

[५] वही, पृ० २२-२४; कीथ, जे० आर० ए० एस० १९१२, पृ० ७६९।

[६] कीथ, तै० सं० अनु, भूमिका, पृ० १६७।

[७] द्र० बृ० दे० प्रकरण।

[८] ब्लूमफील्ड, अथर्व०, पृ० ७१ ; कीथ, तै० सं० अनुवाद, पृ० १६७।

[९] ऋग्वि० १, ७, २; १, ८, ३।

तथा अनेक प्रकार के **चान्द्रायण व्रतों**[1] का वर्णन है, जिनका उद्देश्य शरीर तथा मन को पवित्र करना है। प्रत्येक कर्म के आदि और अन्त में **अघमर्षण** (ऋग्० १०, ९०) प्रभृति मन्त्रों **व्याहृतियों**, **आपोहिष्ठा** सूक्त (ऋग्० १०,१), **शुद्धवत्यः ऋचः** (ऋग्० ८,८४,७-९) **शवत्यः ऋचः** (ऋग्० ७, ३५), **स्वस्तिमत्यः ऋचः** (ऋग्० ५, ५१, ११-१५) तथा **पावमानी ऋचाएँ** (ऋग्० नवम मण्डल) इन सबका उच्चारण आवश्यक है[2]। मन्त्रों के जप का फल यज्ञ से दस गुणा अधिक है, उपांशु जप का सौगुणा तथा मानस जप का सहस्र गुणा है[3]। कारागार में बद्ध व्यक्ति के लिए शुनःशेप के सूक्तों (ऋग्० १,२४-३०) के जप का विधान है। ऋग्० वि० १, १७, ९ से प्रतीत होता है कि शुनःशेप स्वयं वरुण गृहीत था न कि हरिश्चन्द्र, जैसे कि ऐ० ब्रा० में कहा गया है। तै० सं० (५, २, १, ३) से भी यही सिद्ध होता है। यह सूचना महत्त्वपूर्ण है। ऋग्० (१, ६५-७३) की सहायता से शत्रु को नष्ट तथा वश में किया जा सकता है,[4] किन्तु इन सूक्तों में ऐसी कोई बात पायी नहीं जाती, जिससे इनके ऐसे विनियोग को संगत सिद्ध किया जा सके[5]। पुत्रों, पशुओं, सम्पत्ति, दीर्घायु तथा स्वर्ग-प्राप्ति के लिए सौपर्ण सूक्तों (ऋग्० पूना० सं०, पृ० ९१५ पर मुद्रित) के जप का विधान है, जो सम्भवतः सुपर्णाध्याय[6] पर आधृत है। ऋग्वेद १, १०१ के जप द्वारा बन्ध्या के पुत्र हो सकने की बात कही गयी है[7]। किन्तु इस सूक्त में इन्द्र द्वारा पिप्रु के मारे जाने का उल्लेख है। केवल मन्त्र १ में इन्द्र द्वारा काले (मेघों) के 'गर्भ' में अवस्थित जलों को निकाल फेंकने (निरहन्) का सङ्केत है[8]।

---

[1] ऋग्वि० १, ८, ४-१; ९, ५।

[2] ऋग्वि० १, ३, ४-५।

[3] ऋग्वि० १, १४, ५; मनु० २, ८५।

[4] ऋग्० १, ३०, २।

[5] द्र० जे० गोण्डा, हि० १, २०, २; इसी प्रकार अन्य भी कई विधान हैं, द्र० ऋग्वि० २, २३,३; २,२५,११।

[6] द्र० जे० कारपेण्टियर, दी सुपर्णनागे १९२०, पृ० २०७; तथा मैक्डॉनल, बृ० दे०, भाग २, पृ० ११३।

[7] ऋग्वि० १, २३, ३।

[8] द्र० स्कन्दभाष्य तथा ऋग्वि० पर जे० गोण्डा की टिप्पणी; सर्वानु० में भी इस मन्त्र का नाम **गर्भस्राविणी उपनिषद्** कहा गया है।

ऋग्० १, १८७ से नित्य अन्न की पूजा का विधान है[1]। सर्वानु० में इस सूक्त को **अन्नस्तुति** की संज्ञा दी गयी है[2], जिसकी वाक्शक्ति, स्मरण-शक्ति अथवा अर्जित ज्ञान नष्ट हो गया हो, उसे दो मास तक ऋग्० ३, ५३, १५-१६ का जप करना चाहिये[3]। जमदग्नि ने शक्ति वसिष्ठ से हारे हुए विश्वामित्र को **ससर्परीवाक्** प्रदान की थी। वाल्मीक पर छछून्दरों की पूजा ऋग्० ८, २१ का जप करते हुए भात की बलि से करनी चाहिये[4]।

बच्चे की उत्पत्ति को सरल करने के लिए ऋग्० ५, ७८, ५ के जप का विधान है[5], किन्तु बृ० दे० (५, ८२०) में ऋग्० ५, ७८, ५-९ को 'उपनिषत्स्तुति' की संज्ञा दी गयी है, जबकि सर्वानु० में से इसको 'गर्भस्राविण्युपनिषत्' कहा गया है।

पापी, अयशस्वी तथा अभिशस्त कर्म करने वाले को ऋग्० ६, ७४ का जप करना चाहिये[6]। सूक्त में रोग तथा पाप को दूर करने की प्रार्थना है। मनु ने भी पापों के निवारणार्थ इस सूक्त के जप का विधान किया है[7]। ऋग्वेद १, २२, १५ के जप से बेड़ियों से मुक्ति होती है[8], जबकि मन्त्र में पृथिवी से सुखप्रद तथा निष्कण्टक होने की प्रार्थना की गई है। अथर्व० (१८, २, १०) में इसका तनिक भिन्न प्रकार से अन्त्येष्टि कर्म में विनियोग किया गया है। बेड़ियों का कोई उल्लेख नहीं किया गया और फिर ऋग्वि० (१, १७, ३) में इस मन्त्र का विनियोग कह भी दिया गया है। अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त के लिए ऋग्० १०, ९ के जप का विधान है[9]। यह प्रायश्चित वर्षों तक चलता रहता है[10]।

---

१. ऋग्वि० १, २९, ६ ; तु० मनु० २, ५४ जहां **पूजयन्** का अर्थ टीकाकारों ने भिन्न किया है, द्र० विष्णु धर्म० ३, ८८।

२. तु० बृ० दे० ४, ६२।

३. ऋग्वि० २, ३, १-२।

४. वही, २, १४, ५ ; तु० गो० गृ० ४, ४, ३०—**आखुराज्चोत्करेसु यजेत्**।

५. वही, २, १७, १।

६. वही, २, २४, १।

७. मनु० ११, २५८।

८. वही, २, २८, ५।

९. ३, ४, ५-७।

१०. द्र० मनु० ११, ७३ ; बौधा० ध० सू० २, १, १, ८ ; गौ० ध० २२वां अध्याय, साम० वि० ब्रा० १, ५, १५।

ऋग्० १०, ३४, १ के जादुई प्रभाव से जुए में जिसे चाहे जीत सकने की बात कही गयी है[1] तथा इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र के द्वारा पाँसों से आत्मरक्षा की प्रार्थना तथा शत्रु को फाँसने की विनती की गयी है। इससे सम्भवतः पाँसों के प्रभाव से सदा के लिए छुटकारा पाने की इच्छा व्यक्त होती है[2]।

ताँबे की मूर्ति को विभीतक की अग्नि में तपाकर आधी रात को इस पर तिल तथा सरसों का तेल तथा नमक डाल कर सरकण्डे के पलंग पर बैठकर भयानक आकृति बनाकर, बालों को बिखेर कर एक ऐसे अभिचार कर्म का विधान किया गया है, जिसमें आत्म-रक्त का भी प्रयोग किया जाता है और जिससे राजा, नगर यहाँ तक कि समस्त देश को वश में किया जा सकता है[3]। केशव, नारायण, मधुसूदन प्रभृति की स्तुति (ऋग्वि० ३, २७, १-३) तथा शालिग्राम (अथवा शालग्राम) की पूजा के विधान (वही) तथा बिल्वपत्र, शमी पत्र, कुश, कमल प्रभृति से भगवान् 'हरि' को प्रसन्न करने के विधान (वही ३, ४२, ४) एवं विष्णु के 'चक्रधर' विशेषण (वही ३, ४२, ५) से प्रतीत होता है कि कम से कम इस रचना के ये भाग महाभारत काल के पश्चात्कालीन धर्मपर्क विश्वासों तथा कर्मकाण्ड की ओर सङ्केत करते हैं।

इसके अतिरिक्त ऋग्विधान का एक और संस्करण भी प्रचलित है, जो समय की दृष्टि से बहुत अर्वाचीन प्रतीत होता है। इसमें गायत्री जप के अतिरिक्त गायत्री होम, बिल्ववृक्ष, अश्वत्थ, शिवालय, विष्णु मन्दिर प्रभृति स्थानों पर अयुत, त्र्ययुत, लक्ष, जप अथवा होम अथवा दोनों का विधान विविध प्रकार की सिद्धियों के लिए विशेष मासों का महत्व प्रकट किया गया है। पूर्ववर्णित संस्करण में तो व्यावहारिक महत्त्व के विषयों की प्राप्ति के लिए मन्त्र जाप का विधान किया गया है, किन्तु इनमें चमत्कारिक विषयों को आत्मसात् करने तथा चारित्रिक दोषों के दुष्परिणामों से त्रास पाने की प्रवृत्ति अधिक उजागर हो उठी है।

पितरों[4] इन्द्र (वज्री),[5] वृत्रहा,[6] विष्णु, शिव, किम्पुरुषों[7] से बातें करने,

---

[1] ऋग्वि० ३, १०, १-३।

[2] द्र० J. Gonda, *The socalled regular, humourous and Satirical hymns of the Ṛgveda* ; Leiden, 1948, p. 344.

[3] ऋग्वि० ३, १८, १-४।

[4] ऋग्वि० श्लोक ४४।

[5] वही, २०२।

[6] वही २०७।

[7] वही २१०।

पुत्री संग,[1] स्नुषासंग,[2] क्षत्रिय-वैश्य-स्त्री संग,[3] महिषीदान,[4] कुञ्जरदान,[5] शास्त्र-में विपरीत बुद्धि[6] प्रभृति दूषणों के दुष्परिणामों के निवारणार्थ मन्त्रों के जप का विधान है।

इस प्रकार इस ऋग्विधान का परिप्रेक्ष्य अधिक पौराणिक तथा प्रायश्चित्त अधिक जटिल हो गये हैं। इसमें मन्त्रों का क्रम संहितानुसारी न होकर विषयानुसारी है। दोनों संस्करणों में समान मन्त्रों के विनियोग के विषय में भी मतभेद पाया जाता है। यथा—पूर्वोक्त संस्करण के अनुसार ऋग्० १०, ८३ का विनियोग शत्रुओं की हत्यार्थ विहित है, किन्तु इसमें महिषीदान दोष के निवारणार्थ।

संस्करण—(१) Rudolf Meyer, 1878, Text, Intro. and Notes.

(२) Jagdish Lal Shastri, Critically ed. in Devanagari, 1940, Lahore.

(३) J. Gonda Tr. in Eng. and notes, Utrecht, 1951.

पादविधानम्

षड्गुरुशिष्य ने सर्वानुक्रमणी के स्वरचित भाष्य वेदार्थदीपिका में शौनक द्वारा लिखित ऋग्वेदीय अनुक्रमणियों में पादविधान का भी उल्लेख किया है[7], जो ऋग्वेद के पादों का ब्योरा प्रस्तुत करता है। इसमें उन ३७९ या ३८१ पादों के प्रतीक दिये गये हैं, जो उस समय संशयास्पद माने जाते थे[8] और क्योंकि वैदिक छन्दों का निर्णय भी पादगत अक्षरों पर निर्भर करता है, अत: यह रचना ऋग्वेद के अत्यन्त जटिल छन्दों पर प्रकाश डालने के लिए अत्यन्त उपयोगी तथा परम्परागत प्रमाणित प्राचीन कृति है। इसकी प्रामाणिकता तथा उपयोगिता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि स्वयं षड्गुरुशिष्य ने वेदार्थदीपिका में इसके पांच श्लोक उद्धृत किये हैं, जो मुद्रित रचना में ज्यों के त्यों उपलब्ध होते होते हैं[9]।

---

१. वही ११२।

२. वही १७४।

३. वही १८५, १८५।

४. वही १३३।

५. वही १३६।

६. वही २२७।

७. 'ऋक्पादयोर्विधाने च बार्हद्ददैवतमेव च'।

८. "ऋक्षु पादाः सांशयिका भवन्ति पुराम्नाताश्चादि भवन्ति केचित्" पादविधान, श्लोक ८)।

९. द्र० पाद०, एच० जी० नरहरि सं०, अड्यार लाई० बु० भाग १३, १४; १९५०।

इस पर एक गुमनाम व्यक्ति का भाष्य भी उपलब्ध है, जिसमें मूलगत मन्त्रप्रतीकों के सकल पाठ, तथा प्रत्येक अष्टक में इन पादों की संख्या का उल्लेख किया गया है, कई अवस्थाओं में इस रचना में दिये गये पादों का ब्लूमफील्ड-रचित वैदिक कॉन्कॉर्डेंस[1] से भेद है।

पदगाढ़

ऋग्वेद के सहायक ग्रंथों में पदगाढ़ नामक एक लघु रचना है, जो शाकल्य के नाम से प्रसिद्ध है। जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट होता है, इसमें संदेहास्पद शब्दों के पदगतरूपों तथा उनके संहितागत रूपों के भेद के आधार पर उनके अक्षरों तथा स्वरों में परिवर्तनों का वर्णनमात्र किया गया है। प्रातिशाख्य में तो इन का विस्तृत विवेचन किया गया है, किन्तु यहां संदेहास्पद को गिनाकर उनमें होने वाले परिवर्तनों की सूचना देकर ही सन्तोष कर लिया गया है, यथा **अभितौजाः, नीचावयाः, आर्गरः,** प्रभृति शब्दों का सांहितिक रूप तो सन्धि के कारण विसर्ग रहित होता है, किन्तु पदपाठ में विसर्ग दर्शाना आवश्यक है, ताकि उन के वास्तविक रूप के विषय में किसी प्रकार की भ्रान्ति न रह जाये। अतः यहां ऐसे शब्दों की सूची देकर कह दिया गया है कि ये पद विसर्गान्त हैं।

ऐसे ही **वायो**, **शतक्रतो**, **पजातै**, **अस्यै**, **अन्तौ**, **सानौ** प्रभृति के सन्धिज रूप अकारान्त अथवा आकारान्त होते ही पदकाल में इनके अपने-अपने रूप स्पष्ट हो जायें, अतः ऐसे शब्दों को गिना दिया गया है।

इसी प्रकार **परिमन्**, **कस्मिन्**, **तस्मिन्**, **मघवन्** प्रभृति के अन्तिम नकार को मकार आदि रूप प्राप्त होते हैं, अतः सूचित कर दिया गया है कि इन सबमें 'नकार' मानना चाहिये। ऐसे ही **यद्ब्रह्मरि राजनि वा यजत्रा**[2] तथा **जूर्णो वामक्षुरहसो यजत्रा**[3] **में यजत्रा** पद स्वरान्त हैं, विसर्गान्त नहीं।

न रीषते वावृधानः परादात्[4]; तथा **कुत्साय शुष्णं कृपणे परादात्**[5] में से प्रथम-मन्त्र में तो पदपाठ में **परादात्** होगा। किन्तु द्वितीय में **पराअदात्**[6] समत्र

---

[1] ऋग्० १, ७१, ४ ग (**आदीं राज्ञे न सहीयसे सचा=आदीं राज्ञे न सहीयसे सचा सन्** ब्लूम०)।

[2] ऋग्० १,१०८,७।

[3] ऋग्० १,१८०,५।

[4] ऋग्० ५,३,१२।

[5] ऋग्० १०,९९,९।

[6] प्रथमं अकारवर्जम्।

गावोऽभितोऽनवन्त[1] तथा **गावो न धेनवोऽनवन्त**[2] में **अनवन्त** पद है। **आमासु पक्वं शच्या निदीधः**[3] तथा **घोरा मतीय रिपवे निदीधः**[4] दोनों ही **दीधः** पदों को **दीधरिति दीधः**=इस प्रकार वेष्टित करना चाहिये।

तुविम्रक्षासो दिव्या[5] तथा **दिव्या न कोशासः**[6] में **दिव्याः** विसर्गान्त है।

स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास[7] तथा **स्तुहि सुष्टुतिं नमसा विवास**[8] में पदपाठ **नमसा आ विवास** होना चाहिये[9]।

वाचं दूतो यथोहिषे[10] तथा **पिबा दधृग् यथोचिषे**[11] के पदपाठ में ··· ··· ··· **यथा। ओहिषे** तथा ··· ··· ··· **यथा। ओचिषे** होना चाहिये[12]।

दक्षं दधाते[13], **अथादधाते**[14], **अपदी दधाते**[15], **दधाते ये अमृतम्**[16], **दधाते ये सुभगे**[17], **प्रातर्हि यज्ञमश्विना दधाते**[18], **ऋतायिनी मायिनी सन्दधाते**[19] ये सात 'दधाते' पद प्रगृह्य हैं[20]। अर्थात् पदपाठ में इन सबका रूप **दधाते इति** यह होता है। इसी प्रकार अन्य प्रकार के परिवर्तनशील पदों की भी गिनती कराई गई है।

सम्पादित-सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता सं० १९५१, शाका १८१६।

गलितप्रदीप

ऋग्वेद के पदपाठकार शाकल्य ने संहिता के सभी पदों का प्रदर्शन पदपाठ में नहीं किया, अपितु निरन्तर क्रमागत पुनरावृत्त तीन या अधिकपदों की पदपाठ में पुनरावृत्ति न करके उनके स्थान पर ० का चिह्न लगा दिया, जिसे

---

[1] ऋग्० ५, ३०, १०।

[2] ऋग्० १०, ९५, ६।

[3] ऋग्० ६, १७, ६।

[4] ऋग्० ६, ६७, ४।

[5] ऋग्० ६, ६, ३।

[6] ऋग् ९, ८८, ६।

[7] ऋग्० ५, ८३, १।

[8] ऋग्० ८, ९६, १२।

[9] ···इत्याकार-पूर्वो विवास।

[10] ऋग्० ८, ५, ३।

[11] ऋग्० ८, ८२, २।

[12] ···इति ओकारेणाद्यं सर्वानुदात्तं द्वितीयमन्तोदात्तम्।

[13] ऋग्० १, २, ९।

[14] ऋग्० १, १३९, २।

[15] ऋग्० १, १८५, २।

[16] ऋग्० १, १८५, ६।

[17] ऋग्० १, १८५, ७।

[18] ऋग्० ५, ७८, १।

[19] ऋग्० १०, ५, ३।

[20] ··· इति सप्त 'दधाते प्रगृह्याः'।

अद्यपर्यन्त ऋक्पदपाठ के हस्तलेखों में दर्शाया जाता है यथा—**यः एकश्चर्षणीनाम्** (१, १७६, २) पहले ऋग्० १, ७, ९ में आ चुका है। अतः इसका पदपाठ में ० से निर्देश किया गया है—तस्मिन्। आ। वेशय। गिरः॥ ०॥ (=यः। एकः। चर्षणीनाम्)। यह पद्धति केवल ऋग्वेद तक ही सीमित है। अन्य संहिताओं में नहीं देखी जाती। इस प्रकार के पदपाठ में परित्यक्त पदों का पारिभाषिक नाम **गलन्त** है और इस पद्धति का परिचय ऋक्प्रातिशाख्य तक को है। वहां कहा गया है—

> **दृष्टक्रमत्वात्समयान् सन्दध्यात् सर्वशः क्रमे।**
> **पदेन च पदाभ्याञ्च प्रागस्येदतीत्य च॥** (१०, १९)

यहां **समय** पद **गलन्त** वाचक है[1]।

इन **गलन्त** पदों का बोध कराने के लिये लक्ष्मीधरसूरिविरचित **गलितप्रदीप** नामक रचना का प्रकाशन हाल में किया गया है, जिसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

इसके अनुसार यदि सम्पूर्ण ऋक् की पुनरावृत्ति हो जाये, तो पदपाठ में उसका सर्वथा लोप किया जाता है। किन्तु इस विषय में दो अपवाद कहे गये हैं, ऋग्० ७, १, २५, जो ऋग्० ७, १, २० का पुनरावर्तन मात्र है, तथा ऋग्० १०, ९०, १६, जो ऋग्० १, १६४, ५० का पुनरावर्तन मात्र है। ये दोनों ऋचाएं पुनरावृत्त होते हुए भी पदपाठ में अविकलरूपेण समाहित की गयी हैं[2]। **गलित** पदों के विषय में सामान्य नियम यह है कि एक ही वर्ग में किसी भी ऋचा का पाद या अर्द्धर्च तीन बार पठित हो, तो पुनरावृत्त होने पर द्वितीय आदि पदपाठ में उस अंश का सर्वत्र लोप किया जाता है, यथा—**मरुत्ऽभिः। अग्ने। आ। गहि।** (ऋग्० १, १९, १) यह पाद (१, १९, २) तथा **उलूखलऽसुतानाम्। अव। इत्। ऊँ इति। इन्द्र। जल्गुलः** (१, १८, १)। यह अर्द्धर्च तीन (१, २८, २-४) या अधिक बार पुनरावृत्त होने के कारण पदपाठ में पुनरावृत्त नहीं किये गिये[3]।

यदि किसी मन्त्र का अन्तिम पाद चार या अधिक बार पुनरावृत्त हो तो उसे प्रथम के अतिरिक्त पदपाठ में सर्वत्र **गलित** किया जाता है, यथा—**प्रातः। मक्षु। धियाऽवसुः। जगम्यात्** (१, ५८, ९)। किन्तु इसकी पुनरावृत्ति

---

[1] C. G. Kashikar, *The Problem of the Galantass in the Ṛgveda, Padapaṭha*, Pro. *AIOC* XIII, p. 39.

[2] गलितप्रदीप, पद्य ३।

[3] गलितप्रदीप, ४।

ऋग्० १,६०,५; ६१,१६; ६२,१३; ६४,१५ में पुनः हुई है। वहां इसका पदपाठ लुप्त है[1]। जगती अथवा त्रिष्टुभ् छन्द के मन्त्रार्द्ध की द्वितीयबार पुनरावृत्ति होने पर भी **गलित** हो जाता है, यथा—**रथम्। न। दुःऽगात्। वसवः। सुऽदानवः। विश्वस्मात्। नः। अंहसः। निः। पिपर्तन** (ऋग्० १, १०६, १)। यह अर्द्धर्च (ऋग्० १,१०६,२-६) पुनरावृत्त है। अतः इसका ऋग्० १, १०६, २-६ तक का पदपाठ **गलित** है[2]।

त्रिष्टुभ् का उदाहरण है—(ऋग्० १, ९४, १६) का अर्द्धर्च। **तत्। नः। मित्रः। वरुणः। मामहन्ताम्। अदितिः। सिन्धुः। पृथिवी। उत। द्यौः।** यही अर्द्धर्च १, ९५, ११; ९६, ९; ९८, ३; १००, १९; १०१, ११; १०२, ११; १०३, ८; १०५, १९; १०६, ७; १०७, ३; १०८, १३; १०९, ८; ११०,९; १११, ५; ११२,२५; ११३, २०; ११४, ११; ११५,६; ९,९७,५८ में भी पठित है। अतः यहां सर्वत्र गलित है[3]।

ग्रन्थकार ने लिखा है—

गलितं यद् गृहीतादि न तन्न्यूनं पदत्रयात्।
अग्नि षष्ठाष्टकोपान्त्याध्यायस्थं यद् विहाय तत्॥ ७॥

अर्थात् पदपाठ में किसी भी मन्त्र में तीन से न्यून पदों का लोप नहीं होता। इस साधारण नियम का एक ही अपवाद है, **अग्निम्। समुद्रऽवाससम्** (८,१०२,५)। इन पदों की पुनरुक्ति अगले ही मन्त्र में की गयी है। अतः ये पद पदपाठ में गलित हैं।

ग्रन्थकार के इस वचन के बावजूद भी कम से कम सात स्थलों पर दो पद गलन्त देखे जाते हैं, यथा—

(१) **यत्। इन्द्राग्नी** (१, १०८, १०-१२)।

(२) **उत। स्थः** (१, १०८, १०-१२)।

---

[1] वही।

[2] व्याख्याकार कृष्णदेव का यह उदाहरण असमीचीन है। क्योंकि ग्रन्थकार को केवल द्वितीय बार पुनरागति वाला जागत छन्द का उदाहरण इष्ट है। इस उदाहरण की गतार्थता तो उपर्युक्त द्वितीय नियम से ही सिद्ध हो जाती है।

[3] यहां भी व्याख्याकार ने मूल के अर्थानुरूप उदाहरण नहीं दिया। (**द्वितीयवारमपि पुनर्गतश्चेत् गलितो भवति**— व्याख्या०)।

(३) **पृथिव्याम् । मध्यमस्याम्** (१, १०८, १०)[1] ।

यहां नवमी ऋचा में आ जाने तथा पश्चाद् पुनरुक्ति के कारण सर्वत्र दो-दो पद गलित हैं।

(४) भिन्न क्रम से अवस्थित होने पर भी पुनरुक्त पद गलित हो जाते हैं।

यथा—**सत्** । (ॐ इति) । **नूतनासः** (६, २७, २)। इससे पूर्व भिन्न स्थलों पर अवस्थित (**नूतनासः** (१), **सत्** (२) होते हुए भी अन्य गलित पदों के साथ यह भी गलित हैं[2] ।

(५) **सुऽजाते । अश्वऽसूनृते** (५, ७९, २-१०) पुनरावृत्त होने के कारण गलित हैं।

(६) **अग्निम् । समुद्रऽवाससम्** (८, १०२, ५-६) (गलित)।

(७) **इन्द्राग्नी इति । सोमऽपीतये** (८, ३८, ८-९) (गलित)[3] ।

इतना ही नहीं पुनरुक्त एक पद के भी **गलित** होने के उदाहरण प्राप्त होते हैं। यथा—

परमस्याम् (१, १०८, १०)।

अवमस्याम् (१, १०८, १०)—(भिन्न स्थल पर भी)।

मदम् (६, २७, २)।

सत् (६, २७, २)।

यह गलन्त-समस्या इतनी जटिल है कि अनेक स्थलों पर प्राप्त होने पर भी **गलन्त** अनिर्दिष्ट रह गये हैं, अथवा आंशिकरूपेण निर्दिष्ट हैं, यथा—१, २४, १-२ पर **पितरञ्च दृशेयं मातरञ्च** में पुनरावृत्ति होते हुए भी लोप नहीं किया गया। इसी प्रकार **यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः** (७, १, २०) सप्तम मण्डल में ही अनेक बार पुनरावृत्त होने के कारण **गलन्त** हैं। किन्तु ७, १, २५ में

---

[1] ऋग्० १, १०८, ९-१० के पदपाठ में नवमी ऋचा का उत्तरार्द्ध तथा सम्पूर्ण दशमी ऋचा **गलन्त** दिखायी गयी है (काशिकर, वही, पृ० ४०)।

[2] द्र० कृष्णदेव, भूमिका, पृ० ख ।

[3] काशिकर ने अपने उपर्युक्त लेख में **सुजाते** ··· **इन्द्राग्नी** ··· तथा **अग्नि** ··· । इन तीन स्थलों पर ही **द्विपद गलन्त** स्वीकार किये हैं (वही, पृ० ४०)।

गलन्त नहीं हैं। इस प्रकार के नियमभंग का कारण अभी तक अज्ञात है। प्रा० काशिकर ने इस प्रकार के लगभग तीन सौ स्थलों का उल्लेख किया है[1] ।

इसी प्रकार पं० कृष्णदेव ने भी **गलित प्रदीप** के अन्त में **अनुक्तगलितानां संग्रहात्मक** तृतीय भाग में ऐसे स्थलों का निर्देश किया है। प्रा० काशिकर के अनुमान के अनुसार[2] इस व्यत्यास का कारण सम्भवतः संहिता तथा पदपाठ के निर्माता शाकल्य[3] की भूल में ही खोजना चाहिये। अधिकांश स्थलों पर ऐसी छूटें आवृत्तियों के मध्य दीर्घ-व्यवधान आ जाने के कारण ही हुई प्रतीत होती हैं, जो पदकार की दृष्टि से चूक गयीं[4] ।

ऋग्वेद में छह ऐसी ऋचायें भी हैं, जिनका पदपाठ उपलब्ध ही नहीं होता, यथा, ऋग्० ७, ५९, १२ ; १०, २०, १ ; १२१, १० ; १९०, १-३। अतः स्पष्ट है कि इन ऋचाओं का संहिता में समावेश पदपाठ के प्रणयन के पश्चात् ही हुआ होगा। पदपाठ के प्रणेता इन ऋचाओं को शाकल-संहिता का प्रामाणिक भाग नहीं मानते होंगे। ओल्डनबर्ग के मतानुसार यद्यपि ऋक्-संहिता का पाठ ब्राह्मण काल में स्थिर हो चुका था, तो भी शाकल्य ने इसे वर्तमानरूप में ब्राह्मण काल के अन्त में ही संगृहीत किया[5] ।

उपलेखसूत्र

बह्वृक्-(ऋग्वेद-) प्रातिशाख्य के परिशिष्ट के रूप में उपलेखसूत्र की रचना की गयी है। यद्यपि यह शौनक के नाम से प्रसिद्ध है, तो भी रचना के अन्त में **'नमः शौनकाय, नमः शौनकाय'** इस पाठ के पाये जाने के कारण इसे वर्तमान रूप में शौनक की कृति मानना कठिन है। यह सम्भव है कि इसका मूल ढांचा शौनक ने तैयार किया हो और शौनक के किसी शिष्य ने इसे वर्तमान रूप प्रदान कर दिया हो। वैसे यही वचन आश्वलायन श्रौतसूत्र के अन्त में भी पाये जाते हैं, जो सम्प्रदाय-प्रवर्तक के प्रति रचयिता की श्रद्धा तथा निष्ठामात्र को व्यक्त करते हैं। इस पर एक प्राचीन भाष्य भी उपलब्ध है, जिस का कर्ता भी मूलकर्ता के समान

---

[1] वही, पृ० ४१ ।

[2] वही, पृ० ४२ ।

[3] *Vide* Oldenburg, *Hymns des Ṛgveda*, I, p. 383 ; Geldner, *Ved. Stud.* III, p. 144-46 ; Scheftalowitz, *Apokryphen des Ṛgveda*, p. 4-5 ; Ṛ. V. (Poona), Vol. IV p. 902.

[4] काशिकर, वही, पृ० ४१ ।

[5] *Hymns des Ṛ*. V. I, p. 37-79, Winternitz *H. I. L.* I, p. 283.

ही अन्धकार के गहरे आवरण से ढका हुआ है। उसके अनुसार इस रचना का परिणाम अष्टवर्गात्मक है, जब कि मूल में नौ वर्गों का सङ्कलन है। भाष्य में आठवें तथा नवें वर्ग को मिलाकर एक कर दिया गया है। मूलरचना तथा भाष्य में पाठभेद भी पाया जाता है। इसके अतिरिक्त पारस्परिक न्यूनता, आधिक्य तथा सूत्रक्रम-व्यत्यास के भी उदाहरण मिलते हैं। अतः स्पष्ट है कि इस रचना के मूलपाठ में पर्याप्त फेर-बदल होते रहें हैं। इस रचना का मुख्य विषय संहितापाठ से क्रमपाठ के निर्माण के नियम का निर्देशन है। इस रचना में मुख्यतया संहिता में उपलब्ध विशेष विलक्षणताओं के कारण तीन-तीन या चार-चार पदों के क्रमों में भी उन विलक्षण पदों पर अवसान नहीं किया जाता। संधियों के नियम वही हैं, जो ऋक्प्रातिशाख्य में दिये गये हैं। पारिभाषिक शब्दावली प्रायः पाणिनीय व्याकरण के अनुरूप है, यथा—**स्वरभक्तिश्चाक्रमे** (१, १३) में **स्वरभक्ति** मानी गयी है। जैसे कि कहा गया है, कई त्रिपदक्रमों में मध्यमपद पर किसी विलक्षणता के कारण अवसान नहीं किया जाता, यथा-**न्याविध्यदिलीविशस्य**[1] का पद-पाठ इस प्रकार है— **नि । अविध्यत् । इलीविशस्य ।** संहिता में **अविध्यत्** के "अ" को दीर्घ हो गया है। इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिये सूत्र में इसे **त्रिपदक्रम** का रूप देकर **अविध्यत्** पर अवसान नहीं किया गया[2]। क्रमपाठ-**न्यविध्यदिलीविशस्य । इलीविशस्य । शुनश्चिच्छेपं निदितम्**[3] का पदपाठ इस प्रकार है—**शुनःऽशेपम् चित् । निऽदितम्** । यहां संहिता में **शुनश्शेपं** पद के मध्य में **चित्** पद का व्यवधान पाया जाता है, इसे **अनानुपूर्व्य-संहिता** कहते हैं। अतः इस विलक्षणता को ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए इसे **त्रिपदक्रम** का रूप देकर **चित्** पर अवसान नहीं किया गया है[4]। **शुनःशेपं चिन्निदितम्। परावीरास इतन पर्यासः**[5] का पदपाठ इस प्रकार है—

वीरासः । इतन । पर्यासः । यहां संहिता में **इतन** का **एतन** रूप हो गया है। अतः विलक्षणता के कारण **इतन** पर अवसान नहीं हो सकता था, न ही आद्य पद **परा** को अकेले छोड़ा जा सकता था, अतः **चतुष्पदक्रम** का आश्रय लेना पड़ा। **परा वीरास इतन मर्यासः**[6] । **पञ्चक्रम** का भी उदाहरण पाया जाता है—

---

१. ऋग्० १, १३, १२।

२. उपलेख० २, १।

३. ऋग्० ५, २, ७।

४. उपलेख० २, ३।

५. ऋग्० ५, ६१, ४।

६. उपलेख० २, १८ किन्तु अभ्यङ्कर (के० वी०) सम्पा० में यह **त्रिक्रम** का ही उदाहरण है (*ABORI*, *LIV* P. 51) जो ठीक प्रतीत होता है सूत्र २, २९ में **एतेषां मध्यमपदान्यनवसानीयानि** से स्पष्ट है कि यह **त्रिक्रम** का ही उदाहरण है।

निरुस्वसारमस्कृतोषसम्[1], **रात्र्यां पञ्चक्रमः**[2] इस मन्त्र का पदपाठ इस प्रकार है—

निः। ॐ इति। स्वसारम्। अकृत। उषसम्। यहां संहिता में **अकृत** के स्थान पर **अस्कृत** रूप के कारण यहां यह क्रम अपनाया गया है। पञ्चक्रम का यही एकमात्र उदाहरण **ऋग्०** में पाया जाता है। तृतीयवर्ग में प्रथमवर्ग के कुछ नियमों के अपवाद गिनाये गये हैं। चतुर्थवर्ग में **प्रगृह्यों** का निरूपण किया गया है, जिनका **वेष्टन** किया जाता है। संहिता काल में सन्धियों के कारण हुये ह्रस्व, षत्व, णत्व आदि के क्रम में वेष्टन के नियम पञ्चम वर्ग में दिये गये हैं। संहितावस्था में मध्यागमों तथा सन्धिजन्य अन्य विशेषताओं के विषय में कुछ क्रम-नियम षष्ठवर्ग में हैं।

यथा—**वनर्षदः=वनसदः इति वनऽसदः।**
परिष्कर्ता=परि कर्ता इति परिऽकर्ता।

इस प्रकार **दूढम्**, **दूणाश**, **दूढ्य** प्रभृति विकृतियों, पदान्त सन्धियों तथा इतिकरण से उत्पन्न सन्धियों का वर्णन सप्तम वर्ग में किया गया है। पदाद्यन्त सन्धियों तथा उदात्त आदि स्वरों तथा **कम्पादि** स्वरों के विषय में चर्चा अष्टम वर्ग में की गयी है—**अभ्य१भीत्यभिऽअभि स्रुची३वेति स्रुचीऽइव।**

संस्करण—(१) पं० सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, सम्वत् १९५१।
(२) वाणीविलास प्रेस, श्रीरंगम्, भाष्यसहित।
(३) *ABORI*, LIV p. 45-76 English notes, K.V. Abhyankar.

---

[1] ऋग्० १०, १२७, ३।
[2] उपलेख० २, ३०।

सप्तत्रिंश अध्याय

कृष्णयजुर्वेदीय अनुक्रमणियां तथा परिशिष्ट

तैत्तिरीय सर्वानुक्रमणी

कृष्णयजुर्वेद की आत्रेयीशाखा की अनुक्रमणी में यास्क पैङ्गि नामक ऋषि का उल्लेख मिलता है, जो वैशम्पायन के शिष्य थे। यास्क पैङ्गि के शिष्य तित्तिरि थे और तित्तिरि के शिष्य का नाम उख था। निदानसूत्र के छन्दःसम्बन्धी भाग पर हृषीकेश अथवा पेत्ता शास्त्रीकृत टीका में तैत्तिरीय-संहिता की यास्ककृत सर्वानुक्रमणी से बहुत से उद्धरण उपलब्ध होते हैं। इस नाम की कोई ऐसी उपलब्ध रचना नहीं है, जिसमें से ये उद्धरण लिये गये हैं। पिङ्गलछन्दःसूत्र में भी यास्क का उल्लेख पाया जाता है— **उरोबृहती यास्कस्य**[1]। पेत्ताशास्त्री ने इस उद्धरण का मूल यास्क की सर्वानुक्रमणी में खोज निकाला है—**तदाह सर्वानुक्रमणीकारो यास्कः द्वितीयश्चेत् स्कन्धोग्रीवी क्रौष्टुकेः। उरोबृहती वा स्यादिति।**

डा० सी० कुन्हनराज ने इस टीका से ऐसे १८ उद्धरणों का संग्रह प्रकाशित किया है, जिन में यास्क को यजुर्वेदीय सर्वानुक्रमणी का रचयिता कहा गया है[2]। एक उद्धरण में शौनक का नामनिर्देश पूर्वक स्मरण किया गया है— **यजुर्वेदसर्वानुक्रमण्यां द्वादशिनस्त्रयोऽष्टाक्षराश्च जगती ज्योतिष्मती। सापि त्रिष्टुबिति शौनकः इति वचनात्**[3]। इससे स्पष्ट होता है कि यह यास्क पैङ्गि शौनक को जानते थे। एक और उद्धरण[4] के अनुसार यास्क क्रौष्टुकि को भी जानते थे। वेङ्कटपुत्र माधवभट्ट अपने ऋग्-भाष्यके कई अध्यायों की आरम्भिक कारिकाओं में यास्क के कई उद्धरण देते हैं, जिन में से कुछ निरुक्त में नहीं मिलते। यास्क के नाम से बृहद्देवता में अनेक सङ्केत ऐसे हैं, जिनकी वर्तमान निरुक्त के विचारों से या तो कोई समानता नहीं है या निश्चितरूप से उनके विरुद्ध है। डा० कुन्हनराज के विचार में सम्भव है कि अब तक अनुपलब्ध उद्धरण इस सर्वानुक्रमणी में उपलब्ध हो सकें[5]।

---

[1] पिंगल० ३, ३०।

[2] **तैत्तिरीयसर्वानुक्रमणी आफ़् यास्क** जे० ओ० आर०, मद्रास, भाग ५, पृ० २१५।

[3] वही—१६ वां उद्धरण (तु० ऋक्प्रा० १६, ७०)।

[4] वही, नवां उद्धरण।

[5] द्र० बृ० दे० १,२६;२,६; ३, १००; ५,८ प्रभृति जे० ओ० आर० ५, पृ० २१८-२२२।

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यास्क पैङ्गि तथा निरुक्तकार यास्क दोनों एक हो सकते हैं, क्योंकि यास्क तो गोत्रनाम है, वास्तव नाम नहीं। हमारे विचार में निरुक्तकार तथा सर्वानुक्रमणीकार यास्क एक नहीं हो सकते। यदि सर्वानुक्रमणीकार यास्क का उपरिनिर्दिष्ट शौनक सम्बन्धी सङ्केत ठीक है, तो वह शौनक से पश्चात्कालीन कोई दूसरे यास्क हैं। शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य[1] में **उरोबृहती** सम्बन्धी यास्क का विचार भी उद्धृत किया है। अतः हमारे विचार में सर्वानुक्रमणीकार तथा छन्दोवेत्ता यास्क तथा निरुक्तकार यास्क भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं[2]। क्योंकि जहां एक ओर ऋक्प्रा० में शौनक ने यास्क का उल्लेख किया, तो दूसरी ओर सर्वानुक्रमणीकार यास्क शौनक का नामनिर्देशपूर्वक उल्लेख करते हैं। इसलिये ये दोनों यास्क तो एक हो ही नहीं सकते। दूसरी ओर निरुक्तकार यास्क का शौनक ने नामनिर्देश-पूर्वक १९ बार उल्लेख किया है। ऋक्प्रा० में उल्लिखित छन्दःशास्त्रकार यास्क तथा निरुक्तकार यास्क के एक होने में कोई प्रमाण नहीं है।

इस अनुक्रमणी की कोई स्वतन्त्र पाण्डुलिपि अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी[3]।

आत्रेयीशाखीय सर्वानुक्रमणी

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयशाखा के दो भेद प्रसिद्ध हैं एक औखेय दूसरा खाण्डिकेय। काण्डानुक्रमणी के अनुसार उख तित्तिरि का शिष्य था। यद्यपि चरणव्यूह में आत्रेयीशाखा की चर्चा नहीं की गई, तो भी इसे औखेयों का ही एक उपभेद मानना चाहिये, क्योंकि आत्रेय को उख का शिष्य कहा गया है। आत्रेय पदकार के नाम से प्रसिद्ध है और कुण्डिन वृत्तिकार है (**यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः** (तै० काण्डानु०)। परम्परा के अनुसार आत्रेय शाखा के कुछ प्रपाठक कठशाखा से लिये गए थे। जिसकी पुष्टि सायण ने स्वरचित तैत्तिरीयआरण्यक भाष्य में कर दी है। कठशाखीय भागों को **काठकम्** कहा गया है और ये तै० आर० के आरम्भ में ही रखे गए हैं। इन में इन विषयों का समावेश किया गया है—

---

[1] ऋक्प्रा० १७, ४२।

[2] द्र० एल० डी० बार्नेट, जे०, आर० ए० एस०, जुलाई १९२३, पृ० ४२३, in 'The evidence for the R-pro. questing yāska is rest very convincing.'

[3] वेबर द्वारा इन्डि० स्टु०, भाग ३ में प्रकाशित सर्वानु० इस सर्वानु० से भिन्न है। कुन्हनराज, वही, पृ० २२२।

१. सावित्राग्निचयन	ब्राह्मणसहित	तै० ब्रा० ३, १०
२. नैचिकेताग्निचयन		तै० ब्रा० ३, ११
३. दिवःश्येनीय इष्टयः		तै० ब्रा० ३, १२, १-२
४. आपाद्या इष्टयः		तै० ब्रा० ३, १२, ३-४
५. चातुर्होत्रचिति		तै० ब्रा० ३, १२, ५
६. वैश्वसृजचिति		तै० ब्रा० ३, १२, ६-९
७. आरुणकेतुकचिति		तै० ब्रा० ऐ० आर० १,१

आपस्तम्बशाखा में ये विषय इसी क्रम से उपलब्ध होते हैं तथा सायण के भाष्य से, जो आपस्तम्बीय तै० ब्रा० पर है, इस की पुष्टि होती है। किन्तु आत्रेयशाखा में इन का क्रम भिन्न प्रतीत होता है—

१. सावित्रचयन	तै० ब्रा० ३, १०
२. नाचिकेताग्नि चयन	तै० ब्रा० ३, ११
३. चातुर्होत्रचिति	तै० ब्रा० ३, १२, ५
४. वैश्वसृजचिति	तै० ब्रा० ३, १२, ६-९
५. आरुणकेतुकचिति	तै० आर० १, १
६. दिवःश्येनीय इष्टयः	तै० ब्रा० ३, १२, १-२
७. आपाद्या इष्टयः	तै० ब्रा० ३, १२, ३-४

आत्रेयी अनुक्रमणी में केवल संहिता से सम्बद्ध विषय ही नहीं दिये गए, अपितु ब्राह्मण तथा आरण्यक-सम्बन्धी विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है। इस में केवल काण्डों, प्रश्नों, अनुवाकों तथा कण्डिकाओं की गणनामात्र नहीं कर दी गई, अपितु इस शाखा के मुख्य विषयों का सङ्केत करते हुए इन इष्टियों से सम्बद्ध वचनों का एकत्र संग्रह भी कर दिया गया है। जिससे इस की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

इस अनुक्रमणी में यास्क पैंगि को अपनी शाखा का ऋषि कहा गया है, जो वैशम्पायन के शिष्य थे और तित्तिरि के गुरु थे, जिन्होंने तैत्तिरीय शाखा का प्रवर्तन किया था[१]।

काण्डानुक्रम

कृष्णयजुर्वेदीय आत्रेयीशाखा का एक परिशिष्ट काण्डानुक्रम के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें इस शाखा की संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों के

---

[१] द्र० मैक्स० हि० ऐ० सं० लि०, पृ० २२३।

विषयों की काण्डानुक्रम से सूची दी गई है। इस महत्त्वपूर्ण एवं पर्याप्त प्राचीन रचना के कर्ता तथा काल के विषय में किसी प्रकार की जानकारी उपलब्ध नहीं है। इसके तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में तो सूत्ररूप में विषयों का ब्योरा दिया गया है। कर्मकाण्डीय विषयों के प्रतिपादन के अनन्तर आरण्यक के तीन उपनिषदों-सांहिती, याज्ञिकी तथा वारुणी का उल्लेख करके आठ काठक-प्रकरणों की चर्चा की गई है, जिन्हें 'स्वाध्याय ब्राह्मणों' की संज्ञा दी गई है। आत्रेयशाखा से सम्बद्ध होते हुए इस रचना में वर्णित संहिता-ब्राह्मण-आरण्यकरूप आधारभूत ग्रन्थ प्रायः वही हैं, जिन्हें हम आजकल तैत्तिरीयशाखा के नाम से जानते हैं। केवल एक अनुवाक (७, ५, २४) का उल्लेख नहीं किया गया। सम्भव है आत्रेय इस अनुवाक का विनियोग न करते हों[1]।

तैत्तिरीयों तथा आत्रेयों के घनिष्ठ सम्बन्ध का उल्लेख स्वयं ग्रन्थकार ने किया है[2] कि इस शाखा का तित्तिरि ने उख को उपदेश दिया था, उख ने आत्रेय को, जिसने इस शाखा का प्रवर्तन किया। अतः इन दोनों में पूर्ण ऐक्य की सम्भावना नहीं है। विण्टरनित्स का यह विचार[3] समीचीन नहीं प्रतीत होता कि इस भेद का कारण तै० सं० तथा आरण्यक के वर्तमान रूप धारण करने से पूर्व काण्डानुक्रम का प्रणयन किया गया है। यद्यपि काण्डानु० के सम्मुख तै० सं० प्रायः वर्तमान रूप में विद्यमान थी, तो भी कर्मकाण्ड को संहितरूप प्रदान करने के उद्देश्य से संहिता के काण्डों के क्रम में कुछ परिवर्तन हो गया है[4]।

काण्डानु० के कर्ता काण्डर्षि कहलाते हैं। यद्यपि काण्डर्षि नौ माने जाते हैं, तो भी वास्तव में केवल चार ही की कृतियां प्रसिद्ध हैं। नौ काण्डर्षि ये हैं—(१) प्रजापति (२) सोम (३) अग्नि (४) विश्वेदेवा (५) सांहिती (६) याज्ञिकी (७) वारुणी (८) स्वयम्भू (९) सदसस्पति। काण्डानु० के ५२ काण्डों में से ५१ प्रथम चार के नाम से प्रसिद्ध हैं। अन्तिम एक ब्रह्मा स्वयम्भू के नाम से विख्यात है। शेष की कोई कृति प्रसिद्ध नहीं है तो भी सदसस्पति सर्वश्रेष्ठ काण्डर्षि माने जाते हैं और उनका तर्पण उपवीती होकर देवतावत् करने की परम्परा है, जबकि अन्य काण्डर्षियों का तर्पण पितृवत् निवीती होकर करने का आदेश है। इन काण्डर्षियों ने जिन-जिन काण्डों के विनियोग का अनुक्रम तैय्यार किया उनका व्योरा इस प्रकार है—

---

[1] कीथ, तै० सं० आंग्लानु० उपोद्घात, पृ० २९।

[2] ३, १३-१४ वेबर सं० तथा मैसूर सं० में २, २५-२६।

[3] 'मन्त्रपाठ', उपोद्घात, पृ० ३९।

[4] द्र० कीथ, पृ० २८-२९ : गुण्डीराव हरकरे, पू० ओ०, अङ्क १८; पृ० ४०-४१।

(१) **प्रजापति**—१, ८, ९, १५, २८, २९, ३५, ३७, ३८=९ काण्ड।

(२) **सोम**—२, ३, ४, १०, ११, २०, २५, २६, ३२=९ काण्ड।

(३) **अग्नि**—५, ६, ७, १७, १८, १९, २७, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८=१४ काण्ड।

(४) **विश्वेदेवाः**—१२, १३, १४, १६, २१-२३, २४, ३०, ३१, ३३, ३४, ३६, ३९, ४०, ४१, ४९, ५०, ५१=१९।

(५) **ब्रह्मा स्वयम्भूः**—५२=१।

कृष्णयजुर्वेद के सारस्वत पाठानुसार कुल मिलाकर ८२ भाग होने के कारण इसे **अशीतिद्वय** की संज्ञा दी गई है, जिसमें संहिता के ४२ भाग हैं, ब्राह्मण के २८ और **आरण्यक** के दस।

किन्तु काण्डानुक्रम पाठ के अनुसार ये ८२ भाग इस प्रकार हैं। संहिता=४४; ब्राह्मण=२५; काठक=३; आरण्यक=८; प्रशुग्मन्त=२। यह **प्रशुग्मन्त विश्वेदेवाः** के अधीनस्थ है। काण्डानुक्रम के ५२ काण्डों का ब्योरा इस प्रकार है—

(१) **पुरोडाशीय**—**ईषे त्वोर्जे त्वा** (१, १, १) से **वाजस्य मा** (१, १, १३)।

(२) **अध्वरम्**—(क) **आप उन्दन्तु** (१-२-१) से **युंजतेमान्** (१-२-१३)।
(ख) **देवस्य त्वा** (१-३-१) से **हृदे त्वा** (१-३-१३)।
(ग) **ब्रह्म सन्धत्तम्** (ब्रा० १-१-१)।
(घ) **पवमानः** (ब्रा० १-४-८)।

(३) ग्रह— (क) **आददे** (१-४-१) से **सजोषा** (१-४-३६)।
(ख) **तरणिः** (आर० ३-१६) से **चित्तम्** (आर० ३-२१) इत्यादि।

(४) **दाक्षिणम्**; (५) **अग्न्याधानम्**; (६) **पुनराधेयम्**; (७) **अग्न्युपस्थानं**; (८) **ऐष्टिकयाजमानम्**; (९) **ऐष्टिकयाजमानविधिः**; (१०) **वाजपेयः**; (११) **वाजपेयविधिः**; (१२) **राजसूयम्**; (१३) **काम्यपशुः**; (१४) **इष्टिः**; (१५) **दार्शब्राह्मणम्**; (१६) **उपानुवाक्यम्**; (१७) **अग्निः**; (१८) **अग्निविधिः**; (१९) **त्रैशिकम्**; (२०) **अध्वरग्रहः**; **दक्षिणाविधि**; (२१) **याज्या**; (२२) **राजसूयविधिः**; (२३) **सत्रायणम्**; (२४) **अश्वमेधः**; (२५) **प्रवर्ग्यः**; (२६) **प्रवर्ग्यविधिः**; (२७) **अग्निहोत्रविधिः**; (२८) **होतारः**; (२९) **होतृविधिः**; (३०) **उपहोमाः**; (३१) **कौलिकी (सौत्रायणी)**; (३२) **सवा**; (३३) **सूक्तानि**; (३४) **नक्षत्रेष्टयः**; (३५) **पुरोडाशविधिः**; (३६) **नृमेधः**; (३७) **पितृमेधः**; (३८) **दार्श्यहोत्रम्** तथा **दार्श्यहोत्रविधिः**; (३९) **पाशुकम्**; (४०) **अच्छिद्रम्**; (४१) **अश्वमेधविधिः**; (४२) **सांहिती**; (४३) **याज्ञिकी**; (४४) **वारुणी**;

(४५) **सावित्रम्** ; (४६) **नाचिकेतम्** ; (४७) **चातुर्होत्रम्** ; (४८) **वैश्वसृजम्** ; (४९) **आरुणम्** ; (५०) **पञ्चचितिः** तथा **दिवःश्येनयः** ; (५१) **आपाद्या इष्टयः** ; (५२) **स्वाध्यायब्राह्मणम्** ।

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, अन्तिम आठ काण्ड **काठकम्** के नाम से प्रसिद्ध हैं, जिससे प्रतीत होता है कि ये काठकशाखा से लिये गये हैं[1] ।

द्वितीय अध्याय में विभिन्न काण्डों के ऋषियों का निर्देश है तथा अन्त में ऋषि-तर्पण का विधान है। तृतीय अध्याय में विविध काण्डों के अध्ययन के नियम, समय तथा अधिकारी की चर्चा की गई है और शाखा-प्रवर्तक एवं पदकार आत्रेय तथा वृत्तिकार कुण्डिन के कल्याण की कामना की गई है। अन्त में इस शाखा के सम्यक् ज्ञान से स्वर्ग प्राप्तिरूप फल का उल्लेख किया गया है।

काण्डानुक्रम में अनुवाकों का विभाजन बड़े विचित्र ढंग से किया गया है। न केवल अनुवाकों को काण्डों में तोड़ कर विभक्त किया गया है, अपितु कहीं-कहीं तो मन्त्रों को भी विभाजित कर दिया गया है। यथा—

अग्न्युपस्थान काण्ड (७) का आरम्भ 'उपप्रयन्त' (सं० १, ५, ५) से होता है किन्तु १, ९, ५ के अन्त पर समाप्त न हो कर दसवें अनुवाक के छठे मन्त्र 'हविषा घृतेन' तक चलता रहता है। तथा ऐष्टिक याजमान काण्ड (८) का आरम्भ १, ५, १० के शेष सातवें मन्त्र से किया जाता है।

कई काण्ड तो अव्यवस्थित से प्रतीत होते हैं, यथा—

(क) अग्न्याधेय (५) में ब्रा० १,१,१ के प्रथम अनुवाक 'ब्रह्मसन्ध' के पूरे 'ब्रह्मकाण्ड' का विनियोग किया गया।

(ख) इसी प्रकार पुनराधेय काण्ड (६) सं० काण्ड १,५ के प्रथम चार अनुवाकों का विनियोग विहित है।

(ग) उपानुवाक्यकाण्ड (१६) में संहिता के पूरे प्रथम काण्ड के प्रत्येक प्रपाठक के अन्तिम अनुवाकों को छोड़कर इस सम्पूर्ण काण्ड के विनियोग का विधान विचित्र लगता है।

(घ) अग्निकाण्ड (१७) में संहिता के चतुर्थ काण्ड के १,२,३,४ तथा ७ के अन्तिम अनुवाकों तथा प्रपाठक ६ के अनुवाक ६,७,८,९ के अतिरिक्त शेष सभी मन्त्रों के विनियोग का विधान है।

---

[1] हरकरे, पू० ओ०, १८, पृ० ५०; कीथ, तै० सं० भूमिका पृ० २७।

कई मन्त्र ऐसे भी हैं जिनको एक से अधिक कर्मों में पुनरावृत्ति की गई है। यथा 'तरणि' से चित्तम् पर्यन्त (अर्थात् आर० ३, १६ से आर० ३, २१ तक) छह आरण्यकों की संहिता १, ४ में पुनरावृत्ति पाई जाती है। प्रश्न यह है कि क्या ये संहिता के मन्त्र हैं या आरण्यक के? इसी प्रकार अनुवाक आर० ३, २० तथा ३, २१ दोनों का विधान ग्रहकाण्ड (३) तथा अश्वमेध काण्ड (२४) दोनों में किया गया है, जबकि प्रथम का काण्डर्षि सोम है और द्वितीय का विश्वदेवाः है। अतः इनके वास्तविक निर्माता के विषय में सन्देह होना स्वाभाविक है।

अधुनातन संहिता से इसमें निम्न भेद पाया जाता है—

(१) समस्त याज्यामन्त्र एक ही इक्कीसवें काण्ड में संगृहीत हैं जबकि वर्तमान संहिता में प्रथम चार काण्डों में बिखरे पड़े हैं और कई प्रश्नों के अन्तिम अनुवाक के रूप में जोड़े गये हैं।

(२) अश्वमेध २४वें काण्ड में ही रखा गया है जबकि संहिता में पञ्चम तथा सप्तम काण्ड के प्रश्नों के अन्त में तथा चतुर्थ एवं प्रथमकाण्ड में भी आश्वमेधिक मन्त्र दिये गये हैं।

(३) दार्श्यहोम कर्म यहां ३८वें काल में है, जबकि संहिता में २, ५-६ तथा १, ७ में है।

(४) यहां ब्राह्मण और आरण्यक भाग की प्रायेण उपेक्षा की गयी है। केवल २, २—३, १२ तक का ब्राह्मण भाग ही अविच्छिन्नरूपेण प्रतिपादित है।

संस्करण—(१) वेबर—इण्डि० स्टु० ३, पृ० ३७५—४०१; १२, पृ० ३५०—५७।
(२) वि० सं० मैसूर—तै० सं० भाग १, परिशिष्ट, पृ० १—१०।
(३) वेङ्कटराम शास्त्री द्वारा स्वरचित व्याख्या सहित, वाणीविलास प्रेस, पालघाट से प्रकाशित, सन् १९००।
(४) क० वे० अनन्तनारायण शास्त्री द्वारा ए० वी० ओ० आर० आई०, पूना, सं० ३९, सन् १९५८, पृ० २६६-२८८।

मैत्रायणीय छन्दोऽनुक्रमणी

वाराह श्रौतसूत्र के परिशिष्ट के रूप में एक छन्दोऽनुक्रमणी के नाम से लघुरचना दी गयी है, जिसमें उपोद्घातीय सात श्लोकों के अनन्तर मै० सं० के मन्त्रानुवाकों यजुरनुवाकों, ऋगनुवाकों, मिश्रितानुवाकों तथा याजुषमन्त्रों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। मन्त्रानुवाकों के विषयों का भी विवरण इसमें दिया गया है। प्रथम काण्ड में दर्शपूर्णमास, अध्वर, ग्रहा, अग्न्युपस्थान, अग्न्याधान,

चातुर्मास्य तथा वाजपेय प्रधान कर्म हैं। द्वितीय में काम्येष्टियां, अग्निचिति तथा राजसूय का उल्लेख है। तृतीय में सौत्रामणी और अश्वमेध एवं चतुर्थ में प्रवर्ग्य तथा याज्यानुवाक्या की चर्चा है। इस विवरण के अनुसार मै० सं० में कुल ३३६ अनुवाक हैं। जबकि श्रोदर के संस्करण के अनुसार ये ३५० बनते हैं।

यह विवरण डा० रघुवीर ने आर० ए० एस०, १९३२, पृ० ५४७-५५३ में दिया है। छन्दोऽनुक्रमणी अप्रकाशित है।

मैत्रायणीय परिशिष्ट

गोनामिकम्

मैत्रायणीयों के काम्य-कर्मों में अनेक कामनाओं की पूर्ति के हेतु एक गोनामिक कर्म का विधान मैत्रायणीय संहिता के चतुर्थ (खिल) काण्ड के द्वितीय प्रपाठक में किया गया है। इसके अतिरिक्त मानवश्रौतसूत्र (८, ५-६) में तथा प्रथम परिशिष्ट के रूप में भी इसका विधान प्राप्त होता है।

यह एक चातुर्होतृक कर्म है और अनाहिताग्नि के द्वारा पाकयज्ञ की विधि से द्वादश, तीन या एक रात्रि में सम्पन्न किया जाता है। पशुकाम यजमान को रेवती या चित्रानक्षत्र में इसे करना चाहिये। जिससे द्वेष करता हो उसकी गायों के मध्य में उनके नामों से पुकारने की विधि के कारण ही इसकी संज्ञा **गोनामिक** पड़ गयी है। सींगों वाली एक गौ को पूर्व पश्चिम रूप में खड़ा करके उसके नीचे दर्भ बिछाकर उसके सिर पर **काम्यायै स्वाहा०**[1] मन्त्र से तीन आहुतियां देवे। अगली अग्निवेला में अपने शत्रु की अग्नि से एक जलती हुई काष्ठ को लेकर उसे रात भर जलाकर जागे। प्रातःकाल सूर्योदय के समय पूर्व की ओर ढालवां हरे-भरे स्थल पर हाथ धोकर दर्भस्तम्ब पर एक जलपूर्ण सकोरे को **कामं कामं म अवर्तय**[2] से रख दें। गौवों के पास आकर कहे—**प्रशस्ताः स्थ कल्याण्यः** (२, १)। एकाष्टका (अन्धेरी अष्टमी) को चौराहे पर एक गाय का वध करावे[3] तथा जो कोई आवे, उसे उसमें से देवे। अगले दिन दूसरी का वध कराके ब्राह्मणों को खिलावे।

संग्राम में विजिगीषु को चाहिये कि दोनों सेनाओं के दृष्टिगोचर होने पर **वसीयस्येहि श्रेयस्येहि** प्रभृति[4] सात मन्त्रों से आहुति देकर **चिदसि मनागसि०**

---

[1] मै० सं० ४, २, ८।

[2] मै० सं० ४, २, ११; ४, २, १३०; मा० श्रौ० सू० ९, ५, ५, १०।

[3] चतुष्पथे अंगशो गां कारयेत् यो य आगच्छेत् तस्मै तस्मै दद्यात् (मा०श्रौ०सू० ९,५,५,१२)।

[4] मै० सं० ४, २, ३३।

प्रभृति सात का जप करे। इसी प्रकार अन्य विधियों का भी विधान किया गया हैं। जन्म से आठवें दिन बछड़ों तथा बछड़ियों को ताम्बे (**लोहितेनायसेन**) चिन्हित करना, सायंकाल बाहर से लौटती हुई गौओं का अभिमन्त्रण, गोष्ठ में सभी का एकत्रीकरण, रज्जु (तत्ति) से बांधना, खोलते समय सांड के कान में मन्त्र कहना, खोल देने पर भी मन्त्र पाठ, प्रभृति अनेक कृत्यों का विधान किया गया है। पशुकाम को चाहिये कि वह गौओं में अग्रगामिनी को **आकृतिहोम**[1] नामक चार मन्त्रों से पश्चिम की ओर खड़ा करके उसके नीचे दर्भों को बिछाकर **काम्यायै स्वाहा:** मन्त्र से तीन आहुतियां उसकी पूँछ की जड़ में देवे[2]। **अन्नाद्यकाम** के लिये एक विचित्र **शवलिकर्म** का विधान किया गया है। वह त्रयोदशी के दिन सूर्योदय के समय जंगल में ऐसे स्थान पर, जहां ग्राम तथा पशुओं का शब्द सुनायी न पड़ता हो, जाकर एक बहुविद् ब्राह्मण के पास बैठकर दर्भस्तम्ब को स्पर्श करके **शवलि शवल्येहि** से तीन बार पुकारे। यदि उत्तर में वह कुत्ते या गधे से भिन्न किसी भी पशु का शब्द सुने, तो समृद्धि प्राप्त करेगा, यदि न सुने तो एक बार और पुकारे। तृतीय बार न पुकारे[3]।

संस्करण:—डा० रघुवीर द्वारा सम्पा०, जे० वी० एस० १, पृ० ६।

मानवश्रौतसूत्र के परिशिष्ट

वाराहगृह्यसूत्र के अनुसार "मैत्रायणीयों" का एक परिशिष्ट **प्रतिग्राह्य** भी है। मानवश्रौतसूत्र[4] के अन्त में **प्रतिग्रहकल्प** नाम से परिशिष्ट प्रकाशित हुआ है। इसमें विविध प्रकार के यज्ञों के लिये दक्षिणाओं के स्वीकार करने के नियम दिये गए हैं। सर्वप्रथम तो उनके लक्षण दिये गए हैं, जिन्हें दक्षिणा स्वीकार नहीं करनी चाहिये। इनमें अवेदवित्, अशुचि, अयज्ञोपवीती, मुक्तशिख तथा आर्त गिनाए गए हैं। न ही जल के बिना न ही अनवसर पर दक्षिणा लेनी चाहिये। भेंट के रूप में स्वीकार्य पदार्थों में स्त्री, हस्ती, पुरुष, भूमि तथा सभी जीवित प्राणी सम्मिलित हैं। प्रत्येक प्रकार की वस्तुएं में पृथक्-पृथक् मन्त्रों से स्वीकार करने का विधान किया गया है। जिनमें किसी न किसी देवता के लिये ग्रहण करने का संकेत किया गया है।

---

[1] मै० सं० ४, २, ७७।

[2] **त्रसदि-भसत्=स्त्रीप्रजननं** (महीधर) वा० सं० २०, ९; **बाहुमूलम्** (वेंकट-ऋग्० १०, ८६, ७) भग: (सायण) 'rump' (Whitney), Ath.v. IX 4, 13; =root of the tail.

[3] मा० श्रौ० सू० ९, ५, ६, २५-२८।

[4] वान्ट गैल्डर सम्पा०, ११, १-२।

यथा—**यमाय त्वा, इति एकशफम्, रुद्राय त्वा, इति गाम्, अग्नेय त्वा इति हिरण्यम्, वपु, सीसम्, ऊयो लोहञ्च।** इसके अनन्तर किस पदार्थ को किस प्रकार स्वीकार करना चाहिये—इसका भी विधान है—स्त्री को हाथ से, हाथी पुरुष तथा भूमि को पृष्ठ पर स्पर्श करके, घर को उसमें प्रवेश करके, कूप को उसमें झांक कर, तालाब को उसमें घुस कर स्वीकार किया जाता है।

इसी प्रकार के काम्य कर्मों के विषय में विविध विधान किये गये है।

मानवगृह्यपरिशिष्ट

मूलादिजात शान्ति विधि (मूल जातविधि) मानवसूत्र में पठित सभी मूलों (जड़ों) से उत्पन्न होने वाले अनिष्टों को शान्त करने के लिए विधि बतलायी गयी है। मन्त्रपूत जड़ों को उदकुम्भ में 'वंशयात्रा' के लिये रखा जाता है। इस विषय में विहित प्रधान-प्रधान जड़ों के नाम गिनाये हैं। यथा, काश्मर्य, सहदेवी, अपराजित, प्रभृति। कुछ-एक निषिद्ध भी हैं, यथा, तिल्वक, धव, निम्ब, शाल्मली। यजमान के माता-पिता, बच्चे तथा भ्राता को समन्त्रक स्नान कराके उनके अंगों को स्पर्श करके **निर्ऋति** के लिये दुग्ध में स्थालीपाक को पकाकर दो-दो आघारों तथा आज्यभागों का हवन करके स्थालीपाक से चार आहुतियां देकर पन्द्रह आज्य आहुतियां देनी चाहियें। दो आहुतियां स्विष्टकृत् के लिए प्रदान करके ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर भोजन कराना चाहिये।

यद्यपि यह परिशिष्ट श्रौतसूत्र[1] के अन्तर्गत प्रकाशित किया गया है, तो भी वास्तव में यह गृह्यपरिशिष्ट है।

यमलशान्ति परिशिष्ट

जिसके जोड़े पुत्र या बछड़े या बछेरे उत्पन्न हों, उसे **यमल-शान्ति** कर्म करना चाहिये, जो जोड़ों के जन्म से १२ दिन, बारह मास अथवा बारह वर्ष पूर्ण होने पर किया जाता है। **हिरण्यवर्णाः शुचयः**[2] इन चार मन्त्रों से चार पाद वाली सुन्दर चौकी पर बैठा कर मृण्मय शतधार पात्र में बीज डालकर उन से चार विधवाओं या ब्रह्मचारियों द्वारा समन्त्रक[3] स्नान के अनन्तर पति-पत्नी अग्नि

---

[1] मानवश्रौतसूत्र, गैल्डर सम्पा०, ११वां अध्याय।

[2] मै० सं० १, २, ४।

[3] मै० सं० २, ५, १३ तथा २, १३, १ अनुवाकों का विधान है।

की प्रदक्षिणा करके अग्नि के पश्चिम में दर्भों पर बैठ कर मरुत्-सम्बन्धी स्थालीपाक से हवन करे। उसके बाद सात खाइयों में सात प्रकार की लकड़ियां गाड़ कर उन पर सुगन्धित जल छिड़क कर **हिरण्यगर्भः**[1] सूक्त के सात मन्त्रों से उन खाइयों पर से गुज़रे और आठवें मन्त्र का जप करे। यदि ये लकड़ियां प्राप्त न हो सकें, तो **हिरण्य-स्नान** (स्वर्णचूर्ण से स्नान) का विधान है। यद्यपि यह गृह्यकर्मों के अन्तर्गत आता है, तो भी इसे मानवश्रौतसूत्र के ११वें अध्याय में प्रकाशित किया गया है।

आश्लेषाविधि

आश्लेषा नक्षत्र के प्रथम पाद में उत्पन्न होने पर माता तथा चतुर्थ में होने पर पिता का नाश हो जाता है। अतः इस दुष्प्रभाव को दूर करने के लिए आश्लेषा-विधि का विधान किया गया है।

मूलादि जातविधान में कही गयी औषधियों को ताम्रपात्र में रख कर, उसके ऊपर सौवर्ण निष्क-प्रमाण के सर्प को अधोमुख स्थापित करके, पञ्चगव्य से स्नान कराके वस्त्रादि से लपेट कर, सुगन्धित पुष्पादि, धूप, दीप प्रभृति से पूजन करे। चार घड़ों में जल भर कर, उनमें सप्तमृत्तिका, देवदास तथा मुस्ताघास, हरि चन्दन प्रभृति, तृतीय में सभी औषधियां चतुर्थ में ये सभी पदार्थ डालकर चार मन्त्रों से अभिमन्त्रण करके शुभ वेला में यजमान शुद्ध वस्त्र पहिन कर, आचार्य को नमस्कार करके पुण्याह्वाचन करके कलशों के मध्य में स्थण्डिल बना कर, उसमें अग्नि स्थापित करके स्थालीपाक का श्रपण करके, आधार तथा आज्यभाग से हवन करके सविता, सोम, निर्ऋति के लिए आहुतियां देकर विष्णु के लिए १०८ आहुतियाँ देवे। तदनन्तर सर्पों के लिए समिधा, चरु, तिल तथा आज्य की आहुतियों का विधान किया गया है। तदनन्तर स्विष्टकृत् तथा प्रायश्चित्ताहुतियां प्रदान करके शिशु, उसके माता-पिता—सभी का औषधियों प्रभृति से मिले जल से प्रोक्षण करना चाहिये।

दन्ताप्त्यतिशान्ति प्रभृति अन्य परिशिष्ट

जिस बालक के ऊपर के दाँत पहले निकलें या दाँतों समेत जन्म हुआ हो, तो उसके लिए विष्णुधर्मोक्त विधि के अनुसार शान्ति का विधान किया गया है। बालक को गजपृष्ठ या नौका या स्वर्णासन पर बैठाना चाहिये तथा सर्वविध औषधियों, फलों, पुष्पों, पञ्चगव्य तथा रत्नों से धातृ-देवता का एक सप्ताह तक पूजन करना चाहिये। यह तो दन्त सहित जन्म के लिये है। ऊपर के दाँतों के

---

[1] मै० सं० २, ७, १९८।

सम्बन्ध में सुन्दर आसन पर बैठाकर सर्वविध, सबीज औषधियों, फलों, गन्धों से स्नान करके अग्नि, सोम तथा वायु देवताओं की पूजा करनी चाहिये। इसमें सर्वप्रथम **देवदेव केशव** की प्रतिमा की स्थापना तथा यथाविधि होम करने का आदेश होने के कारण यह पौराणिक शान्ति है। क्या यह 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' से लिया गया है?

इसी प्रकार **अकालप्रसवा** तथा **कालातीतप्रजा** नार्यों के देश से निकाल देने तथा ब्राह्मण-तर्पण-पूजन का विधान किया गया है, जो शान्ति का विचित्र प्रकार है।

नित्यरुद्र जपविधि में ग्राम से उत्तर या पूर्व में शुद्ध स्थल, नदी या तालाब के तीर पर प्राणायाम करके **रुद्र स्नान** करना चाहिये, जिसमें स्नान करके रुद्र के नाना नामों का अपने अंगों में न्यास किया जाता है। तदनन्तर मन्त्रपूर्वक[1] दिग्देवताओं को सम्पुट प्रणाम करने का विधान है। साधक स्वयं का रुद्र रूप में ध्यान करे। सिक्तानुलिप्त स्थान पर 'लिङ्गपद्माकृति' को स्थापित करके प्रोक्षणानन्तर समन्त्रक अर्चना करे। पाँच मन्त्रों[2] से आवाहन करके रुद्र का ध्यान करे। तदनन्तर **नमस्ते रुद्रमन्यवे**[3] प्रभृति आठ अनुवाकों का जप करना चाहिये। **यः पथः**[4] इस मन्त्र से विसर्जन करना चाहिये।

नित्यरुद्र जपविधि के अतिरिक्त **नैमित्तिक रुद्रजपविधि** का भी विधान किया गया है। पूर्वोक्त विधि से स्नान, न्यास करके शंख या अन्य पात्र में जल लेकर दूर्वा के पुष्पों तथा अक्षतों को रुद्र के सम्मुख रखे। जिस उद्देश्य से जप करना हो, उसका ध्यान करके सात बार अथवा स्वाध्याय के लिये आठ बार भी जप कर सकता है। यदि प्रजा को (महामारी प्रभृति से) रुद्र ने नष्ट कर दिया हो, तो उत्तर-पूर्व दिशा में **शतरुद्र प्रिय** का जप करते हुए चङ्क्रमण करे। यहाँ न्यास के मन्त्र पूर्व मन्त्रों से भिन्न हैं। **आखुं ते रुद्र पशुं**[5] से लेकर अनुवाक के अन्त तक के मन्त्र से हृदय पर, **इदं विष्णुर्विचक्रमे**[6] से लेकर अनुवाकान्त तक सिर पर,

---

[1] मै० सं० ४, ९, २५३; ४, १०, १०८; प्रभृति मन्त्रों का विधान है।

[2] मै० सं० ४, १३, ३४; १२, ३३; २, ९, १४; २, ९, ३ ऋग् १, ८९, ५।

[3] मै० सं० २, ९, १४।

[4] मै० सं० २, ९, ५५।

[5] मै० सं० १, १०, २२।

[6] मै० सं० १, २, ६३।

ब्रह्मणस्पते सूर्यमस्य इन छह ऋचाओं, **ब्रह्मजज्ञानं**[1] तथा **ब्रह्मा देवानाम्**[2] इन सभी से शिखा पर, अप्रतिरथ नामक ऋचा[3] से कवच पर, **आदित्या नाम् वसाः** इन षड् ऋचाओं से चक्षुओं पर न्यास करे। अन्त में **नमः शम्भवे च**[4] इन तीन ऋचाओं से पलाश की समिधाओं को घी में भिगो कर हवन करे।

इसके अतिरिक्त प्रवराध्याय में ऋषियों के वंशजों के लिए प्रवरों का यज्ञ, विवाहादि संस्कारों में गोत्र के समान ही उच्चारण होना और अध्वर्यु द्वारा क्रमशः ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर प्रवरों का उच्चारण किये जाने का निर्देश है। प्रवर एक, तीन या पांच हो सकते हैं। इसमें निम्नलिखित ऋषियों की वंश-परम्परा का उल्लेख किया गया है[5]— भृगु, जमदग्नि, आंगिरस, विश्वामित्र, वशिष्ठ, कश्यप, अत्रि तथा अगस्त्य[6]। राजन्यों में प्रवर पुरोहित अथवा आचार्य के प्रवरों के अनुरूप ही होते हैं। इसी प्रकार वैश्यों को भी जानना चाहिये। अन्त में **श्राद्धकल्प** नामक परिशिष्ट है, जिसके अन्तर्गत सामान्य श्राद्धों तथा आभ्युदयिक श्राद्धों पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम तो गद्य-पद्यात्मक हैं, द्वितीय दो-तीन वाक्यों के अतिरिक्त शेष समस्त पद्यमय ही है। अन्त में एक श्राद्ध-परिशिष्ट भी दिया गया है, जिसमें श्राद्ध-सम्बन्धी कुछ-एक कर्तव्याकर्तव्यों की चर्चा की गयी है। यह समूचा परिशिष्ट पौराणिक रचना है, जिसमें गया-श्राद्ध का भी उल्लेख है।

अनुग्राहिकम्

मैत्रायणीयों की मानवशाखा के श्रौतसूत्र का परिशिष्ट **अनुग्राहिक**[7] भी है, जो यज्ञानुष्ठान में सहायक होने के कारण **अनुग्राहिक** कहलाता है। इसमें कुल २६ खण्ड हैं, तथा मानवश्रौतसूत्र के अष्टम अध्याय के रूप में प्रकाशित हुआ है। इसमें कुल २६५ सूत्र तथा तीन कारिकाएं समाविष्ट हैं, जिनमें निम्नलिखित विषयों का प्रतिपादन किया गया है। प्रथम खण्ड में सायं-प्रातर्होम उपोदय या

---

[1] मै० सं० ४, १४, १३७।

[2] मै० सं० २, ७, १९७।

[3] मै० सं० ४, १२, १७८।

[4] मै० सं० २, १०, ३४।

[5] मै० सं० ४, १४, १९८-२०३।

[6] मै० सं० २, ९, ३३।

[7] 'अनुग्राहिक' (वा० गृ० सू० खण्ड २० तथा २१ के मध्य में परिशिष्ट), उदयनारायणसिंह सं०, पृ० ५९।

उपास्तमय समय में करने का विधान है। अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, पशुबन्ध तथा आग्रयण के समय का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता, किन्तु यायावर, रोगी तथा आर्त्त व्यक्ति के लिये पक्ष में एक बार विशेष प्रकार के अग्निहोत्र का निर्देश है। छह मास तक इन यागों को न करने पर तन्तुमान् तथा पथिकृत् अग्नियों के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश के निर्वपन का विधान है। वर्ष भर का व्यतिक्रम होने पर इसके अतिरिक्त अग्निवैश्वानर के लिये द्वादश कपाल पुरोडाश या केवल पूर्णाहुति का विधान है।

द्वितीय खण्ड में **आज्यहोम** के सम्बन्ध में आज्य के अभाव में तेल, दही, दूध, यवपिष्ट या तण्डुलपिष्ट प्रतिनिधि हो सकते हैं। परिस्तरणार्थ दर्भों के अभाव में उनके प्रतिनिधियों, इध्मों, परिधियों, पवित्र तथा कपालों के परिमाणों का निर्देश किया गया है।

तृतीय खण्ड में वत्सापाकरण के पश्चात् गौओं के अपहरण या मरण हो जाने पर दुग्ध के अभाव में पञ्चशराव ओदन अथवा पिष्टयवागू का प्रयोग करना चाहिये।

चतुर्थ में पुत्रोत्पत्ति के समय शमी के गर्भ में उत्पन्न अश्वत्थ की दस या बारह अंगुल की अरणियों से अभिमन्थन करके जातकर्म करना चाहिये। इसी अग्नि में उसके सभी संस्कार होंगे और इसी में ब्रह्मौदन पकाकर यथेष्ट सोमयाग किये जा सकते हैं। पञ्चम में आहवनीय, गार्हपत्य, सभ्य तथा आवसथ्य अग्नियों द्वारा **पञ्चाग्नि होम** का विधान है।

षष्ठ में मरणासन्न व्यक्ति की अग्न्याधान की इच्छा होने पर ऋतु, नक्षत्र, स्थान, सामग्री-विषयक किसी नियम के बन्धन का निषेध केवल बाम्बी की मिट्टी (बाल्मीक वपा) तथा दर्भों के निर्वपन का विधान किया गया है। मथित अग्नि से व्याहृतियों के उच्चारण से पांचों अग्नियों की स्थापना करनी चाहिये। पूर्णाहुति से पूर्व मृत्यु हो जाने पर पूर्णाहुति करके आहिताग्नि के समान दाह करना चाहिये। अन्यथा आग्नेय इष्टि करके करना चाहिये।

सप्तम में—आहिताग्नि के लिए बाहर जाने की अवस्था में सोमयाग करके आहवनीय प्रभृति अग्नियों को अरणी समेत गार्हपत्य में डाल कर **अग्निमान्** अग्नि के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश का विधान है।

अष्टम में—गार्हपत्य में ओदन पका कर आग्रायण देवताओं के निमित्त हवन करके या नवजात सस्यों में गौ को छोड़कर उसके दुग्ध से अग्निहोत्र करके नवीन अन्न को खाने का विधान है। नवीन फलों के न पकने पर भी इसी प्रकार करने का निर्देश है।

स्वर्ग की कामना करने वाले को १५ दाक्षायण यज्ञ करने चाहियें। यूप के लिये गढा खोदने तथा उसके लिए वृक्ष को काटने के नियमों तथा लक्षणों का विधान भी किया गया है। यूप (वृक्ष) को पूर्व की ओर ही गिराना चाहिये, अन्यथा अनेक प्रकार के अनिष्टों की सम्भावना होती है।

१५वें खण्ड में सवन से सम्बद्ध पशु के अंगों का ऋत्विजों, यजमान तथा पत्नी प्रभृति में विभाजन के प्रकार का निर्देश है।

अष्टादश में सर्वमेध यज्ञ में सर्वविध वनस्पतियों के रस को स्विष्टकृत् से पूर्व हवन में यथेष्ट मात्रा में डालने का निर्देश है। दक्षिणा में सर्वस्व दान दे देने तथा सभी अग्नियों को स्वयं में आरोपित करने का विधान है।

उन्नीसवें में आहिताग्नि की मृत्यु पर उसे चिता पर डालकर, कृष्णाजिन बिछाकर, तिल छिड़क कर, समन्त्रक पूर्णाहुति करके उसके कर्ण प्रभृति छिद्रों में हिरण्य शकलों को रख कर, मुख में व्याहृतियों से हवन करके, यज्ञपात्रों को उसके अंगों पर स्थापित करके, एकवर्णा गौ या अजा का शव के दक्षिण-पश्चिम में वध करके, उसकी वपा से शव का मुख ढक कर, तिल छिड़क कर शेष अंगों को शव के अंगों पर स्थापित करके, अथवा गार्हपत्य में दुग्ध तपा कर, उसकी मलाई से मुख को ढक कर, तीन अग्नियों से घास के तीन पूलों को जला कर दाह करने का विधान है। किन्तु (२०वें) में अनाहिताग्नि का शाला-अग्नि या मथित अग्नि से दाह करने का निर्देश है।

इक्कीसवें में परदेस में या युद्ध में मरने वाले की अस्थियां प्राप्त न हो सकने पर घासफूस (कक्ष) तथा यज्ञपात्रों के पुतले के दाह का विधान है और अस्थिचयन, अशौच, ब्राह्मण भोजन और 'अस्थियों' को खाई खोदकर गाड़ देने का निर्देश किया गया है।

तेईसवें में विधवा के व्रत का प्रतिपादन तथा मृत पत्नी का शाला अग्नि या निर्मथित अग्नि से दाह करने का विधान है। यदि उसका दाह अग्निहोत्र की अग्नि से किया जायेगा, तो जन्मान्तर में पुरुष स्त्री और स्त्री पुरुष बन जाएगी। अतः गार्हपत्य में उखा रखकर उसमें कपास, गोबर का चूर्ण, मुञ्ज की घास, सन, सरकण्डे, फूस, पूगीफल तथा घृत से अग्नि प्रज्वलित करके दाहकर्म करना चाहिये।

पच्चीसवें में संन्यास की विधि बतायी गयी है। संन्यास के इच्छुक व्यक्ति को चाहिये कि वह अष्टाकपाल पुरोडाश **पथिकृत्** अग्नि के लिए तथा द्वादश कपाल **वैश्वानर** अग्नि के लिए निर्वपन करके समस्त सम्पत्ति को त्याग कर सभी अग्नियों को स्वयं में समारोपित करके सभी यज्ञ पात्रों को वेदि में मनुष्याकार स्थापित करके तीनों अग्नियों से जलाए हुए घास के तीन पूलों से जलाकर, तीनों

अग्नियों से भस्म की मुट्ठियां लेकर चारों दिशाओं में बिखेर कर, अन्तिम बार ठोकर मार कर पीछे देखे बिना चल दे और फिर कभी न लौटे।

छब्बीसवें में पांच **तीर्थसञ्चारों** का वर्णन किया गया है, जिनके मध्य से यज्ञ के समय विशिष्ट-विशिष्ट कार्यों के लिए आ-जा सकते हैं। ये **सञ्चार** या मार्ग ये हैं— (१) आहवनीय तथा उत्कर के मध्य—इसमें से पात्र, पत्नियां, कन्याएं, उदक, आज्य, हविष्य, समिधा आ-जा सकती हैं। (२) चात्वाल-उत्कर के मध्य—यह ऋत्विजों, यजमान तथा सदस्यों के लिए है। (३) चात्वाल-आहवनीय के मध्य—यह पशु, वपा, पूंछ (जंघा) यूप के लिए है। (४) आहवनीय-स्रुच् के मध्य—जो यजमान तथा अध्वर्यु के दक्षिण की ओर जाने के लिए है। (५) परिधियों की दक्षिण सन्धि—यह आश्रावण, सम्प्रेषण, स्वाहाकार, वषट्कार प्रभृति के लिए है।

संस्करण—(१) पं० भगवद्दत्त तथा विद्याधर विद्यालङ्कार सम्पा०, लाहौर, सं० १९९९ (अत्यन्त भ्रष्ट)।

(२) मानवश्रौ० सू० के अष्टम अध्याय के रूप में कु० वान् गैल्डर सम्पा०, नई दिल्ली, सन् १९६१।

अष्टात्रिंश अध्याय

कृष्णयजुर्वेदीयपरिशिष्ट २

बौधायनगृह्यशेषसूत्र (परिशिष्ट)

कैलैण्ड के अनुसार बौ० गृ० सू०, बौधायनकल्पसूत्र के प्रश्न ३३ से ३५ तक सीमित है। तदनन्तर एक (३६) प्रश्नात्मक **गृह्यप्रायश्चित्त** प्रकरण है, तदनन्तर (३७) एक प्रश्नात्मक **परिभाषा** प्रकरण है तथा तत्पश्चात् (३८-४१) चार प्रश्नात्मक **गृह्यपरिशिष्ट** प्रकरण है। बूह्लर के अनुसार भी प्रश्नों का अनुपात यही है, किन्तु मैसूर संस्करणों[1] में इस परिशिष्ट के पांच प्रश्न हैं, जो कैलैण्ड अथवा बूह्लर, दोनों के हस्तलेखों में नहीं पाये जाते, अतः उनकी सम्मति में यह पांचवां प्रश्न परिशिष्ट का अनिवार्य भाग नहीं है।

बौधायनकल्पसूत्र का अन्य अनेक ग्रन्थों के समान (यथा वैयाकरण महाभाष्य) किसी समय विनाश हो गया था, अतः उसके विलुप्त भागों के पुनरुपन्यास के फलस्वरूप इन में पश्चात्-कालिक विचार तथा क्रियाकलाप का समावेश कर दिया गया, जिनके संग्रह में अनेक व्यक्तियों ने विभिन्न समयों में योगदान दिया। अतः बूह्लर के मतानुसार गृह्यसूत्र के नौ प्रश्नों में से बहुत अल्पभाग ही वास्तविक मूल ग्रन्थ से सम्बन्ध रखता है। इसमें **अनुकृतियों** (जिनसे मिलते-जुलते कृत्यों का वर्णन पहले आ चुका है), प्रायश्चित्तों का विवरण दिया गया है। तदनन्तर परिभाषा प्रभृति अनेक विषयों का समावेश है, जिनमें से कुछेक की चर्चा पहले की जा चुकी है और कुछेक नवीन विषयों की वृद्धि की गयी है। जिन नवीन विषयों की वृद्धि की गयी है, उनमें अधिकांश प्राचीन कर्मकाण्ड अथवा पूजा-पद्धति से सम्बद्ध न होकर नवीन पौराणिक क्रिया-कलाप का विधान करते हैं, जिनके अन्तर्गत शिव, स्कन्द, नारायण तथा अन्य देवी-देवताओं की पूजा-आराधना तथा तान्त्रिक कर्मकाण्ड सम्मिलित हैं।

---

[1] मैसूर विश्वविद्यालय से आर० शामशास्त्री सम्पादित तथा राजकीय प्राच्य पुस्तकालय से एल० श्रीनिवासाचार्य द्वारा सम्पादित। खेद है कि गृह्यप्रकरण (कल्पसूत्र, पृ० २६७) में भूल से बौ० गृ० सू० के एल० श्रीनिवासाचार्य के संस्करण का उल्लेख नहीं किया गया। विज्ञजन इसे सुधारने की कृपा करें (लेखक)।

परिशिष्ट भाग की रचना पद्धति भी पूर्वभाग से भिन्न है। यहां सूत्रों के स्थान पर अनुष्टुप् छन्दों में श्लोकबद्ध विधि-विधान दिये गये हैं, जो स्मृतियों तथा पुराणों से मेल खाते हैं। इनमें भाषा तथा शैली भी एकसी नहीं है, जिससे सिद्ध होता है कि इनकी रचना विभिन्न समयों में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा की गयी है[1]।

किन्तु बूह्लर का यह कथन समीचीन नहीं कि समूचे गृह्यपरि० की रचना अनुष्टुप् छन्द में की गयी है और गृ० परि० के इस भाग में तन्त्र का प्रभाव परिलक्षित होता है और न ही इन श्लोकों का साम्य ही किसी पुराण में पाया जाता है।

इस परिशिष्ट में प्रतिपादित पूजा शुद्ध पौराणिक न होकर ब्राह्मणग्रन्थों की देवपूजापद्धति पर पौराणिक पूजापद्धति का मुलम्मा चढ़ाया गया है। ब्राह्मणों की पूजापद्धति के उदाहरण अन्य परिशिष्टों में पाये जाते हैं[2], किन्तु वे बौ० गृ० परि० से भिन्न प्रकार के हैं। बौ० गृ० परि० के प्रतिपाद्यों का निकटतम उदाहरण वै०गृ०सू० में पाया जाता है, जहां विष्णु की पूजा का विधान किया गया है, जो पौराणिक विष्णु-पूजा से बहुत साम्य रखता हैं। प्रथम प्रश्न में **औपासन** तथा प्रजासंस्कारार्थ अग्नि की स्थापना के विधान के अनन्तर **स्थण्डिलविधि** का व्याख्यान, **नामकरण विधि, कर्णवेध**, **नक्षत्रहोम, नवग्रहपूजा विधि, ग्रहशान्ति, अश्वशान्ति, गजशान्ति, यमयज्ञ, राजाभिषेक विधि, पञ्चमीश्राद्ध, गर्भाधान, यज्ञोपवीतविधि** का विधान किया गया है।

द्वितीय प्रश्न के अन्तर्गत राजन्य, वैश्यादि की उपनयनविधि, **अश्वत्थ-संस्कार, पुनर्विवाह** के प्रतिपादन के पश्चात् **विष्णुप्रतिष्ठाकल्प** (विष्णु के एक रूप) 'महापुरुष' की **परिचर्याविधि, विष्णुस्नपन, रुद्रप्रतिष्ठाकल्प** 'महादेव' की **परिचर्याविधि, रुद्रस्नपनविधि, पुनःप्रतिष्ठाकल्प, पञ्चगव्यविधि, सामान्यतस्स्नपन विधि, देवस्नपन**।

तृतीय प्रश्न में—विष्णु तथा रुद्र की पूजा की सामान्यविधि, उपश्रुतिकल्प दुर्गाकल्प, श्रीकल्प, सरस्वतीकल्प, विष्णु, रवि, ज्येष्ठा, विनायक तथा रुद्र को पूजा विधि, यम, तथा ईशानकल्प भी विहित हैं। **वृषोत्सर्ग, जीवश्राद्ध, नारायण-बलि** प्रभृति।

---

[1] बूह्लर, जी०, एस० बी० ई०, १४, पृ० XXXII-XXXIII.

[2] आश्व० गृ० परि० II, में **आवाहनमासनं पाद्यमर्घ्यमाचमनीय** प्रभृति उपचारों का विधान किया गया है।

चतुर्थ प्रश्न में—धूर्त (स्कन्द-कार्तिकेय) बलि। पञ्चम प्रश्न में महत्त्वपूर्ण अर्कोद्वाह (अर्कविवाह) है।

यद्यपि इस रचना में किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता के चिह्न उभर कर सामने नहीं आये, और विष्णु तथा शिव-रुद्र एवं उनके घरानों के अन्य व्यक्तियों की पूजा-आराधना में समभाव पाया जाता है, तो भी विष्णु की ओर कुछ अधिक झुकाव लक्षित होता है।

भगवद्गीता से उद्धरण,[1] वैष्णव शब्द का सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयोग[2] तथा कर्म के पश्चात् भोजन के लिए बैठे आराधक को उच्चस्वर से अपने वैष्णव होने की घोषणा करने तथा 'मैं भी वैष्णव हूँ' इस प्रकार उत्तर देने वाले को अपने साथ भोजन कराने के निर्देशों से इस लेखक की प्रवणता स्पष्ट हो ही जाती है। यही नहीं, अपितु भगवान् वासुदेव के साथ बलराम के लिए भी आहुति[3] देने के विधान से इसकी कृष्णभक्ति स्पष्ट हो जाती है। श्रीकृष्ण का विशेषण **जगद्धित**[4] दिया गया है, किन्तु यह स्पष्ट कहीं नहीं कहा गया कि श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार हैं।

विष्णु के 'शङ्ख' का उल्लेख किया गया है, तो रुद्र के 'बैल' का भी[5]।

ब्रह्मा का भी अनेक बार उल्लेख किया गया है, किन्तु त्रिमूर्ति की स्पष्ट चर्चा कहीं नहीं की गयी।

हार्टिंग की सम्मति में इनमें से भी कुछ एक अध्याय अन्य अध्यायों से बहुत पीछे जोड़े गये हैं, अतः कालविशेष की बात करना असम्भव है।

रुद्र की पूजा वैकल्पिक है, लिंग के रूप में करो या प्रतिमा के रूप में। लिंगपूजा में चक्षुओं के अभाव के कारण **चक्षुर्विमोचन** की क्रिया का निषेध किया गया है[6]।

धूर्त (कार्तिकेय) की पूजा (बलि) का भी विधान किया गया है, किन्तु हार्टिंग के अनुसार स्कन्द के लिए 'धूर्त' शब्द का प्रयोग पुराणों में नहीं पाया

---

[1] २, २—पत्रं पुष्पं फलं तोयं ··· ···।

[2] १, ७।

[3] ३, ७—वासुदेवाय स्वाहा, बलदेवाय स्वाहा, विष्णवे स्वाहा, श्रयै स्वाहा।

[4] २, १५।

[5] २, २२।

[6] २, १६—लिंगे चेन्नि वर्तते, चक्षुषोरभावाद्।

जाता, अलबत्ता चोरों-लबारों द्वारा स्कन्दों की पूजा-आराधना का उल्लेख संस्कृत साहित्य में पाया जाता है। इस विषय में ध्यातव्य है कि **धूर्त** की मूर्ति की परिक्रमा में मूर्ति को अपसव्य (बायें) रखने का विधान है[1], जो सामान्यतया पितरों पर ही लागू होता है या फिर उन कृत्यों पर जिनमें किसी को हानि पहुंचाने का अभिचार इष्ट हो[2]। यहां **ज्येष्ठकल्प** तथा **उपश्रुतिकल्प** नाम के दो कृत्य सर्वथा नवीन हैं।

उपश्रुति एक ऐसी रात्रिदेवता है, जिसका शब्द रात्रि को सुना जाता है और जो भविष्य को व्यक्त करती है। इसका उल्लेख महाभारत (५, १३, २६) में आता है। पुराणों में अन्यत्र कहीं इसका उल्लेख नहीं मिलता।

'ज्येष्ठा' लक्ष्मी की ज्येष्ठ बहिन का नाम कहा जाता है, जो समुद्रमन्थन के समय निकली थी, ऐसा पद्मपुराण में वर्णन है, अन्यत्र नहीं पाया जाता, वहां इसे श्री भी कहा गया है। इसका विशेषण **पुण्डरीकाक्षी** भी है।

हस्तिमुख (विनायक) तथा **विघ्नपार्षदा** गणेश तथा उसकी स्त्री पार्षद को व्यक्त करते हैं।

बौधायन परिशिष्ट में दुर्गा के ग्यारह रूपों का उल्लेख पाया जाता है, जिनमें 'महावैष्णवी' तथा 'महारौद्री' स्पष्ट ही क्रमशः विष्णु तथा रुद्र की शक्तियां हैं। इन नामों से शक्तिपूजा अवश्य झलकती है, किन्तु अपने वास्तविक रूप में तन्त्रविद्या का उदय उस समय हो चुका था और उससे प्रभावित होकर ही इस परिशिष्ट में इन नामों का प्रयोग किया गया, इसमें कोई स्वतन्त्र और सिद्ध प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

इस परिशिष्ट की पूजापद्धति वैदिक ही है। यद्यपि देवता (तान्त्रिक) पौराणिक हैं, क्योंकि यहां मन्त्र पूरे पढ़े जाते हैं, बीजाक्षरों के रूप में नहीं। यही परिशिष्ट पश्चात्कालिक निर्णयसिन्धु में ज्यों का त्यों उठाकर लिया गया है, किन्तु बीजाक्षरों की एक लम्बी तालिका साथ संलग्न कर दी गयी है, जिससे इन अर्धवैदिक देवी-देवताओं और उनकी पूजापद्धति को सर्वथा तान्त्रिकरूप प्रदान कर दिया गया। बौ० गृ० परि० में वैदिक पूजापद्धति पर पौराणिक पद्धति तथा विचारधारा के आरोप का प्रयास दृष्टिगोचर होता है, जो निर्णयसिन्धु तक पहुँचते-पहुँचते पूर्णरूपेण तान्त्रिक-पौराणिक हो गया।

---

[1] ४, २—नृत्यन्तस्त्रिरपसलैः परियन्ति।

[2] तु० षड्० ब्रा० २, १०—यथा श्मशानकरणं तथाभिचारणीयानाम् (देवयजनकरणम्)।

पञ्चम प्रश्न (५, ५) में तृतीय विवाह तथा अन्ध-जड़-मूक-बधिर प्रभृति के लिए अर्क-विवाह का विधान किया गया है। पुण्य समय में ग्राम से बाहिर प्राची या उदीची दिशा में जाकर एक बाल अर्क (आख्य) से उत्तर की ओर उपलेप करके स्वयं स्नान कराके, अर्क को स्नान कराके, नान्दीमुख श्राद्ध करके, ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर अर्क को स्पर्श करके आदित्योपस्थान करे, तथा वस्त्र एवं मंगलसूत्र अर्क को बांध कर पुण्याहवाचन करके, अग्नि को प्रज्वलित करके, परिस्तरण करके आज्य को गरम करके, स्रुक-स्रुव का सम्मार्जन, आदित्य का ध्यान करके, अर्क को समन्त्र थाम कर अग्नि की प्रदक्षिणा करके, अर्क की जड़ को स्पर्श करके समन्त्र आदित्य को देखकर, व्याहृतियों से होम करके स्रुक् में तीन बार चतुर्गृहीत आज्य को ग्रहण करके समन्त्र आहुति देकर, स्रुक् से व्याहृतियों से होम करके, समाप्त करके, गोदुग्ध से अर्क को स्पर्श करके, आदित्य सूक्त पढ़ कर, दूध को पीकर, आचमन करके, आदित्योपस्थान करके, अर्क के अधिदेवता का विसर्जन करके, अर्क को उखाड़ कर व्याहृति मन्त्रों से अग्नि में जला कर, स्नान करके कुछ दान देकर शुद्ध हो जाता है।

इस प्रकार के विवाह के पीछे भावना यह है कि किसी प्रकार तृतीय विवाह करने वाले की पत्नी पर से संख्या तीन का अशुभ प्रभाव टल जावे। अर्क को जलाने के पीछे भी उस अशुभ प्रभाव का नाश ही अभिप्रेत है। इस प्रकार उसका विवाह वास्तव में चतुर्थ गिना जाता है।

तन्त्र—बूह्लर ने इस परिशिष्ट में तन्त्र के प्रभाव की बात कही है। यदि यहां कहीं भी तन्त्र का आभास हो सकता है, तो वह दुर्गापूजा में सर्वाधिक व्यक्त होना चाहिये (परि० ३, ३) किन्तु जैसे ऊपर कह चुके हैं, शक्तिपूजा मूलतः तान्त्रिक विचारधारा से प्रभावित नहीं थी[1]।

बौधायन द्वारा उल्लिखित दुर्गा के ११ नामों में से एक 'महावैष्णवी' भी है, जो विष्णु की शक्ति है[2]। साथ ही साथ इसे 'महोरौद्री' भी कहा गया है। पूजापद्धति मुख्यरूपेण वैदिक ही है। तन्त्र का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता[3]।

रचना-काल

इसके रचना-काल का निर्णय करना टेढ़ी खीर है। यह स्पष्ट है कि एक ओर परिशिष्ट मूलगृह्यसूत्र से पश्चात्कालिक है, तो दूसरी ओर स्वयं परिशिष्ट

---

[1] Harting, p. XXIII.

[2] मार्क० पु० ८२।

[3] Harting, p. XXIII.

के भीतर अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक समयों में रचित अनेक विभागान्तर दृष्टिगोचर होते हैं।

द्वितीय प्रश्न (२, २२) में भगवद्गीता से एक श्लोक (९, २६) ही उद्धृत नहीं किया गया, अपितु वासुदेव कृष्ण की उपासना का भी प्रतिपादन किया गया है। इस उपासना के उद्भव और विकास के काल के विषय में भी अनेक अटकलें लगायी गयी हैं। जो ४०० ई० पू० से पञ्चम शती ई० तक व्याप्त हैं।

पाश्चात्य विद्वान् इसे ४०० ई० के आसपास रखना चाहते हैं, तो भारतीय समालोचकों की दृष्टि में इसका उदय ५०० ई० पू० से पूर्व हो चुका था।

देवकीपुत्र कृष्ण का उल्लेख छां० उप० ३, १७, ६ में हो चुका है। तदनन्तर पा० (७००-५०० ई० पू०) के एक सूत्र के अनुसार वासुदेव नामक देवता की भक्ति पा० से पूर्व आरम्भ हो चुकी थी और उसके भक्त 'वासुदेवक' कहलाते थे (पा० ४,३, ९८)। पतञ्जलि ने इस सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट किया है कि यह वासुदेव कोई क्षत्रिय न होकर देवता-विशेष था, इसी कारण पा० को गोत्र तथा क्षत्रियवाचक शब्दों से वुञ् करने के लिए एक पृथक् सूत्र (पा० ४, ३, ९९) का निर्माण करना पड़ा पड़ा। इससे स्पष्ट है कि पतञ्जलि के मतानुसार वासुदेव नामक आराध्य देवता विशेष के रूप में प्रतिष्ठापित हो चुका था। एक अन्य सूत्र में व्याख्याकारों ने स्पष्ट किया है पा० के काल में वासुदेव प्रभृति की मूर्तियां भी भी स्थापित हो चुकी थीं (पा० ५, ३, ९९) तथा उन से जीविका चलाने वाले पुजारी विद्यमान थे।

बौद्धग्रन्थ 'खुद्दकनिकाय' के अन्तर्गत निद्देस ग्रन्थ में अनेकों प्रकार से प्रचलित पूजापद्धतियों के अन्तर्गत वासुदेव तथा बलदेव के आराधकों की भी चर्चा की गयी है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में यूनानी राजदूत मैगस्थनीज लिखता है कि शूरसेन लोगों में हेराक्लेस (श्रीकृष्ण) की पूजा प्रचलित थी।

चित्तौड़ के निकट घोसुंडो ग्राम में मिले एक मौर्य अभिलेख में सङ्कर्षण तथा वासुदेव के लिए पूजा शिला तथा उसके चारों ओर 'नारायण वाटिका' का बाड़ा बनाने की बात कही गयी है[1]। अतः मौर्यकाल (चतुर्थ शती ई० पू०) में नारायण तथा वासुदेव की पूजा का 'अभिलेखों' पर आधृत प्रमाण भी मिल जाता है, जिसकी हार्टिंग को बहुत लालसा थी[2]। अतः ५०० ई० पू० से पहले ही वासुदेव पूजा आरम्भ हो चुकी थी।

---

[1] जयचन्द्र विद्यालङ्कार, भारतीय कृषि का क, ख, पृ० १२१।

[2] P. N. U. Harting, *selections from the Baudhayana Gṛhya Pariśiṣṭa, Sutras, Intro.*, p. XXIV.

अतः इस आधार पर यदि बौ० गृ० सू० सर्वप्राचीन गृह्यसूत्रों में गिना जाता है, तो इसका परिशिष्ट भी कम से कम ३०० ई० पू० के आस-पास तो निर्मित मानना ही चाहिये।

स्कन्द की पूजा भी साथ-साथ आरम्भ हो चुकी थी। अतः यह परिशिष्ट २०० ई० पू० से अर्वाचीन नहीं माना जा सकता।

संस्करण—(१) बौधायन गृह्यसूत्र के प्रत्येक संस्करण में उपलभ्य है।

(२) P. N. U. Harting, selections from the Baudhāyana Gṛhya Pariśiṣṭa Sūtra, Text with Intro. and Translation in English.

आपस्तम्ब मन्त्रपाठ

जैसे कि गृह्यसूत्र प्रकरण में दर्शाया जा चुका है, आपस्तम्ब गृह्यसूत्र केवल गृह्य कर्मों का कृत्यमात्र प्रस्तुत करता है। कृत्यों में प्रयुज्यमान मन्त्रों के लिए वह 'आपस्तम्ब मन्त्रपाठ' का आश्रय होता है, जो आपस्तम्बीय कृत्य का २५-२६ प्रश्नद्वयात्मक है। गो० गृ० सूत्र के विषय में चर्चा करते हुए डा० वनावर ने कहा है कि इस गृ० सू० का निर्माण 'मन्त्र-ब्राह्मण' के आधार पर हुआ है[1] और यदि कुछ मन्त्र 'मन्त्र-ब्राह्मण में नहीं पाये जाते, तो इसका कारण यह है कि मं० ब्रा० गृह्यकृत्यों से असम्बद्ध अन्य कुछ नहीं कहना चाहता था। दूसरी ओर ओल्डनबर्ग के अनुसार यह गृह्य सूत्र तथा मं० ब्रा० दोनों एक ही साथ एक ही योजना के अन्तर्गत निर्मित हुए हैं। एक ही कर्ता ने मं० ब्रा० में अनुपलभ्यमान छोटे-छोटे मन्त्रों को गृ० सू० में केवल इसलिए रख दिया है कि कृत्यों को स्पष्ट तथा असन्दिग्ध रूप में प्रस्तुत किया जा सके। दीर्घकाय मन्त्रों को ग्रन्थकार ने पृथक् मन्त्रपाठ में रख दिया है और यही योजना आप० गृ० सू० तथा आप० मन्त्रपाठ में भी दृष्टिगोचर होती है[2], किन्तु वनावर ने स्पष्ट किया है कि मं० ब्रा० के ३३ छोटे मन्त्रों में से २८ को गो० गृ० सू० में सकल पाठ में पढ़ा गया है। अतः उपर्युक्त तर्कसंगत नहीं है, न परम्परा से ही मं० ब्रा० को गोभिल की कृति सिद्ध किया जा सकता है। निश्चय ही इन मन्त्रों की रचना गृह्यकृत्यों को ध्यान में रख कर की गयी है, किन्तु श्रौतसूत्रों से पूर्व वैदिक संहिताओं के समान ही गृह्यसूत्रों से पूर्व मन्त्रों, संहिताओं अथवा मन्त्रब्राह्मणों

---

[1] *Das Gobhila Gṛhya sūtra herausg. Und ubersetzt* by Von Der Friedrich Knauer, II (Dorpet, 1886), p. 22-34.

[2] S. B. E. XXX, p. 54-58 and 249.

की रचना हो चुकी थी[1]। अन्तर केवल इतना है कि गो० गृ० सू० की अपेक्षा आप० गृ० सू० अपने मन्त्रपाठ पर कहीं अधिक निर्भर करता है तथा मन्त्रपाठ की ओर बार-बार सङ्केत करता है, यथा **उत्तरया, उत्तरेण, यजुषा, उत्तरेण** इत्यादि[2]। आपस्तम्बीयों को गृह्यसूत्र से पूर्व मन्त्रपाठ कण्ठस्थ करना होता है, यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि कल्प में दो मन्त्र प्रश्नों को गृ० सू० से पूर्व ही रखा गया है,[3] अतः यह मन्त्रपाठ गृह्यसूत्रों से पूर्व विद्यमान था और इसकी रूपरेखा वही थी जो आज है, किन्तु विण्टरनित्स का यह आग्रह सर्वथा अयुक्त है कि यद्यपि उस समय में लेखनकला विकसित हो चुकी होगी[4], तो भी यह नहीं माना जा सकता कि मन्त्रपाठ या गृह्यसूत्रों के निर्माता ने अपनी रचनाओं को लिखित रूप दिया था या लिखित पुस्तकों का कभी प्रयोग भी किया था[5]। आप० गृ० सू० से भी इस बात का संकेत प्राप्त होता है कि आप० मन्त्र० का रचयिता गृह्यकार से भिन्न था। आप० गृ० सू० (९, २ तथा अग्रे) का विवाह से कोई सम्बन्ध न होते हुए भी इनका समावेश इस प्रकरण में केवल मन्त्रपाठ के अनुसार कर दिया गया है[6]। आत्रेय शाखीय काण्डानुक्रम के अनुसार संहिता में आठ काठक काण्डों के अनन्तर **वैश्वदेव** नामक एकाग्निकाण्ड का उल्लेख है,[7] जिसमें **परिषेचन** मन्त्र **अदितेऽनुमन्यस्व** प्रभृति, तथा **वैश्वदेव** मन्त्र[8] तथा **प्रश्नद्वय** अर्थात् प्रस्तुत मन्त्र-पाठ का समावेश है[9]। विण्टरनित्स के अनुसार काण्डानु० की रचना तै० ब्रा० तथा तै० आर० की अन्तिम व्यवस्था से पूर्व ही हो चुकी थी, क्योंकि इनमें परस्पर भेद पाया जाता है (उपोद्० पृ० ३९)। किन्तु काण्डानु० तथा तै० ब्राह्मण एवं तै० आर० के शाखाभेद के कारण भेदविषयक यह विचार सम्भावनामात्र से अधिक कुछ नहीं है[10]।

---

१. विण्टरनित्स, आप० मन्त्र, भूमिका, पृ० ३२। हरदत्त कृत 'एकाग्निकाण्ड व्याख्या' सहित, विण्टरनित्स द्वारा सम्पादित, आक्सफोर्ड १८९७।

२. द्र० आप० गृ० सू० ४, २ ; ४, १० जहाँ मन्त्रपाठ (११वां अनुवाद) की ओर 'शेष' से संकेत किया गया है आप० गृ० सू० ११, ५, ७६ में मन्त्र पाठ २, ३, ३१ की ओर संकेत है। द्र० विण्टरनित्स, वही, पृ० ३३।

३. वही, पृ० ३४।

४. द्र० जी० बूह्लर, इण्डिसेलियो०, पृ० १७।

५. आप० मन्त्र०, उपोद्०, पृ० ३५।

६. **मन्त्राम्नाय क्रमेणैव**—सुदर्शनार्य।

७. काण्डानु० २, ८।

८. तै० आर० १०, ६७; महाना० उप० १९, २।

९. विण्टरनित्स, आप० मन्त्र० पृ० ३८ ; कीथ, तै० Tr. उपो० पृ० २९।

१०. कीथ, वही।

आप० मन्त्र० की अपनी व्याख्या को हरदत्त ने **एकाग्निकाण्डव्याख्या** की संज्ञा दी है और इसमें **परिषेचन मन्त्रों** तथा **वैश्वदेव मन्त्रों** का समावेश किया है। अतः सम्भव है कि किसी समय आप० मन्त्र० किसी एकाग्निकाण्ड का अंग रहा हो।

आप० मन्त्र० का तै० सं० से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों में १०० मन्त्र सर्वथा समानान्तर कहे जा सकते हैं, ८६ तो सर्वथा अभिन्न हैं। १४० मन्त्र ऋग्वेदीय मन्त्रों के समान्तर हैं। बौ० गृ०, भार० गृ० तथा हिर० गृ० सूत्रों में विहित मन्त्र प्रायः आप० मन्त्र० के मन्त्र ही होते हैं, किन्तु वे सर्वथा समान कृत्यों में विनियुक्त नहीं भी होते ; अतः प्रतीत होता है कि इन मन्त्र संग्रहों का स्रोत एक ही है। शुक्ल यजुर्वेद के गृह्य सूत्रों के मन्त्र भी ऋग्वेदीय मन्त्र ब्रा० से कहीं अधिक आप० मन्त्र० से मिलते हैं, किन्तु आप० मन्त्र० में बहुत से मन्त्र ऐसे भी हैं, जो किसी भी वैदिक संहिता में उपलब्ध नहीं होते। जातकर्म संस्कार में प्रयोज्य मन्त्र (२, १३) इसी प्रकार के हैं[1]। ये मन्त्र प्राचीन जन परम्परा से सम्बद्ध और सम्भवतः वैदिक ऋषियों के सूक्तों से भी प्राचीन कहे जा सकते हैं[2]। ओल्डनबर्ग के मतानुसार गृह्य मन्त्र प्राचीनतम वैदिक मन्त्रों से अर्वाचीन हैं और प्राचीन वैदिक तथा बौद्ध एवं वीरगाथाकाल के मध्यवर्ती काल में रचे गये हों,[3] क्योंकि यद्यपि गृह्यकर्म तो बहुत प्राचीन हैं, तो भी उनका मन्त्रों के साथ सम्बन्ध सोमयाग के समान ही बहुत बाद में जुड़ा है,[4] किन्तु इस धारणा को तभी स्वीकार किया जा सकता है, जब यह सिद्ध हो जाये कि जटिल सोमयाग सरल गृह्ययागों से अवश्य ही प्राचीनतर है[5]। इतना स्पष्ट है कि आप० मन्त्र० काण्डानुक्रम से प्राचीनतर है। आप० गृ० सूत्र का रचनाकाल ६०० ई० से अर्वाचीन नहीं माना जा सकता[6] और इन दोनों के मध्य में काण्डानुक्रम भी है। अतः आप० मन्त्र० की रचना ७०० ई० पूर्व से अर्वाचीन कदापि नहीं मानी जा सकती।

आपस्तम्बहौत्रस्तुति

आपस्तम्बहौत्र का प्रतिपादन आप० श्रौ० सू० (प्रश्न २४) में किया गया है, जिसका क्षेत्र दर्शपूर्णमास तक ही सीमित है। तै० ब्रा० में भी एक हौत्र

---

[1] २,१६ में मन्त्र।
[2] विण्टरनिटस, वही, पृ० ४३।
[3] S. B. E. ३०, उपो० पृ० १४।
[4] S. B. E., ३०, उपो०, पृ० १०।
[5] विण्टरनित्स, वहीं पृ० ४४।
[6] द्र० आप० गृ० सूत्र प्रकरण लेखककृत 'कल्पसूत्र' के अन्तर्गत।

प्रकरण है, जो दर्शपूर्णमास, पशुबन्ध, सौत्रामणी प्रभृति से सम्बद्ध है, किन्तु आपस्तम्ब हौत्रसूत्र दो प्रश्नों में अग्निचयन, चातुर्मास्य, पशुयाग तथा सौत्रामणी में हौत्र कर्म का प्रतिपादन करता है। सायण ने इस हौत्रसूत्र को तै० ब्रा० के भाष्य में उद्धृत किया है । इसके कर्ता तथा रचनाकाल के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है ।

व्याख्या—सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र का अंग होने के कारण इस पर महादेव की व्याख्या है।

संस्करण—सत्या० श्रौ० सू० के आनन्दाश्रम, पूना के संस्करण में बाईसवें प्रश्न से पूर्व मुद्रित हुआ है ।

बौधायन हौत्रसूत्र

यद्यपि आज बौधायन हौत्रसूत्र उपलभ्य नहीं है, तो भी इसकी सत्ता के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। बौ० श्रौ० सू० के भाष्यकार भवस्वामी तथा तै० ब्रा० के भाष्यकार सायणाचार्य ने इस सूत्र को बहुधा उद्धृत किया है।

भारद्वाज परिशेषसूत्र

यह परिशेषसूत्र भार० श्रौ० सू० की विधियों में परिवर्तन करता है, तथा परिभाषाओं का विधान करता है। इसके कुल २२२ सूत्रों में से १०२ तो परिभाषाओं से सम्बद्ध हैं, ९ अनुग्रहों से, १११ मूल सूत्र के पूरक हैं। पूरकसूत्र मूलसूत्र से प्रायः परिचित होते हैं, किन्तु परिभाषासूत्र बहुधा आप० श्रौ० सू० से मिलते हैं, स्वल्पशः बौधायन से कुछ परिभाषा सूत्र (१५८-१६९) वाराह-परिशिष्ट के परिभाषासूत्रों के समान हैं, कुछ सूत्र तो व्याख्यानात्मक हैं और सूत्रशैली से मेल नहीं खाते। इसमें आश्मरथ्य, आलेखन, बादरायण, औडुलोपि आचार्यों का उल्लेख किया है और ब्राह्मण-सदृश वाक्यों को उद्धृत किया गया है। सम्भवतः यह सूत्र कण्डिकाओं में विभक्त था और भारद्वाज श्रौतसूत्र का अंग था। इस सूत्र में कृत्यों का कोई विशेष क्रम नहीं अपनाया गया। कृत्यों के विवरण प्रायः बौधायन तथा आपस्तम्ब के विवरणों के समानान्तर हैं, किन्तु कुछ नवीनता भी रखते हैं, यथा, अतिपवित्रेष्टि, १५ दिनों में समाप्य चातुर्मास्य तथा १२ दिनों में सम्पाद्य चातुर्मास्य। इसमें एक तिहाई सूत्रों में ऐसे कृत्य प्रतिपादित हैं, जो भार० श्रौ० सू० में उपलब्ध नहीं होते, जिससे यह प्रतीत होता है कि किसी समय में कृत्य भी भार० श्रौ० सू० में रहे होंगे। श्रौतसूत्र के समान ही इन सूत्रों को भी प्रामाणिक माना जाता है। यह बात श्रौतसूत्र के व्याख्याकारों के वचनों से सिद्ध होती है, जिन्होंने भारद्वाज सूत्रों के नाम से इन सूत्रों को

उद्धृत किया है। इस सूत्र में क्रम के अभाव तथा प्रकीर्ण स्वरूप के कारण यह प्रतीत होता है कि इसका रचयिता कोई एक व्यक्ति नहीं था, अपितु भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने इसके संग्रह में योगदान दिया है[1]।

वाराह परिशिष्ट

वाराह-परिशिष्ट अभी तक अप्रकाशित है, किन्तु इसके हस्तलेख[2] में निम्नलिखित श्रौत तथा गृह्य परिशिष्ट दिये गये हैं। गृह्य पुरुष, प्रायश्चित्त, उत्तरेषट्क, वैष्णव (शुल्व) आध्वर्यव, चातुर्होतृक हौत्र, गोनामिक, आकुलपाद, **प्रवर्ग्योद्धेशन** पितृयज्ञ, (चातुर्मास्यों में महापितृयज्ञ सम्बन्धी हौत्र) प्रायश्चित्तेष्टियों से सम्बद्ध हौत्र तथा याजमान, वृषोत्सर्ग, प्रश्न (परिभाषा तथा अर्थवादों की व्याख्या) **षट्कारण** (परिभाषा) **द्रपिक** (यज्ञपात्रों के परिमाण) प्रधान (परिभाषा) सांदेहिक, छन्दोऽनुक्रमणी, प्रवराध्याय, अन्तर्कर्यकल्प, प्रवासविधि, रुद्रजपविधि, **प्रातरुपस्थान** तथा भूतोत्पत्ति। यहां परिशिष्ट समाप्त हो जाता है, किन्तु ये और विषय भी दिये गये हैं।

प्रवर्ग्यकल्प (मानवश्रौत के प्रवर्ग्य कल्प के समान), प्रतिग्रहकल्प (दक्षिणा-स्वीकृति के नियम), मूलजननशान्ति, यमल-जनन-शान्ति, आश्लेषा-विधि, दन्तोत्पत्ति-शान्ति, प्रसववैकृत-शान्ति तथा चरणव्यूह। इनमें से प्रतिग्रहकल्प से लेकर प्रसव वैकृतशान्ति पर्यन्त सभी परिशिष्ट मानवश्रौतसूत्र के साथ प्रकाशित परिशिष्ट ही हैं[3]।

चतुर्होत्रक परिशिष्ट

मैत्रायणीयों के वाराहश्रौतसूत्र का यह परिशिष्ट है, जो सर्वप्राचीन परिशिष्टों में माना जाता है[4]। यह उस अति प्राचीनकाल की कृति है, जब तक कि संहिता तथा ब्राह्मण द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्ड का अतिक्रमण नहीं किया गया था। मानवों में तो यह परिशिष्ट श्रौत-सूत्र का अंग ही बन गया। वैसे मानव चतुर्होत्रक तथा वाराह चतुर्होत्रक में अत्यन्त साम्य पाया जाता है।

'चतुर्होत्रक' शब्द का प्रयोग मै० सं० (१, ९) में उपलब्ध होता है— **इति प्रथमकाण्डे नाम प्रथमः प्रपाठकः**। चतुर्होत्रक मन्त्र **पृथिवी होता** (१३, ३) है

---

[1] काशिकर, सर्वे०, पृष्ठ १११।

[2] ओरियेण्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ोदा, सं० ६८०, पर्ण १२७-३१२।

[3] सर्वे०, पृ० ११२।

[4] रघुवीर, जे० वी० एस० भाग १, १९३४, सम्पादित।

तथा **याज्या** मन्त्र **वाचस्पते वाचो वीर्येण इति ग्रहः** (१३१, ४) है, जिसका विनियोग सन्तानार्थं विहित है। 'यश' के लिये पञ्चहोतृ तथा षड्होतृ[1] मन्त्रों का विधान किया गया है। यहाँ कहा गया है—

यद्यग्निष्टोमेनेष्ट्वा पापीयान् मन्यमानः स्यात् सप्तहोतारम् मनसानुद्रुत्य ग्रहेण जुहुयात् (३१)।

तथा **यद्येनार्त्विज्याद्वरोध्ये च चतुर्होतारम् विग्राहं प्रतिलोमयाग्नीध्रीयं जुहुयात्** (३२)।

अर्थात् यदि पुरोहित को ऋत्विक् कर्म से यजमान ने हटा दिया हो, तो उसे चतुर्होतृमन्त्र का प्रतिलोम उच्चारण करते हुए आग्नीध्रीय अग्नि में होम करना चाहिये।

कर्म और अध्ययन सम्बन्धी व्रत इस प्रकार है— एक वर्ष तक तीन व्यक्तियों के साथ बैठ कर खाना न खाये। तीन व्यक्तियों का उच्छिष्ट भोजन न खाये, न ही उच्छिष्ट को तीन व्यक्तियों को देवे। चतुर्होत्री मन्त्र के अनेक विनियोगों का विधान किया गया है।

---

[1] षड्होत्री मन्त्र मै० सं० में नहीं दिया गया।

ऊनचत्वारिंश अध्याय

माध्यन्दिनीय सर्वानुक्रमसूत्र

शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा की सर्वानुक्रमणी को भी उसी कात्यायन ने लिखा था, जिन्होंने ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी की रचना की थी[1]। वाजसनेयि-संहिता की इस अनुक्रमणी में दिये गये छन्दों का विवरण सर्वानुक्रमणी से शब्दशः मिलता है। इसके पाँच अध्याय हैं। प्रथम चार अध्यायों में तो संहिता के प्रत्येक अध्याय के मन्त्र में ऋषि, देवता और छन्द का विस्तृत विवरण दिया गया है। चतुर्थ अध्याय के अन्त में छन्दों के देवताओं का विवरण है, जिसमें स्वाहाकार का अग्नि तथा वषट्कार के विश्वेदेवा देवता बताये गये हैं। उसके बाद अनादिष्ट-देवता वाले मन्त्रों के यज्ञ में प्रयोग के समय किस मन्त्र का कौन-सा देवता तथा ऋषि मानना चाहिये, इसको संक्षिप्त सामान्य वर्णन के अनन्तर ज्योतिष्टोमादि यज्ञों के मन्त्रों, ऋषियों, देवताओं तथा छन्दों का वर्णन किया गया है, क्योंकि इसके ज्ञान के बिना अध्ययन, जप, हवन, याग करना कराना सभी कुछ पाप माना जाता है। इस बात को ग्रन्थकार ने ग्रन्थारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है—**एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते, जपति, जुहोति, यजते, याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवत्यथान्तरागर्तं एव गर्ते**—पाठ; **वा पद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति** ··· ···। यज्ञारम्भ में ऋषियों, छन्दों तथा देवताओं का अपने अंगों में न्यास करके वेदमय बन कर यज्ञ में प्रवृत्त होने का नियम भी यहीं निर्दिष्ट है। पञ्चम अध्याय में छन्दों के स्वरूप का विशद वर्णन किया गया है, जिनकी चर्चा छन्दःशास्त्र प्रकरण में कर दी गयी है।

इस अनुक्रमसूत्र में कात्यायन ने प्रथम चार अध्यायों में वा० सं० के चालीस अध्यायों में विविध यज्ञों में विनियोज्य मन्त्रों तथा उनके ऋषियों, देवताओं तथा छन्दों का पूरा विवरण प्रस्तुत किया है।

संहिता भाग के छन्दों तथा देवताओं का विवरण समाप्त करके चतुर्थ अध्याय के अन्त में विविध छन्दों तथा मन्त्रों के सामान्य देवताओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है तथा मन्त्रार्थ-ज्ञान की महिमा का बखान किया गया है।

---

[1] द्र० 'ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी' प्रकरण।

अध्वर तथा सवान्त के कर्म में जहाँ कहीं भी देवता छन्द तथा ऋषि में से किसी एक का ज्ञान न हो, तो वहाँ कौनसा देवता, छन्द या ऋषि माना जाये, इस की व्यवस्था दी गयी है। यथा—'सर्वमाग्नेयं गायत्रं गौतमीयम्' सूत्र में कहा गया है कि अग्नि देवता वाले, गायत्री छन्द वाले प्रत्येक मन्त्र को गौतम ऋषिकृत मान लेना चाहिये। इसी प्रकार सविता देवता, उष्णिक् छन्द वाले प्रत्येक मन्त्र को यज्ञ में भरद्वाज ऋषि-दृष्ट मान लेना चाहिये। इसी प्रकार देवता या छन्द का ज्ञान न होने पर भी इन्हीं सूत्रों के आधार पर निश्चय कर लेना चाहिये।

इसी प्रकार ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत दीक्षा, क्रय, आतिथ्य, प्रवर्ग्य, उपसद् प्रभृति में भी ऐसी ही व्यवस्था कर दी गयी है। विश्वजित्, दशरात्र, महाव्रत प्रभृति में भी इसी प्रकार का निर्णय दिया गया है।

ऋचाओं तथा यजुषों में मन्त्रान्तर्गत वर्णन तथा विनियोग से भी देवताओं का निश्चय किया जा सकता है। तदनन्तर यज्ञारम्भ में स्नान करके अपने शरीर में छन्दःपुरुष के न्यास की विधि समझायी गयी है। छन्दःपुरुष के स्वरूप का भी वर्णन किया गया है, उसके नेत्र गौतम तथा भरद्वाज हैं, श्रोत्र विश्वामित्र तथा जमदग्नि हैं, वाक् अत्रि है। विविध छन्दों का शरीर के विविध अङ्गों में न्यास की विधि भी समझायी गयी है। इसी प्रकार देवता-न्यास का भी विधान किया गया है। इस प्रकार यजमान वेदमय हो जाता है।

पञ्चमाध्याय में वैदिक छन्दों के स्वरूप का सविस्तर विवेचन किया गया है।

कात्यायन-कृत इस रचना से यजुर्वेद में प्रयुक्त ऋग्वेदीय मन्त्रों के ऋषियों तथा मूल ऋग्वेद में निर्दिष्ट ऋषियों के नामों में पर्याप्त अन्तर पर प्रकाश पड़ता है। किन्तु इस प्रकार के व्यत्यास का कोई तर्कसंगत समाधान नहीं दिया गया। वेङ्कटमाधव ने स्वरचित तथाकथित 'आर्षानुक्रमणी' में एतद्विषयक विचार किया है, किन्तु अन्त में हारकर उन्हें भी यही कहना पड़ा कि इस जटिल समस्या का समाधान वृद्ध गुरुओं पर छोड़ना उचित है[1]। किन्तु हम समझते हैं कि शुद्ध तर्क के आधार पर यही कहा जा सकता है कि आर्षानुक्रमणियों के निर्माण से पूर्व इस सम्बन्ध में कोई सुदृढ़ तथा सर्वथा प्रामाणिक परम्परा नहीं रही है।

उदाहरणार्थ कुछ मन्त्र ऐसे हैं, जिनके ऋषियों के नाम ऋग्वेद तथा वा० सं० में समान में हैं। कुछ ऐसे मन्त्र हैं, जिनके ऋषि भिन्न-भिन्न दर्शाये गये हैं, यथा—

---

[1] **वृद्धेष्वस्तु विनिर्णयः**, आर्षानु० ४, १८।

१. ऋग्० १, १२७, १ का ऋषि 'परुच्छेपो दैवोदासिः' है, तो वा० सं० (१८, ६६) में इस मन्त्र के ऋषि प्रजापति तथा 'साध्याः' कहे गये हैं।

२. ऋग्० ३, २६, ७ का ऋषि 'गाथिनो विश्वामित्र' है, किन्तु वा० सं० (१८, ६६) में इसके ऋषि 'देवश्रवा' तथा 'देववात' हैं।

३. ऋग्० ८, ४४, १६ का ऋषि 'विरूप आंगिरस' है, जबकि वा० सं० (३,१२ तथा १३,१४) में ऋषि 'प्रजापति', 'साध्याः' तथा 'परमेष्ठी' हैं, किन्तु वा० सं० (१५, २०) में इसी मन्त्र का ऋषि 'विरूप' कहा गया है।

४. ऋग्० ४, १०, १ का ऋषि 'वामदेवो गौतमः' है, किन्तु वा० सं० (१५, ४४ तथा १७, ७७) के ऋषि 'प्रजापति' तथा 'साध्याः' हैं।

५. कहीं-कहीं ऋग्० में तो पूरा नाम दिया गया है, किन्तु वा० सं० में अधूरा नाम पाया जाता है। यथा –ऋग्० १, ८२, २ का ऋषि **गोतमो राहूगणः** है, किन्तु वा० सं० (३, ५१) में केवल **गौतमः** है।

ऋग्० ६, १६, ४३ का ऋषि **बार्हस्पत्योः भारद्वाजः** है, किन्तु वा० सं० (१३, ३६) में केवल **भरद्वाजः** है।

कहीं-कहीं ऋग्० में ही ऋषियों का विकल्प पाया जाता है, जबकि वा० सं० में केवल एक ही ऋषि का नाम आता है, यथा—ऋग्० ६, १४, ३४ में **बाहस्पत्यो भरद्वाजः, वीतहव्य आंगिरसो वा** वैकल्पिक नाम दिये गये हैं, जबकि वा० सं० (३३, ९) में केवल 'भरद्वाज' का नाम दिया गया है। कहीं एक ही सूक्त के अनेक ऋषियों के नाम गिनाये गये हैं, यथा, ऋग्० (५, २४, १) के ऋषि हैं **गौपायना लौपायना वा, बन्धुः, सुबन्धुः, श्रुतबन्धुः, विप्रबन्धुश्च**। जबकि वा० सं० (३, २५) में तो **बन्धुः** (१५, ४८) में **प्रजापतिः, साध्याः, परमेष्ठी** तथा **बन्ध्वादयः** हैं। किन्तु एक अत्यन्त विचित्र बात वा० सं० (२५, ४७) में देखने को मिलती है कि वहां एक मन्त्र की तीन कण्डिकाओं के तीन भिन्न-भिन्न ऋषि कहे गये हैं—

(क) **अग्ने त्वं नो०** (ऋग्० ५, २४, १) के ऋषि **प्राजापति** तथा **देवाबन्धु** है।

(ख) **वसुरग्नि०** के ऋषि **सुबन्धुः**।

(ग) **तं त्वा शोचिष्ठ०** के ऋषि **श्रुतबन्धुः** हैं।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्० के '-बन्धु' अन्त नामों की परम्परा भी विस्मृत हो गयी और विप्रबन्धुः का नाम काल-कवलित हो गया।

एक और विस्मय-जनक तथ्य यह भी है कि ऋग्० ९, ६६, २०-२१ के ऋषि सौ वैखानस (**शतं वैखानसः**) कहे गये हैं, जबकि वा० सं० (२६, ९ ; ८, ३८) केवल "वैखानस" को ही ऋषि माना गया है। एक सूक्त के ३० मन्त्रों के १०० वैखानस मन्त्रद्रष्टा कैसे हो सकते हैं ? इस समस्या का समाधान अपेक्षित है।

इस अनुक्रमसूत्र में अनेकत्र ऋग्वेदीय देवताओं में भी फेर-बदल किया गया है, यथा—

(१)	ऋग्० १०, १८९, २	(देवता—**आत्मा सूर्यो वा**)
	वा० सं० ३, ७	(देवता—**अग्निः**)
(२)	ऋग्० १, १६४, ३१	देवता—**विश्वेदेवाः**
	वा० सं० ३७, १७	देवता—**घर्मः**
(३)	ऋग्० १, २३, १९	देवता—**आपः**
	वा० सं० ९, ६	देवता—**अश्वः** (तु०बृ०दे० ३,९७)
(४)	ऋग्० १, ५९, ७	देवता—**मित्रः**
	वा० सं० ३८, १७	देवता—**अग्निः**
(५)	ऋग्० १०, १०३, १२	देवता—**अप्वादेवी**
	वा० सं० १७, ४४	देवता—**इन्द्रः**
	ऋग्० ८, ३, ४	देवता—**इन्द्रः**
	वा० सं० ३३, ८३	देवता—**आदित्यः** ।

कहीं-कहीं ऋग्वेद में दो देवताओं का (एक ही ऋचा में) निर्देश किया गया है, तो वा० सं० में एक ही देवता का निर्देश है, यथा—

(१)	ऋग्० २, ३६, ३	**त्वष्टा शुक्रश्च**
	वा० सं० २६, २४	**त्वष्टा**
(२)	ऋग्० १०, १४, ९	**लिङ्गोक्ता देवता पितरो वा**
	वा० सं० १२, ४५	**लिङ्गोक्ता देवताः** ।

कहीं-कहीं ऋग्वेद में एक ही देवता का निर्देश है, तो वा० सं० में दो देवताओं का, यथा—

ऋग्० १०, १२३, १	**वेनः**
वा० सं० ७, १६	**वेनः, सोमः** ।

इस प्रकार प्रतीत होता है वा० सं० के यज्ञप्रधान होने के कारण विनियोगानुसार देवताओं में परिवर्तन कर दिया गया है ।

व्याख्या—इस अनुक्रमसूत्र पर अभी तक देवयाज्ञिक ('महायाज्ञिक श्रीदेव') की व्याख्या चौखम्भा से प्रकाशित हुई है। इनके पिता का नाम महायाज्ञिक प्रजापति था। इन्होंने कात्यायन श्रौतसूत्र पर पद्धति का निर्माण किया है तथा अन्य कई ग्रन्थों की रचना की है।

संस्करण—एक संस्करण तो चौखम्भा, वाराणसी, से ही प्रकाशित हुआ है। द्वितीय संस्करण, अत्यन्त उपयोगी पाद-टिप्पणियों तथा अनेक परिशिष्टों सहित स्वाध्याय मण्डल, पारडी से प्रकाशित हुआ है।

कात्यायनीय परिशिष्ट

कात्यायनीय परिशिष्ट चरणव्यूह के अनुसार शुक्लयजुर्वेद की पञ्चदश शाखाओं के वैदिक साहित्य के अन्तर्गत १८ परिशिष्ट हैं— (१) यूपलक्षण, (२) छाग लक्षण, (३) प्रतिज्ञा परिशिष्ट, (४) अनुवाक संस्था, (५) चरणव्यूह, (६) श्राद्ध कल्प, (७) शुल्बसूत्र, (८) ऋग् यजुष, (९) पार्षद (प्रातिशाख्य), (१०) इष्टकापूरण, (११) प्रावरिकासूत्र (प्रवराध्याय), (१२) मूलाध्याय, (१३) उञ्छशास्त्र, (१४) निगमा:, (१५) यज्ञपार्श्व, (१६) हौत्रिक, (१७) प्रसवोत्थान तथा (१८) कूर्मलक्षण। इनमें से अधिकांश परिशिष्टों का सम्बन्ध कर्मकाण्ड या यज्ञयाग से है। यजुर्वेद का प्रधान प्रतिपाद्य ही कर्मकाण्ड होने के कारण यह स्वाभाविक भी है कि इसके सहायक या पूरक ग्रन्थों का सम्बन्ध मुख्यत: यज्ञयाग से हो हो। अब हम इन में से प्रत्येक का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

यूपलक्षण—यह पच्चीस कारिकाओं की छोटी सी रचना है, जिसमें वैदिक यज्ञों में पशुबन्धनार्थ काम आने वाले यूपों के उपादानवृक्षों, उनके शुभाशुभ लक्षणों, वर्णों, जातियों, स्वरूपों तथा देवताओं का वर्णन दिया गया है। यूप का निर्माण पलाश, खदिर, बिल्व तथा रोहितक (गुलेनार या लालकञ्जा) से करना चाहिये[1], क्योंकि यही यूप के प्रकृतिभूत वृक्ष माने जाते हैं। वृक्षों के वर्णों के अनुसार उनके वर्णों या जातियों को मान कर यजमानों के वर्णों के अनुरूप यूप का विधान किया गया है। श्वेत रंग का वृक्ष ब्राह्मण, पिंगल वर्ण का क्षत्रिय तथा धूम्रवर्ण का वैश्य होता है[2]। यूप को यजमान की आत्मा कहा जाता है[3]। शीर्ण, कोटानुविद्ध, छिद्रयुक्त, कोटरों से भरे, खड्गादि से छेदित,

---

१. द्र० का० श्रौ० सू० ६, १, ८-१०।

२. यूपलक्षण, कारिका २-३ (कात्यायनीय परिशिष्टदशकम्—श्रीधर अण्णा शास्त्री वारे सम्पा० पूना।

३. वही, कारिका ६।

कन्दरों में उत्पन्न वृक्षों से यूप निर्माण निषिद्ध है। इस प्रकार के निषिद्ध वृक्षों से निर्मित यूप यजमान के एवं पुत्रों के विनाशक होते हैं[1]। व्रणरहित, शुष्काग्र मध्य तथा अग्रभाग में तनिक वक्र वृक्ष शुभ माने जाते हैं[2]। वृक्ष-छेदन के समय यूप का पूर्व दिशा में गिरना शुभ होता है[3]। यूप को **अष्टाश्रि** होना चाहिए। प्रत्येक अश्रि या कोण का अपना-अपना देवता होता है। यूप के देवता विष्णु होते हैं।

द्वितीय परिशिष्ट

छाग लक्षण—यज्ञ में वध्य पशु के रूप में आने वाला छाग या बकरा एक वर्ण, विवर्ण अथवा बहुवर्ण हो सकता है, किन्तु सर्वरक्त वर्ण का छाग यजमान के कुल का उद्धार कर देता है। किन्तु श्वेत मुख, कृष्णग्रीव, श्वेतोदर, धौकनी के समान मुख वाले छाग को ही सहस्र पशु देकर भी खरीद लेना चाहिये। "सर्वार्थक" नाम का छाग वह होता है, जिसके दक्षिण पार्श्व में श्वेत मण्डल बना हो, जिसके चारों पांव, कन्धा और सिर उन्नत हों, ऐसा विशालोदर और क्षीणवीर्य, स्निग्ध, अनुलोमवर्ण, रक्तवर्ण छाग **'सर्वार्थसाधक'** होता है। कृष्णांग, कृष्णपूर्वार्ध, कृष्णपाद छाग, जो **'वैश्वज'** कहलाता है, "सौभाग्यवर्धक" होता है[4]। वार्ध्रीणस[5] नामक छाग का उपयोग यज्ञ कर्म में नहीं करना चाहिये। नीलवर्ण, सप्तशफ, विकृताङ्ग, ह्रस्वकर्ण छाग दारिद्रय, पुत्र-नाश तथा मृत्यु का कारण होता है।

इस प्रकार के सोलह छागों के नामों, लक्षणों तथा गुणदोषों का यहां विवरण दिया गया है। इस लघु रचना में कुल १८ श्लोक हैं। यह भी श्रीधर अण्णा शास्त्री बारे द्वारा सम्पादित 'कात्यायनीयपरिशिष्टदशकम्' में प्रकाशित हुआ है।

कात्यायनकृत प्रतिज्ञापरिशिष्ट

कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध १८ परिशिष्टों के अन्तर्गत तृतीय परिशिष्ट 'प्रतिज्ञा परिशिष्ट' के नाम से विख्यात है।

---

१. वही, ८-१६।

२. वही, १७, का० श्रौ० सू० ६, १, ८।

३. वही, १८; का० श्रौ० सू० ६, १, १८; श० ब्रा० ३, ६, ४, १२।

४. वही, २५; श० ब्रा० ३, ६, ४, ९।

५. कण्ठे स्तनवानजो वार्ध्रीणसः (टीका) नद्यादौ पयः पिबतो यस्य त्रीणि जलं स्पृशन्ति च कर्णौ जिह्वा च कुल्लूकभट्ट, मनु० ३, २७।

'प्रतिज्ञा' शब्द की व्याख्या करते हुए अनन्त देवयाज्ञिक लिखते हैं, **यज्ज्ञानेनोत्तरमध्यमनादि धर्मनिरूपितानां स्वरादीनां ज्ञानं जायते तत्प्रतिज्ञा नामसूत्रम्**। अतः स्पष्ट है कि इस रचना का प्रतिपाद्य स्वरादि विषयक ज्ञान है, जो मुख्यरूपेण शिक्षा का विषय है और जैसा कि हम देखेंगे इसका प्रतिपाद्य शिक्षा तथा माध्यन्दिन शिक्षा प्रभृति में यथावत् उपलब्ध होता है। इस परिशिष्ट की तीन कण्डिकाओं के अन्तर्गत क्रमशः ९, ८, ६ सूत्र समाविष्ट हैं, इस प्रकार कुल २३ सूत्र हैं।

प्रथम कण्डिका—में वेद की परिभाषा, माध्यन्दिन शाखा के मन्त्रों की स्वरप्रक्रिया से सम्बद्ध मन्त्रोच्चारण के समय अनुदात्त, उदात्त तथा स्वरित सम्बन्धी हस्तचालन विधि तथा स्थानों का निरूपण किया गया है (२-७)। इनमें स्वरित के **जात्य, क्षैप्र, अभिनिहित, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, प्रश्लिष्ट, पादवृत्त** तथा **कम्प स्वरों** की ओर सङ्केत किया गया है, यद्यपि नामतः निर्देश नहीं किया गया है (७)। इस रचना में ताथाभाष्य-स्वरित का निषेध किया गया है, क्योंकि माध्यन्दिन शिक्षा के अनुसार यह 'कम्प' का रूप धारण कर लेता है। श० ब्रा० में उदात्त और अनुदात्त दो ही स्वर होते हैं, जो भाषिक कहलाते हैं। वेदांगों में तीन स्वरों का विधान किया गया है (१, ९)। इसमें उदाहरणों के अतिरिक्त नारदीय तथा याज्ञ० शिक्षा से प्रचुर मात्रा में उद्धरण दिये गये हैं।

इसके साथ ब्राह्मणान्तर्गत उदात्त तथा अनुदात्त दो स्वरों का उल्लेख किया गया है। व्याख्याकार के अनुसार चरकों (कृष्णयजुर्वेद) के ब्राह्मण में मन्त्रवत् त्रैस्वर्य तथा उसी वेद के खाण्डकीय ब्राह्मण में चातुःस्वर्य तथा बाष्कलों के ब्राह्मण में केवल तान-स्वर का व्यवहार किया जाता है (८-९)।

द्वितीय कण्डिका—में पादादि स्थित, अन्य हल् से असंयुक्त रेफ तथा हकार से संयुक्त यकार के जकारोच्चारण का विधान किया गया है (२)।

अन्य हल् से असंयुक्त, श्, ष्, स्, ह्, तथा ऋ से पूर्व रेफ का उच्चारण एकार सहित (रे) का विधान है। **दर्शतम्→दरेशतम्** (का० ३)। इसी प्रकार 'ल्' के विषय में भी नियम है (का० ४, ५)।

वकार के गुरु, मध्यम तथा लघु उच्चारण[1] तथा ष् के खकार सदश उच्चारण के भी नियम प्रतिपादित है, जो याज्ञवल्क्य शिक्षा के विधान के अनुरूप है[2]।

---

[1] **वकारस्त्रिविधः प्रोक्तो गुरुर्लघुर्लघूतरः।**
आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदान्ते च लघूतरः॥ (याज्ञ० शि०)

[2] **पदस्याद्यन्तमध्ये स्यात् खकारोच्चारणं षिति।**
तृतीये वर्गयोगे तु 'ष' एव स्यात्सदैव हि॥ (मा० शि०) (अनन्त० भाष्य में उद्धृत)

तृतीय कण्डिका—में श्, ष्, स्, ह् तथा र् के परे रहते पूर्वस्थ अनुस्वार को ꣳ आदेश, परसवर्ण के आदेश, पदादि अकार के ईषद् दीर्घ उच्चारण के सम्बन्ध में विधान किये गये हैं। विसर्गोच्चारण के बाद व्यवधान[1], का नियम भी बताया गया है। इस कण्डिका के अधिकांश नियम केशवी शिक्षा के नियमों से बहुत मिलते-जुलते हैं।

व्याख्या—अनन्तदेव याज्ञिक की एकमात्र व्याख्या प्रकाशित हुई है।

संस्करण—(१) डा० ए० वेबर द्वारा १८७१ ई० में प्रकाशित।

(२) पं० युगलकिशोर पाठक द्वारा शुक्ल यजुःप्रातिशाख्य के परिशिष्ट के रूप में देवयाज्ञिक भाष्य सहित १८८८ ई० में वाराणसी से प्रकाशित।

भाषिक परिशिष्टसूत्र

शतपथ ब्राह्मण के स्वरसंधान तथा व्याकरण विषयक एकमात्र स्वतन्त्र रचना **भाषिक परिशिष्ट सूत्र** के नाम से विख्यात है। यद्यपि यह परिशिष्ट के नाम से प्रसिद्ध है तथा कात्यायन की कृति माना जाता है[2], तो भी कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध १८ परिशिष्टों में इसका परिगणन नहीं किया गया। इसे प्रति० परि० का अवान्तर परिशिष्ट मानना[3] तो और भी अप्रामाणिक है।

यह भी स्पष्ट नहीं होता कि इसका सम्बन्ध श० ब्रा० की कौन शाखा से है—काण्व से या माध्यन्दिन से! इसमें प्रतिपादित नियम दोनों ब्राह्मणों पर लागू होते हैं। दोनों ब्राह्मणों में भेद होने पर भा० परि० 'एके' कहकर दूसरे के नियम की ओर निर्देश कर देता है। ऐसी आवश्यकता भी केवल दो स्थानों पर ही पड़ी है[4]। किन्तु इसके भाष्यकार अनन्तदेव याज्ञिक के अनुसार इसका मुख्य सम्बन्ध काण्वशाखा से है। अनन्तदेव स्वयं काण्वशाखा का अनुयायी था[5]। किन्तु इसके सम्पादक डा० चौबे के अनुसार यह माध्यन्दिन शाखा से सम्बद्ध था। यद्यपि नियमनिर्माण करते समय दोनों शाखाओं को समान महत्त्व प्रदान किया गया है।

---

१. प्रतिज्ञा परिशिष्ट ३, ३, ४।

२. पं० युगल किशोर पाठक, प्रतिज्ञा परि० २१८।

३. वही; तथा तत्सम्पा० वा० प्रा०, पृ० ४१२।

४. भा० परि० १, १२।

५. तु० एकशब्दोऽत्र मुख्यवचनः। तेन काण्वानां मतमिदमिति गम्यते (भा० परि० १,२२)।

इसका विषय विभाजन इस प्रकार किया गया है—

कण्डिका १—(१-४) रचना का प्रयोजन।

(५-१८) संहिता स्वर को ब्राह्मण स्वर (भाषिक स्वर) में परिवर्तित करने के नियम।

(१९-२१) श० ब्रा० में कम्पस्वर का स्वरूप तथा तत्सम्बन्धी नियम।
(२२) श० ब्रा० में अन्तिम उदात्त को अनुदात्त में परिवर्तन से सम्बद्ध काण्वों का वैमत्य।

कण्डिका २—(१-१७) आख्यातपद के अनुदात्तत्व से सम्बद्ध विकृतियों के नियम।
(१८-२०) हि, हन्त प्रभृति शब्दों के प्रभाव के कारण आख्यात में सम्भाव्य स्वरपरिवर्तन के विषय में आचार्यों की सम्मतियां।

(२१-२२) एक ही वाक्यान्तर्गत एकाधिक आख्यात के रहने पर उन आख्यातों के अनुदात्तत्व में होने वाले परिवर्तन।

कण्डिका ३—में विविध विषयों का समावेश किया गया है।
(१-४) वे परिस्थितियों जिनके अन्तर्गत किसी वाक्य के प्रथम आख्यात में स्वरपरिवर्तन होता है।

(५-७) द्वितीय कण्डिका (१-२२) तथा तृतीय कण्डिका (१-४) में वर्णित सामान्य नियमों में विशेष परिवर्तन (८-९) यमपदों का स्वरसन्धान।

(१०) संहिता के चारों प्रकार के शब्दों (नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात) का श० ब्रा० में स्वर परिवर्तन।

(११-१४) श० ब्रा० के शब्दों से सम्बद्ध संस्कार।
(१५-१८) श० ब्रा० से भिन्न ब्राह्मणों (तण्डिनः, भाल्लविनः, सामवेदिनः, चरकाः (खाण्डिकेयाः तथा औखेयाः) से सम्बद्ध स्वर-सन्धान की प्रक्रिया।

भाषिकस्वर के स्वरूप का प्रतिपादन अनेक सूत्रों में किया है। यह स्वर केवल ब्राह्मण में पाया जाता है। संहिता के मन्त्रों का स्वर ब्राह्मण में परिवर्तित हो जाता है। यह कई प्रकार का होता है—

१. उदात्त+अनुदात्त=भाषिक=अ॒र्य॒मा+आयुः=अर्य॒ँमाऽयुः।
२. अनुदात्त+उदात्त+अनुदात्त=भा० स्वर
स्त॒मा॒न्॒+आ+अन्तरिक्ष॑म्=स्त॒मानान्तरिक्षम्।
३. संहिता के जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र तथा प्रश्लिष्ट स्वरित को श० ब्रा० में भा० स्वर कहा जाता है।

४. उतो, यो, मो, नो तथा सो का अन्तिम 'ओ' भा० स्वर हैं ।

५. माध्यन्दिनों में 'ओं' भाषिक स्वर होता है, किन्तु काण्वों में नहीं होता ।

भाषिक परिशिष्ट में भा० स्वर की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि उदात्त तथा अनुदात्त स्वरों की एकाक्षररूप सन्धि का नाम भाषिक है[1] । श० ब्रा० में भाषिक स्वर उदात्त होता है[2] । यहां तक कि संहिता में स्वरित एवं अनुदात्तरूप में पठित स्वर भी ब्राह्मण में उदात्त हो जाते हैं[3], किन्तु अन्त्य के अतिरिक्त (अनन्त्य) मन्त्र में उदात्त स्वर ब्राह्मण में अनुदात्त हो जाता है[4], जो अत्यन्त विचित्र प्रतीत होता है । किन्तु उपर्युक्त भाषिकस्वर के परे रहते उदात्त और अनुदात्त दोनों को अनुदात्त ही होता है[5] । इसी प्रकार की स्थिति में स्वरित को भी अनुदात्त ही होता है[6] ।

कम्पस्वर के विषय में ब्राह्मण में सम्भाव्य विकारों का भी विवरण दिया गया है ।

तृतीय कण्डिका के अन्तर्गत अ, इ, उ, ऋ तथा लृ की 'अवर्णधारण' संज्ञा की गयी है, किन्तु इस शब्द की व्याख्या भाष्यकार भी नहीं कर सके ।

ताण्डी तथा भाल्लवि ब्राह्मणों का स्वर शतपथ ब्राह्मण के सदृश ही होता है[7] । चरकों में ब्राह्मण स्वर मण्त्रवत् ही कहा गया है[8] । किन्तु चरकों के अन्तर्गत खाण्डिकेयों तथा औखेयों के ब्राह्मण में कहीं-कहीं चार स्वर भी देखे जाते हैं[9] । आश्वलायन आदि अन्य ब्राह्मणों में एक श्रुति ही ('तान'—भाष्य) ही दृष्टिगोचर होती है । सामवेद के सात स्वरों की भी यहां चर्चा की गयी है । स्वर के प्रसंग में श० ब्रा० की एक और विशेषता एक ही शब्द में एक से अधिक उदात्तों की सत्ता है, जो सर्वथा अपाणिनीय है[10] । 'देवताद्वन्द्व' इस विषय में अपवाद हैं ।

---

[1] भा० परि० १, ४ ।

[2] वही, १, १२ ।

[3] वही, १, १३ ।

[4] वही, १, १४ ।

[5] वही, १, १६ ।

[6] वही, १, १७ ।

[7] वही, ३, १५ ।

[8] वही, ३, २५ ।

[9] वही, ३, २६ ।

[10] द्र० पा० ६, १, १५८ ।

यह भाषिकस्वर श० ब्रा० की विशेषता है। इस स्वर की जटिलताओं तथा विचित्रताओं के कारण इसके सम्बन्ध में अनेक वैमत्य उत्पन्न हो गये हैं। वेबर[1], कैलेण्ड[2] तथा इनके अनुयायी अन्य वेदज्ञों की सम्मति में भाषिकसूत्र में प्रतिपादित स्वरसन्धान की व्यवस्था सामान्य स्वरव्यवस्था में कोई मौलिक आधारभूत भेद का विधान न करके केवल स्वराङ्कन प्रकार में भेद का विधान करती है।

इसके विरुद्ध कीलहॉर्न[3], वाकरनागल[4] तथा अन्य वेदज्ञों के विचार में का० श्रौ० सू०[5] तथा भाषिकसूत्र के आधार पर श० ब्रा० की स्वरव्यवस्था वा० सं० की स्वरव्यवस्था से भिन्न है।

का० श्रौ० सू० ने भाषिकस्वर की चर्चा की है। प्रश्न उठाया गया है, कि यज्ञ में विनियुक्त संहितामन्त्र का स्वर संहितावत् त्रैस्वर्यव्यवस्था के अनुरूप पढ़ा जायेगा अथवा श० ब्रा० के समान भाषिकस्वर में अथवा तानस्वर में। पूर्व पक्ष में मन्त्र के संहितावत् प्रयोग पर बल दिया गया हैं, कुछ लोग भाषिकस्वर के पक्षपाती कहे गये हैं। सूत्रकार ने तानस्वर का प्रतिपादन करके सिद्धान्तपक्ष को स्पष्ट किया है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कात्यायन भाषिकस्वर को संहितास्वर से सर्वथा भिन्न मानते थे। कर्काचार्य ने भी अपने भाष्य में इसी भिन्नता का स्पष्ट प्रतिपादन किया है[6]।

इस प्रसङ्ग में कैलैण्ड का यह विचार समीचीन नहीं है कि कात्यायन भी यहां पर केवल स्वराङ्कन प्रकार भेद का ही प्रतिपादन कर रहे हैं, न कि स्वरव्यवस्था भेद का, क्योंकि स्वराङ्कन प्रकार तो संहिताओं में परस्पर कुछ न कुछ भिन्न है ही, तो भी इस भेद को चर्चा किसी प्रातिशाख्य या शिक्षा ने नहीं की। किन्तु स्वर व्यवस्थाभेद की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया है[7]।

---

[1] इण्डिस्टु० भाग १०, पृ० ४३१ ।

[2] काण्व श० ब्रा० (सं०) भूमिका, पृ० १० ।

[3] इण्डिस्टु० भाग १०, पृ० ४०२ ।

[4] *Altindische Grammatik. Vol I, Section 252.*

[5] का० श्रौ० सू० १, ८, १६-१८ ।

[6] का० श्रौ० सू० १, ८, १८ ।

[7] ऋक् प्रा० ३, १३; तै० प्रा० १०, १७; *Pro. AIOC* XXVII, p. 218-19.

इस भाषिकस्वर भेद से तो जैमिनि भी परिचित थे। उन्होंने मीमांसासूत्र के 'मन्त्रस्वराधिकरण' में इसकी स्पष्ट चर्चा की है[1] तथा शबरस्वामी[2], कुमारिल भट्ट[3] तथा अन्य व्याख्याकारों ने उनके पक्ष को पुष्ट किया है।

अतः कैलैण्ड प्रभृति का यह विचार असमीचीन है कि श० ब्रा० के अधोरेखित अक्षरों को उदात्त तथा जात्य स्वरित मानना चाहिये। जात्य स्वरित के अन्तर्गत वे लोग क्षैप्र, अभिनिहित तथा प्रश्लिष्ट स्वरितों का भी समावेश कर लेते हैं[4]।

किन्तु जब श० ब्रा० में स्वरित की सत्ता को ही स्वीकार नहीं किया गया, तो स्वरित के अङ्कन की चर्चा ही असमीचीन है। संहिता के सभी स्वरित ब्राह्मण में 'भाषिक' हो जाते हैं। इसी कारण उन पर किसी प्रकार का चिह्न नहीं लगाया जाता।

श० ब्रा० के स्वर-सन्धान की जटिलताओं को आत्मसात् करने के लिए भा० परि० सू० अत्यन्त उपयोगी रचना है। यद्यपि यह रचना कात्यायनीय परिशिष्टों के अन्तर्गत नहीं आती, तो भी यह पर्याप्त प्राचीन है।

व्याख्याएं—(१) महास्वामी की **भाषिकसूत्रवृत्ति** अड्यार के पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह सन् १५७३ से पूर्व कब रची गयी, इस का निर्णय नहीं हो सका, इसमें आपिशलि तथा पाणिनि को उद्धृत किया गया है।

कीलहार्न ने इसके नाम से मंगलाचरण के दो श्लोक उद्धृत किये थे। किन्तु डा० चौबे के अनुसार वे महास्वामी के न होकर अनन्तभट्ट के हैं।

(२) अनन्तभट्ट, जो अनन्तदेवयाज्ञिक से भिन्न है, य० वे० के अनेक ग्रन्थों के व्याख्याता हैं। इनके पिता का नाम नागदेव तथा माता का भागीरथी था। इन्होंने काण्व संहिता भाष्य तथा वा० प्रा० के भाष्य की रचना के अतिरिक्त 'विधान-पारिजात' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था, जिसमें इन्होंने

---

[1] जै० मी० सू० १२, ३, १६-२९।

[2] वही, भाष्य।

[3] वही, टुप् टीका तथा पार्थसारथिमिश्र, शास्त्रदीपिका, मण्डनमिश्र (मीमांसानुक्रमणी एवं माधवभट्ट (जै० न्यायमाला०)।

[4] पद्मनारायण, वैदिक स्वर का एक परिचय, वा० मा० प्र० प० ४, पृ० २८३-३२२।

स्वयं सूचित किया है कि इसकी रचना सं० १६८२ (१६२५ ई०) में की गयी थी।

इन्होंने महास्वामी की 'वृत्ति' का पूरा-पूरा उपयोग किया है। इनके भाष्य की विशेषता यह है कि इसमें श० ब्रा० की स्वराङ्कन विधि पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है।

इनकी अन्य रचनाएं इस प्रकार हैं—

१. भावार्थदीपिका अथवा वेददीप, जो काण्वशाखीय संहिता के २१-४० अध्यायों पर भाष्य है।
२. श० ब्रा० (का०) भाष्य।
३. पदार्थ प्रकाश (वा० प्रा० पर भाष्य)।
४. विधान पारिजात।
५. काण्व कण्ठाभरण।
६. कात्यायन स्मार्त मन्त्रार्थ दीपिका।

संस्करण—(१) ए० वेबर द्वारा महास्वामी के भाष्य सहित प्रकाशित।
(२) पं० युगलकिशोर पाठक ने स्वसम्पादित वा० प्रा० के परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित किया था। इसमें छपी अनन्त भट्ट की व्याख्या महास्वामी के भाष्य की छायामात्र है।
(३) डा० ब्रजबिहारी चौबे द्वारा, वी०वी०आर० आई०, साधु आश्रम, होशियारपुर, से सन् १९७५ में प्रकाशित।

इन दोनों संस्करणों में अनन्त भट्ट का भाष्य भी समाविष्ट है।

अनुवाकसंख्या (चतुर्थ परिशिष्ट)

वाजसनेय संहिता के प्रत्येक अध्याय के अनुवाकों और कण्डिकाओं की संख्या तथा प्रत्येक अनुवाक के प्रतीक यहां दिये गये हैं। यह रचना गृह्य और श्रौत दोनों प्रकार के कर्मों के सम्पादन में काम आने के कारण दोनों प्रकार के के सूत्रों की परिशिष्ट कही जा सकती है[1]। संहिता के चालीस अध्यायों के विवरणार्थ चालीस खण्डात्मक यह रचना बहुत स्पष्ट एवं महत्त्वपूर्ण है। लेखक के अवतरण श्लोक में यह कहा गया है कि ये अनुवाक ब्रह्मा द्वारा निर्मित हैं और

---

[1] वात्सप्रेण च 'दिवस्परीत्येकादशभिरनुवाकेनैके का० श्रौ० सू० १६, ५, २१-२२ तथा उदीरतामित्यनुवाकद्वयस्य श्राद्धेऽश्नत्सु द्विजेषु जपः इति महीधरः (श्रीधर०)। किन्तु यह वचन वा० सं० के भाष्य में नहीं मिला।

कि यह रचना शिष्यों के उपदेशार्थ तथा यज्ञकाल में ब्राह्मणों के जप-होम-अर्चनादि के लिए रची गयी है। इस अनुवाकविषयक विवरण की तालिका इस प्रकार बनायी जा सकती है—

अध्याय	अनुवाक	कण्डिका	अध्याय	अनुवाक	कण्डिका
१	१०	३१	२१	०६	६१
२	०७	३४	२२	१९	३४
३	१०	६३	२३	११	६५
४	१०	३७	२४	०४	४०
५	१०	४३	२५	१५	४७
६	०८	३७	२६	०२	२६
७	२५	४८	२७	०४	४५
८	२३	६३	२८	०४	४६
९	०८	४०	२९	०४	६०
१०	०८	३४	३०	०२	२२
११	०७	८३	३१	०२	२२
१२	०७	११७	३२	०२	१६
१३	०७	५८	३३	०७	९७
१४	०८	३१	३४	०६	५८
१५	०७	६५	३५	०२	२२
१६	०९	६६	३६	०२	२४
१७	०९	९९	३७	०२	२१
१८	१३	७७	३८	०३	२८
१९	०७	९५	३९	०२	१३
२०	०९	९०	४०	०२	१७
			कुल जोड़	३०३	१९७५

इस प्रकार कुल ३०३ अनुवाक तथा १९७५ कण्डिकाएं वाजसनेय संहिता में गिनायी गयी हैं।

अन्त के तीन श्लोकों में संहिता के विभागों के विशेष नामों के अनुसार प्रतिविभाग अनुवाकों की संहित संख्या दी गयी है।

अध्याय १ से १० तक अनुवाक संख्या=११९।

„ ११ से १८ तक चयनयाग में विनियोज्य अनुवाक=६७।

अध्याय १९ से २१ तक सौत्रामणी में विनियोज्य अनुवाक=२२।
,, २२ से २५ तक अश्वमेध याग में विनियोज्य अनुवाक=४९।
,, २६ से ३५ तक (खिलाध्याय) पुरुषमेधादि में अनुवाक=३५।
,, ३६ से ४० तक (शुक्रियाध्याय) पुरुषमेधादि में अनुवाक=११।

कातीयचरणव्यूह (पञ्चम परिशिष्ट)

शौनकीय चरणव्यूह के समान ही कात्यायन-कृत चरणव्यूह भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है, जिस में कात्यायन के सम्मुख विद्यमान वैदिक शाखाओं के विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूचनाएं उपलब्ध होती हैं। इस के अनुसार ऋग्वेद में कुल मिलाकर १०६३० ऋचाएं तथा २०४४ वर्ग हैं; किन्तु यह संख्या वर्तमान शाकलसंहिता से मेल नहीं खाती, अतः टीकाकार का अनुमान है कि यह गणना शाङ्खायन पाठानुसारी प्रतीत होती है। शौनकीय चरणव्यूह के अनुसार खिलों सहित १०२८ सूक्तों में २०२४ वर्गों में कुल १०५५२ ऋचाएं हैं। खिल सूक्तों के व्यक्तिरिक्त यह संख्या १०१७ सूक्त, २००६ वर्ग तथा १०४७२ ऋचाएं रह जाती हैं। यदि इन में संज्ञान सूक्त की १५ ऋचाएं, नैमित्तिक द्विपदा की ७० ऋचाएं तथा **भद्रं नो अपि वातय मनः** (ऋग् १०, २०, १) यह एक पाद भी सम्मिलित कर लिया जाय, तो ऋक्संख्या १०५८०$\frac{१}{४}$ हो जाती है। इस समस्त समस्या का समाधान हम शौनकीय चरणव्यूह के प्रकरण में कर चुके हैं।

कातीय चरणव्यूह में उल्लिखित कृष्ण यजुर्वेद की ८६ शाखाओं में से चरकों की बारह शाखाएं परिगणित हैं, जो शौनकीय उल्लेख से मिलती हैं, किन्तु शौनकोक्त मैत्रायणीयों के छह भेदों के स्थान पर यहां सात भेद गिनाये गये हैं—'श्यामाः' अधिक हैं। इन में परिगणित हारिद्रवीयों (०वेयो—शौनक) के पांच भेदों एवं मैत्रायणीयों के उक्त सात भेदों तथा १२ चरकों की कुल यजुःसंख्या १८००० कही गयी है, जिस में मन्त्र-ब्राह्मण प्रभृति सभी सम्मिलित हैं। इस विषय में शौनकीय चरणव्यूह के व्याख्याकार महिदास ने एक विचित्र बात यह कही है कि मैत्रायणीय वाजसनेय वेद का अध्ययन करता है[1]।

तैत्तिरीयों के दो भेद कहे गये हैं— औखेय तथा खाण्डिकेय। खाण्डिकेयों के पांच भेद हैं— भारद्वाजी, आपस्तम्बी, बौधायनी, सत्याषाढी तथा शाट्यायनी[2]।

---

[1] **'मैत्रायणीयस्तु वाजसनेयवेदाध्यायी'** (शौ० च० व्यू० पृ ३३)।

[2] शौ० च० व्यूह में बौधायनी के स्थान पर 'कालेताः' तथा 'सत्याषाढी' के स्थान पर 'हिरण्यकेशी' है। सातवलेकर के अनुसार भी यहां 'हैरण्यकेश' ही है, शाट्यायनी के स्थान पर वे 'काठ्यायन' पढ़ते हैं। (वा० सं० भूमिका पृ० ७)।

तैत्तिरीयों की समस्त संहिताओं तथा ब्राह्मणवाक्यों का विवरण इस प्रकार हैं—७ काण्ड, ४४ प्रश्न, ६५१ अनुवाक, २१९८ पञ्चाशियां ; १९२०९० पद ; २५३८६८ अक्षर; १९४८८ ब्राह्मणवाक्य।

कठों के उपग्रन्थ ४४ हैं।

वाजसनेयों के १५ भेद गिनाये गये हैं, जिन के विषय में शौनकीय सूची में पर्याप्त भेद दृष्टिगोचर होता है। वह शाखाभेद इस प्रकार है—जाबाल, बौधेय, काण्व, माध्यन्दिन (०न्दिनेय—शौनक) शापेय (शाफेय शौनक), तापायनीय (तापनीय—शौ०), कपोल (कापाल -सातवलेकर) पाण्डवत्स, आर्वाटिक, परमावटिक, पाराशर, (०शरीय—सात०) वैनधेय ("वैनतेय"[1]— प्रतिज्ञापरि० "वैणेये"—शौ०) गालव ('वैधेय'—प्रतिज्ञापरि०; शौनक), कात्यायन (कौन्तेय—प्रतिज्ञा०) बैजवाप (शौनक में नहीं)। शौनक ने श्रद्धा और 'बौधायन' दो नाम और दिये हैं, जो अन्यत्र समर्थित नहीं हैं। शौनक के अनुसार वाजसनेयों के ये १५ भेद प्राच्य, औदीच्य तथा नैर्ऋत्य वाजसनेयों के हैं।

इन पन्द्रह शाखाओं की कुल ऋक्संख्या १९०० कही गयी है, जिस का अनुमोदन शौनकीय चरणव्यूह से होता है[2], किन्तु महिदास ने अपनी व्याख्या में इसे १९२५ किस आधार पर कर दिया है, यह स्पष्ट नहीं है[3]। यजु: संख्या ८८८८ कही गयी है, जिसे शौनक ने ८८२८ माना है, साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यह संख्या वालखिल्य, शुक्रिय सूक्तों तथा शतपथब्राह्मण समेत हैं। इस में से माध्यन्दिनीयों की मन्त्र संख्या १९७५ है। यहां संहिता के अष्टविध पाठ का भी उल्लेख है। अष्टादश परिशिष्ट भी गिनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त माध्यन्दिनीयों से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थों की भी तालिका दी गयी है, यथा, (सर्वा) अनुक्रम (सूत्र), पद-ज्योतिः, यजुर्विधान कर्मप्रदीपिका ('छन्दोग परिशिष्टम्'—टी०), स्वरांकुशादि (स्वर-व्यञ्जक रचना), मन्त्रभ्रान्तिहर (सूत्रमन्त्रप्रकाशिका) पांच शिक्षाएं याज्ञवल्क्यीया, अमोघनन्दिनी कात्यायनी, माध्यन्दिनी तथा मन:स्वारशिक्षा—टी०)।

सामवेद की सहस्र शाखाएं थीं, किन्तु अनध्यायों में अध्ययन किये जाने के कारण इन्द्र के द्वारा नष्ट कर दी गयी थीं।

केवल तेरह शाखाएं शेष रह गयी थीं। उन में से राणायणीयों की सात शाखाएं हैं (शौनक के अनुसार ९)।

---

१. प्रतिज्ञापरि० का पाठ अधिक संगत प्रतीत होता है। सात० 'वैनेय'।

२. द्वे सहस्रे शते न्यूने मन्त्रे वाजसनेयके। ऋग्गण: परिसंख्यातमतोऽन्यानि यजूंषि च।

३. द्र० शौ० च० व्यूह पृ० ३९।

राणायणीय, शाट्यमुग्र० ('सात्यमुद्गल'—शौनक), कालोप, महाकालोप, ('खल्वल' तथा 'महाखल्वल'—शौनक), लाङ्गलायन ('लाङ्गल'— शौनक), शार्दूल ('गौतम'—शौनक) तथा कौथुम (तथा जैमिनीय एवं शाट्यायनीय—शौनक)। कौथमों के छह भेद कहे गये हैं आसुरायण, ('आसुरायणीय'—शौनक), वातायन (वासुरायणीय— शौनक) पतञ्जलि (वार्त्तान्तरेय— शौनक), वैदभृत् ('प्राञ्जल ऋग्वैनविध'— ? शौनक ?) प्राचीनयोग्य तथा जैमिनीय।

इस प्रकार इन दोनों चरणव्यूहों में पर्याप्त वैमत्य पाया जाता है। जहां कात्यायन ने जैमिनीयों को कौथुमों का एक भेद माना है, वहां शौनक ने इसे राणायणीयों की शाखा स्वीकार किया है, शौनक का 'प्राञ्जल ऋग्वैनविध' विचित्र प्रतीत होता है। कात्यायन ने कुल १३ भेद स्वीकार किये हैं। इसके पक्ष में व्याख्याकार ने यह तर्क दिया है कि सामतर्पण में भी १३ सामवेदीय आचार्यों के नाम गिनाये गये हैं। यद्यपि दोनों की तालिका में नाम भेद पाये जाते हैं, तो भी महिदास ने भी तेरह ही आचार्य स्वीकार किये हैं। फिर १५ शाखाओं की संगति क्या है, यह स्पष्ट नहीं किया।

कात्यायन के अनुसार समस्त सामवेदियों की मन्त्रों की अध्ययन संख्या इस प्रकार हैं— आग्नेय पर्व=११४ मन्त्र (१८०—शौनक); ऐन्द्रपर्व=३५२ मन्त्र (२६—शौनक); पावमान पर्व=११९ मन्त्र (१०४—शौनक), आरण्यक=५५; महानाम्नी=१०, उत्तरार्चिक=१२७५ मन्त्र। कुल सामगानसंख्या=२०२२, जिनमें ग्रामगेय, अरण्यगेय, ऊह, ऊह्य— ये चारों के सामगान तथा बालखिल्य, आरण्यक तथा सुपर्णप्रेंख ('०प्रेक्षण'— कात्यायन), सम्मिलित हैं। शौनक ने सामों की संख्या ८८१४ कही है। सुपर्णप्रेंख बालखिल्य, उपनिषद् भाग तथा सौर्यसूक्त— इन सब की— मन्त्र संख्या ९०० कही गयी है[1], जिसकी पृथक् चर्चा कात्यायन ने नहीं की। आठ ब्राह्मण भी सामवेदियों को अध्ययन करने होते हैं[2]। कुछ लोग ऋक्तन्त्र, सामतन्त्र, संज्ञा-धातु लक्षण जो कि गोभिल गृह्य, लाट्यायनश्रौत— पुष्पसूत्रादि उपग्रन्थों के उपलक्षण हैं—का भी विधान करते हैं[2]।

कात्यायन द्वारा निर्दिष्ट मन्त्रसंख्या प्रकाशित कौथुमीय सामवेद संहिता के सर्वथा अनुरूप है। जैमिनीय सामसंहिता की चर्चा दोनों में से किसी ने भी नहीं की।

अथर्ववेद की नौ शाखाएं हैं, जिनका शौनकोक्त शाखाओं से बहुत भेद है। पैप्पलाद, शौनक, मोद, शौक्वायन, जाजल, ब्रह्मबल, कुमुदादि, वेदस्पर्श तथा चारणविद्या।

---

१. द्र० शौनकीय चरणव्यूह, पृ० ४४-४५।

२. ताण्ड्य, षड्विंश, अद्भुत, सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, उपनिषद् तथा पञ्चविंश।

शौनक द्वारा उल्लिखित ये शाखाएं इस प्रकार हैं—

पैप्पल (?) शौनक, दान्त, प्रदान्त, औत, जाबाल, ब्रह्मपलाश, कुनखी वेददर्शी (?) तथा चारण विद्या।

अथर्ववेद का अध्ययन दो प्रकार का है— (१) **ब्रह्मरूप** तथा (२) **अभिचार रूप**। इसकी मन्त्रसंख्या १२००० है। शान्तिक पौष्टिक मन्त्र **ब्रह्मरूप** कहलाते हैं। जारण-मारण प्रभृति के प्रतिपादक मन्त्र **आभिचारिक** कहलाते हैं।

अथर्ववेद से सम्बद्ध पांच कल्प हैं। नक्षत्रकल्प, शान्तिकल्प, वितानकल्प, संहिताकल्प, आङ्गिरसकल्प। प्रत्येक कल्प के परिशिष्ट भी हैं, जिनकी संख्या नहीं कही गयी। शौनक के अनुसार प्रत्येक कल्प में पांच-पांच सौ मन्त्र होते हैं।

इसके अनुसार पांच कल्प ये हैं। नक्षत्रकल्प, विधानकल्प, विधिविधानकल्प, संहिताकल्प तथा शान्तिकल्प।

वेदों के उपवेद भी गिनाये गये हैं— ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्ववेद, अथर्ववेद का स्थापत्यवेद। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वेद का रूप, रङ्ग, स्वभाव, प्रमाण प्रभृति का विवरण पुरुषवत् दिया गया है। अन्त में वेदाध्ययन की फलश्रुति कही गयी है।

श्राद्धकल्प (सूत्र) (षष्ठ परिशिष्ट)

कात्यायन के नाम से सम्बद्ध माध्यन्दिनों का षष्ठ परिशिष्ट **श्राद्धकल्प** या **श्राद्धसूत्र** के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें श्राद्ध विषयक नियमों का प्रतिपादन किया गया है। इसमें नौ कण्डिकाएं हैं। प्रथम कण्डिका में श्राद्ध का काल, श्राद्धीय भोजनार्थ योग्य तथा अयोग्य व्यक्तियों का विवरण, दैव तथा श्राद्ध में भोजन करने वाले ब्राह्मणों की संख्या, श्राद्ध-कर्ता के लिये पालनीय नियमों का ब्योरा दिया गया है। द्वितीय कण्डिका में श्राद्ध के अनुष्ठान का पिण्डपितृयज्ञवत् विधान, ब्राह्मणों का सत्कार, विश्वेदेवा देवताओं तथा पितरों का आवाहन, ब्राह्मणों को जल, गन्ध-पुष्प-दीप-वस्त्र प्रदान की विधि कही गयी है। तृतीय कण्डिका में वैश्वदेव सम्बन्धी घृत-युक्त अन्न की अग्नि में आहुति, पञ्चमहायज्ञ, ब्राह्मणों के सम्मुख तिलविकिरण, ब्राह्मण भोजनानन्तर शेष अन्न को उच्छिष्ट के समीप दर्भों पर पितृपक्ष तथा मातृपक्ष के तीन-तीन पितरों के लिए पिण्डदान का विधान, ब्राह्मणों के आचमन कर लेने पर उन्हें जल, पुष्प, अक्षत समर्पित करके उनका आशीष ग्रहण तथा दक्षिणादान का विधान किया गया है।

चतुर्थी कण्डिका में **एकोद्दिष्ट** श्राद्ध सम्बन्धी नियम दिये गये हैं। पञ्चमी कण्डिका में मरणोपरान्त संवत्सर व्यतीत हो जाने पर **सपिण्डीकरण** का विधान किया गया है।

षष्ठी कण्डिका में पुत्र-जन्म तथा विवाह सदृश शुभ अवसरों पर क्रियमाण **आभ्युदयिक श्राद्ध** से सम्बद्ध **नान्दीमुख** पितरों के आवाहन तथा श्राद्ध के नियमों का वर्णन किया गया है। सप्तमी कण्डिका में श्राद्ध सम्बन्धी भोजन में किन वस्तुओं से पितर कितने दिनों तक तृप्त रहते हैं, इसका विवरण दिया गया है। इस कण्डिका में अनेकों पशु-पक्षियों के मांस का विधान है। अष्टमी कण्डिका में 'अक्षय्य तृप्ति' के लिए किन पदार्थों से, किन नक्षत्रों में, किस प्रकार के ब्राह्मणों द्वारा श्राद्ध कराना चाहिये, इसका विवरण दिया गया है।

नवमी कण्डिका में विविध कामनाओं की पूर्ति के लिये विविध तिथियों में श्राद्ध करने का विधान किया गया है।

श्राद्धकल्प अथवा **श्राद्धसूत्र** पारस्करगृह्यसूत्र के अन्त में कर्कभाष्य, गादाधरी पद्धति तथा कृष्णमिश्रकृत श्राद्धकाशिका नामक विस्तृत व्याख्या सहित प्रकाशित की गयी है। परम्परागत विचार के अनुसार कात्यायनश्रौतसूत्र के समान ही पारस्करगृह्यसूत्र भी माध्यन्दिन संहिता के अनुयायियों के गृह्यकर्म की प्रतिपादक रचना है।

माध्यन्दिनीयऋग्यजुषम्

(अष्टम परिशिष्ट)

इस परिशिष्ट में माध्यन्दिनीय संहिता में प्रति अध्याय ऋक्संख्या तथा यजुःसंख्या का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। यहां ध्यान रहे कि एक-एक कण्डिका में बहुत मन्त्र हो सकते हैं। मन्त्रपद का अर्थ भी पारिभाषिक मानना चाहिये। यज्ञ में प्रयोज्य इकाई को यहां मन्त्र माना गया है। यथा—प्रथम कण्डिका में **इषे त्वा, ऊर्जेत्वा, वायव स्थ, देवो वः** ... ... **बहवीः, यजमानस्य पशून् पाहि**, ये पांच मन्त्र हैं, जिनमें दो द्व्यक्षर हैं, तृतीय चतुरक्षर हैं, चतुर्थ में बासठ अक्षर हैं। पञ्चम नवाक्षर मन्त्र है। इसके अतिरिक्त यदि एक मन्त्र दस बार पुनरावृत्त होता है, तो वे सब दस मन्त्र परिगणित होते हैं यथा—**उपयाम गृहीतोऽसि**, संहिता में बहुत बार पुनरावृत्त हुआ है। इसी प्रकार **एष ते योनिः** अनेक बार पुनरावृत्त मन्त्र है। इसके अतिरिक्त स्वाहाकारान्त पद भी स्वतन्त्र मन्त्र माना जाता है। यथा—**सुरे स्वाहा**। प्रत्येक बार **स्वाहा** कहते ही वह प्रथक् मन्त्र हो जाता है[1]। इस प्रकार परिगणना करके यह परिशिष्ट निम्नलिखित परिणाम पर पहुँचा है कि माध्यन्दिनीय संहिता में १४६९ (या १४६६)

---

[1] उपयामः सयोनिश्च स्वाहाकारश्च योऽन्त्यभाक्।
ऋक्स्वबद्धं यजुर्ज्ञेयं यच्च वक्ष्याम्यृचो ब्रुवन्॥ (ऋग्यजुषम् ३)

ऋचाएँ हैं और ३०९४ (या ३०९७) यजुः हैं। तृतीय अध्याय के तीन मन्त्रों के विषय में सन्देह होने के कारण ऋक् संख्या तथा यजुः संख्या में कुछ व्यतिक्रम हो गया है[२]।

अध्याय	ऋचा	यजुः	अध्याय	ऋचा	यजुः
१	१	११७	२१	२८	३३
२	१२	७६	२२	१३	२६३
३	६० (६३)	३६ (३३)	२३	५८	३१
४	२०	६५	२४	—	२२०
५	१७	१३६	२५	४३	१३१
६	१७	८८	२६	२४	२३
७	३०	११६	२७	४४	०१
८	४०	११०	२८	—	४८
९	२२	९१	२९	५७	२९
१०	१२	१२२	३०	०४	१७७
११	७६	४१	३१	२२	—
१२	११४	१२	३२	२५	०४
१३	९२	९०	३३	१२१	—
१४	१५	१५९	३४	६२	—
१५	४८	९३	३५	१९	१४
१६	३३	१२८	३६	२०	१३
१७	९५	११	३७	१०	५२
१८	३९	३९०	३८	१५	५५
१९	९४	३१	३९	०२	६६
२०	८४	१८	४०	१८	०७
			योग—	१४६९ (१४६६)	३०९४ (३०९७)

इष्टकापूरणम् (दशम परिशिष्ट)

इस दशम परिशिष्ट में सुपर्णचिति के सम्बन्ध में कात्यायन श्रौतसूत्र के शेषभूत ऋजुपक्ष वाले सुपर्ण के निर्माण में प्रयोज्य इष्टकाओं का विस्तृत विवरण

---

[२] एतत्ते (३, ६१) इति ऋग्वा जपयजुर्वा……शिवो नामेति (३, ६३) द्वे ऋचौ वा यजुषी वेति तृतीये ।

दिया गया है। यद्यपि कात्यायन श्रौतसूत्र में सुपर्णचिति नामक अग्नि (वेदि) के परिमाण, क्षेत्रसाधन प्रकार, **यजुष्मती** तथा **लोकम्पृणा** नामक इष्टकाओं के उपधान के सम्बन्ध में बहुत कुछ कह दिया गया है, तो भी वहां इतनी, इस नाम की तथा इस प्रमाण की **यजुष्मती** तथा **लोकम्पृणा** इष्टकाएं इस स्थान पर लगानी चाहियें, इसके विषय में बहुत कुछ वक्तव्य शेष रह गया था, उसी त्रुटि को पूर्ण करने के लिए इस परिशिष्ट की रचना की गयी है। शुल्बप्रकरण में हमने चितियों के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है, जिसमें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि **सुपर्णचिति** तथा अन्य आकार की वेदियां दो प्रकार की होती हैं। **वक्रपक्ष** तथा **ऋजुपक्ष**। यहां केवल **ऋजुपक्ष** वेदि की चर्चा की गयी है।

वर्तमान अवस्था में इस परिशिष्ट के दो भाग हैं एक सूत्रभाग, द्वितीय श्लोकभाग। सूत्र भाग में ९ कण्डिकाएं हैं, जिनमें १४३ सूत्र हैं। यह कात्यायन की कृति मानी जाती है। श्लोक-भाग में १० 'पूरण श्लोक' हैं, जो उपेन्द्रकृत माने जाते हैं। यह उपेन्द्र कौन थे, इसके विषय में कोई आधिकारिक सूचना प्राप्त नहीं है। समूचे परिशिष्ट पर **सम्राट्स्थपतित्रिरग्निचिन्महायाज्ञिकप्रजापतिसुतयाज्ञिकदेव** का भाष्य भी प्रकाशित किया गया है।

इस रचना में बताया गया है कि इष्टका दो प्रकार की होती है समचतुरस्र तथा दीर्घ चतुरस्र। समचतुरस्र चार प्रकार की होती है—

(१) **पादभाग**—जिनका प्रमाण ६ × ६ अंगुल होता है।
(२) **पद्या**—जिनका प्रमाण १२ × १२ अंगुल होता है।
(३) **जङ्घामात्री**—जिनका प्रमाण १८ × १८ अंगुल होता है।
(४) **बृहती**—जिनका प्रमाण २४ × २४ अंगुल होता है।

दीर्घचतुरस्र इष्टकाएं भी अनेक प्रकार की होती हैं—

(१) **अर्धपादभाग**—६ × ३ अंगुल।
(२) **अर्धपद्या**—१२ × ६ अंगुल।
(३) **अर्धबृहती**—२४ × १२ अंगुल।
(४) **अध्यर्ध जङ्घामात्री**—१८ × १२ अंगुल।
(५) **त्रिग्राहिणी**—२४ × १८ अंगुल।

मण्डलाकार स्थान के मध्य भाग के भर जाने पर प्रान्त भागों को भरने को **वक्रा** नामक इष्टकाओं की आवश्यकता होती है।

इष्टका की मोटाई या ऊँचाई (उत्सेध) छह या चार अंगुल होती है। यह 'अंगुल'-प्रमाण सर्वत्र यजमान की अंगुली की चौड़ाई ही मानी जाती है जैसे कि शुल्व-

प्रकरण में कह चुके हैं। अग्नि के क्षेत्र को अग्नि का शरीर अथवा आत्मा कहा जाता है। यजु उसकी मज्जा है, इष्टका=अस्थि ; चिनाई (सादन)=मांस, **सूददोहस्** नामक मन्त्र (वा० सं० १५, ६४)[1]=त्वक्, पुरीष (मिट्टी आदि) डालने से सम्बद्ध यजु, लोम, पुरीष=अन्न ।

सुपर्ण के किस स्थान पर, कौन सी, कितनी इष्टकाओं को किस प्रकार रखना चाहिये, इसका विस्तृत विवरण देने के पश्चात् नवीं कण्डिका में विविध इष्टकाओं की व्योरेवार संख्या गिनायी गयी है, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

सर्वविध इष्टकाओं की संख्या =१११७० ;
  इनमें से लोकम्पृणा इष्टकाएं =१०८०० }
  यजुष्मती इष्टकाएं = ३७० }=१११७०

पादभागाः = ९२६२
  वक्रालिखिताः (‿ चिह्न युक्त) = १७३२ }
  ऋज्वालिखिताः (। चिह्न युक्त) = ७५३० }=९२६२

अर्धपादभागा = ६७८
  वक्रालिखिताः = २६२ }
  ऋज्वालिखिताः = ४१६ }=६७८

चतुर्भागाः =१२ (वक्रालिखिताः=४ ;
ऋज्वा०=८)।

पद्याः =७७७ (७५९ पूर्णोत्सेधा +
१८ अर्धपूर्णोत्सेधा।

अर्धपद्या =१८८
  अर्धोत्सेधा =१२
  तिरश्चालिखिता (—) } = ४
  ऋज्वालिखिता (।) } = ८
  तिरश्चालिखिता (—) =२७

---

[1] श० ब्रा० ८, ७, ३, २ ।

पूर्णोत्सेधा } =२३
अर्धोत्सेधा } = ४
ऋज्वालिखिता (।) =१४९ (१८८)
वक्रालिखिता पूर्णोत्सेधा (∪) = २
जङ्घामात्री = ५०
त्रिग्राहिणी = ७०
वक्रा = ८
अध्यर्धा =१११
बृहती = ६
अर्धबृहती = ४
पादोन = २
११९७०

उपरिलिखित **पादभाग** प्रभृति तो इष्टकाओं के प्रमाणवाची नाम हैं, जिन पर **ऋजु** (।), **वक्र** (∪) अथवा **तिरश्च** (—) चिह्न बने रहते हैं, किन्हीं पर कोई भी चिह्न नहीं होता। इनके अतिरिक्त इन इष्टकाओं के अनेक याज्ञिक नाम भी हैं। यथा—**लोकम्पृणा, यजुष्मती, सृष्टी, अपस्या, वालखिल्या, वयस्या, नाकसद्, पञ्चचूड़ा, स्तोमभागा, ऋतव्या, विश्वज्योतिः, प्राणभृत्** प्रभृति। विस्तार के लिये लेखक के—'कल्पसूत्र' का 'शुल्व प्रकरण' देखना चाहिये।

प्रावरिकासूत्रम् (एकादश परिशिष्ट)

कात्यायन-प्रणीत परिशिष्टों में **प्रावरिकासूत्र** ग्यारहवां परिशिष्ट है, जिस में विभिन्न प्रवरों का विस्तृत विवरण दिया गया है, जिस में सात गणों के अन्तर्गत ६६ प्रवर गिनाये गये हैं।

ये सात गण इस प्रकार हैं—भृगुगण, अङ्गिरोगण, विश्वामित्रगण, वसिष्ठगण, काश्यपगण, अत्रिगण, अगस्तिगण, इन में क्रमशः १२, १७, १५, ७, ६, ३, ६ प्रवर प्रतिपादित हैं। यद्यपि बौधायन ने प्रवराध्याय में ४९ गणों की चर्चा की है[1], तो भी प्रवरमञ्जरी तथा प्रवरदर्पण में ७५ प्रवरों का उल्लेख किया गया है। अतः भिन्न-भिन्न आचार्यों का इस विषय में वैमत्य स्पष्ट हो जाता है।

---

[1] गणानां तु सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च।
ऊनपञ्चाशदेवैषां प्रवरा ऋषिदर्शनात्॥

इतना ही नहीं। प्रत्येक गण में परिगणित गोत्रों की संख्या में भी बहुत मतभेद पाया जाता है। मानवश्रौतसूत्र के अन्त में मुद्रित प्रवरपरिशिष्ट तथा कात्यायनीय प्रावरिक सूत्र में इस विषय में बहुत अन्तर तथा वैमत्य पाया जाता है, जिस का दिग्दर्शन आगे कराया जायेगा।

जिस गोत्र में जितने प्रधान, श्रेष्ठ, मन्त्रद्रष्टा ऋषि हो गये हैं, वे अपने वंशजों या गोत्रों के **प्रवर** कहलाते हैं। यज्ञ में यजमान के प्रवरों का होता तथा अध्वर्यु द्वारा उस यज्ञ के देवताओं तथा ऋषियों के समक्ष निवेदन किया जाता है[1], ताकि पूर्व ऋषियों से यजमान का सम्बन्ध विच्छिन्न न हो जाये और उनके साथ सन्तति का सम्बन्ध बना रहे[2]। प्रवरों की संख्या निश्चित कर दी गयी है। ये १, २, ३ या पांच हो सकते हैं, चार नहीं हो सकते।

पितृ-पुत्र-पौत्रक्रम से होता तद्धितवद् प्रवरोच्चारण करता है और अध्वर्यु आमन्त्रितवद्। यथा—भृगुओं के पांच प्रवरों का उच्चारण करते समय होता कहता है— **भार्गवच्यावनाप्नवानौर्वजामदग्न्य** और अध्वर्यु कहता है— **भृगुवच्च्यवनवदप्नववदूर्ववज्जमग्निवद्**। कात्यायन के निर्देशानुसार तो होता और अध्वर्यु का प्रवरक्रम एक ही होता है, किन्तु मानव प्रवराध्याय के अनुसार अध्वर्यु होता के वचनों को आमन्त्रितवत् प्रतिलोमक्रम से दोहराता है। यथा—होता के उपर्युक्त प्रवरोच्चारण के अनन्तर अध्वर्यु का उच्चारण क्रम यह है— **जमदग्निवदूर्ववदप्नववच्च्यवनद्भृगुवद्**[3]। राजन्यों और वैश्यों के प्रवर उनके पुरोहितों के प्रवर ही होते हैं। यदि किसी को अपने प्रवरों का स्मरण न हो, तो उसे मनु को ही अपना प्रवर मान लेना चाहिये[4]। यदि कोई परप्रवर का उच्चारण करता है, तो उसके यज्ञ का फल भी पर को ही प्राप्त होता है, और वह व्यक्ति देवों, ऋषियों, ओषधियों, वनस्पतियों, पितरों तथा मनुष्यों से कट जाता है[5]।

प्रवर प्रायः दो प्रकार के होते हैं— **केवल** और **द्व्यामुष्यायण**। **द्व्यामुष्यायण** उसे कहते हैं, जिसके दो पिता हों। अर्थात् ऐसा गोद लिया पुत्र जो मूल पिता की सम्पत्ति का भी उत्तराधिकारी होता है[6]। **वैकृत** नामक

---

१. **आर्षेयं प्रवृणीत ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद् देवेभ्यश्च निवेदयति**—(श० ब्रा० १, ५, १, ९)।

२. **बन्धोरेव नैत्यथो सन्तत्या इति**—(प्रावरिका सूत्र ३)।

३. तथा द्र० प्रावरिका०, वैकृतकाण्ड १७—**यदि सार्षं ब्रूयान्मानवैलपौरुरवसेति होता ब्रूयात् पुरुरवोवदिलवन्मनुवदित्यध्वर्युः**।

४. परिभाषाकाण्ड ५; ६; ८; का० श्रौ० सू० ३, २, ८-१२।

५. परि० काण्ड ७।

६. वैकृत काण्ड ७; १२।

नवम काण्ड में **द्व्यामुष्यायण** तथा अन्य विकारों से युक्त व्यक्तियों के प्रवरों के विषय में चर्चा की गयी है तथा क्षत्रियों और वैश्यों के प्रवरों के विषय में व्यवस्था दी गयी है। प्रवरों के प्रतिलोमक्रम से उच्चारण के विधान से **वैकृतकाण्ड** कात्यायनकृत नहीं हो सकता। अन्त में ५६ श्लोकात्मक 'श्लोक काण्ड' है, जिसमें प्रावरिका के ही प्रतिपाद्य को श्लोकों में दोहराया गया है तथा सगोत्रा एवं सप्रवरा कन्या से विवाह का निषेध किया गया है। यदि ऐसा विवाह हो जाये, तो उस कन्या का परित्याग करके अतिकृच्छ्र व्रत के प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

इस विषय में एक बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि सगोत्र-सप्रवर विवाह का इतना कठोर दण्ड प्रतिपादन किया गया है, तो भी गोत्रों और प्रवरों के विषय में मानव प्रवराध्याय तथा कात्यानीय प्रवराध्याय में परस्पर इतना विभेद पाया जाता है कि हर विषय में सगोत्र-सप्रवर का निश्चय करना ही असम्भव हो गया।

सर्वप्रथम तो गोत्रों में इतना अधिक पाठभेद है कि एक ही गण में पठित गोत्र ही भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। यथा—आंगिरस काण्ड में **औतथ्य = औचथ्य (मानव)** ; **तौदेय (तौडेय-मानव)** ; **कौटल्य (कौडल्य-मानव)**। कात्यायन ने इन के ३ प्रवर कहे हैं, जबकि मानव ने पांच। **कपि भूमि (= कवि भूमि-)** ; **छत्रहय: (छत्रकय:)** ; **सौभृत (सौश्रुत)** ; **सौरथय: (सौरथाय:)** ; **तार्क्ष्यायणि: (तारुक्ष्यायणि:)** प्रभृति। स्वयं मानव० में ही एक आंगिरस शौङ्ग हैं, जो त्र्यार्षेय है[1], द्वितीय भी शौङ्ग आंगिरस है, जो पञ्चार्षेय है[2]। कात्यायन ने विश्वामित्र गण के अन्तर्गत **अघमर्षणों** में **बन्धुल** को त्र्यार्षेय कहा है, तो मानव ने इसे द्व्यार्षेय। इसी प्रकार **हिरण्यरेतस्, कपोतरेतस्, घृतकौशिक** सभी कात्यायन के अनुसार द्व्यार्षेय हैं, मानव के अनुसार त्र्यार्षेय। **विष्णुवृद्धि** गोत्र के कात्यायन ने तीन प्रवर **अंगिरा:, विरूप** तथा **पृषदश्व** कहे हैं, जबकि मानव ने **अंगिरस्, पुरुकुत्स** तथा **त्रासदस्यव**। **रथीतरों** के कात्यायन ने **अंगिरा:, पुरुकुत्स** और **त्रसदश्व** कहे हैं, तो मानव ने **अंगिरस्, विरूप, पृषदश्व**। इस प्रकार कई प्रकार के व्यतिक्रम पाये जाते हैं, जिनके कारण किसी निर्णय पर पहुँचना कठिन हो गया है।

मूल्याध्याय (द्वादश परिशिष्ट)

इस परिशिष्ट में यज्ञ में दक्षिणार्थ दिये जाने वाले विविध पशुओं तथा अन्य वस्तुओं के स्थान पर देय मूल्यों का विवरण दिया गया गया है। इनमें गौ, वृष, अनड्वान्, धेनु, अवि, वृषली, दासी, पालकी, वत्स, छाग, गज, प्रभृति

---

[1] मानव० पृ० २४२।

[2] पृ० २४४।

सम्मिलित हैं। मूल्य प्रचलित सिक्कों में आंका गया है, जो कपर्दिका, काकिणी, गुञ्जा, ताम्र, रौप्य तथा सौवर्ण, कार्षापण, पण, कर्ष प्रभृति होते थे।

उञ्छशास्त्र (त्रयोदश परिशिष्ट)

इसमें उस ब्रह्मचारी तथा उञ्छवृत्ति गृहस्थ के आचरण का प्रतिपादन किया गया है जो खेत के कट जाने के उपरान्त उसमें पड़ी हुई बालियों तथा दानों को चुन कर उनसे जीवन-निर्वाह का व्रत लेता है। इसे 'उञ्छवृत्ति' कहा जाता है (द्र० मनु० ४, ५)।

प्रसवोत्थान (सत्रहवां परिशिष्ट)

सत्रहवें परिशिष्ट में सन्न्यासी के आचरण के नियमों का प्रतिपादन किया गया है। इस विषय में सन्न्यास ग्रहण के अवसर तथा स्वयं में अग्नियों के समारोपण के सम्बन्ध में मतान्तर की भी चर्चा की गयी है। एक और मत के अनुसार प्राजापत्य-इष्टि अथवा आथर्वणों के अनुसार आग्नेयी-इष्टि के अनुष्ठान के अनन्तर सन्न्यास का विधान किया गया है। सन्न्यासी पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा इन सभी का परित्याग करके भिक्षाचरण करता है और अन्त में वह या तो वीरमार्ग का अनुसरण करता हुआ युद्ध में, अथवा जल में या अग्नि में प्रवेश करके महाप्रस्थान करे। जब तक जीवित रहे लाभालाभ में समान बुद्धि होकर कहीं शून्यागार, देवगृह, गुहा-गह्वर में वास करके प्रणव में ध्यान लगाकर देह का परित्याग करे।

कूर्मलक्षण (अष्टादश परिशिष्ट)

कूर्मलक्षण नामक अन्तिम अष्टादश परिशिष्ट में चयनयाग में वेदि में स्थापित किये जाने वाले कूर्म के लक्षण दिये गये हैं। नामारूप, विचित्रांग, स्थूल-ग्रीव, श्वेतोदर कूर्म श्रेष्ठ माना गया है। कूर्म के अभाव में कूर्म के आकार का पुरोडाश रखा जा सकता।

कूर्म के स्थापन के समय आठ सहस्र गायत्री मन्त्र से हवन करके प्रायश्चित्त का विधान भी यहां किया गया है, जो न तो शतपथ ब्राह्मण में ही प्रतिपादित है और न ही कात्यायन श्रौतसूत्र में। इससे प्रतीत होता है कि यह रचना कात्यायन से उत्तरवर्ती काल की है।

ये दस परिशिष्ट श्रीधर शास्त्री वारे द्वारा 'कात्यायनीय-परिशिष्ट दशकम्' में पूना से प्रकाशित किये गये हैं।

इनके अतिरिक्त **निगम** तथा **यज्ञपार्श्वपरिशिष्ट** अभी तक अप्रकाशित है। पांच अध्यायों के **हौत्रपरिशिष्ट** में दर्शपूर्णमास चातुर्मास्य, निरूढ पशुबन्ध

प्रभृति यागों में हौत्रकर्म का प्रतिपादन किया गया है। इस पर कर्कभाष्य भी उपलब्ध है, किन्तु यह भी अभी तक अप्रकाशित ही है।

प्रातिशाख्य (पार्षद) तथा **शुल्बसूत्र** का विवरण क्रमश: प्रातिशाख्यों तथा शुल्बसूत्रों के प्रकरणों में दे दिया गया है।

माध्यन्दिनमन्त्रसंहिता

यह माध्यन्दिन शाखीय कर्मकाण्डार्थ मन्त्रों का संग्रह है, जिसमें सन्ध्या, तर्पण, पूजन, प्राण-प्रतिष्ठा, भूतशुद्धि, देवतोत्थापन, देवता आवाहन, आसन, अर्घ्य, आचमन, स्नान, यज्ञोपवीत तथा देवता को वस्त्र, सुगन्ध द्रव्य, चन्दन, अक्षत, पुष्प प्रभृति प्रदानार्थ अनेक प्रकार की पौराणिक क्रियाओं से सम्बद्ध वैदिक मन्त्र संगृहीत हैं। इसकी पौराणिक पृष्ठभूमि का प्रमाण तुलसी-पूजार्थ मन्त्रों का संग्रह है। पुण्याहवाचन, षोडशमातृका, नवग्रह, गणेशादि पञ्चदेवता प्रभृति से सम्बद्ध मन्त्र भी संगृहीत हैं।

इसके अतिरिक्त दिक्पाल, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, कुबेर, शिव, ब्रह्मा, शेष, क्षेत्रपाल की पूजा-अर्चना का विधान भी यहां किया गया है।

अष्टाहुति, पूर्णाहुति, देवताभिषेक बर्हिर्होम प्रभृति कर्मकाण्ड से सम्बद्ध मन्त्रों का भी सङ्कलन किया गया है।

यद्यपि इस प्रकार की पूजा-पद्धति स्मार्तपूजा के अन्तर्गत परिगणित की जाती है, तो भी यह इतनी अर्वाचीन नहीं, जितनी कुछ लोग समझते हैं। इसका कुछ आभास हमें ऋग्विधान में मिलता है, जिसे पर्याप्त प्राचीन माना जाता है।

इसका सुलभ संस्करण वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

शुक्लयजुर्विधानसूत्र

कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध **यजुर्विधान सूत्र** अन्य **ऋग्विधानसूत्र** आदि आभिचारिक सूत्रों के समान ही विविध विषयों का प्रतिपादन करता है। किन्तु एक प्रकार का परिशिष्ट होते हुए भी यह कात्यायन प्रणीत अष्टादश यजुः-परिशिष्टों में परिगणित नहीं किया गया।

इसमें सात अध्याय हैं। सप्तम अध्याय के अन्त में 'हंस कल्प' का वर्णन किया गया है, जो **हंसः शुचिषत्** (वा० सं० १२, १४) का कल्प है।

इस में इस प्रकार के अनेक विषयों का प्रतिपादन वा० सं० के मन्त्रों से किया गया है। संहिता के मन्त्र कोष्ठकों में सूचित किये गये हैं—प्रणवसाधन, गायत्री साधन, व्याहृति साधन, शत्रुगृहोत्सादन (१-२८), चक्षुरोग शान्ति (२, १६),

रोग से मुक्ति (३, १७), अभिलषितलाभ (३, २१), चौरादिभय नाश (३, ३१), धनकामना पूर्ति (३, ५७), मूषक कृकलास शान्ति (३, ५८), लोगों को वचन विधेय करना (४, २०), संग्राम में जय (५, ३७), जन्म भर के पापों से मुक्ति (६, ५७), अभीष्ट कन्या प्राप्ति (८, ४६), अन्न लाभ (९, १), धन पशु सुवर्ण लाभ (९, २८), सोमयाजी बने (९, २६), कुल ग्राम नगरादि का उद्वासन (९, ३५), अग्न्युत्पात शान्ति (११, ४५), सर्प भय नाश (११, ७८-९), निगड-मुक्ति (१२, ६३), राक्षस भूत प्रेतादि भयशान्ति (१२, ८०), वशीकरण (१२, ८५), शत्रुकुष्ठीकरण (१२, ८७), मेधावृद्धि (१२, ८८), सर्वोपद्रव शान्ति (१२, ९०), अभिचारोपशमन (१२, १०२), परस्याभिचारकरण (१३, ९), वृष्टि-सम्पादन (१३, ३०; ५३), अक्षय्य वस्त्र प्राप्ति (१६, ४७), ज्वर शान्ति (१६, ४८), कृत्या का उत्पादन (१६, ६४-६६), अप्सराओं तथा देवकन्याओं का दर्शन (१७, ५९-६०), सुखपूर्वक नौतरणोपाय (२१, ६), ब्रह्म-हत्योपशमन (२५, ९), उदरपीड़ा शमन (२५, ३३), मेधावी बने (३२, १३-१५)[1], गर्भधारण (३५, ७) इत्यादि ।

इन मन्त्रों के विविध प्रकार प्रयोग, जप, होम, अभिचार प्रभृति इस में बताये गये हैं, जिनसे इष्टसिद्धि होने का दावा किया गया है।

व्याख्या—इस यजुर्विधान सूत्र की पञ्चनद प्रदेश के अन्तर्गत 'उध' नामक नगर के राजा 'बाघर कुलभूषण महाराज श्री कालनाथ' द्वारा प्रणीत 'यजुर्मञ्जरी' नाम की व्याख्या भी प्रकाशित हुई है। इस बाघरकुल की वंशावलि भी वहीं दी गई है, जिसमें बाघर, तोलाक, राम, हरिश्चन्द्र, सिद्धदेव, हंसपाल, मंगल, तथा जसपाल प्रभृति नाम दिये गये हैं। लगता है "उध" नगर (यदि यह नाम ठीक है तो) तथा बाघर वंश दोनों ही इतिहास के पन्नों से सदा के लिये मिट गये हैं। किन्तु यह व्याख्या तत्कालीन वैदिक विश्वासों तथा राजवंश की वैदिक कर्मकाण्ड तथा मन्त्र-तन्त्र में रुचि को व्यक्त करती है और इसलिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका **सम्पादन** नासिक के प्रसिद्ध वेदज्ञ अण्णा शास्त्री बारे द्वारा किया गया है।

---

[1] प्रत्येक ऋचा से सहस्र आहुतियां दे करके, होम शेष को खावे ।

चत्वारिंश अध्याय

सामवेदीय ग्रन्थ

सामसर्वानुक्रमणी

डा० सूर्यकान्त ने स्वसम्पादित 'ऋक्तन्त्र' के अन्त में 'सामसर्वानुक्रमणी' नामक एक रचना छपवायी है, जो अड्यार पुस्तकालयस्थ एक हस्तलेख ३३D. १२ के आधार पर सम्पादित की गयी है तथा तालवृन्त निवासी उपनाम आण्डपिल्लै की कृति कही गयी है।

इस सामसर्वानुक्रमणी में सामवेद के विषयों का ब्योरेवार किन्तु संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है, यथा—**सप्तगान** (गायत्र, आग्नेय, ऐन्द्र, पावमान, अर्कद्वन्द्व-व्रत रूपी छान्दसगान, शुक्रिय तथा महानाम्नी) जो प्रकृतिगान कहलाते हैं।

एक अन्य पक्ष के अनुसार इन सात गानों की गणना इस प्रकार की जाती है—आग्नेय, ऐन्द्र, पावमान, छान्दस, शुक्रिय, ऊह तथा रहस्य।

यहां **आठ ब्राह्मण** गिनाये गये हैं—

प्रौढ़ (पञ्चविंश), षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, छान्दोग्य, संहितोपनिषद् तथा वंश।

दस सूत्र ये हैं—

द्राह्यायण, अनुपद, निदान, कल्प, उपग्रन्थ, क्षुद्र, तण्डालक्षण, पञ्चविध, कल्पानुपद तथा अनुस्तोत्र।

इन उपरिलिखित ग्रन्थों के विषय में और कुछ नहीं बताया गया।

सत्रह लक्षण ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है—

गृह्य (खादिर तथा गौतम) सूत्र, गायत्रविधान, (शुंगाचार्य विरचित), शाकटायन रचित ऋक्तन्त्र, औदव्रजिकृत सामतन्त्र, जिस पर भट्टोपाध्यायकृत भाष्य का उल्लेख किया गया है। फुल्लसूत्र, अवग्रह, स्तोभानुसंहार, पिंगलाचार्य-कृत पाणिनीयशिक्षा, नारदीयशिक्षा तथा इस पर शोभाकर-विरचित भाष्य, गौतमी शिक्षा, लोमशी शिक्षा, रावणभैट, ऋग्दीपिका, उपनिदान, ऋङ्निघातक, छलाक्षर, चरणव्यूह तथा लघु ऋक्तन्त्र (नैगेय)।

इस रचना का पाठ इतना भ्रष्ट है कि कई स्थलों का अर्थ सर्वथा अस्पष्ट है, व्याकरण विषयक भूलें भी ज्यों की त्यों छोड़ दी गयी हैं, यथा—'सूची चतुर्था' (चतुर्थी) **सूत्रकारं वररुचिं वन्दे पाणिनिञ्च वेधसम् ।**

इन अन्तिम सत्रह लक्षणग्रन्थों का परिमाण तथा संक्षिप्त प्रतिपाद्य बताया गया है।

इसके अतिरिक्त इसी हस्तलेख ३३ D. १२ के अन्तर्गत अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त एक और 'सामसर्वानुक्रमणी' का हस्तलेख भी है, जो इससे कुछ अंशों में भिन्न है। इसके अतिरिक्त अडयार पुस्तकालय में ही एक अन्य संग्रह (३३ E ७) भी विद्यमान है, जिसमें भी ये दोनों अनुक्रमणियां संगृहीत हैं तथा अन्य सामवेदीय रचनाएं भी सुरक्षित हैं। दोनों संग्रहों में प्रायेण समान रचनाएं विद्यमान हैं[1]। अनुक्रमणी (अ) से पूर्व किसी आधुनिक व्यक्ति द्वारा लिखित सामवेद पर एक लेख है, जिसमें 'मोक्षमूलर' शब्द की व्युत्पत्ति की गयी है। जबकि द्वितीय (ब) में ऐसा कोई लेख नहीं है।

इसके अतिरिक्त जहां (अ) में गायत्रविधान के कर्ता शुंगाचार्य तथा सामतन्त्र के कर्ता औदव्रजि तथा पा० शि० के भाष्यकार पिङ्गलाचार्य एवं नार० शि० के भाष्यकार शोभाकर भट्ट तथा पुरुषोत्तमभट्टीय नामक किसी कृति का उल्लेख किया गया है। वहां (ब) में ऐसा कोई उल्लेख नहीं किया गया, न अनुक्रमणी के रचयिता के विषय में कोई सूचना ही दी गयी है। दोनों रचनाएं स्वतन्त्र तथा परस्पर निरपेक्ष हैं[2]।

नैगेयशाखानुक्रमणी

सामवेद की कौथुमशाखा के अवान्तर भेदों में नैगेयशाखा का नाम चरणव्यूहों के एक वर्ग में पढ़ा गया है—

तत्र कौथुमानां सप्त भेदा भवन्ति-आसुरायणाः, वातायनाः, प्राञ्जलिः, द्वैनमृतः, कौथुमाः, प्राचीनयोग्या नैगेयाश्च[3] ।

---

[1] See, K. Madhava Krishna Sarma, *The Samaveda Sarvanukarmaṇi*, *A. L. B., V.*, p. 128-135.

[2] वही, पृ० १३२।

[3] वेबर—'नैगेयशाखानुक्रमणी' की भूमिका, सीताराम सहगल द्वारा सम्पादित, आंग्लानुवाद, पृ० ७।

यद्यपि 'नैगेय शाखा' का नाम सब चरणव्यूहों में नहीं पाया जाता, तो भी यह अनुक्रमणी स्वयं इसकी सत्ता का प्रमाण है।

इन अनुक्रमणी के दो भाग हैं—एक **आर्षम्**, जिसमें सामसंहिता के मन्त्रों के ऋषियों की सूची दी गयी है; दूसरा **दैवतम्**, जिसमें संहिता के मन्त्रों की देवताओं की सूची है। यद्यपि इस अनुक्रमणी के साक्ष्य के अनुसार कौथुमीय सामसंहिता तथा नैगेय सामसंहिता के मन्त्रों के क्रम में कोई भेद नहीं है, तो भी केवल साम० सं० ५, १० (५९५) (कौथुम० सं० ५९५ से पूर्व तथा ५९४ के अनन्तर) में एक मन्त्र अधिक है। यह मन्त्र ऋग्० (६, ४७, ३०) का है, जो किसी भी अन्य सामसंहिता में नहीं पाया जाता। प्रतीत होता है कि यही मन्त्र शाखाभेद का कारण है।

एक अन्य विशेषता यह है कि कौथुमीशाखा में आरण्य काण्ड को "सप्तम प्रपाठक" की संज्ञा न देकर 'षष्ठ अध्याय' कहा गया है, जबकि 'नैगेय' शाखा में इसे "सप्तम प्रपाठक" की संज्ञा दी गयी है तथा इसके अन्तिम अर्थात् पञ्चम खण्ड में यहां १४ के स्थान पर १५ ऋचाएं पठित हैं, अर्थात् **महानाम्नो** की प्रथम ऋचा **विदा मघवन्** को **आरण्य काण्ड** अथवा सप्तम प्रपाठक की अन्तिम १५वीं ऋचा के रूप में पढ़ा गया है। यह द्वितीय भेदक तत्त्व माना जा सकता है। साथ ही साथ कौ० सं० की ५८५ ऋक् नैगेयानु० में नहीं पायी जाती, यह ऋग्० ९, १०८, ६ है। एतदतिरिक्त इस अनुक्रमणी में ऋषियों और देवताओं की सूची में भी बहुत अन्तर है। यथा—

पञ्चम प्रपाठक की षष्ठी दशती के ऋषि कौथुमशाखा के अनुसार 'त्रसदस्यु' हैं, केवल सप्तम मन्त्र के ऋषि 'संवर्त आंगिरस' हैं। किन्तु नैगेय० के अनुसार प्रथम मन्त्र के ऋषि वसिष्ठ मैत्रावरुण, द्वितीय के कवष ऐलूष, तृतीय—चतुर्थ के 'अवस्यु आत्रेय' पञ्चम के 'प्रजापति परमेष्ठी', षष्ठ तथा सप्तम के 'संवर्त आंगिरस', अष्टम के 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्र', नवम के **मरुतो मध्यमस्थाना देवगणाः** तथा दशम के 'उद्वंशपुत्र आंगिरस' हैं। इन दस मन्त्रों में से केवल दो (तृतीय तथा सप्तम) ऋग्वेदीय मन्त्र हैं। शेष आठ के स्रोत का पता नहीं है। इन दो में भी ऋग्० अनु० तथा नैगेय अनु० में साम्य पाया जाता है।

इसी प्रकार अन्य भी बहुत से मन्त्र ऐसे हैं, जिनके ऋषियों के विषय में दोनों शाखाओं की परम्परा में भेद पाया जाता है। यह भेद उन मन्त्रों के विषय में अधिक उभर कर सामने आता है, जो ऋग्वेद में नहीं पाये जाते, यथा—

मन्त्र संख्या	**कौथुम सं० के ऋषि**	**नैगेय० सं० के ऋषि**
६३	श्यावाश्व वामदेव	श्यावाश्व अर्चनानस्
९२	वामदेव कश्यप	आंगिरस्य ब्राह्मण्य अथवा वैवस्वत यम
१७७	दध्यङ् आथर्वण	आथर्वण सविता
१९०	वामदेव गौतम	अरुण वैतहव्य
१९६	,, ,,	"कौत्सो दुर्मित्रो गुणतः सुमित्रः"
२१२	,, ,,	कौत्सः सुमित्रः
२२४	,, ,,	कश्यप मारीच
२२६	विश्वामित्र गाथिन	बृहदुक्थ वामदेव्य

कई ऐसे मन्त्र हैं, जिनके ऋषि ऋग्वेदीय अनुक्रमणी से मेल खाते हैं, किन्तु कौथुमीशाखा की परम्परा से मेल नहीं खाते। यथा—साम० सं० १२७ तथा १४६ के ऋषि ऋग्वेद तथा नैगेय० में **शंयुर्बार्हस्पत्य** हैं, किन्तु कौ० सं० में यह क्रमशः 'भारद्वाज' तथा 'मेधातिथि' कहे गये हैं।

कई ऐसे मन्त्र हैं, जिनके ऋषि कौ० सं० तथा ऋग्० सं० में से एक हैं, किन्तु नैगेयानु० में भिन्न हैं। यथा—

साम सं० संख्या १९ के ऋग्वेद तथा कौ० सं० में ऋषि 'प्रयोगभार्गव' हैं, किन्तु नैगेयानु० में 'बार्हस्पत्य अग्नि" है, जो ऋग्वेद में वैकल्पिक ऋषि कहे गये हैं।

साम० सं० २९ के ऋषि 'गोपवन आत्रेय' हैं, किन्तु नैगेयानु० में इन्हें 'सप्तवध्रि' का विकल्प माना गया है।

साम० सं० १०९ के ऋषि कौ० सं० तथा ऋग्० सं० "ऋजिश्वा भारद्वाज" माने जाते हैं, जबकि नैगेयानु० में इनका नाम "भारद्वाज बार्हस्पत्य" कहा गया है।

इससे प्रतीत होता है, सामवेद की शाखाओं में भी ऋषियों के विषय में कोई सुदृढ़ परम्परा नहीं रही है। इस विषय का विवेचन ऋग्वेदीय ऋषियों के प्रकरण में किया गया है। इसी प्रकार देवताओं के विषय में तो इससे भी अधिक वैमत्य देखा जाता है। यद्यपि नैगेयानु० के आरम्भ में १-११५ तक अग्नि देवता घोषित कर दिया गया है, तो भी बीच-बीच में अन्य देवताओं का निर्देश किया गया है।

साम० सं० ७० तथा ७३ की देवता 'ऊषा निपातभाजिनी' १०१ की देवता आदित्य या अदिति घोषित की गयी है।

ऐन्द्रपर्व में प्रधानतया इन्द्र ही देवता है, किन्तु १३९ की ब्रह्मणस्पति, १४१ की सविता, १४९ की मरुत्। १६९-१७१ तृच् **प्राजापत्य**, १७६ **वैश्वदेवी**, १७७ **सावित्री** ऋचाएं हैं। १८५ की मित्र, अर्यमा तथा वरुण देवता हैं अथवा वैकल्पिक रूप में यह **वैश्वदेवी** ऋचा कही गयी है। १८९ की सरस्वती, १९२ की मित्र, वरुण, अर्यमा, आदित्य अथवा अदिति देवता है। यजुर्वेद में इसे **प्राजापत्य** माना गया है।

कौ० सं० में इन्हें ऐन्द्री ऋचाएं ही माना गया है। ऋग्वेद में कहीं-कहीं नैगेयानु० से समानता है, तो कहीं-कहीं विभेद है। यथा, साम० सं० १७१ को ऋग्वेद में **सदसस्पतिका** ऋचा माना गया है, जबकि नैगेयानु० में **प्राजापत्या**। कहीं-कहीं कौ० सं० में भी यही देवता माने गये हैं। यथा १४१ में वहां भी सविता देवता है। नैगेयानु० में इस ऋचा को **सावित्री दुष्वप्ननाशिनी** की संज्ञा दी गयी है। कौ० सं० १४७ की देवता इन्द्र है। ऋग्० १, ८४, १५ में भी इसे ऐन्द्री ऋक् माना गया है। किन्तु नैगेयानु० में नैरुक्तों के अनुसार प्रथम पाद की देवता चन्द्र या रश्मि, द्वितीय की त्वष्टा तथा तृतीय की चन्द्रमा माना गया है। (द्र० निरुक्त ४, २५)।

इस प्रकार इस शाखा के मन्त्रों की देवताओं के विषय में भी अपने विशिष्ट विचार हैं (तु० ६०३-६१३ के देवताओं का नैगेयानु० के साथ)।

इसके अतिरिक्त नैगेयानु० के आर्चिक के **दैवतम्** भाग में दशतियों का कोई उल्लेख नहीं किया गया।

उत्तरार्चिक या **उत्तरम्** को नैगेयानु० में ९ प्रपाठकों में विभाजित नहीं किया गया, अपितु २२ अध्यायों के मन्त्रों को लगातार गिनाया गया है।

एक और विशेषता यह है कि उद्धृत प्रमाण के अन्त में इति का प्रयोग बहुत्र नहीं किया गया। कहीं-कहीं तो उद्धृत आचार्य या ग्रन्थ का नाम उद्धरण से पूर्व ही निर्दिष्ट रहता है।

इस अनुक्रमणी में **स्वं ब्राह्मणम्** (१, २६७ ; ५७४ ; २, ६५६ (१३०६) को उद्धृत किया गया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण, **बह्वृचः, आश्वलायन, शौनक, काठक, शातपथिकाः, आत्मविदः, नैघण्टुक, नैरुक्त, 'यास्कप्रभृतयो नैरुक्ताः'** शाकपूणि तथा कात्थक्य को भी उद्धृत किया गया है। इन सभी उद्धरणों, विशेषतः शौनक के अनेक स्थलों पर उल्लेख से इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि नैगेयानु० के समय वैदिक अर्थ-प्रक्रिया की विविध

परम्पराएं पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुकी थीं। निरुक्त-सम्बन्धी उल्लेखों में चौदहवें अध्याय की ओर अनेक बार सङ्केत किये गये हैं और निरुक्त के अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है। यथा—**निपातभाक्** (१, ७८ ; ३६४), **निपातभाजिनी** (१, ७३), **मध्यम्** (१, ८९), **माध्यमको देवगणः** (१, ५२४), **लिङ्गोक्त** (१, ४२६) प्रभृति।

नैरुक्तों को अनेक बार उद्धृत किया गया है, यथा—

महत्तत् (१, ५४२) **सौरीति नैरुक्ताः, वैश्वदेवीत्येके।**
द्वतीया (२, २१०) **सौमीति नैरुक्ताः।**
ब्रह्मा देवानाम् (२, २९४) **सौरीति नैरुक्ताः।**

ये सभी सन्दर्भ निरुक्त परिशिष्ट १४, १७ तथा १४, १३ में क्रमशः पाये जाते हैं।

दुर्गाचार्य (प्रथम शती ई०) ने इस परिशिष्ट से कई सन्दर्भों को उद्धृत किया है, यथा—**स एष महानात्मा**— (निरु० १४, ४) को अपने भाष्य (निरुक्त ७, ४) में तथा **अथैतं महान्तमात्मानम्** (निरु० १४,२३) को अपने भाष्य (निरु० १०,२३) में उद्धृत किया है। अतः स्पष्ट है कि यह परिशिष्ट दुर्गाचार्य से पूर्व ही निरुक्त में प्रवेश पा चुका था। अतः नैगेयानु०, जो इस परिशिष्ट को उद्धृत करती है, निश्चय ही प्रथम शती ई० से पूर्वकालिक है। दूसरी ओर ऋक्तन्त्र में नैगेयशाखा को अनेकशः उद्धृत किया गया है, यथा—

(१) **नैगिनौभयथा** (५९)।
(२) **नैगिरुपस्थे** (१६२)।

ऋक्तन्त्र का काल पाणिनि के पश्चात् माना गया है[1]।

अतः नैगेयानु० का रचनाकाल पाणिनि-काल के आस-पास और सम्भवतः उससे पूर्व भी हो सकता है।

संस्करण—(१) Indische Studien XVII, 1885, वेबर द्वारा भूमिका सहित प्रकाशित।
(२) एस० आर० सहगल, द्वारा १९६६ में दिल्ली से वेबर की भूमिका के आंग्लानुवाद तथा विविध अनुक्रमणिकाओं सहित प्रकाशित।

शुङ्गकृत गायत्रविधानसूत्र

सामवेदीय सहायक ग्रन्थों, यथा, तां० ब्रा०, ला० श्रौसू०, प्रभृति—में यद्यपि साम के स्वर, स्तोभ, मात्रा आदि के विषय में सामान्य रूप से विस्तृत

---

[1] सूर्यकान्त – ऋक् तन्त्र, पृ० ६६-६८।

चर्चा की गयी है, तो भी कई छोटे-मोटे किन्तु महत्त्वपूर्ण विषयों को अछूता छोड़ दिया गया है। उसी न्यूनता की पूर्ति के लिए **गायत्रविधानसूत्र** की रचना की गयी है। यह सामवेद के ५२ 'पारिभाषिक' ग्रन्थों में से एक है, जिनमें सामवेद से सम्बद्ध विविध प्रकार के याज्ञिक सैद्धान्तिक तथा अन्य प्राविधिक विषयों पर विचार किया गया है। गायत्र विधात्रसूत्र स्वरवृत्त, वर्णवृत्त तथा मात्रावृत्त नामक तीन कण्डिकाओं या खण्डों में विभक्त है। गा० वि० सू० के कुछ सूत्र ला० श्रौ० सू० तथा तां० ब्रा० के सूत्रों तथा वचनों से शब्दशः साम्य रखते हैं।

प्रथम कण्डिका—में सामगान की सभी सात भक्तियों—विशेषतः **उद्गीथ भक्ति** से सम्बद्ध 'हिङ्कार' तथा 'ओं-कार'- के स्वरों पर विचार किया गया है तथा इन स्वरों से सम्बद्ध उन विषयों पर विचार किया गया है, जो ला० श्रौ० सू० तथा तां० ब्रा० में अविचारित छूट गये हैं। इस रचना में उन आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया गया है, जिनसे सूत्रकार का मतभेद है।

प्रथम पाद में **प्रस्तावभक्ति** तथा उससे सम्बद्ध **तद्विविढ्ढा (ग्रामेगेय** १, २, १५) अनुसारी स्वरों की चर्चा की गयी है। त्रिष्टुप् अथवा जगती छन्दों में रचित ऋचाओं पर निर्मित साम की उस **प्रस्तावभक्ति** में आठ अक्षरों का विधान है, जो केवल त्रिष्टुप् अथवा जगती छन्दों में निर्मित ऋचाओं की स्तोत्रिया होवे। प्रस्ताव का अन्तिम स्वर जो उसके अन्तिम शब्द का अन्तिम स्वर ही होगा, 'ओ' अथवा 'ओं' में परिवर्तित हो जाता है।

प्रस्ताव० के अनन्तर **उद्गीथभक्ति** की बारी आती है, जिसका निर्माण प्रस्ताव० से शेष बची ऋचा के अन्तिम दो अक्षरों को छोड़कर शेष भाग को ओंकार तथा हिङ्कार से परिवेष्टित करके किया जाता है। इस भक्ति का गान श्वास का संयमन करके मन में ही करना चाहिये, किन्तु आरम्भ के ओम् तथा अन्त के हिङ्कार का उच्चारण उच्चस्वर से करना चाहिये। इसमें गायत्रगान तीन पर्वों में भिन्न-भिन्न सामस्वरों के अनुरूप गाया जाता है।

प्रतिहारभक्ति में हिङ्कार का मन में ही गान होता है, किन्तु उसका रूप 'हुं आ' (अथवा 'हिम्मा'), 'हुम्भा' या 'हुम्मा' हो जाता है।

उपद्रवभक्ति— उद्गीथ से शेष बचे दो अक्षरों के तृतीय पर्व का **तद्विविढ्ढा** सामानुसारी स्वर में गान ही **उपद्रवभक्ति** कहलाता है।

निधन—तद्विविढ्ढा सामानुसारी स्वरों में गाये गये 'आ' अक्षर को ही **निधन** कहते हैं। इसका रूप **वा ऽ २ ३ ४ ५ क्** अथवा **ओ ऽ २ ३ ४ ५ म्** भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त **इडा, सुवः, यशः, आयुः** तथा **हँसी**—इन पाँच

काम्य निधनों के भी **आ ऽ २ ३ ४ ५** स्वरों के अनुरूप गान का विधान किया गया है।

द्वितीय कण्डिका में ऋचाओं की छन्दःसम्बन्धी न्यूनताओं की पूर्ति के हेतु तथा स्वरमाधुर्य के लिए कुछ-एक बाह्य अक्षरों के ऋचाओं में समावेश के नियम बताये गये हैं। इस प्रकार ऋचाओं में समाविष्ट अक्षरों, शब्दों अथवा शब्द-समूहों को **स्तोभ** कहते हैं। **बहिष्पवमान** की तृतीय स्तोत्रिया **रथन्तरवर्णा** का हिङ्कार विसर्ग-रहित होता है। प्रस्ताव के बाद के चार अक्षरों के स्थान पर चार, तीन या आठ **स्तोभ** तक समाविष्ट किये जा सकते हैं। अनुष्टुप् छन्द में तो बारह अक्षर भी **स्तोभ** के रूप में बढ़ाये जा सकते हैं।

न्यूनपाद की अवस्था में षष्ठी बहुवचन के—'नाम्' अंश की आवृत्ति की जाती है।

यथा—**उपह्वरे गिरीणां ना३म्** (प्रस्ताव) (साम १४३)।

ओं संगमे च नदीनां ना३म् (उद्गीथ); **पाषिराधो मधोऽ ३ ३ ३ ३**
हुम् आ ३ ३। ना३नो ३ ३॥ (प्रतिहार)।

इसी प्रकार अन्तिम संयुक्त **य** अथवा **व** को मध्य में समविष्ट **इ** अथवा **उ** के द्वारा पृथक् कर देना चाहिये।

तृतीय कण्डिका में मात्राओं, यथा—दीर्घीकरण, वृद्धीकरण, गति तथा **प्रतिहार** आदि की चर्चा की गई है।

उद्गीथ भक्ति में **वसोर्मन्द्रा** सामानुसारी स्वर वाले पर्व के अन्त में आने वाले इ तथा ई में केवल यही परिवर्तन होता है कि इ को ई हो जाता है। यथा—

ओमाच्छादेव विवाससीऽ२ (सा० ६६२)।

ओं वाजेभिर्वाजिनीवतीऽ२ (सा० १८९)।

उद्गीथ के अन्त में तालव्य स्वर को वृद्धि हो जाएगी और उसे **आ** हो जाएगा। यथा—

ओमा इन्द्रं जातमुपासाताःऽ३इ।

इसी प्रकार उद्गीथ के अन्त में **-औ**, **-तो** तथा **-सो** को भी -आ हो जाता है—

ओमाच्चर्चन्त्यर्कमर्किणो ब्रह्मणस्त्वा शतक्रताऽ२। (साम० ३४२)।

अस्याँ इन्द्र वसाऽ२ हुम् आऽ२। ··· राधस्तन्नो विदद्वसाऽ२ (सा० ३४५)।

इसी प्रकार मात्राओं से सम्बद्ध अन्य विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है।

इस रचना में पूर्वाचार्यों के नाम-निर्देश के स्थान पर केवल **आचार्याः** (२ ; ६ ; १७) ; **एकेषाम्** (१, ७) लिखा है, जिनके विषय में हमें किसी प्रकार की कोई सूचना नहीं है।

इस ग्रन्थ के रचयिता **शुंग** के विषय में भी इतना ही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह शुंगवंशीय ब्राह्मण थे। रचना के पर्याप्त प्राचीन होने के कारण हम इसे प्रथम शताब्दी ई० पू० के आस-पास रख सकते हैं।

इस रचना पर एक गुमनाम व्याख्या भी उपलब्ध है, जो अत्यन्त सरल तथा स्पष्ट है। इस रचयिता के नाम, काल तथा स्थान आदि के विषय में भी हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है।

सम्पादक :—डा० बी० आर० शर्मा।

प्रकाशक :—विश्वेश्वरानन्द शोध-संस्थान, होशियारपुर, १९७१ ई०।

सामवेदार्षेय दीप

आर्षेयदीप सामवेद की ऋचाओं, देवताओं, ऋषियों और छन्दों का ब्योरेवार विवरण प्रस्तुत करता है। यह अनुक्रमणी की सी रचना है। इसके अनुसार जबकि किसी भी साम तथा उसकी आधारभूत ऋचा के छन्द और देवता तो एक ही होते हैं, किन्तु उनके ऋषियों में भेद हो जाता है। आरण्यक में तो अनुवाकों का न कोई समान देवता है, न कोई समान छन्द ही है। अतः इस विषय में छन्द और देवता का भी पृथक्-पृथक् विवरण देना आवश्यक हो गया है, क्योंकि जहाँ ग्रामगेयगान भाग साम सं० की ऋचाओं के क्रमानुसार है, वहां आरण्यक भाग संहिता की ऋचाओं के क्रम का अनुसरण नहीं करता। अतः इस भाग की प्रत्येक ऋचा के ऋषि, छन्द तथा देवता का विवरण देना आवश्यक है। पर्वों को सर्वप्रथम अध्यायों में विभक्त किया गया है, तब पावमान पर्व तक खण्डों में। इसके अनन्तर अकस्मात् ही अनुवाकों में विभाजन आरम्भ कर दिया गया है, जहां कहीं सूक्त और ऋचा के देवताओं में अन्तर हो जाता है, वहां तो इसका सङ्केत कर दिया जाता है, किन्तु बहुत स्थलों पर ऋचा का देवता उस ऋचा के साम के ऋषि के विवरण के अनन्तर दिया गया है, जो ठीक नहीं है[1]।

आर्दीप० न तो पूर्णतः कौथुम शाखानुयायी ही कहा जा सकता है, न ही जैमिनीयानुयायी, क्योंकि 'जातः परेणं' (सा० सं० ९०) पर आधृत गान को

---

[1] बी० आर० शर्मा, उपोद्घात, पृ० १२।

कौथुमशाखीय **इन्द्रस्य प्रियम्** कहते हैं तथा इन्द्र को इसका ऋषि, जबकि जै० सं० वाले इसे **सयोनि** (स्वयोनि आर्दीप०) कहते हैं और कश्यप को ऋषि। यहां आर्षेय० जैमिनीयों का अनुसरण करता है[1]। कई स्थलों पर यह जैमिनीय तथा कौथुम दोनों से भिन्न मत व्यक्त करता है। **एतो न्विन्द्रम्** (सा० सं० ३५०) के ऋषि 'विश्वामित्रो गाधिनः' है, जबकि जैमिनीय तथा कौथुम दोनों में 'तिरश्चो' है। यहां[2] तथा अन्यत्र कई स्थलों पर आर्दीप० ऋग्वेद का अनुसरण करता है। कहीं-कहीं गान के ऋषि के विषय में भी मतभेद पाया जाता है। **तं वो दस्म** (सा० सं० २३६) के पांच में से प्रथम गान का नाम 'नाविक' है, तथा जैमि० एवं कौथुम दोनों में ऋषि 'प्रजापति' है, जबकि आर्दीप० में ऋषि 'नाविक' कहा गया है।

इसी प्रकार इसी साम के द्वितीय गान, अभीवर्त का ऋषि जैमिनीय तथा आर्षेयदीप में प्रजापति है, तो सामगान में इसका ऋषि अभीवर्त कहा गया है।

एक उदाहरण में तो 'ऋचा' का सङ्केत ही अयुक्त है। **जज्ञानः सप्त** (सा० वे० १०१) को 'पावमान' से उद्धृत कहा गया है। **इयमृक् पावमानादुद्धृता**। किन्तु कौथुम में तो यह ऋचा केवल **आग्नेयपर्व** में पायी जाती है, 'पावमान' में नहीं। अतः प्रतीत होता है कि आर्दीप० जैमिनि तथा कौथुम दोनों से भिन्न किसी अन्य शाखा से सम्बद्ध है[3]।

आर्दीप० प्रायेण गानों के वैकल्पिक नाम नहीं देता, न सामों की रचना-व्यवस्था के विषय में कोई विस्तृत विवरण ही देता है, क्योंकि ऋचाओं और सामों के देवताओं और छन्दों में कोई भेद नहीं होता। अतः इनकी पुनरुक्ति नहीं की जाती, अपितु **ऋग्वच्छन्दो देवते** के वचन का अनुसरण किया जाता है। यदि कहीं देवता का भेद होता है, तो उसका पृथक् निर्देश किया जाता है।

आरण्यक में गान सा० सं० के क्रम के अनुसार नहीं है। इसका एक कारण यह भी है कि यहां की अनेक ऋचाएं दूर-दूर फैले हुए अनेक गानों के 'योनिमन्त्र' हैं। दूसरे बहुत से ऐसे गान भी हैं, जो किसी ऋचा पर आधृत न

---

[1] तथा सा० सं० ४३९ पर गान का नाम 'श्लोकानुश्लोक' है (जै० शाखा तथा आर्० दीप), कौथुम संहिता गान में इसे श्लोक की ही संज्ञा दी गयी है। सामगान संहिता में यहां इस मन्त्र केवल दो गानों का निर्देश है, किन्तु आर्दीप० में तीन का।

[2] ऋग्० ८, ९५, ७।

[3] बी० आर० शर्मा, उपोद्घात, पृष्ठ १४।

होकर 'स्तोभ' पर आश्रित होते हैं। अतः आरण्यक गान सा० सं० के ऋचाक्रम का अनुसरण न कर सका। ऐसे गानों को **अनृचं साम** या **स्तौभिक साम** कहा जाता है। इन गानों में बड़ी शक्ति मानी जाती है।

इस रचना के कर्ता का नाम भट्टभास्कराध्वरीन्द्र है, जो कश्यप गोत्र के थे। इन के व्यक्तित्व के विषय में और कोई जानकारी नहीं है। इन्होंने 'प्रतिहार' तथा 'आर्षेय कल्प' को सूत्र कहकर स्मरण किया है, जिन पर कौशिक गोत्र के वरदराज द्वारा व्याख्याएं लिखी गयी हैं। आर्दीप० का एक हस्तलेख इण्डिया आफिस पुस्तकालय में सुरक्षित है, जिसका काल १६०० ई० है। अतः यह इससे तो प्राचीन अवश्य है।

संस्करण—डॉ० बी० आर० शर्मा द्वारा सम्पादित तथा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति द्वारा प्रकाशित सन् १९६७।

गोभिल परिशिष्ट

इसमें संध्यासूत्र, स्नानसूत्र, श्राद्धकल्प, स्नानसूत्र परिशिष्ट तथा श्राद्धकल्प परिशिष्ट समाविष्ट हैं।

सन्ध्योपासन विधि में कुल २० सूत्र हैं। इस में हाथ-पांव तथा मुख धोकर प्रागग्र दर्भों पर प्राङ्मुख या उदङ्मुख, यज्ञोपवीती होकर शिखा बांध कर सप्त व्याहृतियों का जप करके पूरक-कुम्भकरेचकाख्य प्राणायाम तीन, सात, अथवा सोलह बार करके आचमनपूर्वक मार्जन, प्रणव सहित तीन महाव्याहृतियों का जप करके, तीन आपोहिष्ठीय मन्त्रों का जप करे। 'ऋतञ्च सत्यञ्च' आदि मन्त्रों के जप के बाद सावित्री मन्त्र से तोन उदकाञ्जलियां आदित्य की ओर फेंके। सूर्योपस्थान के पश्चात् 'ओम्'-पूर्वक गायत्री के जप की आठ से सहस्रबार तक आवृत्ति का विधान है। **स्नानविधि** में ३८ सूत्र हैं। इसमें मिट्टी से हाथ-पांव धोकर शिखा बांधकर, यज्ञोपवीती कुशहाथ में लेकर प्राङ्मुख या उदङ्मुख बैठकर सप्त व्याहृतियां तथा सावित्री का जप, मन्त्रजपपूर्वक आदित्यावेक्षण, अंगाभिमर्शन, गोबर-लेप करके नाभिमात्र जल में खड़े होकर 'शन्नोदेवी:' इत्यादि मन्त्रों का जप, तीन बार प्राणायाम करके तीन बार जल में डुबकी लगाकर, 'सहस्रशीर्षा' का जप, तीन बार जल में डुबकी, पुनः शन्नोदेवी मन्त्र से मार्जन करके स्नान कर्म समाप्त होता है।

तदनन्तर स्नानांग-भूत सन्ध्योपासना करके सूर्योपस्थानपूर्वक अग्नि-तर्पण करके, अपसव्य होकर राणायनिगण तथा शटिगण, कव्यबालादि दिव्य पितरों, अपने पितरों का तर्पण करे। निवीती होकर सनकादि ऋषियों का तर्पण करे और गन्यत्रीमन्त्र का १०८ बार जप करके सविता का प्रत्युपस्थान करना चाहिये।

तदनन्तर सायं जप-रूप ब्रह्मयज्ञ का विधान है। स्नानविधि के अनन्तर **'स्नान सूत्र परिशिष्ट'** प्रकरण है। इसमें ३७ श्लोक हैं। इसमें गायत्रीजप तथा तर्पण से सम्बद्ध अनेकों विधि-निषेधों का विवरण दिया गया है। श्राद्ध में पिण्डदान एक हाथ से देना चाहिये, किन्तु तर्पण में जलाञ्जलि दोनों हाथों से देनी आवश्यक है।

जिन पितरों की मृत्यु संस्कार-रहित हुई हो, उन्हें जलाञ्जलि स्थल पर देनी चाहिये। स्नान-दानादि में कुशा के प्रयोग पर बल दिया गया है। इसी प्रकार पवित्र धारण किये बिना दान, भोजन तथा देवता को दी गयी आहुति सभी व्यर्थ हैं। स्नान के समय वस्त्र या हाथ से शरीर का मार्जन वर्जित हैं। इसी प्रकार नाखूनों से देह तथा पात्रों का खुरचना भी वर्जित है।

तदनन्तर **श्राद्धकल्प** का प्रकरण है, जिसमें आठ कण्डिकाओं में १६८ सूत्र समाविष्ट हैं। इसमें श्राद्ध में आमन्त्रण के योग्य तथा अयोग्य ब्राह्मणों का विवरण, उनकी संख्या, पिण्ड, पितृयज्ञ के समान ही विहित हैं (१, २३)।

ब्राह्मणों को आमन्त्रित करके आसनों पर दर्भों का आस्तरण, विश्वेदेवों का आवाहन पितरों का आवाहन, तिलों का विकिरण, अर्घ्यप्रदान, संस्रवों को पितृपात्र में डाल कर पात्रों को उलटाना, गन्ध-पुष्प धूपादि प्रदान, घृताक्त अन्न का 'अग्नौकरण', भोजन पात्रालम्भन, अन्न में अंगुष्ठ निवेशन, ब्राह्मण भोजन, व्याहृतिपूर्वक सावित्रीजप, तृप्ति के अनन्तर अन्न का बिखेरना, ब्राह्मणों को एक-एक बार जल देकर **तृप्ताःस्थ** इस प्रकार तृप्ति विषयक प्रश्न उनके **तृप्ताःस्म** यह कहने के पश्चात् उनकी आज्ञा से शेष अन्न को एकत्र करके दर्भों पर तीन-तीन पिण्डों की स्थापना, स्वधावाचन, अन्त में दक्षिणादान तथा विसर्जन और अभिवादनपूर्वक प्रदक्षिणा एवं वामदेव्यं साम का गान और गृहप्रवेश—ये सभी विषय यहां वर्णित हैं।

तृतीयकण्डिका में **एकोद्दिष्ट** का वर्णन किया गया है। इसमें एक ही अर्घ्य तथा एक ही पिण्ड का विधान किया गया है। इसमें पितरों का **आवाहन, अग्नौकरण** तथा **विश्वेदेवा** क्रम का अनुष्ठान नहीं किया जाता। भोजन के अनन्तर **तृप्ताःस्थः** इस प्रश्न के स्थान पर **स्वदितम्** कहने तथा **अक्षय्यमस्तु** के स्थान पर **उपतिष्ठताम्** कहने का विधान किया गया है। विसर्जन के समय **अभिरम्यताम्** कहना चाहिये। सपिण्डीकरण मृत्यु के वर्ष भर पश्चात् करना चाहिये, अथवा षण्मास में या त्रिपक्ष में भी किया जा सकता है। एक अन्य मत के अनुसार वृद्धिश्राद्ध के दिन भी किया जा सकता है। इसमें तिल, गन्ध सहित जल के चार पात्र रखे जाते हैं, जिनमें तीन पितरों के लिए होते हैं एक प्रेत के लिए। प्रेत पात्र का जल पितरों के जल में मिला दिया जाता है, जिससे प्रेत को भी पितरों में सम्मिलित कर लिया जाता है।

चतुर्थी कण्डिका में आभ्युदयिक श्राद्ध की विधि समझायी गयी है। इसमें युग्मसंख्यक ब्राह्मणों को आमन्त्रित किया जाता है। इसमें प्रदक्षिणोपचार का तथा तृप्ति प्रश्न के स्थान पर **सम्पन्नम्**? कहा जाता है। पिण्डों में दधि, बदर तथा अक्षत मिलाये जाते हैं। **अक्षय्यमस्तु** के स्थान पर **नान्दीमुखा पितरः प्रियन्ताम्** कहने का विधान किया गया है। इस श्राद्ध में **स्वधा** शब्द का प्रयोग वर्जित है। **मासि मासि वोऽशनम्** इस वचन के आधार पर इस श्राद्ध को प्रतिमास करणीय माना जाता है।

पञ्चमी कण्डिका में यजमान तथा ब्राह्मण के श्राद्ध में कर्तव्यों का विवरण दिया गया है तथा श्राद्ध में आमन्त्रण के योग्य तथा अयोग्य ब्राह्मणों के लक्षण दिये गये हैं।

षष्ठी कण्डिका में बताया गया है कि श्राद्ध में किस भोजन के खिलाने से पितर कितने समय के लिए तृप्त हो जाते हैं। छाग, वृष अथवा मेष का आलम्भन करके अथवा स्वयं मृतों का मांस लाकर पकाने का विधान है। **स्वयं मृतानां वाऽऽहृत्य पचन्।**

अन्य विविध प्रकार के मांसों से भिन्न-भिन्न काल तक पितरों की तृप्ति का व्योरेवार वर्णन किया गया है (८, १८), जो मनु० (३, २६७-२७३) के वर्णन से भिन्न है।

सप्तमी कण्डिका में अक्षय्य तृप्ति के साधक-विशेष भोजन तथा श्राद्ध के योग्य ब्राह्मण-विशेष के लक्षण दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त पङ्क्तिपावन ब्राह्मणों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

अष्टमी कण्डिका में श्राद्ध के लिए मंगल तिथियों का व्योरा दिया गया है और उनके पारस्परिक न्यूनाधिक महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है।

संस्करण—(१) *Der Gṛhya, Pariśiṣṭa des Gobhila Putra*, by M. Bloomfield, ZDMG XXXV, p. 533 f.

गृह्य संग्रह

गोभिल गृह्यसूत्र के अनेकों परिशिष्टों में से अन्यतम परिशिष्ट **गृह्यासंग्रह** के नाम से प्रसिद्ध है। ग्रन्थ के आदि (श्लोक १, १९) तथा अन्त (श्लोक २, ९५) में ग्रन्थ-कर्ता का नाम 'गोभिलाचार्य पुत्र' दिया गया है। इस रचना में दो प्रपाठकों में क्रमशः ११३ तथा ९५ श्लोकों में गोभिलगृह्यसूत्र में अनुक्त अथवा अस्पष्ट विविध विषयों का स्पष्ट प्रतिपादन करने का प्रयास किया गया है।

सर्वप्रथम विभिन्न गृह्यकर्मों में काम आने वाली ३७ अग्नियों के नाम गिनाये गये हैं, जो अन्य किसी गृह्यसूत्र अथवा परिशिष्ट में नहीं गिनाये गये। अग्नि की सात जिह्वाओं, नौ प्रकार की समिधाओं, उनके दोषों, यज्ञकर्मार्थ भूमि-समूहनादि, द्रव्य-स्थापन, भूमिलक्षण, यज्ञादि तथा भोजनादि में बैठने की विधि, अग्नि-स्थापन के समय बैठने की विधि, अग्नि-प्रणयन, अग्नि-प्रज्वालन के नियम, वस्त्र तथा मुख से धमन का निषेध, प्रातर्होम का काल-निर्धारण, अरणी-लक्षण, स्रुव, स्रुच्, शंकु, उपवेश प्रभृति के लक्षण, 'ब्रह्मा' की स्थापना, प्रणीतापात्र तथा गृह्यकर्म, इध्म, सम्पूयन, उत्पवन प्रभृति कर्म, आज्यलक्षण तथा आज्य के प्रतिनिधि प्रभृति को प्रथम प्रपाठक के अन्तर्गत विवरण दिया गया है।

द्वितीय प्रपाठक में सर्वप्रथम गो० गृ० सू० में अनुक्त पूर्णाहुति का विधान किया गया है, जिससे सभी कामनाएं सिद्ध होती हैं। (**सार्वकामिकी**) गृह्यकर्मों में व्याहृतियों के प्रयोग के निषेध के अवसर, बलिहरण में चरु के पाक का निषेध, लौकिक तथा श्मशान (**क्रव्याद्**) अग्नि में होम का निषेध सदृश विषयों पर विचार के अनन्तर विवाहार्थ कन्या के लक्षणों, आयु प्रभृति विषयों पर विचार किया गया है। इस प्रसंग में **नग्निका** (**अव्यञ्जनोपेतामरजामपयोधराम्**) को श्रेष्ठ माना गया है। अन्यत्र सर्वत्र प्रतिपादित-स्त्री-लक्षण परीक्षा का यहां भी विवरण दिया गया है।

विवाह के प्रसंग में एक नवीन विधान यह किया गया है कि अग्नि-प्रदक्षिणा के अनन्तर कन्या चटाई से ढके स्थान **कटस्तीर्ण पदम्** पर जाकर पांव से चटाई को ढकेले तथा **पतियान** नामक मन्त्र (**प्र मे पतियानः**) का जप करे[1]। लाजाहोम के विधान के बाद अष्टविध विवाहों का उल्लेख करके कहा गया है कि प्रथम चार—ब्राह्म, आर्ष, दैव, प्राजापत्य—में पहले होम किया जाता है, तत्पश्चात् विवाह, किन्तु अन्तिम चार में विवाह के अनन्तर होम का विधान है। यह सम्भवतः इसलिए है कि इनमें स्त्री-पुरुष का मिलन अग्नि-प्रदक्षिणा से पूर्व ही हो जाता है।

ब्राह्मणों के **सावित्रव्रत** के लिए आठ वर्ष, मास, अथवा दिन की कोई सीमा नहीं बांधी गयी, क्योंकि ब्राह्मण के लिए वर्ष, मास तथा दिन सभी समान हैं[2]। इससे ब्राह्मणों की श्रेष्ठता व्यक्त की गयी है।

तदनन्तर यज्ञोपवीत के लक्षण तथा इसके निर्माण में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा सावित्री के योगदान पर प्रकाश डाला गया है,[3] जो अन्य किसी प्राचीन रचना

---

[1] २, २८।

[2] २, ४३।

[3] २, ५३।

में दृष्टिगोचर नहीं होता। तदनन्तर मधुपर्क तथा अर्घ्य के स्वरूप तथा प्रयोग का वर्णन है। तदनन्तर चरु, अपूपा, वपा के होमों तथा स्विष्टकृत् होम के विषय में टिप्पणियां की गयी हैं।

श्राद्धादि ऐसे कर्मों में, जहां एक ही ब्राह्मण को भोजन कराना हो, तो 'छान्दोग' को भोजन कराने की सिफारिश की गयी है[1]।

अन्त में ग्रन्थकार ने कहा है कि जो कुछ सामान्य विधियां अपने तन्त्र में नहीं कही गयीं, उन्हें परतन्त्र से ग्रहण कर लेना चाहिये[2]। साथ ही यह भी कह दिया है कि जो अपनी शाखा में विहित कर्म को त्याग कर अन्यशाखीय कर्मों का आश्रय लेता है, वह घोर अन्धकार में गिरता है[3]। भाष्यकार के अनुसार प्रथम वचन श्रौत कर्मों के विषय से सम्बद्ध है, तो द्वितीय स्मार्तकर्मों के विषय में कहा गया है।

इस रचना के काल के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता, तो भी भाषा, रीति-रिवाजों, तथा जाति-पांति विषयक विचारों को देखते हुए कह सकते हैं कि रचना अधिक प्राचीन नहीं है। कम से कम गोभिलाचार्य के पुत्र की तो कदापि नहीं।

व्याख्या :—इस पर चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार का भाष्य प्रकाशित हुआ है तथा एक ही संस्करण कलकत्ता से शक० सं० १८३१ में छपा है।

कात्यायनस्मृति या कर्मप्रदीप

जीवानन्द द्वारा सम्पादित 'धर्मशास्त्र संग्रह' भाग २ पृ० ६०३—६४४, के अन्तर्गत कात्यायन स्मृति के नाम से एक रचना प्रकाशित की गयी है[4]। इस के तीन प्रपाठक, २९ खण्ड एवं लगभग ५०० श्लोक हैं। यही कृति गोभिल स्मृति के नाम से आनन्दाश्रम पूना, से भी प्रकाशित हुई है।

इस के द्वादश, त्रयोदश तथा चतुर्दश खण्डों में कुछ गद्यांश भी पाया जाता है।

---

[1] २, ८२।

[2] २, ९१।

[3] २, ९३।

[4] कलकत्ता, १८७६; इसका प्रथम प्रपाठक F. Schrdoder द्वारा १८८९ में तथा द्वितीय प्रपाठक A. V. Steel Holstein द्वारा १९०० में प्रकाशित तथा अनूदित किया गया था।

इस रचना का उद्देश्य ही गोभिल गृह्य में गोभिल द्वारा प्रतिपादित कर्मों के अस्पष्ट भागों का स्पष्टीकरण है[1]। इसी कारण इसे **छन्दोग परिशिष्ट** की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है तथा गोभिलकृत भी माना जाता है।

इस के प्रतिपाद्य विषयों का संक्षिप्त व्योरा इस प्रकार है—

यज्ञोपवीत-धारणविधि, आचमन तथा अंगस्पर्शन विधि, प्रत्येक कर्म के आरम्भ में गणेश तथा चौदह मातृकाओं के पूजन का विधान, कुशप्रयोग, श्राद्धविधि अग्निस्थापन का प्रकार तथा अरणियों एवं स्रुच्, स्रुव प्रभृति पात्रों का वर्णन, दन्तधावन तथा स्नान-विधि, सन्ध्या, प्राणायाम-जप, देवता-पितृतर्पण, पञ्चमहायज्ञ, श्राद्ध करने का अधिकारी, अशौच-कालनियम, पत्नी कर्तव्य विविध प्रकार के श्राद्धों के सम्पादन की विधि। स्मृतिचन्द्रिका ने आचार, श्राद्ध तथा अन्य विषयों पर कात्यायन के मतों को बहुश: नामोल्लेखपूर्वक उद्धृत किया है, जो सभी कर्म० प्र० में प्राप्त होते हैं।

इन सभी निदेशों से सिद्ध होता है कि अपरार्क, मिताक्षरा तथा स्मृ० च० की दृष्टि में कर्म० प्र० एक आधिकारिक रचना थी। अत: सिद्ध होता है कि कर्म० प्र० एकादश-शती से पूर्व ही लब्धख्याति रचना थी।

दूसरी ओर इन्हीं धर्मशास्त्रियों द्वारा कर्मप्रदीप के नाम से उद्धृत अनेकों वचन इस संस्करण में उपलब्ध नहीं होते। उदाहरणार्थ, मिताक्षरा द्वारा महापातक, अतिपातक, पातक, प्रासंगिक तथा उपपातक के सम्बन्ध में कात्यायन के विचारों को उद्धृत किया गया है, जो वर्तमान कर्मप्रदीप में प्राप्त नहीं होते। इसी प्रकार अपरार्क द्वारा उद्धृत कात्यायन के श्लोक यहां नहीं मिलते। अन्य अनेक उद्धरण भी यहां दृष्टिगत नहीं होते[2]। इस अनुपलब्धि का कारण सम्भवतया यही हो सकता है कि अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रणीत अनेक कृतियां कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध हो गयी हैं। अत: इन उद्धरणों को कर्म० प्र० में खोजना व्यर्थ है।

इस के अतिरिक्त यह भी सर्वथा सम्भव है कि उद्धरणकर्ता भी भूल से किसी अन्य के वचन को अन्य के माथे मढ़ देते हों और यह परम्परा चल पड़े। अन्यथा कर्मप्रदीप एक आधिकारिक प्राचीन रचना है।

कर्मप्रदीप में अनेकों प्राचीन आचार्यों का नामोल्लेख किया गया है। गोभिल तथा गौतम के नामों का उल्लेख तो बहुधा किया गया है। जैसा कि कर्मप्रदीपकार ने स्वयं ही कहा है, कर्मप्रदीप का घनिष्ठ सम्बन्ध गो० गृ० सू० के साथ है। इस रचना का निर्माण ही गोभिल की त्रुटियों की पूर्ति करने के

---

[1] प्रथमश्लोक २।

[2] विस्तारार्थ द्र० काणे, हि० ध० शा०, १, पृ० ५०५।

लिए किया गया है। क्योंकि गोभिल ने गोयज्ञ तथा वाजियज्ञ की चर्चा नहीं की थी, अतः कात्यायन ने इनका विवरण देकर इसकी क्षति-पूर्ति कर दी है[1]। कात्यायन का अष्टका-विषयक वर्णन स्पष्ट ही गो० गृ० सू० पर आधृत है[2]। मातृका-पूजा के सम्बन्ध में वसिष्ठ के विचारों की ओर प्रायः संकेत किया जाता है[3]। इसी प्रकार उसके श्राद्ध सम्बन्धी मतों का भी निर्देश किया गया है[4]। दन्तधावनार्थ काष्ठ के प्रयोग के विषय में नारद,[5] भार्गव, उशनस् (?)[6] शाण्डिल्य तथा शाण्डिल्यायन[7] का नामोल्लेख किया गया है। कात्यायन के नाम का भी अनेक बार उल्लेख किया गया है[8]। मनु० (३, ७०) तथा याज्ञ० (३, ८—१०) को उद्धृत किया गया है[9]।

दूसरी ओर मिताक्षरा (१, २५४; ३, २४७), ने कात्यायन-वचनों को उद्धृत किया है, जो कर्म० प्र० में विद्यमान है। अपरार्क ने प्रायश्चित्त तथा आचार के प्रसङ्ग में बीसियों कात्यायन वचनों को उद्धृत किया है, जो कर्म० प्र० में उपलब्ध होते हैं[10]।

गौतम धर्मसूत्र परिशिष्ट

गौ० ध० सू० मैसूर संस्करण में १८ अध्यायात्मक **क्रियाकाण्ड** नामक प्रकरण जोड़ा गया है। यह **क्रियाकाण्ड** वस्तुतः गौ० ध० सू० के परिशिष्ट का एक प्रश्न है। गौ० ध० सू० परिशिष्ट के कुल दो प्रश्न हैं। प्रथम प्रश्न में तो आह्निक क्रिया-कलाप का प्रतिपादन किया गया है, यथा—दन्तधावन, स्नान, जप, होम, पूजा प्रभृति कर्म। द्वितीय प्रश्न में गौ० ध० सू० में प्रतिपादित प्रायश्चित्तों का विस्तारपूर्वक विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके बीस काण्डों में ५०० सूत्र हैं। अतः स्पष्ट है कि इस परिशिष्ट की रचना मूलसूत्र की रचना के पश्चात् की गयी है।

इस रचना के कर्ता का नाम निर्देश कहीं नहीं किया गया। किन्तु क्योंकि इसने अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त मत्स्यपुराण से भी सामग्री ग्रहण की है,

---

[1] द्र० खण्ड २६, श्लोक १-११; तु० गो० गृ० सू० ३, ६, १०-१५।

[2] कर्मप्रदीप १७, २४; तु० गो० गृ० सू० ३, १०, ४-७।

[3] द्र० कर्मप्रदीप १, १, १३—वशिष्ठोक्तो विधिः कृत्स्नो द्रष्टव्योऽत्र निरामिषः।

[4] द्र० कर्म० प्र० पृ० ६०८, ६२५, तथा ६४२ (२८, १६)।

[5] वही, पृ० ६१५।

[6] पृ० ६४०।

[7] वही, पृ० ६२६।

[8] वही, पृ० ६२४, ६२७, ६२८।

[9] वही, पृ० ६३३।

[10] द्र० काणे, हि० ध० शा० १, पृ० ५०४।

तथा इसे याज्ञ० स्मृ० की व्याख्या मिताक्षरा में उद्धृत किया गया है । अतः इसकी रचना पुराण-रचना-काल ४०० ई० तथा मिताक्षरा के रचना-काल ८०० ई० के मध्य में कहीं होनो चाहिये । इस विषय में ध्यातव्य है कि मनु० के व्याख्याकार मेधातिथि तथा याज्ञ० स्मृ० के व्याख्याता विश्वरूप ने उद्धृत नहीं किया । द्वितीय प्रश्न के चतुर्थ अध्याय में ६५ सूत्रों में विभिन्न पापों के फलस्वरूप विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करने की चर्चा की गयी है, जिसमें पौराणिक विचारधारा का आश्रय लिया गया है। इसमें विवाह के अनुलोम होने पर भी ब्राह्मण का शूद्रा से विवाह गर्हित घोषित किया गया है,[1] किन्तु इस प्रकार के विवाह सप्तम शती ई० में प्रचलित थे[2] तथा नवीं शती तक चलते रहे[3] । अनुलोम विवाह पद्धति प्राक्-श्रौत-गृह्यसूत्रकाल में सर्वत्र प्रचलित थी और इस विषय में अनेकों उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं[4] । प्रतिलोम-विवाह को तो 'धर्महीन' घोषित कर ही दिया गया था,[5] जो सप्तमी शती तक समाप्तप्राय प्रतीत होता है[6] । ये सभी प्रमाण मिलकर उपरिलिखित काल की पुष्टि करते हैं ।

परिशिष्ट में अनेकानेक वचन मनु०, याज्ञ० स्मृ०, वासिष्ठ एवं विष्णु-धर्मसूत्रों के समानान्तर हैं ।

प्रायश्चित्त भाग का आरम्भ याज्ञ० स्मृ० के ३,१३१ से होता है तथा प्रथम पांच अध्यायों में तो याज्ञ० स्मृ० से शाब्दिक समानता भी पायी जाती है। जहां याज्ञ० ने किसी अपेक्षित विषय को स्पर्श नहीं किया, वहां मनु० को आधार बनाया गया है, यथा जातिच्युत करने वाले अपराधों का वर्णन मनु० के अधार पर किया गया है[7] । जहां कहीं मतभेद पाया जाता है, यह याज्ञ० का अनुसरण करता है। पातकों के विषय में भिन्न-भिन्न प्रसंगों में इस ने भिन्न-२ लेखकों के अनुसार

---

[1] गौ० ध० परि० ४, २१; मनु० ३, १४; १७; १८ याज्ञ० स्मृ० १, ५६ ।

[2] K. V. R. Aiyangar, *Some Aspects of Hindu view of life According to The Dharma Sutras*, P. 97.

[3] काणे, हि० ध० शा० भाग २, खण्ड १, पृ० ५०-५८ ।

[4] वी० एम० आप्टे, सोशल एण्ड रिलिजस लाइफ इन द गृह्यसूत्रास्, पृ० ५ ।

[5] गौ० ध० परि० २, (४, २०) ।

[6] अयङ्गार, वही पृ० १०३; द्र० अलबेरुनीज इण्डिया, सचाओ; भाग २, पृ० १५६ ।

[7] अध्याय २, ९-१२; ६, ३-६ ।

विवरण प्रस्तुत किये हैं[१]। बा० ध० सू० के साथ एकरूपता तो आश्चर्यजनक है[२]। शंख, हारीत तथा देवल द्वारा उद्धृत यम के वचनों से भी पर्याप्त एकरूपता लक्षित होतो है[३]। आप० ध० सू० से भी उधार लिया गया है[४]। परिशिष्ट के प्रथम भाग के 'कर्मविपाक' (१९वें अध्याय के अन्त में) भाग से भी यहां उद्धृत किया गया है, जिस पर हरदत्त तथा मस्करी ने भाष्य नहीं लिखा, उस भाग के सूत्रों में से १८ यहां उद्धृत हैं।

इस द्वितीय प्रश्न को विज्ञानेश्वर (याज्ञ० ३,२१६) तथा माधव (पराशरमाधवीय, भाग २, पृ० ५१४-१८), वैद्यनाथ मुक्ताफल प्रायश्चित्त काण्ड, पृ० ८६१), ने उद्धृत किया है। वृद्धगौतम के नाम से उद्धृत एक भी वचन यहां नहीं पाया जाता[५]।

द्वितीय परिशिष्ट में प्रायश्चित्तों के अतिरिक्त कर्मविपाक अर्थात् कर्मों के अनुरूप विविध योनियों में जन्मग्रहण, स्वर्गमार्ग, देवयान, पितृयाण, पातक, महापातक, उपपातक, अतिपातक, जातिभ्रंशक प्रभृति कर्मों का विस्तृत विवरण दिया गया है। विविध प्रकार के अशौचों के परिहारार्थ नानाप्रकार की शुद्धियों का भी वर्णन किया गया है, जो इस रचना के काल पर प्रकाश डालते हैं।

अनुपदसूत्र

अनुपदसूत्र ऐसी सामवेदीय रचना है, जो पञ्चविंश ब्राह्मण की व्याख्या प्रस्तुत करती हुई श्रौतसूत्र तथा मीमांसासूत्रों के मध्य सम्बन्ध-संस्थापक कड़ी का काम करती है तथा मीमांसासूत्रों को समझने में सहायक सिद्ध होती है। दोनों रचनाओं की शैली में भी बहुत साम्य है, जैसा कि पूर्वमीमांसासूत्रों के रचयिता जैमिनि के नाम से इंगित होता है। सम्भव है कि वह सामवेदीय रहे हों।

यद्यपि अनुपदसूत्र के कर्ता का नाम अज्ञान के गहन आवरण से आच्छादित है, तो भो कैलेण्ड ने[६] वाधूलगृह्यसूत्र की व्याख्या से ऐसे संकेत खोज निकाले हैं, जो इसे सुशारद शालङ्कायन[७] से सम्बद्ध करते हैं। कुमारिल के तन्त्रवार्तिक में एक

---

१. गौ० ध० परि० ५, ४; याज्ञ० ६, १-२; विष्णु०।

२. गौ० ध० परि० ७, ६; वा० ध० सू० ९, ५-१०; १४, ६-७; २०, ९।

३. *G. D. Pari.* Intro. A. N. K. Aiyangar P. XXXVII.

४. गौ० ध० परि० ८, १; ११, ४।

५. A. N. K. Aiyangar, वही।

६. *Ao*, I, 1923, 68.

७. वंशब्राह्मण १, १३-१४।

ऐसा उद्धरण दिया गया है, जो अनुपदसूत्र में जैमिनिकृत छान्दोग्यानुपद के नाम से उद्धृत है[1]।

अनुपदसूत्र के १० प्रपाठक हैं, जिनमें से प्रत्येक के १२ खण्ड हैं, किन्तु अन्तिम के १६ हैं। ये अन्तिम चार खण्ड उत्तरवर्ती प्रक्षेप सिद्ध किये जा सकते हैं। इस सूत्र के १०, १० ; १०, १२ ; १०, १६ को इनमें दोहराया गया है। पूरे सूत्र में लाट्यायन श्रौतसूत्र की कहीं चर्चा नहीं की गयी, किन्तु इनमें इसका उल्लेख किया गया है[2]। द्राह्यायण श्रौतसूत्र इन प्रक्षेपों से परिचित प्रतीत होता है। सूत्र पञ्च० ब्रा० का अनुसरण करता है। इसमें प्रतिपादित ज्योतिष्टोम, द्वादशाह, एकाह तथा गवामयन तो पञ्च० ब्रा० के अनुसार ही हैं, जो पञ्च० ब्रा० अथवा षड्० ब्रा० में प्रतिपादित नहीं हैं। प्रवर्ग्य में गाये जाने वाले साम, अग्निचयन, सुब्रह्मण्या निगद तथा इसके विविध प्रकार तथा इनके विविध–यज्ञों के प्रयोगों के विवरण ऐसे ही विषय हैं। इस सूत्र में दिये गये अनेकानेक ब्राह्मण-उद्धरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन से श्रौतसूत्रकार के समक्ष विद्यमान उन ग्रन्थों का पता चलता है, जो आज लुप्त हो चुके हैं। इस विषय में यह सूत्र अद्वितीय कहा जा सकता है। इसमें ऐतरेयों, कौषीतकियों, पैंगि शौलालि, शाम्बवि, शाट्यायनि, भाल्लवि, कालबवि, अगस्ति ; खाडयायनि, आर्चाभि, श्यामायनि, तैत्तिरीय, वाजसनेय तथा वैदेहिक ब्राह्मणों का उल्लेख किया गया है।

क्योंकि यह सूत्र लाट्यायन श्रौतसूत्र का अनुसरण करता है, अतः यह निश्चय ही उससे उत्तरवर्ती है। अग्निस्वामी ने इसके जिन अन्तिम शब्दों को उद्धृत किया है, वे अनुपदसूत्र के १०, १० में उपलभ्य हैं। कल्पानुपद ने अनुपदसूत्र के लम्बे-लम्बे सम्पूर्ण वाक्यों को उद्धृत किया है, किन्तु अनुपद तथा कल्पानुपद में स्पष्ट भेद पाया जाता है[3]। इस सूत्र का पाठ बहुत भ्रष्ट हो गया है।

कल्पानुपदसूत्र

यह सामवेदीय सूत्र आर्षेयकल्प तथा क्षुद्रसूत्र का परिशिष्ट अथवा पूरक प्रतीत होता है, जिन्हें यह नाम लिये बिना बहुधा उद्धृत करता है। साथ ही यह लाट्यायन श्रौतसूत्र को अनेकत्र उद्धृत भी करता है और उसकी व्याख्या को भी। इसने केवल एक बार मशकम् को स्मरण किया है। इसने निदानसूत्र को

---

[1] अस्को पप्रोला, वही, अनुपदसूत्र प्रकरण में।

[2] द्र० अस्को पप्रोला वही, पृ० ६१।

[3] द्र० वेबर० इण्डिस्टु, पृष्ठ ८९-९१।

थोड़े परिवर्तित रूप में आत्मसात् कर लिया है[1]। इसमें अनुपद के भी बहुत से दीर्घ वाक्य सम्पूर्णरूपेण उद्धृत हैं[2]। एक उद्धरण कौषीतकि-भाल्लवि ब्राह्मण से भी दिया गया है[3] और एक पंङ्क्ति (पंङ्क्तिक जै० श्रौ० सू० १, २३) ब्राह्मण से भी[4]।

प्राचीन आचार्यों के विचारों का भी कल्पानुपद बहुधा उल्लेख करता है। इनमें गौतम,[5] धनञ्जय,[6] शाण्डिल्य,[7] शौचिवृक्षि,[8] शाम्बपुत्र,[9] लामकायन[10] तथा राजायनिपुत्र[11] उल्लेखनीय हैं। इसमें दो प्रपाठक तथा २४ पटल हैं। यह कौथुमशाखीय रचना है और अभी तक अप्रकाशित है।

मात्रालक्षण

सामवेदीय सहायक रचनाओं में **मात्रालक्षण** दो कण्डिकाओं और केवल ४२ सूत्रों में विभक्त एक लघु रचना है, जिसके कर्ता के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। किन्तु इन सूत्रों को 'संहितोपनिषद् ब्राह्मण' की व्याख्या में उद्धृत किया गया है, जहाँ इसे **छन्दोग परिशिष्ट** की संज्ञा दी गयी है। डा० बी० आर० शर्मा ने एक गुमनाम कर्ता के विवरण सहित इसे प्रथम बार प्रकाशित किया है[12]। इसमें सामगानों की ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और वृद्ध मात्राओं का विवेचन किया गया है, जिसे सामगानों के ही उदाहरणों से स्पष्ट किया

---

१. निदान सूत्र ५, ३-४; ८२, १-८६, ६ का समावेश कल्पानु० ११७-८ में किया गया है।

२. कल्पानु० १, २=अनुपद० २, ११ ; तनूनपात तथा नाराशंस ऋचायें (कल्पानु० १, ३) अनुपद० ४, ६ से ली गयी हैं। कल्पानु० २, ८ में अनुपद० २, १२ से।

३. वही, १, ३।

४. वही, २, ९।

. वही, १, २ ; ७ ; ११।

६. वही, १, २ ; ७ ; ११।

७. वही, १, ९।

८. वही, १, २ ; ११।

९. वही, २, ६।

१०. वही, १, ६।

११. वही, २, ६।

१२. प्रकाशक, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, सन् १९७०। इस रचना का मूलरूप में एक संस्करण ग्रन्थलिपि में कृष्णस्वामी श्रौती ने भी प्रकाशित किया था। जिसका उपयोग इस संस्करण में किया गया हैं। इससे पूर्व कृष्णस्वामी श्रौती द्वारा वेदगान के अन्तर्गत ग्रन्थलिपि में सम्पादित तथा प्रकाशित हो चुका है।

गया है। यह रचना मात्राओं के सूक्ष्म विभाजनों, यथा—**अर्धमात्रा, ऋजुमात्रा, अर्धतिस्र** एवं **अर्धचतस्रः** प्रभृति का भी प्रतिपादन करती है और द्रुता, मध्यमा एवं विलम्बिता संज्ञक तीन वृत्तियों का भी विवरण प्रस्तुत करती है तथा आठ प्रकार के व्युत्क्रमों, चार प्रकार के अतिक्रमों, पांच प्रकार के 'कर्षणों', तीन प्रकार के स्वरों, सात प्रकार की अर्धमात्राओं, दो प्रकार की गीतियों और उनके कालों का सूक्ष्म विवेचन करती है। ये सब पारिभाषिक शब्द सामगान से सम्बद्ध हैं, जिनका विवरण अन्यत्र दिया गया है। इसमें **दीर्घार्षण, ह्रस्व कर्षण** तथा धार्य का भी विवरण दिया गया है तथा स्वरित, विनत, प्रजत, उत्स्वरित, अभिगीत तथा स्वरभक्ति की भी व्याख्या की गयी है। यह लघु रचना आकार में स्वल्प होती हुई भी विषय की दृष्टि से छन्दोगों तथा संगीतशास्त्रियों के लिए महत्त्वपूर्ण कृति है।

इसकी रचनाशैली यद्यपि सूत्रात्मक है, तो भी सरल तथा स्पष्ट है, जिसे विवरण ने सामगानों के उदाहरणों से और भी विशद कर दिया है। पञ्चविधसूत्र की अपेक्षा मात्रालक्षण में रचना एवं सूत्रव्यवस्था को अधिक प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है। किन्तु विषय-भेद के कारण इस भेद से कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम नहीं निकाला जा सकता। प्रकाशित विवरण में नाना प्रकार के दूषणों की भरमार है।

संस्करण—डा० बी० आर० शर्मा द्वारा सम्पादित पञ्चविधसूत्र के अन्तर्गत सम्पादित, तिरुपति, १९७०।

पञ्चविधसूत्र

सामवेद के अध्ययन की सहायता के लिए अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थों की रचना की गयी है, जो सामवेद की विविध पारिभाषिक तथा तकनीकी उलझनों को सुलझाने तथा समस्याओं पर प्रकाश डालने में सहायक सिद्ध हुए हैं और जिन्हें छन्दोग परिशिष्ट की संज्ञा दी गयी हैं। सामगान सम्बन्धी लक्षण-ग्रन्थों में **पञ्चविधसूत्र** एक महत्त्वपूर्ण रचना है और सामवेदीय सहायक दस सूत्र-रचनाओं में यह अष्टम है। यज्ञों में प्रयोग के समय सामगान को पाँच विभक्तियों में विभाजित किया गया है, जिन्हें प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन की परिभाषिक संज्ञाओं से स्मरण किया जाता है। इन पांच विभक्तियों को तीन छन्दोग ऋत्विक् क्रम-विशेष से गाते हैं। प्रस्तोता प्रस्ताव अंश का गान करके साम का आरम्भ करता है। तदनन्तर उदगाता उद्गीथ विभक्ति को और प्रतिहर्ता प्रतिहार विभक्ति को क्रमशः गाते हैं। पुनः प्रस्तोता चतुर्थ उपद्रव विभक्ति को गाता है और अन्त में तीनों मिलकर निधन विभक्ति का गान करते हैं।

पञ्चविधसूत्र का सम्बन्ध इन पाँच विभक्तियों पर विस्तृत प्रकाश डालने से है, किन्तु वास्तव में यह प्रस्ताव, प्रतिहार और निधन नाम की तीन विभक्तियों की ही व्याख्या करता है, तो भी यह उद्गीथ और उपद्रव विभक्तियों का अनेक बार नामोल्लेख करता है। इस विषय में यह जानना रुचिकर होगा कि यद्यपि इन तीनों विभक्तियों— प्रस्ताव, प्रतिहार और निधन पर विस्तृत प्रकाश डालने वाली अनेक स्वतन्त्र रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं[1], उद्गीथ और उपद्रव पर इतना ध्यान सम्भवत: इसलिए दिया गया कि ये विभक्तियां इतनी पेचीदा नहीं है।

पञ्चविधसूत्र में प्रतिपादित ये तीन विभक्तियां ग्रामगेय-गान और अरण्यगान में विहित सामों पर ही आधृत हैं। इसमें ऊह और रहस्य (ऊह्य) से कोई उदाहरण नहीं लिया गया। ग्रामगेयगान के उदाहरण प्रतीक रूप में दिये गये हैं, जबकि अरण्यगान के उदाहरणों में गानों का नामत: उल्लेख किया गया है। किन्तु इस विषय में कहीं-कहीं अस्पष्टता भी आ गयी है। यथा— **स्तोमविभाग्यानि** (१, ४, ४) में यह स्पष्ट नहीं है कि यहां कौन से सौमित्र गान का सङ्केत है, क्योंकि इस नाम के अनेक गान प्रसिद्ध हैं।

यह रचना अत्यन्त तकनीकी तथा दुरूह पारिभाषिक शब्दावली से भरपूर है, तो भी इस की भाषा सरल तथा बोधगम्य है। फिर भी संक्षिप्त सूत्रशैली के कारण व्याख्या के बिना विषय को हृदयङ्गम करना कठिन है। दूसरे, सामगान की परम्परा से परिचित हुए बिना, इसे गहराई से आत्मसात् करना असम्भव सा ही है। इन तकनीकी शब्दों को स्पष्ट करने के लिए यद्यपि इस पर एक गुमनाम व्याख्या प्रकाशित की गयी है, तो भी यह विषय को सर्वथा स्पष्ट करने में असमर्थ ही नहीं, अपितु कहीं-कहीं सर्वथा अयुक्त भी है[2]। इस विषय में पुष्पसूत्र पर रामकृष्ण दीक्षित की व्याख्या तथा प्रतिहारसूत्र पर वरदराज की व्याख्या अधिक सहायक है। स्वयं ग्रन्थकार के नाम, व्यक्तित्व तथा काल के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं है, किन्तु यह रचना कौथुमीय तथा **राणायनीय** दोनों शाखाओं से सम्बद्ध है।

इसके दो प्रपाठक हैं, प्रत्येक में सात-सात कण्डिकाएं हैं, जिनमें क्रमश: १६४ और १८२ (=३४६) सूत्र हैं। यह सूत्र-विभाजन और सूत्रगणना

---

[1] 'प्रस्तावसूत्र' पुष्पसूत्र का अन्तिम अध्याय है और प्रतिहारसूत्र उपग्रन्थसूत्र का अन्तिम भाग है, जहाँ निधन की भी चर्चा की गयी है। अन्य स्वतन्त्र रचनाएं भी पृथक्-पृथक् इन पर प्रकाश डालती हैं। (द्र० बी०आर० शर्मा, पञ्चविधसूत्र, प्रस्तावना, पृ० १२)।

[2] द्र० बी० आर० शर्मा, वही, पृ० १४।

डा० बी० आर० शर्मा के संस्करण के अनुसार है । इससे पूर्व १९१३ में आर० साईमन (R. Simon) ने ब्रेस्लाओ से इसका एक संस्करण प्रकाशित किया था[१] । उसके अनुसार सूत्र संख्या ११२ और १२१ (=२३३) है। सूत्र-विभाजन में भी अन्तर है। डा० शर्मा के संस्करण में साम-विभाग अपने समानान्तर गानग्रन्थों से मेल खाते हैं, जब कि साईमन के संस्करण में उनमें कुछ भेद पाया जाता है।

व्याख्या—(१) इस सूत्र पर दीक्षित रामकृष्ण त्रिपाठी, उपनाम, नानाभाई भट्ट की व्याख्या उपलब्ध होती है।

(२) एक और भाष्य भी डा० बी० आर० शर्मा ने प्रकाशित किया है, जिसमें कर्ता के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

संस्करण—(१) श्री हितव्रत शर्मा द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, शक सं० १८२७।

(२) रिचर्ड साईमन द्वारा सम्पादित, इण्डिशे फोर्शुगन ब्रेस्लाओ, १९१३।

(३) डा० बी० आर० शर्मा, भाष्य सहित, केन्द्रीय विद्यापीठ, तिरुपति से प्रकाशित, १९७०।

उपग्रन्थसूत्र

सामवेदीय श्रौत यज्ञों में सहायक यह रचना कात्यायनकृत मानी जाती है[२]। इसमें चार प्रपाठक हैं और इसमें नाना प्रश्नों पर विचार किया गया है। प्रथम तो नाना प्रकार के वाजपेय प्रभृति यज्ञों में प्रयुक्त स्तोमों के छन्द के विषय में विचार किया गया है। तदनन्तर यज्ञों से सम्बद्ध छोटी-मोटी त्रुटियों के विषय में प्रतिपादित प्रायश्चित्तों के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के विचारों को प्रस्तुत करते हुए कर्त्तव्यों का निर्णय किया गया है। किसी प्रकार उद्गाता के यज्ञ से पृथक् हो जाने पर, सत्र के मध्य में उठ जाने पर, पर्यायों से स्तुति न किये जाने पर, गायत्र साम के छूट जाने पर, अक्रीत सोम के अपहृत हो जाने पर, कलश के फूट जाने पर या रिक्त हो जाने पर तथा इसी प्रकार की अन्य त्रुटियों पर विविध प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है।

विश्वजित् साहस्राद्य आदि यागों में पृष्ठ, गायत्र आदि सामों के अनुकल्पों की चर्चा की गयी है और नाना प्रकार के सामों की निर्माण-विधियों तथा उनके प्रयोगों का विवरण भी दिया गया है।

---

[१] Dr. R. Simon, *Indische forschungen*, Breslau, 1913.

[२] सायण, पञ्च० ब्रा० भाष्य, ७, ४, ८—cf. Weber, *Vorlesungen der altind. Literatur geschichte*, 2, p. 92, Note.

प्रथम तीन प्रपाठक तो क्षुद्रसूत्र के परिशिष्ट से लगते हैं। इसमें क्षुद्रसूत्र को आर्षेयकल्प के नाम से स्मरण किया गया है। अन्तिम प्रपाठक सामों के प्रतिहारभाग से सम्बद्ध है। इस सूत्र में शाट्यायनि ब्राह्मण को चार बार उद्धृत किया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण को एक बार, 'अध्वर्यु ब्राह्मण' तथा तथा कात्यायनीय स्मृतिसूत्र का भी उल्लेख पाया जाता है। पञ्चविंश ब्राह्मण का तो बहुशः उल्लेश सर्वथा स्वाभाविक था।

इसका सम्पादन सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा **'उषा'** में १८९७ में किया गया था।

प्रतिहारसूत्र

सामगान की पाँच भक्तियां होती हैं—प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन। इनमें से प्रतिहर्ता को यज्ञ में प्रतिहार भक्ति का गान करना होता हैं। उपग्रन्थसूत्र का अन्तिम प्रपाठक प्रतिहारसूत्र ही है। इसमें कुल १५ खण्ड हैं। प्रतिहारसूत्र में प्रतिहार की परिभाषा तथा साम में उसकी पहिचान के उपाय तथा उसके गान के प्रकार समझाये गये हैं। तदनन्तर सामों के यज्ञ में विनियोग के विषय पर विचार किया गया है। अन्तिम खण्ड में निधन तथा उसके प्रकारों का प्रतिपादन किया गया है।

प्रायः ऋक् के अन्तिम पाद में प्रतिहार की स्थिति मानी जाती है तथा विशेष वचन के अभाव में अन्तिम पाद के प्रथम चार अक्षरों पर ही प्रतिहार गाया जाता है। इस सामान्य नियम के अनेक अपवादों पर विचार किया गया है। **रथन्तर** साम में पाँच अक्षरों पर प्रतिहार का विधान है, **सौपर्ण साम** में दो ही अक्षरों पर[1]। जिन सामों में पर्व अथवा पाद पाँचों भक्तियों में समानरूपेण विभक्त नहीं हो सकते, उन्हें **विषम भक्ति** कहते हैं। जिनमें ये पर्व समानरूप से विभक्त हो जाते हैं, उन्हें **विभाग्य** की संज्ञा दी जाती है। **उत्तम पाद** के चार अक्षरों पर प्रतिहार का नियम **विषम भक्ति** सामों पर ही लागू होता है। विभाग्य सामों के पादों के प्रस्तोता, उद्गाता तथा प्रतिहर्ता परस्पर बाँट कर गाते हैं। परिणाम-स्वरूप तृतीय पर प्रतिहार गाया जाता है तथा चतुर्थ पर उपद्रव। जिन गानों में ५-७ पाद आते हैं, वहाँ **उपोत्तम पाद** पर **प्रतिहार** की स्थिति होती है, यथा, सप्तपाद गान में १ पाद पर प्रस्ताव, २-५ तक के पादों पर उद्गीथ, ६ पर प्रतिहार, सातवें पाद पर उपद्रव गाये जाते हैं।

एक ही नाम के दो सामों के यज्ञ में विनियोग के विषय में सन्देह होना स्वाभाविक है कि किस का विनियोग किया जाये। इस विषय में कहा गया है कि

---

[1] पञ्चाक्षरो रथान्तरे (प्रति० सू० ११, ३४) ; आद्ये न्याय्यौ द्व्यक्षरौ परयोः। प्रति० सू० ४, १२।

एक ही नाम के किन्तु विभिन्न छन्दों वाले सामों के विनियोग का आधार यज्ञ-विशेष में प्रयुक्त प्रधान छन्द ही होता है, यथा माध्यन्दिन पवमान में अन्तिम स्तोत्र त्रिष्टुप् छन्द में होने के कारण वहाँ **औशन** साम भी त्रिष्टुप् छन्द पर ही आधृत होता है और उक्थ के स्तोत्र गायत्री छन्द के होने के कारण वहां गायत्री छन्द पर आधृत **औशन** साम का ही विनियोग करना चाहिये। इसी प्रकार के अन्य नियमों का यहां प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि निधन-भक्ति का इस सूत्र में कोई औचित्य नहीं है, तो भी क्योंकि यह सूत्र उपग्रन्थसूत्र का अन्तिम भाग है और निधन अन्तिम भक्ति है, अतः उसके प्रतिपादन को संगति है। उपग्रन्थसूत्र में निधन का प्रतिपादन प्रतिहार से पूर्व किया गया है और उस सूत्र की वास्तविक समाप्ति प्रतिहार के १४वें खण्ड के साथ हो जाती है, तो भी यहाँ निधन के बाद में इसलिये रखा गया है कि यह प्रतिहारसूत्र राणायनोय शाखा का है। कौथुमशाखा में निधन का प्रतिपादन प्रतिहार से पूर्व किया गया है[1]। वैसे दोनों शाखाओं में इतना कम अन्तर है कि आज आंध्रप्रदेश के राणायनीय सामवेदी कौथुमशाखीय ग्रन्थों का पाठ करते हैं।

व्याख्या—वामनार्यसूनु वरदराज ने इस पर व्याख्या लिखी है यह अनन्त नारायण यज्वा के पौत्र थे और कौशिक गोत्र के थे। यह तामिलनाडु के निवासी थे। इन्होंने सूचित किया है कि उपग्रन्थसूत्र पर इनसे पूर्व माधवार्य ने व्याख्या "विवृति" लिखी थी, जो अधूरी रह गयी। उसे वरदराज ने प्रतिहार और छन्न निधन प्रकरणों की व्याख्या करके पूर्ण किया है। इनकी व्याख्या का नाम "दशतयीवृत्ति" है, जो बहुत उपयोगी है।

संस्करण—डा० बी० आर० शर्मा द्वारा सम्पादित, तिरुपति केन्द्रीय विद्यापीठ से सन् १९७३ में प्रकाशित। वरदराजकृत दशतयीवृत्ति भी प्रकाशित की है।

तण्डालक्षण[2] सूत्र

यह आर्षेयकल्प तथा क्षुद्रसूत्र का संक्षेप है, जो व्याकरण के सूत्रों के अनुकरण पर लिखा गया है, जिसमें अक्षरों (य, या प्रभृति) को स्तोत्रों के नामों

---

१. बी० आर० शर्मा, प्रतिहारसूत्र, तिरुपति, १९७३ भूमिका, पृ० २८।

२. इसका नाम तण्ड्यालक्षणसूत्र नहीं है, जैसा कि गो० गृ० कर्मप्रकाशिका तथा कैलैण्ड (जैमिनीय संहिता, पृ० १४) तथा रेनु (Ecoles, पृ० ११४) ने लिखा है।

के स्थान पर प्रयोग किया है। इसमें ३ प्रपाठक हैं और ३५ खण्ड हैं। तृतीय प्रपाठक के ११ खण्ड हैं और शेष दो के १२-१२। यह रचना व्याख्यात्मक है और बहुत प्राचीन नहीं है।

यह अभी तक अप्रकाशित है।

अनुस्तोभ सूत्र

इसमें सामों के विविध पक्षों का उनके 'स्वरूप' के रूप में अध्ययन किया गया है, जिसके अन्तर्गत स्तोत्र तथा भक्तियां निहित हैं। यह एक अत्यन्त क्लिष्ट रचना है, जिसकी शैली भी कठिन शब्दावलि से आक्रान्त हैं, जिसके कारण यह अत्यन्त दुरूह तथा दुर्बोध्य रचना बन गयी है। इसकी कोई व्याख्या भी उपलभ्य नहीं है।

इसके ८ खण्ड हैं, जिनके नाम नहीं रखे गये। इसमें पञ्च०ब्रा०, षड्०ब्रा० तथा आर्षेयकल्प को उद्धृत किया गया है। कहीं-कहीं लाट्यायन श्रौतसूत्र का भी उपयोग किया गया प्रतीत होता है[1]।

अभी तक यह रचना अप्रकाशित है। इसका हस्तलेख रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बङ्गाल के पुस्तकालय में सुरक्षित है (डी० कैटेलॉग, II, संख्या, १३३२)।

स्तोभानुसंहार

साम गानों में स्तोभों के निर्माण, विशेषताओं तथा विविध यज्ञों में प्रयोगों की विधियों का प्रतिपादन **स्तोभानुसंहार** नामक लघु रचना में किया गया है।

साम गान में ऋक् के अतिरिक्त अवान्तर वर्णों अथवा अक्षरों का समावेश किया जाता है। इसे ही **स्तोभ** कहते हैं। यह सामगान की सुविधा के लिए ऋचाओं के मध्य में समाविष्ट किये जाते हैं। यह सार्थक भी होते हैं, अनर्थक भी; यथा—'हाउ', 'औहोवा', प्रभृति। प्रकृतार्थ से सर्वथा असम्बद्ध ये वर्ण या अक्षर गान में केवल कालक्षेपार्थ प्रयुक्त किये जाते हैं।

ये अनुसंहार स्तोभ तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

(१) वर्णस्तोभ, जिसमें केवल किसी वर्ण का समावेश किया जाता है, यथा—इ, उ, ए।

---

[1] मैक्समूलर ने कहा है कि इसके दो प्रपाठक हैं (हि० ऐ० सं० लि० २, पृ० २१०) जो गलत है। दो प्रपाठक तो 'कल्पानुपदसूत्र' के हैं।

(२) पदस्तोभ, जो पद के रूप में गान में समाविष्ट किया जाता है। यथा—'हाउ', 'औहो वा', आदि।

(३) वाक्यस्तोभ, जो वाक्यात्मक होते हैं, यथा—**सन्त्वा भूतान्यैरयन्।** इस स्तोभ पर **आदित्यव्रतम्** गान गाया जाता है। स्मरण रहे कि सामगान ऋचा के अतिरिक्त केवल 'वाक्यस्तोभ' पर भी गाया जाता है।

इस प्रकार वस्तुतः स्तोभ एक प्रकार का आलाप है जिसमें बाह्य शब्दों या वर्णों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है।

इस रचना में ३ पटल हैं तथा १६+१०+१७=४३ श्लोक हैं[1]।

व्याख्या—इस पर रामकृष्ण त्रिपाठी उपनाम नानाभाई की व्याख्या उपलभ्य है।

संस्करण—ग्रन्थलिपि में सम्पादित।

सामप्रकाशन

साम गानों के सम्बन्ध में यह प्रीतिकर त्रिपाठी की एक लघु रचना है, जिसमें ग्रामेगेय (वेयगान) के निर्माण के नियम, स्वर सञ्चार तथा विविध प्रकार के वेद गानों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार अरण्यगान, ऊहगान, ऊह्यगान के विषय में भी चर्चा की गयी है।

किन्तु यहां केवल उन्हीं सामों की चर्चा की गयी है, जो या तो अपवाद रूप हैं या कुछ विशेषता रखते हैं। जिसकी व्याख्या अपेक्षित है। इसमें किसी क्रम-विशेष का आश्रय नहीं लिया गया, प्रीतिकर एक आधुनिक लेखक हैं, जिनको एक और रचना भी सामवेद के विषय में उपलब्ध है।

सम्पादक—श्री सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, सं० १९५१, सन् १८९४।

---

[1] द्र० ए० बर्नेल, संहितोपनिषद् ब्राह्मण की भूमिका, पृ० १६।

एकचत्वारिंश अध्याय

अन्य साम रचनाएं

सामवेद के अनेकों **लक्षणग्रन्थों** में से कुछेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ये भी हैं :—

(१) **सामवेद पदपाठ**—जो न केवल आर्चिक संहिताओं (पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक) के पदों का विश्लेषण ही प्रस्तुत करता है, अपितु 'स्तोभ पदपाठ' में स्तोभों के पदों का भी विश्लेषण करता है। इसके निर्माता का नाम गार्ग्य कहा जाता है।

सामपदपाठ में ऋग्वेदीय पदपाठ से अनेक प्रकार से भिन्नताएं दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका विस्तृत विवेचन प्रो॰ बेन्फे ने किया है[1]। यह पदपाठ परकालिक व्याख्याओं तथा भाष्यों का पूर्वगामी भाष्य माना जा सकता है, किन्तु इस पदपाठ का सामों के लिए कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं है, क्योंकि इस में शब्दों का संहितारूप ही प्रायेण स्थिर रहता है, जबकि सामों में यह सर्वथा परिवर्तित हो जाता है। इसका इतना लाभ अवश्य है कि सम्भवत: सामों का सर्वप्रथम विस्तृत विश्लेषण होने के कारण पदों से सामों के निर्माणार्थ नियम-निर्माण का सर्वप्राचीन साधन है।

(२) **अवग्रहशक** नाम की एक पुस्तिका पदपाठ में अवग्रह कहां-कहां लगाना चाहिये, इस विषय पर उपलभ्य है[2]।

(३) **नैगेय सूत्र** में सामवेद के छन्दों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके कर्ता का नाम गोभिलाचार्य लिखा गया है[3]।

(४) **सामगान छन्दः** नामक एक रचना में सामवेद के छन्दों की चर्चा की गयी है। इसका कर्ता गार्ग्य कहा जाता है। यह साम-परिशिष्ट के रूप में प्रसिद्ध है[4]। वेबर ने इसका उपयोग किया था[5]।

ये सभी रचनाएं नवीन तथा व्यर्थ सी ही हैं।

---

१. बेन्फे के संस्करण की भूमिका, पृ॰ LVII तथा अग्रे।

२. See Burnell, *Ārsheya Brāhmaṇa, Intro.* p. XX.

३. Burnell, A. C., *Ibid,* p. XXI.

४. वही पृ॰ XXI.

५. *I. S.* VIII.

(५) **प्रस्तावसूत्र** में यज्ञ में सामवेदीय ऋत्विज् प्रस्तोता द्वारा **प्रस्ताव** नामक सामभक्ति के सम्बन्ध में अत्यन्त संक्षिप्त चर्चा की गयी है।

(६) **स्वर परिभाषा** नाम रचना में दक्षिण भारत में प्रचलित सामगान के हस्तलेखों में स्वर-सन्धानार्थ वर्णों एवं अक्षरों के प्रयोग का विवरण दिया गया है, यथा—

ओ 'त' ग्ना ई आ 'चो' ही 'ण' वी इतो या ई।

त=४ ; चो=२, ३, १ ; ण=१, २ तथा प्रेङ्ख । क=एक स्वर ; के=सातों स्वर।

यह विचित्र बात है कि प्राचीन यूनानियों में भी स्वरनिरूपण की यह विधि प्रचलित थी।

यह रचना अत्यन्त क्लिष्ट है, क्योंकि इसमें इस प्रकार के लगभग तीन सौ अक्षरों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार वर्णों तथा अक्षरों द्वारा स्वर-निरूपण की विधि जैमिनीयों में भी प्रचलित है। प्रत्येक वर्ण एक विशेष स्वर (सुर) का द्योतक होता है।

उत्तर भारत में नोटेशन (स्वरसन्धान) के लिए वर्णों के स्थान पर संख्या का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ—

१ २ ८ १
अभायिभायिमाहे (३) चर्षणीधृतं मृघ वा (३) मुच्छा (१) ।
२ १ ८ ८
या ऽ २ । म् । इडाङ् गिरो वृहतीरभ्या तेषा । १ । भा । १ ॥

इस प्रकार हस्तलेखों में परस्पर बहुत अन्तर पाया जाता है। यथा—एक अन्य हस्तलेख में शब्दों के ऊपर कोई संख्या नहीं दी गयी। किन्तु कहीं-कहीं पंक्ति के बीच एक रक्तवर्ण की पड़ी लकीर खींची गयी है।

इसका स्वरूप इस प्रकार है :—

अभायिमाहे २ । ३ । च २ अ र र्ष २ णी २+धृ २ त २ म्म ।
घ । वा २ ना २ ३ मुक्था १ ८ या ४ प्रभृति[1] ।

(७) **धारालक्षण** एक ऐसी रचना है, जिसमें सामगान के समय उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा प्रचय स्वरों का निर्देश हाथों की प्रथम अंगुलियों तथा

---

[1] Burnell, A. C., *Ār. Br. Intro.* p. XXVII '...the passages may not be here given quite exactly....'

अंगूठे को स्पर्श करके किया जाता है यह 'गात्रवीणा' कहलाती है तथा स्मरणशक्ति को बहुत सहायता प्रदान करती है। यज्ञों में पञ्चदश स्तोभ के उच्चारण के समय सामवेदीय ऋत्विज् बालिश्तभर दीर्घ १५ औदुम्बर 'कुशों' (काष्ठाओं) को ५-५ की तीन पंक्तियों में रखते हैं। इन पंक्तियों को **पर्याय** कहा जाता है। ये पंक्तियां विभिन्न प्रकार से बनायी जाती हैं[1]। प्रत्येक ऋचा के उच्चारण के अनन्तर एक-एक काष्ठा को उठा लिया जाता है। इस प्रकार स्तोभोच्चारण में भूल नहीं हो सकती तथा उंगलियों पर स्वरसन्धान से स्मरणशक्ति को सहायता मिलती है।

अड्यार लाइब्रेरी में सुरक्षित सामवेदानुक्रमणियों के दो हस्तलेखों में सामवेद सम्बन्धी कई एक रचनाओं का उल्लेख किया गया है जो दोनों संग्रहों में प्रायः समान हैं। दोनों को मिलाकर निम्नलिखित रचनाओं के नाम दिये गये हैं—

(१) स्तोभपद लक्षण (२) पूर्व ऋक्पदलक्षण (३) वेदपारायण-विमर्श (४) सामवेदसर्वानुक्रमणी (अ)। (५) सामवेदविमर्श (६) सामवेदसर्वानुक्रमणी (ब) (७) सामवेद सप्तलक्षण (८) लघुऋक्तन्त्र या ऋक्तन्त्रसंग्रह (९) ऋङ्निघातिका (१०) आरण्यसामप्रकाशिका (या सामस्वरनिर्णय ?) (११) सायणीय-श्लोकसंग्रह (१२) सामलक्षणदीपिका (१३) रावणभैट् (१४) उत्तर ऋग्लक्षण (१५) पूर्वऋक्कारिका (१६) सामवेदलक्षण ? (१७) पञ्चविधसूत्र (१८) प्रायश्चित्तकल्पकारिका (१९) प्रायश्चित्तकारिका (२०) अग्निष्टोमानुक्रमणिका (२१) चतुर्थस्वर मन्द्रस्वर निर्णय (२२) उपनिदानसूत्र।

प्रवरसूत्र

इन सूत्रों में गोत्रों के प्रवर ऋषियों के नामों की तालिकाएं दी गयी हैं। दर्शपूर्णमासेष्टि में यजमान के प्रवर ऋषियों के नामों का उच्चारण पहले होता द्वारा किया जाता है बाद में अध्वर्यु द्वारा[2]।

बौधायन प्रवरसूत्र स्वतन्त्र रचना है, जिसमें ५४ खण्ड हैं। यह कैलेण्ड द्वारा बौधायन श्रौत, भाग ३, में प्रकाशित किया गया है। **आपस्तम्ब** प्रवरसूत्र आप० श्रौ० के अन्तर्गत (प्रश्न २५, ५-१०) है। **सत्याषाढ** प्रवरसूत्र सत्याषाढ कल्प का भाग (२१ वां प्रश्न) है। **मानव** प्रवरसूत्र मानवश्रौतसूत्र का परिशिष्ट है। **वाराह** प्रवरसूत्र वाराह परिशिष्ट का अंग है।

कात्यायन प्रवरसूत्र कात्यायन परिशिष्टों में से एक है। आश्वलायन प्रवरसूत्र आश्व० श्रौ० का भाग (१२वें अध्याय में) हैं।

---

[1] See Haug, *Ait. Br. II, p. 185 n. & p. 238 n.*

[2] प्रवरसूत्रों के विषय में आलोचनात्मक अध्ययनार्थ द्र० जे० ब्रौ (J. Brough), *Early Brahmanical System of Gotra and Pravara*; तथा इसी ग्रन्थ का सप्तमखण्ड, 'कल्पसूत्र' 'प्रवर-प्रकरण'।

द्वाचत्वारिंश अध्याय

अथर्ववेदीय-बृहत्सर्वानुक्रमणिका

अथर्ववेद से सम्बद्ध यह ११ पटलात्मिका अनुक्रमणिका अथर्ववेद के विषयों (ऋषि-देवता-छन्द) का प्रतिपादन दो भागों में करती है। १ से १० पटल तक तो अ० बे० में १ से १९ काण्डों तक का विवरण प्रस्तुत करती हैं और ११वें पटल में बीसवें काण्ड का दशम पटल के अन्त में पुनरावृत्त **भृग्वङ्गिरा ब्रह्मेति भृग्वङ्गिरा ब्रह्मेति** तथा एकादश पटल के अन्त में पुनरावृत्त **मेध्यातिथिर्मेध्यातिथिरिति** से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये दोनों भाग पृथक्-पृथक् कर्ताओं द्वारा निर्मित हैं। दशम पटल की पुष्पिका की एक प्रति से इस पटल के साथ ग्रन्थ की समाप्ति की सूचना प्राप्त होती है[1]। जबकि एक अन्य प्रतिलिपि की पुष्पिका में एकादश पटल के अन्त में ग्रन्थ की समाप्ति की सूचना दी गयी हैं[2]। इसके अतिरिक्त दोनों भागों के विषय-प्रतिपादन की शैली में भी स्पष्ट भेद हैं। प्रथम भाग में सर्वत्र इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग पाया जाता है—**तत्र प्रथमं 'ये त्रिषप्ता' इति त्रीणि सूक्तान्यानुष्टुभान्यथर्वा अपश्यत्** (१, ४)। किन्तु द्वितीय भाग (एकादश पटल) में केवल सूत्रात्मक शैली में केवल इतना ही कहा जाता है **आयाहि** (अ० वे० २०, ३), **इरिम्बिठिः**, **ऐन्द्रम्**, **गायत्रम्**। इसके अतिरिक्त प्रथम भाग में जहाँ **अप्रार्थयत्** (१, ५; ६) तथा **अप्रैषीत्** (४, २४) जैसे व्याकरण-असम्मत प्रयोगों की बहुलता उपलब्ध होती है, वहाँ द्वितीय भाग में ऐसे प्रयोग **क्वचिद्** (१, ७ आदि) ही मिलते हैं।

द्वितीय भाग में अथर्ववेदीय सूक्तों के निर्देशों में भी बहुत्र वर्तमान शौनकीय संहिता के सूक्त विभागों में भेद लक्षित होता है, यथा—**अयमु त्वा** (अ० वे० २०, ५) में आठ ऋचाओं को मान कर अन्तिम ऋचा का ऋषि विश्वामित्र कहा गया है, जबकि शौ० संहिता में यहां केवल सात ही ऋचाएं हैं, आठवीं अगले षष्ठ सूक्त की ऋचा है। षष्ठ सूक्त में इसी कारण ९ के स्थान पर आठ ऋचाएं परिगणित हैं। इसी प्रकार २०, ९१, १-१२ तथा ९२, १-३ को मिलाकर एक ही सूक्त २०, ९१ में समाविष्ट कर दिया गया है। फलस्वरूप २०, ९२ की वास्तविक २१ ऋचाओं को 'अष्टादश' परिगणित करके ९२ सूक्त

---

[1] द्र० विश्व० संस्करण, भा० ४ की पुष्पिका।

[2] वही, भा० ५।

का विवरण दिया गया है, अ० वे० २०, ३२ में तीन ऋचाओं के स्थान पर चार ऋचाएं मानी गयी हैं। २०, ३४ में १८ के स्थान पर १५; २०,४७ में २१ के स्थान पर २२ ; २०, ५७ में १६ के स्थान पर १० परिगणित हैं, क्योंकि २०, ५७, ४-१० तक की ऋचाओं का विवरण २०, २०, १-७ में दे आये हैं और २०, ५७, ११-१३ का विवरण २०, ५३ में और २०, ५७, ४-१० तक की ऋचाओं का विवरण २०, २०, १-७में दे आये हैं और २०,५७, ११-१३ का विवरण २०,५३ में और २०,५७, १४-१६ का २०, ५२ में दे चुके हैं अतः यहां इनको पुनरावृत्ति नहीं की गयी। २०, ५८ में चार के स्थान पर छह ऋचाएं निर्दिष्ट हैं। किन्तु ३-४ का ऋषि जमदग्नि के स्थान पर यहाँ भारद्वाज कहा गया है किन्तु यहां उल्लिखित ५-६ ऋचाओं का विवरण नहीं उपलब्ध होता, जिससे प्रतीत होता है कि यहाँ 'षट्' भूल से लिखा गया है। सूक्तों की ऋचाओं की संख्या के विषय में इस प्रकार के व्यतिक्रम दो-चार अन्य स्थानों पर भी पाये जाते हैं[1], जिनसे सन्देह होता है कि बृ०अनु० का यह भाग शौनकीय से भिन्न किसी अन्य शाखा से सम्बद्ध हो सकता है। सम्भव है कि शौनकीय शाखा की ऐसी कोई अनुक्रमणी सायण को भी ज्ञात नहीं हो और इसी कारण सायण ने अपने भाष्य में सूक्तों के ऋषियों, देवताओं तथा छन्दों का निर्देश नहीं किया अथवा यह अनुक्रमणी शौनकीय शाखा की है और सायण का भाष्य किसी अन्य शाखा पर है, जो भूल से शौनक के नाम से प्रसिद्ध हो गयी, किन्तु आश्चर्य है कि इस प्रकार के व्यतिक्रम प्रथम दस पटलों में नहीं पाये जाते। अतः प्रतीत होता है कि १-१० पटलों के रचयिता ने २०वें काण्ड का विवरण नहीं दिया था क्योंकि कुन्ताप सूक्तों (१२७-१३६) के अतिरिक्त सम्पूर्ण २०वें काण्ड का विवरण ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी में दिया जा चुका है, किन्तु किसी अन्य व्यक्ति ने बीसों काण्डों के विवरण की पूर्ति के लिये ११वां पटल जोड़ दिया है। यहां खिल (कुन्ताप) सूक्तों का ऋषि 'रेतिश' कहा गया है। एक कल्पना यह भी है कि इस ११वें पटल के कर्ता ने ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा की ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी के आधार पर इस पटल की रचना की है। यह सर्वानुक्रमणी हमें उपलभ्य नहीं है। किन्तु इस पटल से आश्वलायन तथा कात्यायन की परम्परा पर कुछ प्रकाश पड़ता है। आश्व० सर्वानु० में ऋग्वेद १, ५७ के ऋषि गौतम कहे गये हैं, जबकि कात्यायन ने यहां सव्य आंगिरस माना है। ७, ९७, १० का ऋषि आश्व० के अनुसार 'कृष्ण' है, कात्यायन के अनुसार 'मैत्रावरुणि वसिष्ठ';

---

[1] यथा २०, ६१ में ६ के स्थान पर १० ; २०, ६७ में सात के स्थान पर १० ; २०, ७४ में ७ के स्थान पर ८ ; २०, ९५ में ४ के स्थान पर ६—यहां तीन का ऋषि गृत्समद् कहा गया है, जबकि शौ० संहिता में केवल १ का ऋषि गृत्समद है, अतः यहाँ आरम्भ में ही दो गार्त्समद ऋचाएं अधिक मानी गयी हैं। २०, ९६ में २४ के स्थान पर २३ ऋचाएं कही गयी हैं। वै० श्री० (३४, २०) भी २४ ही मानता है।

८, १०१, ११-१२ का ऋषि आश्व० के अनुसार भारद्वाज हैं और कात्यायन के अनुसार जमदग्नि[1]। किन्तु यह कल्पना इसलिये असंगत है कि इस पटल में पाये जाने वाले कई-एक व्यतिक्रमों को अथर्ववेदीय सूक्तक्रम के आधार पर ही समझा जा सकता है। यथा २०; ५-६ तथा २०, ९१-९२ के विषय में उपर्युक्त टिप्पणी। इसी प्रकार २०, ४७; २०, ५७; ५८, ६७; ९५-९६ ये सभी सूक्त ऋग्वेद के विभिन्न भागों से संगृहीत होने के कारण इस पटल के रचयिता के स्रोत नहीं कहे जा सकते।

इस रचना के कर्ता एवं काल के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं। इसका सम्पादन सर्वप्रथम पं० रामगोपाल शास्त्री ने किया था, जो दयानन्द कालेज, लाहौर, के अनुसन्धान विभाग से, १९२२ में प्रकाशित किया गया था। द्वितीय संस्करण वि० वै० शोध० संस्थान, होशियारपुर से पं० विश्वबन्धु ने १९६० में प्रकाशित किया है, जिसमें पूर्व संस्करण में पर्याप्त संशोधन किया गया है।

अथर्वपरिशिष्ट

आश्वलायनगृह्य परिशिष्ट, गोभिल गृह्य परिशिष्ट तथा कातीय परिशिष्टों के समान ही अथर्व परिशष्टों में भी श्रौत तथा गृह्य सूत्रों में अनुक्त विषयों का प्रतिपादन किया गया है। अत: वे इन सूत्रों के पूरक हैं।

बेल्लिङ्ग तथा नेजिलाइन ने ७२ आथर्वणिक परिशिष्टों का सम्पादन किया है[2]। किन्तु वास्तव में इनको संख्या ७९ है। विषयानुसार इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. नक्षत्र कल्प (प्रथम परि०)
२. राजा से सम्बद्ध क्रियाकलाप (परि० २-१९)
३. सामान्य कर्मकाण्ड (परि० २०-३३, ३७-४०, ४५-४६)
४. जादू टोने (परि० ३४-३६)
६. धार्मिक आचार-व्यवहार (परि० ४१-४४)
७. शिक्षा शास्त्र (परि० ४७-४८)
८. चरणव्यूह (परि० ४९)
९. शकुन (परि० ५०-७२)

---

[1] द्र० बृ० अनु० (विश्व०) भूमिका पृ० १२।

[2] लाइप्ज़िग, १९०९, George Melville Bolling तथा Julius Von Negelein द्वारा सम्पादित ३ भाग।

इस प्रकार के विस्तृत वर्गीकरण के होते हुए भी अनेक विषय ऐसे हैं, जो एक दूसरे में सम्मिश्रित होकर सङ्कर हो गये हैं। इन परिशिष्टों में उन विषयों का निरूपण किया गया है, जिनकी चर्चा पूर्ववर्ती रचनाओं में नहीं की गयी है तथा सूत्रों के आशय को पूर्णतया हृदयंगम करने के लिए लाभदायक हैं। ये परिशिष्ट कौ० सू० एवं वै० सू० के क्रियाकलापों से पूर्णतया परिचित हैं और उनके परिशेष का प्रतिपादन करके अपने नाम को सार्थक करते हैं। उनमें प्रतिपादित विषयों के अतिरिक्त बहुत से नवीन विषयों तथा कृत्यों का भी इनमें समावेश किया गया है, यथा—लघुलक्षहोम, कोटि होम, तड़ाग विधि, पाशुपत व्रत प्रभृति। कई एक ऐसे कृत्यों का भी इनमें प्रतिपादन किया गया है, जिनका संकेत अथर्ववेद में तो मिलता है, किन्तु सूत्रों में उनकी चर्चा नहीं की गयी, यथा—अथर्ववेद[1] में रात्रि देवता से रक्षा आदि की प्रार्थना की गयी है और सूत्रों में रात्रि-पूजा के किसी कृत्य का विधान नहीं किया गया। किन्तु यहां दो परिशिष्टों विष्टरात्र्या: कल्प (षष्ठ परि०) तथा आरात्रिकम् (सप्तम परि०) में इसका विधान किया गया है। इसी प्रकार वेदि-निर्माण शुल्ब नियमों के अनुसार होता है, किन्तु अथर्ववेद का कोई पृथक् शुल्बसूत्र नहीं है। अत: दो परिशिष्टों (परि० २४-२५) में एतद्विषयक नियमों की विस्तार से चर्चा की गयी है।

न तो चतुरध्यायिका और न ही अथर्वप्रातिशाख्य में ध्वनिशास्त्र के विषय की चर्चा की गयी है। अतः 'वर्णपटल' (परि० ४७) का प्रवर्तन किया गया। वैतानसूत्र में अथर्ववेद के बहुत से मन्त्रों का कोई विनियोग नहीं किया जा सकता, अत: कई परिशिष्टों में प्रतिपादित नवीन कृत्यों में उनका उपयोग किया गया है। यथा—आध्यात्मिक मन्त्रों का स्नान विधि (परि० ४२) में। अतः इन परिशिष्टों का व्याख्यात्मक महत्त्व भी बहुत है, क्योंकि इनमें से बहुत से मन्त्रों की व्याख्या उनकी दैव-शास्त्रीय पृष्ठभूमि समझा कर की गयी है, जिसका ज्ञान आथर्वणिक सूक्तों के विषयों को हृदयङ्गम करने के लिए आवश्यक है[2]। यद्यपि ये रचनाएं उत्तरवर्ती काल की हैं, तो भी इनकी प्रक्रिया तथा प्रतिपादन-शैली कौशिकसूत्र तथा वै०सू० के सर्वथा अनुरूप है। तथा ये इन दोनों के पूरक हैं। इनमें अनेक आचार्यों के नामों तथा उनकी सम्मतियों का उल्लेख किया गया है, यथा—भार्गव, शौनक, गौतम, काङ्कायन, पिप्पलाद, माहकि, गर्ग, आत्रेय, क्रौष्टुकि, पैठोनसि, सुमन्तु, उशनस् प्रभृति। एक ही स्थान पर विविध स्रोतों के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं, यथा—'पुरोहितकर्माणि' में रात्रिकृत्य को पहले तो पद्यों में समझाया गया है,

---

[1] अ० वे० ५, ५।

[2] Vide *Philosophical Meterials of the Atharvaveda* by Edgerten in *Studies in Honour of M. Bloomfield*, p. 117-135.

तदनन्तर पैठीनसि के प्रतिपाद्य का गद्य में प्रतिपादन किया गया है और तदनन्तर उसी के संक्षेप का गद्य में ही पुनरावर्तन किया गया है। एक ही कृत्य के अनेक पुनरावर्तनों से इनका सङ्कलनात्मक रूप सिद्ध होता है। रात्रिकृत्यों के अतिरिक्त कुण्डों के आकारों का भी अनेकबार विधान किया गया है। 'कुण्डलक्षण' (परि० २५, २-५) के अतिरिक्त 'बृहल्लक्षहोम' (परि० ३०,१,४) तथा 'कोटिहोम' (परि० ३१, ५, ४) में इस विषय की पुनरावृत्ति की गयी है।

अनेक रचनाएं इतनी अधिक विकृत हो चुकी हैं कि उनमें संशोधन असम्भव हो गया है। नक्षत्रकल्प, समिल्लक्षण (परि० २६)[१] ऐसी ही रचनाएं हैं। इन रचनाओं के कुछ अंशों के लुप्त हो जाने का ज्वलन्त प्रमाण परि० ६४, २, ७ से उपलब्ध होता है, जहां 'निर्घातलक्षण' के विवरण के विषय में निर्देश किया गया है किन्तु यह विवरण इस समय परिशिष्टों में उपलब्ध नहीं होता।

इन परिशिष्टों की सामग्री का सङ्कलन तर्कसंगत रूप से किया गया है। कर्ता को पूर्वापर विषयों का पूर्ण ज्ञान था। वह किसी विषय का अन्यत्र विवरण देने का सङ्केत भी कर देता है। परि० २७, २, ५ में 'हस्त' का सङ्केत किया गया है, जिसका उल्लेख २६वें परि० में किया गया है। इसी प्रकार परि० २४ में वेदियों के विस्तृत विवरण तत्सम्बन्धी कृत्यों के साथ देने की प्रतिज्ञा की गयी है जिसका पालन आगे चलकर 'लघुलक्षण' (३०, ३, ५) में कर दिया गया है।

यहां प्रत्येक परि० को 'खाण्डों' (खण्ड का भाव) में विभाजित किया गया है। किन्तु यह विभाजन तर्कसङ्गत न होकर सर्वथा यान्त्रिक है। पद्यात्मक परिशिष्टों के प्रत्येक खाण्ड में पद्य संख्या को विषय की उपेक्षा करके भी समान रखने का प्रयास किया गया है। अनेकत्र एक खाण्ड में असमाप्त विषय को अगले खाण्ड में घसीटा गया है।

इन परिशिष्टों का महत्त्व इसी से प्रकट होता है कि कौशिकसूत्र के पद्धतिकार केशव, बृहत्संहिताकार वराहमिहिर[२], सायण, तथा चतुर्वर्गचिन्तामणिकार हेमाद्रि तक ने इनका उल्लेख किया है। हेमाद्रि ने तो व्रतखण्ड, दानखण्ड, परिशेषखण्ड प्रभृति में २५ बार इनका उल्लेख किया है।

परिशिष्टों में राजाओं से सम्बद्ध कृत्यों पर अधिक ध्यान दिया गया है, किन्तु राजा भी ब्राह्मणों की पूजा-अर्चना करते थे। परि० ३४ से ३६ में जादू टोनों

---

[१] तु० बोल्लिग तथा नेजिलाइन, पूर्वोक्त, पृ० १६८।

[२] बृ० सं० ४६, ८३—९८ में परि० ६४, ९, ९-१०, ३१ ; (१९-क) द्र० विण्टर्नित्स W. Z. K. M., २३, १९०९ पृ० ४०१।

का विधान अद्वितीय है। तथा शकुनों एवं उत्पातों के विषय में ये अद्भुत रचनाएं वास्तव में अप्रतिम कही जा सकती हैं। इन रचनाओं में लेखक ने विभिन्न लोक-विश्वासों तथा प्रचलित मान्यताओं का सङ्कलन प्रस्तुत किया है, जिन के मूल रूप का हमें केवल धुंधला सा आभास मिलता है।

इन परिशिष्टों में से वर्तमान ग्रन्थ के सम्पादकों के अतिरिक्त इन से पूर्व भी कई विद्वानों ने इनके छुटपुट सम्पादन का प्रयास किया है। ब्लूमफील्ड ने 'पैप्पलादमन्त्राः' का सम्पादन किया है। इन्द्र महोत्सव (१९) कौशिक सूत्र के १४०वें अध्याय के समान है, जिसका नाम भी यही है। 'धूर्तकल्प' का सम्पादन और अनुवाद गडविन ने किया है। आसुरिकल्प का सम्पादन एवं अनुवाद मैगोन ने किया है। श्राद्धकल्प का सम्पादन तथा अनुवाद कैलैण्ड ने किया है। कौत्सव्य (निरुक्त—निघण्टु) का यास्कीय निघण्टु से तुलनात्मक अध्ययन ब्लूमफील्ड ने, चरणव्यूह का विवेचन तथा 'ग्रहयुद्ध' का सम्पादन, तथा अद्भुतशान्ति के अधिकांश का प्रकाशन तथा अनुवाद वेबर ने किया है। 'औशनसाद्भुतानि' का सम्पादन तथा अनुवाद हैटफील्ड के द्वारा किया गया है।

यद्यपि बोल्लिग-नेजिलाइन ने परिशिष्टों के अनुवाद की प्रतिज्ञा की थी, किन्तु वह पूर्ण नहीं हो सकी।

परिशिष्ट

(१) नक्षत्रकल्प—

अथर्ववेद के पांच[1] कल्पों में से नक्षत्रकल्प सर्वप्रथम निर्दिष्ट है[2] जिस में नक्षत्रों से सम्बद्ध कर्मकाण्ड प्रतिपादित है। किन्तु सायण द्वारा वर्णित नक्षत्रकल्प[3] आजकल उपलब्ध नक्षत्रकल्प से भिन्न है और वास्तव में शान्तिकल्प का द्वितीय अध्याय है, जिसे सायण सदा शान्तियों के विषय में ही उद्धृत करता है। वह नक्षत्रकल्प का सङ्केत कभी भी नहीं करता। सम्भवतः उसके समक्ष यह विद्यमान ही नहीं था। इसमें २८ नक्षत्रों तथा उनसे सम्बद्ध ऋषिकुलों, देवताओं तथा पदार्थों का वर्णन किया गया है। ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए विभिन्न नक्षत्रों में विभिन्न प्रकार के क्रिया-कलापों का वर्णन, यात्रा पर प्रस्थान के पूर्व विशेष नक्षत्र में विशेष भोजन का विधान, नाना प्रकार के शुभाशुभ पदार्थ, विभिन्न नक्षत्रों में राजा के कर्तव्याकर्तव्यों का वर्णन, शत्रु पर आक्रमणार्थ शुभाशुभ नक्षत्रों का ब्योरा तथा

---

[1] (१) कौशिकसूत्र (२) वैतानसूत्र (३) नक्षत्रकल्प (४) आङ्गिरसकल्प तथा (५) शान्तिकल्प।

[2] चरणव्यूह, आथर्वणिक खण्ड।

[3] अथर्ववेद, उपोद्घात, पृ० २५-२६, विश्वबन्धु, सम्पा०।

अशुभ नक्षत्रों के प्रभाव के परिहारार्थ कर्तव्य-कर्मों का विधान, शुभाशुभ शुकनों का विवरण, विविध वस्तुओं का जल में मिश्रण करके नक्षत्रस्नानों की विधि तथा विभिन्न नक्षत्रों में देय विभिन्न प्रकार की दान-दक्षिणा का वर्णन इस रचना के मुख्य-मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। सम्भवतः इसका मूल पैप्पलाद परम्परा में खोजना चाहिए, क्योंकि इसमें शौनकीय अ० वे० १९, ७-८ को सकल पाठ में उद्धृत किया गया है। इसमें प्रशान्त कुम्भ आदि के लक्षण भी दिये गये हैं।

(२) **राष्ट्रसंवर्ग**—इसमें राजा के सर्वविध हितों तथा कल्याण की सुरक्षा के लिए अथर्ववेदी पुरोहित के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। वह ही सर्वप्रकार के उत्पातों के निवारण करने में समर्थ होता है। ऐसे पुरोहित के अभाव में राज्य में अनावृष्टि की शङ्का होती है, वीर पुरुषों का जन्म नहीं होता। अन्य वेदपारग पुरोहित की नियुक्ति के दुष्परिणामों पर प्रकाश डाला गया है। बह्वृच राष्ट्र का नाशक होता है, अध्वर्यु पुत्रों को नष्ट कर देता है, सामवेदी धन का नाश करता है अतः आथर्वण को ही पुरोहित नियुक्त करना चाहिये (४, ३) और वह भी शौनक या पैप्पलाद शाखा का होना चाहिए। **जलद** या मौदशाखीय पुरोहित एक वर्ष के भीतर राष्ट्र को छिन्न भिन्न कर देता है (५, २), इससे शौनक एवं पैप्पलादशाखीय पुरोहितों की न केवल अन्य वेदाध्यायी ब्राह्मणों के प्रति ही दुर्भावना प्रकट होती है अपितु अन्य आथर्वणों के प्रति भी स्पष्ट द्वेष व्यक्त होता है, सम्भवतः इसी कारण अथर्ववेद की ये दो ही शाखायें अब तक जीवित हैं।

इस पुरोहित को कोटि दक्षिणा तथा भूमि प्रदान करने का निर्देश है।

(३) **राजप्रथमाभिषेक**—इसके तीन खण्ड हैं जिसमें राजाभिषेकार्थ सर्वथा नवीन तथा अन्यत्र अप्रयुक्त वस्तुओं के प्रयोग का विधान किया गया है। इसमें ज्योतिषी, चिकित्सक तथा पुरोहित के लक्षण तथा अभिषेक में उनके कृत्यों का वर्णन किया गया है तथा पुरोहित के **परिसार्य** दूषणों पर प्रकाश डाला गया है। अथर्वा के अतिरिक्त अन्य किसी को राजपुरोहित बनाने के दोष गिनाए गए हैं। श्रेष्ठ कुल, सुन्दर आकृति वाले 'भृग्वंगिरोविद्', अङ्गिरस् अथवा वासिष्ठ गोत्री पुरोहित को श्रेष्ठ माना गया है। युवराज अथवा करद राजा के लिए 'लघु-अभिषेक' का विधान किया गया है।

(४) **पुरोहितकर्माणि**—पुरोहित का कर्त्तव्य है कि वह राजकल्याणार्थ सदा स्वस्तिवाचन किया करे तथा राजा को वस्त्र आभूषण आदि मन्त्रपूत करके दिया करे और सर्वविध अमङ्गल के निवारणार्थ सुवर्णदान और तिलदान करवाया करे। भूमिदान और अन्नदान तो साधारण

दान है। प्रातःकाल राजा को शुभ वस्तुओं के दर्शन कराने का प्रबन्ध भी उसी का कर्त्तव्य है। रात्रि में राजा की रक्षार्थ रात्रिदेवी की पिष्टमयी मूर्ति के समक्ष अनेक प्रकार के रात्रिकृत्यों का विधान है। अन्य आवश्यक कृत्यों के अतिरिक्त महाशान्ति, भूमिदोह तथा गोतर्पण का विशेष विधान किया गया है जिनसे राज्य में शान्ति, अन्न की प्रचुर उत्पत्ति तथा गोधन की वृद्धि होती रहे।

(५) **पुष्याभिषेक**—में पुष्यनक्षत्र में कर्त्तव्य राजा के विशेष अभिषेक का विवरण दिया गया है।

(६) **पिष्टराव्याः कल्प**—इसमें रात्रि को राजा की सुरक्षा तथा भूतप्रेत आदि को दूर रखने के लिए रात्रिदेवी की पूजाविधि का विधान है। रात्रिदेवी की आटे की मूर्ति को श्वेत वस्त्र पहनाकर ऊपर स्वर्णछत्र झुलाकर श्वेत भोजन तथा मोदक अर्पित किये जाते हैं। चार दीप जलाकर आरती की जाती हैं। रात्रिदेवी से राजा की शान्ति और सुरक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की जाती है। राजा के सिर पर दीपों से आरती की जाती है। अग्नि में सरसों के बीजों का हवन किया जाता है तथा सरसों के दाने राजा के बिस्तर के चारों ओर छिड़के जाते हैं। चार कङ्कड़ चारों दिशाओं में फेंके जाते हैं। रात्रि की मूर्ति को राजप्रासाद के द्वार पर रख दिया जाता है। इसके अनन्तर राजा को शयनकक्ष में ले जाया जाता है।

(७) **आरात्रिकम्**—इसमें रात्रि के समय पिष्टमय दीप से राजा की तीन बार परिक्रमा करने का विधान है, जिससे उसे गहरी निद्रा आ सके।

(८) **घृतावेक्षण**—इसमें यह विधान है कि प्रातःकाल जागते ही राजा के पास जाकर पुरोहित आशीर्वाद देता है, **शन्तातीय** मन्त्रों से अग्नि में तिल एवं घृत की आहुति प्रदान करता है। एक सौवर्ण, राजत अथवा औदुम्बर पात्र में भरे मन्त्रपूत घृत में राजा अपने मुख को देखता है। उसके सिर और वक्ष पर दही का स्पर्श किया जाता हैं और इस समस्त कृत्य की दक्षिणा के रूप में पुरोहित को कृष्णवर्ण की गौ दी जाती है।

(९) **तिलधेनुविधि**—माघ की पूर्णिमा को गौ तथा वत्स की नाना वर्ण के तिलों से निर्मित मूर्तियों के मुख, कान, नासिका आदि इन्द्रियों में बहुमूल्य, पाषाण, सुवर्ण प्रभृति धातुशकल सन्निविष्ट करके, नाना सुगन्धियों, तथा घृत से उनके अङ्गों को भरकर, वस्त्राच्छादित करके, मृगचर्म पर स्थापित करके ब्राह्मणों को दान देने का विधान है। इससे सभी पापों का क्षय हो जाता है।

(१०) **भूमिदान**—रोहिणी नक्षत्र में पुरोहित यजमान पर बीजों, रसों, बहुमूल्य धातुओं तथा सुगन्धों से युक्त जल का प्रोक्षण करता है। दोनों द्वादश रात्रि तक व्रत करके भूमि पर शयन करते हैं। आज्यभाग पर्यन्त पौर्णमास तन्त्र का अनुष्ठान करके सभी पुरोहित कामसूक्त, कालसूक्त, पुरुषसूक्त तथा महाव्याहृतियों से अग्नि में घृत की आहुतियां देकर भूमि की स्वर्णमयी गोचर्म के आकार की मूर्ति को हिरण्य, रजत मणि-मुक्ता-प्रवाल प्रभृति के पर्वतादि से सुशोभित करके उसकी पूजा करके, पुण्याहवाचन करने के उपरान्त ब्राह्मण को दी जाती है।

(११) **तुलापुरुषविधि**—इसमें स्वर्ण अथवा अन्य बहुमूल्य वस्तु को राजा से तोलकर दान देने की विधि है। इसका उपगमन के शुक्ल पक्ष में चन्द्रग्रहण के समय या किसी अन्य शुभ अवसर पर अनुष्ठान करने का विधान है। सहस्र मुद्राएं या प्रशस्त ग्राम दक्षिणा में दिया जाता है।

(१२) **आदित्यमण्डल**—में यव, गोधूम आदि के चूर्ण का आदित्यमण्डलाकार अपूप, गुड़, घृत सहित पात्र में स्थापित करके उसके ऊपर स्वर्णशकल रखकर रक्तपुष्पों से पूजन करके दान में देने का विधान है।

(१३) **हिरण्यगर्भविधि**—में राजा को हिरण्यमय पात्र में हिरण्यकलशों से सुवर्णयुक्त जल से स्नान कराके हिरण्यगर्भसूक्त, अंहोमुच्सूक्त तथा शन्तातीय सूक्त से अभिमन्त्रित करके, एक सौवर्णपात्र में प्रविष्ट कराके उसे वाक्संयमन करने तथा इन्द्रियों को विषयों से हटाकर मन से भगवान् हिरण्यगर्भ का ध्यान करने को कहा जाता है। १७ 'मात्रा' काल तक उस पात्र में रहकर वह बाहर निकल आता है। उसे 'हिरण्यगर्भ चक्र' से दबाया जाता है। अप्रतिरथ सूक्त से हवन करके वरुण की स्तुति की जाती है। राजा हिरण्यगर्भ द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है।

(१४) **हस्तिरथदान विधि**—चन्द्रमा के हस्तनक्षत्र में होने पर या पूर्णिमा या अमावस्या या अन्य किसी शुभ अवसर पर स्वर्ण, रजत अथवा काष्ठ के एक-चक्र रथ को सात, चार, दो या एक हस्ती से खिंचवा कर दान में देने का विधान यहां किया गया है।

(१५) **अश्वरथदान विधि**—उपर्युक्त विधि के समान ही अश्व-वाह्य रथ को दान में देने का विधान है।

(१६) **गोसहस्र विधि**—आज्याहुति के अनन्तर मोटे चावलों (महाव्रीहि) के सहस्रवीं गौ के दूध में पकाये गये ऐन्द्र तथा सौम्य चरु की आहुति देकर पांच नदियों के जल से सहस्र में से प्रत्येक सौवीं गौ (कुल दस) को स्नान कराके शेष का केवल प्रोक्षण करके, दसवीं गौ के स्नान में

उपयुक्त जल से राजा का प्रोक्षण करके, गौओं को अलङ्कृत करके (सहस्रवीं प्रथम), उनका पूजन करके, उन्हें खिला-पिलाकर सहस्रवीं (दसवीं) गौ की पूंछ पकड़ कर, राजा सहस्र गौओं की प्रदक्षिणा करता है। तदनन्तर सभी गौएं ब्राह्मणों को दान की जाती हैं और दक्षिणा पुरोहित को मिलती है।

(१७-१८, १८[ब]) **राजसांवत्सरीयम्**—इसमें राजा द्वारा आश्विन मास की शुक्ला तृतीया से आरम्भ करके वर्ष भर के विविध कृत्यों का विधान किया गया है। आश्विन शुक्ला तृतीया को अश्व नीराजन, नवमी को अपराह्ण में **वाहनानामभयं कर्म**, पूर्णिमा को अपराह्ण में हस्ति-नीराजन, राजा के जन्मदिन से सम्बद्ध कृत्य समाप्त करके माहेन्द्र चरु का श्रपण, द्वितीय चरु लोकपालों की अग्नि में प्रदान करके राजा को स्पर्श करके इन्द्र के लिए आहुति ; आश्विन मास सम्बन्धी अन्य कृत्यों को सम्पन्न करके कार्तिकी पूर्णिमा को वृषोत्सर्ग ; फिर आग्रायणेष्टि ; पौष्य पूर्णमासी में पौष्याभिषेक ; फाल्गुनी में रात्रि को "होलाका" (१८[ब], ११), महानवमी को 'होलाका' का प्रज्वलन ; अथवा नीराजन (१२) ; चैत्र पौर्णमासी को **तेजोव्रतम्** ; मदनत्रयोदशी (चैत्री) और वैशाखी पूर्णिमा को मध्याह्न में वापी, पुष्करिणी अथवा घर में सर्व प्रकार के सुगन्ध मिलाकर, अभिमन्त्रित करके राजा का स्नान ; ग्रीष्मप्रतिपद् को स्नान ; श्रावणी पौर्णमासी में 'विजय' मुहूर्त में रक्षाबन्धन ; आदित्य मण्डक ; जन्म नक्षत्रयाग तथा वृत्तिका-रोहणादि कर्म करने का सविस्तार विधान किया गया है।

(१८[स]) वृषोत्सर्ग (कौ०सू० २४, १९-२३)। कार्तिकीय पूर्णिमा अथवा आश्विनीय पूर्णिमा में गोष्ठ में पौर्णमासेष्टि का आज्यभागान्त अनुष्ठान करके रुद्र तथा रौद्रगणों को आज्य की आहुति प्रदान करके पूषा को हवि की आहुति देकर इन आहुतियों के परिशेषों को वृषभ पर लाद कर उसके दाहिने कान में **य इन्द्र इव देवेषु**[1] मन्त्र का जप करे, तदनन्तर बछड़ों का अभिमन्त्रण करके वृषभ तथा बछड़ों की प्रदक्षिणा करके प्रोक्षण करके वृष को ईशान दिशा में हांक देवे। दुधारी गौ दक्षिणा के रूप में देने का निर्देश है।

(१९) **इन्द्र महोत्सव**—यह कौ० सू० १४० से लिया गया है किन्तु इसमें कुछ मन्त्र अधिक हैं। प्रौष्ठपदा की पूर्णिमा या श्रवणानक्षत्र के अन्तर्गत आश्विन की अष्टमी के दिन यह अनुष्ठान किया जाता है। उपवसथ

---

[1] अ० वे० ९, ४, ११।

के दिन राजा और पुरोहित दोनों व्रत ग्रहण करते हैं। अगले दिन आहुति के अनन्तर एक ऊर्ध्वदण्ड स्थापित किया जाता है और उस समय होने वाले शकुनों पर ध्यान रखा जाता है। राजा तथा उसके परिजन दिन में तीन बार तीन, पांच या सात रात्रियों तक इन्द्र की पूजा करते हैं तथा ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। अन्त में राजा ऐन्द्र-आहुति से अनुष्ठान को सम्पन्न करता है और अवभृथ स्नान करके ब्राह्मणों को दक्षिणा देता है।

डा० गोंडा के मतानुसार इस अनुष्ठान का वास्तविक उद्देश्य प्रकृति की शक्तियों को उजागर करना तथा मानव की विशिष्ट आन्तरिक शक्तियों को जागृत करना है[1]।

(१९(ब)) **ब्रह्मयाग**—ब्रह्मा के पूजनार्थ ब्रह्मयाग का विधान किया गया है। वेदि को गौ के गोबर से लेपकर रात्रि को बलि प्रदान की जाती है घृत दीप प्रज्वलित किये जाते हैं। पण्डाल के मध्य में श्वेत-चूर्ण से एक मण्डल बनाकर उसके मध्य में ब्रह्मा की मूर्ति स्थापित करके चन्दन, पुष्प आदि से पूजा करके वस्त्र तथा भोजन भेंट किया जाता है। यजमान प्रदक्षिणा करके दण्डवत् प्रणाम करता है। ब्रह्मा की मूर्ति को पञ्चगव्य, शान्त्युदक तथा फलों के रस से स्नान कराया जाता है, राजा उसके समक्ष नतमस्तक होकर अपनी कामनापूर्ति के लिए प्रार्थना करता है तथा ब्राह्मणों, निर्धनों तथा अपाहजों को भोजन कराया जाता है। बन्दियों को मुक्त करके सबकी सुरक्षा की प्रार्थना की जाती है, वृक्षों तथा पशुओं की हिंसा का निषेध कर दिया जाता है।

इस कर्म की यह विशेषता है कि इसमें "ब्रह्मजज्ञान सूक्त" से याग किया जाता है।

(२०) **स्कन्द याग या धूर्त कल्प**—फाल्गुनी, आषाढ़ी और कार्तिकी पूर्णिमा को यह याग किया जाता है। षष्ठी के दिन उपवास करके ईशान दिशा में शुद्ध स्थान पर तेरह अरत्नी के एक मण्डल में सभी वृक्षों के पत्तों की माला, घण्टा, पताका तथा मालाएँ एवं 'प्रतिसर' ('गण्डा') रख कर मध्य में दर्पण स्थापित करके स्कन्द (=धूर्त) का आवाहन किया जाता है। स्कन्द की मूर्ति का संवेशन करके पाद्य, गन्ध, धूप, दीप, पर्ण अर्पित करके स्नान कराकर दध्योदन, क्षीरोदन आदि नाना प्रकार

---

[1] See India Antique, Leiden, 1947, p. 146-155.

के पदार्थ प्रस्तुत करके मन्त्रपूर्वक भूमि उल्लेखन, अग्नि-प्रज्वलन, अनुमन्त्रण आदि करके कामसूक्त आदि मन्त्रों से अग्निस्विष्टकृत् में आहुति देकर स्कन्द की स्तुतिपूर्वक आहुति दी जाती है। स्कन्द की प्रदक्षिणा करके मन्त्रपूर्वक 'प्रतिसर' को यजमान बाँध लेता है। तदनन्तर देवता-विसर्जन का विधान है।

(२१) **सम्भार लक्षण** में यज्ञादि की सामग्री का वर्णन है।

(२२) **अरणि लक्षण।**

(२३) **यज्ञपात्र लक्षण।**

(२४) **वेदि लक्षण।**

(२५) **कुण्ड लक्षण।**

(२६) **समिल्लक्षण।**

(२७) **स्रुव लक्षण।**

(२८) **हस्त लक्षण।**

(२९) **ज्वाला लक्षण।**

(३०) **लघुलक्षहोम।**

(३०-ब) **बृहल्लक्षहोम।**

(३१) **कोटिहोम** के विषय स्पष्ट हैं।

(३२) **गणमाला**—इसमें यज्ञयाग में विनियोज्य कुछ सूक्तों के नामों की व्याख्या की गयी है।

(३३) **घृतकम्बल**— यह रचना गद्यपद्यात्मक है, और इस कृत्य का अनुष्ठान
सर्वपापों के नाशार्थ, सर्वकामार्थसिद्धि तथा सर्वरोग क्षयार्थ किया
जाता है। इसके नाम के अनुरूप ही राजा को एक कम्बल में लपेट
कर उस पर घृत छिड़का जाता है। वैसे 'घृतकम्बल' ब्रह्मा के ज्येष्ठ
पुत्र का नाम भी है। उसके शरीर के अवयव अनेक सूक्तों, गणों तथा
मन्त्रों के द्योतक हैं। शुभ अवसर पर रात्रि को ग्राम से बाहर अग्नि
प्रज्वलित करके चौराहे पर यजमान कृष्ण वस्त्र धारण करके 'निर्ऋति'
सम्बन्धी याग करता है तदनन्तर वह स्नान करके श्वेत वस्त्र धारण
करता है एवं शान्त्युदक का आचमन करता है, घृत की आहुतियां प्रदान
करके हविष्य को 'कृत्यादूषण', 'चातन', 'मातृणामा', 'वास्तोष्पत्यगण'
मन्त्रों से घृत में मिश्रित करके इस होम में दर्भ, औषधियाँ आदि अग्नि
के पश्चिम में स्थापित घृत पात्र में डाल दी जाती हैं और राजा को
कम्बल में लपेट कर उस पर यह घृत छिड़का जाता है—शत्रु की मृण्मयी
मूर्ति को मन्त्रपूर्वक खण्डित किया जाता है, राजा को रक्षाकरण्डक

बाँध कर उस पर घृत और गुग्गुल का लेप किया जाता है। राजा दर्पण में मुखावीक्षण करके दान दक्षिणा देकर कृत्य सम्पन्न करता है। इस कृत्य में महाव्याहृतियों, सावित्री, ब्रह्मजज्ञान, कृत्यादूषण मंत्रों, वास्तोष्पत्यों आदि अनेकविध मन्त्रों से कई प्रकार की आहुतियाँ दी जाती हैं।

(३४) **अनुलोम कल्प**—में प्रतिलोम सावित्री के स्वर, छन्द, ऋषि, देवता का वर्णन किया है। विलोम तथा अनुलोम सावित्री के [illegible]यानुसार कामनाओं की सिद्धि होती है। इसमें 'स्वाहा' के स्थान पर 'फट्' विध उच्चारण किया जाता है।

(३५) **आसुरीकल्प**—में अनेक प्रकार के अभिचारकर्म, शत्रु के नाश अथवा परिभव, उसे अपस्मार, नेत्रस्फोटन प्रभृति अनेक प्रकार के कष्टदायक रोगों से आक्रान्त करने के कृत्य, काली सरसों की पिष्टी का पुतला बनाकर मन्त्र पूर्वक खण्ड-खण्ड करके आक की अग्नि में आहुति देकर शत्रु का समूलोल्मूलन करने की विधि, सन्तानोत्पत्ति अथवा गर्भसुख एवं वशीकरण की विधियां इसमें प्रतिपादित हैं।

(३६) **उच्छुष्म कल्प**—आसुरीकल्प के असफल हो जाने पर इस कृत्य का आश्रय लिया जाता है, जिसमें रुद्र की सहायता से अनेक प्रकार की सिद्धियां प्राप्त की जा सकती हैं। इसमें चाण्डाल आदि नीच जातियों के विरुद्ध अनेक प्रकार के जादू-टोने करने का विधान है। धनधान्य के चौगने करने, ग्रामसरपञ्च को धन हीन बनाने, पुत्र की बुद्धि प्रखर करने अथवा किसी को सर्वथा उन्मत्त करने, आभूषण प्राप्त करने, वृष्टि कराने, कानूनी झगड़ों में विजय प्राप्त करने, दिव्य सुन्दर स्त्रियों को प्रकट करके उनसे कामवासना तृप्त करने, अन्य राजा को विशेष पुरोहित की सेवा स्वीकार करने एवं शत्रु-गृह को भस्मसात् करने के लिये अनेक अनुष्ठानों का विधान इस कल्प में किया गया है।

(३७) **समुच्चय प्रायश्चित्त**—इसमें अनेक प्रकार के कर्मों में व्यतिकर्म, विकार या बाधा हो जाने पर प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है। यथा—उलूखल से मुसल गिर जाने पर, यज्ञीय पदार्थों को गौ के स्पर्श करने पर, आज्यस्थाली गिर जाने पर, पवित्र के नष्ट हो जाने पर, बर्हि के जल जाने पर, भूत से हविः आदि के प्रयोगवञ्चित हो जाने पर या अपवित्र हो जाने पर, हिलते या दोषपूर्ण दान्तों वाले शिष्य के उपनयन करने पर, 'मदुघमणि' (यन्त्र) के नष्ट हो जाने पर, विवाह-अग्नि के बुझ जाने पर, कृत्य के समय के व्यतिक्रम होने पर तथा इसी प्रकार के अन्य दूषणों के लिये प्रायश्चित्तों के निर्देश किये गये हैं। जो कौ०सू० (१३ अध्याय) से लिये गये हैं।

(३८) **ब्रह्मकूर्चविधि**—को शरीर तथा आत्मा को पवित्र करने के लिए सर्वाधिक प्रभावशाली माना गया है। यह कृत्य मासिक, पाक्षिक या साप्ताहिक हो सकता है। इससे पूर्व देवतर्पण करना चाहिये तथा पञ्चगव्य को पीना चाहिये, जिसके लिए लोहित गौ के दूध, श्वेत के दहीं, कपिला के घृत, नीलवर्ण गौ के मूत्र तथा कृष्णा गौ के गोबर का प्रयोग विहित है। यदि ये न मिल सकें तो कपिला के ही पञ्चगव्य को प्रयोग में लाना चाहिये। दर्भचूली (ब्रह्मवर्च) से इनकी आहुतियां अग्नि, सोम, प्रजापति, बृहस्पति, विष्णु तथा रुद्र के लिए देनी चाहिये। शेष को कुश से पवित्र करके पी जाना चाहिये।

(३९) **तडागादिविधि**—अगस्ति के द्वारा यह विधि तड़ागों, कूपों, बावलियों, जलाशयों के पवित्रीकरणार्थ प्रवर्तित की गयी है। इसमें पृथ्वी के लिए ओदन एवं घृत तथा समिधाओं की समन्त्रक आहुतियां दी जाती हैं। तदनन्तर इनके जल को सर्वप्रथम गौ को पिलाना चाहिये। अनेक जलजन्तुओं की धातुमयी मूर्तियां जल में प्रवाहित की जाती हैं। अन्त में पुरोहित और यजमान दोनों को ही इन जलाशयों में स्नान करना चाहिये।

(४०) **पाशुपत व्रत**—सम्भवतः यह व्रत सन्न्यासियों के लिए प्रतिपादित है। क्योंकि इसमें जटी, मुण्डी तथा पञ्चशिख सन्न्यासियों तथा कमण्डलु, कपाल-प्रभृति उपादानों की चर्चा की गयी है। यह व्रत एक मास से लेकर जीवन पर्यन्त (नैष्ठिक) किया जा सकता है। इसे महादेव के मन्दिर में ही करना चाहिये। शिव की मूर्ति को दुग्ध, घृत, चन्दन से स्नान कराके पुष्पों, धूप प्रभृति से पूजन करना चाहिये। शिव के मयूर प्रभृति आभूषणों तथा वृषभ आदि की स्तुति भी विहित है। शिव की मूर्ति को अग्नि की दक्षिण दिशा में स्थापित करके, रुद्र-सावित्री से आवाहन करके यव तथा घृत की आहुतियां अग्नि में देनी चाहियें। व्रती को यह सब कर्म श्वेत वस्त्र धारण करके करना चाहिये और शरीर पर भस्म लगानी चाहिये, जो गंगा-यमुना में स्नान के समान पवित्र करती है। व्रती को मौञ्जी मेखला, पलाश, बिल्व अथवा अश्वत्थ का दण्ड अथवा खड्ग, परशु या खट्वांग प्रदान करना चाहिये।

(४१) **सन्ध्योपासनविधि**।

(४२) **स्नानविधि**।

(४३) **तर्पणविधि**।

(४४) **श्राद्धविधि**।

(४५) **अग्निहोत्र होमविधि**—ये सब नामों से स्पष्ट हैं।

(४६) **वेदव्रतम् उत्तमपटलम्**—यह वार्षिक वेदव्रत उस आचार्य द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिये जिसके पास ब्रह्मचारी अध्ययनार्थ, उपस्थित होता है। इसमें तीनों वेदों की प्रथम तथा अन्तिम ऋचाओं वर्गादि वर्गोत्तम, पदादि पदोत्तम, काण्डादि काण्डोत्तम, अनुवाकादि अनुवाकोत्तम, सूक्तादि सूक्तोत्तम मन्त्रों से हवन का विधान किया गया है। अथर्ववेद के समाससूक्तों (१९, २२-२३) का भी प्रयोग विहित है। व्रती को माष मसूर प्रभृति का भक्षण तथा मथानो से मथित [illegible] पयानुसार का पान-भोजन करना चाहिये और दिन में तीन बार। विविध उत्तरपटल में शिरोव्रत, यमव्रत, भृङ्गारव्रत, मित्रव्रत भी प्रतिपादित है, जिनमें दुग्ध तथा लवण वर्जित हैं। एक वस्त्र धारण करने का विधान है। वेदव्रत के आदि और अन्त में दुग्ध में पकाये हुये चावलों के निर्वपन का विधान है।

(४७) **वर्णपटल**—अथर्ववेद प्रातिशाख्य में वर्णमाला का निरूपण नहीं किया गया, अतः यहां उस त्रुटि की पूर्ति की गयी है[1]।

(४८) **कौत्सव्य निरुक्त निघण्टु**[2]—इसमें निघण्टुओं (शब्दों) की दीर्घ तालिका है, जो ६९ उपबन्धों में दी गयी है। यह यास्क के निरुक्त के समान निरुक्त नहीं है। शब्द प्रायः वही हैं किन्तु इनका क्रम सर्वथा भिन्न है और रॉथ द्वारा प्रकाशित द्वितीय पाठ वाले शब्दों से मिलते हैं[3]। कहीं-कहीं यास्क से मिलती-जुलती निरुक्त की सी सामग्री भी पायी जाती है। सर्वाधिक दिलचस्प सामग्री जो आथर्वण कही जा सकती है, ११६ आथर्वण-शब्दों का समूह है, जो अनेकार्थक नैघण्टुकों में जोड़ा गया है। किन्तु परिशिष्ट अत्यन्त भ्रष्ट हैं।

(४९) **चरणव्यूह**[4]—इस चरणव्यूह में ऋग्वेदीय शाखाओं में 'साध्यायन' भी है, जो अन्यत्र नहीं पायी जाती। ऋचाओं की संख्या १०५८०½ है।

यजुर्वेद की २४ शाखायें इस प्रकार परिगणित हैं—काण्व, माध्यान्दिन, जाबाल, शापेय, श्वेत, श्वेततर, ताम्रायणीय, पौर्णवित्स, आवटिक, परमावटिक,

---

[1] ह्विटने, 'अथर्ववेद प्रातिशाख्य' जे०ए०ओ०एस० ७ ; पृ० ३३३-६१६।

[2] ब्लूमफील्ड ऑन् दि सोकाल्ड निरुक्त ऑफ कौत्सव्य, जे० ए० ओ० एस०, १५ पृ० XLVIII.

[3] तु० बेबर—*Zur Textgeschichte der Veda Saṁhitas*, *I.S.* IV, p. 431 ff.

[4] *Cf.* W.Z. Siegling, *Dic Rezensionen des Caraṇavyūha*, Berlin, 1906.

हौष्य, धौष्य, खाडिक, अह्वरक, चरक, मैत्र, मैत्रायणीय, हारितकर्ण, शालायनीय, मर्चकठ, प्राच्यकठ, कपिष्ठल कठ, उपल तथा तैत्तिरीय ।

ये नाम अन्य चरणव्यूहों से बहुत अंशों में भिन्न हैं । इनमें कई नाम ऐसे हैं, जो अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होते । कई-एक में पाठ-भेद के कारण भेद हो गया है । विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस समय प्रसिद्ध शाखायें—मानव, भारद्वाज, आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ यहां सर्वथा उपेक्षित हैं । वाजसनेयों की मन्त्र संख्या १९०० बतायी गई है, जो अन्यत्र भी पुष्ट होती है । सामवेदीय शाखाओं के नाम इस प्रकार हैं—

> राणायनीय, सार्धमुग्र (शाट्यमुग्र-सात्यमुग्र), कालाप, महाकालाप, कौथुम, लाङ्गलिक ।

कौथुमों के छः भेद इस प्रकार हैं—सारायणीय, बातरायणीय, वैतधृत, प्राचीन, तेजस, अनिष्टक, जो अन्यत्र वर्णित शाखाओं से बहुत भिन्न हैं । विशेषता यह है कि यहां भी उपलब्ध जैमिनीय शाखा का उल्लेख नहीं किया गया । अथर्ववेद की नौ शाखाओं की चर्चा की गई है, जो अन्यत्र वर्णित शाखाओं से मेल खाती है ।

एक महत्त्वपूर्ण सूचना यह दी गयी है कि गोपथब्राह्मण के सौ प्रपाठक थे । उसके अब केवल पूर्ण और उत्तर दो ही ब्राह्मण अवशिष्ट हैं ।

(५०) **चन्द्रप्रातिपदिकम्**—में प्रतिपदा के चन्द्रदर्शन के समय कर्तव्य कर्म का प्रतिपादन किया गया है । तथा चन्द्रमा के मानवजीवन पर विविध प्रभावों का विवरण प्रस्तुत किया गया है । उन रोगों की भी यहां चर्चा की गयी है जो चन्द्रमा की मानवाकार आकृति से प्रभावित होते हैं तथा क्रोष्टुकि द्वारा प्रतिपादित चन्द्रमा की आठ स्थितियों का विवरण दिया गया है । चन्द्रमा के विविध रंगों तथा सूर्य में दृश्यमान नाना शकुनों का वर्णन भी यहां किया गया है ।

(५१) **ग्रहयुद्धम्**—में ग्रहों के चार प्रकार के युद्धों का वर्णन है । ग्रहों के जन्म स्थान, प्रभाव, चन्द्र और ग्रहों की स्थिति के कारण पारस्परिक प्रभाव, ग्रहों की पराजय के प्रभाव तथा नाना प्रकार के शकुनों तथा ग्रहों के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है । चार प्रकार के ग्रहयुद्धों की चर्चा के अनन्तर नव-ग्रहों में प्रत्येक की पराजय के मनुष्यों पर नाना प्रकार के प्रभावों के उल्लेख के उपरान्त इन चतुर्विध युद्धों के समय नाना प्रकार के शकुनों की पहचान का निर्देश भी किया गया है ।

(५२) **ग्रहसंग्रह**—में पद्मयोनि ब्रह्मा शौनक को ग्रहों के सम्बन्ध में शिक्षा प्रदान करते हैं, जिसमें न केवल ग्रहों के विषय में, अपितु ग्रहपुत्रों के विषय में भी सूचनाएं दी गयी हैं। यहां ९९१ दिव्य केतुओं की चर्चा भी की गयी है। इस विषय में आचार्य गर्ग की सम्मति को आधार माना गया है, जिसने आगे चलकर इनमें 'दिक्पुत्रों' को सम्मिलित करके इनकी संख्या एक सहस्र कर दी है !

इस प्रकरण में 'स्थावरों' तथा 'कूटस्थान' दिग्बिन्दुओं [illegible]यानुसार विविध शकुनों के ज्ञान का उल्लेख किया है।

(५३) **राहुचार:**—में राहु के उदय के शकुन, चन्द्रग्रहण के समय राहु के आकार तथा स्वरूप, रंग के महत्त्व, राजा पर ग्रहण के प्रभाव तथा ग्रहण के समय कर्तव्य व्रत, जप आदि का वर्णन है।

(५४) **केतुचार:**—यहां केतुओं के आकार-प्रकार के विषय में ऋषि लोग भार्गव को शिक्षा देते हैं।

(५५) **ऋतुकेतुलक्षणम्**—में ऋतुओं पर केतुओं के प्रभाव का प्रतिपादन है।

(५६) **कूर्मविभाग**—में पूर्वशिरा पृथ्वी को कूर्म के आकार का कल्पित किया गया है। इसके ९ खण्ड हैं, जिनमें प्रत्येक तीन-तीन ग्रहों के प्रभाव में हैं।

(५७) **मण्डलानि**—में सात नक्षत्रमण्डलों का वर्णन किया गया है। भचाल आदि उत्पात अग्नि, वायु, वरुण तथा महेन्द्र के प्रभाव के कारण होते हैं।

(५८) **दिग्दाहलक्षणम्**—में दिग्दाह की स्थिति के उत्पादक देवताओं का वर्णन तथा विविध रंगों वाले दिग्दाहों के विभिन्न प्रभावों का वर्णन किया गया है जो 'महाशान्ति' से शान्त होते हैं।

(५८-ब) **उल्कालक्षणम्**—पुण्यशाली व्यक्ति तारों के रूप में चमकते हैं और पुण्य क्षीण होने पर उल्काओं के रूप में गिर पड़ते हैं। उल्काओं के गिरने और उनको गिरते हुए देखने पर होने वाले अपशकुनों का वर्णन इस रचना में किया गया है। उल्काओं के प्रकारों तथा उनके प्रभावों पर भी प्रकाश डाला गया है।

(५९) **'विद्युल्लक्षण'**—तथा

(६०) **'निर्घातलक्षणम्'**—में क्रमशः विद्युत् तथा बवण्डर के विषय में चर्चा की गयी है।

(६१) **परिवेशलक्षणम्**—चन्द्र तथा सूर्य के चारों ओर मण्डलाकार वृत्त को परिवेश (ष) कहते हैं। यहां 'परिवेश' के स्थान पर सन्ध्याकालीन मेघों का

वर्णन किया गया है। उनके विविध प्रकार के रंगों के प्रभावों का विवरण देकर वृष्टि और अकाल के लक्षणों की चर्चा की गयी हैं। मेघों के चतुर्विध-युद्धों तथा तीन भावों का भी वर्णन यहां उपलब्ध होता है।

(६२) **भूमिकम्पलक्षणम्**—में भूकम्प के चार देवताओं और उनके मनुष्य जीवन पर प्रभावों का विवरण दिया गया है।

(६३) **नक्षत्रग्रहोत्पातलक्षणम्**—वास्तव में यह 'परिवेशलक्षण' है इसका शीर्षक किसी कारण विपर्यस्त हो गया है।

(६४) **उत्पातलक्षणम्**—में भूकम्प, निर्घात तथा गन्धर्वनगर का वर्णन तथा प्रकार और प्रभाव की चर्चा की गयी है। राजविनाश तथा अकाल के सूचक ये उत्पात अत्यन्त भयावह माने गये हैं। इस रचना में ग्राम अथवा नगर के विनाश के सूचक शकुनों का विवरण है एवं सर्पों तथा मेण्ढकों से भी शुभाशुभ सूचक शकुनों की सूचना प्राप्त करने के उपायों पर प्रकाश डाला गया है। पागलों, बच्चों तथा स्त्रियों के शकुनों का भी रोचक वर्णन प्राप्त होता है।

(६५) **सद्योवृष्टिलक्षणम्**—सूर्य, चन्द्र, तारा, वायु, मेघ, सन्ध्याकालीन आकाश का स्वरूप, सभी से तुरन्त होने वाली वृष्टि के अनुमान लगाने के उपाय समझाये गये हैं।

(६६) **'गोशान्ति कर्म'**—गोष्ठ में किया जाता है। उस दिन पुरोहित को दिन भर उपवास करके स्नान के उपरान्त नवीन वस्त्र धारण करके गोबर का शिवलिंग बनाकर उसका दुग्ध, घृत आदि से पूजन करके दुग्ध, दही तथा घृत से 'प्राणों' के लिये होम करके, 'आज्यतन्त्र' को 'अभ्यातान' पर्यन्त सम्पन्न करके सरसों, तिलों, भुने हुये चनों, इध्मों को दही, मधु तथा घृत से सान कर अग्नि में हवन करके मन्त्रपूत जल से गौ के प्रोक्षण का विधान है।

(६७) **अद्भुतशान्ति**—इसमें शकुनों को सात विभागों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक प्रकार के अपशकुन और विपत्तियों के अधिपति ये सात देवता हैं, जिन्हें शान्त करने के उपायों का निर्देश यहां किया गया है। ये देवता इन्द्र, वरुण, यम, अग्नि, कुवेर, विष्णु तथा वायु हैं। इनके कोप के कारण आई हुई विपत्तियों के परिहार के उपायों का प्रतिपादन यहां किया गया है।

(६८) **'स्वप्नाध्याय'**—में स्वप्नों के समय तथा स्वरूप के अनुसार उनके प्रभावों तथा तज्जन्य घटनाओं के पूर्वाभासों तथा उनके परिणामों के प्रतिबन्धार्थ प्रतिपादित उपायों का विवरण दिया गया है। इस विवरण के दो

मुख्य स्रोत हैं—एक पद्मयोनि कृत 'शुक्राचार', द्वितीय क्रोष्टुकि-विरचित 'स्वप्नाध्याय' जिसे शकुन-विशेषज्ञों ने शौनक को पढ़ाया था। मनुष्यों के स्वभावों पर ग्रहों का प्रभाव तथा इनके निर्माण में योगदान, पित्त प्रकृति वाले लोगों द्वारा अधिक स्वप्नदर्शन, कफ प्रकृति के लोगों का शारीरिक स्वरूप तथा इन्हें आने वाले स्वप्न, तथा वातप्रकृति वाले लोगों को आने वाले स्वप्नों के विवेचन के अनन्तर स्वप्नों के फल तथा उनके फलीभूत होने का समय, जो रात्रि में स्वप्न देखने के समयानुसार भिन्न-भिन्न होता है तथा स्वप्नों के प्रभावों के निराकरणार्थ विविध क्रियाकलापों का विवरण यहां दिया गया है।

(६९) **अथर्वहृदयम्**—इसमें बच्चों के छोटे-मोटे शारीरिक विकारों तथा जन्मजात शारीरिक या मानसिक विकृतियों तथा उनके प्रतिकारों का वर्णन किया गया है।

(७०) **'भार्गवीयानि'**—में भृगु द्वारा प्रवर्तित आथर्वण-विद्या का विवरण दिया गया है। इसमें इस बात को बलपूर्वक कहा गया है कि अपशकुनों के निरासार्थ चुने गये ऋत्विजों का ब्रह्मा अवश्य ही आथर्वण होना चाहिये। इस प्रकरण में महाशान्ति, कोटिहोम सदृश कर्मों के सम्पादन पर बल दिया गया है। इसमें 'कर्मसङ्कर' से बचने का भी विधान किया गया है।

(७०-ब) **'गार्ग्याणि'**—में गार्ग्य द्वारा प्रतिपादित विविध प्रकार की विकृतियों का वर्णन है, जिनमें वायव्य, सस्यजन्य, वृक्षों से सम्बद्ध, प्रसव से सम्बद्ध, वृष्टि विषयक, अग्नि से उत्पन्न विकार सम्मिलित हैं। इस प्रकरण के अनेक श्लोकों का साम्य 'गर्गसंहिता' से उद्धृत श्लोकों से बहुत अधिक है। किन्तु विचित्र बात यह है कि इस कृति में गर्ग के नाम का उल्लेख कहीं भी नहीं किया गया, तो भी अन्तिम भाग में, जहां इस रचना का सार संगृहीत है, 'गार्ग्य' का उल्लेख किया गया है। वर्तमान रचना का अध्यापन ब्रह्मा ने गौतम को कराया था, इस बात का उल्लेख आरम्भ में ही कर दिया गया है।

(७०-स) **बृहस्पत्यानि**—में बृहस्पति द्वारा प्रतिपादित विकृतियों तथा उनके परिहार का विवरण है।

(७१) **औशनसाद्भुतानि**—में विचित्र शकुनों का उल्लेख है, यथा आकस्मिक ऋतुविषय, पशु पक्षियों के व्यवहार में वैचित्र्य, स्थावर वृक्ष प्रभृति

का चलने लगना, पर्वतों के आकार में परिवर्तन अथवा पर्वतों से विचित्र ध्वनियों का सञ्चार, इन सब विचित्र घटनाओं से किसी न किसी उत्पात की आशंका होती हे। गौ से अश्व अथवा स्त्री से पशु, सर्प या पक्षी के जन्म, राजा पर आने वाली विपत्ति के सूचक हैं। बिना अग्नि के पदार्थों का जल उठना, अतिवृष्टि, चैत्यवृक्ष का हंसना, चिल्लाना या रोना, चलने लगना, देवताओं द्वारा भेजी जाने वाली विविध विपत्तियों के पूर्वसूचक हैं। बिना ऋतु के फलोत्पत्ति, मूर्तियों का चलने या बोलने लगना, चित्रों, मूर्तियों या वेदियों में आकस्मिक परिवर्तन, कूप, तड़ाग अथवा झील में आग लगना, कुत्तों का रोना या हंसना, बिल्लियों का चिल्लाना, नदियों में कीचड़, मृत-मछलियों या मगरमच्छों का दृष्टिगोचर होना ये सब असाधारण उत्पात अन्य राजा के द्वारा देश पर आक्रमण के सूचक हैं।

(७२) **महाद्भुतानि**—में इसी प्रकार की अन्य अद्भुत परिस्थितियों का वर्णन किया गया है। यहां वर्णित अनेकों अपशकुनों के बाद 'अमृत-महाशान्ति' कर्म करने का विधान है। 'अनग्निज्वलन' (बिना अग्नि के जल उठना) के बाद 'ब्रह्म महाशान्ति' कर्म करना चाहिये।

नक्षत्रकल्प

यह नक्षत्रकल्प पूर्ववर्णित नक्षत्रकल्प से भिन्न है। यहाँ नक्षत्रों को देवताओं के निवास स्थान के रूप में कल्पित किया गया है। रोहिणी को चन्द्रमा की पत्नी कहा गया है। चन्द्रमा प्रजापति के एक शाप के कारण क्षीण होता है। २८ नक्षत्र बहुत प्राचीन काल से भारतीयों को ज्ञात थे। तै० सं०; का० सं०, वा० सं० तथा अ० वे० सं० सभी २८ नक्षत्रों का क्रमिक उल्लेख करते हैं। अ० वे० सं० (१९, ७) में तो उनके नाम भी गिनाये गये हैं। अन्य संहिताओं में २७ नक्षत्र परिगणित हैं, **अभिजित्** को परिगणना के अन्तर्गत नहीं रखते। नक्षत्रों की तालिका **कृत्तिका** से आरम्भ होती है। बालगंगाधरतिलक के अनुसार **वसन्तसम्पात** इसी नक्षत्र में होता था[1]। नक्षत्रों के देवताओं के विषय में अन्य प्राचीन रचनाओं से कहीं-कहीं भेद है, किन्तु ये विभेद अत्यन्त सीमित हैं। शुभाशुभ दिन तथा काल नक्षत्रों की स्थितियों पर निर्भर करते हैं। पुण्याह में सूर्य सहायक होता है और रात्रिकर्मों में चन्द्रमा शुभ माना गया है। नक्षत्रों का विभिन्न वर्गों में विभाजन विभिन्न परिशिष्टों में विभिन्न प्रकार से किया गया है।

---

[1] ओरियन पृ० ३९ तथा अग्रे०, थीबो इस विचार से सहमत नहीं हैं। द्र० इण्डि० एंटि० २४, पृ० ९६-९७।

नक्षत्रकल्प में इनके तीन वर्ग बनाये गये हैं, तो शान्तिकल्प में साधारण, ध्रुव, मृदु आदि सात वर्ग। कृत्तिकाओं का देवता अग्नि इसलिए माना गया है कि श्रौतकृत्यों के लिए अग्नि की स्थापना इसी नक्षत्र में की जाती है[1]। स्वर्णकारों, लोहकारों तथा आहिताग्नियों पर कृत्तिकानक्षत्र का आधिपत्य है। इस नक्षत्र में उत्पन्न रोगों की अवधि दस दिन तक होती है[2]। विजिगीषु राजा को शत्रुओं पर इसी नक्षत्र में आक्रमण करना चाहिये।

रोहिणीनक्षत्र में जलाशय सूख जाते हैं, नदियां अपना मार्ग परिवर्तित कर लेती हैं, मनुष्य तथा पशु कष्ट पाते हैं[3]। इसी प्रकार अन्य नक्षत्रों का फलादेश भी वर्णित है।

राजाओं के लिए विशेष कार्यों का विशेष नक्षत्रों में पूर्ण करने का विधान विशिष्ट रूप से किया गया है।

नक्षत्रकल्प भारतीय ज्योतिष (गणित और फलित दोनों) के विकास में अन्तरालवर्ती स्थान रखता है। फलित ज्योतिष के विषय में बृहत्संहिता ने भी इसके अनेक वचनों को स्वीकार किया है[4]। नक्षत्रों से प्रभावित कई सर्वथा नवीन तथा अस्पष्ट नाम भी गिनाये गये हैं। यथा—**अवधूयमर्कराः, कालमृषाः, कन्वा, उच्छुष्माः** इत्यादि।

इसमें कई ऐसे कृत्यों का भी प्रतिपादन किया गया है, जिनका नक्षत्रों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, यथा किसी कार्य में सफलतार्थ हाथ में दधि पात्र उठाये तथा अलङ्कृत कुमारों की प्रदक्षिणा करे[5]।

इसकी भाषा प्राचीन है। कुछ मन्त्र वैदिक मन्त्रों से समानता रखते हैं।

आङ्गिरसकल्प

यद्यपि सायण की अथर्ववेद की भूमिका में आङ्गिरस-कल्प का वर्णन किया गया है, तो भी कुछ समय पूर्व तक यह रचना अनुपलभ्य थी[6] और इसे लुप्त माना

---

१. नक्षत्रों के अधिपति देवता प्राचीन वैदिक देवता ही हैं। केवल ब्रह्मा अपवाद है, जो 'अभिजित्' का देवता है। ह्विट्ने, सूर्यसिद्धान्त, पृ० २०३।

२. नक्षत्रकल्प १, ३३, ११।

३. नक्षत्रकल्प १, ६, ४-५।

४. द्र० बी० आर० पण्डित, "ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ ज्योतिषशास्त्र", जे० यू० बी०, २६"।

५. खण्ड ३५।

६. ब्लूमफील्ड, जे० ए० ओ० एस० ११, पृ० ३८; जे० ए० ओ० एस० ३२: पृ० २६७।

जाता था, किन्तु डा० दुर्गामोहन भट्टाचार्य ने इसकी पाण्डुलिपि खोज निकाली है[1]। उसमें स्पष्ट कहा गया है कि आथर्वणों के दस कर्म हैं—

> **शान्तिकं पौष्टिकञ्चैव वशः स्तम्भनमेव च**
> **द्वेषणोच्चाटने चैव मारणाकर्षणं** तथा ।

इससे कौशिकसूत्र के षष्ठ अध्याय पर प्रकाश पड़ता है। केशवपद्धति[2] तथा नारदीय महापुराण[3] एवं शक्ति-संगम तन्त्र[4] में इसका उल्लेख किया गया है, किन्तु वर्तमान पाण्डुलिपि में विविध प्रकार के कृत्यों को जोड़ कर इसमें वृद्धि कर दी गयी है[5]। पैप्पलाद अपने पिता अङ्गिरस् से आथर्वण मन्त्रों की शक्ति के विषय में प्रश्न करते हैं, और अंगिरस् उन्हें इस कल्प के रूप में उत्तर देते हैं और इसे सभी कल्पों से उत्तम घोषित करते हैं[6]। इसके अनुसार अथर्ववेद के प्रवर्तक अथर्वा और अङ्गिरस् दोनों ही थे, जो गो० ब्रा० में उक्त वचन की ही पुष्टि है। इसमें विनियुक्त शतशः कल्पजा ऋचाओं को ब्लूमफील्ड के वैदिक वाक्यानुक्रमणिका में उपनिबद्ध नहीं किया गया।

शान्तिकल्प

शान्तिकल्प पर्याप्त महती रचना है, जिसके प्रथम अध्याय में १८ कण्डिका हैं और द्वितीय में २५। विविध उपद्रवों, विपत्तियों अथवा अमङ्गलों की शान्ति के उपायों का इसमें विवरण दिया गया है। शान्ति-कर्म से पूर्व विनायकों की पूजा का विधान है। पूजा से पूर्व यजमान को सात रातों तक दुग्ध, फलों अथवा घृत का आहार करना चाहिये। चौराहे पर वृषचर्म पर समन्त्रक स्नान करना चाहिये, जिससे **अलक्षणी** दूर हो जाती है और **पवित्रवती** चहुं दिशाओं से प्रवेश करती है। दिशाओं के देवताओं में 'ऊर्ध्वा' तथा 'ध्रुवा' के अतिरिक्त 'व्यध्वा' का भी उल्लेख है।

शालकटङ्कर, कूष्माण्डराजपुत्र, उत्सभृत तथा देवयजन नामक चारों विनायकों की पूजा अर्धरात्रि को गोरी सरसों के तेल या घृत, श्वेत तथा रक्त पुष्पों, तुषान्वित तथा वितुषीकृत अक्षतों तथा कच्चे मास, सस्य, मत्स्य, विविध

---

[1] *Our Heritage* Vol. VIII, p. 87.

[2] कौ० सू० ३९, ५-१२ ; ४७, २ ; ५६, ५ ।

[3] नार० म० पु० ५१ ।

[4] जी०ओ०एस०, बड़ौदा, सं० ६१, पृ० १०२ ।

[5] भट्टाचार्य, वही ।

[6] वही पृ० ८८ ।

प्रकार के पुरोडाशों, बीजों, मूलों तथा सुरा का समर्पण करके की जाती है। प्रातःकाल आदित्य के पूजन का विधान है। महाशान्ति के लिए अग्निमंथन किया जाता है। ग्रहों को पूजा की जाती है, जिसमें ग्रहों के लिए छाते, आसन, खड़ांव, सौवर्ण-पीठ, ग्रहों की काष्ठमयी अथवा धातुमयी मूर्तियां, विभिन्न ग्रहों के लिए विभिन्न समिधाएं अग्नि में समर्पित को जाती हैं। विभिन्न ग्रहों के लिए दक्षिणा भी विभिन्न प्रकार की विहित है, यथा—आदित्य के लिए गौ, चन्द्रमा के लिए सौवर्ण, शनि के लिए अजा, राहु के लिए गज और केतु के लिए शूद्री। इसी प्रकार भोजन भी भिन्न-भिन्न प्रकार का विहित है।

द्वितीय अध्याय में महाशान्ति का विवरण है। इसमें २८ नक्षत्रों की मूर्तियां अग्नि के पूर्व में आस्तीर्ण वस्त्र पर रखी जाती हैं तथा उनका आवाहन, स्नान एवं पूजन करके अग्नि में समन्त्रक हवन किया जाता है। महाशान्ति का पूजन कौ०सू० ३९, ७, २७ ; ४३, ५ आदि में किया जाता है, किन्तु वहां यह चतुर्गणी शान्ति के लिए प्रयुक्त होता है, जो इससे कहीं अधिक सरल कृत्य हैं[1]।

काले वस्त्र पहन कर काले पुष्पों, धूप, सुरा प्रभृति से रात्रि के समय चौराहे पर निर्ऋति की पूजा अग्नि में कच्चा मांस तथा वपा का हवन करके की जाती है तथा श्वदन्ती के कांटे तथा धान को रेत में मिला कर अग्नि में हवन किया जाता है। उसके अनन्तर नदी तट पर जाकर विविध प्रकार के घासों से बुनी चटाई को समन्त्रक प्रोक्षण करके, गाड़कर कृष्णवस्त्रों को फेंककर, नवीन वस्त्र धारण करके लौटते हैं। विविध अवसरों के लिए यहां तीस प्रकार की शान्ति का विधान किया है। इस विषय में शान्तिकल्प कौशिकसूत्र का ऋणी है तथा वैतानसूत्र से भी परिचित है, क्योंकि यह वैतानसूत्र २, १४, २ को स्वीकार करता है।

कल्पसाहित्य की अपनी विशेषताएं हैं, जो आथर्वण-साहित्य के अतिरिक्त अन्य वेदों में उपलब्ध नहीं होतीं। वैतानसूत्र भी स्वयं को तथा कौ० सूत्र को कल्प ही कहता है[2] यह भी सम्भव है कि किसी समय कौ० सू० तथा वै० सू० के अतिरिक्त कौशिक तथा वैतानकल्पों की पृथक् सत्ता भी रही हो। नक्षत्रकल्प, शान्तिकल्प तथा आङ्गिरसकल्प यद्यपि परिशिष्टों में परिगणित नहीं होते, तो भी ये परिशिष्टों से किसी प्रकार भिन्न नहीं कहे जा सकते।[3]

---

१. Bolling, G.M., *The Shāntikalpa of the Atharva Vedas, Transactions of the American Philological Association*, Vol. XXXV, p. 81-127.

२. वै० श्रौ० सू० ४३, ४६।

३. B. R. Modak, *A Studies of the Ancillary Literature of the Atharva Veda ; Ph.D. thesis, of Poona University*, 1959, p. 204 ff.

इस कल्प में अ० वे० के १९वें काण्ड के बहुत से मन्त्र उद्धृत हैं। यह नक्षत्रकल्प से सामग्री ग्रहण करता है, सम्भव है दोनों का कोई एक स्रोत हो। इसमें नवें परिशिष्ट में प्रतिपादित 'तिलधेनु' का भी प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार यह १८ (स) परि० को भी उद्धृत करता है, दूसरी ओर गणमाला (परि० ३२) में प्रथम १९ गणों की क्रम-व्यवस्था इसी कल्प के अनुसार की गयी है। इकत्तीसवें परि० के अनन्तर अधिकांश परिशिष्टों में 'महाशान्ति' का प्रतिपादन किया गया है, जो इस कल्प से बहुत अधिक मिलती है। इसमें बहुत से ऐसे मन्त्रों का भी विनियोग पाया जाता है, जो सम्भवतः अ० वे० की किसी अन्य शाखा के हो सकते हैं। ये मन्त्र यहां सकल पाठ में उद्धृत हैं।

अथर्वपरिशिष्टों के जादू-टोने

अथर्ववेद के साहित्य में जादू-टोनों का बाहुल्य है, यह तथ्य उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है। जादू और सात्त्विक प्रार्थना में अन्तर यह है कि प्रार्थना और स्तुति में भक्तहृदय अत्यन्त विनम्र तथा दीन भाव से आक्रान्त रहता है और अपने इष्टदेवमात्र का आश्रय लिये रहता है, वहां जादू में जादूगर इष्ट से कहीं अधिक शक्तिशाली मन्त्र-तन्त्र को समझता है और उसके बल पर अपने इष्टदेव को अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए बाध्य कर सकने का दावा करता है।

अथर्ववेद के देवता भी कुछ सीमा तक ऋग्वेदीय देवताओं से भिन्न हो गये हैं। रोहित तथा नील-लोहित जैसे नवीन देवताओं की कल्पना कर ली गयी है। कई ओषधियों, बूटियों तथा गण्डों-करण्डकों का मानवीकरण कर दिया गया है, जिनका सम्बन्ध देवताओं से जोड़ दिया गया है। कहीं-कहीं तो देवता अस्पष्ट रह जाते हैं और पुरोहित की शक्ति सर्वोपरि प्रतीत होती है (अ० वे० २, १२) मन्त्रों की शक्ति बहुत अधिक है, किन्तु उनमें अन्तिम शब्दों 'वषट्', 'फट्' प्रभृति का महत्त्व कहीं अधिक है। मन्त्र ही आन्तरिक कवच है (**ब्रह्म वर्म ममान्तरम्** ऋग्० ६, ७५, १९)[1]। पुरोहित को शत्रु तथा रोग आदि अनिष्टों के नाश करने के अपने सामर्थ्य में पूर्ण विश्वास है। अत्यन्त महनीय सूक्तों को भी उत्तरकालीन व्याख्याकारों तथा कर्मकांडियों ने अभिचारपरक बना दिया है[2]। देवता भी मन्त्र की शक्ति का अतिक्रमण नहीं कर सकते[3]। किन-किन पदार्थों का प्रयोग अभिचार-कृत्यों में किया जाता है, इसका दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है। कुछ-एक पदार्थों के विचित्र प्रयोग की ओर ध्यान आकृष्ट कराया जाता है।

---

[1] तु० अ० वे० १, १९, ४ ।

[2] तु० अ० वे० ४, १६ पर कौ० सू० ४८, ७; १२७, ३ ।

[3] Vide, Macdonell, A.A., *ERE* XII, p. 50, *Hymns as prayer and spell.*

अभिचारकर्म के लिए शुभ अवसर के स्थान पर अशुभ अवसर तथा अशुभ स्थान का उपयोग अधिक महत्त्वपूर्ण और फलदायक माना जाता है।

अशुभ तिथियां तथा नक्षत्र, यथा—मघा, आश्लेषा, मूल, रेवती, एवं, आर्द्रा अधिक सिद्धिप्रद माने जाते हैं। वाम हस्त से आहुति दक्षिण दिशा में प्रयोग, अर्काग्नि, काली सरसों, चाण्डाल के घर की अग्नि, कृष्ण वस्त्रों, कृष्ण पक्ष प्रभृति का प्रयोग किया जाता है। श्मशान से ली गयी मानव खोपड़ी को काष्ठ दण्ड से बांध कर आहुति के लिए प्रयोग करना अभिचार कर्म में अत्यन्त सहायक है। राजा को वश में करने के लिए शिरीष की समिधाओं तथा मधु, सर्पि और तिल या शर्करा का हवन तथा शूद्र को वश में करने के लिए कमलों वाले तालाब के कीचड़ (पद्मिनी-उत्करण) की चतुष्पथ पर बलि सिद्ध प्रयोग माने जाते हैं[1]। शत्रु के गृहदाहार्थ गोशृंग पर **उच्छुष्मरुद्राय नमः स्वाहा** मन्त्र पढ़ कर उसके घर में गाड़ देने का विधान है[2]। इसी प्रकार अनेक प्रकार के पुतलों का भी प्रयोग किया जाता है। वर्षा लाने के लिए **महावाताय पिंगलनेमाय नमः स्वाहा** के तीन लाख जप और अर्काग्नि में **अर्धरात्रिकहोम** का विधान है। सर्वविध सिद्धि के लिए दुग्ध से सने काली सरसों के बीजों का **खनखनाय नमः स्वाहा** से हवन करके उसकी राख को मुख में रखने का विधान है। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए शस्त्रों पर **घनघनाय नमः स्वाहा** का जप करना चाहिये। ये सब मन्त्र विचित्र हैं और अथर्ववेद में उपलभ्य नहीं हैं। वैसे तो ऋग्वेद में भी इस प्रकार के अभिचारक प्रयोगों और उनमें विनियोज्य मन्त्रों के संकेत प्राप्त होते हैं और ऋग्विधान में इनका प्रयोग अधिक प्रमाणित होता है। तो भी अथर्ववेद विशेषतः आथर्वणिक-साहित्य तो इन्हीं अभिचारक प्रयोगों के लिए प्रसिद्ध है और हमारा अनुमान है कि ऋग्विधान जैसी उत्तरवर्ती रचनाओं पर समाज में आथर्वणिक पुरोहित की सतत वर्धमान प्रतिष्ठा का बहुत प्रभाव पड़ा है।

पञ्चपटलिका

अथर्ववेद के उनचासवें परिशिष्ट चरणव्यूह के अनुसार अथर्ववेद के पांच लक्षण ग्रन्थ हैं—

लक्षणग्रन्था भवन्ति । चतुरध्यायी, प्रातिशाख्यम्, पञ्चपटलिका, दन्त्योष्ठविधि, बृहत्सर्वानुक्रमणी चेति।

---

[1] अ० परि० ३६, ७, १-४।

[2] वही, ३६, ९, २४।

अत: पञ्चपटलिका अथर्ववेद का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, यहां तक कि बृहत्सर्वानुक्रमणी में नाम-निर्देश के बिना पञ्चपटलिका के अनेक वचन उद्धृत किये गये हैं।

सायणाचार्य ने अपने अथर्वभाष्य[1] में पञ्चपटलिका को उद्धृत किया है, यथा—

पूर्णा दर्वीति पृथग् ग्रहणात् ग्रहणमाग्रहणात् (कौ० सू० ८, २१) **इति न्यायात् विनियोगविषये 'आ मा पुष्टे च' इत्येकावसाना ऋक्। पञ्चपटलिकाया** (३, १२) **तु त्र्यवसाना एकैव ऋग् इत्युक्तम्।**

इसके अनुसार अ० वे० ३, १०, ७ तीन अवसानों वाली एक ही ऋचा है।

कौ० सू० ८, २१ पर टीका करते हुए दारिल लिखता है—**पुनरुक्त-प्रयोगः। पञ्चपटलिकायामेव कथितः। आर्षी-संहितायाः कर्मसंयोगात्; आचार्य-संहिताभ्यासार्था।**

बृहत्सर्वानुक्रमणी में अनेक बार उद्धृत होने के कारण इसकी प्राचीनता तथा दारिल एवं सायणसदृश भाष्यकारों द्वारा उद्धृत होने के कारण इसके व्यापक महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है।

ग्रन्थ के आरम्भ में ही सूचित कर दिया गया है कि इस ग्रन्थ का प्रवचन परिबभ्रव नामक आचार्य ने किया है। इस आचार्य के विषय में अन्य किसी स्रोत से कोई सूचना प्राप्त नहीं हुई। कौ० सू० (९, १०) में एक उपरिबभ्रव नामक आचार्य का नाम उपलब्ध होता है, जिसका उल्लेख अन्यत्र भी किया गया है, किन्तु इन दोनों में क्या सम्बन्ध है, इसके विषय में कुछ ज्ञात नहीं।

इस रचना में अ० वे० के काण्डों, अनुवाकों, सूक्तों, ऋचाओं, पर्यायों अवसानों तथा गणों पर प्रकाश डाला गया है। इस रचना में अ० वे० के अठारह ही काण्डों को मान्यता प्रदान की गयी है। इसी आधार पर पाश्चात्य वेदज्ञों ने भी मूल अ० वे० में अठारह ही काण्डों की सत्ता स्वीकार की है।

इसमें सम्पूर्ण संहिता को तीन भागों में विभक्त किया गया है—

प्रथम भाग	काण्ड १—७।
द्वितीय भाग	काण्ड ८—११।
तृतीय भाग	काण्ड १२—१८।

---

[1] अ० वे० ३, १०, ७।

ब्लूमफील्ड तथा ह्विट्ने ने भी अ० वे० सं० को तीन बृहद् भागों में विभक्त किया है, किन्तु दोनों में कुछ अन्तर है, यथा—

प्रथम बृहद् भाग	काण्ड १—७ ।
द्वितीय बृहद् भाग	काण्ड ८—१२ ।
तृतीय बृहद् भाग	काण्ड १३—१८ ।

पञ्चपटलिका ने इन तीन विभागों को तीन 'आकृतियों'[1] की संज्ञा प्रदान की है। प्रथम **आकृति** में कोई 'पर्याय सूक्त' नहीं है, इसमें लघु सूक्त हैं। सप्तम काण्ड में तो बहुत से 'सूक्तों' में केवल एक-एक ऋचा ही है।

द्वितीय **आकृति** में 'पर्याय सूक्तों' का समावेश किया गया है। इसके चार काण्डों में से तीन (८, ९, १०) में प्रत्येक में दस-दस दीर्घ सूक्त रखे गये हैं, ११वें में ९ सूक्त हैं। तृतीय '**आकृति**' में भी 'पर्याय सूक्तों' का समावेश किया गया है, किन्तु इसकी व्यवस्था भिन्न है। यहां १२वें काण्ड में पांच सूक्त (अनुवाक) हैं, १३वें तथा १८वें में चार-चार, १४ से १६ काण्डों में प्रत्येक में दो-दो सूक्त ('अनुवाक') हैं, जबकि १७वें काण्ड में एक ही सूक्त (अनुवाक) है।

प्रथम **आकृति** में ऋचाओं की गणना **अनुवाकों** के अनुसार की गयी है, किन्तु द्वितीय तथा तृतीय **आकृतियों** में यह गणना **सूक्तों** के अनुसार की गयी है। बृहत्सर्वानुक्रमणी अ० वे० को क्रमव्यवस्था के विषय में पञ्चपटलिका के साथ सहमत है।

प्रथम पटल—में तो अ० वे० सं० के लेखन प्रकार पर प्रकाश डाला गया है। पुनरावृत्त वाक्यांशों को सकलपाठ में केवल वहीं लिखना चाहिये, जहां भ्रम होने का संशय हो। अन्यथा पुनरावृत्त वाक्यों अथवा वाक्यांशों को विशेष नियमों के अनुसार ही लिखना चाहिये, यथा—अ० वे० सं० (२, १९) के पांच मन्त्रों में **अग्ने यत् ते** पांच बार पढ़ा गया है। अतः नियम के अनुसार ऐसी स्थिति में प्रथम तथा अन्तिम मन्त्र के अतिरिक्त शेष २, ३, ४ मन्त्रों में **अग्ने यत्** को त्याग कर **ते** से मन्त्रों को लिखना चाहिये, अर्थात् मन्त्र २ से **ते हर** इत्यादि से ही लिखना चाहिये। इसी प्रकार अ० वे० सं० (८, १०) के पर्याय २ में पूर्व (८, १०, १) से प्राप्त पुनरावृत्त वाक्यांश **सोदक्रामत्** को छोड़कर तदनन्तर **सान्तरिक्षे** से ही मन्त्रपाठ लिखना चाहिये। इसी प्रकार अवसानों

---

[1] द्र० तिसृणामाकृतीनाम् ।

तथा गणों आदि के लिखने के विषय में नियम बनाये गये हैं, किन्तु कहीं-कहीं ऐसी समस्या का समाधान कुछ जटिल हो जाता है[१]।

द्वितीय पटल—अ० वे० के अनेक काण्डों में ऐसे अनुवाक है, जिनमें सूक्तों की संख्या स्थिर है, यथा, प्रथम चार काण्डों में, छह अनुवाकों (१,१,५,६; २,३,४; ३,६) के अतिरिक्त शेष अनुवाक पांच-पांच सूक्तों के हैं, पञ्चम काण्ड में चतुर्थ अनुवाक के अतिरिक्त शेष अनुवाक पांच सूक्तों वाले हैं। तृचों (तीन ऋचाओं) वाले षष्ठ काण्ड में प्रति अनुवाक दश सूक्त हैं। किन्तु ३, ७, ११, १२ तथा १३ अनुवाकों में प्रथम चारों में ११ सूक्त और अन्तिम में १८ सूक्त हैं। एक ऋचा वाले सप्तम काण्ड में एक सूक्त दो ऋचा वाला है।

क्षुद्रों (काण्ड ८ से ११) में दो-दो सूक्तों वाले अनुवाक हैं। १२, १३, १४ काण्डों में प्रत्येक अनुवाक एक-एक सूक्त का है। १७वें अर्थात् 'शेष' काण्ड में एक सूक्त का एक ही अनुवाक है।

आगे इन संख्याओं के अपवाद भी बताये गये हैं, यथा प्रथम काण्ड में प्रत्येक सूक्त में प्रायः चार ऋचाएं हैं, किन्तु सूक्त ३, ७, ११, २९, ३४ इसके अपवाद हैं। इन अपवादों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराया गया है। प्रत्येक प्रकार के काण्ड के विशेष नाम भी दिये गये हैं। यथा—पञ्चम=बृहत्, षष्ठ काण्ड =तृच, सप्तम=एकर्च, अष्टम से एकादश=क्षुद्र ; पञ्चदश=व्रात्य, षोडश= प्राजापत्य इत्यादि।

तृतीय पटल—यहाँ एकावसाना, द्व्यवसाना, त्र्यवसाना, चतुरवसाना, पञ्चावसाना ऋचाओं का विवरण दिया गया है।

चतुर्थ पटल—इसमें प्रथम सात काण्डों की **आकृति** में प्रत्येक काण्ड में अनुवाकों तथा प्रत्येक अनुवाक में ऋचाओं की संख्या का ब्योरा दिया गया है।

तदनन्तर अन्य प्रकार की गणना के अनुसार प्रत्येक काण्ड के अन्तर्गत सूक्तों तथा उनमें ऋचाओं की संख्या का ब्योरेवार आकलन किया गया है। **पर्याय सूक्तों** में पर्यायों की संख्या भी दी गयी है।

पञ्चम पटल—इसमें अष्टम से त्रयोदश काण्डों तथा **व्रात्य** (१५वां) तथा **प्राजापत्य** (१६वां) काण्डों के अन्तर्गत अवसानों की संख्या का **विवरण** प्रस्तुत किया गया है।

---

[१] द्र० ह्विटने, अ० वे० भूमिका, पृ० CXX।

पञ्चपटलिका की गणना के अनुसार अ० वे० सं० के अठारह काण्डों की मन्त्रसंख्या ४६२७ होती है। यह गणना ह्विट्ने की गणना से भिन्न है। उसके अनुसार मन्त्र संख्या ४४३२ है। इस भिन्नता का कारण **पर्याय सूक्त** हैं।

संस्करण—पञ्चपटलिका का भावानुवाद सहित एक अत्यन्त साधारण संस्करण पं० भगवद्दत्त ने मई, १९२० में लाहौर से प्रकाशित किया था। इसके कई स्थल सर्वथा दुरूह तथा पाठ भ्रष्ट है।

दन्त्योष्ठ्य विधि

यह दन्त्य तथा ओष्ठ्य वकार तथा बकार वाले शब्दों की तालिका है, जिनमें से कुछ-एक शब्दों के मूल स्रोत का पता नहीं चल सका, तो भी यह लघुरचना सन्देहास्पद कई शब्दों के संहितागत पाठों को स्थिर करने में सहायक हुई है। यह एक प्रकार का शिक्षा ग्रन्थ है। यह एक पद्यात्मक अनुष्टुभ् छन्द में लिखी गयी रचना है, जिसके अधिकांश पद्य प्रायः शिथिल हैं। इसमें दो अध्यायों में कुल १२+११=२३ श्लोक हैं। इसके रचयिता के विषय में कुछ भी जानकारी नहीं मिल सकी, किन्तु रचयिता ने अथर्वा तथा भगवान् हयग्रीव की स्तुति की है, जो अपेक्षाकृत उत्तरवर्ती देवता हैं तथा आथर्वणिक आदर्शों के साथ इनका कोई सम्बन्ध भी नहीं है, अतः यह अपेक्षाकृत अर्वाचीनकालिक रचना होनी चाहिये, तो भी यह रचना आथर्वण चरणव्यूह से प्राचीन हैं, क्योंकि अथर्ववेदीय लक्षणग्रन्थों में वहां इसका नामोल्लेख किया गया है।

यद्यपि इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य बकार वाले स्थलों का निर्णय करना है तो भी प्रसंगवश कहीं-कहीं वकार वाले स्थलों का भी निर्देश कर दिया गया है यथा 'वः केतुः (१, १७); नवम (१, १०) ; पड्वीशं (२, ३) तथा 'वः केतुः' से पूर्व 'बः' का उच्चारण 'व' करना चाहिए। माण्डव्य शिक्षा (यजुर्वेदीय) में भी वकार के प्रकरण में 'ध्रुवक्षितिद्वयम्' 'पड्वीशद्वयम्' आदि वकारयुक्त उदाहरण दिये गये हैं।

सम्पादित—पं० रामगोपाल शास्त्री, लाहौर, १९२१।

यज्ञ (अथर्व) प्रायश्चित्तसूत्र

वैतानसूत्र के आठ अध्यायों के अनन्तर कई हस्तलेखों में 'यज्ञप्रायश्चित्त-सूत्राणि' के नाम से अथर्ववेदीय प्रायश्चित्त परिशिष्ट जोड़ा गया है। प्रायः यह समझा जाता है कि ये सूत्र वैतान के अन्त में कौशिकसूत्र के चौदह अध्यायों के समान यहां भी चौदह अध्यायों की पूर्ति के लिए बाद में जोड़ दिये गये हैं[1], किन्तु वैतानसूत्र के व्याख्याकार सोमादित्य इन सूत्रों को वैतानसूत्र का अंग मानते प्रतीत

---

[1] ब्लमफील्ड, जे० ए० ओ० एस० ११, पृ० ३८२।

होते हैं[1], किन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि उनका अभिप्राय 'प्रायश्चित्त' शब्द से इन्हीं सूत्रों से है या किन्हीं और से। किन्तु एक स्थान पर उन्होंने 'यज्ञप्रायश्चित्त-विधानेन' शब्द का प्रयोग किया है[2] और अन्यत्र तो उन्होंने 'यज्ञप्रायश्चित्त' को उद्धृत ही कर दिया है[3]। अतः सिद्ध होता है कि यज्ञप्रायश्चित्त और वै० सू० अन्योन्याश्रित हैं।

यज्ञप्रायश्चित्त सूत्र के छह अध्याय हैं, जो ४३ कण्डिकाओं में विभक्त हैं, किन्तु इनमें कर्मव्यवस्था किसी व्यवस्थित यज्ञक्रम के अनुसार नहीं की गयी है। एक कर्म से सम्बद्ध प्रायश्चित्त अनेक बार अन्य कर्मों से सम्बद्ध प्रायश्चित्तों में अतिव्याप्त होते पाये जाते हैं। काल की दृष्टि से भी व्यवस्थितक्रम नहीं पाया जाता। प्रायश्चित्त कर्म के अन्त में भी किये जा सकते हैं और मध्य में भी। प्रथम व्यवस्थानुसार तो प्रायश्चित्तों से गृह तथा पशुओं की प्राप्ति होती है, द्वितीय के अनुसार उसे स्वर्ग प्राप्त होता है। यज्ञकर्मों में अनेक प्रकार के व्यतिक्रमों के लिए नाना प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है, यथा, अग्निहोत्र के काल का अतिक्रमण, हवन के समय दुग्धस्राव, स्थाली या स्रुक् में रखे दुग्ध में अपवित्र वस्तु का गिरना, गार्हपत्य तथा आवहनीय के मध्य में से शूकर, कुत्ते अथवा अन्य किसी जानवर का निकल जाना, गार्हपत्य का बुझ जाना, अग्निहोत्रीय दुग्ध का उबलकर गिर जाना तथा इसी प्रकार की अन्य त्रुटियों के कारण प्रायश्चित्तों का विधान प्रथम अध्याय में किया गया है।

द्वितीय अध्याय में दर्शपूर्णमास तथा पशुयाग सम्बन्धी प्रायश्चित्तों का विधान है। पुरोडाश के अपवित्र हो जाने पर या जल जाने पर, सान्नाय्य के नष्ट हो जाने पर या दुग्ध के हवन के अयोग्य हो जाने पर, दर्श० में चन्द्रदर्शन हो जाने पर, दोहते समय गौ के हुंकारने पर या बैठ जाने पर, किसी पक्षी द्वारा वपा या अन्य हवनीय पदार्थ के ले जाने पर, सोम के ग्रह से छलक जाने पर, तथा इसी प्रकार की अन्य त्रुटियों के विषय में अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है। गवालम्भन के बाद यदि वह गाभिन प्रतीत हो, तो उसके गर्भ पर स्वर्णशकल रख कर उसे अग्नि पर पका कर कामसूक्त[4], नभस्वती ऋचाओं[5] तथा

---

[1] "प्राप्ते विधानं वक्ष्यमाणप्रायश्चित्तनियमार्थम्" (वै० जू० १२, ४)।

[2] वही, ७, २।

[3] नाऽहुत्वा वर्ततेति यज्ञप्रायश्चित्तेषु वचनात् (७, १०)। यज्ञप्रायश्चित्त १, ३; तथा ८, २ पर यज्ञप्राय० १, २ को उद्धृत किया है।

[4] अ० वे० १९, ५२।

[5] अ० वे० ४, १५।

हिरण्यगर्भ[1] सूक्त के मन्त्रों से हवन करना चाहिये। यात्रा पर गये हुए अग्निहोत्री की मृत्यु हो जाने पर तो अग्निहोत्र कर्म तब तक शूद्र के द्वारा दोही गयी गौ के दूध से करना चाहिये, जब तक कि मृतक की अस्थियों का चयन नहीं हो जाता।

तृतीय अध्याय—में सोमयाग से सम्बद्ध प्रायश्चित्तों का विधान है। सत्र के मध्य में यजमान की मृत्यु हो जाने पर उसका पुत्र या भ्राता कर्म को समाप्त कर सकता है, किन्तु आश्मरथ्य के अनुसार इस स्थिति में किसी अन्य की दीक्षा नहीं की जा सकती। पूर्ण कर्म को एक ही दिन में, यजमान को जीवित समझकर, समाप्त कर देना चाहिये।

चतुर्थ अध्याय—में अग्निहोत्र तथा दर्शपूर्णमाससम्बन्धी प्रायश्चित्त विहित हैं।

पञ्चम अध्याय—में अग्निहोत्र और पशुयाग से सम्बद्ध अन्य प्रायश्चित्तों का प्रतिपादन किया गया है। यदि अग्निहोत्र से पूर्व हो आहवनीय बुझ जाती है तो अरणियों को बुझे हुए कोयलों पर रख कर अग्निमन्थन करना चाहिये। यदि कोयले राख बन चुके हों, तो राख को अरणियों पर लगा कर अग्निमन्थन करके आहवनीय में अग्नि को पुनः प्रतिष्ठापित करना चाहिये और अग्नि ज्योतिष्मान् के लिए घृत की आहुति देनी चाहिये।

यदि मन्थन से अग्नि उत्पन्न न हो और अन्यत्र से भी प्राप्त न हो सके, तो आहुति ब्राह्मण के दक्षिण कर में कर देनी चाहिये। वैकल्पिक रूप में अजा के दाहिने कान, कुशा पर, जल में या स्वर्ण पर आहुति देने का विधान है, किन्तु तदनन्तर उस वस्तु का प्रयोग सदा के लिए त्याग देना चाहिये। कुशा पर बैठना, जल से पादप्रक्षालन, स्वर्णाभूषणों का प्रयोग तथा अजामांस सर्वथा वर्जित हो जाते हैं।

षष्ठ अध्याय—में पुनः सोमयाग सम्बन्धी प्रायश्चित्त विहित हैं। याग के मध्य में यजमान की मृत्यु हो जाने पर उसके पुत्र या भ्राता को याग-समाप्ति का अधिकार है, किन्तु उसकी भी मृत्यु हो जाने पर ऋत्विजों को प्राचीनावीती होकर, अपने जङ्घास्थलों पर हाथ मारकर 'आयं गौ' (अ०वे० ६, ३१) सूक्त का पाठ करना चाहिये। एक वर्ष के अन्त में यजमान की अस्थियों की अग्नि में आहुति देनी चाहिये।

यज्ञप्रायश्चित्तसूत्र में मन्त्रोद्धरण के विषय में कोई नियम नहीं देखा जाता। कहीं पर प्रतीकरूपेण और अन्यत्र सकल-पाठेन मन्त्र उद्धृत किये गए हैं[2]।

---

१. ऋग्० १०, १२१।

२. यज्ञप्रा० ३, ४ ; ६, ५ में 'यन्मे स्कन्नं' (कौ० सू० ६, १) तथा "अयं नोऽग्निरध्यक्षः" (कौ० सू० ८९, १३) को प्रतीक रूप में दिया गया है। किन्तु यज्ञप्रा० (२, ६) में ही 'यूपो विरोहन्' (कौ०सू० १२५,२) और 'यो वनस्पतीनाम्' (कौ० सू० १३५,९) सकल-पाठेन पठित हैं। अतः कीथ का विचार संगत है कि इन उद्धरणों के आधार पर कोई निर्णय नहीं किया जा सकता (जे० आर० ए० एस० १९१०, पृ० ९३४)।

यज्ञ (अथर्व)-प्रायश्चित्त अपने प्रकार की सर्वप्राचीन रचना है, जो अत्यन्त संक्षिप्त, अस्पष्ट और इस समय भ्रष्ट कृति है। यह वर्णनात्मक रचना है, जिसमें अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, यथा—उदनत्तु, अष्टापदी, पाथिकृती:। किन्तु इन प्रायश्चितों में पाप की भावना का कोई विशेष योगदान नहीं है। न ही इसमें किसी नैतिक तत्त्व का अन्तर्भाव ही दृष्टिगोचर होता है। कर्मकाण्डीय त्रुटियों के आधार पर ही इन प्रायश्चित्तों का प्रतिपादन तथा विधान किया गया है। यज्ञ को एक ब्रह्माण्डीय-क्रिया की अभिव्यक्ति के रूप में कल्पित किया गया है, जिसका प्रतिपादन अभिचार के रूप में किया गया है[1]।

संस्करण :—Julius Von Negelin द्वारा सम्पादित तथा जर्मन भाषा में अनूदित, जे०ओ०एस०, ३३ ; पृ० ७१-१४४ ; २१७-२५३।

---

[1] cf. ERE, V, Jolly, Expiation and atonement (Hindus); and ERE XII, Hillebrandt, worship (Hindu) p. 796.

वेदाङ्ग

सूचियां

उद्धरण-सूची

अ

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
अंशुः शमष्टमात्रो भवति । अननाय शं भवतीति वा	निरु० २, ५	२१७
अंहोऽतिपिप्रति	सामसं० १३५२	१२६
अकालकम् व्याकरणम्	काशिका २, ४, २१	२७२
अकूपारस्य	निरु० १४, १, ३३	१६१
अक्रूरो दबते मणिम्	द्र० म० भारत, ४, ६० ; मौसल० ३, २३ ; भागवत० दशम स्कन्ध (द्र० ऋक्प्रा० प्रकरण)	१७८
अक्षरसंहितादि	तै० प्रा० २४, ४	३००
अक्षि चष्टेः । अनक्तेरित्याग्रायणः	निरु० १, ९	३६६
अक्षि चष्टेः ··· ··· इति ह विज्ञायते	निरु० १, ९, १	२१३
अखिलपुरुषार्थोपकारवृत्तिसमर्थं	दुर्ग०, निरुक्तवृत्ति का आरम्भ	१८६
अगन्ममहा	ऋग्० ७, १२, १	४७१
अग्नावग्निः	पारा० शि० ६३ ; आमोघ० शि० २९	१५
अग्निः—अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः	निरु० ७, १४	२१४
अग्निः—कस्मात् अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः	निरु० ७, १४	१७१
अग्निः पशुरासीत् । ··· इति च ब्राह्मणम्	निरु० १२, ४१	२२०
अग्निः—पशुरासीत् ··· ··· लोकमयजत्	तै० सं० ५, ७, २६, १	२२०
अग्निः—स खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा, निः-परः	निरु० ७, १४	२१६
अग्निः सर्वाः देवताः	ऐ० ब्रा० १, १	१९९-२०३
अग्निचित्येत्यन्तोदात्तो भावे	पा० ३, १, १३२, वा० १	३५४
अग्निर्गायत्र्याः, ··· ··· पङ्क्तीनां मित्रावरुणौ वसवो वा	उनिसू०, पृ० २१-२२	५००

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
अग्निर्वा इतो … वर्षति	निरु० ७, २४	२२१
अग्निर्वा … वर्षति	मै० सं० ११, १०	२२१
अग्निर्वै देवतानां भूयिष्ठभाग्	ऐ० ब्रा० १, १	२०३
अग्निं चित्वा न … न धर्माय	निरु० १२, १३	२२१
अग्निं चित्वा प्रथमं …	काठसं० २२, ७	२२१
अग्नि-स्तोम=अग्निष्टोम ; ज्योतिःस्तोम= ज्योतिष्टोम ; चतुःस्तोम=चतुष्टोम	ऐ० ब्रा० १४, ५	२१०
अग्ने त्वं नो०	ऋग्० ५, २४, १	५९८
अग्ने यत् ते	अ० वे० २, १९,	६८१
अग्नेर्गायत्र्यभवत् … वाचमावत्	ऋग्० १०, १३०, ४	४८५
अचामचित्तकर्तृकाणाम्	पा० ३, १, १३४	३०९
अचि शीर्षः	का० ६, १, ६२	२७८, ३९५
अचि शीर्षः	म० भा० ६, १, ६१ ; वा० ३	३५०
अचो यत्	पा० ३, १, ९७	३३०
अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टाः शलः स्मृताः	पा० शि० १६	५०
अजीजनो अमृत मर्त्येष्वां	ऋग्० ९, ११०, ४	४८२
अञ्जिघृसिभ्यः क्तः	उणादिसूत्र ३, ८९	२२४
अटि चोक्तम्	पा० १, १, ३, वा० ९	३४९
अड्भ्यासव्यवायेऽपि	का० ६, १, १३६	३९५
अड्व्यवाय उपसंख्यानम्	पा० ६, १, १३५, वा०	३५०
अतारिष्म	ऋग्० ७, ७३, १	४७१
अतिगम्भीरस्य वेदस्य अर्थावबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि	सायण, ऋग्भाष्यभूमिका, षडङ्ग प्रकरण	४६८
अत्यल्पमिदमुच्यते	महाभाष्य, अनेकत्र	३४७
अत्रानेकं दर्शनम्, अन्ये मन्यन्ते, केचिदाहुः, अपरे वर्णयन्ति	महाभाष्य	३८०
अथ तद्धितसमासेषु … प्रविभज्य निर्ब्रूयात्	निरु० १, २	२३०
अथ वर्णसमूहः । इति ऐन्द्रव्याकरणस्य	भ० हरिश्चन्द्र-रचित चरकव्याख्या, पृ० ५८	२४८
अथ समाम्नायो व्याख्यातव्यः	निरुक्त, आरम्भ में	१६२
अथातः उपमाः । यदेतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः	निरु० ३, १३	१६६

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
अथातो निर्वचनम्	देव० ब्रा० ३, १	१५३
अथा बधाते	ऋग्० १, १३६, २	५६१
अथान्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके ··· शुद्धञ्च सकारादिञ्च	निरु० १, १३	१९९
अथापि शंयुर्बार्हस्पत्य उच्यते	निरु० ४, २१	२२२
अथाप्याद्यन्तविपर्ययो ··· सिकतास्तर्क्विति	निरु० २, १	२२५
अथासावादित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः	निरु० ७, २३	२२२
अथैतं महान्तमात्मानम्	निरु० १४, २३	६२९
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः	ऋग्० १०, ८५, २	१३७
अदस ईत्वोत्वे	पा० ८, २, ६ ; वा० ९	३४९
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः	ऋग्० १०, ७२, ४	१९६
अदेङ्गुणः	पा० १, १, २	२७२
अदोऽनन्ने	पा० ३, २, ६८	३३०
अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः	पा० ७, १, २५	३०४
अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य	ऋग्० १०, ११६, ७	१९७
अधिरीश्वरवचन उक्तम्	पा० १, ४, ९७, वा० १	३४९
अधिरुपरिभावे वर्तते	महाभाष्य १, ३, १	२२५
अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वमध्रिगो	निरु० ५, ११	२२०
अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वमध्रिगो	मै० सं० ४, १३, ४	२२०
अनन्त्यविकारेऽन्त्यदेशस्य	पा० ६, १, १३, वा० ५	३४९
अनवायम्-किमीदिने	निरु० ४, ३, ४३-४४	१६१
अनाढ्यम्भविष्णुः	पा० ३, २, ५६-५७	३७३
अनियमे नियमकारिणी परिभाषा	परिभाषेन्दु० आरम्भ	३१२
अनिष्टिज्ञो वाडवः पठति	म० भा०, ८, २, १०६	३४७
अनुपसर्गात्	पा० ३, १, १३८	३३१
अनुपसर्गे	का० वा० ३, १, १०	३३१
अनुशाकटायनं वैयाकरणाः, उपशाकटायनं वैयाकरणाः	पा० १, ४, ८६	२६४
अनौ वस इति प्रतिषेधान्नाद्युदात्तत्वम्	चान्द्रवृत्ति १, १, १३४	४५२
अन्तरं बहिर्योगोपसंख्यानम्	पा० १, १, ३६	३०९
अन्तेर्धातोरात्माशब्दो निरुक्तः	वार० निरु० पृ० ३२	१७३
अन्धस्-आध्मानीयं भवति	निरु० ५, १०	२१४

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
अन्धो भग इत्याहु: ··· ब्राह्मणम्	निरु० १२, १४	२२२
अन्नम्—आनतं भूतेभ्य:	निरु० ३, ९	२१४
अपकामं स्यन्दमाना ··· वो हितम्	अथर्व० ३, १३, ३	२४४
अपक्षपा असि ; वपा हवत्मना शक अन्धुक ईश	ऋक्त० सूत्र ८७	१२६
अपतनादपत्यम्	महाभाष्य ५, १, ५९	३६४
अपत्यम्—अपतनं भवति, नानेन पततीति वा	निरु० ३, १	३६४
अपत्यं कस्मात् ··· नानेन पततीति वा	निरु० ३, १	२२६
·· अपत्यमिति अपतनाद् अपत्यम्	महाभाष्य ५, १, ५९	२२६
अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभि: सूराय विश्वचक्षसे	ऋग्० १, ५०, २	१३७
अपदी दधाते	ऋग्० १, १८५, २	५६१
अपाणिनीय: सूत्रेषु पाठ:	(कैयट) पा० ४, ३, १३१, वा० पर	२७८
अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभि:	ऋग्० १०, ९४, २	१९८
अभिद्यां महिना भुवमभी३मां पृथिवीं महीम्, कुवित्सोमस्यापामिति	ऋग्० १०, ११९, ८	१९०
अभीष्टे अद्य० ·· न स्तनयन्ति शुष्मा:	ऋग्० ४, १०, ४	४७५
अभूत तद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्बन्धकर्तरि च्वि:	पा० ५, ४, ५०	२८२
अभ्यासव्यवाये च	पा० ६, १, १३५, वा०	३५०
अमी च ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुहचिद् दिवेयु:	ऋग्० १, २४, १०	१३७
अमुं च लोकं नक्षते । तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्	तै० ब्रा० १, ५, २, ५ ; ६	२२१
अयमपि अधिकारो ··· न विकल्प्यते	पा० ३, १, २	३१६
अयमु त्वा	अ० वे० २०, ५	६५५
अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति	निरु० ५, ४	३६५
अर्चयतेरर्क:	म० भा० १, ४५४	३६५
अवरादीनां च पुन: सूत्रपाठे ग्रहणानर्थक्यं गणे पठितत्वात्	म० भा० १, १, ३४	३०५
अवसम्-अवतेर्गत्यर्थस्यासौ नामकरण:	निरु० १, १७	२१५
अवीन्नो अग्निर्हव्यान्नमोभि: प्रेष्ठो अस्मा अधायि स्तोम:	ऋग्० ७, ३४, १४	४७६

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
अश्नोतेरयमौणादिक: करणसाधन: सि प्रत्यय: । अश्नुतेऽनेनेति अक्षि	म० भा० ३, १८९	३६६
अश्व:-अश्नुतेऽध्वानम्	निरु० २, २६	२१५
अश्वादि वार्तिककार: पठति । ··· इत्यध्यगीष्महि	निरु० ८, २ (स्कन्दभाष्य)	२३३
अश्वैरश्विनौ	निरु० १२, १	१६५
अष्टाक्षर आपञ्चाक्षरताया: ··· सम्भृतं वसु इति	ऋक्प्रा० १७, २५ ; २६	४९०
अष्टौ समानाक्षराण्यादित:	ऋक्प्रा० १, १	७५
अष्टौ स्थानानि वर्णानामुर: कण्ठ: शिरस्तथा । जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च	पा० शि० १३	३५,४८-४९
अष्टचाद्यातिशाक्वरमन्त्याष्टिर्वा	कात्यायन, सर्वानु० ऋग्० २,२२,४ पर	४८८
असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्	निरु० १, १, १५	२२०
असिद्धवदत्राभात्	पा० ६, ४, २२	४३६
असोरसुरानसृजत् ··· इति विज्ञायते	निरु० ३, ८	२२१
असौ लोक: ··· सप्तदश स्तोम:	निरु० ७, ११	२२२
असौ बा आदित्योऽग्निर्वैश्वानर:	मै० सं० २, १, २	२०६
अस्ति सकारमातिष्ठते । आगमौ गुणवृद्धी आतिष्ठते	म० भा० १, ३, २३	२८९
अस्यते:, आस्यन्वत एतदन्नम्	निरु० १, ९	३६४
अस्यन्त्यनेन वर्णान्	म० भा० १, १, ९	३६४
अस्या अखिलपुरुषार्थोपकारप्रवृत्ताया:	निरु० १३, १३	१८६
अस्यां इन्द्र वसाऽरहुम् आऽर···राधस्तन्नो विदद्वसाऽर	सा० सं० ३४५	६३१
अहं राष्ट्री संगमनी ··· भूर्यविशयन्तीम्	ऋग्० १०, १२५, ३	१९३
अहं रुद्रेभिर्वसुभि: ··· ··· अहमश्विनोभा	ऋग्० १०, १२५, १	१८९
अहं स यो नववास्त्वं ··· रजसो रोचनाकरम्	ऋग्०, १०, ४९, ६	१९०
अहार्षं त्वा विदम्	ऋग्० १०, १६१, ५	४७४,४८८

आ

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
आकृत्यभिधानाद् ··· अभिधीयत इति	म० भा० (झज्जर सं०), पृ० १४४	२५९
आकृत्या आकारेण लक्ष्यते स: आकृतिगण:	गणरत्नमहोदधि पृ० ४३	३०६
आखुं ते रुद्र पशुम्	मै० सं० १, १०, २२	५७९

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
आचार्यप्रवृत्त्या क्रमोऽन्यथाऽनुमीयते	ऋक्प्रा० २, १९ पर उवट	७५
आतोऽनुपसर्गे क:	पा० ३, २, ३	३५५
आत्मनश्च पूरणे	पा० ६, ३, ६ (का०)	३५०-३९५
आत्ममाने खश्च	पा० ३, २, ८३	३५३
आत्मा अततेर्वा, आप्तेर्वा, अपि वा आप्त इव स्यात्, यावद् व्याप्तिभूत: इति	निरु० ३, १५	१७३
आथर्वणिकस्येकलोपश्च	पा० ४, ३, १३३	३५०
आदित्यानाम् वसा:	मै० सं० ४, १२, १७८	५८०
... आदित्यो दैवतम् ... द्यौ: स्थानम्	गो० ब्रा० १, १, २९	२२२
आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि	ऋग्० २, १८, ४	१९७
आप आप्नोते:	निरु० ९, २७	२२४
आप उन्दन्तु	काण्डा० १, २, १	५७२
आपिशलकाशकृत्स्नोस्त्वग्रन्थ इति वचनादन्यत्रप्रतिषेधाभाव:	पा० ५, १, २१	२६६
आपिशलपाणिनीयव्याडीयडगौतमीया:	महाभाष्य ६,२,३६	२५७-५८,२६६
आपिशलास् तुरुस्तुशम्यम: सार्वधातुकासु	(काशिका) पा० ७, ३, ९५	२६६
आप्नुवन्न् पूर्वम् ; सम्यक्क्षवन्ति, तत् करोति	शि० सं० पृ० १३०	१२
आप्नोतेर्ह्रस्वश्च	उणादिसूत्र २, ५८	२२४
आमासु पक्वं शच्या निदीध:	ऋग्० ६, १७, ६	५६१
आ यदिन्द्रश्च दद्वहे	ऋग्० ८, ३४, १६	५३९
आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्	शां० श्रौ० सू० ८, २, २२	२०६
आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम्	ऋग्० १, १०, ९	१९७
इ		
इकोगुणवृद्धी	पा० १, १, ३	२७२
इकोयणचि	पा० ६, १, ७७	२७२
इळे द्यावापृथिवी	ऋग्० १, ११२, १	४७१
इति उपाध्यायाजातशत्रुकृते पुष्पसूत्रभाष्ये प्रथमस्य प्रथमी कण्डिका समाप्ता	पुष्पसूत्र १	१३२
इति प्रथमकाण्डे चतुर्होत्रिको नाम नवम: प्रपाठक:	मै० सं० १, ९	५९४
इति वर्णराशिक्रमश्च	ऋक्प्रा० १, १०	७५

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
इति श्रीनरेन्द्राचार्यकृतसारस्वते-क्षेमेन्द्रटिप्पणं समाप्तम्	क्षेमेन्द्र-सारस्वत-प्रक्रिया	४६०
इति ह ब्राह्मणम्	देव० ब्रा०	१५३
इत्याह भगवान् गार्ग्यो गार्ग्यः	उपनिदानसूत्र (अन्त में)	४९८
इत्याह स्वरसंस्कारप्रतिष्ठापयिता कात्यायनः	वाजसनेयिप्रातिशाख्य (अन्त में)	८९
इत्येतदस्य रूपं कुर्मो य एष तपति तदाह ज्योतिर्जरायुरिति	श० ब्रा० ४, २,१, ८	१३९
इदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते	निरु० १, १५	२२६
इदमपि वार्तिकमिति तु हरदत्तः	नागेश, पा० ४, ३, १३३	२७८
इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वा	निरु० १०, ४	२२४
इन्द्र इदं करणादित्याग्रायणः	निरु० १०, ८	१६४
इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्	ऋग्० १, ७, १	१८९
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः	ऋग्० १, १६४, ४६	५४२
इन्द्र विष्णुर्विचक्रमे	मै० सं० १, २, ६३	५७९
इन्द्र सोमं पिब ऋतुना	ऋग्० १, १५, १	५३६
इन्द्राणी-इन्द्रस्य पत्नी	निरु० ११, ३७	२१४
इन्द्राय पवते मदः	ऋग्० ९, १०७, १७	१८९
इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्राय अंहोमुचे	निरु० ७, ३	२०२
इन्द्रियनित्यं वचनमित्यौदुम्बरायणः	निरु० १,१	१६४-४४०
इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणाः	ऋग्० ७, १८, १५	१८९
इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः	ऋग्० १०, ८९, १०	१८९
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते	ऋग्० ६, ४७, १८	५४२
इमामु हैके शुक्रस्य पुरोवाचं कुर्वन्ति- अयं ··· रजसो विमाने	श० ब्रा० ४, २, १८	१३९
इयं (पृथिवी) वै वैश्वानरः	श० ब्रा० १३, ३, ८, ३	२२२
इयमृक् पावमानादुद्धृता	सामवेदार्षेय दीप (सा० सं० १, १)	६३३
इरितो वा	पा० ३, १, ५७	२८९
इव नु चिन्नु चत्वार उपमार्था भवन्ति ते	बृ० दे० २, ९१	२२३
इषे त्वा, ऊर्जे त्वा, ··· पशून् पाहि	ऋग्यजुषम्-प्रथम कण्डिका	६१४
इषे त्वोर्जे त्वा	काण्डा० १, १, १	५७२

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
उ		
उक्तं वा	पा० १, १, १२, वा० ६, पा० १, २, ४३, वा० ७	३४९
उक्थं चन शस्यमानम् ··· गीयमानम्	ऋग्० ८, २, १४	५०६
उच्चावचा: पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः	निरु० १, ३	१६६
उच्चावचेषु चार्थेषु ··· औपम्यकारणात्	बृ० दे० २, ८९	२२३
उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, उभयवान् स्वरितः, तस्यादित उदात्तं स्वरार्धमात्रम्	वा० प्रा० १, १२६	९७
उच्छुष्मरुद्राय नम: स्वाहा:	आथर्वण नक्षत्रकल्प ३६, ९, २४	६७९
उञ्छादीनाञ्च	पा० ६, १, १५६	३०७
उणादयो बहुलम्	पा० ३, ३, १	३१६
उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि	परिभाषेन्दु० परिभाषा २२	३२३
उत त्वामदिते मह्यहम्	ऋग्० ८, ६७, १०	५३९
उत्तम्भनादीनि	वा० प्रा० ५, ३८	३००
उत्साविभ्योऽञ्	पा० ४, १, ८६	४३४
उदकमपि हिरण्यमुच्यते इति भाष्यकारवचनात् सूनर: ··· तन्निरुक्तम्	वाररुच निरुक्तसमुच्चय-पृ० ६७ (कुन्हणराज संपा०)	२३९
उदकर्मणि हिरण्यमुच्यते इति भाष्यकारवचनात्	वाररुच निरक्त (कुन्हणराज सं०) पृ० ३२-३३	१७२
उदात्ताच्चानुदात्तं स्वरितम्	वा०प्रा० ४, १, ३७	९७
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते	अथर्व० ३, १३, ४	२४४
उदोहन्ति हरतिस्थास्तम्भिषु	च० अ० ४, ६२	१०९
उद्वेति	ऋग्० ७, ६३, १-२	२०५
उन्देरिच्चादे:	उणादिसूत्र १, १३	२२४
उपद्रुतो नाम सन्धिर्बाष्कलादीनां प्रसिद्ध: । तस्योदाहरणम्	शांश्रौ० सू० १२, १३, ५	७८
उपबद्धां इहा वह	अ० वे० सं० १, ७, ७	११६
उपयामगृहीतोऽसि	ऋग्यजुषम्	६१४
उपशुश्रुवान् कौत्स: पाणिनिम्	(काशिका) पा० ३, २, १०८	४१४
उपसेदिवान् कौत्स: पाणिनिम्	पा० ३, २, १०८ (पतञ्जलि)	४१४,४४६

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
उपह्वरे गिरीणां ना३म् (प्रस्ताव)	साम० १४३	६३१
उपेदमुपपर्चनम्	ऋग्० ६, २८, ८	४७४,४८८
उभयथा ह्याचार्येण··· इत्येकशेष आरभ्यते	म० भा० पस्पशा०	२५९
उरुप्रथस्व । ··· समिध्यमानायानुब्रूहीति	निरु० १, १५	२१९
उरु मे करदिति·· तदुलूखलम्	श० ब्रा० ७, ५, १, २२	२२२
उरु मे कुर्वित्यब्रवीत् । ··· ब्राह्मणम्	निरु० ९, २०	२२२
उरोबृहती यास्कस्य	पिंगल० ३, ३०	५६८
उर्वश्यप्सरा:···तस्य रेतश्चकन्द	निरु० ५, १३	२२३
उर्व्य:-वृणोतेरिति	निरु० २, २६	१६५
उष आ भाहि भानुना	ऋग्० १, ४८, ९	२४३
उषिजिघर्ती छान्दसौ···स्मरणात्	निरु० २, २ (स्कन्दस्वामी)	२८९
उषो अद्येह	ऋग्० १, ९२, १४	२१

ऊ

ऊर्क् =पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा	निरु० ३, ८	२१५
ऊष्मोदयं प्रथमं स्पर्शमेके द्वितीयमाहुरपवान्तभाजम्	ऋक्प्रा० ६, १५	१०३

ऋ

ऋकारादयो दश नामिन: स्वरा:	ऋक्प्रा० १, ६५	७५
ऋक्षा उदीर्णानीव ख्यायन्ते	निरु० ३, २०	२१४
ऋग्वच्छन्दो देवते	सामवेदार्षेयदीप	६३३
ऋच्छते: कृच्छ्रापत्तिरितरा सा पृथिव्या सन्दिह्यते, तयोर्विभाग:	निरु० २, ७	२१५
ऋज्राश्व: प्रष्टिभिरम्बरीष: सहदेवो भयमान: सुराधा:	ऋग्० १, १००, १७	५३९
ऋज्वर्थायां···दुर्गसिंहस्य कृतौ ···	(दुर्ग) ऋज्वर्थवृत्ति पुष्पिका	२३४
ऋतायिनी मायिनी सन्दधाते	ऋग्० १०, ५, ३	५६१
ऋतु: संवत्सर:	निरु०, ४, २७	२२२

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
ऋतुशो यजाति	ऋग्० १०, २, ५	१५४
ऋतो भारद्वाजस्य	पा० ७, २, ६३	२६७
ऋदुपधाच्चाक्लृपि चृते:	पा० ३, १, ११०	३३०
ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति आख्यानसंयुक्ता	निरु० १०, १०; ४६	१५४
ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू	ऋग्० ६, ४७, ८	१९७
ऋहलोर्ण्यत्	पा० ३, १, ११४	३३०
ए		
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि यमं मातरिश्वानमाहु:	ऋग्० १, १६४, ४६	१९२
एकविंश: स्तोमो वैराजं सामानुष्टुप् छन्द: …	ऐ० ब्रा० ५, ४, १	२२१
एतदेव सौनागैविस्तृततरकेण पठितम्	म० भा० २, २, १७	३४६
एतद्वै यज्ञस्य…ऋगभिवदति	ऐ० ब्रा० १, ४, ९	२२१
एतद्वै यज्ञस्य…च ब्राह्मणम्	निरु० १, १६	२२१
एतस्माद् वै…समुद्द्रवन्ति	श० ब्रा० १४, २, २, २	२२२
एतान्यविदित्वा … पापीयान् भवति	माध्यन्दिनीय सर्वानुक्रमसूत्र	५९६
एतावता एवाष्टौ…प्रमादपाठ:	का० पा० ४, २, ६७	३०८
एतावन्तः समानकर्माणो धातव:	निरु० १, २०	२८८
एदोत्पर: पदान्ते लोपमकार:	कातन्त्र १, २, ४०	४४९
एवञ्च कृवापेत्या०…नामेति भाष्येऽन्वय:	म० भा०, पा० ३, ३, १ पर उद्योत	२६३
एवं चटकादैरगित्येतत्…इति पाठ:	न्यास, पा० ४, १, १२८	२७६
एवं तर्ह्याचार्य०…गौरादिषु पठति	म० भा० १, ४, २ ; ६, ४, २२	३०५
एवं तर्ह्याचार्य…प्रभृतिषु पठति	म० भा० १, १, २२	३०५
एष ते योनि:	मा० सं० ७, ८ ; तै० सं० १, ४, २, १-१३	६१४
एषा ह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्या फाल्गुनी पूर्णिमा	श० ब्रा० ६, २, २, १८	१४१
ऐ		
ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं…शाकल्यम्पाणिनीयकम्	(उद्धृत)	२६१

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
ओ		
ओं वाजेभिर्वाजिनीवतीऽ२	सा० सं० १८९	६३१
ओं संगमे च नदीनां नाऽ३म् (उद्गीथः)	गायत्रविधानसूत्र द्वारा उद्धृत (द्वितीय कण्डिका)	६३१
ओङ्कारं पृच्छामः को धातुः··· किं स्थाननादानुकरणम्	गोपथब्राह्मण	२४५
ओवनाट्ठट्—स्वरं तु वक्ष्यामः	चान्द्रवृत्ति ३, ४, ६८	४५२
ओमाच्छादेव विवाससीऽ२	सा० सं० ६६२	६३१
ओमार्च्चयन्त्यर्कमर्किणो ब्रह्मणस्त्वा शतक्रताऽ२	सा० सं० ३४२	६३१
ओरावश्यके	पा० ३, १, १२५	३३०
ओष्ठयोः स्वरयोर्मध्ये संयोगादिर्यदि स्थितः । विसर्गात् क्षपरावूर्ध्वमुभयत्रार्धमात्रिकः ॥	सर्वसम्मत शिक्षा ४, ८०	४०
औ		
औकारं युग्मयोः	ऋक्प्रा० २, १९	७५
क		
ककुत् च कुब्जश्च कुब्जतेर्वा, उब्जतेर्वा	निरु० ७, १२	२१३
कच्छपः—कच्छं पाति, कच्छेन पातीति वा, कच्छेन पिबतीति वा	निरु० ४, १८	३६४
कच्छेन पिबति	म० भा० ३, १६२	३६४
कष्टकः=कृन्तते:	निरु० ९, ३२	२१५
कण्ठो वक्त्रादिमध्यान्तं दन्तमूलान्तनासिकम् । ताल्वोष्ठमुरःस्थानानि वर्णानां करणान्यधः ॥	व्या० शि० २४, ६	३५
कण्ठ्यान् आस्यमात्रान् इत्येके	पा० शि० १, ७	५५
करणमध्यं तु विवृतम्	च० अ० २, ४५	१०५
कर्णः ऋच्छतेरित्याग्रायणः	निरु० १, ९	१६४
कर्तृकर्मणोः कृति, 'नित्यम्' न निष्ठादिषु	कातन्त्र व्याकरण चतुर्थ अध्याय	४४९
कर्मण्यण्	पा० ३, २, १	३३०
कर्मन्दिनो भिक्षवः	पा० ४, ३, १११	३३६
कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते	ऋग्० ३, ५३, ६	१९७

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
काक:—न शब्दानुकृतिर्विद्यते	निरु० ३, १८	१६४
काकुदम्—कोकुवा + √धा—जिह्वा कोकुवा साऽस्मिन् धीयते	निरु० ५, २६	३६६
काण्डे विद्धिभ्य इत्यन्ये पठन्ति	पदमञ्जरी ४, १, ८१	२७६
कान्तिकर्माण उत्तरे धातवोऽष्टादश	निरु० ३, ९	२८८
कामं कामं म श्रवर्तय	मै० सं० ४, २, ११	५७५
काम्यायै स्वाहा	मै० सं० ४, २, ८	५७५-७६
कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्	महाभाष्य १, १, ५	४३६
किन्तु बाष्कलानामप्रगृह्य:, तदर्थं वचनम्	शां० श्रौ० सू० १, २, ५	७८
कुत्स:—कर्ता स्तोमानाम्	निरु० ३, ११	१६४
कुत्साय शुष्णं कृपणे परावात्	ऋग्० १०, ९९, ९	५६०
कुरवोऽऽत्महितं मन्त्रं सभायाञ्चक्रिरे मिथ:	का० वृ० टी० १, ५, ६८	४४९
कुहूमहं सुकृतं ··· देवि हविषा विधेम	निरु० ११, ३३	२२०
कुहूमहं सुभगां ··· विद्मना ···	तै० सं० ३, ३, ११	२२०
कूलं रुजतेर्विपरीताल्लोष्टोऽविपर्ययेण	निरु० ६, १	३६६
कृतेस्तर्कु: कसे: सिकता: हिंसे: सिंह:	महाभाष्य १, १, २	२२५,३६४
कृत्ति: ··· ··· अन्नं वा	निरु० ५, २२	१६१
कृष्टपच्यस्यान्तोदात्तत्वञ्च कर्मकर्तरि च	पा० ३, १, ११४, वा० ३	३५४
कृष्णं कृषतेर्नाशार्थस्य, तम आदेर्नाशयिता	वार० निरु० पृ० ३०	१७३
कृष्णं कृष्यते:, निकृष्टो वर्ण:	निरु० २, २०	१७३
केचित्तु श्वोभूति-व्याडिप्रभृतय: ··· प्रश्लिष्ट इत्येवमाचक्षते	न्यास (का० ७, २, ११)— जिनेन्द्रबुद्धि	४०२
केलिमर उपसंख्यानम्	पा० ३, १, ९६, वा०	३५४
कौपिञ्जल इत्यस्यापाणिनीयत्वं आथर्वणिकस्येकलोपश्च	म० भा० ४, ३, १३२	२७८
कौपिञ्जलहास्तिपदादण्	म० भा० ४, ३, १३१,	२७८,३५०
क्यब्विधौ वृञ्ग्रहणम् 'वार्या ऋत्विज:'	पा० ३, १, १०९, वा० १	३५४
क्रियाप्रधानमाख्यातं ··· द्रव्यप्रधानं नाम	महाभाष्य ५, ३, २	२२५
क्रीळन् नो रश्म आ भुव:	ऋग्० ५, १९, ५	४७१
क्रुकन्नपि वक्तव्य:	कात्यायन वार्तिक (पा० ३, २, १७४)	३१७

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
क्रौड्यादिभ्यश्च	पा० ४, १, ८०	२५७
क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसंप्रसारणञ्च	कात्यायन वार्तिक (पा० ३, २, १७८)	३१७
क्विब्वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रप्रुज्वां दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च	उणा० २१५	३१७
क्षुभ्नादीनाम्	च० अ० ३, ९४	०९
ख		
खनखनाय नमः स्वाहा	आथर्वण नक्षत्रकल्प	६७९
ग		
गणकारेणापि हि किं ··· कृतिगणकारेण	का० पा० ४,१,१०६; ५,३,११७ पर न्यास	३०६
गलितं यद् गृहीतादि ··· यद् विहाय तत्	गलितप्रदीप, ७	५६३
गायत्रेण प्रतिमिमीते अर्कम्	ऋग्० १, १६४, २४	४६७
गावो न धेनवोऽनवन्त	ऋग्० १०, ९५, ६	५६१
गिरौ छन्दसि	पा० ३, २, १५, वा० ४	३५४
गेह्याय	वा० सं० १६, ४४	२६
गोत्रावयवात्	पा० ४, १, ७९	३०२
गोर्न पर्व विरदा तिरश्चा	ऋग्० १, ६१, १२	४७९
गौरश्वः पुरुषो हस्तीति	निरु० १, १	२२५
गौरश्वः पुरुषो हस्तो शकुनिमृगः ···	महाभाष्य १, १, १	२२५
ग्नास्त्वा ···अवततधन्वा	निरु० ३, २१	२२०
ग्रामो ग्रामो रमणीयः	आख्याता० द्वितीय अध्याय	५३८
घ		
घनघनाय नमः स्वाहा	आथर्वण नक्षत्रकल्प	६७९
घरतिरस्मा अविशेषेणोपदिष्टः स घृतं घृणा धर्म इत्येवंविषयः	पा० ७, १, ९६पर म०भा०	३६५
घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिदर्थम्	कात्यायन वार्तिक	३४६
घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम्	भारद्वाज वार्तिक १, १, २०	३४६
घृतं न पूतं··· ··· ···न रोचत स्वधावः	ऋग्० ४, १०, ६	४८१,४८७

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
घृतप्रधानो रौढिः घृतरौढिः, तस्य छात्राः घृतरौढीयाः	काशिका १, १, ७३	२५७
घृतमिति उदकम् । जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः	निरु० ७, २४	२२४
घोरा मर्ताय रिपवे निदीधः	ऋग्० ६, ६७, ४	५६१
ङ		
ङे प्रथमयोरम्	पा० ७, १, २८	३०६
ङे सुटोरम्	न्यास, का० ७, १, २८	३०६
च		
चतुर्णां पदजातानां नामाख्यातोपसर्गनिपातानां सन्ध्यपद्यौ गुणौ प्रातिज्ञम्	वा० प्रा० १, १	१०२
चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षितानि)	मीमांसक, चान्द्रवृत्ति, पृ० २८४	२५९
……चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च	महाभाष्य १, १, १	२२५
चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चमः इत्यौपमन्यवः	निरु० ३, ८	१६९
चादयोऽसत्वे	पा० १, ४, ५७	३०७
चनः—पचता	निरु० ४, ३, ६४-६५	१६१
चिदसि मनागसि०	मा० सं० ४, १९	५७५
छ		
छन्दयति—आह्लादयते इति छन्दः	(क्षीरस्वामी) अमर० ३, २, २०	४७०
छन्दांसि छादनात्	निरु० ७, १२	४६९
छन्दोगौक्थिकयाज्ञिक०	पा० ४, ३, १२९	३३४
छन्दो ज्ञानमिदं भवाद्……प्राप्यस्मादाद्यैः क्रमात्	पिङ्गलछन्दःसूत्र (यादवप्रकाश टीका)	४७३
छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति	महाभाष्य १, १, १	२७६
ज		
जज्ञानः सप्त	सा० सं० १०१	६३३
जठरे सोमं तन्वी सहो महः	ऋग्० २, १६, २	५१२
जनिवधोरिगुपान्तानां च स्वरं वक्ष्यामः	चान्द्रवृत्ति १, १, १०८	४५२

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
जन्मञ्जन्मन् निहितो जातवेदा:	ऋग्० ३, १, २०	२०५
जमदग्निवद्वुर्वदप्तववच्चयवनद्भृगुवद्०	मा० परि०, प्रावरिकासूत्रम्	६१९
जरद्भिरित्यपि पाठः केनचिदाचार्येण बोधित:	का० पा० २, १, ६७ पर पदमञ्जरी	२७६
जरयन्तीति जारा:, जीर्यन्ते तैर्जारा:	म० भा० ३, ३, २०	३६४
जातानि वेद	निरु० ७, २९, २	२०५
जात आपृणो भुवनानि रोदसी	ऋग्० ३, ३१, १०	२०६
जाते जाते विद्यते	निरु० ७,१९	२०५,२०६
जातो यदग्ने भुवना व्यख्य:	ऋग्० ७, १३, ३	२०६
जार:-रात्रेर्जरयिता	निरु० ३, १६	३६४
जिघर्तें: सिञ्चतिकर्मण:	निरु० ७, २४	३६५
जीविकोपनिषदौपम्ये	पा० १, ४, ७९	३३४
जीवेरदानुक्	उणा० १, १६३	३२२
जुहोतेर्होता	निरु० ७, १	१६५
जूर्णो वामक्षुरंहसो यजत्रा	ऋग्० १, १८०, ५	५६०
ज्वलतिकर्माण उत्तरे धातव: एकादश	निरु० २, २८	२८८
झ		
झलां जश् झशि	पा० २, ३, १	४३४
ठ		
ठक्प्रकरणे शकलकर्दमाभ्यामुपसंख्यानम्	वा० पा० ४, २, २	४२९
ण		
णिन्विधौ साधुकारिण्युपसंख्यानम् कर्तव्यम् । साधुकारी साधुदायी	पा० ३, २, ७८, वा० १ (पतञ्जलि)	३७२
त		
त उत्स्नाया (स्नाय) रयिमभि प्रतस्थु:	ऋग्० २, १५, ५	५१२
तं वाजं चित्रम् ऋभवो ददा न:	ऋग्० ४, ३६, ९	५११
तं च यो……अन्येऽप्याचार्या इति वाक्यशेष:	निरु० (दुर्ग) पृ० ५	१५९

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
तड़ित् ·····ताडयतीति सत:	निरु० ३, १०	२२४
ततश्चत्वारि सन्ध्यक्षराण्युत्तराणि	ऋक्प्रा० २, २	७५
तत्र कौथुमानां सप्त··· ···नैगेयाश्च	बेवर—नैगेयशाखानुक्रमणी की भूमिका	६२५
तत्र द्वे नाम्नी आचक्षाण आश्नुवानः, आपान आप्नुवान:	निघ० पृ० २०४	१५९
तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च	निरु० १, १३	१६८
तत्रार्षदैवतयोरर्थावबोधने उपयुज्यमानत्वात् ते वर्शयिष्यते, न छन्द: अनुपयुज्यमानत्वात्	ऋग्वेदभाष्य आरम्भ (स्कन्दस्वामी)	४६९
तत्सवितु: वरेण्यम्	ऋग्० ३, ६२, १०	४९५
तथा सामगा आहुः—वृद्धं तालव्यमाह भवतीति	द्र० सामश्रमी सं० पुष्प० की भूमिका	१३१
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनुष्ठन	अथर्व० ३, १३, २	२४४
तदाह सर्वानुक्रमणीकारो०··· ···वा स्यादिति	यास्ककृत तैत्तिरीय सर्वानुक्रमणी	५६८
तदेतदेकमेव जातवेदसं ·····स्थाने विनियुज्यते	निरु० ७, २०	४७२
तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्	वा० प० १, १२	४४२
तद्यान्येतानि······चोपसर्गनिपाताश्च भावप्रधानमाख्यातं सत्वप्रधानानि नामानि	निरु० १, १	२२५
तद्वा एष एव शुक्रो······एव मन्थी	श० ब्रा० ४, २, १, १	१३९
तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयाम: शतक्रतो	ऋग्० १, ४, ९	२४३
तं त्वा शोचिष्ठ	ऋग्० ५, २४, ४	५९८
तन्नो मित्र:	ऋग्० १, ९४-११५	५०९
तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते	निरुक्त १, १	१५९
तयोरादित्ययो:······न्यपतद्वासतीवरे	बृ० दे० ५, १४९	२२३
तर्कु:—आद्यन्तविपर्यय:	निरु० २, १	३६४
तव वायवृतस्पते	वा० सं० २७, ३४	२७
तव स्वादिष्ठा	ऋग्० ४, १०, ५	४८७
तव्यत्तव्यानीयर:	पा० ३, १, ९६	३३०,३५४
तव्यस्य वा स्वरितत्वं वक्ष्याम:	चान्द्रवृत्ति १, १, १०५	४५
तस्मात्तत्समाम्नाये प्रातिशाख्याविरोधत: कार्यं सर्वं व्यवस्थाप्यं शिक्षाव्याकरणोदितम्	आपिशलिशिक्षा	४२

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
तस्मात्पुमान्दायाद:……न पुमांसम् इति च	मै० सं० ४, ६, ४, निरु० ३, ४	२२०
तस्मादश्व: पशूनामाशु:	तै० ब्रा० ३, ८, ७, २	२४४
तस्मादाहुरन्धो भग इति	श० ब्रा० १, ७, ४, ६	२२२
तस्मादित्युत्तरस्यादे:	वा० प्रा० १, १३५ ; पा० १, १, ६७	९७
तस्मान्नैतान्यहं समामने	निरु० ७, १३	१६२
तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य	वा० प्रा० १, १३४ ; पा० १, १, ६६	९७
तस्मै विश: स्वयमेवा नमन्ते	ऋग्० ४, ५०, ८	५१२
तस्य व्याख्यान:	पा० ४, ३, ६६	३३४
ता अस्य	शौ० शि० १३	२०
तार्ड्रेणि लुक् च	उणादिसूत्र १, १००	२२४
तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत्	तै० सं० ६, ४, ७, ३ (सायणभाष्य)	२४६
तालव्यमायि यद्वृद्धम् अवृद्धं प्रकृत्या	पुष्पसूत्र ३, १	१३२
तितउ-ततवद्वा, तुन्नवद् वा, तिलमात्रतुन्नमिति वा	निरु० ४, ९	३६५
तितउ परिपवनं भवति ततवद् वा तुन्नवद् वा	म० भा० १, ४२	३६५
तुरुस्तुशम्यम: सार्वधातुके	पा० ७, ३, ९५	२६६
तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्	पा० १, १, ९	९७
तुविम्रक्षासो दिव्या	ऋग्० ६, ६, ३	५६१
तूर्णाशम् उदकं भवति	निरु० ५, १६	१६१
तेजस्त्वेवायुधं प्राहुर्वाहनञ्चैव यस्य तत्	बृ० दे० १, ४	१९४
ते(यज्ञं)देवा…दक्षिणा नाम	श० ब्रा० २, २, २, २	२२२
ते देवा इन्द्रम्…अवक्रम्य व्याकरोत्	तै० सं० ६, ४, ७, ३	२४६
तेनासुनाऽसुरानसृजत् तदसुराणामसुरत्वम्	तै० ब्रा० २, ३, ८, २	२२१
ते निगन्तव एव सन्तो निगमनात्	निरु० १, १	१६४
तेषामेते चत्वार…न्विति	निरु० १, ४	२२३
तꣳल्लोकम्	वा० सं० २, २५	२८
त्यदादीनि पठित्वा गणे कैश्चित् पूर्वादीनि पठितानि	प्रदीप, म० भा० १, १, ३३	३०१
त्यदादीनि वा	पा० १, १, ७४	३०४

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
त्रयो वा ऋतवः संवत्सरस्य	गोपथब्रा० १, ५, ५	२२२
त्रिकं काशकृत्स्नम्	का० पा० ५, १, ५८	२५५
त्रिकं काशकृत्स्नीयम्	अमोघावृत्ति ३, २, १६१	२५५
त्रिणवस्तोम: शाक्वरं साम पंक्तिश्छन्द:	ऐ० ब्रा० ५, ६, १	२२१
त्रिधा निधत्ते पदम्-समारोहणे, विष्णुपदे, गयशिरसि	निरु० १२, १९	१६५
त्रीणि च वै शतानि। षष्टिश्च संवत्सरस्याहानि	ऐ० ब्रा० २, १७, २	२२१
त्रीणि शता त्रीसहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्	ऋग्० ३, ९, ९	१९०
···त्रैष्टुभं छन्द:······ग्रीष्ममृतुम्	गोपथब्रा० १, १, १७	२२२
त्र्यम्बकं यजामहे	ऋग्० ७, ५९, १२	४७८-४८७
त्वमग्ने वरुणो···यत् समिद्ध:	ऋग्० ५, ३, १	१९५
त्वमिन्द्र बलादधि	ऋग्० १०, १५३, २	१८९

द

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
दंशसञ्जस्वञ्जां शपि	पा० ६, ४, २५	४३४
दक्षं दधाते	ऋग्० १, २, ९	५६१
दक्षिणा दक्षते: समर्धयतिकर्मण:	निरु० १, ७	२२२, २२४
दण्ड:-दमनात्	निरु० २, २	१६४
दण्डय:<दण्ड<√दम् ; राजपुरुष:-राज्ञ:पुरुष:	निरु० २, २ ; २, ३	२१२
दधाते ये अमृतम्	ऋग्० १, १८५, ६	५६१
दधाते ये सुभगे	ऋग्० १, १८५, ७	५६१
दन्तमूलस्तु तवर्ग:	पा० शि० १, ११	५५
दारावाहनोऽणन्तस्य च ट: संज्ञायाम्	पा० ३, २, ४९, वा० १	३५४
दावने	निरु० ४, १	१६१
दाश्वान् इति यजमाननाम	(ऋग्० ६, ६२, ३) स्कन्दस्वामी भाष्य	१७०
दाश्वान् इति यजमाननाम शाकपूणिना पठितम्	निरु० १, ४ (स्कन्दभाष्य)	१७०
दिक्कालाद्यनवछिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये । स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥	नीतिशतक १	३७९
दिवं गच्छ स्व:पते	वा० सं० १२, ४	४९५
दिवि पृष्टो अरोचताग्निर्वैश्वानरो बृहत्	वा० सं० ३३, ९२	२०६

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
दिवेरैश्वर्यकर्मणो देव:	म० भा० ४, २७५	३६७
दिव्या न कोशास:	ऋग्० ९, ८८, ६	५६१
दुहीयन्मित्रधितये	ऋग्० १, १२०, ९	४९५
दूढ्यम्-दुर्धियम्, पापधियम्	निरु० ५, २	३६४
दृष्टक्रमत्वात्समयात् ··· प्रागस्येवतीत्य च	ऋक्प्रा० १०, १९	५६२
देवस्य त्वा	काण्डा० १, ३, १	५७२
देवीराप: शुद्धा वोढ्वꣳसु	वा० सं० ६, १३	२७
देवेभ्यो वनस्पते···रजिष्ठै:	निरु० ८, १९	२२०
देवो व: सविता	वा० सं० १, १	२७
द्युम्नं·· अन्नं वा	निरु० पृ० ३७५	१६१
द्रुदक्षिभ्यामिनन्	उणादिसूत्र २, २०८	२२४
द्वतीया, सौमीति नैरुक्ता:	नैगेयशाखानुक्रमणी- २, २१०	६२९
द्वादशारत्नीरशना कर्तव्या३···तस्य त्रयोदशो मासो विष्टपम्	तै० ब्रा० ३,८,३	१४०
द्वार:-जवतेर्वा, द्रवतेर्वा, वारयतेर्वा	निरु० ८, ९	२१४
द्वित्रिपूर्वादण्	म० भा० ५, १, ३६	२७८
ध		
धनं कस्मात् धिनोतीति सत:	निरु० ३, ९	२२६
धातूनामर्थनिर्देशोऽयं···यदाहुः	क्षीर० पृ० ३, ३३३ (मीमांसक संपा०)	२९६
धाय्या रूपम्	वा० सं० १९, २४	२६
धिनोतिर्धनम्	महाभाष्य ५, १, २	२२६
ध्यपूर्वस्य स्त्रीविषयस्य	फिट्सूत्र १, ५	३२५
न		
नकारस्य विसर्जनीय:	अ० प्रा० १९६	११५
नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मण:	निरु० ३, २०	२२१
न गोपवनादिभ्य:	पा० २, ४, ६७	३०१
नवं व ओवतीनाम्	ऋग्० ८, ६९, २	४७०-४८२
न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहु:	निरु० १, ३	१६८
न नूनमस्ति नो श्व:···विनश्यति	निरु० १, ६	२२३

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
न पूर्वयोः फल्गुन्योरग्निमादधीत·· संवत्सरस्य यदुत्तरे फल्गुनी	तै० ब्रा० १, १, २, ८	१४१
नमः पारस्कराय । नमो यास्काय	निरु० परि० द्वितीय अध्याय	१७३
नमः शम्भवे च	मै० सं० २, १०, ३४	५८०
नमस्ते रुद्रमन्यवे	मै० सं० २, ९, १४	५७९
न रीषते वावृधानः परा दात्	ऋग्० ५, ३, १२	५६०
न वा एकाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्	ऐ० ब्रा० १, ६ ; २, ३७	४७७
न वा विभक्तौ	पा० ७, १, १, वा० १३	३४९
नवोनवो भवति जायमानः	ऋग्० १०, ८५, १९	२०५
न श्वो नाद्यतनं ··· चित्तमेव विनश्यति	बृ० दे० ४, ५०-५१	२२३
न संस्कारमाद्रियेत, विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति	निरु० २, १	२२७
न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानाञ्चैके	निरु० १, १२	१६६
नान्तः पादं व्यपरे	पा० ६, १, ११५	२७६,३६८
नानाकर्मत्वाच्च निर्वचनान्यत्वम्	निरु० २, ८ (स्कन्दभाष्य)	२१४
नान्दीमुखा पितरः प्रियन्ताम्	गोभिलपरिशिष्ट—चतुर्थी कण्डिका	६३६
नामन्त्रिते समानाधिकरणे	पा० ८, १, ७३	२७७
नासत्यौ सत्यस्य प्रणेतारौ इत्याग्रायणः	निरु० ६, १३	१६४,१६५
निचृद् गायत्री, निचृद् अनुष्टुप्	ऋक्प्रा० १७, २	४७८
नित्यमाम्रेडितेडाच	पा० ६, १, १००	३५०,३९५
निपाता ··· संग्रहार्थेऽपि पदपूरणाः	निरु० १, ४	२२३
निद स्वसारमस्कृतोषसम्	ऋग्० १०, १२७, ३	५६७
नीचैरनुदात्तः	पा० १, २, ३०	४३४
नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन	ऋग्० ९, ६९, ६	१८९
नैकं पदजातम् यथा अर्थः पदम् इत्यैन्द्राणाम्	निरु० पृ० ८ (दुर्ग० वेंकटेश्वर प्रेस)	२४७,२४८
नैगाख्यं लघु ऋक्तन्त्रञ्चन्द्रिकाख्यं स्वस्य तु	(हरदत्त) सामसर्वानुक्रमणी	१२७
नैगिनौभयथा	ऋक्तन्त्र- ५९	६२९
नैगिरुपस्थे	ऋक्तन्त्र- १६२	६२९
नैवं विज्ञायते ·····अयज्ञश्चेति	म० भा० ४, १, १६	२७६

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
नोदात्तस्वरितोदयम्	वा० प्रा० ४, १४३=पा० ८, ४, ६७	९७
न्याविध्यविलीबिशस्य	ऋग्० १, ३३, १२	५६६
न्युब्जा:-न्यग्रोधाः	ऐ० ब्रा० ३५, ४	२१०
प		
पंक्तिर्वै परमा विराट्	तां० ब्रा० २४, १०, २	४९६
पचति पचति, लुनीहि लुनीहि स्मारं स्मारं रोदिति	आख्याता० द्वितीय अध्याय	५३८
पचाद्यनुक्रमणमनुबन्धासञ्जनार्थमपवादबाधनार्थं च	पा० ३,१,१३४, वा० २	३५४
पञ्चजनाः—चत्वारो वर्णा:, निषाद: पञ्चम:	निरु० ३, ११	१६४
पञ्चर्तव: संवत्सरस्येति······ब्राह्मणसमासेन	निरु० ४, २७	२२१
पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन । तावान् संवत्सर:	ऐ० ब्रा० १, १, १४	२२१
पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थका कमीमिद्विति	निरु० १, ९	२२३
पन्था आदित्यानाम्	ऋग्० ८, १८, २	२०
परवल्लिगम्	पा० २, ४, १६ ; वा० ६	३४९
परावीरास एतन मर्यास:	ऋ ५, ६१, ४	५६६
परि: सर्वतोभावे वर्तते	महाभाष्य ५, १, १	२२५
परि इति सर्वतोभावम्, अधि इत्युपरिभावम्	निरु० १, ३	२२५
परि प्रजात: क्रत्वा बभूथ भुवो देवानां पिता पुत्र: सन्	ऋग्० १, ६९, १	१९६
परिभाषान्तरमिति च ··· विप्रतिषेधेनेति	म० भा० १, १, ३	३४७
परिमाणग्रहणञ्च	म० भा० १, ३, १	२९१; २९७
परेष्वंकारमोजयोः	ऋक्प्रा० २, १८	७५
परोक्षप्रिया वै देवाः	ऐ० ब्रा० ३, ३३	२१०
पर्षच्छ्लोक:	ऋक्त० सूत्र १७९	१२६
पवस्य विश्वचर्षणे	ऋग्० ९, ६६, १	५३९
पशुः पश्यते:	निरु० ३, १६	२२२
पाघ्राध्मा०	पा० ३, १, १३७	३३१
पाटलापालङ्काम्बासागरार्थानाम्	फिट्सूत्र १, २	३२५
पाणिनीयरौढीया:, रौढीयकाशकृत्स्नाः	का० पा० ६, २, ३७	२५७
पात्रे समितावयश्च	पा० २, १, ४८	३०७
पाराशरिणो भिक्षव:	पा० ४, ३, १००	३३६
पितरञ्च दृशेयं मातरञ्च	ऋग्० १, २४, १-२	५६४

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
पितरस्तर्पयामास	का० वृ० टी० २, १, ६६	४४९
पित्स्वराच्चित्स्वरो बलीयान्	तु० महाभाष्य ३, १, ३	२८३
पिनाकहस्तो कृत्तिवासाः ···	मै० सं० १, १०, ४	२२०
पिप्पल्यादयश्च	पा० ४, १, ४१	३०९
पिबा वधूग् यथोचिषे	ऋग्० ८, ८२, २	५६१
पीड़ितः सन्नतरो हीनश्वासनादः	अ० प्रा० १, ४३	९
पुनरुक्तप्रयोगः। ···आचार्यसंहिताभ्यासार्था	कौ० सू० ८, २१ (टीका दारिल)	६८०
पुरस्ताज्ज्योतिः जगती	पिसू० ३, ५२	४९६
पुरस्ताज्योतिः त्रिष्टुप्	ऋक्प्रा० १६, ७०	४९६
पुरुष एवेदं ··· यदन्नेनातिरोहति	ऋग्० १०, ९०, २	१९२
पूर्णा दर्वीति पृथग् ग्रहणात् ग्रहणमाग्रहणात्	कौ० सू० ८, २१	६८०
पूर्वं हि धातुरुपसर्गेण ··· पश्चादुपसर्गेण	महाभाष्य ६, १, १३५	२८६
पूर्वत्रासिद्धम्	पा० ८, २, १	४३६
पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा	पा० ७, १, १६	२०४
पूर्वापरदक्षिणोत्तराधराणि ; स्वमज्ञाति०	पा० १, १, ३४-३५	३०९
पूर्वापरिभूतं भावमाख्यातमाचष्टे	निरु० १, १	२३१
पूषा त्वेतश्चावयतु प्र विद्वान्	अ० वे० सं० १८, २, ५४	११५
पृथिवी होता	चतुर्होत्रक परिशिष्ट १३, ३	५९४
पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्	पा० ६, ३, १०९	३०८
पोरदुपधात्	पा० ३, १, ९८	३३०
प्रकृत्यान्तःपादं व्यपरे	पतञ्जलि म० भा० (पा० ६, १, ११५)	२७७,३६८
प्रथनात् पृथिवीत्याहुः	निरु० १, १३	२२४
प्रथमान्तानि तृतीयान्तानीति शौनकस्य प्रतिज्ञानं न वृत्तिः	चतुर० ११८	४४६
प्रथेः षिवन् संप्रसारणं च	उणादिसूत्र १, १५०	२२४
प्रनु महित्वं······अव शम्बरं भेत्	ऋग्० १, ५९, ६	२०७
प्रप्र यज्ञं पृणीतन	ऋग्० ५, ५, ५	५३८
प्रवाहणस्य ढे	पा० ७, ३, २८	३०४
प्रशस्ताः स्थ कल्याण्यः	मै० सं० ४, २, १३०	५७५
प्राग्दीव्यतोऽण्	पा० ४, १, ८३	३०४

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
प्रातर्मक्षु	ऋग्० १, ५८, ९	५०९
प्रातर्हि यज्ञमश्विना दधाते	ऋग्० ५, ७७, १	५६१
प्रिया वो नाम हुवे तुराणामा यत् तृपन्मरुतो वावशाना:	ऋग्० ७, ५६, १०	४७६
प्रोवाच संहितास्तिस्र: ··· ···चतुर्थं द्विजसत्तम:	वायु० ६१, २	१७०
प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्	पा० ६, १, १२५	२७७
फ		
फणिभाषितभाष्याब्धे: शब्दकौस्तुभमुद्धरे	शब्दकौस्तुभ-मंगलश्लोक	४२५
ब		
बलं हि प्राण:, प्राणश्च वायुर्वायुश्चेन्द्र:	निरु० ७, १० (स्कन्दभाष्य)	२०१
बिभया हि त्वावत:	ऋग्० ८, ४५, ३५	५११
बीरिटं तैटीकिरन्तरिक्षमेवमाह	निरु० ५, २७	१६७
बृहद्वदेम	ऋग्० ९, ८६, ४८	५०९
बृहस्पति: प्रथमं जायमानस्तिष्यं नक्षत्रमभिसंबभूव	तै० ब्रा० ३, १, १	१३८
बृहस्पति: प्रथमञ्जायमानो महो ज्योतिष: परमे व्योमन्	ऋग्० ४, ५०, ४	१३९
ब्रह्म च इञ: प्राच्यभरतेषु	पा० २, ४, ६६	३०२
ब्रह्मजज्ञानम्	मै० सं० ४, १४, १३७	५८०
ब्रह्मणस्पते सूयमस्य	मै० सं० ४, १२, १५	५८०
ब्रह्मयुजो हरय इति	सा० सं० १, २१५ ; २, ७४१	२६७
ब्रह्म वर्म ममान्तरम्	ऋग्० ६, ७५, १९	६७८
ब्रह्म सन्धत्तम्	काण्डानु०, काण्ड २, ब्रा० १, १, १	५७२
ब्रह्मा देवानाम्	मै० सं० २, ७, १९७	१८०
ब्रह्मा देवानाम्, सौरीति नैरुक्ता:	नैगेयशाखानुक्रमणी २, २९४	६२९
ब्राह्मणात् तण्डिनश्चैव··· ···छन्दसां ज्ञानमुद्धृतम्	उपनिदानसूत्र (गार्ग्य)	४९८
·· ···ब्राह्मणानि भवन्ति । पृथिवी वैश्वानर: । संवत्सरो वैश्वानर:	निरु० ७, २४	२२२
भ		
भक्ष्येण मिश्रीकरणम्	पा० २, १, ३५	४३४
भद्रं नो अपि वातय मन:	ऋग्० १०, २०, १	५३३

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
भार्गवच्यावनाप्तवानौर्वजामदग्न्य०	मा० परि० प्रावरिकासूत्रम्	६१९
भावप्रधानमाख्यातम्, सत्वप्रधानानि नामानि	निरु० १,१	१७५,२२७
भिक्षादिषु युवतिग्रहणानर्थक्यं ······प्रतिषेधार्थम्	म० भा० ४, ३, १३४	३०५
भियः क्रुकन्	उणा० १८९	३१७
भियःषुग्वा	उणादिसूत्र १, १४७	२२४
भीमो बिभ्यत्यस्मात्	निरु० १, २०	२२४
भुरिक् गायत्री, स्वराड् गायत्री	ऋक्प्रा० १७, ३	४७८
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः	ऋग्० १, १६४, ५१	२०८
भूवादयो धातवः	पा० १, ३, १	२७९
भृगुवच्च्यवनवदप्नवानवदूर्ववज्जमदग्निवद्०	मा० परि०, प्रावरिकासूत्रम्	६१९
भ्रमेश्च डुः	उणा० २२६	३१७
म		
मंसीमहि	ऋग्० १०, २६, ४	४८२
मंहतिर्दानकर्मा	महाभाष्य ६, १, १	२२५
मंहतेर्दानकर्मणः	निरु० १, ७	२२५
मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह	पा० शि० ५२—घोष सं०	५८
मयूरव्यंसकादयश्च	पा० २, १, ७२	३०७
मरुच्छब्दस्योपसंख्यानम्	म० भा० १, ४, ५९	३०५
महत्तत्, सौरीति नैरुक्ताः, वैश्वदेवीत्येके	गायत्रविधानसूत्र १, ५४२	६२९
महावाताय पिंगलनेमाय नमः स्वाहा	आथर्वण नक्षत्रकल्प	६७९
माध्यन्दिनं··· बृहत्साम	निरु० ७, १०	२२२
मा नः शंसो अररुषो	ऋग्० १, १८, ३	५३६
मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा यज्ञो अस्य स्रिधदृतायोः	ऋग्० ७, ३४, १७	४७६
मा सकृद् वृकः	ऋग्० १, १०५, १८	२१८
मासि मासि वोऽशनम्	गोभिलपरिशिष्ट—चतुर्थी कण्डिका	६३६
मिताक्षरेषु ग्रन्थेषु ······त्वनेकार्थकाश्च ते	बृ० दे० २, ९०-९१	२२३
मिहेर्मेघः	म० भा० खण्ड ३, पृ० १६	२२६
मुखं व्याकरणं स्मृतम्	पा० शि० ४२	२४३

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
मूर्धन्या: प्रतिवेष्ट्याग्रम्	वा० प्रा० १, ७८	
मूर्धा भुवो भवति ·····प्रातरुद्यन्	ऋग्० १०, ८८, ६	१९५
मृतं च्यावयतीति वा शतबलाक्षो मौद्गल्य:	निरु० ११, ६	१६८
मेधा-मतौ धीयते	निरु० ३, १९	२१४
मेहतीति सत:	निरु० २, २१	२२६
य		
य: पूर्वापरीभूतं ······तमर्थमाहु:	बृ० दे० १, ४४	२२३
यं वै सूर्यं ······नह्यन्ये अशक्नुवन्	ऋग्० ५, ४०, ९	१३८
य आत्मदा	ऋग्० १०, १२१, २	२०
य इन्द्र इव देवेषु	अ० वे० ९, ४, ११	६६४
य एकश्चर्षणीनाम्	ऋग्० १, १७६, २	५६२
यक्चिणो: ······उपसंख्यानम्	भार० वार्तिक	३४६
यक्चिणो: प्रतिषेधे हेतुमण्णिश्रिब्रूञामुपसंख्यानम्	कात्या० वार्तिक	३४६
यजमानस्याशिष:	बृ० दे० ८, ८०	५१८-१९
यजमानाय शक्यज्ञैर्नाम नक्षत्रजं स्मृतम्	यजुर्वेदांग श्लोक १७	१४८
यजुर्वेदसर्वानुक्रमण्यां ······शौनक: इति वचनात्	तैत्तिरीयसर्वानुक्रमणीउद्धरण १६	५६८
यज्जात: ······जातवेदस्त्वम् । तस्मात् ······अभिसर्पन्ति	मै० सं० १, ८, २	२२०
यज्ज्ञानेनोत्तरमध्यमनादि ······तत्प्रतिज्ञानामसूत्रम्	प्रतिज्ञापरिशिष्ट	६०२
यज्ञ:कस्मात् प्रख्यातं ······एनं नयन्तीति वा	निरु० ३, १९	३६५
यज्ञपतिꣳसुधातु	वा० सं० १, १२	२८
यज्ञेन यज्ञम्	वा० सं० ३१, १६	२६
यज्ञो वै विष्णु:	श० ब्रा० १, १, २, १३	२०३
यत्काम ऋषिर्यस्यां ·····स मन्त्रो भवति	निरु० ७, १ ; बृ० दे० १, ६	१८८
यत्तज्जात: ······अभिसर्पन्ति इति च	निरु० ७, १९	२२०
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जस:	वा० प० १, १२	४४२
यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्राधान्यस्तुति तत्समामने	निरु० ७, १३	१६२
यत्र यत्र	वा० सं० २९, ४३	२७
यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्	मीमांसासूत्र २१, १, ३५	४७५

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्रिणां जातवेदाः	तु० अथर्ववेद १, ८, ४	२०६
यत् सङ्गृभ्णा मघवन् काशिरित्ते	ऋग्० ३, ३०, ५	१९७
यथा क्वचिद्यागे······आर्ष पादमियाबिना	जयदेवच्छन्द:, ३, १, २, ३	५०१
यथा पुनरियमन्तरतमनिवृत्ति:··· ···उरण् रपर: इति	म० भा० १, १, ५०	२७६
यथा मणिकृपाणादौ ··· एक एव विभाव्यते	वाक्यपदीय	४४२
यथा वाणी तथा पाणी	या० शि० श्लो० ४६	
यथासंख्यमनुदेशे समानाम्	वा० प्रा० १, ३, १०	९७
यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्		४२७
यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्	महाभाष्य १, १, ११	४३६
यदक्षरपरिमाणं तच्छन्द:	ऋक्सू० २, ६	४८६
यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ··· ···	महाभाष्य १, १, १	२२५
यदद: सं० ··· ··· नामानि सिन्धव:	अथर्व० ३, १३, १	२४३
यदपश्यत्तस्मादेते ··· पशव:	श० ब्रा० ६, २, १, ४	२२२
यदब्रुवन्मेदं प्रजापते ·· इव हि देवा:	ऐ० ब्रा० १३, ९	२१०
यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्, इति हारिद्रविकम्	निरु० १०, ५	२२०
यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्याम्	ऋग्० १, १०८, १०	२०५
यदिष्टिभि: प्रैषमैच्छंस्तदिष्टीनामिष्टित्वम्	ऐ० ब्रा० १, २, १	२४४
यद्गृहीतमविज्ञातं ··· ··· कर्हिचित्	निरु० १, १८	२२५
यद्दिवो हरिव: स्थातरुग्र निरव्रतां अधमो रोदस्यो:	आख्याता० ७, ५-६	५३६
यद् ब्रह्मणि राजनि वा यजत्रा	ऋग्० १, १०८, ७	५६०
यद्यग्निष्टोमेनेष्ट्वा ··· जुहुयात्	चतुर्होत्रक परिशिष्ट ३१	५९५
यद्येनार्त्विज्याद्वरोध्ये ··· ··· जुहुयात्	चतुर्होत्रक परिशिष्ट ३२	५९५
यवनाल्लिप्याम्	पा० ४, १, ४९, वा०	३४०
यस्मिन्नागमे एष शब्द: ··· अतस्तां निर्ब्रवीमि	निरु० ४, २४ (दुर्ग भाष्य)	२३५
यस्य वाक्यं स ऋषि:, या तेनोच्यते सा देवता	सर्वानु० २, ४-५	१८८
यस्य चेश्वरवचनम्	पा० २, ३, ९, वा० १	३४९
यस्या: पदकृवात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिन:	तै० काण्डानु०	५६९
याचिव्याहृ०	पा० ३, १, १३४	३०९
यां चिन्तयामि ··· ···	नीतिशतक—२	३७९

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
यान्युज्जहार माहेन्द्राद् ··· पाणिनिगोष्पदे	महाभारत टीका (देवबोध)	२४८
यामैरयꣳश्चन्द्रमसि	वा० सं० २, २८	२८
या वां कशा	वा० सं० ७, ११	२८
यास्कौपमन्यवावेतानाहतुः ··· मन्यते शाकटायनः	बृ० दे० ७, ६९	१६९
याहि सूनो सहसो यस्य न् चित्	ऋग्० ६, ४४, १८	५१२
युंजतेमान्	काण्डा० १, २, १३	५७२
यूनश्च कुत्सायाम्	पा० ४, १, १६७	३५०,३९५
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः	ऋग्० ७, १, २०	५६४
ये च तद्धिते	पा० ६, १, ६१	३५०
ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये चेमे भूम्यामधि	अथर्व० १०, ९, १२	१९१
ये देवा दिविष्ठा ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्षे	अथर्व० १, ३०, ३	१९१
ये देवासो ··· महिनैकादश स्थ	ऋग्० १, १३९, ११	१९१
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यम्	अ० वे० सं० १, ३५, २	११५
योगविभागात्सिद्धम्	पा० ३, २, ४, वा० २	३५५
र		
रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्	म० भा० पस्पशाह्निक	३९५
रञ्जेश्च	पा० ६, ४, २६	४३४
रयिरिति धननाम, रातेर्दानकर्मणः	निरु० ४, १७	२२४
रश्मिः-यमनात्	निरु० २, ५	२१४
रसादानं तु कर्मास्य ··· निखिला कृतिः	बृ० दे० २, ६	२०१
राजदन्तादिषु परम्	पा० २, १, ३१	३०७
राजयक्ष्महणं सूक्तम्	शौनक (बृ० दे०)	५१६
रातेर्डैः	उणादिसूत्र २, ६६	२२४
रातेर्दानकर्मणः	म० भा० खण्ड ३, पृ० ३६	२२६
रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः	निरु० २, १८	२२६
रात्र्यां पञ्चक्रमः	उपलेख० २, ३०	५६७
रुद्रः ··· ··· रोदयतेर्वा	निरु० १०, ५	२२४
रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे	तै० सं० १, ३, ५, १	२२०

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परिस्वाम्	ऋग्० ३, ५३, ८	१९२
रोदेर्णिलुक् च	उणादिसूत्र २, २२	२२४
ल		
लक्षणग्रन्था भवन्ति ··· बृहत्सर्वानुक्रमणी चेति	अथर्वण चरणव्यूह, परि० ४९	६७९
लक्ष्मीर्लाभाद् वा ··· स्यादश्लाघाकर्मण:	निरु० ४, १०	२१३, ३६५
लटः शतृशानचौ०	पा० ३, २, १२४	२८२
लोकाꣳअकल्पयन्	वा० सं० ३१, १३	२८
लोपोव्योर्वलि	पा० ६, १, ६६	३२२
लोहितादिडाज्भ्य: क्यष् वचनम् भृशादिष्वितराणि	म० भा० ३, १, १३	३०५
व		
वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरण: सुवीर:	ऋग्० ६, ४७, २६	१९७
वनस्पते ··· ··· वोच:	निरु० ८, २०	२२१
वन्दे वररुचिं नित्यमूहाब्धे: पारदृश्वनम्	सामसर्वानुक्रमणी पृ० ७	१३१
वयं तदस्य	ऋग्० ८, ४०, ६	४९०
वष्टिभागुरि० ··· निशा दिशा	न्यास ६, २, ३७	२५१
वसीयस्येहि श्रेयस्येहि	मै० सं० ४, २, ३३	५७५
वसुरग्नि०	ऋग्० ५, २४, २	५९८
वसो: पवित्रमसि	वा० सं० १, ३	२७
वाचं दूतो यथोहिषे	ऋग्० ८, ५, ३	५६१
वाचस्पते वाचो वीर्येण	चतुर्होत्रक परिशिष्ट १३१, ४	५९५
वाजस्य मा	काण्डा० १, १, १३	५७२
वातो वा	वा० सं० ९, ७	२८
वायव: स्थ	वा० सं० १, १	२७
वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृता:	ऋग्० १, २, २	४७८
वायु: ··· एतेरिति स्थौलाष्ठीवि: अन्वर्थको वकार:	निरु० १०, ११	१७१
वायुरस्मा उपामन्थत् ··· अपिबत्सह	ऋग्० १०, १३६, ७	५०७
वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा	निरु० १, ५	२१९

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
वार्तिकं दृष्ट्वा सूत्रेषु कैश्चित्प्रक्षिप्तम्	कैयट, म० भा० ६, १, ६१	२७८
वा वचनानर्थक्यम्	पा० ३, १, ७, वा० १०	३४९
वा वचने चोक्तम्	पा० ३, १, २, वा० ८	३४९
वासो ददाति भर्तवे इति सार्वधातुके	अ० प्रा० १२५	११६
वाहिष्ठः-दूतः	निरु० ४, २	१६१
विच्छन्दःस्वक्षरपरिमाणाः सङ्कृतिप्रभृत्यूर्ध्वं विज्ञेयाः	उनिसू० ६, पृ० १६	५००
वि तां वुह्रे अर्यमा कर्तरी सचां	ऋग्० १, १३९, ७	५१२
विद्यामेषाम्	ऋग्० १, १६५-१९०	५०९
विद्युत्तडित् भवतीति शाकपूणिः … स्विदमन्तिकनामैवाभिप्रेतं स्यात् … ।	निरु० ३, ११	१५९
विद्रधे-द्रुपदे	निघ० ४, १, १८	१६१
विद्वांसाविद् दुरः पृच्छेदविद्वान् ‥मर्तो अक्नौ	ऋग्० १, १२०, २	४८६
विधावनाद्वेति चर्मशिराः	निरु० ३, १५	१६७
वि न इन्द्र मृधो जहि	ऋग्० १०, १५२, ४	१८९
विप्रतिषेधे उत्तरं बलवदलोपे	वा० प्रा० १, १५९	९७
विप्रतिषेधे परं कार्यम्	पा० १, ४, २	९७-४३६
विभक्तौ चोक्तम्	पा० ४, १, १, वा० १५	३४९
विभाषा	पा० ३, १, १३९	३३१
विभाषा भावादिकर्मणोः	काशिका ७, २, १७	२९६
विराड् ऊर्ध्वं बृहती	ऋक्प्रा० १६, ४७	४८१
विराण्मित्रावरुणयोः…ऋषयो मनुष्याः	ऋग्० १०, १३०, ५	४८५
विवृतकरणा वा (ऊष्माणः)	पा०शि० ३, ८	५५
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो	ऋग्० १०, ८१, ३	५४२
विश्वा वेद जनिमा जातवेदाः	ऋग्० ६, १५, १३	२०५
विश्वेषां हितः	ऋग्० ६, १६, १	४९०
विष्किरः शकुनौ वा	म० भा० ६, १, १५०	२७७
विष्किरः शकुनौ विकिरो वा	कात्यायनवार्तिक म०भा० ६, १, १५० (कैयट)	२७८
वृक्षो व्रश्चनात्	निरु० २, ६	२२४
वृत्तिः पाणिनीयसूत्राणां विवरणं चुल्लिभट्टिनिर्लूरा (नल्लूरा)-विविरचितः	जिनेन्द्रबुद्धि-न्यास	४०३

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
वृद्धस्य च पूजायाम्	पा० ४, १, १६६, वा०	२५०,२७८, ३९५
वृद्धिरादैच्	पा० १, १, १	२७२
वृषादीनाञ्च	पा० ६, १, १९९	३०७
वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत ··· प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः ।	म० भारत मोक्षधर्म ३४२,८६-८७	१६३
वेद भासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः वेदा य उपजायते	ऋग्० १, २५, ८	१३९
वैश्वानरो यतते सूर्येण	ऋग्० १, ९८, १	२०६-२०७
वैश्वानरोऽसौ स आदित्य	श० ब्रा० ९, ३, १, २५	२२२
व्यञ्जनविधारणमभिनिधानः पीडितः सन्नतरो हीनश्वासनादः	च० अ० १,४३	
व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्	महाभाष्य प्रथम आह्निक आरम्भ	३९९
व्याघ्रः-व्याघ्राणात् व्यादाय हन्ति इति वा	निरु० ३, १८	२१४
व्याघ्रादिभिः	पा० २, १, ५६	३३१
व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य	पा० ८, ३, १८	९

श

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
शतꣳहिमाः	वा० सं० ३, १८	२८
शताच्च ठन्यतावशते	पा० ५, १, २१	२६६
शत्रूꣳरप	वा० सं० ७, २७	६३
शम्ब इति वज्रनाम	निरु० ५, २५	१६१
शम्युर्ह वै बार्हस्पत्यः	श० ब्रा० १, ९, १, २४	२२२
शरवनुष्टुबेकविंशः··· सामेत्यन्तरिक्षायतनानि	निरु० ७, ११	२२१
शवतिर्गतिकर्मा ।··· ···दात्रमुदीच्येषु	निरु० २,२, महाभाष्य १, १, १	२२५
शवलि शवल्येहि	माश्रौ ९, ५, ६, २५-२८	५७६
शाकटायनमुनिप्रणीतानि न तु पाणिनिना प्रणीतानि	उणादि० पर वासुदेव दीक्षित	३१८
शाकपूणेरतिरिक्ता एते-विव्याक, विव्याच, उरुव्यचाः, विव्रे इति व्याप्तिकर्माणः	निरु० ३, १० (स्कन्दस्वामी)	१७०
शाकल्यस्य छात्राः शाकलाः	पा० ४, १, १८ (पतञ्जलि)	२६१
शाकल्याय संहितामनुप्रावर्षत्	पा० १, ४, ४८ (पतञ्जलि)	२६०

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
शान्तनवाचार्यप्रणीतेषु फिट्सूत्रेषु तुरीय: पाद:	सिद्धान्तकौमुदी पुष्पिका	२५६
शान्तिकं पौष्टिकञ्चैव वश: स्तम्भनमेव च द्वेषणोच्चाटने चैव मारणाकर्षणं तथा	आंगिरस कल्प Our Heritage Vol. VIII, p. 87	६७६
शान्मान्दानाम्	च० अ० १, ८७	१०९
शिक्षाछन्दोव्याकरणम्	ऋक्प्रा० पर उवट (आरम्भ में)	७५
शिताम—श्यामतो-यकृत्त इति तैटीकि:,		
शितिमांसतो मेदस्त इति गालव:	निरु० ४, ३	१६७
शिवादिभ्योऽण्	पा० ४, १, ११२	३०७
शिवा न: सख्या	ऋग्० ४, १०, ८	४८७
शुण्डिकादिभ्योऽण्	पा० ४, ३, ७६	३०४
शुनश्चिच्छेपं निदितम्	ऋग्० ५, २, ७	५६६
शुभ्रादिभ्यश्च	पा० १, १, १२३	३०४,३०७
शुष्किका शुष्कजंघा च	का० पा० ८, २, १	२५६,३४८
शेषा: स्पृष्टा हल: प्रोक्ता निबोधानुप्रदानात्	पा० शि० १७	
शैत्यादीनि	तै० प्रा० ५, ४०	३००
शोणात्प्राचाम्	पा० ४, १, ४३	४३४
शौनकादिभिराचार्यै:	बृ० दे० ५, ३९	५२५
श्मनि श्रयतेर्डुन्	उणादिसूत्र ५, २८	२२४
श्मश्रुलोम । श्मनि श्रितं भवति	निरु० ३, ५	२२४
श्रच्छब्दस्योपसंख्यानम्	म० भा० १, ४, ५९	३०५
श्रद्धा-श्रद्धानात्	निरु० ९, ३०	२१५
श्रवणादीनि नक्षत्राणि	अनुगीता	१४७
श्रुष्टीति क्षिप्रनाम	निरु० ६, ३	१६१
श्रुष्टी-पुरन्धि:	निघ० ४, ३, ५०-५१	१६१
श्वन्नुक्षन्…	उणा० १, १४६	२९५
श्वात्रमिति क्षिप्रनाम	निरु० पृ० ३५९	१६१
श्चोतन्ति कोशा:, स्यन्दन्तां कुल्या:	ऋक्प्रा० ६, ९	१३

ष

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
षड्भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः	निरु० १, २	१६८
षड्भावविकारा ····विनश्यति इति	महाभाष्य १, ३, १, निरु० १, २	२२५
षष्ठी स्थाने योग:	वा० प्रा० १, १३६ ; पा० १, १, ४९	९७,२७२
षिद्गौरादिभ्यश्च	पा० ४, १, ४१	३०९

स

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
संवत्सरो वैश्वानर:	श० ब्रा० ६, ६, १, ५	२२२
सꣳव्वपामि	वा० सं० १, २८	२८
संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते य:	किरात ३, १४	४०६
सꣳशिवेन	वा० सं० २, २४	२८
स इमान् लोकान् ·····वृत्रस्य वृत्रत्वम्	तै० सं० २, ४, १२, २	२४४
स एष महानात्मा	निरु० १४, ४	६२९
सकारमात्रमस्ति······स पठति	काशिका १, ३, २२ (न्यास)	२८९
सक्तुमिव······वाचि	निरु० ४, १०	२२६
संक्रन्दनोऽनिमिष:	सा० सं० १८, ४९	१२६
संख्यातानामनुदेशे यथासंख्यम्	वा० प्रा० १, १४३	९७
सचां उद्यत्	ऋ० ७, ८१, २	६३
स जात: पूर्व: प्रेयाय, ··· ··· ।	श० ब्रा० २, २, ४, २	२२२
सजे: । पत्संगिनीश ··· सचतिरन्यत्र ।	अ० प्रा० ६०	११६
सधादिषु सुब्ग्रहणम्	पा० ३, २, ६१, वा० १	३५४
सदान्वे-शिरिम्बिठ:	निघ० ४, ३, ११९-१२०	१६१
स न: पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव	ऋग्० १, १, ९	४७८
स नो वाजेष्विता पुरूवसु: पुर:स्थाता । मघवा वृत्रहा भुवत्	ऋग्० ८,४६,१३	४८०,४८२
सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति इति पाणिनीयेऽपि ।	तै० प्रा० मैसूर सं० ४५०	
सपादसप्तदशाध्यायी ··प्रथम: पाद: समाप्त:	(निरुक्त) दुर्गवृत्ति पुष्पिका (पाण्डुलिपि, त्रयोदश अध्याय)	१८६
सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्रा: ।	ऐ० ब्रा० २, १७, ४	२२१

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
सप्त च वै ··· ब्राह्मणं विभागेन	निरु० ४, २७	२२१
सप्तमी शौण्डै:	पा० २, १, ४०	३०३
सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते	श० ब्रा० २, १, १२, ४	१३८
स प्रवोळ्हृन् परिगत्या बभीते:	ऋग्० २, १५, ४	५१२
समत्र गावोऽभितोऽनवन्त	ऋग्० ५, ३०, १०	५६१
समर्थ: पदविधि:	पा० २, १, १	२७३
समश्च बहुलम्	म० भा० ३, १, ११२, वा० ८	३५४
समस्तं सिद्धं त्विदुतोरिति वार्तिकं वाडवस्य	म० भा० ८,२,१०६ (नागेश टि०)	३४७
समानस्थानकरणास्यप्रयत्न: सवर्ण:	वा० प्रा० १, ४३	९७
समाप्तं चेदं चान्द्रव्याकरणं शुभम्	चान्द्र० छठा अध्याय	४५१
समाम्नाय: समाम्नात:, स व्याख्यातव्य:	निरु० १, १	१६२
समुद्र:=समुद्द्रवन्त्यस्माप:, समभिद्रवन्त्येनमाप:, सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि, समुदको भवति, समुनत्तीति वा	निरु० २,१०	२१५,२२२
समुद्रादूर्मि:०	ऋग्० ४, ५८, १	५४२
संपरिभ्यां भूषणसमवाययो: करोतौ	महाभाष्य ६, १, १३७	२७७
स यज्ञानामथा हि ष:	ऋग्० ३, १३, ३	५१२
सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ	पा० १, २, ६४	२५९
सर्वत्र पुष्करं तत्र विश्वेदेवा अधारयन्त	बृ० दे० ५, १५५	२२३
सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्य:	पा० ४, १, १८	३०४
सर्वादीनि सर्वनामानि	पा० १, १, २७	३०३
सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद् विसर्गादिरिहाष्टक: । अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते ।।	कौशिकीया: श्लोका:	५५
सर्वे देवा: पुष्करे त्वाधारयन्त	निरु० ५, १४	२२३
सर्वे व्यूहे नवाक्षरा:	ऋक्प्रा० १६, ५१	४८१
स वरुण: सायमग्निर्भवति, स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्	अथर्व० १३, ३, १३	१९५
सहस्रं सहस्वत्	निरु० ३, १०	२१६
साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु:···इमं ग्रन्थं समाम्नासिषु:	निरु० १, २०	१५९
साक्षात्प्रभृतीनि च	पा० १, ४, ७४	३०३

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
सांखायनशाखायां प्रातिशाख्यं समाप्तम्	शांखायन प्रातिशाख्य (अन्त में)	७८
सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने	पतञ्जलि ८, १, ७४	२७७
सामान्यृग्मिः	वा० सं० २०, १२	२६
सा मे सत्याशीर्देवेषु	निरु० ६, ८	२२०
साल्वेयगान्धारिभ्याञ्च	पा० ४, १, १६९	३४१
सास्माकेभिरेतरी न शूषैः	ऋग्० ६, १२, ४	४७८
सिंहोहिंसेर्वा स्याद् विपरीतस्य	निरु० ३, १८	२२६
सिद्धं तु रौढ्यादिषूपसंख्यानात्	कात्यायन वार्तिक (पा० ४, १, ७९)	३०२
सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्	ऋग्० १०, ७५, ९	१९८
सुट् कात्पूर्वः	म० भा० ६, १, १३५	३५०
सुतासो मधुमत्तमाः	ऋग्० ९, १०१, ४	४७०
सुवर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति	ऋग्० १०, ११४, ५	१९२
सूत्रकारं वररुचिं वन्दे ··· खण्ड-प्रपाठकानि च ॥	सामवेदीय सर्वानुक्रमणी	१३१
सूत्रकारं वररुचिं वन्दे पाणिनिञ्च वेधसम्	सामसर्वानुक्रमणी	६२५
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च	ऋग्० १, ११५, १	१९४
सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात् अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः	ऋग्० १०, १५८, १	१९२
सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि	ऋग्० १०, १६७, ३	२०५
सोऽयमाचार्यप्रवृत्त्या पाठक्रमोऽनुमीयमानो लौकिकवर्णसमाम्नायस्य द्विधापाठं गमयति	ऋक्प्रा० पर उवट (मंगलदेव सं०, पृ० २६)	७५
सोऽरोदीत्, यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्	तै० सं० १, ५, १, १	२२०
सौनागाः कर्मणि ··· अस्यतेर्भावे	काशिका ७, २, १७ (वामन व्या०)	२९६
स्तुतो यासि वंशमनु योजान्विन्द्र ते हरीम्	वा० सं० ३, ५२	२७
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति ··· निरुक्तमभिजग्मिवान्	म० भा० मोक्षधर्म ३४२, ६९-७१	१६३
स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास	ऋग्० ५, ८३, १	५६१
स्तुहि सुष्टुतिं नमसा विवास	ऋग्० ८, ९६, १२	५६१
स्त्यायतेर्ड्रट्	उणादिसूत्र ४, १६५	२२४
स्त्यायत्यस्यां गर्भः	म० भा० २, ९८	३६६

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
स्त्रिय: स्त्यायतेरपत्रपणकर्मण:	निरु० ३,२१	२२४,३६६
स्पर्शस्थानेषूष्माण आनुपूर्व्येण	च० अ० २, ४४	१०५
स्मारं स्मारं रोदिति	ऋग्वेदानुक्रमणी द्वितीय अध्याय	५३८
स्रुवश्चिकृत्युषिभ्य: कित्	उणादिसूत्र ३, ६६	२२४
स्वपादि वृत्कारणात्	काशिका	२९३
स्वं ब्राह्मणम्	नैगेयशाखानुक्रमणी—१, २६७	६२८
स्वयं मृतानां वाऽऽहृत्य पचन्	गोभिल परिशिष्ट-षष्ठी कण्डिका	६३६
स्वरभक्तिश्चाक्रमे	ऋक्प्रा० १, १३	५६६
स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्	चान्द्रपरिभाषापाठ—८६	४५२
स्वरादि निपातमव्ययम्	पा० १, १, ३७	३०७
स्वर्वतीरप एना जयेम	ऋग्० ५, २, ११	५१२
स्वामिन्यन्तोदात्तत्वञ्च वक्तव्यम्	पा० ३, १, १०३, वा० १	३५४

ह

उद्धरण	संकेत	पृष्ठ
हनिगम्यो: सनि	च० अ० १, ८६	१०९
हन्तेरन् घ च	उणा० ८, ११४	३२२
हव्यꣳरक्ष	वा० सं० १, ४	२८
हिंसे: सिंह:	महाभाष्य ३, १, १२३	२२६
हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत्	ऋग्० १०, १२१, १	१९३
हिरण्यवर्णा: शुचय:	मै० सं० १, २, ४	५७७
हृदे त्वा	काण्डा० १, ३, १३	५७२
हेतौ वा	कातन्त्र परि०	२६८
होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत	ऋग्० १०, ९४, २	१९७
ह्वयाम्यग्निम्	ऋक्प्रा० ६, ९	

विशिष्ट-पद-सूची

अ

अअम् ५१०
अ आदित्य ५१०
अंहः (मेहना) ४८९
अंहसः ५६३
अंहस्पति १४०
✓अक् ३६५
अक् ३५१
अकसाय २१७
अकालप्रसवा ५७९
अकूपार ३२५
अकूपारस्य १६०
अकृत ५६७
अक्षय्यम् ६३५
अक्षर २४९
अक्षरतन्त्र १३०
अक्षरपंक्ति ५०६, ५०९
अक्षि ३६६
अखिलपुरुषार्थोपकारवृत्तिसमर्थ- १८६
अग्ग्रम् २२
अग्नि १७०, ५७२, ५९९
अग्निचित्य ३३०
अग्निपुराण सं० ५१
अग्निभक्ति १९९
अग्निम् ५६३, ५६४
अग्निमान् ५८१
अग्निमारुतशस्त्र २०६
अग्निविधिः ५७२
अग्निहोत्रविधिः ५७२
अग्निहोत्रहोमविधि ६६८
अग्ने ४७८, ५६२
अग्नौकरण ६३५
अग्न्याधान १९९, ५७२
अग्न्युपस्थान ५७२
अघमर्षण ५५६, ६२०
अघोष ६२
अघोषवत् ६२
अछन्यादि ३०१
अङ् २८९
अंगिरस् ६२०
अंगिराः ६२०
अच् २८३, २८४, ३३०, ३५१
अच्छ १७०
अच्छिद्रम् ५७२
अजर ३५५
अजरितृ ३५५
अजिन ३६५
अजिरादि ३०१
अञ् ३०४
✓अञ्ज् ३६६

अण् ३०५

अतिकृच्छ्र ५५५

अतिक्रम १२९

अतिच्छन्द ४८५, ४८६, ५०१, ५०२, ५०३

अतिजगती ४८३, ४८५, ४८८, ४८९, ४९०

अतिधृति ४८३, ४८८, ४९४, ५०३

अतिनिचृत् ४८८

अतिपरोक्षवृत्ति २१६

अतिप्रसंग २७९

अतिशक्वरी ४८३, ४८८

अतिहार ६३१

अत्यष्टि ४८३, ४८९

अत्र १२

अत्रि-अनुष्टुप् ५०८

अथ २७

अथर्वप्रातिशाख्य ११०

अथर्वहृदयम् ६७३

अथर्वियम् ४७१

अथर्व्यम् ४७१

अदादिगण २९३

अदितिः ५६३

अद्भुतशान्ति ६७२

अद्भुता ५११

अद्य २१, ३६४

अद्यतनी ३५१

अद्वयसिद्धि ३८९

अधमः ५३६

अधायि २१८, ४७६

अधिमास १३९-४०, १४५

अध्यक्ष ३४१

अध्यर्धं जंघामात्री ६१६

अध्यर्धा ६१८

अध्वरग्रहः ५७२

अध्वरम् ५७२

अनन्तभट्ट ९८

अनवलेभन ५५२

अनाढ्यम्भविष्णु ३७३

अनानुपूर्व्यसंहिता ५६६

अनुकृति ५८४

अनुक्तगलितानां संग्रहात्मक ५६५

अनुगमन ४३७

अनुग्राहिक ५८०

अनुदात्त १२३

अनुदात्तजन्य-स्वरित १२३

अनुदेश ९७

अनुनासिक १०, २४९, ७६३

अनुन्यास ३१३

अनुपानीय ५१६

अनुप्रदान ६२, ८५

अनुलोमकल्प ६६७

अनुलोमसन्धि २३

अनुवत्सर १४५

अनुवाक ६८१

अनुवाकानुक्रमणी ५२१, ५२७, ५३१

अनुशतिकादि २५२

अनुष्टुप् ४८२, ४८५, ४८७, ५०७

अनुष्टुप् पंक्ति ५०७

अनुसरण ४३७
अनुस्वार १०, ५६, ६३, २४९
अनूप २६०
अन्त २४९
अन्तकरण १७७
अन्तवान् १४०
अन्तिकनामानि १५९
अन्तौ ५६०
अन्त्य १२
अन्त्येष्टि ५५२
अन्धस् १६१
अन्नस्तुति ५५७
अन्नाद्यकाम ५७६
अन्यतरतः ९७
अन्ये ३९४
अन्येद्युः ३६४
अन्येषाम् ३८३
अन्वादेश २२८
अपरः ३८८
अपर आह ३९४
अपरे ३८३
अपलाप्य ३७०
अपवाद ११५
अपस्या ६१८
अपाहन् ५२४
अपाहनत् ५२४
अपिग्राह्य ३५५
अपिधान २५१
अपृक्त २८१
अपोह ३९१
अप्रगृह्य ६३
अप्रार्थयत् ६५५
अप्रैषीत् ६५५
अप्वादेवी ५९९
अप्सराः १७०
अब्दादि ३०१
अभिकृति ४८३, ४८९, ४९४
अभिचाररूप ६१३
अभिजित् १४०, १४८, ६७४
अभितौजाः ५६०
अभिनिधान ७, ९, ७१, ७२, ९५,
    १०४, १०६-१०७, १२३
अभिनिहित १६, १२३, १२४, १२६,
    ६०२
अभियुध्य १५
अभिरम्यताम् ६३५
अभिव्यक्तिवादिनः ३८३
अभूततद्भावे २७७
अभेदैकत्वसंख्या ४४४
अभ्यास १७६, १७७, २८१
अम २५५
अमयति २५५
अमरटीका सर्वस्व ४१८, ४१९
अमितर्षि ५३८
अमुष्य १३
अमोघवृत्ति ४५६
अमोघा ४५६
अमोघानन्दिनी शिक्षा ३०
अम्भस् ४८९
अयजन्त १४, १५४
अयादि २२८

अयोग ६८
अयोगवाह ५३
अरणिलक्षण ६६६
अरीहणादिगण २५४
अरुण १४०, ३२४
अरुणज १४०
अर्क १५५
अर्किण: १५४
✓अर्च् १५४, ३६५
अर्णव ३२५, ४८९
अर्थ ३२४
अर्थोपमा १८३
अर्ध १२४
अर्धचतस्र: ६४५
अर्धतिस्र ६४५
अर्धपद्या ६१६, ६१७
अर्धपादभाग ६१६
अर्धपादभागा ६१७
अर्धपूर्णोत्सेधा ६१७
अर्धबृहती ६१६, ६१८
अर्धमात्रा ६४५
अर्धरात्रिकहोम ६७९
अर्धोत्सेधा ६१७, ६१८
अर्भके १७०
अर्य ३३०
अर्वाङ् ४३४
अलक्षणी ६७६
अलंकारकौस्तुभ ४२१
अलीकादि ३०१
अवकादान ११५
अवकाऽवदान ११५
अवक्खिदते १२
अवगाह २५१
अवग्रहशक ६५२
अवदाभ्य ३७२
अवधूयमर्करा: ६७५
अवमस्याम् ५६४
अवसाननिर्णयशिक्षा ३२
अवहार २७७
अवाताभिधाने ३३६
अवान्तरगण ३०८
अविध्यत् ५६६
अवेस्ता ५०५
अव्यय २२९
अव्ययत २८६
अव्ययीभाव ६७३
अव्युत्पन्न ३१५
अव्युत्पन्न वार्तिक ३१७
अश् ३२६
अशत् २८७
अशिश्राम ५१०
अशिष्य ४०२, ४०८
अशीतिद्वय ५७२
✓अशु ३६६
अश्नुते २८७
अश्याम् ५१०
अश्राद्धभोजी ३७३
अश्व १८०, ५९९
अश्वति २८६
अश्वत्थसंस्कार ५८५

अश्वमेधः ५७२
अश्वमेधविधि ५७२
अश्वरथदान विधि ६६३
अश्वशान्ति ५८५
अश्वसूनृते ५६४
अश्वादि ३०१
अश्वायति २८६
अश्वायते २८६
अश्विनौ १६५
अश्वियम् ४७१
अश्वीयति २८६
अश्व्यम् ४७१
अश्नातुः २१
अष् २६६, ३२६
अष्टा १८०
अष्टाध्यायीवृत्ति ४०२
अष्टाश्रि ६०१
अष्टि ४८३, ४८८, ४८९
असंग्रामयत २८६
असि १३
असिद्धकार्य २७५
अस्तु ६३५
अस्मत् ३००
अस्मभियम् ४७०
अस्मभ्यम् ४७०
अस्मिन्यज्ञे १४
अस्यै ५६०
अस्वार्थिक २७४
अह्लतम् १४

आ

आ २८४
आइभाव १२९
आकृति ४८३, ४८९, ६८१, ६८२
आकृतिगण ३०६
आकृतिहोम ५७६
आक्षाणः २८७
आखण्डल १५९, २८७
आखूत्थः ३७२
आख्यात २२७
आख्यातज १८०
आख्यातानुक्रमणी ५२९, ५३०, ५३४, ५३५
आख्यान ५१९
आख्यानवृत्ति ४५०
आगन्नृभुणाम् २२
आगम ३९६
आगमकाण्ड ३८१
आगमप्रयोजन ३९५
आगम प्रवर्तक ३९५
आगहि ५६२
आग्नेयपर्व ६३३
आग्रायण १६४
आङ् ९७
आंगिरसः ५९८
आचार्य ३५५
आचार्याः ६३२
आज्यहोम ५८१
आढयम्भविष्णु ३७३
आत्मन् ९५

आत्मनेपद २२८, २४९, २७२
आत्मविद: ६२८
आत्मस्त्व ५१७
आत्मा १२
आथर्वण ज्योतिष १५०
आथर्वण व्याकरण १०३
आदवे ५७२
आदिति अ ५१०
आदित्य ५१०, ५९९
आदित्यमण्डल ६६३
आदित्यव्रतम् ६५१
आदेशे ६०३
आधार २७७
आधिए ५०९
आधृषीयगण २९४
आध्ये ५०९
आनद् २८७
आनन्दबोधिनी ३९३
आनन्दयित्वा २८६
आनशे २८७
आनुष्टुभ ४८८
✓आप् १५४
आप् २५१, २८२
आप: ५९९
आपस् १५४
आपस्तम्ब ६५४
आपस्तम्बहौत्रपरिशिष्ट ५४५
आपाण: २८७
आपाद्या ५७०
आपाद्या इष्टय: ५७३
आपिशलम् २६६
आपिशलि २६६
आपिशलि-शिक्षा ४१
आपोहिष्ठा ५५६
आप्तमीमांसा ४५४
आप्नुवन् १२
आप्रीसूक्त ५२२
आबाध ११५, ११६
आभिचारिक ६१३
आभ्युदयिकश्राद्ध ६१४
आम् ५१०
आमयति २५५
आमन्त्रित २४९
आम्रेडित २७, १७६, २७२
आयाहि ६५५
आयु: ६३०
आयुपदान्तमन्त्र ५५३
आरण्यकाण्ड ६२६
आरण्यगानस्थ १२७
आरण्यशिक्षा ४०
आरात्रिकम् ६६२
आरुणकेतुकचिति ५७०
आरुणम् ५७३
आर्गर: ५६०
आर्द्र १४०
आर्धधातुक २७३, २८८, २९४
आर्यकृत ३४१

आर्या ४९१
आर्यासप्तशती ४२१
आर्षम् ६२६
आर्षानुक्रमणी ५२०, ५२१, ५२७, ५३०, ५३१, ५३४, ५३८
आर्षी गायत्री ४७९
आवाप २७७
आवाहन ६३५
आविरादि ३००
आशी: १७३
आश्वलायन ५४८, ६२८
आश्वलायनगृह्यपरिशिष्ट ५४९
आश्वलायन मन्त्रसंहिता ५४९
आश्वलायनसंहिता ५४९
आष्ट २८७
आसुरीकल्प ६६७
आस्थापित १०७
आस्थ्यात् २२
आस्मर ३६४
आस्यदघ्ना: १७८
आस्वदीयगण २९४
आह ३९४

इ

इक् ३२६
इट् २८४, २९४, २९६
इडा १०५, ६३०
इत् २८२, २९६
इतन ५६६
इतिहास ५१८, ५१९
इतिहासानुक्रमणी ५३०, ५३४
इत्याह ४०७
इवावत्सर १४५
इध्म १७०
इन्वर ५१०
इन्द्र १६४, १६६, २४७, ५१०, ५६२, ५९९
इन्द्रमहोत्सव ६६४
इन्द्रवज्रा ४९१
इन्द्रसोमौ १६६
इन्द्राग्नी ५१६, ५६३, ५६४
इन्द्रियनित्य १८१
इय् ४७८
इय ४७०
इर् २८९
इरावान् १४०
इरित २८९
इरिम्बिठि: ६५५
इलीविशस्य ५६६
✓इष् २४५
इष्टय: ५७०
इष्टि ४११, ५७२
इष्टिप्रायश्चित्त ५५३

ई

ईड्ड्यम् २२
ईम् १६०
ईमहे २८७
ईषत्स्पृष्ट ८५, १०५

उ

उक्त ३४९
उक्तपूर्वं ३४९

उक्थशास्त्र ४९९
उक्थ्य ८१
उच्च १७
उच्चावचाः २६४
उच्छुष्मकल्प ६६७
उच्छुष्माः ६७५
उच्यते ४०७
उणादि ३१५
उणादिवृत्ति ४६४
उणादिवृत्तिकार ३७७
उत ५६३
उत्कृति ४८३
उत्तमपटलम् ६६९
उत्तमपाद ६४८
उत्तरम् ६२८
उत्तरया ५९१
उत्तर व्युत्क्रम २७९
उत्तरार्चिक ६२८
उत्तरेण ५९१
उत्पातलक्षणम् ६७२
उत्सादि ३०५
उत्सादिगण ३०४
उदक १६१, ४९०
उदधि ३२५
उदात्त १२३
उदात्तकम्प २२
उदूह १६
उद्गीथ १२७
उद्गीथभक्ति ६३०, ६३१
उद्योत ३८०, ३९७
उद्योतन ३८०
✓उन्दी क्लेदने ३६५
उपजगती त्रिष्टुप् ४८०
उपतिष्ठताम् ६३५
उपदगम् ९७
उपदेश-परम्परा ३९६
उपद्रव १२७
उपद्रव भक्ति ६३०
उपधा १७६, १७७, २२८, २४९, २८१
उपधानिक २७
उपधानी २७
उपनयन ५५३
उपनिदानसूत्र ४९७
उपनिषत् ३३४
उपपद ११६, २७३
उपबद्धान् ११६
उपबन्ध १७७
उपमा ४७६
उपमार्थक १८०
उपयज्ञात् १४
उपरिष्टाज्ज्योतिः जगती ५०१
उपरिष्टाज्ज्योतिः त्रिष्टुप् ४९६, ५०१
उपश्रुति ५८७
उपश्रुतिकल्प ५८७
उपसर्ग २४९, २७२, २८७, ३३१
उपहोमाः ५७२
उपानुवाक्यम् ५७२
उपामन्थत् ५०७
उपेन्द्रवज्रा ४९१

उपोत्तमपाद ६४८
उभयेद्यु: ३६४
उरोबृहती ४९५, ५६९
उलूखलसुतानाम् ५६२
उल्कालक्षणम् ६७१
उव् ४७८
उशिक् २८७
उश्मसि २८७
उषति २८९
उषस् २८६
उषसनीयम् २८६
उषसम् ५६७
उषसितव्यम् २८६
उषसिता २८६
उषस्तनम् २८६
उषस्त्यम् २८६
उषस्यक: २८६
उषस्यति २८६
उषा ६४८
उष्ट्रप्रणाय: ३७२
उष्णिक् ४८०, ४८२, ४८५, ४८७

ऊ

ऊर्जस्वती १६
ऊर्मय: ५३०
ऊष्म २४९
ऊहगान ५४४
ऊह्यगान ५४४

ऋ

ऋक्तन्त्र ११८
ऋक्प्रातिशाख्य ५२९, ५३१
ऋक्सर्वानुक्रमणी ५०१, ५०२, ५०३
ऋगयनादि ३३४
ऋगर्थदीपिका ५३०
ऋग्विधान ५२०, ५२१, ५३१
ऋग्विधानसूत्र ६२१
ऋग्वेदस्य मन्त्रसंहिता ५४९
ऋच् ५५६
ऋजु २३, ६१८
ऋजुपक्ष ६१६
ऋजुमात्रा ६४५
ऋज्वर्था ७७
ऋज्वालिखिता: ६१७, ६१८
ऋतव्या ६१८
ऋतुकेतुलक्षणम् ६७१
ऋत्विक्स्तुति ५१८, ५१९
ऋत्विज् १५४, १५५, १७०
ऋबीश् ३२५

ए

एकत्ववादिन: ३८३
एकपदा ४८६, ४९०
एकपदा गायत्री ४८०, ४९९
एकपदा जगती ४९०
एकवचन २४९
एकशेष ३९८
एकश्रुति १२४
एकाग्निकाण्डव्याख्या ५९२
एकार्थीभाव २७३
एकेषाम् ३८३, ६३२
एकोद्दिष्ट ६१३, ६३५
एतन ५६६

एतावच्च ११५
एना (सर्वनाम) ५११
एवादि ३०१, ३२५

ऐ

ऐकपदिक १८३
ऐतरेयिणः २५१
ऐन्द्रम् ६५५
ऐष्टिकयाजमानम् ५७२
ऐष्टिकयाजमानविधिः ५७२

औ

औणादिक ३२१
औताः ५३४
औत्सः ४३४
औदुम्बरायण १६४
औपनिषव भाववृत्त ५१७
औपमन्यव १६४, ६५, ५३२
औपासन ५८५
और्णवाभ १६५
औशनसाद्भुतानि ६७३
औषधि सूक्त ५५३
औष्ठ्यस्थल २४९

क

कः ३५५
ककुप्छन्द ४८७
ककुभ् ४८४
ककुम्न्यङ् कुशिराः ४८८
कच्छप ३५५
कटाहप ३५५
कठफोड़ा १८०
कण्ठ्य-नासिक ५६
कण्वादि ३०४
कनिष्ठ ३२४
कन्या १६
कपि ६२०
कपिल ३२५
कपोतरेतस् ६२०
कम २५५
कमयति २५५
कम्प २६
कम्पस्वर २२, ६०२
करण २१,८५,१०५,१०६,१४८-४९
करण दन्तमूल १०६
कर्णमूलीय २२
कर्णवेध ५८५
कर्णाटक कवि चरित्र ४५४
कर्दम २७७
कर्दमादि ३०१, ३२५
कर्म १७३
कर्मप्रदीप ५४४
कर्मप्रवचनीय ११६, १७७, २७२
कर्मान्त ५४४, ५४५
कर्मोपमा १८३
कर्मोपसंग्रह १८०-८१
कर्षण १०७, १२९
कलापचन्द्र ४५०
कलि ४९०
कल्प्पयति २२
कवि ६२०

कविकल्पद्रुम ४६३
कविकामधेनु ४६३
कस्मिन् ५६०
काकम्बीर ३२५
काकुदम् ३६६
काकुभ ४८८, ५०३
काठक ६२८
काठकम् ५६९, ५७३
कातन्त्रपरिशिष्ट ३७८
कातन्त्रप्रदीप ४५०
कातन्त्र-सम्प्रदाय ४४८
कात्थक्य १६५, १६६
कात्यायन ४७९
कात्यायनी शिक्षा २९
कान्ति ४४४
कापिशायन ३४१
कामयति २५५
काम्यपशुः ५७२
कारक २७२
कारकचक्र ४२१
कारित १७७, २२८, २४५
कालनिर्णय ८४
कालनिर्णय शिक्षा ४३
कालमृषाः ६७५
काल विप्रकर्ष १०७
कालात् २७४
कालातीतप्रजा ५७९
काशकृत्स्न २५३
काशकृत्स्न धातुपाठ २९४
काशकृत्स्नि २५३
काशिका ३७८, ४१८, ४२८, ४२९,
४३४, ४३५, ४३९, ४४४
काशिकाकार ४१३
काशिकाविवरण पञ्चिका ४०५, ४१५
काशिकावृत्ति ४३३
काश्यप २६५
कित् १७७, २८४
किम् ३००
कु ३२६
कुक्कुरः ३०
कुचमर्दिनी ४३१
कुटादिगण २९३
कुणि ४०२
कुण्डपाय्य ३३०
कुण्डलक्षण ६६६
कुनखीवेवदर्शी ५३४
कुन्ताप ५४६
कुप्य ३३०
कुबल १५
कुमारीश्रमणा ३३६
कुमुदादिनः ५३४
कुरुगार्हपत ३४३
कुवल १५
कूप ५५२
कूर्मविभाग ६७१
कृच्छ्रापत्ति २१५
कृञः २८२
कृत् २२८
कृतादि ३००
कृति ४८३, ४८९, ४९४

कृत्तिका ६७४
कृत्-प्रत्यय २७३
कृत्या: २७७
कृदन्त २२८, २७३, ३२४
कृषि ३२५
कृष्टपच्य ३३०
कृष्टपाक्य: ३५५
कृष्ण ११५
केचित् ३८८
केतुचार: ६७१
केदार ३४१
केलिमर ३७२
केवल ६१९
केवल-अक्षरगणनानुसारी ४७९
केशव ५७९
केशवीशिक्षा ३१
कैय्यट २७८
कोकुवा ३६६
कोटिहोम ६६६
कौटल्य ६२०
कौडल्य ६२०
कौतुस्कुतादि ३००
कौत्सव्य ६६९
कौत्सव्याकरण ४४६
कौलव १४८, १४९
कौलिकी ५७२
कौस्तुभ खण्डन ४३१
कौस्तुभ ध्रुवसंज्ञक १४९
कौहलीय शिक्षा ३७
क्तिन् २९४
क्यच् २८३
क्रन्दा ६७५
क्रमकारिका शिक्षा ३३
क्रमसन्धान शिक्षा ३२
क्र्यादि २९४
क्र्यादिगण २९४
क्रव्याद् ६३७
क्रिया काण्ड ६४०
क्रियाविवेक ३८९
क्रियाशब्द ३६०
क्रोष्टा ३४७
क्रौष्टुकि १६६
क्रौड्यादि ३०२
क्वचित् ६५५
क्विन् २८३
क्षिप्र ३०
क्षिप्रनाम १६१
क्षीरतरंगिणी २९७
क्षीरस्वामी २९७
क्षेमेन्द्रखण्डन ४६२
क्षैप्र १६, २३, १२३, ६०२

ख

खच् २८३
खट्वारूढ ४१४
खय् ३२६
खिल ५२२, ५४६, ५४८
खिलसंज्ञा ५४८
खिलसूक्त ५२२-२३, ५४३, ५४८, ५४९

खिलानि ५४५
खिलानुक्रमणी ५४८

ग

गगन ४८९
गजशान्ति ५८५
गण ३०५, ३०६
गणपाठ ४३७
गणमाला ६६६
गणरत्नमहोदधि ३७९, ३८०, ४२८
गणवृत्ति ३१०
गतम् २८८
गति १७१
गतिसंज्ञक २७२
गत्वा २८८
गर १४८
गर्भऽस्रवम् ११५
गर्भलम्भन ५५२
गर्भावम् ११५
गर्भाधान ५८५
गर्भाधानमन्त्र ५५३
गलदृक्शिक्षा ३२
गलन्त ५६२, ५६५
गलित ५६३
गलितप्रदीप ५६२, ५६५
✓गा २९३
गाथा ७४
गान्धार: ३४१
गायत्र १५५
गायत्रकाकुभ ४८४
गायत्रम् ६५५
गायत्रविधानसूत्र ६३०
गायत्री ४७९, ४८०, ४८४, ४८५, ४९४, ५०७, ५०९
गायत्रीयमन्त्र ५५३
गार्ग्य १६६, १६७
गार्ग्यायणि ६७३
गालव १६७, २६२
गालव-शिक्षा १६७
गिर: १५५
गुडधाना: ४३४
गुण १७६, १७७, २२८, २४९, २६६
गुणशब्द ३६०
गुरुमञ्जूषा ४४५
गुह्यसूक्त ५१९
गूढार्थदीपिका ४३२
गूढार्थपदगोचरानुक्रमणी ५३०
गूढार्थपदानुक्रमणी ५३४
गृहातिथ्य ५५२
गृह्यपरिशिष्ट ५८४
गृह्यपरिशिष्टान्तर ५५२
गृह्यप्रायश्चित्त ५८४
गृह्यमन्त्रसंहिता ५४९
गृह्याग्नि ५५२
गृह्यायामातिथ्यकल्पनम् ५५२
गृह्यासंग्रह ६३६
गोत्रप्रवर निर्णय ४२५
गोधा ३२५
गोनर्दीय ३४८

गोनामिक ५७५
गोपवनादि ३०१
गोपवनादिगण ३०८
गोपालिका ४४३
गोपीथ ३२४
गोशान्ति कर्म ६७२
गोसहस्रविधि ६६३
गौतम २५७
गौतमी-शिक्षा ४६
गौपायना ५९८
गौरादि ३०२
ग्रहयुद्धम् ६७०
ग्रहशान्ति ५८५
ग्रहसंग्रह ६७१
ग्रामगेय ६३०
ग्रामादि ३०१, ३२५

घ

घ २७२, २८०
घर्मः ५९९
घु २४९, २७२
√घृ ह्वादि ३६५
√घृ सेचने ३६५, ३६६
घृत ३६५
घृतकम्बल ६६६
घृतकौशिक ६२०
घृतरौढीयाः २५७
घृतस्स्नुः २१
घृतादि ३०१, ३२५
घृतावेक्षण ६६२
घोष ६२
घोषवत् ६२, २५०
घोषवन्तः २४९
घ्राय ३३१, ३५५

ङ

ङ् २८४
ङकार ७०
ङित् १७७, २८४
ङीन् २८३
ङीप् २८३
ङीष् २८३

च

च ३०८
√चक्ष् ३६६
चक्षुर्विमोचन ५८६
चतसृभिः ५२४
चतुरध्यायिका १०१-१०३
चतुर्गणीशान्ति ६७७
चतुर्थं २७४
चतुर्थीकर्म ५५२
चतुर्भागाः ६१७
चतुर्भिः ५२४
चतुष्पद १४९
चतुष्पदक्रम ५६६
चन्द्रप्रातिपदिकम् ६७०
चन्द्रमा १६५

चम २५५
चमयति २५५
चर १४८
चरणव्यूह ५३२, ६६९
चरथ ३२४
चर्करीत १७७, २२८, २४५, २९३
चर्मशिरस् १६७
चर्षन् ८१
चाकमान: २८७
चाकेया: ५३२
चाक्रवर्मण २६८, ३१८
चातुर्मास्य ५९३
चातुर्होत्रचिति ५७०
चातुर्होत्रम् ५७३
चादि ३२५
चादिगण २८६
चान्द्रव्याकरण ४५१
चान्द्रायणव्रत ५५६
चाप् २८३
चामयति २५५
चारणविद्या: ५३४
चारायण २५२
चारायणीय शाखा ३४
चारायणीय शिक्षा ३४, ८७-८८
चिकीर्षित १७७, २२८, २४५
चित् २८३, ५६६
चित्तम् ५७२, ५७४
चित्र १३०
चिन्तामणि ४५६
चुरादिगण २९४
चुल्लि भट्टि ४०३
चूडाकर्म ५५३
चेक्रीयित २४५
चोर ३१०
चोरी ३३०, ३५४
च्यावयतु ११५
च्लि २८९

छ

छद्रकय: ६२०
छद्वहय: ६२०
✓छदि-संवरणे ४६९
छन्द:कौस्तुभ ४९७
छन्द:संख्या ५२८
छन्दोऽनुक्रमणी ४७४, ५०१, ५२७,
५३०, ५३१, ५३४
छन्दोविचिति ४८९, ५२९
छागलक्षण ५४५, ६०१
छागलेया: ५३२
छान्दोगपरिशिष्ट ६३९, ६४४
छान्दोगिक सूक्त २०६
छान्दोग्य ३३४
छाया ३२५, ३८०

ज

जक्षत्यादि २९३
जगती ४८४, ४८५, ४८६, ४८७,
४८८, ४९१, ५०३, ५०६,
५०७, ५०९

जगतीऋचा ५०९
जगती छन्द ५०८
जगतीपाद ५०८, ५०९
जगत्युत्तरत्रैष्टुभ ४८५
जगद्धित ५८६
जगम्यात् ५६२
जग्मतुः २८८
जंघामात्री ६१६, ६१८
जज्ञात् १४
जटाशिक्षा ३९
√जन् २९३
जनपदः ३४१
जपविधि ५७९
जयदेवछन्दः ५००
जया ३१४
जयिष्ठ ५१०
जरिता २१३
जरूथ ३२४
जलद ६६१
जल्गुलः ५६२
जागतप्राय ४८०
जागतम् ४७१
जागरूक १८०
जातकर्म ५५३
जातवेदस् २३०, ५४२
जाति ४४०
जातिशब्द ३६०
जात्य ६०२
जात्यस्वरित १०४
जाबालाः ५३४
जामि ३२५
जार ३३१
जारभरा ३५४
जालनद्धमत्स्य ५३९
जालूक ४९२
जिगीवां ८१
जिघर्ति २८९
जिघासि ८१
जिघ्र ३५५
जित् ९७
जिह्वामूलीय ७, १०६
जीरदानु ३२२
जीव ४८९
जीवश्राद्ध ५८५
जुहोत्यादि २९३
जैनेन्द्र ४५४
ज्ञापक ४३७
ज्ञापकसमुच्चय ३८०,४१९, ४२०-२१
ज्ञापन सिद्धा ३१२
ज्येष्ठ ११५, ३२४, ५१०
ज्येष्ठकल्प ५८६
ज्योतिर्जरायुः १३९
ज्योतिष वेदांग १५०
ज्योतिष्मती जगती ४९०
ज्योतिष्मती त्रिष्टुप् ४९६
ज्योत्स्ना ४३१
ज्वालालक्षण ६६६

ञ

ञित् २८३
ञिमिदा २८४
ञिश्विदा २८४

ट

टाप् २६६, २८३
टि २४९, २७२, २८०
टु २८४
टुवेपृ २८४

ठ

ठन् २६६

ड

डा० स्वीट ६४
डु २८४
डुपचष् २८४

ण

णिच् १७७, २९४
णिजन्त १७७, २२८
णित् २८३

त

त् २८४
तक्मन् ९५
तक्षा १८०
तङ् २८२
तडाग ५५२
तडागादिविधि ६६८
तडित् १५९, २८७
तत्करोति १२, १३
तत्त्वकौस्तुभ ४२५
तत्त्वदीपिका ४३२, ४६२
तत्त्वप्रकाशिका ४६१
तत्त्वबोधिनी ४३१, ४३२, ४३५
तत्त्वमीमांसा ४३२
तत्त्वालोक ४६१
तत्पुरुष २७३
तथाभाव्य २६
तद्धित २२८, २७४, ३२४
तद्धितप्रकरण २७४
तद्धितान्त २२८
तद्विविद्ढा ६३०
तना ५११
तनावि २९३
तनूनपात् १७०
तनूनप्त्रे २६
तन्त्रप्रदीप ३१३, ३७८, ३८०, ३९३,
  ४१५, ४१६, १७
तन्त्रोच्चारण ३९८
तप्त ५५५
तरणिः ५७२
तर्ककौतुहल ४२१
तर्करत्न ४४४
तर्कामृत ४२५
तर्पणविधि ६६८
तर्प्ता २३
तस्मिन् ५६०
तारुक्ष्यायणिः ६२०
तार्क्ष्यायणिः ६२०
तालुस्थल २४९
तिङ् ९७, २८२
तिङन्त २७३, २८८
तिरश्च ६१८

तिरश्चालिखिता ६१७
तिलधेनु ६७८
तिलधेनुविधि ६६२
तीर्थं ३०५
तीर्थसंचार ५८३
तुभ्य ५१०
तुभ्यम् ५१०
तुभ्या ५१०
तुडि १२७
तुदादि २९३
तुन्दपरिमार्ज ३५५
तुलापुरुषविधि ६६३
तुल्यकालिक ३३४
तृच् २८३
तृन् २८२, २८३
तृप्त २३, ४८९
तृप्ता: ६३५
तेजोव्रतम् ६६४
तैटीकि १६७
तैतिल १४८, १४९
तैत्तिरीय आरण्यक ४१
तैरोविराम १२३, ६०२
तैरोव्यञ्जन १६, १२३, ६०२
तोटक ४९१
तोलकप्पियम् ४९, २४८
तौडेय ६२०
तौदेय ६२०
तौल्वल्यादिगण २५२, ३०१
त्यदादि ३००
त्रसदश्व ६२०
त्रासदश्व ६२०
त्रि-अम्बकम् ४७९, ४८७
त्रिशत्क ३४१
त्रिप्राहिणी ६१६, ६१८
त्रिपथगा ३१४
त्रिपदक्रम ५६६
त्रिपादी ३१९
त्रिपाद् विराड् गायत्री ४९५
त्रियम्बकं ४७८, ४८७
त्रिष्टुप् ४८२, ४८५, ४८६, ४९९
    ५०६, ५०७, ५०८, ५०९
त्रिष्टुप् ऋचा ५०९
त्रिष्टुप्पाद ५०९
त्रैकाल्यपरीक्षा ३९१, ४०६
त्रैशिकम् ५७२
त्रैष्टुभजागत ४८५
त्र्यम्बकं ४७८
त्व ५१०
त्वम् ५१०
त्वष्टा १७०, ५९९
त्वा ५१०

द

दक्षिणाविधि ५७२
दक्षिणास्तुति सूक्त ५१७
√दघ् १७८
दघ्नच् १७८
दण्डिनायन ३३४
ददाति ११६
दधाते ५६१

दधृष् ३३०
दन्तमूल ३४, ६४
दन्तमूलीय ७
दरशया १८०
दरेशतम् ६०२
दर्पण ४४४
दर्विहोमी १८०
दर्शतम् ६०२
दर्शनसार ४५४
दश-अक्षरीय ५०८
दशत् ३६४
दशपादी ३१९, ३२२
दशपादीकार ३२२
दस्युहत्या ३५५
दहसि २०८
दाक्षिणम् ५७२
दानस्तुति ५१७, ५१९
दानस्तुतिसूक्त ५१७
दाम्ता: ५३४
दाप् २८३
दायभाग ४२५
दार्शब्राह्मणम् ५७२
दार्श्यहोत्रम् ५७२
दार्श्यंहोत्रविधि: ५७२
दावने १६०
दिग्दाहलक्षणम् ६७१
दिव:श्येनय: ५७३
दिव:श्येनीय ५७०
दिवावि २९३
दिव्य ३४१
दिव्या: ५६१
दिश् २५१
दिशा २५१
दीध: ५६१
दीधी ३५७
दीपिका ३७९, ३८०, ४२२
दीर्घाषिंण ६४५
दुदुद्रे १४
दुर्गात् ५६३
दुर्घटवृत्ति ३८०, ४१६-१७, ४१८,
    ४१९, ४५०
दुर्घियम् ३६४
दूद्यम् ३६४
दूत ३४१
दृष्टव्यय २२९
देव ३३०, ३५४, ३६६
देवगण: ६२९
देवताताद्भाव्य १८६
देवतानुक्रमणी ५१७, ५३०, ५३१,
    ५३४
देवताप्रत्यार्थ: ४४४
देवदेव ५७९
देवपथ ३४१
देवव्रतेषु १२७
देवसंज्ञकमन्त्र ५५३
देवस्नपन ५८५
देवहूतिऐ ५१०
देवहूत्यै ५१०
देवानाम् ६२९

देवाबन्धु ५९८
देवीसूक्त ५५३
दैवतम् ६२६, ६२८
दैवम् ४१९
दैवी गायत्री ४७९
दैष्टिक ३३७
दोधक ४९१
दोषावस्ता १२९
द्यौः ५६३
द्रपिक ५९४
द्रविणोदाः १६६, १७०
द्रुपदे १७०
द्रोणिका १०५
द्वन्द्व २७२
द्वन्द्वसमास ३९८
द्वय ३०३
द्वापर ४९०
द्वारः १७०
द्वि ३६४
द्वितीया २४९
द्वित्व ११
द्विपदा ४८६, ४९०
द्विपदात्रिष्टुप् ४९०
द्विपदा पंक्ति ४९०
द्विपदा विराट् ५०६, ५०९
द्विपाद् विराड् गायत्री ४९५, ४९९
द्विवंशति ३६४
द्विवचन २६६
द्वैधः ५४४
द्व्यामुष्यायण ६१९-२०

ध

धरुण ३२४
धर्मशास्त्रसंग्रह ३९७
√धा ३६६
धाज्जा १४
धातु २४९, २८१, २८८
धातुकौमुदी ४६४
धातुज ३१५
धातुपाठ ४१६
धातुपारायण ४११, ४१३, ४१६
धातुप्रदीप ३९३, ४१६
धातुवृत्ति ४१६
धात्वर्थः ४४४
धाय्या १४
धारालक्षण ६५३
धि ९७
धियावसुः ५६२
धूमादिगण ३०५
धूर्त ५८७
धूर्तकल्प ६६५
धृति ४८३
ध्रुव १४८

न

न् २८४
न असत्या ५१०
नकुलसूक्त ५४६
नक्षत्रकल्प ६६०
नक्षत्रग्रहोत्पातलक्षणम् ६७२

नक्षत्रहोम ५८५
नक्षत्रेष्टयः ५७२
नग्निका ६३७
नञर्थः ४४४
नव १५४
नदी १५४, २८०, ३५४
नद्यः ५३०
नना ३२५
नन्वा १२९
मन्वाविगण ३०९
नप् ३२६
नपुंसकलिंग ३२६
नमस्कृत्वा ५२४
नयिषि ५१०
नराशंस १७०
नल्लूर ४०३
नवग्रहपूजाविधि ५८५
नवग्रहमन्त्र ५५३, ५४९
नवांकसूत्र ३१
नवे १७०
नाकसद् ६१८
नाग १४९
नागेशभट्ट ३१४, ४४४
नाचिकेतम् ५७३
नाचिकेताग्निचयन ५७०
नाव ६२
नावध्वनि ३८३
नानात्ववादिनः ३८३
नान्तः ३६८
नान्दीमुख ६१४
नाम २२७
नामकरण १७७, ५५२
नामकरणविधि ५८५
नामपारायण ४११, ४१३, ४१६
नामानुक्रमणी ५२९, ५३०, ५३४,
    ५३५
नामार्थः ४४४
नारवीय शिक्षा ४४
नारायणबलि ५८५
नाराशंसी ५१७
नासतिआ ५१०
नासत्या ५१०
नासिक्य १०, ५६, ६३
नासिक्य-जिह्वामूलीय ५६
निकाय ३३६
निक्षे १२७
निगम ६२१
निघण्टु १५५, ६६९
निचय ३३६
निचृत् ४७८, ४८६, ४९४
निचृत्विराट् पंक्ति ४८७
निचृद् अनुष्टुप् ४७८
निचृद्गायत्री ४७८
निजविनोवा ३२१
नित्यरुद्र ५७९
निवानसूत्र ४८९
निदितम् ५६६
निधन १२७, ६३०
निपात २४९, २७२
निपातभाक् ६२९

निपातभाजिनी ६२९
निपातानुक्रमणी ५३०, ५३४, ५३७
निपातार्थः ४४४
निपाताव्ययोपसर्गवृत्ति ३१०
निपात्भाक् ५१६
निम्न १७
नियत २३
नियतगण ३०८
निरमणात् २१५
निरुक्त १६२, ५२०, ५२१, ६६९
निरुक्तवार्तिक ४४३
निर्ऋति २१५, ५७७
निर्घातलक्षणम् ६७१
निर्लूर ४०३
निर्वचनानुक्रमणी ५३०
निर्वाण ३३६
निलिम्प ३५५
निविद् ५१९, ५२०, ५४६, ५४७
निवृत्तिस्थान १७७
निश् २५१
निशा २५१
निष्ठा २८४
√नी ३६५
नीचावयाः ५६०
नूतनासः ५६४
नृपाज्ज १४
नृपाय्य १४
नृमेधः ५७२
नेमि ३२५
नेषि ५१०
नैगमकाण्ड १८३
नैगिनौभयथा ६२९
नैगिरुपस्थे ६२९
नैगेयसूत्र ६५२
नैघण्टुक ५२०, ६२८
नैघण्टुक काण्ड १८२
नैचिकेताग्निचयन ५७०
नैमित्तिकरुद्रजपविधि ५७९
नैरुक्त ६२८
नैरुक्ताः ६२९
नैर्ऋत १४८
नैर्लूरीवृत्ति ४०३
नैशजनपद ३४०
न्यङ्कुशिरा निचृत्ककुप् ४८८
न्यङ्कुसारिणी ४९५
न्यधायि २१८
न्याय ११६, ३९६
न्यायदीपावली ४६०
न्यायमकरन्द ४६१
न्यायमुख ११५
न्यायसिद्धा ३१२
न्यास ३१३, ४१४, ४१५, ४१६, ४५६

प

प अन्तु ५१०
पंक्ति ४८४, ४८६, ४९५, ४९६
पंक्तिछन्द ४८५

पचति पचति ५३८
पचसि २०८
पजातं ५६०
पञ्चक्रम ५६६
पञ्चगव्यविधि ५८५
पञ्चचितिः ५७३
पञ्चचूड़ा ६१८
पञ्चपादी ३१९-२०, ३२२, ३७७
पञ्चम २७४
पञ्चमीश्राद्ध ५८५
पञ्चविधसूत्र ६४५
पञ्चाग्निहोम ५८१
पञ्चिका ५१, ४५०
पटल ६८, ६९
पटावि ३००
पठितगण ३०६, ३०८
पतियान ६३७
पत्नीः ५२४
पत्न्यः ५२४
पथिकृत् ५८२
पथ्याबृहती ४९०
पदकार २४९
पदपंक्ति ४८७, ४९५
पदपाठ ५८
पदपूरण १८०-८१
पदम् २८१
पदमञ्जरी ३९४, ४०५, ४१४, ४१५, ४१८, ४२०
पदसंज्ञा ४३६
पदसिन्धुसेतु ४५८
पदाधिकार २५
पदानुकर्षण ४३७
पदार्णव ३२१
पदार्थदीपिका ४४४
पद्धति ३८८, ५५२
पद्या ६१६, ६१७
पपुरि १५५
पयः ४८९
परबलीयस्त्व ४३७
परमलघुमञ्जूषा ३९७, ४४५
परमस्याम् ५६४
परमेष्ठी ५९८
परस्मैपद २२८, २४९, २७२
परा ५६६
पराअदात् ५६०
पराक्कृच्छ्र ५५५
परि १६०
परिक्खिवते १२
परिगणन ४३७
परिचर्याविधि ५८५
परिणाम ८५
परिपन्न सन्धि २३
परिब्भुज् १२
परिभाषा ३१२, ५८४
परिभाषापाठ ३१३, ४२०
परिभाषाप्रकरण ४२०
परिभाषावृत्ति ३१३, ३८०, ४१७, ४१९, ४२०, ४६४
परिभाषासूचनम् ३१२
परिभाषासूत्र ३१२, ३१३

परिभाषेन्दुशेखर ३१३, ३१४, ३९७, ४२४
परिमन् ५६०
परिवत्सर १४५
परिवेशलक्षणम् ६७१
परिव्राजक १८०
परिशिष्ट ५४५, ५४६
पराश्रय १०
परिषद् ३४१
परिषेचन ५९१
परिषेचनमन्त्र ५९२
परिष्कर्ता ५६७
परीक्षा ४४४
पश्व ४७९
परेद्यवि ३६४
परोक्षवृत्ति २१६
पर्क १६
पर्जन्यसूक्त ५५३
पर्यायसूक्त ६८३
पर्व १२९
पलिक्कनी २१
पवित्रवती ६७६
पवित्रेष्टि ५५०, ५५२
पशकम् ६४३
पश्यतिकर्मा १६०
पश्यन्ती ३७९
पाकयज्ञविवृत्ति ८८
पाकवती २०, २६
पाङ्क्तकाकुभ ४८४
पाञ्चाला: ४९९
पाटल ३२५
पाणिनीय शिक्षा ३७
पाताण्डनीय ५३२
पाद ५०९
पादभाग ६१६, ६१७, ६१८
पादविधान ४८३, ५३१, ५५९
पादविधानानुक्रमणी ५२८
पादवृत्त १६, ६०२
पादाक्षरगणनानुसारी ४७९
पादानुक्रमणी ५२८
पादोन ६१८
पान्तु ५१०
पापधियम् ३६४
पाराशरी शिक्षा २९
पारिशिक्षा १२, ४३
पार्शव ३४०
पार्षदवृत्ति ७७
पार्स ३४०
पालंक ३२५
पावन ५१७, ५१९
पावमानी ५५६
पाशुकम् ५७२
पाशुपतव्रत ६६८
पिंगलछन्द:सूत्र ४८३, ५२९
पिंगलसूत्रभाष्यराज ४९७
पित् २८३
पितृमेध: ५७२
पिधान २५१
पिन्वमान १४०
पिपर्तन ५६३

पिपीलिका २०, २६
पिपीलिकामध्या ४७८, ४९४
पिप्पल्यादि ३०२
पिप्पल्यादिगण ३०२
पिष्टराव्याः कल्प ६६२
पीपरत् २८७
पुंसवन ५५३
पुच्छादि ३००
पुण्डरीक १४०
पुण्डरीकाक्षी ५८७
पुण्यराज ३८७
पुन:प्रतिष्ठाकल्प ५८५
पुनराधेयम् ५७२
पुनर्विवाह ५८५
पुरन्दर २०२
पुरन्धि १६२
पुरस्ताज्ज्योति ४८२, ४९९,
पुरस्ताज्ज्योति: जगती ४९६, ५०१
पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप् ४९६, ४९९, ५०१
पुरस्थाता ४८०
पुराणगा: ३८३
पुरिशय १८०
पुरुकुत्स ६२०
पुरुमीढम् १०५
पुरुवसु: ४८०
पुरुष १८०, ३४१
पुरुषकार ३८०, ४१९
पुरोडाशविधि: ५७२
पुरोडाशीय ५७२
पुरोरुच् ५२०, ५४६, ५४७
पुरोहितकर्माणि ६६१
पुष्करसत् ३०१
पुष्पमन्त्र ५५३
पुष्यमित्रम् ३७०
पुष्याभिषेक ६६२
पूजार्ह २१८
पूर्णोत्सेधा ६१७, ६१८
पूर्वम् १२
पूर्वयाज्ञिक २०६
पूर्वं व्युत्क्रम २७९
पूर्वेद्यु: ३६४
पृथक्स्तुति ५१८, ५१९
पृथिवी १८०, २०५, ५६३
पृथिविआम् ५१०
पृथिव्याम् ५१०, ५६४
पृषदश्व ६२०
पृषोदरादि ३००
पृषोदरादिवृत्ति ४६४
पैप्पलाः ५३४
पैप्पलाद ३३४, ५३४
पौष्करसादि २५२
प्रकटार्थविवरण ४६०
प्रकाश ४३१
प्रकाशिका ४६३
प्रकीर्ण ३८१
प्रकीर्णक-प्रकाश ३८९
प्रकीर्णक-विवरण ३८९
प्रकीर्णकाण्ड ३८१, ३९४
प्रकीर्णविवरण ४४१
प्रकृति ४८३, ४८९

प्रकृतिभाव ४
प्रकृत्या २७७, ३६८
प्रक्रियाकौमुदी ४२३-२४, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९, ४३१, ४३३, ४३४, ४३५, ४३८, ४६२
प्रक्रियाकौमुदीकार ४२७
प्रक्रिया प्रकाश ४२४
प्रक्रियाप्रसाद ४२४, ४६२
प्रक्रियारत्न ४२६
प्रक्रियासंग्रह ४५७
प्रक्रियासर्वस्व ४२६, ४२८, ४३८, ४५८
प्रगाथ ४८४
प्रगृह्य ८१, १०४, २४९
प्रगृह्यस्वर ९६, १०८
प्रचय १२३
प्रजापति ५७२, ५९८
प्रतिग्रहकल्प ५७६
प्रतिग्राह्य ३५५
प्रतिपूर्वक ५२४
प्रतिमा ४७६
प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र १०५
प्रतिहार १२७, ६४८
प्रतिहारभक्ति ६३०
प्रत्यक्षवृत्ति २१६
प्रत्यङ् १२
प्रत्यङ्क्स् १२
प्रत्यङ्ङात् २२
प्रत्यङ्ङात्मा १२
प्रत्यय १७७, २४९, २८१
प्रत्याहार २८२
प्रत्युत्क्रम १२९
✓प्रथ् १८०
प्रथन १०६
प्रथमा २४९
प्रदान्ता: ५३४
प्रदीप ३८०, ३९४, ४२२
प्रदीपविवरण ३९६
प्रदीपोद्द्योत ३९४-९५
प्रदीपोद्द्योतछाया ३९४
प्रदीपोद्द्योतन ३९६, ४२२
प्रधान २४९
प्रबुद्धपदा जगती ४९०
प्रभृथ ३२४
प्रमा ४७६, ४९४
प्रमाणरत्नमाला ४६०
प्रमाणसमुच्चय ३९१, ४०६
प्रमिताक्षरा ४९१
प्रयत्न २४९
प्रयोग ५५२
प्रयोगदीपिका ४६४
प्रयोगपारिजात ५५२
प्रयोजन ३९५
प्रवयण: ३१७
प्रवर ६१९
प्रवर्ग्यः ५७२
प्रवर्ग्यविधि: ५७२
प्रवर्ग्योद्वेशन ५९४
प्रवर्तक ३९५
प्रवाहण ३०४

प्रविद्वान् ११५
प्रश्नद्वय ५९१
प्रश्लिष्ट १२३, ६०२
प्रसाद ४१४, ४३१
प्रस्ताव १२७, ६५३
प्रस्तावभक्ति ६३०
प्रस्तावसूत्र ६५३
प्रस्तीर्ण १०६
प्रहर्षिणी ४९१
प्राग्गायत्री ५०१
प्राजापति ५९८
प्राजापत्य ५१६, ५५५, ६२८, ६८२
प्राणपणा ४१९
प्राणभृत् ६१८
प्रात: ५६२
प्रातरिन्द्रम् २३
प्रातरुपस्थान ५९४
प्रातर्मक्षु ५०९
प्रातिपदिक २७२, २८०, ३२४, ३२६
प्रातिशाख्य ६२१
प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा ३२
प्रातिश्रुत्क ८५
प्रातिहत १६
प्रादेशिकगुण २२८
प्रादेशिक विकार २२८
प्राप्नोत १२
प्रायश्चित्त ५४४
प्रायश्चित्तार्थ ५१९
प्रायश्चित्तार्थसूक्त ५१९
प्रायश्चित्तीय ५१९
प्रार्थयित्वा २८६
प्रावक: ३५५
प्रावरिकासूत्र ६१८
प्रैष ५२०, ५४६, ५४७
प्रौढमनोरमा ४२४, ४२५, ४२८, ४२९, ४३१
प्रौढमनोरमाकुचमर्दिनी ४३१
प्रौढमनोरमाखण्डन ४३१
प्लुत २४९

फ

फल ३९५
फिट् ३२३
फिट्सूत्र ३०१, ३२३, ३२६, ३२७
फिष् ३२४, ३२६

ब

बन्धु: ५९८
बन्धुल ६२०
बन्ध्वादय: ५९८
बप्सति २८७
बब्धाम् २८७
बभस्ति २८७
बर्‌हह १४
बल ४, १४८
बव १४८, १४९
बहुकृष्णाजिन: १६४
बहुदैवतम् ५१९
बहुव्रीहि २७३
बह्वृच: ६२८

बह्वृचपरिशिष्ट ५५०
बाधासमुद्‌देश ३८२
बाबावि ३२५
बाभ्रव्यगालव १६७
बार्ह ५०३
बार्हत ७४, ४८४, ४८५, ४८८
बार्हस्पत्यः ५९८
बालकृष्णगोडशे १००
बालखिल्य ५४६
बालबोध ४५०
बालबोधिनी ४५०
बालमनोरमा ४३२, ४३५
बालव १४८
बालावबोध ४५३
बाष्कलि भारद्वाज १६७
बाह्ज १४
बाह्य १४
बाह्वादि २५२
बिभर्ति ११५
बृहच्छब्दरत्न ४३१
बृहच्छब्देन्दुशेखर ३९७, ४३२
बृहती ४८१, ४८४, ४८५, ४९१,
    ४९५, ५०६, ६१६, ६१८
बृहत्-परिभाषावृत्ति ३१३
बृहद्‌देवता ५२०, ५२१, ५३१
बृहद्‌देवम् ५०९
बृहद्वैयाकरणभूषण ४३०
बृहल्लक्षहोम ६६६
बृहस्पतिमन्त्र ५५३
बृहस्पत्यादि ३०१
बृहस्पत्यानि ६७३
बोधयत् ५२४
बौधायन ६५४
बौधायनशिक्षा ३८
ब्जृद्धि १४
ब्रह्मकूर्चविधि ६६८
ब्रह्मचारिपटल ७६
ब्रह्मपलाशाः ५३४
ब्रह्मयाग ६६५
ब्रह्मरूप ६१३
ब्रह्मा ५७२, ६२९
ब्राह्मण ६२४

भ

भ २४९, २८०
भगवत् १६८
भट्टिकाव्य ३७७
भट्टिचन्द्रिका ३७७
भरतमिश्र ४४३
भरद्वाज २५०, ५९८
भरा ३३१
भर्तृहरि ४०६
भव ३३०
भवन्ती ३५१
भवा ५११
भविष्यत् २४९
✓भस् १६०
भसंज्ञा ४३६
भसथ २८७
भागवृत्ति ३७७, ३७८, ४१८

भागवृत्तिकार ३७८

भागुरि १६६, २५१

भागुरिणः २५१

भारद्वाज २६७, ३४६

भारद्वाज शिक्षा ३९

भारद्वाजीयाः ४१०

भार्गवीयानि ६७३

भार्या ३५५

भाव १७९, २२७

भावप्रकाशिका ४३१

भावप्रत्ययार्थः ४४४

भावप्रदीप ४३२

भाववृत्त ५१७

भाववृत्तसूक्त ५१९

भावी ९७

भाषावृत्ति ७८, ३१३, ३७७, ३८०, ४०२, ४०३, ४०४, ४१३, ४१८, ४१९

भाषावृत्त्यर्थविवृत्ति ४१९

भाषिकसूत्रवृत्ति ६०७

भाष्य ४०३, ४३५

भाष्यटीका ३९४

भाष्यदीपिका ४१५

भाष्यप्रदीप ४२४

भाष्यराज ४९७

भाष्यसूत्र ३४६, ४०१

भासनात् ३६५

भिन्नः ५१०

भिन्नाम् ५१०

भिक्षु ३३५-३६

भीरुक ३१७

भुग्न २३

भुरिक् ४७८, ४८६, ४९४, ४९५

भुरिक् गायत्री ४७८, ४८७, ४९५

भुरिक् पदपंक्ति ४९५

भूति ३१४

भूतोपमा १८३

भूमि ३२५, ६२०

भूमिष्ठाः ५१०

भूमिकम्पलक्षणम् ६७२

भूमिदान ६६३

भूमिबोह ६६२

भूम्याः ५१०

भ्रेण्याबि ३०१

भेता ४८९

भैरवी ३१४

भैषज्य ५१९

भैषज्यसूक्त ५१९

भ्राज ४९२

भ्रियन्त २३

भ्वादिगण २९२, २९३, २९५

म

मंहति १५४

मंहनीय २१८

मकार २७, २४९

मक्षु ५६२

मघ १५४

मघवन् ५६०

मच्छ ३२२

मञ्जरीमकरन्द ४१५
मणि-प्रकाशिका ४५६
मण्डनमिश्र ४४३
मण्डलानि ६७१
मण्डूकप्लुति ४३७
मत्स्य साम्मद ५३९
मदम् ५६४
मध्यम् ६२९
मध्यमस्याम् ५६४
मध्ये जगती ४९६
मध्येज्योति ४९६, ४९९
मध्येज्योति जगती ५०१
मध्येज्योतित्रिष्टुप् ४९६, ५०१
मध्ये यकार २१
मध्ये व्यञ्जन २१
मन्तर ५१०
मन्त्र ५१०
मन्त्रसंहिता ५४८
मन्त्रार्थप्रदर्शिनी ५३०
मन्त्रार्थानुक्रमणी ५३४
मन्द्रा ६३१
मरुत: ४७६
मरुद्भि: ५६२
मर्त्य २३
मर्यास: ५६६
मलमास १४०
मस्कर ३३७
मस्करी ३३६-३७, ३३८
महत् १५९
महत्तत् ६२९
महस्वान् १४०
महाकुम्भकार ३७३
महाद्भुतानि ६७४
महान् १७०
महानाम्नी ५१९, ५४६, ६२६
महान्यास ४१५
महापंक्ति ४८८, ४९६, ५०३, ५०७
महापंक्ति जगती ४८२
महापदमञ्जरी ४१५
महापृष्ठ्य ८१
महाबार्हत ४८८
महाबृहती ४९९
महाबृहती मुख ५०३
महाभाष्य ३१३
महाभाष्य कैयट प्रकाश ३९६
महाभाष्य टीका (दीपिका) ३७८
महाभाष्यतत्त्वविवेक ४३१
महाभाष्यदीपिका ३७७, ३८८, ३९४
महाभाष्यप्रत्याख्यानसंग्रह ३९७
महाभाष्य प्रदीप ४१८
महाभाष्यप्रदीप व्याख्या ३९४
महाभाष्यप्रदीपोद्द्योत ३९७
महाभाष्यप्रदीपोद्द्योतन ३९६
महाभाष्यरत्नाकर ४००
महावार्तिक ३४७
महावृत्ति ४५४, ४५५
महाव्रताध्ययन २६२
महाशान्ति ६७७
महाशिक्षा ३४

महासतोबृहती ४९६, ५०३
महासान्तपन ५५५
मा २१८, ४७६, ४९४
माण्डवी शिक्षा ३०
माण्डूकी-शिक्षा ४६
माता ३२५
मात्रा ४, ४८
मात्रालक्षण ६४४
माथुर ४०२
माथुरी ४०२
माथुरीवृत्ति ४०२
माधवभट्ट ५२९
माधुरी ४०२
माधुरीवृत्ति ४५४
माध्यन्दिनस्य ४८३
माध्यन्दिनी शिक्षा ३०
माध्यमकः ६२९
मानव ६५४
मान्य मैत्रावरुणि ५३९
मामहन्ताम् ५६३
माया ३२५
मालती ४९१
मासकृत् २१८
माहाभाग्य २०४
माहेश्वर २४६
मित् २५५
मित ऋषि ५३८
मितर्षि ५३८
मिताक्षरा ४०३, ४२२
मित्रः ५६३, ५९९
मिमिड्ढि २८७
मीमांसाभाष्य ३७७
मुग्धबोध ४६२
मुग्धबोधिनीकार ३७७
मुण्डादि ३००
मूर्धन्य ७, ६४
मृग ११५
मृत्यु १६८
मृदुप्रयत्न १०५
मेघ १५५
मेधा ३२५
मेधाभरण ५५३
मेधासूक्त ५४७
मेष ३३०, ३५४
मेहना २१८
मैत्र १४८
मैत्रेयरक्षित २९८
मैरेय ३४१
मोक्ष ३३६, ३८३
मोद ३३४

य

यः २१८
यकार २६
यङ् १७७
यङन्त १७७, २२८
यङ्लुगन्त १७७, २२८
यङ्लुग्वृत्ति ४६४
√यज् ३६५
√यज् नङ् ३६५

यजत्रा ५६०
यजमान ५१९
यजमानस्याशिष: ५१८, ५१९
यजुर्विधान शिक्षा ३३
यजुर्विधानसूत्र ६२१
यजुषा ५९१
यजुष्मती ६१६, ६१७, ६१८
यजुस् ३६५
यज्जायथायाम् १२७
यज्ञ १५४, १६४, ५५२
यज्ञपात्र लक्षण ६६६
यज्ञपार्श्वपरिशिष्ट ६२१
यज्ञात् १४
यज्ञोपवीतिविधि ५८५
यति ५५५
यदृच्छाशब्द ३६०, ३६७
यद्रुद्रेणा ५०७
√यम् ३६६
यम ७, ९, १०, ५६, ७२, ७३, ८७, ९५, १०४, १०७, १२३, १२५
यमयज्ञ ५८५
यमन्वन् ३२६
यमलशान्ति ५७७
यमागम ८७
यमापत्ति ९५
यवन ३३९-४०
यवनानी ३३९-४०
यवनानी-लिपि ३४०
यवमध्या ४८५, ४९५
यवमध्यात्रिष्टुप् ५०३
यवमध्यान्त ५०२
यश: ६३०
यस्क १७५
यस्कादि २५२
यस्कादिगण ३०१
√याच् ३६५
याजयाम: ३७०
याजुष ५१
याजुष ज्योतिष १४७
याजुषज्योतिषम् १५०
याजुषी गायत्री ४७९
याज्ञवल्क्य २४
याज्ञिक २०६
याज्ञिकी ५७२
याज्या ८१, ५७२, ५९५
यादवप्रकाश ४९७
यामि २८७
यास्क १६६, १७५, ४९९, ६२८
यास्क पैंगि १७५
युजिश्र ५१०
युज्य ५१०
यूप लक्षण ५४५, ६००
योगविभाग ४३७
यौगिक ३१५
यौजनशतिक ३४१
व्यज्ञात् १४

र

रक्षोघ्नसूक्त ५५३
रंग ७, ८, २१, २८, ५३, ६३

रत्नाकर ४३२
रत्नार्णव ४३२
रथन्तर ६४८
रथन्तरवर्णा ६३१
रथम् ५६३
रथीतर १७०, ६२०
रयि ३२५
✓रश् ३६६
रश्मि ३६६
रस ४८९
रसमञ्जरी ३९७
रसमञ्जरी टीका ४९१
रसवती ४६३
रसवान् १४०
रहस्य १२७
रहस्यछन्द ४९९
राजप्रथमाभिषेक ६६१
राजयक्ष्मनाशन ५१६
राजसांवत्सरीयम् ६६४
राजसूयम् ५७२
राजसूयविधिः ५७२
राजा ३४१
राजानक ३८८
राजाभिषेकविधि ५८५
राणायनीय ६४६
रात्रिसूक्त ५५३
राम अग्निहोत्री ९९
राष्ट्रसंवर्ग ६६०
राहुचारः ६७१
रिशावस् २३
रुक्मिणीपरिणय ४२१
✓रुज्-भङ्गे ३६६
रुवर ५१०
रुदावि २९३
रुद्र ५१०
रुद्रप्रतिष्ठाकल्प ५८५
रुद्रस्नपनविधि ५८५
रुद्रस्नान ५७९
रुधावि २९३
रूढ ३१५
रूढादिगणं ३०२
रूपमाला ४२६
रूपमालावृत्ति ४५०
रूपविज्ञान २२९
रूपसिद्धि ४५७
रूपसूक्त ५५३
रूपावतार ३९३, ४२३-२४, ४२६,
४३३, ४३४, ४४९
रूपोपमा १८३
रेषण २३
रोचते ४७६
रौढि २५७, ३०२
रौढ्यादिगण ३०२
रौद्र १४८

ल

लकारार्थः ४४४
✓लक्ष् ३६५
लक्षणसमुद्देश ३८२
लक्षणाद् ३६५
✓लग् ३६५

लघीयसी ४५६
लघुकौमुदी ४५३
लघुपरिभाषावृत्ति ३१३
लघुपाठ ५५
लघुमञ्जूषा ३९७, ४३०, ४४५
लघुमाध्यन्दिनी शिक्षा ३०
लघुलक्षहोम ६६६
लघुवृत्ति ४२०
लघुशब्दरत्न ४३१
लघुशब्देन्दुशेखर ३९७, ४३२
लघ्वमोघानन्दिनी शिक्षा ३०
√लज्ज् ३६५
लट् ३५१
√लप्स् ३६५
√लभ् ३६५
ललितावृत्ति ४२०
√लष् ३६५
लाञ्छ ३६५
लावकः ३५५
लिङ् ९७
लिंगवचन २७३
लिंगानुशासन ३१४
लीलावती ४३५
लुक् ९७, ३२६
लुक्प्रकरण २७३
लुट् ३५१
लुनीहि लुनीहि ५३८
लुप् ९७
लुप्तोपमा १८३
लेशवृत्ति १२५
लोकम्पृणा ६१६, ६१७, ६१८
लोकानन्द ४५३
लोप १७६, २४९
लोमशी-शिक्षा ४५
लोष्ट ३६६
लौपायना ५९८
ल्वादिगण २९४

व

वंशस्थविल ४९१
वकार २७
वक्त्रा ४९१
वक्र ६१८
वक्रपक्ष ६१६
वक्रा ६१६, ६१८
वक्रालिखिताः ६१७
वक्रालिखिता पूर्णोत्सेधा ६१८
वक्ष्यते ३४९
वगाह २५१
वज्रनाम १६१
वणिज १४८
वत्श २५
वत्शो २५
वत्स २५
वत्सानुकृति २०
वत्सानुसारिणी २०, २६
वत्सानुसृजिता २६
वत्सानुसृति (-कृति) २०
वत्स्यामि १३
वधकर्माणः १५९

वनम् ५३०
वनसद: ५६७
वनस्पति १७०
वयस्या ६१८
वयुनम् १६१
वराह् १६१
वरुण ३२४, ५६३
वरुथ ३२४
वरेणियम् ४९५
वर्का ३४०
वर्काण ३४०
वर्ण ३, २४९
वर्णक्रम १०४
वर्णपटल ६६९
वर्णप्रकरण २५
वर्णरत्नदीपिका ३१
वर्णसमूह २४७
वर्णस्थान २०
वर्तमान २४९
वर्त्स्यं ७
वर्धमाना जगती ४९०
ववक्षिथ १५९, २८७
✓वश् १६०
वश्मि २८७
वष्टि २८७
वसन्ततिलका ४९१
वसन्त-सम्पात १४७, ६७४
वसन्तादिगण ३३४
वसवः ५६३
वसो: ६३१

वह्सि २०८
वा २१८
वाक् २५१
वाक्य-उपदेश ३८१
वाक्यकाण्ड ३८१
वाक्यपदीय ३७७, ३८१-८२, ३९०,
    ३९४, ४०६
वाक्यपदीयकार ३७७-७८
वाचनिक ३१२
वाचा २५१
वाचावि ३०१
वाछा २५
वाजपेय ८१, ५७२
वाजपेयविधि: ५७२
वाजप्यायन २५९
वाडव ३४७
वावकुतूहलादि ४९७
वादे १२७
वापी ५५२
वाय: २१८
वायवस्थ २७
वायु ३१७
वायुरस्मा ५०७
वायो ५६०
वाराह् ६५४
वारुणी ६७२
वार्कॆण्य ३४०
वार्तिक ४३५, ४३७
वार्तिकोन्मेष ३८९
वार्यं ३५५

वार्ष्यायणि १६८
वालखिल्या ६१८
बालव १४९
वाल्मीकि शिक्षा ३८
वाशिष्ठी शिक्षा २९, ३८
विंशति ३६४
विंशतिक ३४१-४२
विकरण २७३
विकर्ष ८१
विकर्षभाव १२९
विकृति ४८३
विग्रह ११६
विघ्नपार्षवा ५८७
विचर्षणिः १६०, २८७
विच्छन्द ४८५, ४८६, ५००
विच्छेद ९५
विजय १४८
विजिघ्र ३३१, ३५५
विज्ञया ३१४
विदादिगण ३०८
विद्यासागर ४५०
विद्युन्माला ४९१
विद्युल्लक्षणम् ६७१
विद्रधे १७०
विधवा १६७
विधृति ४८९
विपरीता ४८४
विपरीताग्ना ४८४
विपरीतोत्तर ४८८
विप्रबन्धुः ५९८
विप्रासः १६६
विभक्ति २४९
विभक्त्यर्थ प्रदर्शिनी अनुक्रमणी ५३०
विभक्त्यर्थानुक्रमणी ५३४
विभाग्य ६४८
विभाषा २६६
वियत् २६
विराट् ४८५, ४८६, ४९४, ४९६
विराट्सम्राट् २२
(द्विपदा) विराट्पंक्ति ४९९
विराट्स्थाना ४८२, ५०९
विराट्स्थाना त्रिष्टुप् ४८२
विराड् अनुष्टुप् ४९५
विराड् अष्टि ४८९
विराड् गायत्री ४८०
विराड्रूपा त्रिष्टुप् ४८२, ५०२
विराम २१
विरूप ६२०
विवक्षसे १५९, २८७
विवरण ३९६-९७
विवरणकार १००
विवल १५
विवाहमन्त्र ५५३
विवृत ६२, ८५, १०५, २४९
विवृत्ति ७, ९, २१, २६, ६३
विव्याक १७०
विशाखे ८१
विशेषावश्यक ४५४
विशोकय ५२४
विश्वचर्षणिः १६०, २८७

विश्वजित् १४०
विश्वज्योति: ६१८
विश्वभैषज्यसूक्त ५१९
विश्वलिंग ५१८
विश्वलिंगसूक्त ५१८
विश्वस्मात् ५६३
विश्वावसु १४८
विश्वेदेवा: १७०, ५७२, ५७४, ५९९, ६३५
विश्श्वत: १३
विषमभक्ति ६४८
विष्टारपंक्ति ४९१
विष्टारपंक्ति जगती ४९०
विष्टारबृहती ४९१
विष्टि १४९
विष्टि चर १४८
विष्णु २०३
विष्णुप्रतिष्ठाकल्प ५८५
विष्णुवृद्धि ६२०
विष्णुसूक्त ५५३
विष्णुस्नपन ५८५
विष्ण्णु: २१
विसर्ग २५
विसर्जनीय १०४
विस्तार १०६, ४५०
विहव्य ८१
वीतहव्य ५९८
वीरास: ५६६
वृज् ३०५
वृजिमार्हपत ३४३
वृत्ति १२३, २२८, ३८७, ३८८
वृत्तियुक्तसूत्रग्रन्थ ४०१
वृत्तिसूत्र ३९०, ४०१, ४०४
वृत्रहन् ४८३
वृत्रहा २०२
वृद्धपाठ ५५
वृद्धि १७६, २४९, २८१, ३२६
वृषभदेव ३८९
वृषाकपि ३२५
वृषोत्सर्ग ५५२, ५८५
वेदपरिभाषाकारिका शिक्षा ३३
वेवपरिभाषासूत्र शिक्षा ३३
वेदभाष्यसार ४२५
वेदव्रतम् ६६९
वेदांग ज्योतिष १५०
वेदान्तसूत्रवृत्ति ३७७
वेदार्थदीपिका ४८३
वेदार्थ बीपिकाकार ५२९
वेदिलक्षण ६६६
वेन: ५९९
वेयगान १२७
वेला ११६
वेवी ३५७
वेष्टन ५६७
वै २७
वैकृत ६१९
वैकृतकाण्ड ६२०
वैखानस ५३९
वैजयन्तीकार ३७७
वैदिकशाखा २६०

वैदिकाभरण ४४, ८४
वैयाकरणभूषण ४४३, ४४४
वैयाकरणभूषणकारिका ४२५, ४२६, ४३०
वैयाकरणभूषणसार ४२४, ४३०, ४४३-४४
वैयाकरणमत्तोन्मज्जिनी ४४४
वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी ४२५, ४२६
वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा ४४५
वैयाकरणसिद्धान्तरहस्य ४३२
वैयाघ्रपद्य २५६
वैयुष्ट ३४१
वैराज १४८
वैरूपे १२७
वैवाहिकहोम ५५२
वैश्रवज ६०१
वैश्वदेव ५१८, ५१९, ५९१
वैश्वदेवमन्त्र ५९२
वैश्वदेवसूक्त ५१८, ५१९, ५२२, ५४२
वैश्वदेवी ६२८
वैश्वसृजचिति ५७०
वैश्वसृजम् ५७३
वैश्वानर २३०, ५८२
वोढ्व २७
व्यञ्जन १२, २४९, ३५१
व्यस्प्रादि ३०१
व्याकरणदीपिका ४०३
व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि ४०३
व्याकरणसुधानिधि ४२१
व्याख्या ४५०
व्याख्यान ३९६, ४३७
व्याख्यानसूत्र ३४६
व्याख्यासार ४५०
व्याघ्र ३३१
व्याजिघ्र ३५५
व्याडि २५७, ४०२
व्याडिपरिभाषापाठः ३१२
व्यात्-तम् ३०
व्यापार २२७
व्याप्तिकर्मा १७०
व्यासशिक्षा १२, ३४, ३७, ८७
व्याहृति ५५६
व्युत्पन्न ३१५
व्युष्ट ३४१
व्यूह ७६
व्यूहन ४७८
व्यृद्धि १४
व्रतति १८०
व्रतशान्त्यर्चा ५५३
व्रते ३७३
व्रात्य ६८२
व्वायवस्थ २७
व्वोढ्व २७

शा

शंयुर्बार्हस्पत्य ६२७
शंसः ५३६

शकल २७७

शकुनि १४९

शकृत्कार: ३५५

शक्क्यम् २१

शक्तिशालीशतम् २१३

शक्वरी ४८३, ४८९

शंकुमती ४९४

शतकत्रय ३७७, ३७८

शतक्रतो ५६०

शतमान ३४१-४२

शतरुद्रप्रिय ५७९

शता १२९

शताबलाक्ष मौद्गल्य १६८

शन्तनु (शान्तनवाचार्य) २५६

शप् २६६, २९४

शपथ ३२४

शबल ३२५

शबलिकर्म ५७६

शब्द ४३०

शब्दकौस्तुभ ४०३, ४१७, ४२१, ४२५, ४४३-४४

शब्दधातुसमीक्षा ३७७, ३७८-७९

शब्दरत्न ४०५, ४२४

शब्दशक्ति: ४४४

शब्दशक्तिप्रकाशिका ४४५

शब्दसिद्धिवृत्ति ४५०

शब्दाकृत्यानुक्रमणी ५३४

शब्दाद्वैत ३७८

शब्दाम्भोज-भास्कर-न्यास ४५६

शब्दार्णव ४५५

शब्दार्णवकार ४५५

शब्दावृत्ति ५३७

शमान शिक्षा २३

शमिम्रा ५१०

शम्भु शिक्षा ३७

शम्या ५१०

शरत्सम्पात् १४२

शर्या: १६१

शर्व ३३०

शाकटायन १६६, १६८-६९, २६२

शाकटायनन्यास ४५६

शाकपूणि १६९-७०, १७१

शाकल्य २६०

शाकल्यपितु: २६१

शाट्यायनिन: २५२

शातपथिका: ६२८

शान्तातीय ६६२

शान्ति ५१७, ५१९

शान्तिसूक्त ५५३

शामयत् ५२४

शास्त्रप्रवृत्ति ४०१

शिक्षापटल ७६

शिक्षाप्रकाश ५१

शिट् ३२६

शिताम २६२

शिरिम्बिठ: १६२

शिरिम्बिठस्य १६२

शिवदृष्टि ३७८

शिवराम ९९

शिवलीलार्णव ४२१

शिवसंकल्प ५५३
शिवसूत्र २७१
शिवादि ३०७
शिशुसान्तपन ५५५
शिशूल ३२५
शिष्यलेखा ४५३
शिष्यहिताभ्यास ४५०
शीभादि ३०१
शुक्र ४८९, ५९९
शुंग ६३२
शुनःशेपम् ५६६
शुभ्रादिगण ३०४, ३०७
शुल्बसूत्र ६२१
शूरवर्मा ३८८
शेखर ३९७, ४३५
शेषसूत्र ५४४
शेषे २७४
शैशिरीय शिक्षा १९
शोकापनोद ३५५
शोणा ४३४
शोणी ४३४
शौकायनाः ५३४
शौनक १६६, ५३४, ६२८
शौनकस्मृति ५३१
शौनकादिगण ३३४
शौनकीय १०१
शौनकीय चतुरध्यायिका ४४६
शौनकीय परिशिष्ट ५५०
श्रद्धासूक्त ५५३
श्रमण ३३६
श्राद्ध ३७३, ५५२
श्राद्धकल्प ५८०, ६१३, ६१४, ६३५
श्राद्धभोजी ३७३
श्राद्धविधि ६६८
श्राद्धसूत्र ६१३, ६१४
श्रीरामशर्मा ९९
श्रीसूक्त ५४७, ५५३
श्रुतबन्धुः ५९८
श्रेष्ठ ११५, २१८
श्लोक ४९१
श्लोकादि ३००
श्वदन्ती ६७७
श्वन २५५
श्वनयति २५५
श्वपचा ३३१, ३५४
श्वहत्या ३५५
श्वानयति २५५
श्वास ६२
श्वासानुप्रदान ५६
श्वेत १४८

ष

षट् २७२
षट्कारण ५९४
षट्पदा जगती ४८२
षड्गुरुशिष्य ५२९
षष्ठीश्रावी ३७७
षोडशश्लोकीशिक्षा ३२
ष्वरच् ३१९

स

संयोग २४९, २८१

संयौम्मि १४
संय्यौम्मि १४
संवत्सर १४५
संवपाम्मि १४
संवादसूक्त ५१८, ५१९
संविज्ञात १८०
संवृत २१, ६२
संव्वपाम्मि १४
संसर्ग ८५
संस्कार २२८
संहिता ४८, १७७, २२८, २६०, २८१
सक ३४०
सकृत् २१८
सख्ख्यम् २१
संकृति ४८३, ४८९, ५००
संक्षिप्तसार ४६३
संक्षिप्तसारसंग्रह ४६३
संख्याविवक्षा ४४४
संगृहीत्वा ५२४
संग्रह २५८
संघ ३३६
सच् ११६
✓सज् ११६
सजोषा ५७२
सञ्चार ५८३
सञ्जनी १८०
संज्ञा ९७, २६६
संज्ञान ५३३
संज्ञानसूक्त ५३३
सत् ५६४
सतोबृहती ४८४
सतोबृहती प्रगाथ ५०६
सत्त्व १७९, १८०, २२७
सत्याबि ३००
सत्याषाढ ६५४
सत्र ६४७
सत्रसहाबि ३०१
सत्रायणम् ५७२
सदस्पतिका ६२८
सद्य: ३६४
सद्योवृष्टिलक्षणम् ६७२
सन् १२, १७७
सन्तान ४
सन्त्स्तयते २२
सन्देहास्पद ४९९
सन्धि ४, १०४
सन्धियोग्य व्यञ्जन १०४
सन्ध्यक्षर २४९
सन्ध्योपासनविधि ६३४, ६६८
सन्नत्र १२
सन्नन्त १७७, २२८
सपिण्डीकरण ६१३
सप्तगान ६२४
सम् २८३
समकालिक व्युत्क्रम २७९
समय ५६२
समयानुक्रमणी ५३०, ५३४
समस्त २२८

समा ४७६-७७
समानाक्षर ३५१
समामने १६२
समावर्तन ५५३
समास २२८, ३२४
समासशक्ति: ४४४
समासान्त २७४
समिल्लक्षण ६६६
समुच्चय ३३६
समुच्चय प्रायश्चित्त ६६७
समुद्र ३२५
समुद्रम् ५३०
समुद्रवाससम् ५६३, ५६४
समेकित (संचित) २३
सम्पत्करण ७३
सम्पत्ति ४७८
सम्पन्नम् ६३६
सम्पा ४८९
सम्प्रसारण २७२, २८०
संभर १४०
सम्भारलक्षण ६६६
सम्यक्क्स्रवन्ति १२
सयोनि ६३३
सरस्वतीकण्ठाभरण ४५७, ४५८, ४५९
सरस्वतीसूक्त ५५३
सरित् ४८९
सर्पि: १५४
सर्वतोभद्रमण्डलदेवतामन्त्रा: ५४९
सर्वनाम २२८, २७२, ३२६
सर्वनामस्थान २८१
सर्वसम्मतशिक्षा ३९, ८७
सर्वादिगण ३००
सर्वानुक्रमणी ५२०, ५२१, ५२६
सर्वार्थसिद्धि ४५४
सर्वौषध १४०
सलिल ३२५, ४८९
सवनस्य ४८३
सवर्ण २४९
सवा ५७२
ससर्परीवाक् ५५७
सहस्क्कृतम् २२
सहस्रशाखे ८१
सांविदन ११५, ११६
सांहितिक शिक्षा ३९
सांहिती ५७२
साधु ३७२
साधुकारी ३७२-७३
साधुता ३७३
साधुवायी ३७२
साध्या: ५९८
सानौ ५६०
सान्तपन ५५५
साम ४, ४८
सामगान छन्द: ६५२
सामर्थ्य २७३
सामवश सन्धि ७३
सामान्यग्रहणाविघातार्थं २८३
सामान्यत:स्नपनविधि ५८५
साम्य ३८३

सायण २९८
सायुज्य ३८३
सारक: ३५५
सारक: ३५५
सारभट १४८
सारस्वत चन्द्रिका ४६२
सारस्वतप्रक्रिया टीका ४६१
सारस्वत-प्रदीप ४६२, ४६३
सारस्वत-व्याकरण ४६०
सार्वकामिकी ६३७
सार्वधातुक २६६, २७२, २८१, २८८, २९४
सावित्र १४८
सावित्रचयन ५७०
सावित्रम् ५७३
सावित्रव्रत ६३७
सावित्राग्निचयन ५७०
सावित्री ६२८
सावित्री दुष्स्वप्ननाशिनी ६२८
साहस्राद्य ६४७
सिहृह १४
सिद्ध ५४५
सिद्धकार्य २७५
सिद्ध-हैमशब्दानुशासन ४५८
सिद्धान्तकौमुदी ४२२, ४२४, ४२७, ४३३, ४३४
सिद्धान्तचन्द्रिका ४६२
सिद्धान्त शिक्षा ४१
सिद्धोपमा १८३
सिनम् १६१
सिन्धु ४८९, ५६३
सिम् ९७, ३२६
सीवत् ५२४
सीम् १६०
सुश्चर ५०९
सुखबोधिनी ३९९, ४३२
सुजाते ५६४
सुट् २८२
सुदानव: ५६३
सुनाग २९६, ३४६
सुप् २८२
सुपद्म ४६४
सुपद्मपञ्जिका ४६४
सुपर्णचिति ६१५, ६१६
सुपि ३५५
सुबन्त २७३
सुबन्धु: ५९८
सुबर्थ: ४४४
सुबोधिनी ४३१, ४६२
सुभेषज ४७६
सुभेषजसूत्र ५४६-४७
सुमंगल ३२५
सुमनोरमा ४३२
सुव: ६३०
सुष्ट्टुति: २२
सुष्ठुकारी ३७२-७३
सुष्ठुदायी ३७२
सूक्त ६८१
सूक्तानि ५७२
सूक्तानुक्रमणी ५२७, ५३१

सूक्तिरत्नाकर ३९९
सूत्र ६२४
सूत्रप्रकाश ४२१
सूत्रवृत्ति ३९०
सूवगत १६
सूववोहस् ६१७
सूनवे ४७८
सूनृतः १६६
सूरिश्र ५१०
सूरे ६१४
सूर्ज १४
सूर्य १४, २६, ५१०
सूर्यसंस्तव ५१८
सृक्व ३४
✓सृप् १५४
सृष्टी ६१८
सेट् २९४
सेनक २६९
सेव ३३०, ३५४
सोम ५७२, ५९९
सोमपीतये ५६४
सोमार्कौ १६५
सौत्रशाखा ५३२
सौनागाः ४१०
सौपर्णसाम ६४८
सौमीति ६२९
सौम्यः ५१६
सौरथयः ६२०
सौरीति ६२९
सौशुत ६२०
सौश्रुत ६२०
स्कन्दयाग ६६५
स्कन्दयाग ६६५
स्कन्धोग्रीवी ४९०, ४९५
स्तनयन्ति ४७५
स्तनुतः ८१
स्तम्बकार ३५५
स्तोभ ६३१, ६५०
स्तोभानुसंहार ६५०
स्तोमभागा ६१८
स्तौभिकसाम ६३४
✓स्त्या ३६६
स्त्रीप्रत्यय २७४
स्थ ६३५
स्थण्डिलविधि ५८५
स्थविर शाकल्य २६१
स्थान ८५, १०६
स्थूणा १८०
स्थौलाष्ठीवि १७१
स्नानविधि ६३४, ६६८
स्नानसूत्रपरिशिष्ट ६३५
स्पर्श २४९
स्पृष्ट १०५
स्फिक् ३२६
स्फोट ३८३, ४४२
स्फोटतत्त्व ३८३
स्फोटतत्त्वनिरूपण ४४३
स्फोटन १०७
स्फोटनिर्णयः ४४४
स्फोटवाद ३९७

स्फोटसिद्धान्त ३८३
स्फोटसिद्धि ४२५, ४४०, ४४३
स्फोटसिद्धिन्यायविचार ४४३
स्फोटायन २६९
स्यपात्रेण ५०७
स्रिघत् ४७६
स्रुव लक्षण ६६६
स्रोत: ५३०
स्वदितम् ६३५
स्वपादि २९३
स्वप्नाध्याय ६७२
स्वयम्भू: ५७२
स्वर् ३५१, ५०९
स्वर ३, ४८, २४९
स्वरपरिभाषा ६५३
स्वरभक्ति ७, ८, २०, ३१, ३४,
    ७२, ८७, १०४, १०७, १२५,
    ५६६
स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्टशिक्षा ३२
स्वराघात १५
स्वरांकुश-शिक्षा ३१
स्त्रराट् ४७८, ४९४
स्वराट् त्रिष्टुप् ४८७
स्वराड् गायत्री ४७८, ४९९
स्वरानुक्रमणी ५३०, ५३४
स्वरार्थानुक्रमणी ५३०
स्वराष्टक शिक्षा ३३
स्वरित २६
स्वसराणि १६१
स्वसारम् ५६७
स्वस्त्ययन ५१७, ५१९
स्वादि २९३
स्वाध्यायपटल ७६
स्वाध्यायब्राह्मणम् ५७३
स्वार १२९
स्वार्थिक तद्धित २७४
स्वाहा ६१४
स्वीट ६१
स्वोपज्ञ ४५८
स्वोपज्ञटीका ३७७

ह

हंसी ६३०
हय् ३२६
हरि ३२५
हरिओः ५१०
हरितादिगण ३०८
हरिनामामृत ४०३
हर्यो: ५१०
हर्षीका ४९०
हल् ३२६, ३५१, ३९८
हविष्पान्तीयसूक्त २०६
हस्तलक्षण ६६६
हस्तस्वरप्रक्रिया ३१
हस्तिमुख ५८७
हस्ती ३४१
हारिद्रवीया: ५३२
हारिद्रवेया: ५३१
हारीत शिक्षा ३८
हिरण्यगर्भ: ५७८

हिरण्यगर्भविधि ६६३
हिरण्यरेतस् ६२०
हिरण्यवर्णीय ८१
हिरण्यस्नान ५७८
हुवे ४७६
हृदयहारिणी ४१४, ४५८
हेमबृहद्वृत्ति ३९३
हेलाराज ३८९
हैमलिङ्गानुशासन ४६०
हैमवती ३१४
होतारः ५७२
होतृविधिः ५७२
हौत्रपरिशिष्ट ६२१
हौत्रसूत्र ५४४
हौम ३४०
ह्यवरट् ३२२
ह्रसीयसी गायत्री ४८७
ह्रस्व २४९
ह्रस्वकर्षण ६४५
ह्रस्वभाव १२९
ह्ह्लियते १४
ह्ह्लादिनी १४

पुस्तक-सूची

(क) मौलिक-ग्रन्थ

अक्षरतन्त्र
अग्निपुराण
अथर्वपरिशिष्ट
अथर्वप्रातिशाख्य
अथर्ववेदसंहिता
अनुपदसूत्र
अनुवाकानुक्रमणी
अभिधानचिन्तामणि
अभिनवभारती
अमरटीकासर्वस्व
अमोघानन्दिनीशिक्षा
अर्थशास्त्र (कौटिल्य)
आख्यातानुक्रमणी
आग्निवेश्यगृह्यसूत्र
आथर्वण ज्योतिष
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आपस्तम्बमन्त्रपाठ
आपस्तम्बश्रौतसूत्र
आपिशलिशिक्षा
आरण्यशिक्षा
आर्षानुक्रमणी
आर्षेयदीप
आर्षेयब्राह्मण
आश्वलायनगृह्यपरिशिष्ट
आश्वलायनगृह्यसूत्र
आश्वलायनमन्त्रसंहिता
आश्वलायनश्रौतसूत्र
उणादिसूत्र
उणादिसूत्रवृत्ति (उज्ज्वलदत्त)
उपनिदानसूत्र
उपलेखसूत्र
ऋक्तन्त्र
ऋक्तन्त्र व्याकरण
ऋक्प्रातिशाख्य
ऋक्प्रातिशाख्यभाष्य
ऋक्संहितापरिभाषा
ऋक्सर्वानुक्रमणी
ऋग्यजुषम्
ऋग्विधान
ऋग्वेदभाष्यभूमिका
ऋग्वेदसंहिता
ऋग्वेदानुक्रमणी
ऐतरेय आरण्यक
ऐतरेयब्राह्मण

कर्मप्रदीप
कल्पानुपदसूत्र
कविकल्पद्रुम
काठकसंहिता
काण्डानुक्रम
कातन्त्र चतुष्टय
कात्यायन प्रातिशाख्य
कात्यायनश्रौतसूत्र
कात्यायनसर्वानुक्रमणी
कात्यायनीयचरणव्यूह
कारकचक्रम्
काव्यमीमांसा
काशकृत्स्न धातुपाठ (युधिष्ठिर मीमांसक संपा०)
काशकृत्स्न धातुसूत्र
काशकृत्स्न व्याकरण
काशिकावृत्ति (पाणिनीय अष्टाध्यायी)
काश्यपसंहिता
किरातार्जुनीयम्
केशवीशिक्षा
कौथुमीयसंहिता
कौशिकसूत्र
कौषीतकिब्राह्मण
कौहलीयशिक्षा
क्षीरतरंगिणी
खादिरगृह्यसूत्र
गणरत्नमहोदधि (वर्धमान)
गायत्रविधानसूत्र
गृह्यासंग्रह
गोपथब्राह्मण
गोपालिका
गोभिलगृह्यसूत्र
गौतमगृह्यसूत्र
गौतमधर्मपरिशिष्ट
गौतमधर्मसूत्र
गौतमपितृमेधसूत्र
गौतमीशिक्षा
चतुरध्यायिका
चतुरध्यायिकाभाष्य
चरकव्याख्या (भट्टारक हरिश्चन्द्र)
चरणव्यूह
चान्द्रधातुपाठ
चारायणीयशिक्षा
छान्दोग्य उपनिषद्
जैनेन्द्र व्याकरण (वा० श० अग्रवाल, सम्पा०)
जैमिनीय उपनिषद्ब्राह्मण
जैमिनीय गृह्यसूत्र
जैमिनीयन्यायमालाविस्तर
जैमिनीयमीमांसासूत्र
जैमिनीयसंहिता
ज्ञापकसमुच्चय
तन्त्रप्रदीप
तन्त्रवार्तिक
तन्त्रालोक
तर्करत्न
ताण्ड्यमहाब्राह्मण (पञ्चविंशब्राह्मण)
तैत्तिरीय आरण्यक

तैत्तिरीय उपनिषद्
तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
तैत्तिरीयब्राह्मण
तैत्तिरीयसंहिता
त्रिभाष्यरत्न
दुर्घटवृत्ति
देवताध्यायब्राह्मण
द्राह्यायणश्रौतसूत्र
धातुपाठ
धातुप्रदीप
धातुवृत्ति
नानार्थार्णवसंक्षेप (केशव)
नामानुक्रमणिका
नारदीयमहापुराण
नारदीयशिक्षा
निघण्टु
निघण्टु तथा निरुक्त (लक्ष्मणसरूप)
निदानसूत्र
निरुक्त
निरुक्तभाष्य
निरुक्तमीमांसा
निरुक्तसमुच्चय
निरुक्तालोचन (सत्यव्रत सामश्रमी)
नीतिशतक
नैगेयानुक्रमणी
न्यायपदार्थदीपिका
न्यास (काशिकावृत्ति)
पञ्चविंशब्राह्मण (ताण्ड्यमहाब्राह्मण)
पदमञ्जरी (काशिका की व्याख्या, हरदत्तमिश्र)
परिभाषापाठ
परिभाषाभास्कर (हरिभास्कर अग्निहोत्री)
परिभाषावृत्ति (सीरदेव, पुरुषोत्तमदेव)
परिभाषासंग्रह
परिभाषेन्दुशेखर
पाणिनि (पाणिनि अष्टाध्यायी)
पाणिनीय गणपाठ
पाणिनीय ग्रामर
पाणिनीय धातुपाठ
पाणिनीय धातुसूत्र
पाणिनीयशिक्षा
पाराशरस्मृति
पाराशरीशिक्षा
पारिशिक्षा
पिंगलछन्दःसूत्र
पुष्पसूत्र
पूर्वमीमांसा
प्रक्रियाकौमुदी (रामचन्द्र), (प्रसाद व्याख्या, विठ्ठलकृत)
प्रक्रियाकौमुदीविमर्शः
प्रक्रियासर्वस्व
प्रतिज्ञापरिशिष्टसूत्र
प्रतिहारसूत्र
प्रयोगपारिजात
प्राकृतव्याकरण (रामचन्द्र)
प्रातिशाख्य प्रदीपशिक्षा
प्रातिशाख्यप्रदीपसूत्र
प्रावरिकासूत्रम्
फिट्सूत्र

बालमनोरमा (सि० कौ० की व्याख्या),
(वासुदेवदीक्षित)
बृहत्संहिता
बृहत्सर्वानुक्रमणी
बृहदारण्यक उपनिषद्
बृहद्देवता
बौधायनगृह्यसूत्र
बौधायनधर्मसूत्र
बौधायनशिक्षा
ब्रह्मसूत्र
ब्रह्माण्डपुराण
भट्टिकाव्य
भरतनाट्यशास्त्र
भागवृत्ति
भारद्वाजशिक्षा
भारद्वाजश्रौतसूत्र
भाषावृत्ति (पुरुषोत्तमदेव)
भाषावृत्ति सङ्कलन
भाषावृत्त्यर्थविवृत्ति (सृष्टिधर)
भाषिकपरिशिष्टसूत्र
भाषिकसूत्र
मनुस्मृति
महाभारत
महाभारत (शान्तिपर्व)
महाभाष्य
महाभाष्यदीपिका
महाभाष्यप्रत्याहारप्रकरण
महाभाष्यप्रदीप
महाभाष्यप्रदीपोद्योत
महानारायणोपनिषद्
महिम्नस्तोत्र
माण्डूकीशिक्षा
माथुरीवृत्ति
माधवीयधातुवृत्ति
माध्यन्दिनपरिशिष्ट
माध्यन्दिनीशिक्षा
मानवश्रौतसूत्र
मार्कण्डेयपुराण
मीमांसानुक्रमणी
मीमांसासूत्र
मुण्डकोपनिषद्
मैत्रायणीयप्रातिशाख्य
मैत्रायणीयसंहिता
यजुषभूषणशिक्षा
यज्ञप्रायश्चित्तसूत्र
याज्ञवल्क्यशिक्षा
रघुवंश
राजतरंगिणी (कल्हण)
लक्ष्मीशिक्षा
लघु अमोघानंदिनीशिक्षा
लघुमाध्यन्दिनीशिक्षा
लघुशब्देन्दुशेखर (नागेश)
लाट्यायनश्रौतसूत्र
लिंगानुशासन (वामन, हर्षवर्धन,
हेमचन्द्र)
लोमशीशिक्षा
लौगाक्षिगृह्यसूत्र
वंशब्राह्मण
वर्णरत्नप्रदीपशिक्षा
वाक्यपदीय (भर्तृहरि)

वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड, चारुदेवशास्त्री, सम्पा०)
वाजसनेयिप्रातिशाख्य
वाजसनेयिसंहिता
वायुपुराण
वाररुचनिरुक्तसमुच्चय
वाररुचसंग्रह (गणपतिशास्त्री, सम्पा०)
वाराहगृह्यसूत्र
वार्तिक (कात्यायन)
वाल्मीकिशिक्षा
वासिष्ठधर्मसूत्र
वासिष्ठीशिक्षा
विक्रमोर्वशीय
विष्णुधर्मसूत्र
विष्णुपुराण
वृत्तरत्नाकर
वेंकटमाधवकृत-छन्दोनुक्रमणी
वेदांगज्योतिष (शामशास्त्रीकृत व्याख्या सहित)
वेदार्थदीपिका (षड्गुरुशिष्य)
वैखानसश्रौतसूत्र
वैतानसूत्र
वैदिकाभरण
वैदिक छन्दोमीमांसा
वैयाकरणभूषण (कौण्डभट्ट)
वैयाकरणभूषणकारिका (भट्टोजिदीक्षित)
वैयाकरणभूषण-सार (कौण्डभट्ट)
व्यासशिक्षा
शतपथब्राह्मण
शब्दकल्पद्रुम
शब्दकौस्तुभ (भट्टोजिदीक्षित)
शब्दवृत्यनुक्रमणी
शांखायन आरण्यक
शांखायनब्राह्मण
शांखायनश्रौतसूत्र
शिक्षासंग्रह
शिक्षासूत्राणि
शिवलीलार्णव
शिशुपालवध
शुक्लयजुःप्रातिशाख्य
शुक्लयजुर्वेद
शुक्लयजुर्वेदीयसर्वानुक्रमसूत्र
शौनकीयचरणव्यूह
शौनकीयशिक्षा
षड्विंशब्राह्मण
संहितोपनिषद् ब्राह्मण
संगीतरत्नाकर
सरस्वतीकण्ठाभरण
सर्वदर्शनसंग्रह
सर्वसम्मतशिक्षा
सामविधानब्राह्मण
सामवेदसंहिता
सामसर्वानुक्रमणी
सिद्धान्तकौमुदी (भट्टोजिदीक्षित)
सिद्धान्तशिक्षा
सूर्यशतक
स्फोटनिर्णय
स्फोटसिद्धि
स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्टशिक्षा
स्वराङ्कुशशिक्षा
स्वरानुक्रमणी
हठयोगदीपिका
हारीतशिक्षा
हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र
हैमबृहद्वृत्ति (हेमचन्द्र सूरि)
हैमाभिधान

ख—सहायक ग्रन्थ

	अल्बेरुनी का भारत
नेमिचन्द्र शास्त्री	आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन-एक अध्ययन
युधिष्ठिर मीमांसक	ऋग्वेद की ऋक्संख्या
वेदालंकार, रघुवीर	काशिका का समालोचनात्मक अध्ययन
महेशचन्द्रशर्मा	काशिकासिद्धान्तकौमुद्योः तुलनात्मकम् अध्ययनम्
बालगंगाधर तिलक	गीतारहस्य
नाथूराम प्रेमी	जैनसाहित्य और इतिहास
प्रभुदयाल अग्निहोत्री	पतञ्जलिकालीन भारत
बलदेव उपाध्याय	पुराणविमर्श
सिद्धेश्वर वर्मा	प्राचीन भारतीयों के ध्वन्यात्मक विचारों का विवेचनात्मक अध्ययन
जयचन्द्र विद्यालंकार	भारतीय कृषि का क, ख
बालकृष्ण दीक्षित	भारतीय ज्योतिष (हिन्दी) अनु० शिवनाथ झाड़खण्डी।
गोरखप्रसाद	भारतीय ज्योतिषशास्त्र का इतिहास
राधाकृष्णन	भारतीयदर्शन (हिन्दी)
विण्टरनित्स	भारतीय साहित्य का इतिहास
सत्यकाम वर्मा	भाषातत्त्व और वाक्यपदीय
वीरेन्द्र शास्त्री	वाक्यपदीय (सम्बन्धसमुद्देश—एक विवेचनान्मक अध्ययन)
सूर्यकान्त	वैदिक देवशास्त्र —Macdonell A. A. (Hindi)
भगवद्दत्त	वैदिक वाङ्मय का इतिहास
गुरुपद हालदर	व्याकरण दर्शनेर इतिहास
पल्सुले	संस्कृत धातुपाठ
सत्यकाम वर्मा	संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास
कपिलदेव शास्त्री	संस्कृत व्याकरण के गणपाठ
युधिष्ठिर मीमांसक	संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास
बलदेव उपाध्याय	संस्कृतशास्त्रों का इतिहास
उदयवीर शास्त्री	सांख्यदर्शन का इतिहास

	आर० एन० दाण्डेकर अभिनन्दन ग्रन्थ ।
	इत्सिंग की भारत-यात्रा
	कृष्णस्वामी अय्यङ्गार स्मृतिग्रन्थ
	पं० वासुदेवशास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ
	प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र
	बृहद्विमानशास्त्र
	संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास
	संस्कृत व्याकरण
	संस्कृत साहित्य का इतिहास
काणे	धर्मशास्त्र का इतिहास
Niyogi S. P.	A Critical Study of the Nivids
Vidhata Mishra	A Critical Study of Sanskrit Phonetics
Caland, W.	Altitudeischer Ahnencult
A. C. Burnell	Aindra School of Sanskrit Grammarians
Weber A.	Akad. Varlesungen Über Ind. Lit.
Wakernagel	Altindisehe Grammatik
Cunningham	Ancient Geography of India
Devasthali, G. V.	Anubandhas of Pāṇini—
Takakusu J.	A Record of the Buddhist Religion (I-tsing) Tr.
Takakusu, J.	A Record of the Buddhist Religion as Practised in India and Malaya Archapeligo
Colabrooke	Asiatic Researches
William Jones	Asiatic Researches
Modak, B. R.	A Study of the Ancillary Literature of the Atharva Veda (Thesis)
Bloomfield	Atharva Veda and Gopatha Brāhmaṇa
	Belvelkar Com. Vol.
Kālicharan Shastri	Bengal's Contribution to Sanskrit Grammar in the Pāṇinian and Cāndra Systems
	Bhandarkar Com. vol.

Aiyar, K.A.S.	Bhartṛhari
Suryakant Bali	Bhattoji Dīkṣita,—His Contribution to Sanskrit Grammar
Scherbatsky	Buddhist Logic, 2 Vols.
Bhattacharya, V. C.	Classification of Ṛgvedic Mantras Acc. Bṛhad-Devatā
Sengupta, S. N.	Contribution Towards a Critical Edition of Gaṇapāṭha
Venktarama Sarma	Cr. Study in Kātyāyana's Prātiśākhya
Siddheshwar Varma	Critical Studies in Phonetic Observations of Indian Grammarians
Staal, J.F.	Current Trends in Linguistics
Von Der Friedrich Knauer	Das Gobhila Gṛhya-sūtra herāusg. Und übersetzt
Robert Bir We	Der Gaṇapāṭha zu den Adhyāya IV und V der Grammatik Pāṇinis Versuch liner Rekonsraktion; Wiesbaden, 1961
Rhys Davids	Dialogues of Buddha
	Dictionary of Pāli Proper Names
Abhyankar K. V.	Dictionary of Sanskrit Grammar
Scheftalowitz	Die Apokryphen des Ṛgveda
Siegling, W. Z.	Die Rezensionen des Caraṇavyūha
Emil Sieg	Die Sagenstophe des Ṛgveda und die Indische Itihāsatradition
Carpentier, J.	Die Suparṇasage
Brough, J.	Early Brāhmaṇical System of Gotra and Pravara
Hastings	Encyclopaedia of Religion and Ethics
Kosamli, D. D.	Epigrams Attributed to Bhartṛhari
Siddheshwar Varma	Etymologies of Yāska

Laddu, S. Ḍ.	Evolution of Sanskrit Language from Pāṇini to Patañjali
Whitney, W. D.	Fistgruss an Roth
Ayachit, S. M.	Gaṇapātha—A Critical Study
Ali, S.M.	Geography of the Pūrāṇas
Harmut Scharfe	Grammatical Literature
Betty Schefts	Grammatical Method in Pāṇini, his Treatment of Sanskrit Present Stems, 1961
Kadri	Hindustani Phonetics
Ghatage, A. M.	Historical Linguistics and Indo-Aryan Languages
Bently	Historical View of the Hindu Astronomy
	Historien's History of the world
Liebich	Historische Einfürung und Dhātupṭha
Basham, A. L.	History and Doctrine of the Ājivakas
Maxmüller F.	Histroy of Ancient Sanskrit Literature
Krishnamacharya, N.	History of Classical Sanskrit Literature
Winternitz	History of Indian Literature
Dasgupta, S. N.	History of Indian Philosophy
Macdanell, A.A.	History of Sanskrit Literature
Keith, A. B.	History of Sanskrit Literature
Kane, P. V.	History of Sanskrit Poetics
Oldenberg	Hymncn des Ṛgveda
Geldner	Hymnen des Ṛgveda
Peterson, P.	Hymns of the Ṛgveda
Agrawal, V. S.	India as Known to Pāṇini
Puri, B.N.	India in the Time of Patañjali
Jacobi	Indian Art
	Indian Linguistics
	Indian Paleography
Kunjuni Raja	Indian Theories of Meaning

Monior Williams	Indian Wisdom
Mecdonell, A. A.	India's Past
Sarup, L.	Indices and Appendices to Nirukta
Winternitz	Indische Literaturs Geschichte
Tunier	Indo-germanic Accent
	Pro. of International Oriental Congress
Sarup, L.	Introduction to the Nirukta
Mangal Deva	Introduction to ṚKPrā.
Clements	Introduction to the Indian Music
Kielhorn, F.	Kātyāyana and Patañjali
	Kuppuswami Commemoration Vol.
Renou, L.	LaDurghaṭavṛtti de Śaraṇadeva
Bloch, Jules	La Indo Aryan
Subramanyam, S. P.	Lectures on Mahābhāṣya
Bata Krishna Ghosh	Linguistic Introduction to Sanskrit
Colebrooke	Miscellanious Essays
Bhadkamkar, G. R.	Nirukta of Yāska
Bal Gangadhar Tilak	Orion
Chatterji, S. K.	Orign and Development of Bengali Language
Goldstücker	Pāṇini
Paul Thieme	Pāṇini and the Pāṇinīyas
,,	Pāṇini and Veda
Sarma, K. M. K.	Pāṇini, Kātyāyana and Patañjali
Katre, S.M.	Pāṇiaian Studies
Sköld, H.	Papers on Pāṇini
Liebich	Papers on Pāṇini
Devasthali, G.V.	Phiṭsūtrās of Śānanavācārya
Edgerten	Philosophical Meterials of the Atharvaveda
Allen, W.S.	Phonetics in Ancient India
	Poona Orientelist

Allen, A. W.	Practical Phonetics for African Languages
	Proceedings of all India Oriental Conference
	Proceedings of American Oriental Society
Hazra, R. C.	Puranic Records
Buiskool	Pūrvatrāsiddham
Hillebrandt	Rituelliteratur
Keith, A. B.	Sanskrit Drama
Edgerten	Sanskrit Historical Phonolgy
Dyen Isidor	Sanskrit Indeclinables of Hindu Grammarians and Lexicographers
Harting	Selections from the Baudhāyana Gṛhya Pariśiṣta Sūtras
Aiyanyar, K. V. R.	Some Aspects of Hindu View of Life According to the Dharma-sūtras
Asko Parpola	Śrauta-sūtras of Lāṭyāyana and Drāhyāyaṇa
Pawate, I. S.	Structure of Aṣṭādhyāyī
Faddagon, B.	Studies on Pāṇini-Grammar
Birwe, R.	Studien zu Adhyāya III der Aṣṭadhyāyī Pāṇinis
Raja, C. K.	Survey of Sanskrit Literature
Kashikar, C. G.	Survey of the Śrauta-sūtras
Cardona G.	Survey of Research on Pāṇini
Belvelker, S. K.	Systems of Sans. Gr.
Chatterjee, K. C.	Technique and Technical Terms of Sans. Gr.
Sköld, H.	The Nirukta
Muir, J.	The Original Sanskrit Texts, 5 Vols.
Probhat C. Chakravarty	The Philosophy of Sanskrit Grammar
Gauri Nath Shastri	The Philosophy of Word and Meaning
Gough, A. E.	The Philosophy of the Upaniṣads
Pulsule, G.B.	The Sanskrit Dhatupāthas-A Critical Study
Burrow, T.	The Sanskrit Language

Gonda, J.	The So-called Regular, Humourous and Satirical Hymns of the Ṛgveda
Buiskool	Tripādi
Haug, M.	Uber das Wesen und der Werth des Wedischen Accents
Singh, S. P.	Upaniṣadic Symbolism
Keith, A. B.	Veda of the Black Yajus School
Renou, L.	Vedic India
Vernon Arnold	Vedic Metre in its Historical Development
Macdonell, A. A.	Vedic Mythology
Bloomfield, M.	Vedic Variants
Joshi, S.D. & J. A. F. Roodbegen	Vyākaraṇa M. Bhāṣya
Grassmann	Worterbuch Zum Ṛgveda
Vishnu Pada Bhattacārya	Yāska's Nirukta
Rajwade, V. K.	Yāska's Nirukta
Liebich	Zur Einfuhrung
Roth	Zur Literatur und Geschichte des Veda

(ग) पत्रिकाएं

गुरुकुल पत्रिका

नागरी प्रचारणी पत्रिका (वाराणसी)

Acta Orientalia.

Annals of Bhandarkar Orientel Research Institute, Poona.

Abandlungen für die Kunde des Morgenlandes.

Adyar Library Bulletin.

American Journal of Philology.

Ancient India

Bharatīya Vidyā

Bombīay Gazetteer.

Bulletin of the School Oriental and African Studies.
Gottingen Gelherte Auzeigen.
Hindustan Review.
Indian Antiquary.
Indian Culture.
Indian Historical Quarterly.
Indische Studien.
Journal of American Oriental Society.
Journal of Asiatic Society of Bengal.
Journal of Bombay Branch of Royal Asiatic Society.
Journal of Bihar and Orissa Research Institute.
Journal of Ganganath Jha Research Institute.
Journal of Oriental Institute, Baroda.
Journal of Orientel Research, Madras.
Journal of Royal Asiatic Society of Great Britain & Ireland (Londen).
Journal of University of Bombay.
Journal of University of Poona.
Journal of Vedic Studies (Lahore).
New Indian Antiquary.
Nagpur University Journal.
Oriental College Magazine (Lahore).
Our Heritage.
Poona Orientalist.
Sitzunberichte des Berliner Akademie des Wissenchaft
Sri Venkteswara University Oriental Journal.
Transactions of American Philosophicel Society.
Wiener Zeitschrift für die Kunde des Morgenlandes.
Zeitschrift des Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft.

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२९	बत्स्यं	वत्स्यं
७	२४	आप० शि०	आपि० शि०
१२	२६	तत् 'प्राप्नोत'	'तत् प्राप्नोति'
२७	२१	दे॒वोऽर्वं:	दे॒वो र्वं:
२८	१४	अर्थात् उपधा को अनुनासिक्य करने वाले हैं	×
३०	२	सचक	सूचक
३२	३४	पाराशर, शि०	पारा० शि०
३६	१२	(४—१८)	४—१५
४०	२६	पद्य यथा—	पद्य—"यथा ··· ···"
४३	६	ऐन्द्र० स्कूल	ऐन्द्रस्कूल०
५२	२१	होतृकार:	होतृकारः
५३	१७	तक्राँꣳ	तक्राँ
५५	,,	त्रिरत्नभाष्य	त्रिभाष्यरत्न
६२	,,	कि नाद ···	किन्तु नाद ···
६३	१८	अनुनासिकोपद्य	अनुनासिकोपध
.७	११	प्रातिशाख्य पाणिनि	प्रातिशाख्य में पाणिनि
६८	८	विवृति	विवृत्ति
७०	१५	अक्प्रातिशाख्य	ऋक्प्रातिशाख्य
,,	२५	तथा तथा	तथा
७१	१७	अवाग् देवा	अर्वाग् देवाः
७४	७, ९	बर्हित	बार्हत
७५	१९	किया है	किया गया है

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७८	२६	व्या० शा० ह०	व्या० शा० इ०
८१	१२	विकर्ण	विकर्ष
८४	२९	ऋक प्रार्षद	ऋक् पार्षद
८७	१९	मथ्सरा	मथ्सर
,,	टि० १३	ल 'इण्डो' एरियन	'ल इण्डो एरियन्'
९१	२४	आरम्भ में	आरम्भ से पूर्व
९७	९	(१३४)	(१, १३४)
,,	१३	पा० प्रा०	वा० प्रा०
१०३	१७	सप्तम	अष्टम
११४	टि० ३	किया है,	किया है, ऐसे ही च० अ० स्वयं को 'कौत्स व्याकरण' घोषित करती है
१२९	२२	प्रकार भेद	प्रकारभेद
१३३	१८	··· भिनिष्ठनाख्यायेति	··· भिनिष्ठानाख्यायेति
१३७	१०	अप ते	अप त्ये
,,	२१	कुत्रचिद्०	कुहचिद्°
१७८	६	आस्यदध्ना:	आस्यदघ्ना:
१८६	२५	पूर्ववर्ती	पश्चाद्वर्ती
१९१	१४	(ऐ० ब्रा० १, १० ; ···)	ऐ० ब्रा० (१, १०; ···)
१९३	१०	बहुत करने वाली	बहुत्र प्रवेश करने वाली
१९७	१४	ऋग्० १	ऋग् १०
,,	२७	वीर है	वीर सखा है
२०४	२	सकता है। क्योंकि	··· है, क्योंकि
२१४	१२	अर्थ है	अर्थ
२१६	२५	गफारमनक्तेर्वा	गकारमनक्तेर्वा
२२०	१५	°दाद:	दायाद:
२२१	शीर्षक	का देवतावाद	तथा पश्चात्कालिक साहित्य।
२२३	शीर्षक	का देवतावाद	तथा पश्चात्कालिक साहित्य।
२२४	३२	समविचार।	समविचार,

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३२	२२	८१३	८, १, ३
,,	,,	भाग २	भाग ३
,,	२३	११, १३, २	११, २, १३
२३३	३०	८, २	८, १, ३
,,	१४	११, १३, २	११, २, १३
२४४	,,	'स'	स
२४८	४	तथ्य	तथ्यों तथा
२५१	८	मवाच्योरुप	मवाप्योरुप
२५४	१५	काशकृत्स्न ··· रचना	×
२५६	११	प्रकाशित	यद्यपि हरदत्त तथा नागेश ने इनका नाम शन्तनु लिखा है तो भी प्रकाशित ···
,,			
,,			
२६१	टि० ६	श० प्रा०	श० ब्रा०
,,	१९	करता है। जिसकी	करता है, जिसकी
,,	२०	इनका काल	×
२७२	१५	इकोगुणा०	इकोगुण°
२७२	२१	एकोयणचि	इकोयणचि
,,	२६	व्याकरणाम्	व्याकरणम्
२७८	५	सूत्रों	वार्तिकों
२८३	१३	सम्	श्नम्
२८४	२	किन्तु	कित्
,,	८	लिए। ओलस्जी	लिए, ओलस्जी
२८७	२	करती हैं। जब	करती हैं, जब
२८९	,,	अस्तिकार०	अस्तिसकार०
२८९	३	अतिष्ठते	आतिष्ठते
,,	७	अपिशलादौ	आपिशलादौ
,,	टि० ३	आन्यो	अन्यो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२९१	५	किया होगा।	किया गया होगा।
,,	१७	अर्थ सहित	अर्थ रहित
२९३	२१	=द् (५, १०)	=ड् (५, १०)
,,	२५	(ट्-ड)	(ट्-ड्)
२९५	६	पा० धा० पा० में भी	पा० धा० पा० के भी
२९६	१४	अस्येतर्भावे:	अस्यतेर्भावे
,,	टि० ३	शक्, √ग्रस, √शल्वृ, √पर	√शक्, √अस्
,,			√शक्लृ पर
३०१	१२	भेण्यादि	मेण्यादि
३०२	८	गौणदि	गौरादि
३०५	७	अवरादीनां पुन:	अवरादीनां च पुन:
३१६	२७	हैं, यथा	हैं, तथा
३१७	टि० ४	··· प्रत्यापदेशा	—प्रत्ययादेशा
३१९	टि० ४	SVUOG	SVUOJ
,,	६	एन० एस०।	एन० एस० की भी मान्यता है।
३२२	१३	ह्यवरट्	हयवरट्
,,	२९	किया गया है।	किया गया है तथा
३२३	१८	(cf. forming...)	(of forming ...)
३२५	१४	स्वर=विधान	स्वरविधान
,,	१६	पाटलपालङ्का ···	पाटलापालङ्का ···
,,	२५	बाबादि	वाचादि
३२६	११	कु पु०	कु, पु,
३२७	९	शान्तनु	शन्तनु
३२८	६	चान्द्रगोमी	चन्द्रगोमी
३३५	३	हारिद्रविक ब्रा०	×
,,	टि० ५	इण्डिया०	इण्डि० पा०
३३६	टि० ४	इण्डिया०	इण्डि० पा०
३३८	२२	१५वीं शती ई० पू०	५वीं शती ई० पू०
३३९	१४	महुन्दिन्	महानन्दिन्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४०	टि० १	सी० बी० वैद्य	सी० वी० वैद्य
,,	१८	पाशर्व	पार्शव
३४१	टि० १	इण्डिया	इण्डि० पा०
,,	टि० ३	इण्डिया	इण्डि० पा०
३४९	२५	अन्त्य०	अनन्त्य०
३५४	१२	अग्निचित्यस्या०	अग्निचित्येत्या०
३५६	२०	२६	३६
३६०	टि० ३	आन्यभाष्यम्	आन्यभाव्यम्
३६४	३	आस्यन्त्येन	अस्यन्त्यनेन
३७२	२८	णिन्विधौसाधु०	णिन्विधौ साधु०
३७३	११	आनढचम्भविष्णु:	अनाढचम्भविष्णु:
३७५	टि० ५	CK. Rajo	C. K. Raja
३८०	१६	किया है। अत:	किया है, अत:
३८१	१८	भाग है।	भाग है, स्वतन्त्र रचना नहीं
३८७	२४	पुण्यराज	(२) पुण्यराज
३८९	२	(२) हेलाराज	(३) हेलाराज
,,	२६	अत: कैयट का	कैयट का
,,	२९	(३) वृषभदेव	(४) वृषभदेव
३९१	१९	भर्तृहरि तृतीय	भर्तृहरि का काल तृतीय
४०३	९	काशिकाकार	न्यासकार
,,	२१	भाषावृति,	भाषावृति, शरणदेवकृत दुर्घटवृत्ति
४१६	१३	धातुवृत्ति	धातुप्रदीप
४१८	टि० २	भाषावृत्त्यर्थविति	भाषावृत्त्यर्थविवृत्ति
४३३	९	इस समस्या के	इन समस्याओं के
,,	२३	किया गया है	किया है
४३८	टि० ३	साम्बशास्त्री	साम्बशिवशास्त्री
४४९	१३	कुरवोऽऽत्महितं	कुरव आत्महितं
४५६	१४, २१	अमोघवृत्ति	अमोघावृत्ति

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४५६	टि० २	सं० वा०	सं० व्या०
४५८	११	साम्बशास्त्री	साम्बशिवशास्त्री
४६३	३३	स्वररचित	स्वरचित
,,	२१-२२	कुमदीश्वर	क्रमदीश्वर
४६९	टि० ७	अविद्० ब्रा०	आर्षेय ब्रा०
४७०	१६	शङ्कुमति	शङ्कुमती
,,	टि० ३	रकाराक्षरेण	नैकाक्षरेण
४७१	३	क्रीडन्तौ रश्म आयुव	क्रीडन् नो रश्म आभुवः
,,	५	(८+११+१०+११)	(८+११+१०+१०)
,,	७	आगन्म	अगन्म
,,	७	(ऋग्० १, ११२, १)	(ऋग्० १, ११२, १०)
,,	१०	इळे द्यावा पृथिवी	याभिर्विश्पलां
,,			
,,	१५	७, ७३, ३	७, ७३, ५
,,	१६	चारों पादों में	दो पादों में
,,	,,	५०	२०
,,	१८	ऋग्० २, ५७	ऋग्० १, ५७
४७२	४	अर्थानदं	अर्थात् नदं
,,	१४	विनियुज्यते	विनियुज्यते४
,,	२०	होता है४	होता है५
,,	टि० १	ऋक्प्रा० १६, ३२	ऐ० आर० ५, १, ६
,,	टि० २	ऐ० ब्रा० ...	ऋक्प्रा० १६, १२
,,	टि० ३	निरुक्त ७, १०	ऐ० आर० ४, ४
,,	टि० ४	निरुक्त १२, ४०	निरुक्त ७, २०
,,	टि० ५	——	निरुक्त १२, ४०
४७३	३	दुश्च्यवनोऽसुरं गुरमांडव्यनामा	दुश्च्यवनस्ततोऽसुरगुरुर्माण्डव्यनामा
,,			
,,	४	सैतवस्तन्	सैतवस्तत

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४७३	५	प्राप्यस्मादाद्यैः	प्राप्यास्मदाद्यैः
,,	१३	निदान	×
४७४	टि० १	द्र० टि० २७, २८	द्र० टि० १, २, पृ० ४७१
४७५	११	पर किया है	किया है
,,	१३	अभीष्टगद्य°	अभीष्टे अद्य°
,,	टि० १	दयोश्चो ···	द्वयोश्चो ···
,,	टि० २	वय	वयं
,,	टि० २	ऋक्सूर्वा	ऋक्सर्वा०
,,	टि० ७	ऋग्सर्वा०	ऋक्सर्वा०
४७६	६	अवीन्म्नो	अवीन्नो
,,	७	नमोभि	नमोभिः
,,	,,	स्तोमाः	स्तोमः ।
,,	९	महतो	मरुतो
,,	टि० १	ऋग्प्रा०	ऋक्प्रा०
४७७	१८	प्रत्र	प्रत्न
४७८	३	निचृत	निचृत्
४७९	११	एकक्षरा	एकाक्षरा
,,	१३-१४	आसुरी गायत्री ··· जाती है	×
४८०	टि० ३	पृ० २८४	पृ० २४८
४८२	२३	वृत्रहन्	वृत्रहन्
४८३	३	९, ३७, १-६	८, ३७, १-६
४८३	५	सवनस्ये	सवनस्य
४८४	११	विपरीतान्ना	विपरीतान्त
,,	१२	गायत्रकाकुभ्	गायत्रकाकुभ
,,	टि० ८	उबट	उवट
४८७	२०	पदापंक्ति	पदपंक्ति
४८८	५	उपर्चनम्	उपपर्चनम्
४९०	१४	जिस से	जिसे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४९७	टि० २	समस्तसामन्तनुनत···	समस्तसामन्तानुनत ···
४९८	२०	सामनगानां	सामगानां
५०३	२३	बार्हं	बार्हत
५१२	११	हिषः	हि षः
,,	टि० ८	६, ४४, १८	६, १८, ११
५१५	टि० १	अचिख्यासा	आचिख्यासा
५२१	टि० ४	ऋग्वेब	ऋग्वेद
५२२	टि० २	Studies	Studien
५२७	२४	१०५८१$\frac{१}{४}$	१०५८०$\frac{१}{४}$
५३४	२	पैप्पला (??) पैप्पलादाः	पैप्पलाः (पैप्पलादाः)
५३८	९	में ऋषियों	×
५३९	१९	पदस्व	पवस्व
५४६	२६	बालखिल्य	वालखिल्य
,,	२७	सूत्र	सूक्त
५५०	१२	बारीति	वर्णित
५५०	१४	वारीति	वर्णित
५५३	१६	निरुक्तरखण्ड	निरुक्तखण्ड
,,	२४	लोगों	रोगों
५५७	६	वाल्मीक	वल्मीक
५५८	१५	धर्मपर्कं	धर्मपरक
५६०	१३	अभितौजाः	अमितौजाः
,,	२२	ब्रह्मरि	ब्रह्मणि
५६६	२२	पर्यासः	मर्यासः
५६७	३	ॐ इति	ॐ इति
५६९	२	in the evidence for	The evidence of the
,,		the R. Pro. questing	R. Pra. quoting Yāska
,,		Yaska is rest very	is not very common.
५७१	१७	प्रणयन किया गया है	प्रणयन है
५७२	३१	सौत्रायणी	सौत्रामणी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५७४	१६	काल	काण्ड
५७५	२१	ढालवां	ढालवें
५७६	३	ताम्बे ( ) चिह्नित	ताम्बे ( ) से चिह्नित
,,	२२	अवेदचित्	अवेदवित्
,,	टि० ४	वान्ट	वान्
५७८	१९	पुण्याह्वाचन	पुण्याह-वाचन
५८१	,,	गार्हपत्य, सभ्य	गार्हपत्य, दक्षिण, सभ्य
,,	२२	निषेध केवल	निषेध एवं केवल
५८३	शीर्षक	पञ्चत्रिंश अध्याय:	सप्तत्रिंश अध्याय:
,,		ऋग्वेद के खिलसूक्त	अनुग्राहिकम्
५८५	२९	प्रभृति ।	प्रभृति का विधान है
५८८	२५	महोरौद्री	महारौद्री
५९०	१४	होता है	लेता है
५९१	टि० ४	इग्डि सेलियो	इण्डि पेलियो
५९२	टि० २	विण्टरनिटस	विण्टरनित्स
,,	१७	हों	हैं
५९३	३०	समय में	समय ये
५९४	२७	नाम प्रथम:	चतुर्होत्रिको नाम प्रथम:
५९६	१६	एव गर्ते पाठ:	(एव गर्ते पाठ:)
५९८	१९	वाहस्पत्यो	बार्हस्पत्यो
,,	२३	···विप्रबन्धुश्च	···विप्रबन्धुश्च क्रमेण
,,			(ऋग्० में क्रम भिन्न)
६०२	६	शिक्षा	याज्ञवल्क्यशिक्षा
६०४	१५	परिस्थितियों	परिस्थितियां
६०५	१८	मण्त्र	मन्त्र
,,	,,	अपिशलि	आपिशलि
६०७	टि० ४	वा० मा० प्र० प०	ना० प्र० प०
६११	२८	राणायणीयों	राणायनीयों

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६१२	२	राणायणीय	राणायनीय
	१०	राणायणीयों	राणायनीयों
६१९	१५	जमग्निवद्	जमदग्निवद्
६२१	२२	नामा रूप	नाना रूप
६२५	२५	द्वैनमृत:	हैनभूता:
६२७	१५	में से एक हैं	में तो एक हैं
६२८	२९	बह्वच:	बह्वृच:
६३३	३	(स्वयोनि आर्दीप०)	('स्वयोनि'—आर्दीप०)
६३७	१०	को	का
,,	टि० १,२,३	२, २, २,	गृह्या० २, २, २,
६४१	टि० २	sutrās	sūtrās
६४२	९	वैद्यनाथ मुक्ताफल	वैद्यनाथ (मुक्ताफल···)
६४५	३	अर्धतिस्र	अर्धतिस्र:
,,	८	दीर्घार्षण	दीर्घाकर्षण
६४६	,,	इसलिए दिया गया	इसलिए नहीं दिया गया
,,	१५	स्तोमविभाग्यानि	सौमित्रादीनि स्तोभविभाग्यानि
६५५	६	काण्ड का दशम	काण्ड का । दशम
,,	१५	केवल सूत्रात्मक	सूत्रात्मक
,,	१७	अप्रार्यंयत्	अप्रार्थयत्
६५६	६-७	और २०, ५७, ४-१०···	×
,,		२०, ५३ में ।	
,,	११	भल	भूल
६५७	१८	बेल्लिङ्ग	बोल्लिङ्ग
,,	टि० २	३ भाग	२ भाग
६८४	टि० १	(वै० जू०	(वै० सू०

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी
पुस्तकालय
ग्रन्थ आ० सं० 5767